॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला २९

संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

(परीक्षोपयोगी संस्करण)

लेखक

वाचस्पति गैरोला

प्राक्कथन

डॉ० बहादुरचन्द छाबड़ा

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्राक्कथन

बड़ी खुशी की बात है कि संस्कृत का आज पुनरभ्युदय हो रहा है। चक्रनेमिक्रमेण इसकी दशा पुनः ऊपर को उठ रही है। राष्ट्र की इस अप्रमेय एवं अच्चय्य निधि का विराट् रूप शनैः-शनैः जनता के सामने आ रहा है। लोग इसके गौरव को फिर से पहचानने लगे हैं। इसके प्रति उपेक्षा एवं अवहेलना के भाव दूर होते जा रहे हैं, और उनके स्थान पर श्रद्धा एवं अभिरुचि की भावनाओं का उन्मेष हो रहा है। किं बहुना, इसकी माँग दिनोंदिन बढ़ रही है।

संस्कृत आज भारत भर में कामधेनु बनी हुई है। प्रत्येक प्रादेशिक भाषा स्वच्छन्दता से इसका संदोहन कर अपने आपको सुतरां सम्पन्न, समृद्ध एवं संवर्धित कर रही है। विकासशील विज्ञान एवं आधुनिक जीवन के विविध व्यवसाय उद्योग, कला-कौशल आदि के क्षेत्रों में अभीष्ट पारिभाषिक शब्दों के लिए प्रादेशिक भाषाओं को, सिवाय संस्कृत की शरण जाने के और कोई चारा नहीं। किंच; संस्कृत के होते हुए उन्हें और किसी का मुँह ताकने की आवश्यकता भी नहीं।

इधर स्वतन्त्रताप्राप्ति के अनन्तर लोगों में अपने गौरवमय अतीत को जानने की उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। दूसरे देशों की देखा-देखी भारतवासी भी अपने पूर्वजों के चरित्र एवं अपनी पुरानी संस्कृति के विषय में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए सब प्रकार से प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। प्राचीन भारत में कला और विज्ञान की समुन्नत दशा के प्रत्यक्ष प्रमाणस्वरूप देश भर में विद्यमान मूर्ति-चित्र-स्तम्भ-मन्दिर-स्तूप-विहार-दुर्ग-प्रासाद आदिक पुरातत्त्वसंबन्धी आश्चर्यजनक विविध प्रत्न वस्तुओं और प्रत्न केतनों को देख-देख कर लोगों के मन में स्वभावतः उनके पूरे-पूरे

इतिहास को जानने की अभिलाषा उत्पन्न होती है; और इस अभिलाषा की तृप्ति केवल संस्कृत-साहित्य से ही संभव है। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारत का समूचा इतिहास—क्या धार्मिक और क्या सांस्कृतिक, क्या सामाजिक और क्या राजनीतिक—संस्कृत-वाङ्मय में ही संनिहित है।

कहने का अभिप्राय यह है कि आज प्रत्येक भारतवासी के लिए, विशेषकर भावी संतान के लिए, संस्कृत भाषा का ज्ञान तथा तद्गत विशाल साहित्य का परिचय (एवं परिशीलन) दोनों ही अत्यावश्यक हैं। संस्कृत भाषा सीखने के लिए जहाँ विविध उपाय और ग्रन्थ रचे गये हैं और रचे जा रहे हैं वहाँ संस्कृत-साहित्य का परिचय कराने वाले प्रकाशन हिन्दी में इने-गिने ही हैं। इस दृष्टि से श्री वाचस्पति गैरोला का प्रस्तुत ग्रंथ अधिक व्यापक और गवेषणापूर्ण प्रतीत होता है। लेखक की भाषा संस्कृतमयी अवश्य है; परन्तु वह सरल, सुबोध, प्राञ्जल तथा अनुकरणीय है। विषय के प्रतिपादन में लेखक ने स्थान-स्थान पर अन्यान्य—भारतीय तथा विदेशीय—विद्वानों के मतों की सूक्ष्म समीक्षा करते हुए अपने मत की स्थापना बड़ी गंभीरता से तथा युक्तिप्रमाणपूर्वक की है। ग्रंथ के आरम्भ में लेखक ने 'मनुष्य की जन्मभूमि', 'आर्यों का आदि देश', 'आर्य भाषाओं का उद्गम और विकास' जैसे सामान्य विषयों का तर्कपूर्ण सिंहावलोकन किया है, जो कालसंपूजित अमर संस्कृत-साहित्य के इतिहास की उपयुक्त पृष्ठभूमि है। आशा है यह ग्रंथ विद्वत्समाज में समुचित आदर पाएगा।

नई दिल्ली
बुधवार, ६ दिसम्बर १९५६

—बहादुरचन्द छाबड़ा

पुस्तक के सम्बन्ध में

संस्कृत-साहित्य के इतिहास का यह संक्षिप्त संस्करण आपके हाथों में है। यहाँ पर इसके सम्बन्ध में मैं कुछ कहूँ, इसकी अपेक्षा अधिक उचित यह है कि आप ही स्वयं इसका निर्णय करें।

मेरा प्रमुख उद्देश्य यही रहा है कि इस पुस्तक के द्वारा विभिन्न विश्वविद्यालयों में निर्धारित संस्कृत के इतिहास-विषयक ज्ञान के संवर्धनार्थ अपने सहयोगी मित्रों की मैं कुछ ऐसी सेवा कर सकूँ, जिसको वे स्वयं अनुभव करें, अपनायें और सराहें। मुझे स्मरण है कि आज से दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व, एक विद्यार्थी के रूप में, इस विषय की मैंने जो पुस्तकें पढ़ीं थीं उनसे मुझ पर तथा मेरे सहाध्यायी दूसरे मित्रों पर जो कुछ भी प्रतिक्रिया हुई; किन्तु इस बात से मुझे बड़ी निराशा हुई कि इस प्रकार की पुस्तकों को पढ़कर हिन्दी के वे हितेच्छु, संस्कृत-वाङ्मय के इतिहास के सम्बन्ध में क्या धारणा बनायेंगे, जो हिन्दी के माध्यम से संस्कृत-साहित्य के इतिहास की महत्ता को हिन्दी जगत् के लिए आवश्यक समझते थे।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिस समय संस्कृत के इतिहासविद् विद्वान् हिन्दी के माध्यम से हिन्दी जगत् को अथवा हिन्दीभाषी विद्यार्थीवर्ग को अपनी पुस्तकों के द्वारा संस्कृत का ऐतिहासिक परिचय देने के लिए उद्योग-शील थे उस समय भी अंग्रेजी में तथा प्रादेशिक भाषाओं में इस विषय पर सुन्दर पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं।

अंग्रेजी में लिखी गई इस ढंग की वे पुस्तकें यद्यपि आज बहुत ही अधूरी और भ्रान्तिजनक साबित हो चुकी हैं; फिर भी इतनी शताब्दियों बाद आज भी, उन्हें पथ-प्रदर्शक कहा जा सकता है।

संस्कृत-साहित्य का यह संक्षिप्त संस्करण न तो पिष्ट-पेषणमात्र हो और न उसमें उन अधिकांश अध्येता बन्धुओं की सुविधा को गौण मानकर लेखक के व्यक्तिगत विचारों का प्राधान्य हो, इस बात पर आदि से अन्त तक ध्यान रखा गया है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि संस्कृत के छात्रों को, जिनपर संस्कृत भाषा के उज्ज्वल भविष्य का सारा भार निर्भर है, वैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत-साहित्य के इतिहास का ऐसा परिचय कराया जाय, जिससे कि उनकी मेधा-शक्ति का स्वतन्त्र विकास हो सके और प्रस्तुत विषय पर उनके भाव-विचारों को नई दिशा में अग्रसर होने का सुयोग मिल सके।

यह इतिहास पाठ्यक्रम की दृष्टि से तो लिखा ही गया है; किन्तु इस एकांगिता से बचाने के लिए उसकी विषय-सामग्री को इस रूप में गठित करने का यत्न किया गया है कि बृहद् संस्कृत-वाङ्मय की प्रत्येक विचारधारा का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिए भी वह उपयोगी सिद्ध हो सके।

यह संक्षिप्त संस्करण, बृहद् संस्करण की छाया और बहुत कुछ अंशों में उसकी अनुकृति है। इसलिए जिज्ञासु इतिहास-अध्येताओं से मेरा अनुरोध है कि वे इसके बृहद् संस्करण को अवश्य देखें।

इस पुस्तक के लिए जिन विद्वानों की पुस्तकों का ऋण लिया गया है उनके प्रति मैं बृहद् संस्करण की भूमिका में आभार तथा कृतज्ञता प्रकट कर चुका हूँ। यहाँ पर उसको दुहराने की मैं आवश्यकता नहीं समझ रहा हूँ।

अन्त में अपनी इस पुस्तक के अध्येताओं और विशेष रूप से अपने छात्र बन्धुओं से मेरा सप्रेम आग्रह है कि यदि उन्होंने चाहा तो इस पुस्तक का अगला संस्करण, प्रस्तुत संस्करण की अपेक्षा, अधिक सामयिक सर्वांगीण एवं उपयोगी होगा।

इलाहाबाद
३३।९ करेलाबाग कॉलोनी,
जन्माष्टमी, सं० २०१७

—लेखक

विषयानुक्रम

उनका विषय। गृह्यसूत्र और उनका विषय। धर्मसूत्र और उनका विषय। कल्पसूत्रों का निर्माण-काल। व्याकरण। निरुक्त। व्याकरण और निरुक्त। निघंटु और निरुक्त। निरुक्त का विषय। यास्क। छन्द। छन्दशास्त्र का प्रवर्तन। छन्दशास्त्रविषयक उपलब्ध ग्रन्थ। ज्योतिष। वेदांग ज्योतिष। उसके व्याख्याकार। उसका लेखक और रचनाकाल।

रामायण। रामकथा की उद्भावना और उसकी लोकविश्रुति। रामायण का रचनाकाल और वाल्मीकि। रामायण का अन्त्येष्टि-काल। प्रक्षिप्त अंश। रामायण के वर्तमान संस्करण। रामायण की टीकायें। रामायण की कथा का दाय। महाभारत। वेदव्यास। व्यास : एक उपाधिसूचक नाम। बादरायण व्यास। पराशर्य व्यास। जीवन-वृत्त। साहित्य-साधना-भूमि : उत्तराखंड। भारत की ज्ञान-विरासत का विश्वकोश : महाभारत। महाभारत के कथानक का मूल उद्गम और उसका विकास। परवर्ती ग्रन्थों का उपजीवी। महाभारत का कलेवर। महाभारत की टीकायें। महाभारत के कर्ता, वक्ता और प्रवक्ता। महाभारत के पुनः संस्करण। महाभारत का काल-निर्णय। पूर्वसीमाएँ। उत्तरी सीमाएँ। गीता और महाभारत। रामायण और महाभारत। दोनों कथानकों का मूल उद्गम। दोनों ग्रंथों का ऐतिहासिक संतुलन। पुराण-साहित्य। पुराण। वैदिक धर्म का पुनः संस्कार : पौराणिक धर्म का अभ्युदय। पौराणिक धर्म का विकास। पुराणों की अनादिता। पुराणों में विविधता। इतिहास और पुराण की पृथक्ता। पुराणों के स्रष्टा : वक्ता : प्रवक्ता। पुराणों के निर्माता। पुराणों की संख्या पुराणों के निर्माणकाल का विश्लेषण। उप पुराण। जैन और बौद्ध पुराण। आदि पुराण। उत्तर पुराण। पुराणों के वैज्ञानिक अनुशीलन की आवश्यकता।

आर्यों का आदि देश

संस्कृत, भारत की अपनी मूल भाषा है, जिसका 'देववाणी' दूसरा नाम अपनी अति प्राचीनता का द्योतक है। भारत के साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक जीवन की पूरी व्याख्या संस्कृत भाषा के वाङ्मय में समाविष्ट है। वेदों के अति रहस्यमय ज्ञान से लेकर सामान्य जन-जीवन के मनोविनोद से संबंधित 'पंचतंत्र' की कथाओं तक जितना भी साहित्य-वैभव विद्यमान है, वह सब संस्कृत-भाषा में ही सुरक्षित है। भारत के उन ज्ञानमना महामनस्वियों के व्यक्तित्व एवं अध्यवसाय का आज हम अंदाजा तक नहीं लगा सकते, जिन्होंने ऐसे सहस्रों ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें से एक ही ग्रन्थ के आमूल अध्ययन के लिए हमें एक समस्त दीर्घायु जीवन की आवश्यकता है।

दुनिया के इतिहासकारों के समक्ष एक बहुत बड़ी जटिल समस्या आदि से ही, बिना समाधान हुए, यह रही है कि जिस बृहद्-वाङ्मय का उत्तराधिकार, जिस बहुमूल्य वसीयत का स्वामित्व आज भारत को उपलब्ध है, उसका मूल अधिकारी कौन था, और भू-मण्डल के किस छोर से उठकर उसने इस भारत भूमि में कब पदार्पण किया? इस जिज्ञासा का अभी तक अंतिम रूप से समाधान नहीं हो पाया है और भविष्य में भी इस संबंध में एक सर्व-संमत हल देखने-सुनने को मिलेगा, कदाचित्, इसकी भी संभावना कम है। इस संबंध में इतना अवश्य है कि इतिहासकारों की यह बिना समाधान पाई जिज्ञासा ही समय की मोटी परत से विलुप्त सच्चाइयों को खोज निकालने में सदा सक्रिय रही है और भविष्य में भी निरंतर नये अनुसंधानों का कारण बनी रहेगी।

भारतीय साहित्य की ही भाँति भारतीय निवासियों के इतिवृत्त का वैज्ञानिक अध्ययन पहिले विदेशियों ने आरंभ किया और उसके बाद भारतीयों का ध्यान उधर आकर्षित हुआ। भारतीयों के उस दिशा में आकर्षित होने के पूर्व ही भारत के संबंध में तथा वहाँ के निवासियों के संबंध में विदेशियों ने जो अनाप-शनाप बातें खोज निकाली थीं, उनका बहुत कुछ निराकरण तभी हो चुका था। भारतीय विद्वानों ने अपने देश के तथा अपने साहित्य के संबंध में जब नये सिरे से विचार करना आरंभ किया और फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकाले, उनसे भारत का ही नहीं, बल्कि दुनिया के इतिहास का एक नया आलोक स्तंभ मुखरित हो उठा।

भारतीयों के आदिम जीवन पर गंभीरतापूर्वक विचार करने वाले विद्वानों में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, नारायण भवनराय पावगी, डा० अविनाशचंद्र दास, पं० भगवद्दत्त, पं० रघुनंदन शर्मा और बाबू संपूर्णानन्द जी का नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने अपनी स्वतंत्र सूझें भारत की परिस्थितियों, वहाँ की प्राकृतिक बनावटों और वहाँ के साहित्य को आधार बनाकर सर्वथा मौलिक रूप में पाठकों के सामने रखीं, अपने प्राक्स्वत्वों के विलुप्त सत्यों और उन पगडंडियों को, जिन पर पड़े हमारे पूर्वजों के पदचिह्न यद्यपि आज धुँधले पड़ गए; किन्तु अपने साक्षात्कृत महान् सत्यों को जिस भारी ज्ञान-विरासत के रूप में वे हमें दे गए, उनको खोज लाने में उक्त विद्वानों की पुस्तकें हमारे लिए मार्ग-निर्देशन का एक बहुत बड़ा जरिया, अथ च, हमारे देश तथा हमारी जाति के संबंध में विदेशियों द्वारा उड़ाई गई दोषपूर्ण अफवाहों को दूर करने के लिए प्रबल प्रमाण सिद्ध हुई हैं। इन पुस्तकों में प्रकट की गई बातें निश्चित ही भारत के संबंध में दुनिया के विद्वानों को नये सिरे से पुनर्विचार करने को बाध्य करती हैं।

आर्यों की मूल भूमि : भारत

भारतीय विद्वानों का अभिमत है कि आर्यजाति की मूल भूमि भारत थी और वहीं से उसका विस्तार संसार भर में हुआ। इस मत के पहिले प्रतिष्ठापक स्व० बालगंगाधर तिलक थे, जिनके अनुसार आर्यजाति का मूल निवास उत्तरी ध्रुव था। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में कुछ ऐसे प्रामाणिक तथ्य विद्यमान

हैं, जिनके अनुसार विदित होता है कि आरंभ में आर्यजाति विभिन्न संप्रदायों में विभाजित होकर कंबोज, जावा, सुमात्रा आदि बस्तियों तक विस्तारित थी। सभी संप्रदाय विशुद्ध भारतीय थे; उनमें विदेशी रक्त का लेशमात्र भी संमिश्रण नहीं था।

भारत के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन के विधि-व्यवस्थापक महापुरुष मनु ने इस बात का विस्तार से उल्लेख किया है कि भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के अन्तर्गत पौण्ड्र, चौड़, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्लव, चीन, किरात और खश जातियों का निवास था। ब्राह्मण-ग्रंथ भी इस तथ्य का साक्षित्व प्रकट करते हैं। 'मनुस्मृति' में प्राचीन भारत को ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश और यहाँ तक कि आर्यदेश आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। महर्षि वाल्मीकि ने सुप्रसिद्ध एवं लोकविश्रुत अयोध्या नाम की नगरी का निर्माता मनु को बताया है।

लोकमान्य तिलक का मत

लोकमान्य तिलक का मत बड़े महत्व का है। तिलक ने अपने ग्रंथ 'ओरायन' में आर्य-जाति के अभ्युदय और वैदिक साहित्य के निर्माणार्थ जिन गवेषणापूर्ण तथ्यों का दिग्दर्शन किया है, वे अत्यधिक श्रमसाध्य, विचारपूर्ण और अवलोकनीय हैं। उनके प्रमुख सिद्धान्तों का निष्कर्ष इस प्रकार है :

लोकमान्य तिलक उत्तरी ध्रुव के कटिबंध प्रदेश को आर्यों की मूल भूमि मानते हैं और ज्योतिषशास्त्र के आधार पर उन्होंने आर्य-जाति के उत्कर्ष को तीन विभिन्न युगों में विभाजित किया है। उन तीन युगों का नाम है १ आदि-युग अर्थात् मृगशीर्ष-पूर्वकाल, २ मृगशीर्ष-युग और ३ वसंत संपात-युग। आदि-युग की अवधि के लिए उन्होंने ६०००–४००० ई० पूर्व का समय निश्चित किया है। इस युग के निर्धारणार्थ उनके आनुमानिक आधार हैं और उनकी मान्यता है कि इस युग तक वैदिक ऋचाओं का निर्माण होना आरंभ नहीं हुआ था। दूसरे मृगशीर्ष-युग की मर्यादा को तिलक ने ४०००–२५०० ई० पूर्व स्थिर किया है और उनकी दृष्टि में इन डेढ़ हजार वर्षों का समय आर्यसभ्यता के महान् उत्कर्ष का समय रहा है। ठीक उन्हीं के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'This is most important period in the

history of the Aryan civilization, A good many Suktas in the Regveda'; आर्यजाति के उत्कर्ष का तीसरा वसंतसंपात-युग २५००-१४०० ई० पूर्व है, तिलक के मतानुसार जिस युग में 'तैत्तिरीयसंहिता' और ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना हुई।

आर्यजाति के अभ्युदय के संबंध में लोकमान्य तिलक का उक्त सिद्धान्त कुछ दिनों तक अंतिम निष्कर्ष के रूप में मान्यता प्राप्त करता रहा; किन्तु इधर नई खोजों एवं नये सिद्धान्तों के कारण वह प्रभावहीन-सा हो गया है। उसकी प्रामाणिकता पर विविध विद्वानों ने आपत्ति प्रकट की है। फिर भी कुछ विदेशी विद्वानों के साथ भारतीय विद्वानों का यही समर्थित मत है कि आर्यों की आदि भूमि भारत ही थी। भारत के विभिन्न भागों को अपनी-अपनी दृष्टि से विद्वानों ने आर्यों का निवासस्थान निर्धारित किया है।

भारत के संबंध में विभिन्न मत

अल्बरुनी के मतानुसार अति प्राचीन समय में आर्य लोगों का निवास हिमालय पर था। वहाँ की विपरीत जल-वायु के कारण वे पीछे आर्यावर्त्त में आकर बस गए, जहाँ से अनेक जातियों, संप्रदायों में विभक्त होकर वे अनेक भू-भागों में बिखर गए। अपने एक भाषाशास्त्री मित्र को लक्ष्य करके टेलर महोदय ने भी यही स्वीकार किया है कि मनुष्य जाति की जन्मभूमि स्वर्ग-तुल्य कश्मीर थी। उन्होंने जोर देकर इस बात को कहा कि आर्यों का मूल स्थान वही देश रहा है, जहाँ संस्कृत और जेंद भाषाएँ बोली जाती थीं।

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता एवं इतिहासज्ञ विद्वान् बाबू अविनाशचंद्र दास ने इस संबंध में नई खोज की है। उन्होंने भी टेलर महोदय के अनुसार कश्मीर और सप्तसिन्धु को ही आर्यों का आदि निवास सिद्ध किया : 'That this beautiful mountainous country (Kashmir) and the plains of saptasindhu were the cradle of the aryan race.' अविनाश बाबू ने अनेक प्रमाणों को उद्धृत कर इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि वेदों में जिन नक्षत्रों का वर्णन है उनका दर्शन ऋषियों ने कश्मीर से ही किया था।

मेगस्थनीज (४०० ई० पूर्व) का पूरा ग्रंथ संप्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु उसके अवतरण कई ग्रंथों में पाये जाते हैं। इन सब अवतरणों को एकत्र करके पहिले-पहिल उनको जर्मन भाषा में प्रकाशित किया गया और बाद में उनका अंग्रेजी अनुवाद हुआ। भारतीय जन-जीवन और उसकी प्राचीनतम स्थिति पर प्रकाश डालते हुए मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत अनगिनत जातियों में बसा है। इन जातियों में मूलरूप में कोई भी विदेशी नहीं थी; प्रत्युत स्पष्ट ही सारी ही इसी देश की थी। भारत के बाहर से आकर कोई भी जाति-संघ यहाँ नहीं बसा है, और न ही भारत ने अपने से भिन्न किसी जाति में कोई उपनिवेश बनाया।

भारत के प्राचीनतम जन-जीवन और उसके आवास-निकास के संबंध में पुरातत्ववेत्ताओं ने कुछ प्रामाणिक आधार खोज निकाले हैं। उन्होंने उपलब्ध अस्थिपंजरों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि भारत में अति प्राचीन काल से शव-दाह की प्रथा प्रचलित थी। मोहेजोदड़ों से प्राप्त अस्थिपंजरों को उन्होंने पाँच सहस्र वर्ष या उससे पुराना सिद्ध किया है। और साथ ही अब यह भी प्रमाणित हो चुका है कि बयाना एवं स्यालकोट से जो अस्थिपंजर प्राप्त हुए हैं, वे आर्यों के ही थे और उनकी अति प्राचीनता भी असंदिग्ध है।

इसके साथ-साथ मध्य योरप से प्राचीनतम दाह-संस्कार की प्रथा को चाइल्डे ने केवल २४००–१८०० ई० पूर्व की अवधि के बीच माना है। यूनानियों के संबंध में अल्बरूनी ने लिखा है कि वहाँ भी कभी-कभी मृत-दाह की प्रथा प्रचलित थी; किन्तु उसकी भी अधिकतम प्राचीनता ३००–२०० ई० पूर्व के पहिले न थी।

मैक्समूलर साहब, जो कि अपने मध्यएशियावाद या एशियावाद को बार-बार दुहराते रहे; उन्हें भी अन्त में यह स्वीकार करना पड़ा कि भारत ही एकमात्र ऐसा महान् देश है, मानवजाति ने जिसके सुसंस्कारों का दाय लेकर अपनी सभ्यता, संस्कृति और अपने साहित्य का निर्माण किया। उन्होंने कहा 'हम लोगों ने इस प्राचीन देश के संबंध में, जो गोरी जाति का उत्पत्तिस्थान है और जो जगत की उत्पत्ति का मूल है, सत्य की खोज करनी प्रारंभ की।' पुनः वे कहते हैं '······तब तुम परिचित हो जाओगे और तुम्हें

लगेगा कि भारत-वसुंधरा मानवजाति की माता, हमारी सारी परंपराओं की उद्गमभूमि है।'

इसी बात को कुछ व्याख्यात्मक ढंग से एम० लुई जैकोलियट यों कहते हैं 'भारत संसार का मूल स्थान है; इस सार्वजनिक माता ने अपनी संतान को नितांत पश्चिम में भेजकर हमारी उत्पत्तिसंबंधी जिज्ञासा को अपने-आप प्रमाणित कर दिया; उसी ने हम लोगों को अपनी भाषा, अपने कानून, अपना चरित्र, अपना साहित्य और अपना धर्म प्रदान किया'।

कुछ विद्वानों के मतों की हम पहिले चर्चा कर चुके हैं, जिनका कथन है कि मानवजाति का मूल स्थान यदि भारत होता तो मनुष्य सुदूर पश्चिम को क्यों कर जा पाता; इसका सप्रमाण उत्तर हमें प्रो० डान के भौगोलिक अध्ययन पर निकाले गये निष्कर्षों से पूरी तरह मिल जाता है। जेम्स डी० डान (Jeimes D. Daun) प्रसिद्ध भू-गर्भवेत्ता विद्वान् हुए हैं। उनका कथन है कि 'प्राच्य, उन्नति का महादेश रहा है। यह बात सारे भूतकालिक प्रमाणों से सिद्ध होती है कि मनुष्य सर्वप्रथम विशाल प्राच्य के किसी भाग में उत्पन्न हुआ होगा, और उसको स्वतः इधर-उधर फैलने तथा आत्मोन्नति के लिये दक्षिण-पश्चिम एशिया की अपेक्षा अधिक उपयुक्त कोई दूसरा स्थान मालूम नहीं पड़ा होगा, क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से वही एक ऐसा केन्द्र है, जहां से योरॅप, एशिया तथा अफ्रीका के तीन विशाल विभाग निश्चित होते हैं।'

इस संबंध में क्रूजर साहब का मत भी ध्यान देने योग्य है, जिसको कि पावगी जी ने अपनी पुस्तक 'दि आर्यावर्त्तिक होम ऐंड दि आर्यन क्रेडल इन दि सप्तसिन्धुज' में उतारा है। क्रूजर साहब का मंतव्य है कि 'यदि पृथ्वी पर ऐसा कोई देश है, जो मानवजाति का मूल स्थान या कम-से-कम आदिम सभ्यता का लीलाक्षेत्र होने का दावा न्यायतः रखता है, और जिसकी वे समुन्नतियाँ, और उससे भी परे, जिसकी विद्या की वे न्यामतें, जो मनुष्य-जाति का दूसरा जीवन है, प्राचीन जगत् के सम्पूर्ण भागों में पहुँचाई गई हैं, तो वह देश निःसंदेश भारत ही है।'

लोकमान्य तिलक के आर्यदेश 'उत्तरी ध्रुव' वाले सिद्धान्त पर बाद में बहुत आपत्तियाँ प्रकट की गईं; किन्तु उसका समर्थन भी कुछ कम नहीं हुआ। आज भी, जब कि इस सम्बन्ध में नये तथ्य प्रकाश में आ चुके हैं, लोकमान्य की स्थापनाएँ सहसा भुलाई जाने योग्य नहीं हैं। उत्तरी ध्रुव को मनुष्य-जाति की जन्मभूमि सिद्ध करने वाले विद्वानों में एम० डी० सपोरटा का नाम प्रमुख है, और यद्यपि इनके विचारों का प्रो० रे (Rhy) ने भरपूर खण्डन करने का यत्न किया, तथापि सुप्रसिद्ध भू-गर्भवेत्ता विद्वान् मेडलीकट एवं ब्लैन्फर्ड, डा० डान, डा० इसाक टेलर और दूसरे विद्वानों ने यही स्वीकार किया कि उत्तरी ध्रुव, अथच, सप्तसिन्धु ही आर्यों का आदि देश था।

समीक्षा

वैदिक साहित्य की अधिकतम आयु २५००—३०० ई० पूर्व के भीतर है, लोकमान्य तिलक के 'ओरायन' तथा 'दि आर्कटिक होम इन दि वेदाज' इन दो ग्रंथों की चर्चा करते हुए, वेदों के आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर, जिनकी ओर कि विदेशियों ने ध्यान तक नहीं दिया, यह सिद्ध किया है कि 'सिन्धु' शब्द समुद्रवाची और नदीवाची दोनों है। वेदोक्त 'सप्तसिंधव' शब्द का आधार भी यही 'सिन्धु' शब्द है। पाश्चात्यों के कथनानुसार क्योंकि आर्य मध्यएशिया से भारत आये थे, अतएव वे समुद्र से अपरिचित थे। इसलिए सिन्धु शब्द से उन्होंने सर्वत्र नदी को ही लिया है। किन्तु ऋग्वेद के कुछ मंत्रों को पढ़कर यह विदित हो जाता है कि आर्य समुद्र से सुपरिचित थे, एवं उनके संबंध में विदेशियों की उक्त धारणाएँ उनकी अज्ञानता की परिचायिका हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि वैदिक आर्य जिस रीति से भारत में प्रविष्ट हुए, उसका कहीं भी कोई उल्लेख उनके प्राचीनतम साहित्य में उपलब्ध नहीं होता है। इन विद्वानों की ये धारणाएँ, भारतीय साहित्य तथा वेदों के प्रति उनके अधूरे ज्ञान की परिचायिका हैं। ऋग्वेद के वसिष्ठ-सूक्त में तृत्सु-वंशीय राजा सुदास के साथ जिन आर्य और अनार्य जातियों का युद्ध हुआ था उनके नाम हैं : तुर्वश, मत्स्य, भृगु, द्रुह्यु, पक्थ, मलान, अलिन, शिव, बिषणिन् , वैकरण, अनु, अज, शिग्रु और यक्षु। ऋग्वेद के इस विवरण

से विदित होता है कि ऋग्वेद के निर्माण से भी पहिले एशिया माइनर की कुछ जातियाँ आर्य-समूहों के साथ ही भारत में प्रविष्ट हो चुकी थीं। इन आर्य-जातियों से उत्पन्न अर्धु, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिव आदि आधुनिक जातियाँ विश्वमित्र की संतानें कही गई हैं।

डा० अविनाशचंद्र दास ने आर्य-भूमि की भौगोलिक स्थिति के विश्लेषण पर एक बृहद् निबन्ध लिखा : 'ऋग्वेदोक्त आर्यनिवास का भौगोलिक विवरण' (गङ्गा, पुरातत्त्वांक, जनवरी, १९३३)। अपने इस निबंध में डा० दास ने स्पष्ट किया कि ऋग्वेद संहिता के निर्माणकाल में आर्यगण पंचनद, काश्मीर, बाह्लीक, गांधार (अफगानिस्तान), उत्तरी बिलोचिस्तान और पश्चिम हिमालय प्रभृति प्रदेशों में पूर्णतया बस चुके थे और यही प्रदेश आर्यों का आदि निवास था। इन्हीं आर्यों की एक शाखा धार्मिक मत-भेद के कारण ईरान में जाकर बसने लगी थी। डा० साहब ने यह भी प्रकट किया कि सप्तसिन्धु वही भाग था, फारसियों के धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' में जिसको सप्तहिन्द कहा गया है। उस समय आर्य-भूमि के चारों ओर चार समुद्र थे, जो सप्तसिन्धु, अर्थात् सात नदियों की भाँति किन्हीं प्राकृतिक कारणों से संप्रति विलुप्त हो चुके हैं। डा० साहब ने आर्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया कि 'मेरे विचार में ऐसा जँचता है कि पंजाब और गांधार में ही आर्यों की उत्पत्ति हुई थी, एवं यही प्रदेश इनका आदि उत्पत्ति-स्थल (Cradle) है। सृष्टिकाल में आर्य-जाति यहीं बसती थी, पीछे भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैली।'

डा० अविनाशचन्द्र दास के बाद बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने इस विषय पर एक बड़े महत्त्व की पुस्तक लिखी है : 'आर्यों का आदि देश'। उन्होंने भी यही सिद्ध किया है कि आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धव था। रंग, रूप, वाणी, विद्या, विचार और आकार-प्रकार से मनुष्य भले ही असमान दीख पड़ें; किन्तु प्रकृत्या वे अभिन्न हैं, क्योंकि उनकी स्थायी वंश-परम्परा एक जैसे ढंग से चली है। इसलिए हमारे समक्ष प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी मनुष्यों का पूर्वज एक ही था, या कि भिन्न-भिन्न थे? इसकी जगह यह भी कहा जा सकता है कि आरम्भ में मनुष्यजाति

किसी एक देश या एक स्थल में पैदा होकर सारे भू-मण्डल में फैली अथवा एक ही साथ संसार के विभिन्न छोरों में मनुष्य अलग-अलग पैदा हुए ?

इसका एक सर्वसम्मत उत्तर देना कठिन है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य की जन्म-भूमि किसी एक स्थान में रही हो तो, उसको फैले आज लाखों नहीं तो सहस्राब्दियाँ अवश्य ही बीत गईं। पृथ्वी पर कई बार भौगोलिक उपद्रव हुए, ऋतु-विपर्यय हुआ। जहाँ आज ठंड है वहाँ गर्मी थी; जहाँ आज गर्मी है वहाँ बर्फ जमी थी। इतना ही नहीं, जहाँ आज समुद्र है वहाँ स्थल-भाग था और आज के स्थल-भाग में तब समुद्र था। इस दृष्टि से विभिन्न भू-भागों में मनुष्य-जाति का यह विकेन्द्रीकरण ४०-५० हजार वर्ष पहिले हो चुका था, क्योंकि १०-१२ हजार वर्ष तो उपजातियों को बने ही हो गए हैं।

मनुष्य जब एक स्थान में रहकर अपना निर्माण कर रहा था, तब उसका एक ही समूह था। जब मूल मनुष्यजाति के फिरके विभिन्न भू-भागों में फैले तो वे अनेक उपजातियों में विभक्त हो गए। ये उपजातियाँ कितनी थीं, इसके सम्बन्ध में एक जैसी बातें देखने को नहीं मिलती हैं। उनकी संख्या तीन से लेकर डेढ़-सौ तक गिनाई गई है। आर्य, सेमेटिक, मंगोल और हब्शी आदि भी उन्हीं आदिम उपजातियों में से थीं। इन उपजातियों में विद्वेष की भावना जन्मतः ही थी। वैदिक युग में जब सर्वप्रथम सप्तसिन्धु (पंजाब) की सीमा पर आर्यों का सामना अनार्यों से हुआ तो दोनों उप-जातियों में लड़ाई ठन गई। आर्यों के बहुत यत्न करने पर भी बहुसंख्यक अनार्य सर्वथा नष्ट न हो सके; किन्तु आर्यों ने अनार्यों का एकदम बहिष्कार कर दिया; उन्हें विवाह, सहभोज आदि में शामिल नहीं होने दिया।

त्रेता युग में आर्य जब विन्ध्य को लाँघकर दक्षिण में प्रविष्ट हुए तो वहाँ भी अनार्यों से उनका सामना हुआ। यद्यपि तब तक वे अनार्य भी काफी सभ्य और संस्कृत हो चुके थे; किन्तु तब भी आर्य उन्हें मनुष्य मानने को तैयार न हुए। उनमें से कुछ ने अनेक अपमानों के बावजूद भी आर्यों का साथ दिया, कुछ ने नहीं भी दिया। जिन्होंने साथ दिया वे आर्यों की भाषा

में वानर कहलाये और जिन्होंने शत्रुता रची, वे राक्षस कहलाये। इन वानरों और राक्षसों के सम्बन्ध में जैसा भी पढ़ने-सुनने को हमें मिलता है, उससे हमें यही पता चलता है कि वे भी मनुष्य थे, जो कि तत्कालीन सत्ताधारी जाति के अनुकूल न रहने के कारण वानर या राक्षस कहलाए।

आर्य कौन थे ?

मूल मनुष्यजाति अनेक उपजातियों में विभक्त तो हुई, किन्तु उनमें आर्य उपजाति कौन थी, यह बात विचारणीय है। अनेक मतभेदों के बावजूद अन्ततः यह बात बहुमत से स्वीकार की गई कि आर्यजन वही थे, जो वेद-कालीन भारत के निवासियों और प्राचीन पारसियों (ईरानियों) के पूर्वज थे। साथ ही यह भी सिद्ध हो चुका है कि पश्चिमी यूरोप के बहुसंख्यक अधिवासी अफ्रीका को प्रवासित आदिम उपजाति की सन्तानें हैं। आर्य उपजाति की दो शाखाओं में, एक का सम्बन्ध भारत और दूसरी का ईरान से था। मूलतः ये दोनों अभिन्न थीं।

सप्तसिन्धव

सप्तसिन्धव देश की सात नदियों के नाम थे : सिंधु, विपाशा (व्यास), शुतुद्रि या शतद्रु (सतजल), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चुनाव), परुष्णी (राबी) और सरस्वती। इनके अतिरिक्त उस प्रदेश में दृषद्वती, तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, कुंभा, गोमती, मेहत्नु और क्रुमु आदि और भी नदियाँ थीं, किन्तु ये सभी नदियाँ उक्त सप्तनदियों में ही विलयित हो जाती थीं। अतः प्रधानता वहाँ सात ही नदियों की रही। इसीलिए उस प्रदेश का नाम सप्तसिन्धव पड़ा। आर्यावर्त का वह भू-भाग, जिसमें पंजाब की नदियाँ बहती थीं और जो सिंधु तथा सरस्वती के बीच में स्थित था, ऋग्वेद में 'देवनिर्मित देश' कहा गया है। यह देश यागप्रेमी आर्यों का देश था। सप्तसिंधव वही प्रदेश था, जिसे आजकल पंजाब-काश्मीर कहा जाता है।

सप्तसिंधु की यह पवित्र भूमि आर्यों को बहुत ही पसंद थी। वेदों में और विशेषतया ऋग्वेद में तथा जेंद अवेस्ता में उसकी पावन महिमा का विस्तार से वर्णन है।

विभिन्न जातियों का भारत में प्रवेश करने का क्रम

भारत के मूल अधिवासियों में निग्रो (Negro) सबसे पुरानी जाति है। प्रागैतिहासिक युग में ही अफ्रीका से चलकर ये अरब, ईरान और बलोचिस्तान के समुद्री तट से होते हुए भारत में प्रविष्ट हुए। इन्हें उपः-प्रस्तर युग (Eolithic) का माना गया है। इस जाति की विरासत दाक्षिणात्य जातियों—इरूला (Irula), कादिर (Kadir), करुम्बा (Kurumba) और पनियन (Paniyan) प्रभृति जातियों में देखी जाती है। निग्रो-रक्त का कुछ संमिश्रण असम की नागा जाति में भी दिखाई देता है, किन्तु सामान्यतया भारत के किसी भी भाग में आज निग्रो जाति का अविमिश्रित विशुद्ध मूलवंश तथा उसकी भाषा का कोई जीवित रूप नहीं है। इनका अविमिश्रित रूप और इनकी भाषा का शुद्ध स्वरूप आज न्यू गिनि और अन्दमन द्वीपों में वर्तमान है।

निग्रो के बाद पूर्व-भूमध्यसागर के फिलस्तीन से प्रोटो अस्ट्रालायड (Proto-Australoid) जाति भारत में आई। इस आदिम जाति के वंशधर आज भी भारत में निम्न श्रेणी के लोगों में वर्तमान हैं। ऑष्ट्रिक इसी की एक अति प्राचीन शाखा थी, जिसने कि मेसोपोतामिया होकर भारत में प्रवेश किया। सिंहल में इनके वंशधर व्याध के नाम से विख्यात हैं। आस्ट्रेलिया के आदि निवासी भी इन्हीं के वंशधर थे। बाद में प्रागैतिहासिक काल में ही इनकी नाना शाखाएँ इन्दोचीन (बर्मा, स्याम, कम्बोज आदि), मलय प्रायद्वीप, द्वीपमय भारत और उसके पूर्व काले द्वीपपुंज तथा बहुद्वीपपुंज में फैल गई थीं। तब इनकी सभ्यता अधिक संस्कृत हो चुकी थी। ईसा के लगभग एक हजार वर्ष पूर्व ये ऑष्ट्रिक जन आर्य-भाषी हो गए थे। इनके पड़ोसी द्राविड़-भाषी जनों की भी यही स्थिति थी। दक्षिण-भाषी जातियों के वंशधर पंजाब से आसाम तक और सारे उत्तर भारत की जनता में अपना विलय कर आज आर्य-भाषी हिन्दू-मुसलमानों के रूप में वर्तमान हैं। इन दक्षिणजातीय जनों को आर्य लोग प्राचीन समय में निषाद कहा करते थे।

दक्षिण-भाषियों के बाद भारत में द्राविड़-भाषियों के अस्तित्व का पता चलता है। ये लगभग ३५०० ई० पू० में ही यहाँ आ चुके थे। भू-मध्यसागर की ईजियन (Aegean) और पश्चिम एशिया माइनर की आर्मेनायड (Armenoid) जातियों ने आपस में विलयित होकर द्राविड़ जाति को जन्म दिया और इस विलयित रूप में ही उसने भारत में प्रवेश कर द्राविड़ नाम से अपनी ख्याति कायम की। भारत में आकर इन्होंने ने ही सिन्धु प्रदेश, दक्षिण पंजाब की सभ्यता का निर्माण किया। मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त ध्वंसावशेषों से हमें इस सभ्यता की प्राचीनता का पता लगता है। इस सभ्यता का गौरवमय युग लगभग ३२५०-२७५० ई० पू० के बीच था। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के प्रतिष्ठापक ये लोग भाषा में द्राविड़ थे। ये प्रथम तो पश्चिम और दक्षिण में फैले। बाद में ये उत्तरभारत में निषादों से मिले, बाद में आर्यों से भी इनका मिलन हुआ। इस प्रकार प्राचीन भारत की हिन्दू-सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माणकों में अनार्य, निषाद और द्राविड़ जाति की देन मुख्य है।

आर्यजन द्राविड़ों को 'दास' या 'दस्यु' के नाम से पुकारते थे। बाद में ये शब्द 'क्रीत दास' के अर्थ में प्रयुक्त हुए या 'भृत्य' और 'तस्कर' रूप में अवमानित हुए। शनैः-शनैः निषाद, द्राविड़ और आर्यों का मिलन हुआ और इन तीन जातियों ने मिलकर एक नई जाति की नींव डाली, जो उत्तर भारत की आर्य-भाषी हिन्दू-जाति के नाम से विख्यात हुई। यह बात १००० ई० पू० के लगभग की है।

तदनन्तर आर्यों के आगमन के बाद उत्तर-पश्चिम चीन से मंगोल (Mongol) जाति भारत में आई। इन्हीं की एक शाखा ने होआङ् नदी के तीर २००० ई० पू० के लगभग चीनी सभ्यता की नींव डाली। लगभग १००० ई० पू० में पहुँचकर इसने साहित्य, लिपि, दर्शन और कला में प्रतिष्ठा प्राप्त की और उसके बाद बौद्धधर्म के चीन-प्रवेश ने इस सभ्यता को और भी आगे बढ़ाया।

इसी भोट जाति की एक दूसरी शाखा—थाई (Thai) जाति १००० ई० पूर्व में भारतीय धर्म, साहित्य तथा सभ्यता से अनुप्राणित होकर स्याम देश

की स्यामी जाति में परिणत हो गई। उसी प्रकार भारतीय धर्म-सभ्यता से दीक्षित होकर ब्यम्मा (Byamma) नामक एक जाति वर्मी में परिवर्तित होकर वर्मा में बस गई। भोट जाति की एक शाखा १००० ई० पू० के आसपास तिब्बत में आकर बस गई थी और इन्हीं से संबन्धित कुछ जातियाँ आसाम, उत्तर-पूर्व बंगाल तथा नेपाल में बस गईं। तिब्बत में बसे हुए भोटों ने ईसा की सातवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्म को तथा भारतीय लिपि को ग्रहण कर, तथा भारतीय साहित्य से अच्छी-अच्छी कृतियों का अनुवाद कर अपने साहित्य को समृद्ध किया। इन अनूदित कृतियों में से कुछ आज भी वहाँ हस्तलिखित पोथियों के रूप में वर्तमान हैं, जो कि संप्रति न तो अपनी मूल भाषा संस्कृत में और न ही अपनी जन्मभूमि भारत में उपलब्ध हैं।

मंगोल जाति का उल्लेख यजुर्वेद में मिलता है। आर्यजन इन्हें 'किरात' कहा करते थे। भारत में इनका प्रवेश लगभग १००० ई० पू० में हो चुका था। हिन्दू-जाति के इतिहास में और हिन्दू-सभ्यता के निर्माण में मंगोल जाति का अतिशय सहयोग रहा है।

इन सभी ऐतिहासिक विवरणों को जानकर विदित होता है कि इस हिन्दू समाज के द्वारा जिस व्यापक भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ, उसमें समान रूप से उक्त सभी आर्य एवं आर्येतर जातियों का योगदान था। इस हिन्दू-संस्कृति की सर्वाभिभूत भावना का इतना प्रभाव पड़ा कि पीछे से मुसलमान भी सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय रीति-रिवाजों में एकप्राण हो गए। भारत की इस समन्वय-भावना को लक्ष्य कर 'दिनकर' जी ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखा है कि "यह विश्वजनीनता, विभिन्न जातियों को एक महाजाति के साँचे में ढालने का यह अद्भुत प्रयास और अनेक वादों, विचारों और धर्मों के बीच एकता लाने का यह निराला ढंग सभी युगों में भारतीय समाज की विशेषता रही है।" सुनीति बाबू की खोजों से विदित होता है कि उक्त सभी आर्य-अनार्य जातियाँ १५०० ई० पू० के बीच एक संस्कृति और एक समाज में विलयित हो चुकी थीं। श्री शैलेंद्रनाथ सेन गुप्त ने १९५१ ई० में पश्चिमी बंगाल की जनगणना रिपोर्ट में २०९ ऐसी जातियों

का उल्लेख किया है, जो आचार-विचार और वैवाहिक जीवन में हिन्दू-समाज के साथ एकप्राण हो चुकी थीं।

इसलिए आर्यों को भारतभूमि का आदि निवासी और एकाधिकारी मानना या उन्हें ही केवल हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-संस्कृति का एकमात्र निर्माणक स्वीकार करना कदाचित् उपयुक्त न होगा। वेदों को छोड़कर संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र में जितना भी उत्तराधिकार आज भारत को उपलब्ध है, उसके निर्माण और अभ्युत्थान में अनार्य जातियों का उतना ही हाथ रहा, जितना कि आर्य जाति का।

आर्यभाषाओं का उद्गम और विकास

बहुत प्राचीन समय से ही विभिन्न विदेशी जातियाँ भारत में आने लग गई थीं। उन्होंने यहाँ आकर, पूर्णतया बस जाने के बाद, अपनी संस्कृति और अपनी रुचियों के अनुसार अपनी स्थिति को कायम किया। भारत की आदिवासी जाति नेग्रिटो या निग्रोटु थी। बाद में पश्चिमी एशिया से ऑस्ट्रिक जाति के लोग और तदनन्तर उसी पश्चिम दिशा से द्रविड़ भारत में प्रविष्ट हुए। ये ऑस्ट्रिक लोग 'निषाद' के नाम से और द्रविड़ 'दास' या 'दस्यु' के नाम से प्रसिद्ध हुए। द्रविड़ों के बाद आर्य और तदनन्तर 'किरात' कहलाने वाले तिब्बती-चीनी जनों ने भारत में प्रवेश किया। निषाद, द्रविड़, आर्य और किरात, यही चार जातियाँ यहाँ की मूल आदिम जातियाँ थीं।

किन्तु भारतीय जीवन और उसके संस्कारों, विचारों को निर्माण करने का प्रमुख हाथ आर्य जाति तथा उसकी भाषा का ही रहा है। संस्कृत, पालि, प्राकृत (गान्धारी), अर्धमागधी, अपभ्रंश, हिन्दी और भारत की समग्र प्रान्तीय भाषाओं तथा बोलियों के साथ आर्य भाषा का सम्बन्ध सदा ही बना रहा।

आर्य भाषा बहुत ही प्राचीन भाषा रही है। भारत में उसका ऐतिहासिक अस्तित्व लगभग ई० पू० ३५०० वर्ष पुराना है। इससे भी लगभग दो हजार वर्ष पूर्व संसार के भिन्न-भिन्न अञ्चलों में उसका अस्तित्व प्रकाश में आ चुका था। भारत में उसकी अविच्छिन्न परम्परा ३५०० ई० पू० से अबतक संस्कृत, प्राकृत और भाषा-बोलियों के रूप में अटूट बनी रही।

यूरोप, एशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, ऑशेनिया और अमेरिका आदि देशों की जितनी भी भाषाएँ-बोलियाँ हैं, उन सब में भारतीय आर्य भाषा का प्रमुख स्थान है। इसका महत्व इसलिए भी अधिक है कि पहिले तो इस पृथ्वी भर में उसके बोलने वालों की संख्या सर्वाधिक है और दूसरे में उसके अन्तर्गत ऐसी सभी भाषाएँ आ जाती हैं, जिनका मानवजाति के पिछले पच्चीस-सौ वर्षों से अटूट संबन्ध रहा है।

विरोस् और विरास्

भाषाविद् विद्वानों ने दुनियाँ के जिस भाषा-समूह का नाम विरोस्, (Wiros) दिया है, वह वैदिक; प्राचीन फारसी तथा अवेस्ता; ग्रीक; गॉथिक तथा अन्य जर्मन; लेटिन; प्राचीन आइरिश तथा अन्य केल्ट बोलियाँ; स्लाव एवं बाल्टिक भाषाएँ; आरमीनियन; हित्ती; तुखारी आदि आद्य-भारतीय-यूरोपीय समाज द्वारा प्रयुक्त होने वाली भाषाओं का सामूहिक नाम था। और इस दृष्टि से यही प्रतीत होता है कि भारतीय-यूरोपीय भाषा-कुल के अन्तर्गत गिने जाने वाली उक्त बोलियों के बोलने वालों का वंशज भी एक ही था। उसी को भाषाविदों ने 'विरास्' नाम दिया है।

इस भारतीय-यूरोपीय भाषा-कुल का विकास किन-किन रूपों एवं कारणों में होकर आज तक पहुँचा है; और वे अपने वैदिक, गाथा (अवेस्ता) तथा होमर आदि नाम-रूपों में छँटकर कहाँ से अलग हुई, इसका इतिहास कुछ भी नहीं मिलता है। साथ ही भारतीय-यूरोपीय भाषा-कुल के पूर्वज विरोस् कहाँ से आये और कहाँ जाकर वे पहिले-पहिल बसे, इस संबन्ध में भी ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता है।

इतिहास के अध्ययन से हमें पता चलता है कि मिस्री, सुमेरी, अक्कदी, असीरी, एलामी और एशिया माइनर के ग्रीस और पूर्वीय भू-मध्य सागर के ईजानियों, हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो की संस्कृति के निर्माता पूर्व आर्यों एवं चीनी संस्कृति का निर्माण हो जाने के बाद 'विरोस्' शब्द का उल्लेख हुआ है। फिर भी इतना तो विदित ही है कि ये लोग लेखन-प्रणाली से अनभिज्ञ थे और उनके द्वारा किसी उच्चकोटि की संस्कृति का निर्माण नहीं हुआ था।

आर्य भाषा की आदिम कृतियाँ

भारतीय आर्य अपनी आर्य भाषा का ही प्रयोग करते थे और अपने देवताओं की स्तुतियों तथा वीर-गाथाओं (नाराशंसियों) की रचना भी उन्होंने उसी भाषा में की थी। आर्यों की तथा आर्य भाषा के इतिहास की आरंभिक सामग्री यही है। भारतीय-ईरानी आर्यों और दास, दस्यु अनार्यों के संपर्क से आर्य-भाषा में कई परिवर्तन एवं संशोधन हुए। उस का विकसित रूप लगभग ऋग्वेद की भाषा जैसा था। उक्त जातियों के इस सामंजस्य के कारण आर्य भाषा से धीरे-धीरे भारतीय-ईरानीपन दूर होता गया, और फलस्वरूप वह विशुद्ध भारतीय आर्यभाषा के ढांचे में ढलती गई। अब तक भारतीय-ईरानी भी विशुद्ध भारतीय आर्य हो चुके थे। इन्हीं भारतीय आर्यों ने ही हिन्दू जाति, हिन्धू धर्म, हिन्दू संस्कृति के साथ-साथ वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत और भारत की समग्र प्रादेशिक भाषाओं को जन्म दिया।

किन्तु पूर्वार्यकाल की पौराणिक गाथाओं या आख्यान-उपाख्यानों में अनार्यों अर्थात् द्रविड़ों के राजवंशों की बातें भी सम्मिलित थीं। बाद में उन कथाओं का भी आर्यीकरण हुआ और वे आर्यभाषा संस्कृत तथा प्राकृत में अनुवादित कर ली गई। इस प्रकार एक भाषा में एकीकृत दोनों जातियों की दन्त-कथाएँ ऐसी एकाकार हो गईं कि आज उनको अलग-अलग चीन कर बताना असंभव है। आर्यों के मेसोपोटामिया, ईरान और भारत में प्रवेश करने के समय लगभग २०००–१००० ई० पूर्व के बीच की जितनी भी भारतीय कही जाने वाली पौराणिक कथाएँ हैं, उनमें आर्यों-अनार्यों, दोनों के संस्कारों, संबन्धों और रुचियों का समान रूप से समावेश है।

आर्यगोष्ठी की भाषाओं का विकास

आर्यगोष्ठी की भाषाओं के निर्माण में आदिम इन्दो-यूरोपियन (Indo-European) या भारत-यूरोपीय जाति का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस जाति की संस्कृति का निर्माण ३००० ई० पूर्व में ही हो चुका था। वैदिक संस्कृत, प्राचीन हित्ती, प्राचीन ग्रीक, रोमन या लातीन और दूसरी इतालीय, गाथिक तथा दूसरी प्राचीन जर्मनिक, आयरलैंड की प्राचीन भाषा, प्राचीन

स्लाव, कूची या तुखारी आदि विभिन्न आर्य-गोष्ठीय भाषाएँ इसी संस्कृति की देन है। इसी जाति की एक शाखा दो-सवा-दो हजार वर्ष ई० पूर्व उत्तरी मेसोपोटामिया में बस चुकी थी। लगभग डेढ़-दो हजार वर्ष ई० पूर्व में आर्यों ने वहां अपना राज्य स्थापित कर लिया था।

भारत में जो आर्य जातियां आकर बस गई थीं, उनमें नार्दिक (Nordic) और आल्प-पर्वतीय (Alpine) दो जातियां प्रमुख थीं। इनमें भी नार्दिक विशुद्ध आर्य और आल्पिन मिश्रित आर्य थे। इनके बाद भी कई जातिसमूह भारत में प्रविष्ट हुए। उन सभी में भाषा, आकार-प्रकार और रहन-सहन आदि में अन्तर होते हुए भी साहित्य में और कविता में अत्यधिक समानता थी, जिसका परिचय हमें ऋग्वेद से मिलता है। उत्तर पञ्जाब आर्यों का मूल निवास था। तदनन्तर ज्यों ही उन्होंने पूर्व में तथा भारत के विभिन्न अंचलों में अपना प्रसार किया, और अपनी भाषा के अस्तित्व को स्थापित किया कि द्राविड़ और ऑस्ट्रिक भाषायें क्षीण पड़ती गईं। भगवान् तथागत के समय तक आर्य भाषा अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर चुकी थी।

आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद है। वेदों की प्राचीनता का संस्करण करने और नई साहित्यिक भाषा का निर्माण करने के हेतु उत्तर-पश्चिम पंजाब के निवासी ऋषि पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना की और इस नई साहित्यिक भाषा को 'लौकिक' भाषा का नाम दिया। प्राचीन और मध्ययुग की सारी शिक्षा-दीक्षा, सारा दर्शन, विज्ञान और सारी संस्कृति का माध्यम यही संस्कृत भाषा रही है। संस्कृत ने ही एक बृहद् संस्कृति का निर्माण किया और अपनी सार्वभौमिक महानताओं के कारण वह इन्दोचीन, द्वीपमय भारत, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान आदि देशों में भी प्रविष्ट एवं प्रतिष्ठित हुई।

बुद्धदेव के पूर्व लगभग ६०० ई० पू० में बोल-चाल की आर्यभाषा की बोलियों में कुछ परिवर्तन हुआ, और उसका यही परिवर्तित रूप मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा (Middle-indo-aryan) के नाम से विख्यात है। जिसकी समय-सीमा ६०० ई० पू० से १००० ई० के आसपास रखी जा सकती

है। इस बोलचाल की आर्यभाषा का साहित्यिक प्रयोग बौद्धों और जैनों के पालि-प्राकृत में दृष्टिगत होता है।

लगभग १००० ई० में आर्यभाषा ने अपना स्वरूप कुछ बदला और अपने परिवेश को बढ़ाया। उसके इस विस्तृत एवं परिवर्तित स्वरूप ने आधुनिक भारत की जीवित भाषाओं को जन्म दिया, जिसको कि नवीन आर्यभाषा युग (New-Indo-Aryan) कहा जाता है। क्योंकि मध्यकालीन आर्यभाषा (संस्कृत) के कारण भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं का जन्म हुआ। इसलिए आजतक उनके पीछे संस्कृत की छाया बनी है।

आर्यभाषा ने तीन रूपों में अपना विकास किया। उसका पहिला सर्वाधिक प्रौढ रूप आधुनिक या नवीन भारतीय भाषाओं के रूप में वर्तमान है; उसका दूसरा रूप सिंहली या तदन्तर्गत मालद्वीपीय भाषाओं के रूप में जीवित है; और तीसरा रूप रोमनी (Romani) या जिप्सी (Gipsy) भाषाओं में प्रचलित है, जो पश्चिम एशिया तथा यूरोप के नाना देशों में प्रचलित है।

आर्यभाषा की ईरानी शाखा में १ भारतीय, २ पैशाची और ३ ईरानी आर्यभाषा, ये रूप है। पैशाची भाषा उत्तर-पश्चिम तथा अफगानिस्तान में बोली जाती है। कश्मीरी भी उसी की एक शाखा है।

वर्तमान भारत की भाषायें चार विशिष्ट भाषा-गोष्ठियों के अन्तर्गत आ जाती है। वे गोष्ठियाँ हैं (१) ऑस्ट्रिक या दक्षिण या निषाद (२) द्रविड़, (३) इण्डो-यूरोपियन और (४) भोट-चीन या मंगोल या किरात।

संस्कृत का नामकरण

संस्कृत, ग्रीक और लेटिन, ये तीन भाषाएँ संसार के बृहद् भाषा-परिवार की आदिम भाषाएँ हैं। इनकी मूल स्थिति बोल-चाल की भाषाओं के रूप में थी। तत्कालीन बोल-चाल की भाषाओं की एक तरह से ये उपभाषाएँ या प्रशाखाएँ थीं। पुरातन जीवित भाषाओं के शब्दों को लेकर उन्हें विशिष्ट नियमों से बाँधकर स्थिर किया गया, और उनका वही नियमबद्ध स्थिर स्वरूप ही संस्कृत, ग्रीक तथा लेटिन के निर्माण-विकास का कारण हुआ।

प्राचीनकाल में देववाणी अव्याकृत अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभागों से रहित थी। तब उसका उपदेश प्रतिपद-पाठ की अवैज्ञानिक विधि से दिया जाता था। उसका परिणाम यह होता था कि जिज्ञासु को कठिन परिश्रम तो करना ही पड़ता था, वरन् उसका समय भी अधिक लग जाता था। इस हेतु देवों ने, परम शब्दवेत्ता विद्वान् इन्द्र के निकट जाकर प्रार्थना की, कि वे अध्ययन की कुछ वैज्ञानिक परिपाटी सुझाएँ। देवराज ने देवताओं एवं तत्कालीन अध्येताओं की इस कठिनाई को गम्भीरतापूर्वक हृदयंगम किया। उन्होंने देवभाषा में, प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग द्वारा, प्रत्येक शब्द को मध्य से विभक्त कर, शब्दोपदेश एवं अध्ययन की सरल, सुगम प्रक्रिया का निर्माण किया। इसी प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग के पुनः संस्कार द्वारा संस्कृत होने से देववाणी का नाम 'संस्कृत' पड़ा। बाद में वाल्मीकि, पाणिनि भरत और दण्डी प्रभृति संस्कृत के प्राणभूत कवियों, वैयाकरणों और आचार्यों ने 'संस्कृत' का प्रयोग इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया।

वाक्य-विश्लेषण तथा उसके तत्वों का समीक्षण दर्शित करना ही संस्कार है, जो कि संस्कृत का मुख्य उद्देश्य है; और इसी संस्कार-प्रवृत्ति के कारण प्राचीन वैयाकरणों ने उसका नाम संस्कृत रखा है। संस्कार पर आधारित व्याकरण की इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास हो जाने पर ही पवित्र (संस्कृत) ग्रन्थों की भाषा का नाम 'संस्कृत' हुआ।

ऋग्वेद की वैदिक साधु-भाषा तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की साहित्यिक भाषा के पश्चात्, भारतीय आर्यभाषा का तीसरा रूप 'साहित्यिक संस्कृत' प्रतिष्ठित हुआ। मूलतः वह उदीच्य बोलियों पर आधारित थी और मध्यप्रदेश, पूर्व तथा दक्षिण के भी सारे ब्राह्मण-वर्ग ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। इस प्रकार एक महान् भाषा की स्थापना हुई, जो तीन सहस्राब्दियों से अधिक तक भारत में आर्यभाषा के सबसे महान् तथा महत्वपूर्ण रूप में बनी रही। वही भाषा भविष्य में सांस्कृतिक धाराओं एवं सभ्य विचार तथा अनुशीलन का एक सर्व-श्रेष्ठ माध्यम, और आज तक जीवित, विश्व की कतिपय मौलिक संस्कृतियों में से एक का बाहरी व्यक्त रूप बनने में समर्थ हुई। उसके विजयी जीवन का आरम्भ उसके जन्म से तभी हो गया था, जब उसने भारत तथा

बृहत्तर भारत की दिग्विजय का श्रीगणेश किया, और एक वास्तविक 'देवभाषा' के रूप में उसका गंभीर प्रभाव अत्यंत दूरवर्ती देशों पर भी पड़ा।

संस्कृत भाषा का विकास

ऐतिहासिक अध्ययन से विदित होता है कि भारत में आर्य-भाषा ने दो रूपों में अपना विकास किया। उसका पहला रूप तो हमें तत्कालीन जन-समाज की बोलचाल की भाषा के रूप में और दूसरा साहित्य की भाषा के रूप में मिलता है। बोलचाल की भाषाएँ प्रादेशिक भाषाएँ थीं और साहित्य की भाषा संस्कृत थी। प्रादेशिक भाषाओं के प्रबल पक्षपती जैन-बौद्धों के लोक-भाषा-सम्बन्धी उद्योगों ने बहुत चाहा कि संस्कृत के प्रभाव को वे अपने अन्दर समा लें, किन्तु हुआ इसके विपरीत ही, संस्कृत का निरन्तर विकास होता गया। संस्कृत ने अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए दो बातों को अपने साथ रखा। पहले तो उसने शब्दों तथा व्याकरण के बाहरी रूपों को अपने से दूर नहीं होने दिया और दूसरे में मध्यकालीन आर्य-भाषा के वाक्य-विन्यास एवं शब्दावली का अनुसरण करना उसने पूर्ववत् स्थायी रखा। बहुत सारी बातों में वह यहाँ तक बढ़ गई थी कि आर्य-भाषाओं की व्यवस्थित विधियों को भी उसने ज्यों-की-त्यों आत्मसात् कर लिया।

यद्यपि पाणिनि-व्याकरण की रचना के बाद संस्कृत के मान-परिणामों का परिसीमित करने के लिए बड़े उद्योग हुए; किन्तु संस्कृत की सतत विकासोन्मुख प्रवृत्ति पर पाणिनि-व्याकरण भी रोक न लगा सका। यही कारण है कि संस्कृत के ग्रन्थों को सामने रखकर हम बहुधा, उसकी भाषा, वाक्य-विन्यास और उसकी प्रकृति का अध्ययन करके, यह निष्कर्ष निकाल सकने में बहुत हद तक सफल हो सकते हैं कि वह किस समय की रचना है। संस्कृत-साहित्य के ओर-छोर तक भाषा, विचार, रचना और शैली की जो भिन्नता प्रतीत होती है, उसका कारण उसकी सतत विकासोन्मुख प्रकृति का ही परिणाम है।

ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास रचे गए संस्कृत के नाटकों का अध्ययन करने पर हमें पता चलता है कि अभिजात पात्रों की भाषा संस्कृत

और कमसीन वर्ग के, जैसे स्त्री, भृत्य आदि के, मुँह से प्राकृत का प्रयोग कराया गया है। ये दोनों बातें तत्कालीन समाज के भाषा-सम्बन्धी व्यवहार के बहुत बड़े प्रमाण हैं। इनसे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय संस्कृत को समझते सभी थे, चाहे वह पूर्वी भारत का ही क्यों न हो, किन्तु बोल-चाल की भाषा की रूढ़ि बनाने के लिए प्राकृत का मोह भी उनसे दूर नहीं हुआ था। यदि तत्कालीन संस्कृत की तुलना आधुनिक हिन्दी और तत्कालीन लोक-भाषा की तुलना आधुनिक हिन्दुस्तानी से की जाय तो अनुचित न होगा।

रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाओं से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। इन ग्रन्थों में जो कथाएँ और उपकथाएँ आज हमें देखने को मिलती हैं, उनके रचयिताओं के सम्मुख वे ठीक वैसे ही रूप में वर्तमान नहीं थीं, या उनके रचयिताओं ने ही उनको मूल रूप में वैसे ही नहीं रचा था। वस्तुतः ये ऐतिहासिक वीरतापूर्ण तथा धार्मिक गाथाएँ बहुत पहिले से समाज में प्रचलित थीं। विशुद्ध आर्यों, मिश्रित आर्यों, अनार्यों और आर्यीभूत अनार्यों के उद्योग से ये कथाएँ समाज में तत्कालीन लोकभाषा के रूप में वर्तमान थीं। उन्हीं को वाल्मीकि, व्यास आदि ने अपनी बुद्धि से साहित्यिक रूप-रंग में संजो कर संस्कृत भाषा में उतार दिया। पुराण-ग्रन्थों में आज भी जो लोकभाषा के शब्द बहुलता से उपलब्ध होते हैं, उनके मूल में यही बात थी।

भारत के विभिन्न हिस्सों में, उत्तरी भारत में जहाँ एक ओर अनार्य संस्कारों का पूर्णतया आर्यीकरण होकर एक समन्वित संस्कृति का, जिसे हिन्दू-संस्कृति कहा जा सकता था, प्रतिष्ठा हो चुकी थी, वहाँ दूसरी ओर धर्म, दर्शन और कथाओं के निर्माणार्थ संस्कृत को ही एक मत से अपनाया जाने लगा था। यह क्रम ईसा पूर्व की पहली सहस्राब्दी तक चलता रहा और इस काल के द्वितीयार्ध में वह पूरी तरह से सम्पन्न भी हो चुका था। इसी बीच समग्र भारत में आर्य-भाषा आर्य-अनार्यों में एकीकरण की स्थापना कर एक बृहद् भारतीय जनों की सर्वसम्मत संस्कृति के निर्माण में लगी हुई थी। आर्य-भाषा की यह सबसे बड़ी विजय थी कि उसने अपने अञ्चल के नीचे भारत के जन-जन को समेट लिया था। पश्चिम में गांधार से लेकर पूरब में

विदेह एवं मगध तक, उत्तर में हिमालय से लेकर मध्यभारत तक और पश्चिम में सागर तट गुजरात से लेकर दक्षिण तक आर्य-भाषा की समृद्धि की यह स्थिति लगभग ६०० ई० पूर्व में पूर्णतः कायम हो चुकी थी।

दक्षिण में यद्यपि आर्य-भाषा के दोनों रूप प्राकृत और संस्कृत, अभी तक पूर्णतः अपना स्थान नहीं बना सके थे। इसके उपरान्त आर्यजन द्रविड़ों के बीच उसको ले गए। पहिले तो वे लोग संस्कृत को अपनाने में झिझके; किन्तु धीरे-धीरे सुसभ्य द्रविड़ों ने उसको अपना लिया और फलस्वरूप तेलगु, कन्नड़ एवं मलयालम तीनों भाषाओं का साहित्य संस्कृत के तत्सम और तद्भव रूपों से भर गया। तमिल ने अवश्य ही आर्य-भाषा के शब्दों को अपनाने में संकोच किया; किन्तु तेलगु, कन्नड़ और मलयालम से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण आर्य-भाषा के प्रभाव से वह भी अछूती न रह सकी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धीरे-धीरे संस्कृत भाषा ने भारत की समग्र प्रकृति पर अपना एकछत्र अधिकार प्राप्त कर लिया।

लौकिक श्रेणी में आने से पूर्व संस्कृत का नाम दैवी वाक् या देववाणी था। इस दैवी वाक् या देववाणी का पाणिनि व्याकरण के संस्कार के बाद संस्कृत नाम पड़ा। देववाणी का यह संस्कार या परिष्कार युग पाणिनि (५०० ई० पू०) से पतञ्जलि (२०० ई० पू०) के बीच निरन्तर होता रहा।

यहाँ यह न समझना चाहिये कि पणिनि से पूर्व देववाणी का प्रयोग असंस्कृतावस्था में था। वस्तुतः वैदिक पार्श्व में ही लौकिक भाषा संस्कृत का निर्माण आरम्भ होने लग गया था और उसी को संयत रूप देने के लिए पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि ने अपने-अपने व्याकरणों की रचना की।

व्याकरण का कार्य भाषा का निर्माण करना नहीं है; अपितु भाषा में शुद्ध स्वरूप की रचना करना है। भाषा या शब्दों का आस्तित्व पाणिनि, पतञ्जलि आदि से भी बहुत पहिले था; किन्तु इन वैयाकरणों ने समाज को बताया कि 'षष' के स्थान पर 'शश', 'पलाष' के स्थान पर 'पलाश' और 'मंजक' के स्थान पर 'मञ्चक' प्रयोग शुद्ध है।

इन व्याकरण ग्रन्थों की रचना के बाद शिक्षित समाज जिस भाषा का प्रयोग करने लगा था, वह संस्कृत कहलाई और अशिक्षित, जन साधारण के बोलचाल की भाषा 'प्राकृत' नाम से कही जाने लगी। प्राकृत भाषा पर संस्कृत का पूर्ण प्रभाव रहा और संस्कृत से ही उसको जीवनदायी तत्त्व मिलते रहे।

संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भी अपना विकास करती रही। ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी समाज ने संस्कृत को अपनाया और महावीर एवं गौतम जैसे ब्राह्मधर्म-विरोधी समाजसुधारक नेताओं ने लोकभाषा को अपना कर प्राकृत की परंपरा को आगे बढ़ाया। आगे चलकर जब विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों ने अपना विकास करना आरम्भ किया तो ब्राह्मण, जैन, बौद्ध सभी धर्मों के अनुयायी आचार्यों एवं दर्शनकारों ने अपनी-अपनी सैद्धान्तिक स्थापनाओं के लिए बिना हिचक संस्कृत में ही ग्रंथ-रचना करना आरम्भ किया। संस्कृत भाषा की अभ्युन्नति की दृष्टि से दर्शनशास्त्र का युग बड़ा ही शुभ रहा है।

प्राकृत-भाषा के परिपोषक जैन-बौद्ध विद्वानों ने भी जब संस्कृत को ही अपनी ग्रन्थ-रचना की भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया तब भी प्राकृत जन साधारण के बीच अपना निर्माण करती रही। मागधी, अर्धमागधी और शौरसेनी रूपों में प्राकृत भाषा विच्छिन्न होकर भारत के विभिन्न प्रदेशों की प्रादेशिक भाषाओं के निर्माण का कारण बनी।

इसी बीच लगभग ४०० ई० में प्राकृत की एक विभाषा का जन्म हुआ, जिसका नाम कि अपभ्रंश पड़ा। प्राकृत और कुछ प्रादेशिक भाषाओं के संयोग से अपभ्रंश का निर्माण हुआ और बाद में अपभ्रंश के द्वारा कई प्रादेशिक भाषायें प्रसूत हुईं।

प्राकृत : पालि : अपभ्रंश : व्युत्पत्ति एवं विविक्ति

लोकभाषा का अस्तित्व

भाषा या वाणी का अस्तित्व पहिले लोक में प्रचलित था और तब व्याकरण के नियमों से परिबद्ध होकर वह साहित्य में ढली। ऋषियों ने आरम्भ में ही ऐसी सर्वव्यापी भाषा में उपदेश दिया था, जो कि सबके व्यवहार योग्य

थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि देवगण जिस दिव्यवाणी (देववाणी संस्कृत) को प्रकट करते हैं, साधारण जन उसी को बोलते हैं। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि आरम्भ में लोकभाषा अर्थात् बोली और दिव्यवाणी अर्थात् साहित्यिक या वैदिक भाषा में कोई अन्तर न था। इसी का इतिहास पूर्व-मीमांसा दर्शन के रचयिता महर्षि जैमिनि ने समझाया है, जिसकी व्याख्या की है शबरस्वामी ने।

शब्दार्थ-तत्त्व के परम ज्ञाता यास्क का कथन है कि वैदिक शब्द अर्थवान् हैं, क्योंकि वे लौकिक शब्दों के समान हैं : 'अर्थवन्तः शब्दसाम्यात्'। इससे यह ज्ञात होता है कि लौकिक शब्दों के बिना वैदिक शब्दों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। कात्यायन ने भी इसी का समर्थन किया है। उनका कहना है कि लौकिक और वैदिक शब्दों के समान होने से वैदिक शब्द, लौकिक शब्दों के स्वर-संस्कार-नियमों के अभ्युदय के हेतु हैं, यह बात ठीक नहीं है। इसी सूत्र की व्याख्या में उव्वट और अनन्तदेव लिखते हैं कि जो वैदिक शब्द है, वही लौकिक शब्द भी है और वही उनका भी अर्थ है।

अतिव्यापी लोकभाषा कालान्तर में शब्दार्थ, दोनों विधाओं से धीरे-धीरे सिमिटती गई और वर्तमान में वह और भी संकुचित हो गई। जैनशास्त्रों में भाषा के संयमन और उसके मितत्व पर विस्तार से विचार किया गया है। वहाँ भाषा के प्रमुख चार भेद माने गये हैं : सत्या, मृषा, सत्यामृषा और असत्या। इनके भी क्रमशः दस, दस, दस और बारह भेद, कुल मिलाकर ४२ भाषाओं तथा बोलियों के प्रकारों का वर्णन है।

स्पष्ट है कि पहिले जन-बोलियों का निर्माण हुआ और तदुपरान्त कृत्रिम भाषाओं का जन्म हुआ। भाषा-विज्ञान का यह सिद्धान्त दुनिया की समस्त भाषाओं की उत्पत्ति एवं उनके विकास पर एक समान दृष्टि से चरितार्थ होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय आर्यभाषाओं के विकास को तीन युगों में अलग किया जा सकता है, जिनकी सीमायें इस प्रकार हैं :

१. आर्यभाषा युग : वैदिक काल से ५०० ई० पूर्व तक

२. मध्यकालीन आर्यभाषा युग : ५०० ई० पूर्व से ११०० ई० तक

३. आधुनिक आर्यभाषा युग : ११०० ई० से अब तक

प्राकृत

भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की ये तीन स्थूल अवस्थायें हैं। इनमें मध्ययुग, जिसकी आनुमानिक सीमा कुछ विद्वानों के मत से ६०० ई० पूर्व तक पहुँचती है, विभिन्न भाषाओं के निर्माण का महत्त्वपूर्ण युग रहा है। लगभग डेढ़ सहस्राब्दि के इस भाषा-निर्माण को भी तीन अलग-अलग वर्गों में विभक्त किया गया है :

१. पूर्वकालीन प्राकृत (पालि और प्राचीन मागधी) ५०० ई० पूर्व से १०० ई० तक।

२. मध्यकालीन प्राकृत (शौरसेनी, मागधी और उसके भेद) १००-६०० ई० तक।

३. उत्तरकालीन प्राकृत (अपभ्रंश) ६००-११०० ई० तक।

जैन और बौद्ध धर्मों के पूर्णतः विकास में आ जाने से भी पहले भारत में कुछ धार्मिक सम्प्रदाय उदित हो चुके थे। इन सम्प्रदायों के ज्ञानमना महापुरुषों में कुछ ऐसे भी हुए जो परिव्राजकों के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थानों पर जा-जाकर नीति और तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद या शास्त्रार्थ किया करते थे। इनमें महिलाएँ और ज्ञान की विरासत को आगे बढ़ाने वाले विद्यार्थी भी सम्मिलित हुआ करते थे। इन विद्वान् परिव्राजकों के निवास के लिए पहिले ही व्यवस्था की जाती थी। इन परिव्राजक विद्वानों की गणना न तो प्राचीनकाल के मुनियों या व्रात्यों में आती है और न ही भविष्य के वानप्रस्थी अथवा संन्यासियों में। इनका कोई विशिष्ट सम्प्रदाय नहीं था। यह युग लोक-कथाओं को संग्रह करके जातकों का निर्माण युग और सूत-चारण-वंशों से मौखिक रूप में चले आते वीर-वृत्तों को 'रामायण' तथा 'महाभारत' के रूप में रचे जाने का युग था। वैदिक धर्म के पौराणिक धर्म में रूपान्तरित होने का भी यही युग था।

इस युग में प्राकृत ने अपना सर्वांगीण रूप निर्मित किया। उसने अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की और साहित्य के क्षेत्र में भी उसको बहुतायत से अपनाया

गया । भारत के कला-धरातल पर भी उसका प्रभाव रहा और फलस्वरूप कला के क्षेत्र में उसके कलाकारों ने अच्छी कृतियाँ दीं ।

प्राकृत भाषा के प्रथम वैयाकरणों में उज्जैन के विक्रमादित्य की राजसभा के प्रमुख विद्वान् वररुचि का नाम आता है । उज्जैन का शाक्य-वंश संस्कृत भाषा को अपनाने वाला प्रथम राजवंश था, जिसका प्रमाण गिरनार का शिलालेख है । ज्यों-ज्यों साहित्यिक भाषाओं में समृद्धि आती गई त्यों-त्यों प्राकृत बोलियों में भी कृत्रिमता की वृद्धि हुई और फलस्वरूप साहित्यिक और प्राकृत भाषाओं के सम्मिलन से कभी तो 'संकर-संस्कृत' और कभी 'मिश्रित प्राकृत' आदि के रूप में बोलियों तथा भाषाओं के नये-नये रूप देखने को मिले ।

बोलचाल की भाषायें ज्यों-ज्यों संस्कृतमय होती गईं, अनेक साहित्यिक शैलियाँ प्रकाश में आने लगीं । प्राकृत जैसे-जैसे जन-भाषाओं से अलग हटती गई वैसे-वैसे उसका साहित्यिक रूप भी संस्कृत ने ले लिया; और हम देखते हैं कि आगे-आगे सभी संकर-भाषाओं के साहित्य-रूपों को संस्कृत ने स्वायत्त कर लिया और गुप्तयुग में पहुँच कर संस्कृत भाषा ने अपनी पूरी स्थिति कायम कर ली ।

लगभग पाँचवीं शताब्दी (गुप्तकाल) तक भारतीय भाषाओं का जो संवर्धन और निर्माण हुआ उसका क्रम इस प्रकार है : आदिम आर्यों की बोलियाँ; द्राविड़ तथा कोलारियन; वैदिक भाषा; कश्मीर से नैपाल एवं सिन्धु घाटी से अवंतिपुर के बीच की अनेक बोलियाँ; ब्राह्मणों और उपनिषदों की भाषा; गान्धार से मगध तक की बौद्ध-युगीन भाषायें; कोशल की उपभाषा; पालि; अशोककालीन बोलियाँ; जैन अंगों की उपभाषा अर्धमागधी; लेना बोलियाँ; संस्कृत; प्रादेशिक भाषायें; और प्राकृत ।

गुप्तकाल के बाद भारत के विशाल साम्राज्य का स्वामित्व हर्ष के हाथों में आया । उस समय मथुरा के आस-पास का प्रदेश शौरसेन नाम से विख्यात था । सम्राट् हर्ष से भी पहिले यद्यपि मध्ययुगीन प्राकृत बोलियों के उत्थान की स्थिति पूरी तरह निर्मित हो चुकी थी; फिर भी शौरसेनी की अभ्युन्नति के लिए उसके राज्यकाल में काफी प्रयत्न हुए । शौरसेनी को अपभ्रंश रूप में

प्रतिष्ठित होने का सुयोग पुनः गुर्जर-प्रतिहारों द्वारा कान्यकुब्ज में राज्य स्थापित करने के बाद मिला।

यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि प्राकृतें आम बोल-चाल की सार्वदेशिक भाषाएँ न होकर विभिन्न वर्गों या श्रेणियों की भाषाएँ थीं। भास, कालिदास, अश्वघोष, शूद्रक या विशाखदत्त प्रभृति संस्कृत के नाटककारों ने अपने नाटकों में जो प्राकृतें प्रयुक्त की हैं, वे प्रादेशिक भाषाओं के रूप में न होकर वर्ग-भाषाओं के रूप में हैं। शौरसेनी, शाकारी, शाबरी और चाण्डाली ऐसी ही थीं।

शौरसेनी, अन्य प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट है और महाराष्ट्री भी उसी का एक रूप थी, जो गङ्गा-यमुना दोआब के विस्तृत भू-भाग की राजभाषा थी। उनके स्वतन्त्र रूपों का विकास पीछे हुआ। गद्य के लिए शौरसेनी और पद्य के लिए महाराष्ट्री अधिक उपयुक्त थीं। ये मध्यकालीन प्राकृतें ज्यों-ज्यों प्रामाणिक संस्कृत के निकट आती गईं त्यों-त्यों आम बोलचाल की रही-सही वर्ग-भाषाओं से उनकी दूरी बढ़ती गई।

पालि

ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों पहिले भारतीय विचारों, संस्कारों, रीति-रिवाजों और मान-मर्यादाओं के क्षेत्र में जो एक महान् परिवर्तन का समय आया था और जिसकी स्थिति भारत में ईसवी पश्चात् कई शताब्दियों तक बनी रही, उसी का सर्वाङ्गीण इतिहास पालि के वाङ्मय में सुरक्षित है। वास्तविकता तो यह है कि ई० पूर्व ५०० से लेकर ईसा के ५०० बाद तक की एक सहस्राब्दि में भारत की जो कुछ भी ज्ञान-सम्पदा है, उसकी प्रायः सारी की सारी विरासत पालि-साहित्य में सुरक्षित है।

पालि : बुद्ध वाणी के अर्थ में प्रयुक्त

'पालि' का अस्तित्व बौद्धधर्म के अस्तित्व से प्राचीन है; किन्तु भाषा के अर्थ में उसका प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। लङ्का में रचे गये 'दीपवंश' (४०० ई०) में पालि का प्रयोग बुद्धवाणी के पर्याय में हुआ है। आचार्य

बुद्धघोष (४००–५०० ई०) आचार्य धम्मपाल (५००–६०० ई०) के ग्रन्थों एवं 'चूलवंस' (१३०० ई०) और 'सद्धमसंगह' (१३००–१४०० ई०) प्रभृति ग्रन्थों में 'पालि' शब्द को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया। किन्तु भाषा के अर्थ में उसका प्रयोग नहीं मिलता है।

पालि की व्युत्पत्ति

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विद्वानों की अलग-अलग मान्यतायें हैं। कुछ विद्वान् परियाय-पलियाय-पालियाय-पालि, से उसकी निरुक्ति करते हैं; कुछ विद्वान् पाठ–पाळि या पालि से उसकी निष्पत्ति बताते हैं; एक मत विद्वानों का 'पंक्ति' से 'पालि' शब्द की व्युत्पति सिद्ध करता है। डा० मैक्स वेलेसर ने पाटलिपुत्र की भाषा 'पाडलि' से 'पालि' की विविक्ति की है, जिसका खण्डन डा० थामस ने किया। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने ग्रामवाची 'पल्लि' शब्द से 'पालि' को सिद्ध किया है, कुछ ने उसकी उत्पत्ति प्राकृत-पाकट-पाअड-पाअल-पालि और कुछ ने प्रतिवेशवाची प्रालेय या प्रालेपक को पालि का मूल रूप बताया है।

पालि शब्द की व्युत्पत्ति और उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में 'अभिधानप्प-दीपिका' में एक बहुत ही उपयोगी बात सुझाई गई है। उसमें लिखा है कि 'पा = पालेति, रक्खतीति पालि'; अर्थात् जो रक्षा करती है या पालन करती है वह पालि है। सचमुच ही पालि ने त्रिपिटकों तथा अन्य ग्रन्थों के रूप में बुद्ध-वचनों की रक्षा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस दृष्टि से उसके उक्त नाम की सार्थकता सिद्ध होती है। पालि शब्द की इस सापेक्ष्य व्युत्पत्ति को ही आज प्रामाणिक माना जाता है।

पालि : भाषा के अर्थ में

आज जिस पालि भाषा के नाम से हम एक बृहद् वाङ्मय का अर्थबोध करते हैं, चौदहवीं शताब्दी यावत् रचे गए किसी भी ग्रन्थ में उसको इतने व्यापक अर्थ का या इतनी व्यापक अर्थ वाली भाषा का पर्यायवाची नहीं माना गया है। एक सिंहली परम्परा के अनुसार, जिसे आज हम 'पालि' कहते हैं, वह बुद्धयुगीन भारत में बोली जाने वाली मगध की भाषा मागधी

थी, जिसमें त्रिपिटक संकलित हैं। मध्य मण्डल में बोली जाने वाली जिस सभ्य भाषा 'मागधी' में भगवान् तथागत ने अपने उपदेश दिये थे, जिसके कुछ रूप हमें अशोक की धर्मलिपियों में भी देखने को मिलते हैं उसी का विकसित रूप पालि है। छन्दोबद्ध गाथाओं, सुत्तकों, निकायों, मिलिन्दपह्ह आदि के गद्य और गद्य-पद्य-मिश्रित संस्कृत की कृतियों में पालि का विकास हुआ। त्रिपिटक और अशोक के शिलालेखों की मागधी में पर्याप्त अन्तर है। त्रिपिटकों का संकलन ४०० ई० पूर्व में हुआ; किन्तु उनमें संकलित तथागत के वचनों की भाषा संकलन-काल से भी प्राचीन है।

पालि भाषा मगध की मूल भाषा थी, जो कि बुद्धकालीन मगध की लोक-भाषा रही है। उसका निर्माण मध्यदेश, मथुरा और उज्जैन की बोलियों के संमिश्रण से बताया गया है, किन्तु प्रामाणिक खोजों के अनुसार यह सिद्ध हो चुका है कि मगध की राजभाषा मागधी का ही नाम पालि है और इस दृष्टि से 'पालि' का भाषा के अर्थ में प्रयोग होना त्रिपिटक के संकलन (४०० ई० पूर्व) काल से ही सिद्ध होता है।

पालि का उद्गम और उसकी शाखायें

वैदिकयुगीन आर्यभाषा के विकास की प्रमुख दो शाखायें थीं। एक का निर्माण साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ, जिसका नाम संस्कृत है; और दूसरी जन-बोलियों के रूप में आगे बढ़ी, जिसमें कि पालि का प्रमुख स्थान है। पालि, बुद्धकालीन भारत की सर्वाधिक प्रभावशाली भाषा रही है। उसके व्यापक प्रभाव और उसके प्रकट शुभ परिणामों के फलस्वरूप भी उसका उद्गम स्थान कौन था, इस सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कौशल, उज्जयिनी, मध्यप्रदेश, कलिंग आदि अनेक स्थानों को पालि का उद्गम स्थान सिद्ध किया गया है।

उत्तरकालीन प्राकृत के वैयाकरणों ने जिस मागधी का विवेचन किया है, पालि उससे भिन्न है। इसलिए मागधी के विकास से पूर्व और प्राकृत व्याकरणों, अभिलेखों और नाटकग्रन्थों की रचना से पूर्व की पालि को मागधी पर आधारित कहा जा सकता है।

पालि भाषा का विकास प्राकृत बोलियों में हुआ। इन प्राकृत बोलियों की प्रमुख शाखायें हैं : मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची और महाराष्ट्री। यद्यपि इन प्राकृत बोलियों का अस्तित्व पहले से था, किन्तु उनका जो साहित्यिक विकास हुआ उसकी सीमा पहली शताब्दी ईसवी से पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी के बीच है। अशोक के समय में जन-सामान्य की बोली के तीन रूप थे : पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। पूर्वी बोली से मागधी तथा अर्धमागधी, पश्चिमी बोली से शौरसेनी और पश्चिमोत्तरी बोली से पैशाची आदि प्राकृतों का विकास हुआ। साहित्य-निर्माण की दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत का भी अपना एक स्थान है, प्राकृत वैयाकरणों ने जिसको अधिक महत्त्व दिया है। भरतमुनि (१०० ई० पूर्व) के समय तक सात प्राकृतें अस्तित्व में आ चुकी थीं, जिनके नाम हैं : मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्ध-मागधी, वाह्लीक और दाक्षिणात्य। मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची ही पालि के अधिक निकट हैं।

अपभ्रंश

प्राकृत भाषाओं का तीसरा संस्करण अपभ्रंश के रूप में सामने आया, जो कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ मध्यकालीन आर्य-भाषाओं का सम्बन्ध जोड़ती है। इसके निर्माण और प्रसार की स्थिति ६००–१२०० ई० के बीच की है। इस बीच अपभ्रंश भाषा काव्य-रचना का माध्यम रही और उसकी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणों ने भी कुछ यत्न किये।

भरत ने अपभ्रंश का उल्लेख यायावर लोगों की बर्वरी भाषा के लिए तथा भामह ने उसको कविता की भाषा के रूप में स्वीकार किया है। अपभ्रंश के इस व्यापक रूप के दर्शन वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के काठियावाड़ से उपलब्ध ताम्रपत्र में होते हैं। इसी प्रकार कणाद ने अपने प्राकृत व्याकरण में तथा रुद्रट, राजशेखर, पुरुषोत्तम, नृसिंहदेव आदि संस्कृत के ग्रन्थकारों ने भी अपभ्रंश की स्थिति पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

गुजरात का आभीर वंश अपभ्रंश भाषा का पहिला आश्रयदाता रहा है। बाद में गुर्जर प्रतिहार राज्य के अद्वितीय शासक मिहिरभोज और महेन्द्रपाल

ने अपभ्रंश की अभ्युन्नति में बड़ा योग दिया। अपभ्रंश भाषा की प्रायः सम्पूर्ण प्राचीनतम कृतियाँ इसी काल की लिखी हुई मिलती हैं। बाद में ही दिगम्बर जैनियों का बृहद् साहित्य अपभ्रंश में निर्मित हुआ और उसकी उपयोगितायें बढ़ती ही गईं तथा उसने दूसरी शिष्ट समुदाय की भाषाओं में स्थान पा लिया।

संस्कृत का परवर्ती विकास

आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय

संस्कृत भाषा के परवर्ती विकास के तीन सोपान हैं : प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भाषाएँ। संस्कृत भाषा का प्राचीनतम रूप वैदिक मन्त्रों में है। उससे लौकिक संस्कृत का उदय हुआ और तदन्तर प्राकृत ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम किया।

वस्तुतः प्राकृत भाषा का अभ्युदय बहुत पुराने समय में हो चुका था। आर्यजनों के अनार्यजनों के सम्पर्क में आने के कारण आर्यों की भाषा संस्कृत का प्रभाव अनार्यों पर पड़ा। अनार्यों ने अपनी रुचि के अनुकूल संस्कृत की ध्वनियों का विकृत प्रयोग किया, जिससे एक मिली-जुली भाषा का, जिसको कि प्राकृत नाम दिया जा सकता है, निर्माण हुआ। संस्कृत के इन विकृत प्रयोगों को रोकने के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना हुई।

ब्राह्मण युग में प्राकृत ने अच्छा विकास किया। उसने उदीच्य, मध्य-देशीय और प्राच्य तीन रूपों में फैलकर अपनी परम्परा को अधिक समृद्ध किया। उदीच्य प्राकृत ने तो इतनी सर्वाङ्गीणता अर्जित कर ली थी कि, पीछे चलकर पाणिनि ने उसके आधार पर अपने बृहद् आठ अध्यायों वाले व्याकरण-ग्रन्थ की रचना कर डाली। प्राकृतों की यह परम्परा अशोक तक पहुँची। प्रियदर्शी अशोक के शिलालेखों में हमें प्राकृतों के प्रयोग प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं।

लगभग द्विशताब्दी ई० पूर्व में आकर इन प्राकृतों में कुछ हेर-फेर हुआ,

जिसकी पूर्ण रचना हम पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी में देखते हैं। प्राकृत भाषाओं के विकास की यह स्थिति लगभग छठी शताब्दी ईसवी तक बनी रही। विद्वानों ने इस अवधि को प्राकृतों का द्वितीय विकास-काल नाम दिया है।

प्राकृत भाषाओं के इस द्वितीय विकास-काल में एक नई भाषा ने जन्म लिया जिसको पालि कहा जाता है। पालि वस्तुतः प्राकृत का साहित्यिक रूप है, जिसका मूल उद्गम मध्यदेश की शौरसेनी प्राकृत है। पालि भी एक प्रचलित लोकभाषा थी, जिसमें कि तथागत भगवान् बुद्ध के उपदेश और बौद्ध-साहित्य का प्राचीनतम अंश सुरक्षित है।

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की तीसरी स्थिति छठी शताब्दी से दशवीं शताब्दी के बीच रखी जा सकती है, जब कि संस्कृत और प्राकृत से अलग एक तीसरी ही भाषा 'अपभ्रंश' ने जन्म लिया और अपना निर्माण किया।

यद्यपि अपभ्रंश भाषा के अस्तित्व का पता लगभग आचार्य भरत (१०० ई० पूर्व) के समय से चलता है, तथापि नवम शताब्दी ई० से जैनों के अपनाये जाने के कारण उसका रूप सामने आया। लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में पुरुषोत्तम और हेमचन्द ने व्याकरणों-ग्रंथों का निर्माण कर अपभ्रंश को अधिक साहित्योपयोगी बनाया। प्राकृत व्याकरणों में यद्यपि अपभ्रंश के रूप २७ तक गिनाये गये हैं, किन्तु नागर, उपनागर और व्राचड़, ये तीन रूप उसके प्रमुख हैं।

अपभ्रंश के बाद आधुनिक भारतीय भाषाओं का युग आता है, जिसके निर्माण की पहिली स्थिति १०००–१४०० ई० के बीच है, जो कि हिन्दी के आविर्भाव की पहिली सीढ़ी है। भारतीय आर्य-वर्ग की प्रादेशिक भाषाओं की प्रथम पाँच स्थितियाँ हैं : उदीच्य, मध्यदेशीय, पाश्चात्य, दाक्षिणात्य और पूर्वीय। उदीच्य से सिंधी, लहँदा, पंजाबी; मध्यदेशीय से पश्चिमी हिन्दी; पाश्चात्य से गुजराती, एवं राजस्थानी; दाक्षिणात्य से मराठी और पूर्वीय से बंगाली, आसामी, बिहारी, उड़िया तथा पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ। नीचे के चित्र से यह स्थिति पूर्णतः समझी जा सकती है :

भारत-ईरानी
ईरानी वर्ग
दरद वर्ग
भा० आर्य वर्ग
अवेस्ता
पैशाची
उदीच्य
मध्यदेशीय
पाश्चात्य
दाक्षिणात्य
पूर्वीय
प्रा० फारसी
काश्मीरी
आदि भाषाएँ
व बोलियाँ
पश्चिमी हिन्दी
मराठी
१ बंगाली
२ आसामी
३ बिहारी
४ उड़िया
५ पूर्वी हिन्दी
आ० ईरानी
भाषाएँ व
बोलियाँ
गुजराती
राजस्थानी
सिन्धी
लहँदा
पंजाबी
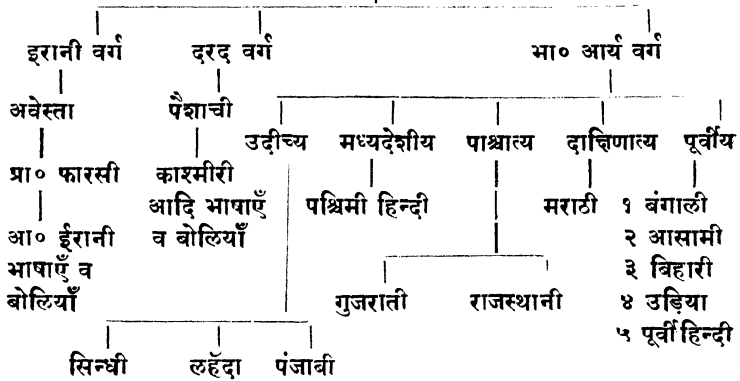
वैदिक युग

वेद : संहिताएँ : काल-मर्यादा

वेद : सम्पूर्ण वाङ्मय का बोधक

'वेद' शब्द वैदिक युग में वाङ्मय के पर्यायवाची शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होता था। जिस प्रकार आज भी शास्त्रों के नाम पर धर्म-शास्त्र, व्याकरण-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र आदि से अनेक विषयों का बोध होता है और 'शास्त्र' शब्द किसी विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन न करके अपने पूर्व में जुड़े हुए शब्द की सम्पूर्णता का ही द्योतन करता है, उसी प्रकार 'वेद' शब्द का प्रयोग प्राचीन समय में सामान्य रूप से सभी विषयों के लिए किया जाता था। जैसा ब्राह्मणयुगीन सारा साहित्य ब्राह्मण-ग्रन्थों के नाम से अभिहित हुआ, जिस प्रकार सूत्र-युग में श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, व्याकरण और यहाँ तक कि दर्शन की प्रतिपादन-शैली का नाम भी 'सूत्र' ही कहा गया, जैसे स्मृति-युग की सभी छोटी-बड़ी कृतियाँ स्मृतियों के नाम से अभिहित हुईं और जिस प्रकार पौराणिक युग के अनेक ग्रन्थ पुराणों के नाम से प्रचलित हुए, ठीक उसी प्रकार, वैदिक युग में 'वेद' शब्द के अन्तर्गत ब्राह्मण-ग्रन्थों तक का समावेश किया गया : मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है। इतना ही नहीं, वरन्—ताभ्यः पंचवेदान्निरमियत सर्ववेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति—अर्थात् उनसे सर्ववेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद निर्मित हुए। इसी प्रकार 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य नामक पंचम वेद के निर्माण का उल्लेख है, जिसको ब्रह्मा ने स्वयं ऋग्यजुसाम और अथर्व चारोंसे सार-संकलन कर निर्मित किया।

कालक्रम के अनुसार पीछे चलकर वेद शब्द केवल चार वेदों : ऋग्, यजु, साम और अथर्व का ही सूचक रह गया। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि विषय वेद की मर्यादा के अन्तर्गत होते हुए भी मूल वेदों से सर्वथा अलग किए गए, जैसा कि 'तैत्तिरीय संहिता' की भाष्य-भूमिका में सायणाचार्य ने स्पष्टीकरण किया है : यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मंत्र-व्याख्यानस्वरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः—अर्थात् यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण, दोनों वेद कहलाए, तथापि ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रों के व्याख्यानरूप थे, अतः उनका स्थान मन्त्रों के बाद में आता है। ब्राह्मणग्रन्थ, व्याख्याग्रंथ होने की वजह मन्त्रों पर सर्वथा आधारित हैं। उनका अपना वैसा स्वतंत्र अस्तित्व नहीं जैसा कि मन्त्रों का है। अतः वेद नाम से मन्त्र ही अभिप्रेत है, न कि ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि ग्रन्थ जो कि मन्त्रों की व्याख्यायें एवं उनके महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं।

यद्यपि वेद और ब्राह्मण आदि, वेद के व्याख्यान-ग्रन्थ, आज पृथक् रूप में परिचित हैं और वेद शब्द से हम केवल चार मन्त्र-संहिताओं को ही स्मरण करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि हमारी सारी क्रियाओं का मूल उक्त वेद ही है। संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि जितने भी विषय है उनकी नींव वेदों पर टिकी है। इसीलिए मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है और यही कारण है कि मैक्समूलर तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रभृति आधुनिक युग के वेदज्ञ विद्वानों ने वेद के उक्त सर्वज्ञानमय स्वरूप को स्वीकार किया है।

वेद शब्द की व्युत्पत्ति

अति प्राचीन समय से लेकर आज तक हिन्दू जाति का वेदों पर एक जैसा विश्वास है। वेद, हिन्दू-जाति की सबसे पुरानी और सबसे पवित्र पुस्तक है। यह पुस्तक न तो 'कुरान' की तरह एकमात्र धर्म-पुस्तक है और न ही 'बाइबिल' की भांति अनेक महापुरुषों की वाणियों का संग्रह मात्र ही। वह तो एक पूरा साहित्य है। पुराने आचार्यों ने 'वेद' शब्द से उस युग के समग्र ग्रन्थों को अभिहित किया है। वेद चार हैं : ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चारों की चार संहितायें हैं : ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता,

सामवेद-संहिता और अथर्ववेद-संहिता। संहिता, संकलन या संग्रह को कहते हैं। प्रत्येक संहिता में अलग-अलग वेदों के मंत्र संकलित हैं।

'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति पर संहिताओं से लेकर उपनिषद्, आयुर्वेद, नाट्यशास्त्र, कोश, कल्प और मनुस्मृति आदि ग्रन्थों तक व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। 'वेद' शब्द चार धातुओं से निष्पन्न होता है विद्-ज्ञाने, विद्-सत्तायाम्, विद्लृ-लाभे और विद्-विचारणे। उक्त सभी ग्रन्थों में वेद शब्द का प्रयोग मंत्र-संहिताओं के अर्थ में किया गया है। ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वेद' शब्द का विर्वचन इस प्रकार किया है : विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते, लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति, सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। अर्थात् जिनसे सभी मनुष्य सत्यविद्या को जानते हैं, अथवा प्राप्त करते हैं, अथवा विचारते हैं, अथवा विद्वान् होते हैं, अथवा सत्य-विद्या की प्राप्ति के लिए जिनमें प्रवृत्त होते हैं, वे वेद हैं।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है

वैदिक साहित्य की सम्यक् जानकारी के लिए 'वेद' शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। संस्कृत-साहित्य के बृहद् भाण्डागार का एक-एक शब्द अपना निजी अर्थ रखता है। उसका प्रत्येक शब्द सापेक्ष्य है। पिता को 'जनक' इस-लिए कहा जाता है कि वह जन्म देने वाला होता है। 'जनक' शब्द की निष्पत्ति उत्पत्त्यर्थक 'जनि' धातु से होती है। इसी प्रकार जनक को 'पिता' इसलिए कहा जाता है कि वह रक्षक होता है। रक्षणार्थक 'पा' धातु से 'पिता' शब्द निष्पन्न होता है। इसीलिए हम पिता शब्द से न तो भाई को सम्बोधित कर सकते हैं और न ही चाचा, ताऊ आदि को। संस्कृत-भाषा के सभी शब्द ऐसे ही सार्थक हैं। इन शब्दों की सार्थकता सिद्ध करने वाला शास्त्र व्याकरण है। संसार की सभी भाषाओं का अपना-अपना व्याकरण है। व्याकरणशास्त्र से ही शब्दों की व्युत्पत्ति होती है और व्युत्पत्ति के ही आधार पर हम किसी भी शब्द का शास्त्रीय अर्थ जान सकते हैं।

'वेद' शब्द का व्याकरण-निष्पन्न शास्त्रीय अर्थ 'ज्ञान' है, क्योंकि 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से है। 'ज्ञान' शब्द व्यापक अर्थ का

प्रतिपादक है। इतिहास भी एक ज्ञान है, भूगोल भी एक ज्ञान है और गणित भी एक ज्ञान है,। ज्ञानार्थ-प्रतिपादक 'वेद' शब्द से इतिहास, भूगोल और गणित प्रभृति विषयों का ज्ञान अभिप्रेत नहीं है, यद्यपि (प्रासंगिक रूप से) वैदिक साहित्य का अनुसंधान करने पर भले ही हमें इतिहास, भूगोल एवं गणित की चर्चायें वेदों में मिल जायँ, उसकी बात दूसरी है। 'वेद' कहने से हमें वह ईश्वरीय ज्ञान अभिप्रेत है, हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार जिसको पहले-पहल ऋषि-महर्षियों ने खोजा अथवा जिससे उन्होंने साक्षात्कार किया था। अतः यह स्पष्ट हो गया कि तपःपूत ऋषि-महर्षियों द्वारा दृष्ट ज्ञान ही 'वेद' शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है।

वेद मंत्र और ऋषि

बहुत पुराने जमाने से यह विश्वास चला आ रहा है कि ऋषियों ने योगबल एवं तपोबल से प्रथम बार वेदों का दर्शन किया। वेद-मंत्रों का प्रथम बार दर्शन करने वालों का नाम पीछे चलकर 'ऋषि' पड़ा, जिनमें पुरुष और महिलायें दोनों थे। अंग्रेजी में इस वेदार्थक ज्ञान को wit (to know) और लेटिन में video (to see) इन पारिभाषिक शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है।

मंत्र

यह वैदिक ज्ञान ऋचाओं अर्थात् मंत्रों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। जैसे दर्शन-ग्रन्थों का ज्ञान कारिकाओं के द्वारा प्रतिपादित हुआ है, जिस प्रकार व्याकरण ग्रन्थों का समग्र ज्ञान उसके सूत्रों में समाविष्ट है और जैसे काव्यों—महाकाव्य-ग्रन्थों का विषय-प्रतिपादन-माध्यम श्लोक है, उसी भांति, वेदार्थ ज्ञान के प्रतिपादक मंत्र हैं। पूर्वोक्त ऋषियों ने जिस महान् ईश्वरीय ज्ञान का साक्षात्कार किया, वह ज्ञान जिन शब्द-नियमों या वाक्य-समूहों में निबद्ध है, उन्हीं शब्द-समूहों एवं वाक्य-समूहों का अभिधान मंत्र है।

'मंत्र' शब्द की व्युत्पत्ति

जिस प्रकार 'वेद' शब्द का एक-एक पारिभाषिक निजी अर्थ है, उसी प्रकार 'मंत्र' शब्द का भी अपना शास्त्र-व्युत्पन्न स्वतंत्र अर्थ है। वैयाकरणों ने

'मंत्र' शब्द का परम्परागत संगत्यर्थ तीन प्रकार से किया है : ज्ञानार्थक, विचारार्थक और सत्कारार्थक ।

दिवादि-गण की ज्ञानार्थप्रतिपादक 'मन्' धातु में ष्ट्रन् प्रत्यय जोड़ देने से 'मंत्र' शब्द व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ निकलता है—मन्यते (ज्ञायते) ईश्वरादेशः अनेन इति मंत्रः । अर्थात् मंत्र उसको कहते हैं, जिससे ईश्वरीय आदेशों की जानकारी प्राप्त हो । हिन्दू-धर्म में वेदों को ईश्वरीय आदेशों के रूप में शिरोधार्य माना गया है ।

तनादि-गण की विचारार्थक 'मन्' धातु में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय जोड़ देने से भी 'मंत्र' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ होता है—मन्यते (विचार्यते) ईश्वरादेशो येन स मंत्रः । अर्थात् मंत्र वह है, जिसमें ईश्वरीय आदेशों का सम्यक् विचार, चिन्तन-मनन किया गया है । क्योंकि मन्त्रों में ईश्वर-संबंधी आदेशों का ही विधान वर्णित है, अतः 'मंत्र' शब्द की यह व्युत्पत्ति भी विषयसंमत है ।

तनादि-गण की 'मन्' धातु का एक अर्थ सत्कार करना भी व्याकरण में वर्णित है । इस सत्कारार्थक 'मन्' धातु से भी 'ष्ट्रन्' प्रत्यय जोड़ देने से 'मन्त्र' शब्द के अभिप्रेत अर्थ में कोई व्यतिक्रम नहीं आने पाता है । उसका अर्थ होता है मन्यते (सत्क्रियते) देवताविशेषः अनेन इति मन्त्रः । अर्थात् मन्त्र वह है, जिसमें किसी देवताविशेष की सम्मानार्थक विधियाँ वर्णित हैं । क्योंकि वेदों में अलग-अलग देवताओं की स्तुति में पृथक्-पृथक् मन्त्र वर्णित हैं । अतः वेद-मन्त्र की यह व्युत्पत्ति भी उपयुक्त है ।

'मन्त्र' शब्द की विभिन्नविध उक्त व्याख्याओं का एक ही निष्कर्ष यह निकलता है कि वेदमन्त्र उनको कहते हैं, जिनमें ईश्वरीय ज्ञान का प्रतिपादन हो ।

वेदमंत्रों का त्रिधा वर्गीकरण

वेद-मन्त्र सहस्रों हैं और विषय की दृष्टि से भी उनमें असमानता है । बहुत पुराने समय में समग्र वेद मंत्रों को संख्या और विषय की दृष्टि से क्रमबद्ध किया गया और तदनन्तर उनको अलग-अलग वर्गों में विभाजित किया गया ।

पहले-पहल वेद-मंत्रों को तीन वर्गों में छाँटा गया। इन तीन वर्गों के अलग-अलग नामकरण हुए—ऋच्, यजुस् और साम। इन तीनों का सामूहिक नाम 'त्रयी' कहा गया।

'ऋच्' प्रार्थना या स्तुति का पर्यायवाची शब्द है। उसकी व्याकरण-संमत व्युत्पत्ति है—ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋच्। अर्थात् ऐसे मंत्र, जो वैदिक देवताओं की स्तुति या प्रार्थना से सम्बन्धित हैं उन्हें 'ऋच्' कहते हैं। वेद-मन्त्रों के इस 'ऋच्' नामक प्रथम वर्ग में ऐसे मंत्रों को विभाजित किया गया, जो प्रार्थनापरक या स्तुतिपरक थे। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि वेद-मन्त्र गद्य और पद्य दोनों में हैं। इस प्रथम 'ऋच्' वर्ग में केवल पद्यबद्ध ऋचायें हैं। मन्त्र का दूसरा नाम ही ऋचा है।

छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् अथवा ऋचा कहते हैं; मन्त्र शब्द का अर्थ गुप्त-कथन है। वेद 'विद्' धातु से निष्पन्न होता है जिसका शाब्दिक अर्थ है ज्ञान। संहिता संग्रह को कहते हैं। इसलिए 'ऋग्वेद-संहिता' का शाब्दिक अर्थ हुआ उस देव-विषयक अतिगूढ़ ज्ञान का प्रतिपादन जो छन्दों में संगृहीत है।

'यजुष्' नाम के दूसरे वर्ग में ऐसे मन्त्रों को क्रमबद्ध किया गया, जिनका अपना अलग ही विषय था। इन मन्त्रों का विषय पूजा (to worship) था। 'यजुष्' की व्याकरणसंमत व्याख्या है—यजति यजते वा अनेन इति यज् + उसि : यजुष्। अर्थात् जिन मन्त्रों में पूजा-अर्चना का विधान वर्णित है उन्हें 'यजुष्' कहते हैं। जिस प्रकार प्रथम ऋच्-वर्ग में केवल पद्यात्मक मन्त्र ही संगृहीत हैं, उसी प्रकार दूसरे यजुष्-वर्ग में केवल गद्यात्मक मन्त्र ही संकलित हैं।

उक्त दो वर्गों में जिन मन्त्रों का अन्तर्भाव न हो सका उन अवशिष्ट मन्त्रों को 'सामन्' नामक तीसरे वर्ग में क्रम-बद्ध किया गया। 'सामन्' वर्ग के अन्तर्गत वे मन्त्र संगृहीत हैं, जिनको ऋषिजन यज्ञों के अवसर पर देवताओं की प्रसन्नता के लिए गाते थे। इनमें कुछ मन्त्र यज्ञ की निर्विघ्न-परिसमाप्ति से भी सम्बन्धित हैं। व्याकरण के अनुसार 'सामन्' शब्द की व्युत्पत्ति विघ्न-शांति और देव-तुष्टि, दोनों अर्थों में है : स्यति नाशयति विघ्नं इति सामन्; और

समयति सन्तोषयति देवान् अनेन इति सामन्। अर्थात् सामन्-मन्त्र वे हैं, जो यज्ञों के समय प्रत्यूह-निवारण के लिए गाये जाते हैं या जिनमें देवों की प्रसन्नता के लिए कामना की गई होती है। ये सामन् मन्त्र स्वर-ताल-बद्ध होने के कारण गेयात्मक हैं।

इस प्रकार समस्त वैदिक मन्त्रों के तीन भागों में वर्गीकृत करने के अनन्तर वेदों के तीन नाम पड़े : ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद। इन तीनों वेदों की तीन मन्त्र-संहिताएँ कहलाईं : ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता और सामवेद-संहिता।

किन्तु आज वेदों की संख्या चार है। वेदत्रयी का चतुर्धा विभाग क्यों हुआ और उसके मूल में कोई ऐतिहासिक आधार विद्यमान है; अथच, तीन मन्त्र-संहिताओं की अपेक्षा चौथी मन्त्र-संहिता नवीन है, इन सभी बातों का निराकरण हो जाना आवश्यक है।

वेदमंत्रों का चतुर्धा वर्गीकरण

वेदमन्त्र मूल रूप में अविभक्त थे। वे पद्य और गद्य में थे। उनमें प्रधानतया तीन प्रकार की पाठ्य-सामग्री विद्यमान थी। ऋचा (पद्य), यजुष् (गद्य) और साम (गीति), ऋग्यजुसाम इन तीनों के सामूहिक स्वरूप की वजह से ही उसको 'त्रयी' कहा गया। मनु ने इन तीनों वेदों के आविर्भाव के सम्बन्ध में कहा है कि 'परमात्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिए ऋक्, यजु और साम इन तीन लक्षण वाले सनातन वेदों को अग्नि वायु और सूर्य के लिए प्रकट किया'। किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थ में कहा गया है कि अग्नि, वायु और सूर्य ने तपस्या करके स्वयं ही ऋक्, यजु और साम इन तीनों वेदों को उत्पन्न किया।

कुछ मन्त्र ऐसे भी अवशिष्ट थे, जो उक्त 'त्रयी' में समन्वित नहीं हो सकते थे। वे मन्त्र मारण, मोहन, उच्चाटन-विषयक थे। ऐसे मन्त्रों का अभिधान 'अथर्व' हुआ और बाद में वेदों की संख्या तीन की जगह चार हो गई। किन्तु वेदों के इस चतुर्धा वर्गीकरण में अथर्व की सत्ता 'त्रयी' जितनी ही सनातन है। वेदमन्त्रों के चतुर्धा विभाग की सूचना एवं अथर्व की सत्ता का उल्लेख यजुर्वेद में ही मिलता है। यजुर्वेद में लिखा हुआ है कि उस परम पूज्य परमात्मा से

ऋक्, यजु, साम और अथर्व उत्पन्न हुए। अथर्ववेद के एक मन्त्र में चारों वेदों के अस्तित्व की कथा इस प्रकार वर्णित है : हे विद्वन्, तू उस जगदाधार परमपिता परमात्मा का वर्णन कर जिससे ऋषियों ने ऋक् और यजु को प्राप्त किया, जिसके लोमसदृश सर्वव्यापक साम और मुखसदृश ज्ञानोपदेशक अथर्व है। वह कौन सा तत्त्व है, हमें बता!

वेद अपने मूलरूप में एक था, तीन थे या चार थे, इस सम्बन्ध में पुरातन काल से ही विवाद रहा है। यास्कीय 'निरुक्त' के टीकाकार दुर्गाचार्य का कथन है कि वेद, मूलतः एक था। उस दुरध्येय वेद को सुगम बनाने के लिए शाखाओं में विभाजित किया गया। यह कार्य व्यास ने किया। भास्कर भट्ट ने भी अपने भाष्य में ठीक इसी बात को दुहराया है। उसका कथन है कि मूलरूप में वेदमन्त्र मिली-जुली अवस्था में थे। भगवान व्यास ने लोकोपकारार्थ उनको विभाजित कर पुनः उनकी शाखाएँ भी नियत कीं।

वेद-भाष्यकार इन प्रामाणिक विद्वानों की बातों से यह पता चलता है कि वेद न तो तीन थे, और न चार ही; बल्कि सभी वेदमन्त्र एक साथ मिले-जुले थे। इस दृष्टि से किसी भी वेद के पूर्वापर होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

भाष्यकार महीधर हमें एक नई बात सुझाता है। उसका कथन है कि ब्रह्मा से वेद की जो परम्परा चली आ रही थी, उसी को ग्रहण कर वेदव्यास ने उस वेद को मन्दमति मनुष्यों के लिए ऋग्, यजु, साम और अथर्व, इन चार भागों में विभक्त कर उनका उपदेश क्रमशः पैल, वैशंपायन, जैमिनि और सुमंत को दिया।

वेद-विभाजन की यह समस्या यहीं सीमित नहीं हो जाती है। पूर्वोक्त भाष्यकारों ने इतना भर कह दिया है कि वेदमन्त्रों को चार भागों या तीन भागों में विभाजित कर दिया गया। किन्तु पुराणग्रन्थ तो इस सम्बन्ध में एक अलग ही सूचना देते हैं। 'विष्णुपुराण' में लिखा है कि वेद आरम्भ से ही चतुष्पाद थे, अर्थात् एक वेद की पहिले ही से चार संहिताएँ थीं। प्रत्येक द्वापर के अन्त में चतुष्पाद वेद पुनः चार भागों में विभक्त किया गया। इस प्रकार का वेद–विभाजन अब तक २८ बार हो चुका है। जिसने भी वेद–विभाजन का

यह कार्य सम्पन्न किया, उसी का नाम व्यास पड़ा। 'मत्स्यपुराण' में भी यही बात लिखी हुई मिलती है।

इन विवरणों को पढ़कर दो बातों का निष्कर्ष निकलता है। पहिला तो यह कि वेदमन्त्र अपनी मूल स्थिति में मिले-जुले थे, और कालान्तर में उनको चार या इससे अधिक भागों में विभाजित किया गया; दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि मूलावस्था में वेद मिले-जुले न होकर अलग-अलग चार की संख्या में थे, न कम न अधिक।

पुराणों के साक्ष्य को छोड़कर अधिक प्रमाण हमें वेदों के चतुर्धा होने के ही पक्ष में मिलते हैं। पुराणों का कथन भी असत्य नहीं कहा जा सकता है; किन्तु उसकी सङ्गति के लिए लम्बी समीक्षा की आवश्यकता है।

अथर्ववेद के दूसरे भी नाम हैं, जैसे अथर्वांगिरस, भृग्वांगिरस, ब्रह्मवेद और छन्दस्। उसके ये विभिन्न नाम उसके विषय की व्यापकता को सूचित करते हैं। ऋग्वेद के 'शतपथ-ब्राह्मण' में तैत्तिरीय संहिता में तैत्तिरीय आरण्यक में और श्रौतसूत्रों आदि में अथर्ववेद की स्थिति अन्य तीनों वेदों के समान मानी गई है।

'अष्टाध्यायी' में एक सूत्र आता है, जिसका आशय है कि कम स्वर वाले शब्द पहिले और अधिक स्वर वाले शब्द बाद में रखे जाते हैं। इस दृष्टि से अथर्व में ऋग्-यजु-साम से अपेक्षया अधिक स्वर हैं, जिससे उसका स्थान बाद में रखा गया। यह बात न भी हो; किन्तु इस सम्बन्ध में जैमिनीय मीमांसा-सूत्रों की कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। उसमें कहा गया है कि वेद के विधिवाक्यों का नाम मन्त्र है। मन्त्र को छोड़कर अवशिष्ट वेद भाग को 'ब्राह्मण' कहते हैं। जिन मन्त्रों में अर्थ के वश चरण की व्यवस्था हो उन्हें ऋक्, गीतियों का नाम साम और शेष मन्त्रों को यजु कहा जाता है। ये तीनों तरह के मन्त्र चारों वेदों में मौजूद हैं। इस दृष्टि से चारों वेदों की एकरूपता का ही प्रधानतया उल्लेख मिलता है।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में उल्लिखित 'वेदाः' शब्द का भाष्य, सायणाचार्य ने 'वेदाः साङ्गाश्चत्वारः' किया है। 'काठक ब्राह्मण' के ब्रह्मौदन प्रकरण के

आरम्भ में भी चारों वेदों का उल्लेख है। 'महाभारत' भी चारों वेदों के अस्तित्व की बात कहता है।

इसलिए जिन विद्वानों का यह अभिमत है कि 'चार वेद गिनने की शैली नई है; वह सूत्रग्रन्थों के बाद की है। पुरानी गणना में ऋग्-यजु-साम यह त्रयी ही गिनी जाती और जब सम्पूर्ण वेद गिनना होता तब त्रयी के अतिरिक्त अथर्व और इतिहास, दोनों को एक ही दर्जे पर गिना जाता।' अथवा जो विद्वान् यह मानते हैं कि 'अथर्ववेद बहुत बाद की, 'शतपथ ब्राह्मण' के बाद की रचना है। उसका नामकरण ईरानी भाषा के शब्द 'अथ्रवन' से हुआ और उसमें ईरानियों की तन्त्र-मन्त्र विद्या का प्रभाव है', वे लोग बहुत ही भ्रम में हैं और उनकी ये बातें नितान्त कल्पित एवं आधारहीन हैं।

वैदिक ज्ञान की विरासत

दस मण्डलों में विभक्त ऋचा-समूहों का नाम दाशतयी (ऋग्वेद) पड़ा और बाद में वे आठ अष्टकों में विभक्त किए गए। इसी अष्टक-विभाग के माध्यम से शौनक महर्षि ने वैज्ञानिक ढंग से ऋग्वेद संहिता को पद-पाठों में छांटकर अलग किया और आगे चलकर शाकल-वाष्कल प्रभृति शिष्य-संप्रदायों ने अपने-अपने ढंग से ऋग्वेद की शाखाओं का शोध कर अपनी-अपनी शाखाओं का निर्माण किया, जो कि २१ या २७ थीं। इसी ढंग से दूसरे वेदों की संहिताओं की शाखाओं एवं संहिताओं का वर्गीकरण, व्यवस्थापन, संपादन एवं नामकरण हुआ।

वैदिक ज्ञान की जो बृहद् विरासत आज हमें उपलब्ध है वह वस्तुतः एक ऋषि, एक संप्रदाय, एक आश्रम अथवा एक मस्तिष्क या एक समय की देन न होकर अनेक ऋषिसमूहों, विभिन्न संप्रदायों (चारणों, शाखाओं), बहुत-से आश्रमों, कतिपय मस्तिष्कों और अनेक शताब्दियों की देन है। वह एक सामूहिक एवं सुदीर्घकाल में निर्मित विचारधारा है, जो समय, स्थान और व्यक्ति के अनुसार कभी तो शिथिल होती गई और कभी अपने चरमोत्कर्ष पर रही। अधिकांश ग्रन्थ एक व्यक्ति के नहीं हैं। वे संहिता या संकलन हैं। उन पर पुनः-पुनः संपादन की, अनेक मस्तिष्कों की और सामूहिक तजुरबों की स्पष्ट छाप है।

अनेक ऋषि-महर्षियों के हाथों एवं अनेक युगों से होकर आई हुई वैदिक ज्ञान की इस विरासत के संबंध में निरुक्तकार का कथन है कि ऐसे ऋषि हुए, जिन्होंने तपस्या के द्वारा वेदरूपी धर्म का साक्षात्कार किया। पुनः उन्हीं ऋषियों ने अपने बाद के ऋषियों को, जिन्हें उक्त धर्म का साक्षात्कार नहीं हुआ था अर्थात् जो वैदिक धर्म के स्वयमेव साक्षात्कर्ता नहीं थे, वेदमंत्रों का उपदेश किया।

इस परंपरागत शिष्य-प्रशिष्य-संप्रदाय एवं आश्रम-परंपरा द्वारा उपजीवित होकर आने वाले वेदमंत्रों के संबंध में अलबेरुनी का कथन है कि पुरा काल में वेद-मंत्रों को पढ़ने का प्रचलन था। वेद गुरुमुख से सुनकर शिष्य-परंपरा द्वारा कंठस्थ होते हुए निर्वाहित होते आये हैं। इसी कारण ब्राह्मण कई बार वेद को भूल जाने से उसे खो चुके हैं।

इस प्रकार अनेक ऋषि-वंशों एवं प्राचीन विद्या-निकेतनों में वेद के संपूर्ण मंत्रों को उनकी विषय-संगति के अनुसार छाँटकर अलग किया गया और उनकी चार संहिताओं का निर्माण कर तत्कालीन धर्म एवं ज्ञान के अधिष्ठाता ऋषिप्रमुखों ने उन पर अपने हस्ताक्षर की सही मुहर लगाई और वैदिक संहिताओं का वही सर्वसंमत चतुर्धा स्वरूप आज हमारे संमुख विद्यमान है।

वेद और वैदिक साहित्य

विषय-विचार की दृष्टि से वेद और वैदिक साहित्य दोनों की अलग-अलग श्रेणियाँ हैं। 'वेद' शब्द से जहाँ चार मंत्र-संहिताओं का ही ज्ञान होता है, 'वैदिक' शब्द से वहाँ वेद-विषयक बहुविध सामग्री का बोध होता है। यह बहुविध सामग्री ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् की है, जो मंत्र-संहिताओं से भिन्न है, किन्तु जिसका मंत्र-संहिताओं से अटूट संबंध है। यही वैदिक साहित्य के ग्रन्थ हैं। उपनिषद् ग्रन्थों के बाद परिगणित होने वाले षड्वेदांग भी, संबंध की दृष्टि से, वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।

धर्म, संस्कृति, समाज, राजनीति, दर्शन, कर्म और अर्थसंबंधी विषयों के तुलनात्मक अध्ययन एवं उनके असमान पहलुओं को दृष्टि में रखकर भी वैदिक

युग को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : १ पूर्व वैदिक युग और २ उत्तर वैदिक युग। इस दृष्टि से भी पूर्व वैदिक युग में केवल वेद की चार संहिताएँ और उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण ग्रन्थों से लेकर छह वेदांगों तक का साहित्य रखा जा सकता है।

'वेद' का शब्दार्थ है ज्ञान। यह ज्ञान मंत्रों में समाविष्ट है और इन्हीं मंत्रों के संकलन को संहिता कहा जाता है। वेद चार हैं, अतः उनकी संहिताएँ भी चार हैं।

प्रत्येक वेद के चार भाग हैं, : संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता, मंत्रों का वह भाग है, जिसमें वेदस्तुति वर्णित है एवं जिसको विभिन्न युगों में पढ़ा जा सकता है। ब्राह्मणग्रन्थों में मंत्रों के विधिभाग की व्याख्या है। आरण्यक-ग्रन्थों में वानप्रस्थी जीवन बिताने वाले वीतराग मनस्वियों के कर्म-विधान प्रतिपादित हैं। उपनिषद्-ग्रन्थों में मंत्रों की दार्शनिक व्याख्या की गई है। इन्हीं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

शाखाएँ

वैदिक संहिताओं पर गंभीर चिंतन-मनन होने के पश्चात् कालांतर में, विभिन्न ऋषि-आश्रमों में अधिष्ठित विभिन्न ऋषि-संप्रदायों के द्वारा अपनी-अपनी रुचि के अनुसार जो नवीन विचार उद्भावित हुए उन्हीं का नाम शाखा है। प्रत्येक संहिता की कई शाखाएँ निर्मित हुईं। ऋग्वेद की शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकेय ये पाँच शाखाएँ हुईं, जिनमें संप्रति शाकल शाखा ही उपलब्ध है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यंदिन और काण्व क्रमशः उत्तर-भारत और महाराष्ट्र में प्रचलित हैं। कृष्ण यजुर्वेद की संप्रति चार शाखाएँ उपलब्ध हैं : तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ। इसी प्रकार सामवेद की भी कौथुम और राणायणीय दो शाखाएँ थीं और अथर्ववेद की पैप्पलाद तथा शौनक ये दो शाखाएँ उपलब्ध हैं।

ब्राह्मण-ग्रंथ

वैदिक संहिताएँ और उनकी शाखाओं के बाद ब्राह्मणग्रन्थों का समय आता है। ब्राह्मण-ग्रन्थ प्रधानतः कर्मकांड-विषयक है; किन्तु उनमें प्राचीन ऋषि-

अंशों और राजवंशों की कथाएँ और जगत्संबंधी विचार भी वर्णित हैं। प्रत्येक वेद से संबंधित अलग-अलग ब्राह्मण हैं।

ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकी दो ब्राह्मण हैं। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण का नाम शतपथ है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस ब्राह्मण-ग्रन्थ का बड़ा मूल्य है। ऋग्वेद के बाद संभवतः इतने प्राचीन विवरण दूसरे ग्रन्थ में नहीं मिलते हैं। सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में पंचविंश ही प्रमुख हैं। अथर्ववेद के ब्राह्मण का नाम गोपथ है।

आरण्यक

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से ब्राह्मण और आरण्यक दोनों में अंतर नहीं है। आरण्यक वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रंथों के ही अंश हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण-ग्रंथों में गृहस्थाश्रम-संबद्ध यज्ञ-यागादि विधानों का वर्णन है उसी प्रकार आरण्यक-ग्रंथों में वनवासी वानप्रस्थ जीवन का कर्मकाण्ड विहित है। जन-संकुल अनेकांत से दूर एकांत जंगलों में अध्ययन-अध्यापन होने के कारण इन ग्रंथों का आरण्यक नामकरण हुआ। इन आरण्यक-ग्रंथों में दर्शनसंबंधी तत्त्वों का भी प्रतिपादन है, जिनका पूर्ण विकास हम आगे चलकर उपनिषद्-ग्रंथों में पाते हैं।

उपनिषद्

वैदिक-साहित्य के अंतिम भाग होने के कारण उपनिषद्-ग्रंथों का दूसरा नाम वेदांत भी है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रंथ हैं। महामनस्वी भारतीय ऋषियों के सुदीर्घ काल तक जिस चिंतन-मनन के द्वारा आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान और सृष्टिज्ञान की उपलब्धि हुई, उपनिषद् उन्हीं विचारों के संकलन हैं।

'मुण्डकोपनिषद्' में उपनिषद्-ग्रंथों की संख्या १०२ गिनाई गई है, जिनमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर, ये ११ प्रमुख हैं। इनमें भी प्राचीनता की दृष्टि से छान्दोग्य और बृहदारण्यक का विशेष महत्त्व है।

सूत्र-ग्रंथ

कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ प्रतिपादित करने वाली जिस नई शैली का जन्म हुआ उसी का नाम 'सूत्र' है। इस नवीन शैली का इसलिए आविर्भाव हुआ कि वैदिक यज्ञों की जटिल विधियों को हृदयंगम करने में कठिनाई न हो। ये सूत्र-ग्रंथ चार भागों में विभक्त हैं—श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र। श्रौतसूत्रों का विषय है वैदिक यज्ञों के विधि-विधान प्रतिपादित करना। गृह्यसूत्रों में गृहस्थ-जीवन-संबद्ध कर्म-कलापों का वर्णन, धर्मसूत्रों में सामाजिक व्यवस्थाओं के विधान और चौथे शुल्वसूत्रों में यज्ञ-वेदिकाओं के निर्माण की विधियाँ उल्लिखित हैं।

श्रौतसूत्र

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं : शांखायन और आश्वलायन। शुक्ल यजुर्वेद का एक : कात्यायन। कृष्ण यजु० के छह : आपस्तंब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मावन, वैखानस। सामवेद के तीन : लाटायन, द्राह्यायण और आर्षेय; और अथर्ववेद का एक वैतान सूत्र है।

गृह्यसूत्र

ऋग्वेद के शांखायन, आश्वलायन; शुक्ल यजुर्वेद का पारस्कर; कृष्ण-यजुर्वेद के आपस्तंब, हिरण्यकेशी, बौधायन, मानव, काठक, वैखानस; सामवेद के गोभिल, खादिट; और अथर्ववेद का कौशिक, गृह्यसूत्र है।

धर्मसूत्र

यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से संबद्ध : आपस्तंब, हिरण्यकेशी और बौधायन। दूसरे धर्मसूत्रों में गौतम और वशिष्ठ प्रमुख हैं।

शुल्वसूत्र

ये श्रौतसूत्रों से संबंधित हैं। शुल्व कहते हैं मापने के डोरे को। यज्ञ-वेदिकाओं के लिए उपयुक्त स्थान का निर्धारण, उनके आकार-प्रकार की

व्यवस्था और उनके निर्माण की योजना, ये बातें शुल्वसूत्रों में वर्णित हैं। शुल्वसूत्र भारतीय ज्यामिति के प्राचीन ग्रंथ हैं।

वेदांग

यद्यपि वैदिक साहित्य का सीमा-विस्तार ब्राह्मणग्रंथों से लेकर उपनिषद्-ग्रंथों पर्यन्त ही बताया जाता है; किन्तु विषय और संबंध की दृष्टि से षड्-वेदांगों की गणना भी वैदिक साहित्य के अंतर्गत की जानी चाहिये। षड्वेदांगों के मूल सूत्रों को लेकर यद्यपि आगे स्वतंत्र शास्त्रों की रचना हुई और इस दृष्टि से यद्यपि लौकिक साहित्य के लिए ही वे अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं, तथापि मूलतः उनके निर्माण का उद्देश्य वैदिक साहित्य एवं वेदांगों का ही स्वरूप-प्रतिपादन करना रहा है। वे वेदों एवं वैदिक साहित्य के विधान-ग्रंथ होने के कारण उन्हीं के अंतर्गत आते हैं।

संहिताएँ

पहिले संकेत किया जा चुका है कि सम्मिश्रित वेदमंत्र अनेक ऋषि-संप्रदायों, कई विद्या-निकेतनों और विभिन्न युगों में संकलित, संपादित होकर संप्रति वर्तमान संहिताओं के रूप में वर्गीकृत हुए। व्याकरण-व्युत्पत्ति के अनुसार संहिता उसको कहते हैं, जिसमें पदों के अंत का दूसरे पदों के आदि से मिलान किया जाता है। प्रातिशाख्यों के कथनानुसार पदों की मूल प्रकृति ही संहिता है। मूल वैदिक मंत्र अपृथक् रूप से एक साथ सन्नद्ध थे, और जब उनको अलग-अलग छाँटा गया तो उनकी पृथक्-पृथक् संहिताएँ और तदनन्तर उनकी भी शाखाएँ निर्मित हुईं।

प्राचीन ऋषि-आश्रमों में अध्ययन और शिक्षण के जो अनेक संप्रदाय प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे, उन्हें ही चरण एवं शाख कहा जाता था। उन्हीं चारणों एवं शाखाओं द्वारा वेदों का अध्ययन, संपादन और शिक्षण, दीर्घकाल से होता आ रहा था। उन्हीं चारणों एवं आश्रमों में वैदिक ज्ञान के दूसरे विषयों (वेदांगों) का भी निर्माण हुआ।

शाखा-विभाजन के इन तरीकों के संबंध में पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने 'ऐतरेयालोचन' में कहा है कि : ये वेदशाखाएँ, वृक्षशाखाओं या नदीशाखाओं की भाँति विभाजित न होकर, पठन-पाठन के विधि-विधानों के अनुसार पृथक् हुई।

इस प्रकार वेदमंत्रों की विभक्त संहिताएँ ही वैदिक संहिताएँ कहलाई, जिनकी संख्या चार है और जिनकी शाखाएँ फिर अनेक नामों से प्रकाश में आई।

ऋग्वेद-संहिता

वेद चार हैं। प्रत्येक वेद की अपनी अलग-अलग संहितायें हैं। विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में वेदों की अनेक संहिताओं के विषय में जो उल्लेख मिलते हैं, तद्विरुद्ध संप्रति कुछ ही संहिताएँ मिलती हैं। ऋग्वेद की २१ संहिताएँ बताई गई हैं; किन्तु संप्रति उसकी एक ही संहिता उपलब्ध है, जिसका नाम है : 'शाकल-संहिता'। इस संहिता की पांच शाखायें हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा।

'शाकल-संहिता' और उसकी पंचविध शाखाओं के संबंध में भी जयचंद्र विद्यालंकार का मत है कि एक समय एक बृहद् यज्ञ के अवसर पर विदेह जनक की विशाल विद्वत्परिषद् में याज्ञवल्क्य के साथ कुरु-पांचाल ब्राह्मणों का शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ में जब सब ब्राह्मण पराजित हो गए, तब विदग्ध शाकल्य ने याज्ञवल्क्य के संमुख विभिन्न तर्क उपस्थित किए। इन विदग्ध शाकल्य के संबंध में भी विद्यालंकार जी का कथन है कि 'शाकल-नगरी पंजाब के उत्तरी भाग में मद्र देश की राजधानी थी, आधुनिक स्यालकोट उसे सूचित करता है। शाकल्य का असल नाम देवमित्र था, विदग्ध उसकी छेड़ थी, क्योंकि उसे अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था। उसने ऋग्वेद का संपादन भी किया और उसकी या उसके शिष्यों की संपादित शाखाएँ 'शाकल संहिताएँ' कहलाती थीं।'

ऋग्वेद की उपलब्ध 'शाकल संहिता' के तीन विभाग हैं : मंडल, अनुवाक और वर्ग। इन तीनों विभागों को क्रमशः अष्टक, अध्याय और सूक्त भी कहते

हैं। इन मंडल, अनुवाक आदि की गणना में विद्वान् अनेकमत हैं। समग्र संहिता में १० मंडल, ८५ अनुवाक और २००८ वर्ग हैं। तदनुसार ८ अष्टक, ६४ अध्याय और १०२८ सूक्त ठहरते हैं। इन दस मंडलों में क्रमशः १९१ ४३, ६२, ५८, ८७, ७५, १०४, ११४, १०३ और १९१ सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त का प्रधान विषय किसी दिव्य शक्ति की स्तुति करना है; किन्तु दूसरे अर्थ में वे सृष्टिविषयक गूढ़तम रहस्यों को भी प्रकट करते हैं। ये सूक्त अनेक छंदों, ऋषियों और देवताओं से संबंधित हैं।

महर्षि शौनक ने ऋग्वेद-संहिता में १०५८० मंत्र, १५३८२६ शब्द और ४३२००० अक्षर बताये हैं। इतिहासकारों एवं वेदज्ञ विद्वानों ने ऋग्वेद के कुल मंत्रों की संख्या १०४६७ से लेकर १०५८९ तक विभिन्न संख्याओं में निर्धारित की है। अंतिम गणना स्वामी दयानंद सरस्वती की है। ये मंत्र १४ प्रकार के छंदों में विरचित हैं।

ऋग्वेद की प्रमुख पांच शाखाएँ थीं : 'एतेषां शाखाः पंचविधा भवन्ति; शाकलाः, वाष्कलाः, आश्वलायनाः, शांखायनाः, माण्डूकेयाश्चेति।' ये शाखाएँ एक प्रकार से विभिन्न ऋषि-आश्रमों में विभक्त, अनेक शिष्य-संप्रदायों के नाम से अभिहित हुईं। वेद के विभिन्न अंगों में से जिस शिष्य-संप्रदाय ने जिस अंग का अध्ययन किया, तदनुरूप उसकी शाखा का भी नामकरण हो गया। इसीलिए पुराणों में वेद-व्याख्यान को शाखा कहा गया है।

इस संबंध में पाणिनि के सूत्र 'तेन प्रोक्तम्' की टीका करते हुए जिनेंद्र बुद्धि लिखते हैं कि : 'तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते'; अर्थात् व्याख्या करने और अध्यापन करने को प्रवचन कहते हैं। शाखा प्रोक्त है। अतः व्याख्यान और अध्यापन के कारण ही उनका 'शाखा' नाम पड़ा।

ऋग्वेद की २७ शाखाएँ

१ मुद्गल शाखा
२ गालव शाखा
३ शालीय शाखा
४ वात्स्य शाखा
५ शैशिरि शाखा
६ बोध्य शाखा
७ अग्निमाठर शाखा
८ पराशर शाखा

९ जातूकर्ण्य शाखा
१० आश्वलायन शाखा
११ शांखायन शाखा
१२ कौषीतकी शाखा
१३ महा कौषीतकी शाखा
१४ शाम्ब्य शाखा
१५ माण्डूकेय शाखा
१६ बहवृच शाखा
१७ पैङ्ग्य शाखा
१८ उद्दालक शाखा
१९ शतबलाच शाखा
२० गज शाखा
२१, २२, २३ } बाष्कलि भरद्वाज की शाखाएँ
२४ ऐतरेय शाखा
२५ वशिष्ठ शाखा
२६ सुलभ शाखा
२७ शौनक शाखा

यजुर्वेद-संहिता

दूसरा वेद यजुर्वेद है। 'यजुष्' शब्द का अर्थ पूजा एवं यज्ञ है। जिस प्रकार ऋग्वेद के मंत्रों का विषय देवताओं का आवाहन करना अर्थात् बुलाना है उसी प्रकार यजुर्वेद के मन्त्रों का विषय यज्ञ-विधियों को संपन्न करना है। यजुर्वेद कर्मकाण्डप्रधान है। यज्ञ अनेकविध हैं। देवताओं की प्रसन्नता के लिए यज्ञों का विधान है। देवता प्रसन्न होकर सुवृष्टि करते हैं, जिससे धन-धान्य में वृद्धि होती है और इस प्रकार जनता सुखपूर्वक जीवन बिताती है। यज्ञ से कलाओं की भी उत्पत्ति होती है। किस यज्ञ में किन-किन मंत्रों का व्यवहार किया जाना चाहिये, इसकी विधियाँ यजुर्वेद में वर्णित हैं। ऐसे मंत्रों के संग्रह का नाम ही 'यजुर्वेद-संहिता' है।

विभाग और शाखाएँ

यजुर्वेद के दो भाग हैं : कृष्ण और शुक्ल। छंदोबद्ध मंत्र और गद्यात्मक विनियोगों के संमिश्रण के कारण पहिले भाग का नाम कृष्ण और छंदोबद्ध मंत्रों तथा विनियोगों के अभाव में दूसरे भाग का नाम शुक्ल पड़ा। शुक्ल यजुर्वेद के संबंध में ऐसा भी कहा जाता है कि सूर्य के द्वारा याज्ञवल्क्य ऋषि को दिन में ज्ञान प्राप्त होने के कारण दूसरे भाग का नाम शुक्ल यजुर्वेद पड़ा।

यजुर्वेद के उक्त दोनों विभागों की लगभग सौ शाखाएँ थीं, जिनमें आजकल केवल पाँच शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। शाखाएँ, संहिताओं को कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तीन शाखाएँ या संहिताएँ हैं : तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठ। कठ शाखा के अन्तर्गत कपिलस्थ कठ का भी समावेश है। शुक्ल यजुर्वेद की दो संहिताएँ हैं : काण्व और वाजसनेय। काण्व, माध्यंदिन, जाबाल, बुधेय, शाकेय, तापनीय, काणीस, पौंड्रवहा, आवर्त्तिक, परमावर्त्तिक, पाराशरीय, वैनेय, बौधेय, यौधेय और गालव। इन १५ शाखाओं को वाजसनेय नाम से अभिहित किया जाता है। 'चरणव्यूह' के उल्लेखानुसार जिसमें १९०० मंत्र हैं : 'द्वे सहस्रे शतं न्यूनं मंत्रा वाजसनेयके।' याज्ञवल्क्य के १५ शिष्यों द्वारा इन शाखाओं का आविर्भाव हुआ। वाजसेनी-पुत्र याज्ञवल्क्य द्वारा दृष्ट होने के कारण शुक्ल-यजुओं की इस संहिता का नाम 'वाजसनेय संहिता' पड़ा। वाजी (घोड़े) का रूप धारण कर जो उपदेश वर रूप में याज्ञवल्क्य को उपलब्ध हुआ, उसी का नाम 'वाजसनेय संहिता' पड़ा, एक ऐसी भी श्रुति है। संहिता के रूप में प्राप्त ज्ञान का उपदेश याज्ञवल्क्य ने जाबाल आदि पंद्रह शिष्यों को दिया। इन शिष्यों में माध्यन्दिन प्रमुख थे। 'वाजसनेय संहिता' की माध्यन्दिन शाखा ही संप्रति प्रचलित है। इस प्रकार यजुर्वेद की तैत्तिरीय और वाजसनेय, इन दोनों शाखाओं का निर्माण हुआ। 'वाजसनेय संहिता' में राष्ट्र की उन्नति और उसकी सुख-शांति के लिए बड़ी सुन्दर भावनाएँ अभिव्यक्त हैं : 'हे पितृदेवो, नमस्कार ! तुम्हारी कृपा से वसन्त ऋतु राष्ट्र को सुखी करे। हे पितरो, नमस्कार ! तुम्हारी कृपा से देश में ग्रीष्म ऋतु अनुकूल हो,' आदि।

कृष्ण यजुर्वेद की 'तैत्तिरीय संहिता' से संबंधित 'विष्णुपुराण' में एक कथा है कि वैशम्पायन ने एक बार क्रुद्ध होकर अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से कहा : 'मैंने तुम्हें जो वेद पढ़ाया है उसे वापिस करो।' शिष्य ने उस अधीत वेदविद्या को वमन कर दिया। गुरु की आज्ञा से दूसरे शिष्यों ने तित्तिरि बनकर उस वमन की हुई विद्या को चुग लिया। इसीलिए इसका नाम 'तैत्तिरीय संहिता' पड़ा। कृष्ण-यजुर्वेद की संहिताएँ गद्य और पद्य दोनों में हैं। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता का उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक सर्वाधिक प्रचार

है। 'तैत्तिरीय संहिता' पर सायणाचार्य का प्रामाणिक भाष्य है। बालकृष्ण दीक्षित और भास्कर मिश्र ने भी उस पर लघु भाष्य लिखे।

कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाओं का उल्लेख हुआ है, किन्तु बाह्याभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर उनकी संख्या केवल ४१ तक ही उपलब्ध हुई है। कृष्ण यजुर्वेद की मंत्रसंख्या १८००० है। कृष्ण यजुर्वेद में सात काण्ड हैं और प्रत्येक काण्ड कई प्रपाठकों में विभक्त है। कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं में अकेले चरक संप्रदाय की बारह उपशाखाएँ थीं, जिनके नाम थे: चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्य-कठ, कापिष्ठ-कठ, आष्ठल-कठ, चारायणीय, वारायणीय, वार्तान्तरेय, श्वेताश्वतर, औपमन्यु और मैत्रायण। इनमें भी मैत्रायणी की सात शाखाएँ हुईं: मानव, दुन्दुभ, आत्रेय, वाराह, हारिद्रवेय, श्याम और शामानयीय। कृष्ण यजुर्वेद का एक खाण्डकीय संप्रदाय भी था।

ये विभिन्न संप्रदाय वस्तुतः शिष्य-परंपरा से संस्थापित हुए और अपने संस्थापक के नाम से ही वे लोकविश्रुत हुए।

महीधर-भाष्य में यजुर्वेद की शाखाओं के नामकरण के बारे में कहा गया है कि बुद्धि की मलिनता से यजुओं का रंग काला पड़ जाने के कारण यजुर्वेद की एक शाखा का नाम कृष्ण पड़ा। उधर सूर्य की तपस्या के वरदानस्वरूप योगिराट् याज्ञवल्क्य ने शुक्ल-यजुओं को प्राप्त किया, जिससे यजुर्वेद की दूसरी शाखा का नामकरण शुक्ल हुआ।

मेक्डोनेल साहब ने अपनी पुस्तक 'Brahamans of the Vedas' में वेबर साहब के मत को उद्धृत कर उस पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाकर कुछ दिन पूर्व एक भ्रमपूर्ण धारणा इस संबंध में प्रचारित की थी। वेबर साहब का मत है कि तित्तिरिवाली कहानी की उत्पत्ति कृष्ण यजुर्वेद की बनावट से हुई, जो विविध टुकड़ों की एक खिचड़ी है, जिसमें न कोई क्रम है, न कोई नियम, अतः जो तित्तिरि पक्षी के आकार के सदृश है, जिसमें रंग-विरंग के अनेक धब्बों की एक क्रमशून्य मिलावट देख पड़ती है। इसके विपरीत शुक्ल, अर्थात् शुद्ध यजुर्वेद का यह नाम इस कारण पड़ा कि या तो उसके मंत्र और ब्राह्मण एक दूसरे से स्पष्टतया अलग कर दिए गए हैं, अथवा नहीं तो, उनके मंत्रों को ब्राह्मणों से पृथक् कर समूचे विषय को साफ और

सुबोध कर दिया गया है। इसके मुकाबले में कृष्ण यजुर्वेद के मंत्र और ब्राह्मण इस प्रकार एक में मिले हुए हैं, कि वे उतने सुबोध नहीं हैं।

वेबर साहब की सूझ निःसंदेह मौलिक है, किन्तु उसमें वास्तविकता की जगह आनुमानिक अटकल अधिक है। इस दृष्टि से वैदिक साहित्य पर शोध करने वाले उत्तरवर्ती विद्वानों को वेबर साहब का उक्त अभिमत प्रभावित नहीं कर सका।

कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा की उत्पत्ति और उसके प्रवर्तकों एवं अनुयायियों के संबंध में एक खोजपूर्ण दृष्टिकोण जयसवाल जी ने रखा है। जयसवाल जी का अभिमत है कि मानवीय साहित्य में कठ लोग अपने उपनिषदों और वेदों के ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे। वे लोग कृष्ण यजुर्वेद के अनुयायी थे, और उनके द्वारा विहित वेदों का जो संस्करण था, वह हम लोगों में अबतक 'काठक संहिता' के नाम से चला आता है। पतंजलि के समय में कठ लोगों का पाठ परम शुद्ध और बिलकुल ठीक माना जाता था, जैसा कि पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में कहा है : प्रत्येक नगर में उन्हीं द्वारा निर्धारित पाठ का प्रचलन था। उनका 'काठक धर्मसूत्र' नामक धर्मशास्त्र-ग्रंथ भी बहुत प्रसिद्ध था, और यह माना जाता है कि 'विष्णु-स्मृति' उसी के आधार पर बनी है। हिन्दू-साहित्य में जब तक उपनिषदों का महत्व रहेगा, तब तक इन लोगों का नाम भी बराबर बना रहेगा।

सामवेद-संहिता

ऋग्वेद और यजुर्वेद के बाद सामवेद-संहिता की गणना आती है। वैसे तो यह बताना अत्यन्त कठिन है कि पहिले किस वेद की रचना हुई, क्योंकि ऋग्वेद के कुछ मंत्र ऐसे हैं, जिनमें सामवेद का उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से ऋग्वेद से पूर्व सामवेद की रचना माननी चाहिये, किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। इस विषय पर आगे चलकर विस्तार से विचार किया जायगा। फिलहाल चारों वेदों का समान अस्तित्व, समान महत्त्व मानना ही अभीष्ट होगा।

'साम' का अर्थ है सुंदर, सुखकर वचन। संगीत विद्या को सर्वाधिक सुखकर एवं आनंददायक विद्या माना गया है। 'साम' का अर्थ भी संगीत अर्थात् गान है। उद्गाता सामवेद की संगीतपरक वाणी द्वारा देवताओं को प्रसन्न करता है। उद्गाता, वेद-मंत्रों का उच्चारण करने वाले आचार्य को कहते हैं।

सामवेद की अनेक संहितायें थीं, जिनमें आज केवल तीन ही उपलब्ध हैं : कौथुम-संहिता, जैमिनीय संहिता और राणायणीय संहिता। कौथुम का गुजराज में, जैमिनीय का कर्नाटक में और राणायणीय का महाराष्ट्र में विशेषरूप से प्रचार है।

वेदों में तीन प्रकार के मंत्र हैं : ऋचायें, यजुष् और सामगीति। ऋचायें भी दो प्रकार की हैं : गेय और अगेय। सामवेद में गेय ऋचायें और गेय यजुष्, दोनों हैं। सामवेद के ऋचा-समूह को 'आर्चिक' और यजुष्-समूह को 'स्तोक' कहते हैं। आर्चिक और स्तोक ही साम कहलाते हैं। इनके भी देश, काल, पाठ और गुरु क्रम से अनेक भेद हैं। सामवेद की गुरु-परंपरा के संबंध में विद्वानों का कथन है कि महर्षि जैमिनि सामवेद के प्रथम द्रष्टा थे। उसके बाद उन्होंने सामवेद की शिक्षा अपने पुत्र या शिष्य सुमन्तु को, सुमंतु ने सुत्वा को और सुत्वा ने सुकर्मा को दी। सुकर्मा ने अपने शिष्य सूर्यवर्चासहस्र को ज्ञान दिया। किन्तु अनध्याय के दिन दीक्षा ग्रहण करने के अपराध में सूर्यवर्चासहस्र का वह ज्ञान देवराज इन्द्र ने नष्ट कर दिया। पुनः देवराज इन्द्र ने सुकर्मा के कोप-भय से दूसरे शिष्य धीमान् पौष्यंजी को वेदाध्ययन का वरदान देकर संतुष्ट किया। इसके बाद इस परम्परा में आगे हिरण्यनाभ, प्राच्यसामग, लौगाक्षि, कुथुमी, कुशीति और लांगली प्रभृति हुए।

आगे चल कर लौगाक्षि की शिष्य-परंपरा में ताण्ड्य-पुत्र राणायण, सुविद्वान् मूलचारी, साकेति-पुत्र और सहसात्य-पुत्र हुए। कौथुमी के तीन शिष्य कौथुम नाम से प्रसिद्ध हुए।

इस शिष्य-परंपरा ने ही सामवेद-संहिता को अनेक शाखा-प्रशाखाओं में आगे बढ़ाया।

एक उपमन्यु नामक ऋषि भी साम-शाखाकार हुए, जिनका समय महाभारत-युद्ध के लगभग डेढ़-सौ वर्ष पूर्व था और जिन्होंने सामवेद की एक औपमन्यव शाखा का प्रवर्तन किया।

सामवेद की राणायणीय संहिता अधिक विश्रुत है। विषय की दृष्टि से उसके दो भाग हैं : पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पहले भाग के अन्तर्गत ग्राम्य-गीत एवं आरण्य-गीत और दूसरे भाग में ऊह-गीत तथा ऊह्य-गीत संकलित हैं।

सामवेद की प्रायः अधिकांश ऋचायें गायत्री और जगती छंदों में हैं। इन दोनों छंदों की व्युत्पत्ति 'गा' अर्थात् गान से होती है। इसलिए स्पष्ट है कि सामवेद की अधिकांश ऋचाएँ गेय हैं, संगीतबद्ध हैं।

'छान्दोग्य उपनिषद्' में सामवेद से संबंधित एक कथा इस प्रकार वर्णित है : महर्षि अंगिरस ने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को वेदांत का उपदेश देते समय पहले-पहल सामवेद के गायन की विधियों को समझाया था। उस विधि का नाम 'छालिक्य' पड़ा। श्रीकृष्ण जब इस विधि में पारंगत हो गए तब मुरली के स्वरों में उन्होंने सामगान गाए।

सामगान विशेषरूप से सोमरस को बनाते समय या चंद्रलोकवासी देवों की स्तुति में गाने का नियम है। उस समय के वादन-यंत्र थे : दुन्दुभि, वेणु और वीणा। 'शतपथ-ब्राह्मण' में ऐसा कहा गया है कि बिना सामगान के यज्ञ-सिद्धि नहीं होती। सामवेद से गांधर्व वेद की उत्पत्ति हुई और गांधर्व-वेद में सोलह हजार राग-रागिनियों का निर्माण हुआ। संस्कृत-साहित्य में जितने भी ललितकला-विषयक संगीत-ग्रन्थों का बाद में निर्माण हुआ, सभी का मूल यही राग-रागिनियाँ थीं।

यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि समग्र सामवेद संहिता में कुल मिलाकर केवल ७५ मंत्र ही ऐसे हैं, जिनका किसी दूसरी संहिताओं में उल्लेख नहीं मिलता है और बाकी सभी मंत्र ऋग्वेद में उल्लिखित हैं।

साम-संहिता के प्रामाणिक भाष्यकार सायण, भरतस्वामी, महास्वामी, नारायणपुत्र (?) और माधव हुए।

सामगान

सामवेद के गायन का वास्तविक तरीका क्या था, इसका उल्लेख न तो सामवेद में मिलता है और न किसी दूसरे ग्रन्थ में। इस संबंध में इतना भी नहीं कहा जा सकता कि संगीत के प्राणसर्वस्व जो सात स्वर आज प्रचलित हैं वे उन दिनों भी थे या नहीं।

महाभारत-कालीन श्रीकृष्ण सामवेद का अनन्योपासक था। 'छांदोग्योपनिषद्' में लिखा है कि घोर अंगिरस ने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को वेदांतमत की दीक्षा देते समय सामवेद के गानतत्त्व का मर्म भी बतलाया था। कदाचित् इसी कारण श्रीकृष्ण ने एक नये ढंग के 'छालिक्य' नामक गान का आविष्कार किया था, जिसको यादवों ने खूब गाया था। सामवेद के समय में तीन प्रधान वाद्ययंत्र थे : दुन्दुभि, वेणु और वीणा। महाभारत (शांति० अध्या० १६) में इस बात का उल्लेख मिलता है कि भीष्म की शवदाह क्रिया के समय सामगान गाया गया था। 'छांदोग्योपनिषद्' में सामगान की क्रिया को पाँच अंगों में विभाजित किया गया है : हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधान। सामगान की लय के नाम हैं : क्रुष्ट, प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी, मंद्र और अतिस्वार्य।

अथर्ववेद-संहिता

अथर्ववेद चौथा वेद है। अथर्वा नामक ऋषि के नाम से अथर्ववेद का नामकरण माना गया है। 'अथर्वन्' शब्द बहुत प्राचीन है। यहाँ तक कि ऋग्वेद में भी उसका उल्लेख मिलता है। बाद में अग्निपूजक पुरोहितों को ब्राह्मण-युग में अथर्वन् कहा गया और धीरे-धीरे सूत्र-काल और पुराण-काल तक पुरोहित मात्र के लिए अथर्वन् कहा जाने लगा।

महर्षि अथर्वा से संबंधित 'गोपथ-ब्राह्मण' में एक कथा वर्णित है, जिसके अनुशीलन से विदित होता है कि पुराकाल में स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिए कठिन तप किया। इस घोर तप के प्रभाव से अन्त में उनके तपःपूत शरीर से तेजस्व रूप दो जल-धाराएँ उद्भूत हुई, जिनमें एक धारा से अथर्वन्

और दूसरी से अंगिरा की उत्पत्ति हुई। इन्हीं से अथर्वांगिरसों की उत्पत्ति हुई। इसी भृगु अथवा अर्थवन् और अंगिरा के वंशजों को जो मंत्र दृष्ट हुए, उन्हीं का नामकरण अथर्ववेद, भृग्वंगिरसवेद या अथर्वांगिरसवेद हुआ।

विषय की दृष्टि से अथर्ववेद को इसीलिए अथर्वन् और अंगिरस, इन दो भागों में विभक्त किया जाता है। जितने भी मंत्र, तंत्र, टोना-टोटका एवं औषधियों के प्रतिपादक मंत्र हैं, उन्हें, अथर्वन्-भाग के अन्तर्गत और मारण-उच्चाटन-विषयक मंत्रों को अंगिरस-भाग के अन्तर्गत माना जाता है।

मंत्र, औषधि और उच्चाटन-विषयक मंत्रों के अतिरिक्त अथर्ववेद की कुछ ऋचाएँ यज्ञ-संबंधी और कुछ ब्रह्मविद्या-विषयक भी हैं। ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक मंत्र होने के कारण अथर्ववेद का एक नाम 'ब्रह्मवेद' भी है। इस नामकरण का एक आधार यह भी है कि अथर्ववेद में शाप, वशीकरण, मोहन, मारण, उच्चाटन, आशीर्वाद, स्तुति और प्रार्थनाविषयक जितने भी समग्र मंत्र हैं उन्हें 'ब्राह्मणि' भी कहा जाता है। इसीलिए उसका ब्रह्म-वेद अभिधान हुआ। एक तीसरा कारण यह भी बताया जाता है कि अथर्ववेद का नाम ब्रह्म-वेद इसलिए पड़ा, क्योंकि उसमें ब्रह्म-ज्ञान और पारलौकिक मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है।

अथर्ववेद में बीस कांड हैं। इस आधार पर एक परंपरागत श्रुति इस संबंध में यह भी है कि महर्षि भृगु के एक शिष्य अथर्वा हुए और उनके बीस पुत्रों द्वारा परंपरागत ज्ञान अथर्ववेद के बीस कांडों में निर्मित हुआ।

अथर्ववेद की नौ शाखाएँ थीं : पैप्पलाद, शौणकीय, दामोद, तोत्तायन, जामल, ब्रह्मपालास, कुनरवा, देवदर्शी और चरणविद्या। इनमें से संप्रति शौनक और पिप्पलाद शाखाओं की दो संहिताएँ ही उपलब्ध हैं।

अथर्ववेद संहिता २० कांडों में विभक्त है। ये बीस कांड ४८ प्रपाठकों में विभाजित हैं। इन प्रपाठकों में ७६० सूक्त और ६००० मंत्र संकलित हैं।

वेदकाल की मर्यादा

कुछ इतिहासकारों की दृष्टि में, वेद स्वयंभूत और अपौरुषेय होने पर भी अनादि नहीं हैं। उनके निर्माण का भी एक निश्चित समय है। वेदों की रचना

कब हुई और मन्त्र-संहिताओं का ऐतिहासिक क्रम क्या है, इस संबंध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। मंत्र-संहिताओं की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला कि उनमें समानता नहीं है। ऋग्वेद की मंत्र-संहिता और अथर्ववेद के कुछ मंत्रों में एक जैसी भाषा का सर्वथा अभाव है। इतना ही नहीं, चारों मंत्र-संहिताओं में भाव और शैली की दृष्टि से भी एकता नहीं है।

होना तो यह चाहिये था कि अनादि, स्वयंभूत और अपौरुषेय होने के कारण मंत्र-संहिताओं की भाषा, शैली और भाव में भी एकरूपता रहती; किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। इस अनेकरूपता के कारण निश्चय ही मंत्र-संहिताओं का निर्माण एक समय में नहीं हुआ और इस आधार पर उनके निर्माता भी अलग-अलग थे। देशी-विदेशी विद्वानों ने वेद-निर्माण की जो सीमायें निर्धारित की हैं उन सीमाओं की अतिशय दूरी को देखकर भी विस्मय होता है। विद्वानों ने आज से बारह सौ वर्ष पूर्व से लेकर बत्तीस हजार वर्ष पूर्व तक विभिन्न तिथियों में वेदों का निर्माण काल बताया है।

वेदों के निर्माणकाल के संबंध में विद्वानों का मतभेद आज भी पूर्ववत् है। भारतीय विश्वासों के अनुसार वेद अनादि और ईश्वरकृत होने के कारण उनको समय की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। कुछ भारतीय विद्वानों ने इस संबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे वेदों की तिथि लाखों वर्ष पूर्व बैठती है, लगभग जो अनादि सिद्धान्त के ही समान है।

इधर पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों को ऋषि-निर्मित पौरुषेय मानकर उनकी समय-सीमा का जो निर्धारण किया है, उसको भी अन्तिम नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उनकी मान्यताएँ और विचार-पद्धति दोषपूर्ण होने पर भी सर्वथा निर्मूल एवं उपेक्षणीय नहीं हैं।

मैक्समूलर पहिला विदेशी था, जिसने वेदों पर विशेषतः ऋग्वेद पर और उसके निर्माणकाल को खोज निकालने के लिए जीवनपर्यंत श्रम किया। उसके मत का निष्कर्ष है कि ई० पूर्व ४७७ में बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुआ। उससे पूर्व लगभग १०० वर्षों में बुद्ध धर्म का उदय हुआ। ई० पूर्व ६०० के पहिले,

अर्थात् बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व वैदिक ग्रन्थों की रचना पूर्ण हो चुकी थी। इस दृष्टि से मैक्समूलर ने संपूर्ण वैदिक साहित्य को छंदकाल, मंत्रकाल, ब्राह्मण-काल और सूत्रकाल, इन चार युगों में विभाजित किया है। उसने प्रत्येक युग के विकास के लिए दो-दो सौ वर्ष का समय दिया है। वैदिक साहित्य के सबसे अन्तिम भाग सूत्र-ग्रन्थों का निर्माणकाल मैक्समूलर ने ६००–२०० ई० पूर्व के बीच निर्धारित किया है। इसी प्रकार ब्राह्मणग्रंथों की कालसीमा ८००–६०० ई० पूर्व, मंत्रभाग की आयु १०००–८०० ई० पूर्व और छन्द, अर्थात् ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाएँ उसके मत से १२००–१००० ई० पूर्व के बीच रची गईं।

अपने उक्त दृष्टिकोण को मैक्समूलर ने अनुमान पर आधारित बताया है। उसका कथन है कि वेदों के निर्माण की ठीक तिथि का पता लगाना कठिन ही नहीं, अति दुष्कर भी है। वेदों के संबंध में निश्चित रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि वे विश्व-साहित्य के आदिग्रंथ हैं और संसार में ज्ञान का अभ्युदय, वेदग्रन्थों के अभ्युदय के साथ हुआ।

मैक्समूलर का यह अभिमत इतिहास एवं भाषाशास्त्र पर आधारित है और यद्यपि कोलब्रुक, विलसन, कीथ और मेक्डानल प्रभृति यूरोपीय विद्वानों ने पहिले-पहिल इस मत को वैज्ञानिक कहकर स्वीकार किया है; किन्तु यह निर्णय उपयुक्त प्रमाणों पर आधारित नहीं है। उसका काल-विभाजन का आधार नितान्त ही त्रुटिपूर्ण है और प्रत्येक काल के विकास के लिए जो दो-दो सौ वर्ष का समय दिया गया है, वह तो सर्वथा कल्पित है।

मैक्समूलर के इस अभिमत की बड़ी आलोचनाएँ हुई। जब से तुर्की में १४०० ई० पूर्व के उपलब्ध कुछ प्राचीन आलेखों में उल्लिखित वैदिक संस्कृति और विशेषतः वैदिक देवताओं के नामों का पता लगा है, तब से पौर्वात्य और पाश्चात्य, सभी विद्वानों ने मैक्समूलर का मत नहीं माना।

विद्वान् न्यायाधीश स्व० श्री के० टी० तेलंग महोदय ने मैक्समूलर और प्रो० ब्लूमफील्ड प्रभृति यूरोपीय विद्वानों के मतों का खंडन किया है। उन्होंने यूरोपीय विद्वानों की इस प्रवृत्ति को, जिसके अनुसार भारतीय साहित्य की रचना एकदम आधुनिक है, नितांत ही पक्षपातपूर्ण और अवैज्ञानिक बताया

है। तेलंग महोदय का कथन था कि उक्त विद्वानों ने निर्बल एवं संभावित घटनाओं के ऊपर केवल कल्पनाएँ ही नहीं गठी हैं, वरन्, उन कल्पनाओं के ऊपर विचारों की एक विशाल इमारत भी खड़ी की है।

सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद दूसरे जर्मन विद्वान् विंटरनित्स ने वैदिक साहित्य के निर्माण की सीमा २५००—२०० ई० पूर्व के बीच निर्धारित की है; किन्तु उन्होंने अपने इस अभिमत के प्रति संदेह प्रकट करते हुए कहा कि वेदों का निर्माणकाल २००—२५०० ई० पूर्व में मानने पर एक बड़ी आपत्ति सामने यह उपस्थित होती है कि उनकी भाषा उन पुराने फारसी शिलालेखों से मिलती-जुलती है, जो शिलालेख लगभग छठी शताब्दी ई० पूर्व के हैं।

तीसरे इतिहासज्ञ और ज्योतिर्विद् जर्मन विद्वान् याकोबी ने अपने नये अनुसंधानों के आधार पर वेदों की निर्माण-तिथि के संबन्ध में अपना नया दृष्टिकोण प्रकट किया है। उन्होंने कल्पसूत्र के विवाह प्रकरण में उल्लिखित 'ध्रुव इव स्थिराभव' वाक्य के 'ध्रुव' शब्द का ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर गणना करके पता लगाया कि ध्रुवतारे की जिस तेजस्वी स्थिति की उपमा उक्त वाक्य में दी गई है, वह स्थिति लगभग २७०० ई० पूर्व की है; और इस आधार पर याकोबी ने कल्पसूत्रों का आरंभ आज से लगभग ४७०० वर्ष पूर्व निर्धारित किया है। कल्पसूत्रों के सम्यक् शोध और ग्रह-मंडल के अध्ययन द्वारा याकोबी ने वेदों का निर्माण आज से ६५०० वर्ष पूर्व निर्धारित किया है।

भारतीय विद्वानों में लोकमान्य तिलक प्रथम विद्वान् हैं, जिन्होंने वैदिक साहित्य पर वर्षों खोज करके भारतीय दृष्टि से उनका गंभीरता से विश्लेषण किया। वेदों की निर्माण-तिथि को खोज निकालने के लिए लोकमान्य तिलक का आधार याकोबी के आधार की भाँति ज्योतिर्विज्ञान ही है। लोकमान्य ने नक्षत्र-गति के अध्ययन से स्थिर किया कि ब्राह्मण ग्रंथों का निर्माण आज से लगभग ४५०० वर्ष पूर्व संपन्न हो चुका था। उन्होंने प्रामाणिक आधारों पर सिद्ध किया कि जिस समय कृत्तिका नक्षत्र सब नक्षत्रों में प्रमुख था और जिस समय कृत्तिका नक्षत्र के आधार पर दूसरे नक्षत्रों की गति-विधि एवं दिन-रात की गणना का पता लगाया जाता था, ख-गोलविद्या तथा ज्योतिष के आधार पर वह स्थिति आज से लगभग ४५०० वर्ष प्राचीन बैठती है।

लो० तिलक के मतानुसार कृत्तिका नक्षत्र के आधार पर जिस प्रकार ब्राह्मण-ग्रंथों का निर्माणयुग निश्चित है, उसी प्रकार मंत्र-संहिताओं के रचना-काल को उन्होंने मृगशिरा नक्षत्र के आधार पर खोज निकाला है। तिलक के अनुसार मंत्र-संहिताओं के युग में मृगशिरा नक्षत्र से रात-दिन का समानान्तर स्थिर किया जाता था। ख-गोल और ज्योतिष की गणना के हिसाब से मृगशिरा नक्षत्र की उक्त स्थिति का योग आज से लग-भग ६५०० वर्ष पूर्व बैठता है। तिलक के मतानुसार आज से ६५०० वर्ष पूर्व का समय ही मंत्र-संहिताओं का निर्माणकाल था। मंत्र-संहिताओं के निर्माण से पूर्व यदि २००० वर्ष की अवधि को संपूर्ण वेदमंत्रों की रचना के लिए रखा जाय तब भी लो० तिलक के मतानुसार कुछ वैदिक मंत्रों का निर्माण आज से ८५०० वर्ष पूर्व अवश्य हो चुका था। संक्षेप में जिन प्राचीन ऋचाओं, कवियों या देवताओं का नाम ऋग्वेद में उल्लिखित है, उन्हें अतीतकालीन समझना चाहिए। अर्थात् वे पुरातन काल से परंपरापूर्वक अब तक हस्तांतरित होते आये हैं। उन्हें पूर्व-हिमयुग का ही समझना चाहिए।

वैदिक काल की पूर्व मर्यादा के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक ने जो सीमा बाँधी थी, पश्चिमीय विद्वानों ने भी पीछे चलकर उसी पर विश्वास किया और लोकमान्य के मत को सर्वोपरि मान्यता प्रदान की।

गणित द्वारा निश्चित वैदिक काल की मर्यादा के संबंध में एक सुविचारित मत स्व० श्री बालकृष्ण दीक्षित का है। दीक्षित जी इस शर्त्ता के महान् पण्डित थे और उनकी तर्कनाओं एवं उनके निष्कर्षों को लोकमान्य ने बड़े संमान के साथ याद किया है। दीक्षित जी के मतानुसार वेदकाल की मर्यादा के संबंध में इतना ही कहा जाता है कि वह शकपूर्व ६००० वर्ष से नवीन नहीं है। शकपूर्व ६००० वर्ष वेदमन्त्र किस समय प्रकट हुए, यह कोई नहीं बता सकता। इस प्रकार वह काल अनादि है। वैदिक काल की उत्तर अवधि शकपूर्व लगभग १५०० वर्ष है। इसके बाद वेदांग काल का आरम्भ होता है। कुछ उपनिषद् वेदांगकाल में भी बने होंगे; पर वैदिक काल की उत्तर सीमा उपर्युक्त ही है। ऋक् संहिता के कुछ भाग का रचनाकाल शकपूर्व ४००० वर्ष है। तैत्तिरीय संहिता के कुछ भाग का रचनाकाल शकपूर्व ३००० वर्ष है।

ब्राह्मण शकपूर्व ३००० से १५०० पर्यंत बने हैं। उनके जिन भागों में चैत्रादि संज्ञाएँ हैं, वे शकपूर्व २००० के बाद की और शेष उससे पहिले की हैं। उपनिषदों के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहते नहीं बनता, परन्तु बहुत-से उपनिषद् ग्रंथ शकपूर्व २००० और १५०० के मध्य के हैं। संहिताओं और ब्राह्मणों के सब मंत्र एकत्र होकर आज जिस रूप में दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनकी वैसी पूर्ण रचना उपर्युक्त काल में नहीं हुई होगी, तथापि उनका यह स्वरूप शकपूर्व १५०० से प्राचीन है।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने पश्चिमीय विद्वान् विन्सेंट स्मिथ के 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया' और रैप्सन महोदय के 'एंश्येंट इंडिया' नामक दो इतिहास-ग्रंथों का परिशीलन कर प्राचीन भारत का युग-विभाजन दो प्रकार से किया है: राजनीतिक दृष्टि से और साहित्यक दृष्टि से।

राजनीतिक दृष्टि से उन्होंने भारत का काल-विभाजन कृतयुग, त्रेता और द्वापर के हिसाब से किया है। उन्होंने इक्ष्वाकु से पाण्डवों के समय तक ९४ पीढियों की गणना की है और पार्जिटर साहब की ९५ पीढियों की गणना का भी समर्थन किया है। अनुश्रुति को प्रामाणिक मानकर उन्होंने १ से ४० पीढी तक कृतयुग की सीमा, ४१ से ६५ पीढी तक त्रेता-युग की सीमा और ६६ से ९५ पीढी तक द्वापर-युग की सीमा रखी है, तथा राजा सगर के साथ कृतयुग की समाप्ति, राजा रामचन्द्र के साथ त्रेता युग का अंत और महाभारत युद्ध के बाद कृष्ण के देहावसान के साथ द्वापर युग की समाप्ति मानी है। उन्होंने प्रत्येक पीढ़ी की आयु-सीमा सोलह सौ वर्ष अनुमानित की है और इस कृत-युग की पूरी आयु साढ़े-छः-सौ वर्ष, त्रेता युग की चार-सौ वर्ष और द्वापर युग की पौने-पाँच-सौ वर्ष के हिसाब से तीनों युगों की आनुमानिक संमिलित अवधि १५२० वर्ष निश्चित की है। १४२० ई० पूर्व महाभारत युद्ध का निर्धारण करते हुए भारतीय इतिहास का अभ्युदय २९४४ या २९५० ई० पूर्व में बैठाया है। उनका कथन है कि 'मेरे अन्दाज से २९५० से २३०० ई० पूर्व तक कृतयुग, २३०० से १९०० ई० पूर्व तक त्रेता और १९०० से १४२५ ई० पूर्व तक द्वापर रहा।'

साहित्यिक दृष्टि से उन्होंने भारतीय इतिहास को प्राग्वैदिक युग, ऋचा-युग और संहिता-युग में विभाजित किया है। इस साहित्यिक विकास की

तिथियों को उक्त राजनीतिक युग के हिसाब से स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'इस प्रकार जिन ९५ पीढ़ियों का वृत्तान्त हमने ऊपर कहा है, उनमें से पहिली उनतीस पीढ़ियों का समय (अन्दाजन २९५०–२४७५ ई०पूर्व) प्राग्वैदिक युग; ३० वीं से ७३ वीं पीढ़ी तक का समय (अन्दाजन २४७५–१७७५ ई० पूर्व) प्रथम वैदिक या ऋचायुग, और ७४वीं से ९५वीं पीढी तक का समय (अन्दाजन १७७५–१४५५ ई० पूर्व) अपर वैदिक या संहिता युग है। प्राग्वैदिक युग पौने पाँच सौ वर्ष रहा है, ऋचा-युग सात सौ और संहिता-युग साढ़े तीन-सौ बरस। पूरा वैदिक युग दस सौ वर्ष जारी रहा।'

ऋग्वेद का निर्माण

चारों वेदों में ऋग्वेद को शीर्षस्थान प्राप्त है। प्राचीनता की दृष्टि से उसे विश्व-साहित्य का पहिला ग्रंथ कहा जा सकता है। मैक्समूलर ने उसके संबन्ध में कहा है कि 'संसार भर में खोजने पर भी इतना प्राचीनतम ग्रन्थ आजतक उपलब्ध नहीं हुआ है।' इसके लगभग १०२८ या इससे कुछ अधिक कुल सूक्त, दस मंडलों में विभाजित हैं। इन सूक्तों की मंत्रसंख्या प्रायः असमान है। पृथक्-पृथक् सूक्त में तीन से लेकर सौ तक मंत्र-संख्या मिलती है। कालक्रम की दृष्टि से भी, जिस प्रकार इनका क्रम निर्धारित है उससे विपरीत आगे-पीछे उनकी रचना हुई है। ऋचाओं का यह दस मंडलों में विभाजन क्रम उनकी रचना के हिसाब से न होकर विषय के हिसाब से है।

'ऋग्वेद जिस रूप में अब हमें उपलब्ध है, उसमें दस मण्डल हैं, जिनमें कुल १०१७ सूक्त हैं। पहले मंडल के प्रथम पचास सूक्त तथा आठवाँ मंडल समूचा कण्व वंश के ऋषियों का है। उसी प्रकार दूसरे से सातवें तक, प्रत्येक मंडल एक-एक ऋषि-वंश का है। गृत्समद, विश्वमित्र, वामदेव, आत्रेय, बार्हस्पत्य और वशिष्ठ, ये उन वंशों के नाम हैं। नौवें मंडल में एक ही देवता—सोम पवमान—के विविध ऋषियों के सूक्त हैं, और दसवाँ तथा पहले का शेषांश (५१–१९१ सूक्त) विविध ऋषियों के और विविधविषयक हैं। यह सब संकलन बाद में हुआ, शुरू में फुटकर ऋचाएँ धीरे-धीरे बनीं।'

इस प्रकार अवगत होता है कि कालक्रम की दृष्टि से ऋग्वेद के सूक्तों में शताब्दियों का हेर-फेर है। यह भी स्पष्ट है कि पुरुष-ऋषि और स्त्री-ऋषि, दोनों ही इन सूक्तों के प्रणेता थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से ऋग्वेद की समीक्षा करते हुए योगिराज अरविंद ने लिखा है कि 'ज्ञान स्वयं एक यात्रा और लक्ष्य-प्राप्ति था, एक अन्वेषण और एक विजय था; स्वतः प्रकाश की अवस्था केवल अंत में आई; यह प्रकाश एक अंतिम विषय का पुरस्कार था।

'ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऋग्वेद को यह समझा जा सकता है कि यह उस महान् उत्कर्ष का एक लेखा है जिसे मानवीयता ने अपनी सामूहिक प्रगति के किसी एक काल में विशेष उपायों के द्वारा प्राप्त किया था। अपने गूढ़ अर्थ में भी, जैसे कि अपने साधारण अर्थ में, यह कर्मों की पुस्तक है; आभ्यन्तर और बाह्य यज्ञ की पुस्तक है; यह आत्मा की संग्राम और विजय की सूक्ति है, जब कि वह विचार और अनुभूति के उन स्तरों को खोज कर पा लेता है और उनमें आरोहण करता है, जो कि भौतिक अथवा पाशविक मनुष्य से दुष्प्राप्य हैं। यह है मनुष्य की तरफ से उन दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाओं की स्तुति जो मर्त्य में कार्य करती है। इसलिए इस बात से यह बहुत दूर है कि यह कोई ऐसा प्रयास हो जिसमें कि बौद्धिक या काल्पनिक विचारों के परिणाम प्रतिपादित किए गए हों, न ही यह किसी आदिम धर्म के विधि-नियमों को बताने वाली पुस्तक है।'

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में आदि से लेकर अंत तक एक बहुत बड़ी कमी यह देखने को मिलती है कि उसके निर्माताओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए उसमें कुछ नहीं मिलता। यहाँ तक देखने को मिलता है कि संस्कृत के कतिपय ग्रंथकारों ने अपनी महानतम कृतियों को किसी देवता-विशेष या ऋषि-विशेष के नाम लिखकर अपनी जीवन-संबंधी जानकारी के लिए स्वयं ही निराकरण कर दिया। इस दृष्टि से और इस परंपरा के आधार पर वेद और उनके निर्माता अथवा द्रष्टाओं की निश्चित तिथि को खोज निकालना कितना दुष्कर है, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जब कि वेदों

को अपौरुषेय और ईश्वरप्रणीत कहा जाता है, तब तो वेदों और उनमें वर्णित कतिपय ऋषि-वंशों का ऐतिहासिक आधार ढूँढ़ना और भी दुष्कर हो जाता है।

इस पर भी वेदों और वेदप्रवचनकार ऋषियों के युगों की खोज करने में इतिहासकार एवं पुरातत्त्वज्ञ वर्षों से लगे हुए हैं। आज तक इस संबंध में देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा जितने भी अनुसंधान हुए हैं उनके अध्ययन से निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनकी स्थापनायें सहस्रों वर्षों की परतों से ढके हुए सत्य के लगभग निकट पहुँच चुकी हैं। वेदों के स्थितिकाल को स्पष्ट करने के संबंध में विविध विद्वानों के अनेकमुखी सिद्धान्त अपने मूलरूप में समानरूप से महत्वपूर्ण हैं। पहले-पहल जिन विद्वानों ने इस संबंध में अपने जिन सिद्धान्तों को रखा, कुछ भ्रमपूर्ण होते हुए भी, विषय की दुष्करता एवं अतिशय अध्यवसाय-साध्य कार्य होने के कारण, उनका महत्व आने वाली पीढ़ी के लिये बहुत रहा। इसी प्रकार आज जिस सत्य को हम पूर्ण रूप से उद्धरित नहीं कर सके हैं, भविष्य में, बहुत संभव है कि उसका स्पष्टीकरण हो जाय।

इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के जन्म-युग के संबंध में विद्वानों की जो अलग-अलग स्थापनायें हैं वे वास्तविकता के अधिक निकट हैं। याकोबी साहब के मत का उल्लेख हम कर चुके हैं। उनके अनुसार ६५०० ई० पूर्व पहले-पहल जिन ऋचाओं का निर्माण हुआ था वे ऋग्वेद की मंत्र-संहिताओं से संबंधित थीं। लोकमान्य तिलक ऋग्वेद की रचना ८५०० ई० पू० निर्धारित करते हैं। उनके मतानुसार 'सारे मंत्र एक साथ नहीं बने। ऋषियों और उनके वंशधरों ने, समय-समय पर, हजारों वर्षों में मंत्र बनाये। इस तरह, कुछ ऋचाएँ दस हजार वर्षों की हैं, कुछ साढ़े आठ हजार वर्षों की और कुछ सात, साढ़े सात हजार वर्षों की। सभी प्राचीनम ऋचाएँ ऋग्वेद की ही हैं।'

कुछ विद्वानों के मतानुसार वैदिक मंत्र पहिले मौखिक रूप में ही जीवित थे—'श्रुति' नाम उनका एतदर्थ ही पड़ा। उसके बाद १८०० ई० पू० भारत में लेखन कला का जन्म होने के कारण वैदिक मंत्र लिपिबद्ध होने लगे और

उनका पहिला संपादन महाभारतयुगीन कृष्णद्वैपायन ने किया। महाभारत का समय १४०० ई० पू० है। लेखन कला के जन्म से ७०० वर्ष पूर्व अर्थात् २५०० ई० पू० में वैदिक ऋचाओं का निर्माण होना आरंभ हो गया था और बाद में १८०० ई० पू० के सात सौ वर्षों तक वे निरंतर बनती गईं। तदनंतर ऋचा-निर्माण के ४०० वर्ष पश्चात् १४०० ई० पू० में कृष्ण द्वैपायन द्वारा वे संहिताओं में वर्गीकृत हुईं।

ऋग्वेद के सूक्तों में विभिन्न नामरूप देवों की स्तुति की गई है। अधिकांश सूक्त वरुण, सूर्य, वायु, अग्नि आदि देवताओं की अर्चना से संबंधित हैं। पार्थिव देवों में पृथिवी, सोम, अग्नि, अन्तरिक्ष देवों में वायु, इन्द्र, पर्जन्य, मरुत और द्युलोक के देवों में सूर्य, मित्र, विष्णु, वरुण आदि देवताओं की भी स्तुतियाँ ऋग्वेद के सूक्तों के वर्णित हैं। इन पुरुषप्रधान देवों के अतिरिक्त स्त्रीप्रधान देवियों में इन्द्राणी और ऊषा आदि के स्तुतिविषयक मंत्र बड़े आकर्षक और काव्यशैली में वर्णित हैं।

मेयर और गाइल्स प्रभृति कुछ विद्वानों का मत है कि उक्त नाम वैदिक देवताओं के न होकर ईरानी आर्यों के देवताओं के हैं, किन्तु 'जेन्दावेस्ता' में उक्त देवताओं के नाम जिस रूप में उल्लिखित हैं उनकी समानता एवं क्रम इस अभिलेख के देवताओं से नहीं मिलता, अपितु ऋग्वैदिक देवताओं से अक्षरशः उनकी एकता प्रतीत होती है। इतना ही नहीं, बल्कि इसी काल के आस-पास तेल-एल-अमराना नामक स्थान में उपलब्ध लेखों में मितनी राजाओं के अततम (आर्त्ततम), सुरत्त (दशरथ) संस्कृतनिष्ठ नाम उल्लिखित हैं। इसी प्रकार काबुल में कुछ खत्ती राजाओं के शुरियस (सूर्य), मर्यतस (मरुत) जैसे संस्कृत नाम मिले हैं। काबुल में खत्ती राजाओं का राज्यकाल लगभग १७४६-११८० ई० पू० है।

इससे यह प्रतीत होता है कि वैदिक युगीन आर्य स्थायी रूप से भारत में बस जाने के उपरांत उनकी कुछ शाखायें प्रचारार्थ बाहरी द्वीप-समूहों में निकल पड़ीं और कुछ समय वहां रहने के पश्चात् पुनः भारत आकर उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये। यह निश्चित है कि इस गमनागमन में लगभग दस

से पंद्रह शताब्दियाँ अवश्य लग गई होंगी। इस दृष्टि से ऋग्वेद का प्रणयन लगभग ३००० ई० पू० में अवश्य आरंभ हो गया होगा।

इस संबंध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। वैदिक-संहिताओं का संकलन और वर्गीकरण कृष्णद्वैपायन व्यास ने किया था। व्यास का स्थिति-काल महाभारत का समय है और महाभारत का समय लगभग १५ वीं शताब्दी ई० पू० ठहरता है। वैदिक मंत्रों का प्रणयन जब समाप्त हो गया तभी व्यास ने अंतिम रूप से उनको संहिताओं में विभाजित किया। इस दृष्टि से ऋक् संहिता में संकलित सबसे पीछे रचे गये कुछ अंतिम मंत्रों का समाप्ति-काल ई० पू० १५ वीं शताब्दी ठहरता है। ये अन्तिम मंत्र वे हैं जिनमें देवादि और शन्तनु जैसे ई० पू० १५वीं १६वीं शताब्दी के आस-पास के व्यक्तियों के नाम आये हैं। इसके अतिरिक्त गूढ़ वैदिक शब्दों की निरुक्ति के लिए यास्काचार्य ने 'निरुक्त' की रचना की। यास्क का समय ७०० ई० पू० है। इस 'निरुक्त' ग्रंथ में जहां गार्ग्य, औदुम्बरायण और शाकपूणि आदि पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख हुआ है वहां उसमें पूर्वरचित वैदिक निघंटुओं का भी स्पष्ट संकेत मिलता है। इससे यह विदित होता है कि ऋग्वेद का अंत्येष्टि काल लगभग १५०० ई० पू० है और उसका आरंभ काल लगभग ३००० ई० पू० है।

इसी प्रकार नारायण भवनराव पावगी ने भूगर्भशास्त्र और ज्योतिष के अनुसंधान के आधार पर ऋग्वेद का निर्माणकाल आजसे ९००० वर्ष पूर्व स्थिर किया है। अमलनेकर ने ऋग्वेद का समय ६६००, अविनाशचंद दास ने २५००० और प्रो० लाटूसिंह गौतम ने ४० लाख ३२ हजार वर्ष पूर्व-सिद्ध किया है।

विभिन्न ब्राह्मणग्रंथों में ये संहितायें कुछ पाठभेद और क्रम के हेर-फेर से संकलित हुई हैं। वाष्कल ने संहिताओं की शाखाओं को अष्टकों, अध्यायों और वर्गों में विभाजित किया। इस प्रकार शाकल शाखा का अर्थ हुआ उस वंशविशेष या संप्रदाय का संस्करण।

श्री रघुनंदन शर्मा ने वेदों की प्राचीनता के संबंध में भारतीय दृष्टि से छानबीन करने के पश्चात् अपना अलग दृष्टिकोण रखा। उन्होंने संपूर्ण वैदिक

साहित्य को चार कालखण्डों में विभक्त किया : १ ब्राह्मणकाल, २ साहित्य-काल, ३ नवीन मंत्रद्रष्टा ऋषियों का काल और ४ प्राचीन मंत्रद्रष्टा ऋषियों का काल।

ब्राह्मणकाल के प्राचीन भाग की अवधि उन्होंने २२००० वर्ष पूर्व रखी; द्वितीय साहित्यकाल को उन्होंने कम से कम उतने ही समय पूर्व अर्थात् ब्राह्मणकाल से २२००० वर्ष पूर्व साहित्यकाल माना, तीसरे नवीन मंत्रद्रष्टा काल की अवधि साहित्यकाल से २२००० वर्ष पूर्व माना और प्राचीन मंत्रद्रष्टा काल को उन्होंने सृष्टि के आदि तक पहुँचाया, जिसमें नहुष, ययाति और वैवस्वत मनु की गणना की गई।

इस प्रकार शर्मा जी के मतानुसार ऋग्वेद का आदि मंत्र आज से लगभग ८८००० वर्ष पूर्व निर्मित हुए थे।

दूसरी संहिताओं का निर्माण

सामान्यतया ऋग्वेद को और उसमें भी कुछ मंत्रों को दूसरी मंत्र-संहिताओं की अपेक्षा प्राचीन माना जाता है, किन्तु कुछ मिले-जुले मंत्र चारों संहिताओं में ऐसे मिलते हैं, जिनसे यह स्थिर करना कठिन हो जाता है कि कौन वैदिक संहिता सबसे पहिले निर्मित हुई।

सामवेद की संहिता के निर्माण से संबद्ध ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे उसकी अतिप्राचीनता का पता चलता है। विद्वानों का मत है कि वसु चैद्योपरिचर के समय से छठी पीढ़ी पर और महाभारत-युद्ध से बारह पीढ़ी पहिले अयोध्या के वंश में राजा हिरण्यनाभ (८२ पी०) हुआ । भारत वंश की एक छोटी शाखा में, जो हस्तिनापुर और अयोध्या के बीच राज करती थी, उसी समय का राजा कृत (८३ पीढ़ी) था। कृत हिरण्यनाभ कौशल्य का चेला था। उन दोनों ने मिलकर सामों की संहिता बनाई और वे पूर्व साम (पूरब के गीत या पहिले के गीत) कहलाये। इससे स्पष्ट है कि ऋक्, यजु और साम का विभाग उनसे पहिले हो चुका था।

अथर्ववेद की मंत्र-संहिताओं का दूसरी संहिताओं के साथ तुलनात्मक भाषागत अध्ययन करने पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनमें

आर्य संस्कृति की अपेक्षा अनार्य संस्कृति का अधिक प्रभाव है। उनमें दी हुई जादू-टोने और तंत्र-मंत्र की बातों पर भी अनार्यों की स्पष्ट छाप है।

वेदों में उल्लिखित अन्य भाषाओं के शब्द-साम्य के संबंध में लोकमान्य तिलक ने विस्तार से प्रकाश डालकर यह सिद्ध किया है कि अथर्ववेद में जो अलिगी, निलिगी, उरुगूल तथा ताबुव आदि चालडियन भाषा के शब्द उद्धृत हैं, उनके आधार पर कदापि यह सिद्ध नहीं होता, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है कि अथर्ववेद का निर्माण बहुत पीछे हुआ है। भाषा-विज्ञान का यह पूर्ण प्रामाणिक सिद्धान्त नहीं है। इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान् जीन युजाईलुस्की का कथन है कि ऋग्वेद (६।७५।१७) में उल्लिखित 'वाण' शब्द अनार्य है, जो कि सर्वथा भ्रांत धारणा है। अथर्ववेद का निर्माण चालडियन भाषा से सहस्रों वर्ष पहिले हो चुका था और वेदों से उक्त शब्द वहाँ पहुँचे। उक्त शब्द वेदमंत्रों के अपने शब्द हैं।

निष्कर्ष

वेदकाल-मर्यादा को निर्धारित करने के लिए इस प्रकरण में हमने जितने विद्वानों के मत उद्धृत किए हैं, उनमें इतना वैपरीत्य है जिसको देखकर कुछ भी निर्धारित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से कोई भी पाठक या समीक्षक अपनी रुचि एवं अपने दृष्टिकोण के अनुसार किसी भी एक मत को स्वीकार करने के लिए स्वतंत्र है। सभी विद्वानों के मत यहाँ एक साथ दिए जाते हैं।

गौतम	४ लाख वर्ष पूर्व
चुटेल	३ लाख वर्ष पूर्व
शर्मा	८८००० वर्ष पूर्व
अमलेकर	६६००० वर्ष पूर्व
दास	२५००० ई० पूर्व
तिलक	८५०० वर्ष पूर्व
पावगी	८००० वर्ष पूर्व

दीक्षित	६००० श० पूर्व
जैकोबी	४००० ई० पूर्व
वैद्य	३१०० ई० पू०
भंडारकर, पांडुरंग	३००० ई० पू०
विद्यालंकार	३००० ई० पू०
विंटरनित्स	२५०० ई० पू०
हाग, प्राट	२००० ई० पू०
मैक्समूलर	२००० ई० पू०

अपौरुषेय ज्ञान के प्रतीक : वेद

वेदों की रचना किसने की, यह प्रश्न आज भी अधूरा है। देशी-विदेशी विद्वानों के द्वारा बहुत खोज-बीन रखने पर भी अंतिम निष्कर्ष कुछ भी न निकला। संप्रति इस संबंध में दो मत है। एक मत वेदों को ईश्वरकृत, अनादि और अपौरुषेय बताता है, ऋषियों ने उनका दर्शन भर किया, रचा नहीं। दूसरा मत वेदों को ऋषिकृत कहता है। ऋषि और मुनि में भेद है। मंत्रद्रष्टा या मंत्रकर्ता ऋषि कहलाते हैं। मुनिजन मंत्रद्रष्टा मंत्रकर्ता नहीं थे, किन्तु बड़े विद्वान्, विचारवान् और प्रतिभावान् थे।

वेदों के बाद रचे गए ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, दर्शन और धर्मशास्त्र सभी ने एकमत से दुहराया है कि वेद नित्य हैं अर्थात् सृष्टि से पूर्व भी वे विद्यमान थे; वेद अनादि है, अर्थात् उनकी कोई जन्मतिथि नहीं है; और वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् उनका रचने वाला कोई पुरुष नहीं है। इस दृष्टि से विदित होता है कि वेद स्वयंभूत, स्वयंप्रकाश और स्वयंप्रमाण हैं।

वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता के संबंध में 'मनुस्मृति' के प्रामाणिक टीकाकार कुल्लूक भट्ट का यह कथन है कि प्रलयकाल में वेद विनष्ट नहीं हुए थे। वे परमात्मा में अवस्थित थे : 'प्रलयकालेऽपि परमात्मनि वेदराशिः स्थितः।' वेदों की अनादि-अनंत सत्ता के समर्थन में आचार्य शंकर ने अपने भाष्य-ग्रंथ में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित किए हैं।

परमात्मा की सत्ता में अविश्वास करने वाले सांख्य दर्शनकारों ने भी वेदों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। वेदों को सांख्यकारों ने भी स्वयंभूत, स्वयंप्रमाण और अपौरुषेय, अनादि एवं नित्य कह कर अभिहित किया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों से लेकर उपनिषद्-ग्रन्थों तक जितना भी वैदिक साहित्य है, सभी में वेदों को नित्य, अनादि और अपौरुषेय कहा गया है। ऋषियों को वेदमंत्रों का प्रथम द्रष्टा कहा गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' की एक ऋचा 'तान् होवाच काद्रवेयः' का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है : 'अतींद्रिय अर्थ को देखने वाले ऋषि को मंत्रकृत कहते हैं। वहाँ 'करोति' 'धातु' का अर्थ देखना है, न कि करना।

ऋषि मंत्रद्रष्टा थे

ऋषियों को 'मंत्रकृत्' क्यों कहा गया इस संबंध में सायणाचार्य 'तैत्तिरीय आरण्यक' के एक सूत्र का भाष्य करते हुए स्पष्ट करते हैं कि 'यद्यपि अपौरुषेय वेदों का कोई कर्ता नहीं है, तथापि सृष्टि के आरंभ में ईश्वर की कृपा से मंत्रों को पाने वाले ऋषियों को ही 'मंत्रकृत्' कहा गया है'। 'बृहदारण्यको-पनिषद्' में वेदों को ईश्वर का निश्वास कहा गया है।

निरुक्तकार यास्क ने भी 'ऋषि' शब्द का निर्वचन मंत्रद्रष्टा के रूप में किया है। यास्क ने मंत्रों का प्रथम दर्शन करने वाले प्रतिभावान् को ऋषि कहा है। मंत्रद्रष्टाओं के रूप में ऋषिजनों का इतिहास बताने वाले अनेक ब्राह्मणग्रन्थ प्रमाण हैं।

ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद इस संबंध में एकमत हैं कि ऋषिजन मंत्रों के निर्माता न होकर द्रष्टा थे। वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ने का एक मात्र कारण भी यही है कि उनकी परंपरा ऋषिवंशों से श्रुतजीवी होकर सूत्रयुग तक आई। 'श्रुति' शब्द अपने यौगिक अर्थ में वेद के उन समग्र अंशों का बोधक है, जिनकी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित विधि का ज्ञान गुरु-निर्देश से अवगत नहीं हो सकता है। श्रुति के इस यौगिक अर्थ के अन्तर्गत, इस दृष्टि से, संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि सभी आ जाते हैं।

श्रुति का अर्थ सुनना है। इस वेद विद्या को ऋषियों ने परमात्मा से सुना और लोक के कल्याणार्थ उसको संसार में प्रचारित किया। वेद का अर्थ ज्ञान है। इस वेद ज्ञान का दर्शन पहले-पहल जिन महापुरुषों ने किया वे ऋषि कहे गए। मंत्रों के 'कंठाप्त' और 'कल्प्य', ये दो नाम इसीलिए पड़े कि जिन मंत्रों को ऋषियों ने प्रत्यक्ष किया उन्हें 'कंठाप्त' कहा गया और जिनका स्मृति से अनुमान लगाया उन्हें 'कल्प्य' कहा गया। यह पौराणिक कथन है। यास्काचार्य ने मंत्रों को परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक कहकर उनको उपलब्ध करने की विभिन्न विधियों का निदर्शन किया है।

मंत्रद्रष्टा ऋषि और 'श्रुति' के उक्त अभिप्राय पर महर्षि अरविंद ने गवेषणात्मक प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि 'ऋषि, सूक्त का वैयक्तिक रूप से स्वयं निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का। वेद की भाषा स्वयं 'श्रुति' है, एक छंद है जिसका बुद्धि द्वारा निर्माण नहीं हुआ, बल्कि जो श्रुतिगोचर हुआ। एक दिव्य वाणी है जो 'कंपन' करती हुई असीम में से निकल कर उस मनुष्य के अन्तकरण में पहुँची जिसने पहिले से ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था। 'दृष्टि' और 'श्रुति', दर्शन और श्रवण, ये शब्द स्वयं वैदिक मुहावरे हैं। ये और इनके सजातीय शब्द, मंत्रों के गूढ़ परिभाषाशास्त्र के अनुसार, स्वतः प्रकाश ज्ञान को और दिव्य अंतःश्रवण के विषयों को बताते हैं।'

अपौरुषेय ज्ञान के पात्र इन ऋषिप्रवरों ने ही वेदमंत्रों का दर्शन किया, पुराणग्रंथ भी इसका समर्थ प्रतिपादन करते हैं। अष्टादश महापुराणों में वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य, इन तीनों पुराणों में भारत के सांस्कृतिक गौरव और उसकी ज्ञान-गाथा का जितना गुणगान हुआ है उतना दूसरे ग्रन्थों में नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से, इसीलिए इनका महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इन तीनों पुराण-ग्रन्थों में ऋषियों का व्यक्तित्व एक ज्ञानपुंज के रूप में परिगणित किया गया है और अपने पूर्ववर्ती उन सभी ग्रंथों के मत का समर्थन किया गया है, जिन्होंने इन ज्ञानमना महामनस्वी ऋषियों को वेदमंत्रों का पहिला दर्शक या श्रोता सिद्ध किया है।

'ऋष' धातु के अर्थ गति, श्रुति, सत्य एवं तप हैं। 'ऋष' का यह अर्थ, पुराणों के अनुसार, स्वयं ब्रह्मा ने किया। जिसमें ये सब गुण, उपमान विद्यमान हों, वह ऋषि है। 'ऋषि' कहे जाने वाले तपःपूत तेजस्वी महापुरुषों की उपाधियों एवं उनके विशेषणों का बखान दूसरे ग्रन्थ भी करते हैं। रजस्तम-रहित, तपोज्ञानयुक्त, त्रिकालज्ञ, अमल और अव्याहत ज्ञान-संपन्न, आप्त, शिष्ट, परमज्ञानी ही ऋषि थे। उनका ज्ञान तथा उनके उपदेश निर्भ्रान्त थे।

ये ही ऋषिप्रवर वेद मंत्रों के द्रष्टा थे। इन्हीं के द्वारा, परम्परया सुरक्षित होकर, वेदमंत्र प्रकाश में आये। इसीलिये इन्हें कहीं-कहीं वेदमंत्रों का कर्ता भी कहा गया है। कुछ लोग इस प्रकार के 'मंत्रकृत' उल्लेखों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि वेदमंत्रों का निर्माण ऋषियों द्वारा हुआ और इसलिए वेदों को अनादि न मानना चाहिये। ऐसे लोग वेदमंत्रों के व्याख्या-ग्रन्थों में सम्यक्तया प्रतिपादित एवं व्याख्यात इस 'मंत्रकृत' शब्द के ज्ञान से अपरिचित हैं। उनका उद्देश्य एक नई बात कहकर अपना नयापन दिखाने के सिवा कुछ नहीं है। ऋषियों के साथ जो 'मंत्रकृत' शब्द का प्रयोग वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्र और यहां तक कि परवर्ती काव्यग्रंथों में भी वर्णित है उसका अर्थ 'मंत्रद्रष्टा' ही समझना चाहिए।

इन्हीं महाभाग, महाविभूति मंत्रसाक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने ही वेदमंत्रों का ज्ञान अर्जन कर दूसरे काल के असाक्षात्कृतधर्मा श्रुतर्षियों को उपदेश के द्वारा मंत्रों का बोध कराया। उपदेश ग्रहण करने में असमर्थ क्षीण शक्ति वाले दूसरे ज्ञानेच्छु लोगों के लिए विद्वानों ने निघंटु, वेद तथा वेदांगों को ग्रंथरूप में उपनिबद्ध किया।

प्रामाणिक वेदभाष्यकार सायण ने अपनी ऋग्वेद-भाष्य की उपक्रमणिका में और उव्वट तथा महीधर ने अपने शुक्ल यजुर्वेद-भाष्य के आरंभ में वेदों को ईश्वरकृत माना है। इस युग के प्रकांड वेदज्ञ विद्वान् पूज्यपाद स्वामी दयानंद ने अथर्ववेद (१०।२३।४।२०), यजुर्वेद (४०।८), मीमांसा दर्शन (१।१।१८), वैशेषिक दर्शन (१।१३), न्यायदर्शन (२।१।६७), योगदर्शन (१।१।२६), सांख्यदर्शन (५।५१) और वेदांतदर्शन (१।१।३) के आधार पर विस्तार से यह सिद्ध किया है कि वेद अनादि, अथच ईश्वरकृत हैं। जैसे ईश्वर का जन्म,

आयु तथा मृत्यु आदि के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, वैसे ही वेदों के अस्तित्व के बारे में भी कुछ नहीं बताया जा सकता।

वेदों के ऋषि : संकलनकार : संपादक

ऋग्वेद के कुछ मंत्र प्राचीन और कुछ उनके बाद के हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्रथम और दशम मंडल की तुलनात्मक समीक्षा करने पर ऋग्वेद के मंत्रों का पूर्वापर भेद स्पष्ट हो जाता है। फिर भी ऋग्वेद को प्राचीन मानने में किसी भी प्रकार का संदेह पैदा नहीं होता।

ऋग्वेद के निर्माताओं के संबंध में कहीं भी कुछ उल्लेख नहीं मिलता। कात्यायन मुनि की 'सर्वानुक्रमणी' से ऋग्वेद से संबद्ध कुछ ऋषियों का पता लगता है। अग्निदेव का स्तुतिविषयक ऋग्वेद का मंत्र मधुच्छन्दा का है, जिन्हें शतर्चिन् भी कहा जाता है। 'सर्वानुक्रमणी' के टीकाकार षड्गुरुशिष्य का भी यही कहना है कि प्रथम मंडल के १०२ मंत्रों से शतार्चियों का घनिष्ठ संबंध रहा है। द्वितीय मंडल से अष्टम मंडल तक जिन ऋषियों का उल्लेखनीय योग रहा है, उनके नाम हैं : गृत्समद, विश्वमित्र, गौतम, अत्रि, भरद्वाज, वशिष्ट और कण्व। इसी प्रकार नवम और दशम मंडलों में पांचाल देश के राजा सहदेव के पुत्र सोमक और भीष्म के चाचा देवापि के भी नाम मिलते हैं।

'सर्वानुक्रमणी' के रचयिता कात्यायन ने लिखा है कि 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' अर्थात् जिसका जो वाक्य है वही उसका ऋषि है। ऋग्वेद के दशम मंडल के कुछ ऋषियों के नाम हैं : कवय, अरुण वैताहव्य, सुदास पैजवन, मांधात्री यौवनाश्व, वत्सप्रि भालनंदन, ऊर्ध्वग्रावा आदि। इनके अतिरिक्त गृत्समद परिवार, प्रगाथ या कण्व परिवार, पवमान, क्षुद्रसूक्त और महासूक्त आदि ऋषियों का भी ऋग्वेद के मंडलों में नाम आता है। प्रायः यही नामावली आश्वलायन 'गृह्यसूत्र' के तर्पण अध्याय में उल्लिखित है।

वस्तुतः देखा जाय तो जितने भी ऋषि-महर्षियों के नाम हम वैदिक मंत्रों के साथ जुड़े हुए पाते हैं वे वैदिक मंत्रों के संकलनकार या वर्गयिता थे। यह संकलन कृष्णद्वैपायन व्यास के बहुत पहिले से लेकर पतंजलि और शौनक के समय तक होता गया। शाकल और वाष्कल के संस्करण भी शौनक के ही

समय तैयार हुए। इस दृष्टि से यह संभव ही था कि इतनी सुदीर्घ कालावधि में निरंतर जब ऋग्वेद के मंत्रों का संकलन-संस्करण होता गया तो उनकी भाषा में कुछ भिन्नता आ गई।

कृष्ण यजुर्वेद का कोई विवरण ग्रंथ नहीं है। ऋग्वेद की भांति इसमें ऋषियों का उल्लेख नहीं मिलता। कांडर्षियों के पूजे जाने का वर्णन कहीं-कहीं अवश्य है, जैसे प्राजापत्य, सौम्य, आग्नेय, वैश्वदेव, स्वायंवभु, आरुण, सांहिती देवता, वारुणी देवता और याज्ञिकी देवता। इन्हीं के नाम से कुछ काण्डों का नामकरण हुआ है।

अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर दिये गए मंत्रों में राष्ट्रीय भाव ओत-प्रोत है। राष्ट्रोन्नति के लिए देवताओं से की गई प्रार्थना का प्रसंग बहुत ही समाकर्षक है।

कृष्ण यजुर्वेद के मंत्रों की भाषा में कुछ नवीनता जान पड़ती है, विशेषतः गद्यभाग में। पद्य तो ऋग्वेद जितने प्राचीन हैं। इसके क्रमपाद और पदपाठ निर्मित करने वाले पहिले ऋषि हुए शाकल्य एवं गालव। पदपाठ के निर्माण में आत्रेय का भी हाथ रहा है।

शुक्ल यजुर्वेद पर कात्यायन ने एक 'सर्वानुक्रमणी' लिखी थी। शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम अध्याय का ऋषि प्रजापति को बताया जाता है। इसके अंतिम (ईशावास्योपनिषद्) अध्याय के ऋषि का नाम दध्यङ् आथर्वण था। इसके प्रथम २५ अध्याय प्राचीन और शेष उनकी अपेक्षा नवीन हैं।

अथर्ववेद के पहिले संकलनकर्ता पिप्पलाद थे। अथर्ववेद का एक नाम अथर्वांगिरस भी है। वैदिक युग में आंगिरसों को भयंकर ऐंद्रजालिक कहा जाता था (ऋ० १०।१०८।१०)। अथर्ववेद में भी इस आंगिरस शब्द का उल्लेख मिलता है (१०।७।२०); किन्तु उसी में एक स्थान पर अथर्व और आंगिरस, दो अलग-अलग ग्रन्थों का उल्लेख है (१९।५४।५)। संभवतः अथर्व भी कोई ऐंद्रजालिक रहे हों। अथर्ववेद में भृगु नामक ऋषि का भी उल्लेख मिलता है। 'महाभारत' में भृगु, आंगिरस, काश्यप और वाशिष्ठ, ब्राह्मणों के इन चार परिवारों का उल्लेख है। कुछ समीक्षकों का अभिमत है कि आथर्वण मध्य

एशिया के रहने वाले थे, क्योंकि 'जेंद अवेस्ता' में आथर्वण शब्द पुजारियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो ईरान में ऐंद्रजालिक विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। अथर्ववेदसंहिता का संकलन करते समय पिप्पलाद ने ऐंद्रजालिक मंत्रों का संग्रह किया था। कुछ दिनों बाद पिप्पलाद शाखा के नौ खंड हुए, जिनमें शौनक और पिप्पलाद (काश्मीरी) प्राप्त हैं।

सायणाचार्य ने शौनकसंहिता का भाष्य १४०० ई० में लिखा था। इसका संपादन एस० पी० पंडित ने १८९० ई० में किया। रॉथ, ह्विट्नी और ब्लूमफील्ड आदि ने भी शौनकीय शाखा का संपादन एवं प्रकाशन किया।

अथर्ववेद के कुछ प्रमुख ऋषियों के नाम हैं : कण्व, वादरायण, विश्वमित्र, कश्यप, कक्षीवान, पुरुनीध, अगस्त्य, जमदग्नि और वामदेव।

इस प्रकार विदित होता है कि वेदमंत्रों की सत्ता ईश्वर की सत्ता जितनी सनातन है, और ऋषियों ने उनका दर्शन कर, वर्षों के चिंतन-मनन द्वारा उन्हें संहिताओं में संमिलित संपादित किया तथा उस महान ज्ञानथाती को आगे की पीढ़ियों तक पहुँचाया।

उत्तर वैदिक युग

ब्राह्मण : आरण्यक : उपनिषद् : षड्वेदांग

ब्राह्मण-ग्रंथ

धर्म, हिन्दू-जाति का प्राण है। इस अजेय धर्म-भावना के बल पर ही हिन्दू-जाति ने अतीत के अनेक प्राणघातक संकटों को पार कर अपनी जीवन-रक्षा की। उसके ये धार्मिक विश्वास सनातन हैं। किसी भी काल और किसी भी परिस्थिति में हिन्दू जन-जीवन के ये विश्वास कम नहीं हुए, इतिहास इस सत्य का साक्षी है।

हिन्दू-धर्म अति उदार और व्यापक समन्वयवादी भावना का धर्म रहा है। कतिपय दूसरे धर्मों की भाँति हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत न तो संकीर्णतायें हैं और न संप्रदायजन्य भेद-भाव ही। यह दूसरी बात है कि कुछ स्वार्थी और संकीर्ण विचारों के लोगों ने अपने अनुरूप धर्म की परिभाषायें गढ़कर उसकी व्यापक भावना को समेट कर संकुचित कर देना चाहा, किन्तु उसका जो सनातन स्वरूप है उसमें व्यक्तियों द्वारा किया गया परिवर्तन और संशोधन उसकी मौलिकता को मिटा नहीं सकता। व्यापक हिन्दू-धर्म के प्रतिपादक सैकड़ों ग्रन्थों का अध्ययन कर उसकी वास्तविकता का पता लगाया जा सकता है।

हिंदू जाति की धार्मिक व्यवस्था के संबंध में जो सहस्रों नीति-नियम और विधि-व्यवस्थायें हैं, उनका विस्तार से निरूपण करनेवाले आदि ग्रंथ ब्राह्मण हैं। इस दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थ हिंदू-धर्म के आदि स्रोत और धर्म के अति प्राचीन व्याख्यान होने के कारण मानव जाति के पहले धर्म-ग्रन्थ भी हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेदों का समकक्ष और समकालीन कहा गया है।

संहितायें और ब्राह्मण दोनों वेद हैं

ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व और उनकी प्राचीनता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनको वैदिक संहिताओं की भांति वेद कहकर अभिहित किया गया है। वेद-भाष्यकार आपस्तम्ब ऋषि का कथन है कि मंत्र-संहितायें और ब्राह्मण-ग्रन्थ दोनों ही वेद हैं, क्योंकि मंत्र-संहितायें और ब्राह्मण-ग्रन्थ दोनों ही यज्ञ के प्रमाणरूप हैं : मंत्रब्राह्मणो यज्ञस्य प्रमाणम्।' आपस्तम्ब ऋषि के इस वाक्य से कि 'मंत्रब्रह्मणात्मको वेदः' वेद-मंत्रों की स्थिति ब्राह्मण-ग्रन्थों के विना कुछ भी नहीं रह जाती है, ब्राह्मण-ग्रन्थों की उपयोगिता की सिद्धि के लिए यथेष्ट जान पड़ता है।

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों दोनों को वेद शब्द से अभिधान करने वाले ग्रंथों में कतिपय सूत्र-ग्रंथों से लेकर मीमांसा-ग्रन्थ, वेदान्त-ग्रन्थ, वार्तिक-ग्रन्थ और स्मृति-ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इन सभी ग्रंथों में ब्राह्मण-ग्रन्थों को संहिताओं जितना प्रामाणिक माना गया है और उनको संहिताओं जितना संमान दिया गया है।

नामकरण का आधार

ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय यज्ञों का प्रतिपादन और उनकी विधियों की व्याख्या करना है : 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'। 'शतपथ-ब्राह्मण' में यज्ञ को प्रजापति और प्रजापति को ब्रह्म कहा गया है : 'एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यो प्रजापति'। ब्रह्म अर्थात् यज्ञ विषय-प्रतिपादक ग्रन्थ होने के कारण इनको 'ब्राह्मण' कहा गया। ऐसी भी एक मौखिक परम्परा है कि यज्ञ-यागादियों के विधान करने वाले एकमात्र ब्राह्मण पुरोहितों के निजी ग्रन्थ होने के कारण इनको 'ब्राह्मण' कहा गया।

महाशय आप्टे-कृत संस्कृत-अंग्रेजी-कोष में 'ब्राह्मण' शब्द का रचना-परक (न कि जातिविशेषपरक) अर्थ इस प्रकार है :

वेदों का वह भाग, जो विविध वैदिक यज्ञों के लिए वेदमन्त्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति एवं विवरणपूर्ण व्याख्या का कथन करता है तथा

जिसमें समय-समय पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं एवं कहानियों का समावेश रहता है, ब्राह्मण कहलाता है। प्रत्येक वेद के ब्राह्मण अलग-अलग होते हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय

विषय की दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रंथों के चार भाग हैं: विधि-भाग, अर्थवाद-भाग, उपनिषद्-भाग और आख्यान-भाग। विधि-भाग में मुख्यतः कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विधानों का वर्णन है। इसके साथ-साथ वेदमन्त्रों की अर्थ-मीमांसा और वैदिक शब्दों की निष्पत्ति भी प्रथम भाग का विषय है। दूसरे अर्थवाद-भाग में प्रोचनात्मक विषय वर्णित है। यज्ञ-विधियों को समझने के लिए अर्थवाद को समझने की आवश्यकता है। अर्थवाद, उन निर्देश-वाक्यों को कहते हैं, जिनमें यज्ञ के विधानों का उल्लेख है। जैसे अमुक यज्ञ करने से अमुक फल की प्राप्ति होती है, अमुक यज्ञ करने के लिये अमुक विधियों की आवश्यकता है, इत्यादि आज्ञायें अर्थवाद-भाग में वर्णित हैं। मीमांसाकार महर्षि जैमिनि ने अर्थवाद के प्रधान तीन भेद किये हैं: गुणवाद, अनुवाद, और भूतार्थानुवाद। भूतार्थानुवाद को पुनः सात भेदों में विभक्त किया है: स्तुत्यर्थवाद, फलार्थवाद, सिद्धार्थवाद, निरर्थवाद, परकृति, पुराकल्प और मंत्र। 'विहितकार्ये प्रोचना निषिद्धकार्ये निवर्त्तना-अर्थवादः' अर्थात् विधि का अनुकरण और निषेध की निन्दा करने वाले वाक्यों को 'अर्थनाद' कहा जाता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के तीसरे उपनिषद् भाग में ब्रह्मतत्त्व के विषय में विचार किया गया है। चौथे आख्यान भाग में प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्यवंशों और राजवंशों की कथायें वर्णित हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू जाति के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक जीवन के विकास की परंपरा का पता लगाने के लिए उनमें अनुसंधानोपयोगी पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री बिखरी हुई है।

ऋग्वेद-संहिता के ब्राह्मण

प्रत्येक वेद के अपने अलग-अलग ब्राह्मण-ग्रंथ हैं। ऐसा उल्लेख मिलता

है, कि ११३० वैदिक संहिताओं के उतने ही ब्राह्मण ग्रंथ भी थे, जिनमें संप्रति केवल १८ ही उपलब्ध हैं। ये अष्टादश ब्राह्मण गद्य में है।

ऋग्वेदसंहिता के दो ब्राह्मणग्रन्थ हैं: ऐतरेय और कौषीतकी। उपलब्ध 'ऐतरेय ब्राह्मण' में ४० अध्याय हैं, जो कि आठ पंचकों में विभक्त हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' को इतरा नामक एक शूद्रा दासी के पुत्र महीदास की रचना माना गया है। इस ब्राह्मण-ग्रन्थ के अन्तिम दस अध्यायों के साथ पूर्व के तीस अध्यायों का मिलान करने पर कुछ विद्वानों ने उनकी पारस्परिक भिन्नता के कारण उन्हें अनेक व्यक्तियों द्वारा निर्मित माना है। ये दस अध्याय ऐतिहासिक आख्यानों से भरपूर हैं। ऐतरेय के मुख्य देवता ३२ हैं, जिनमें इन्द्र को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण का रचनाकाल

'ऐतरेय ब्राह्मण' के रचनाकाल के संबंध में डॉ० जयसवाल का कथन है कि 'इस वैदिक ग्रंथ का रचनाकाल ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व के लगभग माना जाता है। उसके अंत में राजा परीक्षित के पुत्र राजा जनमेजय तक का उल्लेख है। उसमें दिए हुए उत्तर-कुरुओं के इतिहास से भी यही सूचित होता है कि उसका रचनाकाल बहुत प्राचीन है। परवर्ती वैदिक साहित्य में उत्तर-कुरु लोग पौराणिक कोटि में आ जाते हैं और उनका देश भी पौराणिक कोटि में चला जाता है; पर जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, ऐतरेय ब्राह्मण में उनका उल्लेख एक ऐतिहासिक समाज या जाति के रूप में है।'

'ऐतरेय ब्राह्मण' पर गोविंद स्वामी और सायणाचार्य के प्रामाणिक भाष्य हैं। सायण-भाष्य के संप्रति चार संपादित संस्करण मिलते हैं। मार्टिन हाग ने पहले-पहल १८६३ ई० में अंग्रेजी अनुवाद के साथ संपादन करके इसको प्रकाशित किया; दूसरे संस्करण का संपादन १८७९ ई० में थ्यूडोर आउफरेस्टन ने, तीसरा संस्करण १८९६ ई० में पंडित काशीनाथ शास्त्री ने और चौथा संस्करण ए० बी० कीथ ने संपादित किया।

ऋग्वेद-संहिता का दूसरा ब्राह्मण 'कौषीतकी' या शांखायन है। इसमें ३० अध्याय हैं और निर्विवाद रूप से इसको एक ही व्यक्ति की रचना माना गया

है। यज्ञ की श्रेष्ठता तथा शास्त्रीय व्याख्या का विस्तृत प्रतिपादन करना इसका विषय है। कुषीतक ऋषि के पुत्र कौषीतक इस ब्राह्मण के प्रमुख उपदेष्टा हैं। 'कौषीतकी ब्राह्मण' पर माधव के पुत्र विनायक पंडित का प्रामाणिक भाष्य है, जिसके संप्रति दो प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं। पहले संस्करण के संपादक लिंडनर महोदय और दूसरे संस्करण के कीथ हैं। क्रमशः १८८७ ई० और १९२० ई० में दोनों संस्करण प्रकाशित हुए।

ये दोनों ब्राह्मण-ग्रंथ समान धर्म-कर्मी और पारस्परिक घनिष्ठ संबंधी होने पर भी स्थान-स्थान पर विरोधी विचारों के प्रतिपादक हैं। एक बात तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों में यह विदित होती है कि कौषीतकी में विषय-प्रतिपादन करने की जो क्षमता विद्यमान है, ऐतरेय में वैसा नहीं दिखाई देता। इन दोनों में ऐतिहासिक, भौगोलिक और शैक्षणिक दृष्टि से उपयोगी शोधपूर्ण सामग्री विद्यमान है। इनके आख्यानों, अभियज्ञों, गाथाओं और कारिकाओं से विदित होता है कि किस मंत्र का, किस समय, किस विधि से आविर्भाव हुआ।

यजुर्वेद-संहिता के ब्राह्मण

यजुर्वेद की दो शाखाओं—कृष्ण और शुक्ल—का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। यजुर्वेद की संहिता, ब्राह्मण और अनुक्रमणिका में प्रायः कोई भेद नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी और काटक संहिताओं के ब्राह्मण एक प्रकार से उनके परिशिष्ट का अंश ही है। आपस्तंब और आत्रेय शाखा का ब्राह्मण-ग्रंथ स्वतंत्र रूप से प्रकाशित है। जिसका नाम 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' है। इस पर सायणाचार्य और भास्कराचार्य के प्रामाणिक भाष्य हैं। इसके पूना और कलकत्ता से क्रमशः १८९९ ई० तथा १८९० ई० में दो संस्करण निकल चुके हैं।

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के तीन भाग, २५ प्रपाठक और ३०८ अनुवादक हैं। इसमें मनुष्य-बलि अर्थात् पुरुषमेध, चतुर्वर्ण, चतुर्विध आश्रमों की व्यवस्था और उनके कर्तव्यों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व, दोनों शाखाओं के ब्राह्मण-ग्रंथों का नाम 'शतपथ' है। यह ब्राह्मण-ग्रंथ पूर्ण और क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित है।

इसमें सौ अध्याय हैं। इसलिए इसको 'शतपथ' अर्थात् सौ रास्तों वाला कहा गया है। इस ब्राह्मण में १४ कांड हैं, जिनमें प्रथम नौ कांड, एक प्रकार से, वाजसनेय संहिता के प्रथम १८ अध्यायों की टीका के रूप में हैं। प्रथम पाँच कांडों के और अंतिम चौदहवें कांड के रचयिता महर्षि शांडिल्य बताये जाते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के तीन प्रामाणिक भाष्य उपलब्ध हैं, जिनके निर्माता हैं : हरिस्वामी, सायण और कवींद्र सरस्वती। इन भाष्यों पर अनेक टीकायें भी लिखी गई हैं।

वेबर महोदय ने सायण-भाष्य, हरिस्वामी-भाष्य और गंगाचार्य-टीका के सहित १८५५ ई० में 'शतपथ ब्राह्मण' का एक सुसंपादित संस्करण प्रकाशित किया। श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने भी १९१२ ई० में केवल सायण-भाष्य-सहित एक प्रामाणिक संस्करण संपादित एवं प्रकाशित किया। 'शतपथ' के ३३ देवताओं का उल्लेख इस प्रकार है : ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ आकाश और १ पृथिवी।

शतपथ ब्राह्मण का ऐतिहासिक महत्त्व

'शतपथ ब्राह्मण' का बहुत बड़ा ऐतिहासिक मूल्य है। उसके एक मंत्र में इतिहास को कला के रूप में स्वीकार किया गया है। बृहदाकार की दृष्टि से जिस प्रकार वेदों में ऋग्वेद को सर्वाधिक विशालकाय माना गया है ठीक उसी प्रकार वैदिक साहित्य के समग्र ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'शतपथ' सबसे बड़ा है। इस ब्राह्मण-ग्रन्थ में बारह हजार ऋचाएँ, आठ हजार यजु और चार हजार समय हैं।

'महाभारत' के अनेक उपाख्यानों का मूल यही ब्राह्मण-ग्रंथ है। राम-कथा, कद्रू-सुपर्णा की युद्ध-कथा, पुरूरवा-उर्वशी का प्रेमाख्यान, अश्विनीकुमारों की कथा के अतिरिक्त और भी कतिपय ऐतिहासिक महत्त्व के प्राचीनतम उल्लेख इस ग्रन्थ में वर्णित हैं। संस्कृत-साहित्य के काव्य, नाटक और चंपू प्रभृति अनेकविध ग्रन्थों के निर्माण-सूत्र 'शतपथ' में विद्यमान हैं। एक विश्वकोश के समान संस्कृत-साहित्य के भावी विकास के लिए 'शतपथ-ब्राह्मण' का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है।

शतपथ ब्राह्मण का रचनाकाल

तिलक और पावगी महाराज 'शतपथ ब्राह्मण' को २५०० ई० पूर्व की रचना मानते हैं। किन्तु प्रसिद्ध ज्योतिर्वेत्ता श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षित की इस संबंध में दूसरी ही धारणा है। 'शतपथ-ब्राह्मण' में आये 'कृत्तिकाएँ पूर्व में उगती हैं' इस वाक्य (२।१।२।३) की विवेचना में दीक्षित की मान्यता है कि इस वाक्य का वह वर्तमानकालिक प्रयोग है, परन्तु अयनचलन के कारण उनका सर्वदा पूर्व में उगना असंभव है। वे आजकल उत्तर में उगती हैं। शकपूर्व ३१०० वर्ष के पहिले वे दक्षिण में उगती थीं। इससे यह सिद्ध होता है कि 'शतपथ ब्राह्मण' के जिस भाग में ये वाक्य आये हैं, उनका रचनाकाल शकपूर्व ३१०० वर्ष के आसपास है।

सामवेद-संहिता के ब्राह्मण

सामवेद की तीन संहिताएँ उपलब्ध हैं : कौथुमीय, जैमिनीय और राणायणीय। पहली कौथुमीय संहिता के ब्राह्मण-ग्रन्थ चालीस अध्यायों में विभक्त हैं। इन चालीस अध्यायों में विभाजित पाँच ब्राह्मणों के नाम हैं : पंचविंश-ब्राह्मण या ताण्ड्य-ब्राह्मण, षड्विंश-ब्राह्मण, अद्भुत-ब्राह्मण, मंत्र-ब्राह्मण और पाँचवाँ है छान्दोग्य-ब्राह्मण। प्रथम पच्चीस अध्यायों को 'पंचविंश-ब्राह्मण', इक्कीस से तीस तक के छः अध्यायों को 'षड्विंश-ब्राह्मण', तीसवें अध्याय के अन्तिम भाग को 'अद्भुत-ब्राह्मण', इक्कीस से बत्तीस तक के दो अध्यायों को 'मंत्र-ब्राह्मण' और अन्त के आठ अध्यायों को 'छांदोग्य-ब्राह्मण' कहते हैं। 'छान्दोग्य-ब्राह्मण' का एक अंश 'दैवत-ब्राह्मण' के नाम से भी प्रचलित है। 'छान्दोग्य-ब्राह्मण' ही 'छांदोग्य-उपनिषद्' भी है।

'पंचविंश-ब्राह्मण' का दूसरा नाम 'ताण्ड्य-ब्राह्मण' भी है। इसका यह दूसरा नामकरण इसलिए हुआ कि इसको ताण्डिनामक ऋषि के वंशजों एवं शिष्यों ने प्रचारित एवं प्रसारित किया था। सामवेद का मुख्य ब्राह्मण होने के कारण 'महाब्राह्मण' या 'प्रौढ-ब्राह्मण' के नाम से भी इसकी प्रसिद्धि है। इसकी प्रसिद्धि का एक कारण यह भी है कि इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपाख्यान और समाजशास्त्रविषयक सामग्री भरपूर है। सायणाचार्य इसके

प्रमुख भाष्यकार और हरिस्वामी प्रधान वृत्तिकार हुए। इसी प्रकार 'अद्भुत-ब्राह्मण' में भी शकुनशास्त्रविषयक अद्‌भुत बातें उल्लिखित हैं।

सामवेद की कौथुमीय संहिता के उक्त ब्राह्मण-ग्रंथों के अतिरिक्त जैमिनीय संहिता के भी दो ब्राह्मणग्रन्थ हैं, जिसके नाम हैं : जैमिनीय-ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण। इन दोनों ब्राह्मण-ग्रन्थों को क्रमशः 'आर्षेय-ब्राह्मण' और 'छान्दोग्य-ब्राह्मण' भी कहा जाता है। ये दोनों संप्रति प्रकाशित हैं। तीसरी राणायणीय-संहिता का कोई ब्राह्मण उपलब्ध नहीं है।

इन ब्राह्मणग्रन्थों की पूर्वापर गणना का उनके ऐतिहासिक क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'जैमिनीय-ब्राह्मण' 'पंचविंश ब्राह्मण' से प्राचीन माना जाता है। इसमें ऐतिहासिक महत्त्व की ऐसी अनेक धार्मिक एवं पौराणिक कथायें वर्णित हैं, जिनमें संस्कृत के कथा-साहित्य की प्राचीनतम परम्परा का आरम्भ खोजा जा सकता है। खेद का विषय है कि यह पूर्ण एवं प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं है। इसके कुछ अंश ही सम्पादित हुए हैं।

सामवेद के प्रकाशित ब्राह्मण

सामवेद के ब्राह्मण आठ भागों में प्रकाशित हुये हैं। सभी पर सायण का प्रामाणिक भाष्य है। १८७४ ई० में सायण भाष्य के साहित ए० सी० वेदांत वागीश ने 'ताण्ड्य-ब्राह्मण' या 'पंचविंश-ब्राह्मण' को कलकत्ता से दो जिल्दों में प्रकाशित करवाया। 'षड्विंश' को के० क्लेम ने और एच० एस० एल्सिंग ने क्रमशः १८९४ तथा १९०८ में प्रकाशित करवाया। १८९० में 'मन्त्रब्राह्मण' को सत्यव्रत सामश्रमी ने प्रकाशित करवाया। १८५८ में 'अद्भुतब्राह्मण' को वेबर ने बर्लिन से प्रकाशित करवाया। १८८९ में 'छांदोग्योपनिषद् ब्राह्मण' को ओ० वोटलिंग ने छपवाया। 'दैवत ब्राह्मण' को १८७३ में कर्नेल ने और दूसरा संस्करण सत्यव्रत सामश्रमी ने निकलवाया। कर्नेल ने १८७६ में 'आर्षेय-ब्राह्मण' को भी छपवाया। 'आर्षेय' को कैलेण्ड ने भी छपवाया। 'वंश-ब्राह्मण' को बँगला अनुवाद के सहित सामश्रमी जी ने तथा उसी का दूसरा संस्करण वेबर ने और तीसरा संस्करण १८७३ में बर्नेल ने छपवाया। 'संहितोपनिषद्' को १८७७ में बर्नेल ने तथा 'साम-विधान-ब्राह्मण' को १८७३ में सायणभाष्य-

सहित बर्नेल ने प्रकाशित करवाया। कोनो ने भी १८९३ में इसका एक संस्करण निकाला। १८९६ में इसी का एक भारतीय (?) संस्करण भी निकला।

बर्नेल ने १८७८ में 'जैमिनीय-आर्षेय-ब्राह्मण' को और १९२१ में एच० एर्टल ने 'जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण' को प्रकाशित करवाया 'जैमिनीय-आर्षेय-ब्राह्मण' का एक डच भाषा का संस्करण भी कैलेण्ड ने छपवाया।

अथर्ववेद-संहिता का ब्राह्मण

अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं : पैप्पलाद, स्तौदा, मौजा, शौनकीया, जालला, जलदा, ब्रह्मवदा, देवदर्शा और चारणवैद्या। अथर्ववेद-संहिता के ब्राह्मण-ग्रन्थ का नाम 'गोपथ-ब्राह्मण' है। इसमें दो काण्ड या खण्ड हैं, जो ग्यारह अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम काण्ड में पांच अध्याय और दूसरे काण्ड में छः अध्याय हैं। अध्यायों को प्रपाठक भी कहा गया है। वस्तुतः 'गोपथ ब्राह्मण' वेदान्त श्रेणी का ग्रन्थ है। उसमें कुछ अंश तो 'शतपथ' तथा 'ताण्डय' से उद्धृत है और कुछ अंश बहुत बाद के रचे हुए जोड़े गये हैं।

ब्राह्मण-ग्रंथों का उपयोगिता

इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में जहाँ एक ओर सांसारिक क्रिया-कलाओं का वर्णन है, वहाँ दूसरी ओर आध्यात्मिक विषय का भी गम्भीर चिन्तन है। वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन की ओर विद्वानों की अतिशय अभिरुचि उनकी उपयोगिता का परिचायक है। विशेष रूप से विदेशी विद्वानों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों के परिशीलन पर बड़ा श्रम किया है। प्रायः सभी ब्राह्मण-ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का श्रेय विदेशी विद्वानों को ही है। इस कार्य के लिए भारत सदा उनका कृतज्ञ रहेगा।

कुछ विद्वान् यद्यपि ब्राह्मण-युग को वैदिक युग की सुकोमल भावना की जगह कट्टरपंथी धर्म की स्थापना का युग मानते हैं; किन्तु यज्ञ, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि मानवोपयोगी महनीय विशेषताओं के विश्वास की बातें भारतीय जीवन में ब्राह्मण-युग से ही आरम्भ हुई हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ को सर्वोपरि कर्म कहा गया है : 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'; और साथ ही यह भी उनमें वर्णित है कि यज्ञ करने से मनुष्य सब पापों से विमुक्त हो जाता है : 'सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति।' यज्ञ करने से वैयक्तिक आत्मोद्धार के अतिरिक्त सामाजिक कल्याण भी होता है, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही कहा गया है कि यज्ञ करने से सम्पूर्ण प्रजा का कल्याण होता है। यज्ञ में दी गई हवि वायु के द्वारा अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर सूर्य तक पहुँचती है और मेघों के साथ मिश्रित होकर वर्षा के रूप में पृथिवी को अभिषिक्त करती है। वर्षा से अन्न की उपलब्धि होती है और धन-धान्य-सम्पन्न होकर प्रजा सुखपूर्वक जीवन-यापन करती है। हवि से देवगण प्रसन्न होते हैं और वे प्रजा का कल्याण करते हैं। यज्ञ करने से ऐहिक विपत्तियाँ तो विनष्ट हो ही जाती हैं, मनुष्य जन्म-मरण के असाध्य कष्ट से भी मुक्त हो जाता है।

ब्राह्मणग्रन्थों के उक्त विधान वैज्ञानिक दृष्टि से कितने महत्त्व के हैं! ब्राह्मण-ग्रन्थकारों की यह वैज्ञानिक दृष्टि, कि हवि अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर वर्षा के रूप में फिर धरती के अन्न-जल की वृद्धि करती हैं, बहुत ही सूक्ष्म, सन्तुलित एवं अनुभूत दृष्टि है।

ब्राह्मणग्रन्थों में सत्य की महिमा पर बड़ा बल दिया गया है। उनमें स्पष्ट रूप से निर्देश किया गया है कि जो असत्य बोलता है वह अपनी पवित्रता का हनन कर अपना ही अनिष्ट करता है। ब्राह्मणग्रन्थों के इन लोकोपकारी विचारों एवं उच्चतम सिद्धान्तों की छाया में तथागत भगवान् बुद्ध ने अपनी वाणी से प्रयोगात्मक परीक्षण किया। सत्य को यहाँ साक्षात् वेदस्वरूप कहा गया है। इसलिए ब्राह्मणग्रन्थ आर्य जाति के प्राण-सर्वस्व के रूप में पूजे जाते रहे हैं। उनमें भारत का प्राचीनतम ज्ञान-विज्ञान एक साथ समाविष्ट है। उसकी सम्पूर्ण संस्कृति और उसके व्यापक साहित्य के सूत्र भी उसमें सुरक्षित हैं।

आरण्यक-ग्रंथ

वैदिक साहित्य के प्रपूरक अंग संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हैं। इस दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रंथों के बाद आरण्यक-ग्रंथों का स्थान आता है। संहिताओं का अंतिम भाग ब्राह्मण, ब्राह्मणों का अंतिम भाग आरण्यक और आरण्यकों का अंतिम भाग उपनिषद् हैं। 'बोधायन-धर्मसूत्र' में तो आरण्यकों को भी ब्राह्मण कहा गया है। वस्तुतः कर्मकांडविषयक ग्रंथ होने के कारण ब्राह्मणों और आरण्यकों में विशेष अंतर नहीं है।

मंत्र-संहिताओं और ब्राह्मणों की ही भाँति आरण्यक-ग्रंथों की भी संख्या ११३० थी, किंतु जिस प्रकार संहिताएँ और ब्राह्मण कुछ ही उपलब्ध हैं, उसी प्रकार आरण्यक भी केवल आठ ही प्राप्य हैं; जिनके नाम हैं : ऐतरेय आरण्यक, शांखायन आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक, बृहदारण्यक, माध्यन्दिन-बृहदारण्यक, काण्व-बृहदारण्यक, जैमिनीयोपनिषदारण्यक और छांदोग्यारण्यक।

नामकरण

'आरण्यक' नाम को देखते हुए सामान्यतया विदित हो जाता है कि अरण्यों में विरचित होने के कारण इनका ऐसा नामकरण हुआ है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने आरण्यक-ग्रंथों के नामकरण के संबंध में स्पष्ट किया है कि अरण्यों अर्थात् वनों में पढ़ाए जाने के कारण इनका नाम 'आरण्यक' पड़ा : 'अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।' वनवासी वानप्रस्थियों के यज्ञ-यागादि विधानों को संपन्न करनेवाले ग्रंथ ही आरण्यकों के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सदाशिव वामन आप्टे ने अपने सुप्रसिद्ध 'संस्कृत-अंग्रेजी-कोश' में 'आरण्यक' शब्द की व्याकरण-संमत व्याख्या करके स्पष्ट किया है कि 'आरण्यक-ग्रन्थ एक प्रकार से धार्मिक एवं दार्शनिक लेख हैं, जो कि ब्राह्मणों से संबंधित हैं, जिनका निर्माण या तो अरण्यों (वनों) में हुआ या तो वनों में पढ़ाए जाने के लिए वे निर्मित हुए। जैसे ऐतरेय आरण्यक, बृहदारण्यक और तैत्तिरीय आरण्यक आदि ग्रन्थों के अध्ययन, नाम और विषय से विदित होता है। अरण्य शब्द में 'भव' अर्थ में वुञ् प्रत्यय जोड़ देने से 'आरण्यक' शब्द व्युत्पन्न होता है'।

आरण्यक-ग्रंथों का विषय

आरण्यक अर्थात् अरण्यों में उद्भूत सांसारिक विषय-वासनाओं एवं नानाविध बाधा बंधनों का परित्याग कर और शांत, एकांत, जनकोलाहल से दूर वनों में रहकर ऋषिश्रेष्ठों ने जिस ब्रह्मविद्याविषयक महान् ज्ञान का साक्षात्कार किया था, उसी का संग्रह आरण्यक ग्रन्थों में परिपूरित है।

जिस प्रकार गृहस्थाश्रम के यज्ञ-विधानों और दूसरे कतिपय कर्मों का प्रतिपादन ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित है, उसी प्रकार वानप्रस्थाश्रम के जितने भी यज्ञ, महाव्रत तथा हौत्र आदि कर्म हैं उनकी विधियाँ और व्याख्याएँ आरण्यक ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। आरण्यक, वानप्रस्थियों के कर्मकांड-ग्रन्थ तो हैं ही, साथ ही उनमें यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या का प्रतिपादन भी बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। उनमें कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग, दोनों का समन्वय है। उपनिषद्-ग्रन्थों में जिस विस्तृत ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन है, उसका मूलाधार ये आरण्यक-ग्रन्थ ही हैं।

ऐतरेय और कौषीतकी दोनों के आरण्यक-ग्रन्थों के प्रथम भाष्यकार सायण और दूसरे शंकर हुए। शांकर भाष्य के सुप्रसिद्ध टीकाकारों में आनंदज्ञान, आनंदगिरि, आनंदतीर्थ, अभिनव नारायण, नारायणेन्द्र सरस्वती, नृसिंहाचार्य और कृष्णदास के नाम उल्लेखनीय हैं। काण्व शाखा के 'बृहदारण्यक' पर रंग रामानुज, सायण और शंकर ने प्रामाणिक भाष्य लिखे। शांकरभाष्य के प्रमुख टीकाकारों में हुए आनंदतीर्थ, रघूत्तम और व्यासतीर्थ। इस

आरण्यक-ग्रन्थ पर लिखी गई सुप्रसिद्ध वृत्तियों में गंगाधर की 'दीपिका', नित्यानंदाश्रम की 'मिताक्षरा', मथुरानाथ की 'लघु' और राघवेन्द्र की 'खंडाग्र' उल्लेखनीय हैं। यजुर्वेद की आपस्तम्ब और आत्रेय शाखा के ब्राह्मणग्रन्थ में 'तैत्तिरीय' का उल्लेख यथास्थान हो चुका है। इसी ब्राह्मणग्रन्थ का शेष अंश 'तैत्तिरीय-आरण्यक' है। इस पर भी सायण, भास्कर मिश्र और वरदराज के प्रामाणिक भाष्य हैं।

उपनिषत्-साहित्य

भारतीय विचार-परंपरा के इतिहास में उपनिषद्-ग्रन्थों के आविर्भाव से वैदिक साहित्य में एक सर्वथा नये युग का सूत्रपात होता है। ब्राह्मण-ग्रंथों से लेकर उपनिषद् ग्रंथों तक संपूर्ण वैदिक साहित्य मंत्र-संहिताओं का ही व्याख्यारूप है। मंत्र-संहिताओं की व्याख्या का एक ही आधार लेकर चलने वाले ब्राह्मण-ग्रंथ और उपनिषद्-ग्रंथ वस्तुतः एक दूसरे से पूर्व-पश्चिम जितनी असमानता रखते हैं। यद्यपि उपनिषद्-ग्रंथों का सीधा संबंध मंत्र-संहिताओं से है, किन्तु उन्हें ब्राह्मण-साहित्य का आलोचना-ग्रंथ कहा जाय तो अनुचित न होगा।

उपनिषद्, वैदिक-भावना के विकासरूप हैं। कर्म और ज्ञान दोनों की उद्भावना वेदों में वर्णित है। कर्म-भावना को लेकर ब्राह्मणों की रचना हुई और ज्ञान-भावना को लेकर उपनिषद् रचे गये। कर्म-प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थों का विधान जब पशु-हिंसा जैसे स्थूल कार्यों तक पहुँच गया तब उस समय के विचारवन्त मनीषियों ने कर्मकाण्ड की इस स्थूलता के प्रति अविश्वास की भावनायें व्यक्त कीं। उन्होंने पुरोहितों द्वारा प्रतिपादित इन भोगवादी, नितान्त-स्वार्थपूर्ण कर्मों को हेय कहकर पुकारा। कर्मकाण्ड के इस हेय पक्ष के विरोध में ज्ञानकाण्ड का जन्म हुआ, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् कहलाये। उपनिषद्-ज्ञान के आविर्भाव के कारण भारतीय साहित्य में इतना महान् परिवर्तन हुआ कि उसकी कायापलट हो गई। यह उपनिषद्-युग भारतीय विचारधारा की पराकाष्ठा का युग रहा है। इस युग में नये अन्वेषण, नई मान्यतायें और नये चिन्तन हुए। जीवन, जगत् और ब्रह्म-विषयक जिन गूढ़ ग्रन्थियों का समाधान एवं महती जिज्ञासाओं का स्पष्टीकरण इस युग में हुआ वैसा संसार के इतिहास में आजतक नहीं दिखाई देता।

यद्यपि उपनिषद् भी वेद-वचनों को ही संबल रखकर आगे बढ़े, तथापि वेदों और उपनिषदों में जीवन की शाश्वत मान्यताओं के प्रति अपने-अपने ढंग से विचार किया गया है। वैदिक युग आनन्द और उल्लास का युग रहा है। इसीलिए आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद की चिन्तनायें न तो वेदों में वर्णित हैं और न ही उन पर विचार करने की अपेक्षा वैदिक ऋषियों ने आवश्यक समझी। आत्मा और शरीर की पृथक्ता का विचार वेदों में अवश्य है, किन्तु आत्मा का आवागमन उनमें नहीं बताया गया है। यह विषय उपनिषद्-ग्रन्थों के आविर्भाव के बाद उठाया गया और इस पर भरपूर प्रकाश भी उपनिषद्-ग्रंथों में ही डाला गया। इस दृष्टि से वेद और उपनिषद् परस्पर सर्वथा विरोधी सिद्धान्तों को मानने वाले सिद्ध होते हैं। वेदों के आनंदमय और प्रेममय जीवन में निरानंद और उदासी का वातावरण तथा वेदों के निश्चित और स्वच्छन्द जीवन में चिन्ता और भय का उदय उपनिषद्-ग्रन्थों की अवतारणा के बाद आरंभ होता है। जन्म, मरण, संन्यास और वैराग्य की भावनाओं का सूत्रपात उपनिषद्-ग्रन्थों से शुरू होता है।

वैदिक साहित्य के विधायक संहितायें, ब्राह्मण और उपनिषद्, इन तीनों विषयों के मूल में हमें उनकी सर्वथा असमान प्रवृत्तियों का आभास मिलता है। संहिताओं के प्रमुख उद्देश्य की सीमाओं में न तो ब्राह्मण-ग्रन्थ ही रहे और न उपनिषद् ही। इसी प्रकार एक ही मूल उद्गम से उद्भूत ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषद्-ग्रन्थों की दो विचारधाराएँ भी सर्वथा विरोधी मार्ग की अनुगामिनी रही हैं। उदाहरण के लिए 'मंत्र का नाम पहिले ब्रह्म था। पीछे ब्रह्मा उसे कहने लगे, जो वेदी के समीप बिठाया जाता था। और भी पीछे चलकर ब्रह्म सृष्टि के अध्यक्ष का वाचक हो गया'।

धर्म की जिस व्यापक भावना को लेकर वैदिक संहितायें चलीं, ब्राह्मण-ग्रंथों ने उसको एकांगी, संकुचित और सर्वथा व्यक्तिगत रूप दे दिया। कर्मकाण्डप्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थों ने धर्म के जिस स्थूल पक्ष का प्रतिपादन किया, उसके सर्वथा विपरीत ज्ञानकाण्डप्रधान उपनिषद्-ग्रंथों ने धर्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप पर विचार किया। धर्म-मीमांसा के संबंध में दोनों युगों का अलग-

अलग दृष्टिकोण रहा है। ब्राह्मण-काल वैदिक धर्म की अवनति का समय और उपनिषद्-काल वैदिक धर्म की चरमोन्नति का समय रहा है।

उपनिषद्-युग विचार-क्रांति का संघर्षमय युग रहा है। वेदों के उन्मुक्त एवं भावनाप्रधान ऋषियों को उपनिषद्-युग में हम गंभीर चिन्तन और एकाग्र मनन में लगे हुए पाते हैं। उपनिषद्-युग की इस विचारधारा और भारत की तत्कालीन बौद्धिक क्रांति के संबंध में दिनकरजी का कथन है कि 'उतने प्राचीनकाल में, ऐसा प्रचण्ड चिन्तन! सोचकर हृदय निस्तब्ध रह जाता है।' इस प्रचण्ड चिन्तन की अनेक विधियों का विकास आगे चलकर षड्-दर्शनों में दिखाई देता है। उपनिषद्-ग्रन्थों के ही ज्ञान-सूत्रों की व्याख्या दर्शन-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय है। शंकर, मध्व और रामानुज का क्रमशः अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत उपनिषद्-ज्ञान के ही विभिन्न पक्ष हैं, जिनसे कि दर्शनों का जन्म हुआ।

वेद, ब्राह्मण और उपनिषद्, इन तीनों विषयों की शैली, सरणि और उद्देश्य का वैज्ञानिक अध्ययन करने के पश्चात् हमें विदित होता है कि 'वेदों के कर्ता कवि थे, ब्राह्मणों के पुरोहित और उपनिषदों के रहस्यवादी संत।'

व्युत्पत्ति

बृहद् वैदिक साहित्य में आरण्यक-ग्रन्थों के बाद उपनिषद्-ग्रन्थों का क्रम आता है और यहीं पर वैदिक साहित्य की सीमा टूट कर अलग हो जाती है। उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग होने के कारण 'वेदान्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपनिषद्-ग्रन्थों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।

वेदान्त-दर्शन के तीन प्रस्थान हैं: उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र। उपनिषद् श्रवणात्मक, गीता निदिध्यासनात्मक और ब्रह्मसूत्र मननात्मक हैं।

उप + नि, इन दो उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय जोड़

देने के बाद 'उपनिषद्' शब्द व्युत्पन्न होता है। 'सद्' धातु अनेकार्थक है। विशरण (विनाश), गति (ज्ञान, प्राप्ति) और अवसान (शिथिल, समाप्ति) उसके कई अर्थ हैं। इन सभी अर्थों की संगति 'उपनिषद्' शब्द के साथ बैठ जाती है। इस दृष्टि से 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ हुआ जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करनेवाले सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती है, जिससे संसार की कारणभूत अविद्या के बंधन शिथिल पड़ जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं और जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, वही उपनिषद् विद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। 'उपनिषदिति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकरणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म] च गमयति— इति उपनिषद्।'

अथवा उप (व्यवधान-रहित) नि (सम्पूर्ण) षद् (ज्ञान) के प्रतिपादक ही उपनिषद् हैं अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान, जो ज्ञेय से अभिन्न, देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित परिपूर्ण ब्रह्म ही उपनिषद् शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है। क्योंकि ज्ञान स्वतःप्रमाण, स्वयंप्रकाश, देशकालावधिपरिच्छेदरहित, विषयपरिच्छेदरहित, कर्तृत्व-ज्ञेयत्व-भेदातीत, हेतुफलात्मक, शून्य, अबाध्य, अनिर्वचनीय है; अतएव ऐसे ज्ञान के प्रतिपादक 'उपनिषद्' भी तद्वद्विशिष्ट हैं। आप्टे महोदय कृत 'संस्कृत-अंग्रेजी-कोष' में उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। आप्टे साहब के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द स्त्रीलिंग है। उसकी व्युत्पत्ति उप + नि + पूर्वक सद् (बैठना) धातु से हुई है। इसका अर्थ वह ज्ञान है जो गुरु के चरणों के समीप बैठकर प्राप्त किया जाता है; किन्तु भारत के अधिकारी विद्वानों के मतानुसार उपनिषद् का निर्वचन इससे कुछ भिन्न, ब्रह्मज्ञान के उपदेश के द्वारा अविद्या का नाश कर सांसारिक जीवनरूपी बंधन का उच्छेद करना है। शंकराचार्य के मतानुसार आत्मविस्मृतिपूर्वक श्रद्धा और भक्ति के साथ जो लोग ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं, उनके गर्भवास, जन्म-मरण, बुढ़ापा और रोग आदि अनर्थों का जो नाश करती है तथा ज्ञेय ब्रह्म को प्राप्त करती हुई, उनकी अविद्या आदि को जो संसार के कारण हैं, समूल नष्ट करती है, वह, उप + नि + पूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ स्मरण होने से उपनिषद् है।

प्रमुख उपनिषद्

प्रमुख उपनिषद् बारह हैं, जिनके नाम हैं : ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकी और श्वेताश्वतर। इन सभी पर शंकराचार्य का प्रामाणिक भाष्य है। बाद में शांकरमतानुयायियों ने भी उन पर टीकायें लिखी हैं। शंकराचार्य के अतिरिक्त रामानुज, निंबार्क, वल्लभ, मध्व, आदि जितने भी सम्प्रदाय-प्रवर्तक शीर्षस्थ आचार्य हुए हैं, उन सभी ने तथा उनके सम्प्रदाय-अनुवर्ती विद्वानों ने उक्त द्वादश उपनिषद्-ग्रन्थों पर भाष्य और टीकायें लिखीं। इन बारह उपनिषद्-ग्रन्थों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. ईशावास्य

शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के अन्तिम चालीसवें अध्याय का नाम 'ईशावास्योपनिषद्' है। 'केनोपनिषद्' की तरह इस उपनिषद्-ग्रन्थ का नामकरण भी 'ईशावास्यम्' इस आरम्भिक पंक्ति से हुआ है। ब्रह्मविद्या पर संक्षिप्त रूप में बड़ी प्रभावशाली भाषा में प्रकाश डालनेवाला इसके समान दूसरा उपनिषद्-ग्रन्थ नहीं है। इसीलिए समग्र उपनिषद्-साहित्य में इसको प्रमुख स्थान प्राप्त है।

२. केनोपनिषद्

सामवेद की जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थ के नवम अध्याय को 'केनोपनिषद्' कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी है। यह उपनिषद् 'केन' शब्द से आरम्भ होने के कारण कदाचित् इस नाम से प्रसिद्ध हुआ—'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः'। जैमिनीय ब्राह्मण के प्रथम आठ अध्यायों में अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म एवं उपासना पर बल दिया गया है और उसके बाद नवम अध्याय अर्थात् 'केनोपनिषद्' में ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन है। 'केनोपनिषद्' के प्रतिपाद्य विषय का निष्कर्ष है कि जो भी ब्रह्मतत्त्व को जान लेता है वह सांसारिक समस्त पापों से विमुक्त होकर मोक्षत्व को प्राप्त हो जाता है।

३. कठोपनिषद्

यह उपनिषद् कृष्ण-यजुर्वेद की कठ-शाखा का अंश है। इसमें दो अध्याय और छह वल्लियाँ हैं। इसके विषय का आरम्भ उद्दालक ऋषि के विश्वजित्-यज्ञ की कथा से होता है। ब्राह्मण अतिथि नचिकेता द्वारा यमराज से प्रार्थित तीन वरों का इस उपनिषद्-ग्रंथ में बड़ी मार्मिकता से वर्णन किया गया है। नचिकेता ने तीसरा वर ब्रह्मविद्या का मांगा था। यमराज के द्वारा नचिकेता को प्रदत्त ब्रह्मविद्या का उपदेश ही इसका प्रतिपाद्य विषय है।

४. प्रश्नोपनिषद्

अथर्ववेद की पिप्पलाद संहिता के ब्राह्मण-ग्रंथ के एक भाग का नाम 'प्रश्नोपनिषद्' है। पिप्पलाद-संहिता के ब्राह्मण और आरण्यक सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। इस उपनिषद्-ग्रंथ में पिप्पलाद नामक ऋषि द्वारा भारद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यवान्, कोशलवासी आश्वलायन, विदर्भवासी भार्गव, कात्यायन और कबन्धी नामक छः ऋषियों के ब्रह्मविद्याविषयक पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इसी प्रश्नोत्तर के कारण इसका नामकरण 'प्रश्नोपनिषद्' हुआ। यह ग्रंथ गद्यप्रधान है। सारे प्रश्नों का विषय ब्रह्मतत्त्व की जिज्ञासा से सम्बन्धित है।

५. मुण्डकोपनिषद्

यह उपनिषद्-ग्रंथ अथर्ववेद की शौनक संहिता से उद्धृत है। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन मुण्डकों में और प्रत्येक मुण्डक दो-दो खण्डों में विभाजित है। सृष्टि की उत्पत्ति और ब्रह्मतत्त्व का चिन्तन ही इसका विषय है।

६. माण्डूक्योपनिषद्

अथर्ववेद से सम्बन्धित यह एक लघु ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर बारह मन्त्र संगृहीत हैं। इसमें ओंकार के त्रिकालव्यापी महत्त्व के प्रतिपादन के अनन्तर उसकी उपलब्धि का विषय वर्णित है।

७. तैत्तिरीयोपनिषद्

कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मण-ग्रन्थ के अन्तिम भाग को

'तैत्तिरीय आरण्यक' कहते हैं। इस आरण्यक में दस प्रपाठक हैं, जिनमें सात से लेकर नौ तक के प्रपाठकों को 'तैत्तिरीय उपनिषद्' भी कहा जाता है। इन तीनों प्रपाठकों को क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली कहा जाता है। प्रथम शिक्षावल्ली में ओंकार-माहात्म्य के साथ-साथ धार्मिक विधानों का वर्णन, द्वितीय वल्ली में ब्रह्मतत्त्व का विवेचन और तृतीय वल्ली में वरुण द्वारा अपने पुत्र को उपदेश देना वर्णित है।

८. ऐतरेयोपनिषद्

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम भाग को 'ऐतरेय आरण्यक' कहा जाता है। 'ऐतरेय आरण्यक' के पांच भाग हैं जिन्हें पांच आरण्यक कहा जाता है। द्वितीय आरण्यक के चौथे से छठे, तीन अध्यायों को 'ऐतरेय उपनिषद्' कहा जाता है। इसके इन तीन अध्यायों में क्रमशः सृष्टि, जीव और ब्रह्म, इन तीन तत्त्वों का विवेचन है।

९. छान्दोग्य उपनिषद्

सामवेद की कौथुम शाखा के तीन ब्राह्मण-ग्रन्थों के नाम हैं: तांड्य, षड्विंश और मन्त्र। इनका पर्यवसान ३२ अध्यायों में है। कौथुम संहिता के ब्राह्मण-ग्रन्थ में कुल ४० अध्याय हैं। बाकी जो आठ अध्याय बचते हैं उन्हीं का नाम 'छान्दोग्य उपनिषद्' है। कौथुम ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायों को 'छान्दोग्य ब्राह्मण' भी कहते हैं। इसी ब्राह्मण-ग्रन्थ का नामान्तर 'छान्दोग्य उपनिषद्' हुआ—यद्यपि इसमें अन्त के कुल आठ ही अध्याय सम्मिलित हैं। यह उपनिषद्-ग्रन्थ बृहदाकार है।

१०. बृहदारण्यकोपनिषद्

शुक्ल-यजुर्वेद की दोनों शाखाओं के ब्राह्मण-ग्रन्थों का नाम 'शतपथ' है। इन दोनों ब्राह्मणों के अन्तिम छह अध्यायों को 'बृहदारण्यक' कहते हैं। यही 'बृहदारण्यकोपनिषद्' है। इसके नाम से ही प्रकट होता है कि इसमें ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों मिले-जुले हैं। आरण्यक भाग से उपनिषद् भाग अधिक है। 'बृहत्' शब्द उसके आकार को व्यक्त करता है। यह ग्रन्थ उपनिषद्-

११. कौषीतकी उपनिषद्

ग्रन्थों में आकार की दृष्टि से सबसे बड़ा है। इसमें सृष्टि और ब्रह्म पर विचार किया गया है।

यह उपनिषद्-ग्रन्थ सबसे प्राचीन है। ऋग्वेद के 'कौषीतकी ब्राह्मण' का एक भाग आरण्यक कहा जाता है, जिसमें पन्द्रह अध्याय हैं। इसी आरण्यक के तीसरे और छठे अध्याय को 'कौषीतकी उपनिषद्' कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद्' भी है; क्योंकि कुषीतक नामक ऋषि इसके उपदेष्टा हुए। बृहदारण्यक और छान्दोग्य के बाद आकार की दृष्टि से इसका स्थान है।

१२. श्वेताश्वतरोपनिषद्

कृष्ण-यजुर्वेद के 'श्वेताश्वतर-ब्राह्मण' का एक भाग 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' है। यह ब्राह्मण-ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध नहीं है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में छह अध्याय हैं। इसमें ब्रह्मविद्याविषयक गंभीर बातों को जिस सरल, सुंदर तरीके और कवित्वपूर्ण भाषा में समझाया गया है, वैसा दूसरे उपनिषदों में नहीं है।

उपनिषद्-ग्रन्थों की वास्तविक संख्या

इन बारह प्रमुख उपनिषद्-ग्रंथों के अतिरिक्त भी बहुत सारे उपनिषद् हैं जिनकी ठीक संख्या की परिगणना अभी तक नहीं हो पाई है। 'मुक्तिकोपनिषद्' में १०८ उपनिषद्-ग्रन्थों का नाम उल्लिखित है जो कि सभी गुटकाकार रूप में निर्णयसागर प्रेस बंबई से प्रकाशित हैं। अड्यार लाइब्रेरी मद्रास से भी एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है, जिसके कई भाग हैं। इन भागों में लगभग १७९ उपनिषद् आये हैं। आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर से भी प्रमुख ग्यारह उपनिषद् प्रकाशित हुए हैं। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से प्रकाशित 'उपनिषद्-वाक्य-महाकोश' में २२३ उपनिषद्-ग्रन्थों की नामावली है। 'उपनिषत्स्तुति' और 'देव्युपनिषद्' को छोड़कर बाकी २२१ ग्रन्थों के वाक्यांशों को उक्त महाकोश में उद्धृत किया गया है।

मूल उपनिषद् कितने थे, इसका ठीक पता नहीं चलता। वेदांत के

प्रमुख भाष्यकार शंकर, वाचस्पति मिश्र (नवम शताब्दी), रामानुज (द्वादश शताब्दी) तक उपनिषद्-ग्रन्थों की संख्या लगभग ३० तक थी, जिनकी प्रसिद्धि वेद-शाखाओं के नाम से थी। सुप्रसिद्ध दीपिकाकार शंकरानंद और नारायण के समय (१२–१४वीं शताब्दी) तक यह संख्या लगभग दुगुनी हो गई। तीन वेदों के मुख्य उपनिषद्-ग्रन्थों के अतिरिक्त ५२ आथर्वण-उपनिषद् भी इसी समय संगृहीत हुए। यह समय धार्मिक प्रतिस्पर्धा या सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा का संघर्षमय समय था। अनेक धार्मिक संप्रदाय अपनी-अपनी लोक-विश्रुति में लगे हुए थे, जिनमें शैव, वैष्णव और शाक्त प्रमुख थे। इन संप्रदायों ने अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ और उनकी मानवृद्धि के हेतु अनेक उपनिषद्-ग्रन्थों की स्वतंत्र रचना की, जिससे कि उपनिषद्-ग्रन्थों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। इसका फल यह हुआ कि उपनिषद्-विद्या का महत्त्व बढ़ने की अपेक्षा बहुत घट गया। उपनिषद्-ग्रन्थों की संख्या में जितनी ही वृद्धि होती गई, हम देखते हैं कि उनका प्रभाव, मान्यता और महत्त्व उतना ही क्षीण होने लगा। उपनिषद्-ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों तक पहुँच जाने के कारण ही उनकी गंभीरता जाती रही।

उपनिषद्-ग्रंथों का रचनाकाल

उपनिषद्-ग्रन्थ वैदिक साहित्य की सीमा के अंतिम सूचक हैं। उपनिषद्, यद्यपि वेदप्रोक्त मान्यताओं को लेकर जन्मे और आगे बढ़े, तथापि हम देखते हैं कि जिस वैदिक युग में उनका आविर्भाव हुआ, सर्वप्रथम उसके विरुद्ध उन्होंने ही आवाज बुलंद की। वेदों के भावुक ऋषियों में हमें जिस कवित्व-भावना की प्रतीति होती है, ठीक उसके विरुद्ध उपनिषत्कालीन ऋषियों को एक बहुत बड़ी क्रांति का सूत्रपात करते हुए हम पाते हैं। वैदिक धर्म की संकीर्णताओं को फैलानेवाले ब्राह्मण-ग्रन्थों के विरोध में उपनिषद्-ग्रन्थों ने जैसा विद्रोह और जैसी खिलाफत की, भारतीय साहित्य में आजतक ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं दिखाई देता।

महाभारत-युद्ध और यादवों के गृह-कलह के बाद सारा देश युद्ध एवं मार-काट से तंग आकर शांति की खोज में था। ठीक इसी समय उत्तरा ने

परीक्षित् को जन्म दिया और यही परीक्षित् पांडवों की राजगद्दी का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। किन्तु भारत-युद्ध के कारण समग्र देश की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और इसी कमजोरी का लाभ उठाकर गांधार देश की नागा जाति ने पहिले तक्षशिला, फिर पंजाब हस्तिनापुर और बाद में परीक्षित् को भी मारकर अपना एकाधिपत्य राज्य स्थापित किया। परीक्षित् के बाद उसके पुत्र जनमेजय ने अपनी शक्ति को बढ़ाकर कुरु-राज्य की पुनः प्रतिष्ठा की और तक्षशिला से नागा जाति की जड़ें काटकर उसको ध्वस्त कर दिया। तक्षशिला को उसने अपनी राजधानी बनाया। तदनंतर कुरु-राज्य के उत्तराधिकारी क्रमशः शतानीक, अश्वमेधदत्त, अधिसीमकृष्ण नियुक्त हुए। बाद में लगभग ५०० ई० पू० में कुरु-राजवंश वत्सदेश में विलयित हुआ, आगे चलकर जो पौरव-राजवंश कहलाया, जिसकी राजधानी कि कौशांबी थी।

पौरव-राजवंश का यह शासनयुग सुख-शांति का युग था। इस युग में एक ओर तो कर्मकांड का पोषक पुरोहित-वर्ग अपने आचार-संबंधी क्रिया-कल्पों को समाज में फैला रहा था और दूसरी ओर तत्त्वज्ञानी विद्वानों द्वारा चिंतन की एक नई विचारधारा का जन्म हो रहा था। इस तत्त्वज्ञानी विचारधारा के आविर्भावकों एवं अनुयायियों में विदेह जनक, कैकेय अश्वपति, पांचाल प्रवाहण, जैवलि और काशिराज अजातशत्रु आदि नरपतियों के नाम प्रमुख हैं। यह उपनिषद्-ज्ञान के आविर्भाव का युग था, जो वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध जन्मा था और जिसने आगे चलकर पुरोहितशाही का खुलेआम विरोध किया।

उपनिषद्-ग्रन्थों में जो विचार संकलित हैं वे अपने निर्माण-युग से भी बहुत प्राचीन हैं। आज के जीवन में उपनिषद्-ग्रन्थों की बहुत सारी बातें ठीक नहीं उतरतीं। इसका कारण है युग की दूरी और अभ्यासों की भिन्नता। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने उपनिषद्-ग्रन्थों के प्रति उनका ठीक सार समझे बिना जो गलत धारणाएँ व्यक्त की हैं, उपनिषद्-ग्रन्थों के महान् ज्ञान पर वे घटित नहीं होतीं। इस संबंध में महर्षि अरविंद का तथ्यपूर्ण निराकरण उल्लेखनीय है। उनके शब्दों में "उपनिषदों के विचार अपने से पहिले विद्यमान किन्हीं महान् उद्भवों की कल्पना करते हैं और ये उद्भव प्रचलित वादों के अनुसार कोई भी नहीं मिलते। और इस रिक्त स्थान को भरने के लिये जो

यह कल्पना गढ़ी गई है कि ये विचार आर्य आक्रांताओं ने सभ्य द्राविड़ लोगों से लिए थे, एक ऐसी अटकल है जो केवल दूसरी अटकलों द्वारा ही संतुष्ट की गई है।"

उपनिषद्-ग्रन्थों का विषय एक ही है; किन्तु उनकी रचना का क्रम एक नहीं है। लगभग वैदिक काल से ही लेकर उनका अस्तित्व है। मंत्र-संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकग्रन्थों के साथ उनकी बहुत घनिष्ठता है। कुछ उपनिषद्-ग्रन्थों पर बहुत बाद की परिस्थितियों का, लगभग १४वीं-१५वीं शताब्दी का प्रभाव है। इसलिए निश्चित ही उनकी रचना बहुत बाद में हुई।

उपनिषदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक सर्वसंमत निश्चित राय नहीं दी जा सकती। उनमें वर्णित तत्त्व की बातें त्रैकालिक हैं। विद्वानों के एक पक्ष ने इस संबंध में जो मत-मतांतर प्रकट किए हैं, उन्हें विद्वानों का दूसरा पक्ष स्वीकार नहीं भी करता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ उपनिषद् बुद्धकाल से पूर्व के हैं। इस प्रकार के छठी शताब्दी ई० से पहिले रचे गए उपनिषदों में छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी और कठ का नाम लिया जा सकता है।

उपनिषदों के ऐतिहासिक साक्ष्य का कुछ पता पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' को देखकर लगता है। पाणिनि ने एक सूत्र में उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया है। ग्रन्थवाची उपनिषद् शब्द का प्रयोग भी 'अष्टाध्यायी' (४।३।७३) में देखने को मिलता है। 'अष्टाध्यायी' के गणपाठ में उद्धृत (४।३।१२९) ग्रन्थवाची इस उपनिषद् शब्द के प्रसंग को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि से पूर्व ही, अन्यथा पाणिनि के समय से उपनिषदों पर व्याख्यान-ग्रन्थों की रचना होने लग गई थी।'अष्टाध्यायी' के एक दूसरे सूत्र में 'छांदोग्य' शब्द से आम्नात अर्थ में छान्दोग्य पद ही सिद्ध होता है, जो कि उपनिषद् से संबद्ध है।

लुद्विग साहब ने वर्षों तक उपनिषद्-ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद अपना अभिमत प्रकट किया कि उपनिषद्-ज्ञान की प्राचीनता आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व की ठहरती है और संसार के दर्शन-क्षेत्र में अद्वैत की सर्वथा नवीन भावना की प्रतिष्ठा उपनिषद्-ज्ञान से ही उधार ली गई है।

उपनिषत्साहित्य के संबंध में सर्वाधिक प्रौढ़ अध्ययन लोकमान्य तिलक का है। उपनिषत्साहित्य के संबंध में यहाँ हम उनके विचार उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। लोकमान्य का कहना है कि "पश्चिमी पंडितों के अटकलपच्चू अनुमानों से वैदिक ग्रन्थों के जो काल निश्चित किए गए हैं, वे भ्रममूलक हैं; वैदिक काल की पूर्व मर्यादा ईसा के पहिले ४५०० वर्ष से कम नहीं ली जा सकती; इत्यादि बातों को हमने अपने 'ओरायन' ग्रन्थ में वेदों के उदगयन-स्थिति-दर्शक वाक्यों के आधार पर सिद्ध कर दिया है और इसी अनुमान को अब अधिकांश पश्चिमी पंडितों ने भी ग्राह्य माना है।······

"परलोकवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' (मराठी) के इतिहास में यह बतलाया है कि ऋग्वेद के बाद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में कृत्तिका प्रभृति नक्षत्रों की गणना है। इसलिए उनका काल ईसा से लगभग २५०० वर्ष पहिले निश्चित करना पड़ता है; परन्तु हमारे देखने में यह अभी तक नहीं आया है कि उदगयन-स्थिति से ग्रंथों के काल का निर्णय करने की इस रीति का प्रयोग उपनिषदों के विषय में किया गया हो। 'राम-तापनी' सरीखे भक्ति-प्रधान तथा 'योगतत्त्व' सरीखे योगप्रधान उपनिषदों की भाषा और रचना प्राचीन नहीं दीख पड़ती है। केवल इसी आधार पर कई लोगों ने यह अनुमान किया है कि सभी उपनिषद् प्राचीनता में बुद्ध की अपेक्षा चार-पाँच-सौ वर्ष से अधिक नहीं हैं। परन्तु काल-निर्णय की उपर्युक्त रीति से देखा जाय तो यह समझ भ्रममूलक प्रतीत होगी। यह सत्य है कि ज्योतिष की रीति से सब उपनिषदों का काल निश्चित नहीं किया जा सकता, तथापि मुख्य-मुख्य उपनिषदों का काल निश्चित करने के लिए इस रीति का बहुत अच्छा उपयोग किया जा सकता है"।

लोकमान्य ने 'मैत्र्युपनिषद्' में वर्णित उदगयन-स्थिति का ज्योतिष गणना के अनुसार अध्ययन करने पर पता लगाया कि वेदांग ज्योतिष में कही गई उदगयन-स्थिति से 'मैत्र्युपनिषद्' में कही गई उदगयन-स्थिति पहिले की है। वेदांग ज्योतिष काल का उदगयन 'मैत्र्युपनिषत्'कालीन उदगयन की अपेक्षा लगभग आधे नक्षत्र से पीछे हट गया था और उदगयन का आधे नक्षत्र पीछे हटने में लगभग ४८० वर्ष लग जाते हैं। इसलिए गणित के हिसाब से

'मैत्र्युपनिषद्' की रचना का समय १८८०–१६८० ई० पूर्व के बीच बैठता है।

लोकमान्य के मतानुसार यह सिद्ध है कि 'मैत्र्युपनिषद्' की रचना वेदांग-ज्योतिष से पहिले की है और जिन उपनिषद्-वाक्यों या श्लोकों की चर्चा उद्धरण रूप में उक्त उपनिषद् में की गई है, उनका समय निश्चित ही उससे भी पहिले बैठता है। इसलिए ४५०० ई० पू० में ऋग्वेद, २५०० ई० पूर्व में ब्राह्मण-ग्रंथों और १६०० ई० पूर्व में उपनिषद्-ग्रन्थों का समय आता है।

उपनिषत्-साहित्य की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद मैक्समूलर ने 'मैत्र्युपनिषद्' को पाणिनि से प्राचीन सिद्ध किया है। मैक्समूलर का कथन है कि इस उपनिषद्-ग्रंथ में ऐसी कई शब्द-संधियाँ, जिन्हें छान्दस कहा जाता है, का प्रयोग हुआ है, जिनका उल्लेख केवल 'मैत्रायणी संहिता' में मिलता है और जिनका प्रचार पाणिनि के समय में नहीं था। फिर भी 'मैत्र्युपनिषद्' को सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ नहीं माना जा सकता है। यह बात अवश्य है कि स्पष्ट रूप से इस ग्रन्थ में किसी भी उपनिषद् का नाम नहीं दिया गया है; किन्तु उसमें कई स्थानों पर छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य प्रभृति उपनिषद्-ग्रन्थों के वाक्यों एवं श्लोकों का प्रचुरता से उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से निश्चित ही उन उद्धृत वाक्यों, श्लोकों वाले उपनिषद्-ग्रन्थों का समय 'मैत्र्युपनिषद्' से पहिले का होना चाहिए।

उपनिषद्-ग्रन्थों के भाष्यकार

आरण्यक और उपनिषद् वस्तुतः मिश्रित ग्रन्थ हैं। आरण्यकों का कुछ भाग वेदांतविषयक होने के कारण उनको उपनिषद् कहा जाता है। 'ऐतरेय आरण्यक' के दूसरे और तीसरे ग्रन्थ स्वतंत्र उपनिषद् हैं। उनका नाम ही इसलिए ऐतरेय उपनिषद् है। इनका संकलनकार विशाल और ईतरा का पुत्र महीदास ऐतरेय हुए। इसी प्रकार 'कौषीतकी आरण्यक' के तीसरे खंड को 'कौषीतकी उपनिषद्' कहा जाता है। इनके अतिरिक्त वाष्कल और मैत्रायणी भी ऋग्वेद के उपनिषद् हैं।

'तैत्तिरीय आरण्यक' का सातवाँ, आठवाँ और नवाँ प्रपाठक उसका उपनिषद् भाग है। इस 'तैत्तिरीयोपनिषद्' पर शांकर-भाष्य सर्वोत्तम है। शांकर-भाष्य के प्रमुख टीकाकार हुए : आनंदतीर्थ और रंगरामानुज। सायण और आनंदतीर्थ के भी इस पर भाष्य हैं। आनंद-भाष्य के टीकाकारों में अप्पणाचार्य, ज्ञानामृत, व्यासतीर्थ और श्रीनिवासाचार्य प्रमुख हैं। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के वृत्तिकारों में कृष्णानंद, गोविंदराज, दामोदराचार्य, नारायण, बालकृष्ण, भास्कर भट्ट, राघवेन्द्र यति, विज्ञानभिक्षु और शंकरानंद का नाम उल्लेखनीय है। तैत्तिरीय आरण्यक का दसवाँ प्रपाठक 'याज्ञिकी' या 'नारायणोपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर भी शंकराचार्य और सायणाचार्य ने भाष्य लिखे। इस पर विज्ञानात्मा ने 'वेद-शिरोभूषण' नामक एक स्वतंत्र व्याख्या और एक वृत्ति भी लिखी। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के तीन भाग हैं, जिनका नाम क्रमशः शिक्षावल्ली, आनंदवल्ली, और भृगुवल्ली है और जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है।

यजुर्वेद के उपनिषद्-ग्रन्थों में 'श्वेताश्वतर' और 'मैत्रायणी' का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य शंकर ने इन दोनों पर प्रामाणिक भाष्य, विज्ञानभिक्षु ने 'उपनिषदालोक' नामक बृहद् टीका और नारायण, प्रकाशात्मा तथा रामतीर्थ ने प्रामाणिक कृतियाँ लिखीं। इस उपनिषद् पर शंकराचार्य के अतिरिक्त सायणाचार्य, रामानुजाचार्य और वरदराजाचार्य ने भी भाष्य लिखे। शांकर-भाष्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार हुए नृसिंहाचार्य, बालकृष्णदास और रंगरामानुज।

सामवेद के उपनिषद्-ग्रन्थों में 'छांदोग्योपनिषद्' और 'केनोपनिषद्' प्रमुख हैं। 'केनोपनिषद्' का दूसरा नाम 'तलवकार' है, जिसको डॉ० बारनेल ने तंजौर से खोजकर संपादित एवं प्रकाशित किया। इन दोनों पर शंकराचार्य का प्रामाणिक भाष्य और आनंदतीर्थ, ज्ञानानंद, नित्यानंदाश्रम, बालकृष्णानंद, भगवद्भावक, शंकरानंद, सायण, सुदर्शनाचार्य, हरिभानु शुक्ल, वेदेश, व्यासतीर्थ, दामोदराचार्य, भूसुरानंद, मुकुंद तथा नारायण प्रभृति विद्वानों की टीकाएँ एवं वृत्तियाँ हैं।

अथर्ववेद के उपनिषद्-ग्रंथों की संख्या सर्वाधिक है। इसी हेतु, ब्रह्मविद्या-विषयक इन उपनिषद्-ग्रन्थों की अधिकता के कारण अथर्ववेद को 'ब्रह्मवेद'

भी कहा गया है। विद्यारण्य स्वामी ने अपने 'सर्वोपनिषदर्थानुभूतिप्रकाश' ग्रन्थ में तीन अथर्ववेदीय उपनिषद्-ग्रन्थों को प्रमुख माना है, जिनके नाम हैं: मुंडक, प्रश्न और नृसिंहोत्तरतापनीय। शंकराचार्य ने अथर्ववेद के उक्त तीन ग्रन्थों सहित 'मांडूक्य' को मिलाकर चार को प्रधान माना है और उन पर भाष्य लिखा है। बादरायण व्यास ने भी अपने 'वेदान्तसूत्र' में इन्हीं चारों को प्रमुखता से उद्धृत किया है। शांकर-भाष्य के प्रमुख टीकाकारों में आनंदतीर्थ और अभिनव नारायणचंद्र सरस्वती का नाम उल्लेखनीय है।

'मुंडकोपनिषद्' अथर्ववेद का सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त एवं विद्वत्प्रिय ग्रन्थ रहा है, जिस पर कि शंकराचार्य, आनंदतीर्थ, दामोदराचार्य, नरहरि, भास्कर भट्ट, रंगरामानुज, राणायण, व्यासतीर्थ, शंकरानंद, विज्ञानभिक्षु और नरहरि यति प्रभृति जितने भी वेद-व्याख्याकार हुए, उन सभी ने भाष्य, टीकाएँ और वृत्तियाँ लिखीं। शेष तीन उपनिषद्-ग्रन्थों पर भी अनेक भाष्य, टीकाएँ और वृत्तियाँ लिखी गईं।

इन चार उपनिषद्-ग्रन्थों के अतिरिक्त 'मुक्तिकोपनिषद्' नामक पाँचवाँ ग्रन्थ अथर्ववेद से संबद्ध है। इसमें ९३ अथर्वाण उपनिषद्-ग्रन्थों के नाम उल्लिखित हैं। कुल मिलाकर अथर्वाण उपनिषद्-ग्रन्थों की संख्या दो-सौ से भी ऊपर पहुँचती है, जिनमें से कुछ को छोड़ कर प्रायः अनुपलब्ध हैं।

उपनिषद्-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय

विषय की दृष्टि से वेदों के प्रमुख तीन भाग हैं: कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्म विषय का प्रतिपादन संहिता एवं ब्राह्मण भाग में हुआ है, उपासना का विषय संहिता तथा आरण्यक भाग में वर्णित है और तीसरे ज्ञान भाग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ उपनिषद् हैं, जो कि मोक्ष-साधन का मार्ग निर्देश करते हैं। वेदों के कर्म तथा उपासना भाग की सम्यग् जानकारी के लिए महर्षि जैमिनि-कृत 'पूर्वमीमांसा दर्शन' और तीसरे ज्ञान-भाग की सूक्ष्म जानकारी के लिए बादरायण वेदव्यास कृत 'उत्तरमीमांसा दर्शन' है, जिसके दूसरे नाम 'शारीरक-मीमांसा', 'वेदान्तदर्शन' किं वा 'ब्रह्मसूत्र' भी हैं।

वेदान्तियों के मतानुसार विधाएँ दो प्रकार की हैं : परा और अपरा। पराविद्या अर्थात् श्रेष्ठ विद्या ही ब्रह्मविद्या है, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् हैं। अपराविद्या कर्मप्रधान विद्या है, अतएव कर्मविद्या है। कर्मविद्या की फलोपलब्धि कालान्तर में होती है, किन्तु ब्रह्मविद्या तत्काल फलदायिनी विद्या है। कर्मफल विनश्वर भी हैं, किन्तु ब्रह्मविद्या का फल अविनश्वर, अमर होता है। अपरा विद्या मुक्ति का कारण नहीं हो सकती है, किन्तु पराविद्या मोक्ष को देने वाली है। फिर भी अपराविद्या के द्वारा पराविद्या के मोक्षफल की उपलब्धि की जा सकती है, क्योंकि वह हेतु है।

पराविद्या के प्रतिपादक उपनिषद्-ग्रन्थों में अपराविद्या की प्राप्ति के लिए भी निर्देश किया गया है। 'मुण्डकोपनिषद्' में शौनक को समझाने के लिए अंगिरा का कथन है कि परा और अपरा, दोनों विद्याओं को जानना आवश्यक है। चारों वेद और षड्वेदांग, अपराविद्या और क्षयशून्य ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली विद्या पराविद्या है।

वेदान्त के आचार्यों ने वेदान्त-दर्शन को तीन भागों में बाँटा है : श्रुति, स्मृति और न्याय। तदनुसार उन्होंने उपनिषद् भाग को श्रुति के अन्तर्गत, 'गीता' आदि को स्मृति के अन्तर्गत और 'ब्रह्मसूत्र' आदि को न्याय के अन्तर्गत परिगणित किया है।

प्रकृति, पुरुष और परमात्मा का विवेक ही उपनिषद् विद्या का प्रतिपाद्य विषय है। मूल तत्व प्रकृति से ही जगत् का अस्तित्व है। वही प्रकृति माया के नामान्तर से भी कही गई है। उद्भिज, अण्डज, स्वेदज और जरायुज चार देहधारी : वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय; चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक्, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये नौ ज्ञानेन्द्रिय; और एक विषय, ये सभी प्रकृति-तत्व के कार्य-व्यापार हैं।

आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन कहा गया है। वह जन्म मृत्यु से रहित है। शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी उसकी स्थिति में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता है। वह मेधावी है। जैसे दूध में नवनीत है उसी प्रकार जगत् में ब्रह्म की व्याप्ति है। अक्षर ब्रह्म से जीव उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि से स्फुलिंग।

'कौषीतकी उपनिषद्' के चतुर्थ अध्याय में लिखा है कि प्रज्ञात्मा का ज्ञान आवश्यक है। प्रज्ञात्मा शरीर में उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे काष्ठ में आग। सम्पूर्ण प्राण-चेष्टाएँ प्रज्ञात्मा के पीछे उसी प्रकार भागती हैं, जैसे धन के पीछे धन-लुब्धक। इस प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करने पर ही सम्पूर्ण पाप एवं दुःख विनष्ट होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी हेतु धर्मसूत्रों ने पाप-मुक्ति के लिए उपनिषद् विद्या के अध्ययन पर बल दिया है। 'ऐतरेयोपनिषद्' के तीसरे अध्याय में कहा गया है कि ब्रह्मा आदि देवता, पंच महाभूत, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, उद्भिज, स्थावर, जंगम जितनी भी जीवात्मायें हैं, सबका आधार प्रज्ञान है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी में आधारित है। वही प्रज्ञान ब्रह्म है।

उपनिषद्-ग्रन्थों में जगत, जीव, ब्रह्म का उपादानभूत माया (प्रकृति) का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है। उपनिषद्-ग्रन्थों की इन अनेकमुखी स्थापनाओं के फलस्वरूप ही आगे चलकर दर्शनों की विभिन्न सैद्धान्तिक परम्पराओं की प्रतिष्ठा होकर विचारों के क्षेत्र में एक युगान्तर का जन्म हुआ। ब्रह्म और जीव के अभेद का 'तत्त्वमसि' सिद्धान्त—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् हे सोम्य, एकमेव सत् ही सनातन है और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कि यह सब ब्रह्म ही है—दर्शन ग्रन्थों का बीज है। इन उपनिषद् वाक्यों की अनेकमुखी असंगतियों के कारण ही द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा द्वैताद्वैत आदि मतों की उद्भावना हुई, जो कि भारतीय षड्-दर्शनों के जन्मदाता सिद्ध हुए। इन विभिन्न वादों के प्रवर्तक आचार्यों की गणना इस प्रकार है :

मध्व	का	द्वैतवाद
शंकर	का	अद्वैतवाद
रामानुज	का	विशिष्टाद्वैतवाद
वल्लभ	का	शुद्धाद्वैतवाद
निंबार्क	का	द्वैताद्वैतवाद

उपनिषद् विद्या का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। ब्रह्म की सत्ता क्या है, जगत्-ब्रह्म का सम्बन्ध क्या है, ब्रह्म-जीवात्मा का स्वरूप क्या है, ब्रह्म

की उपलब्धि का मार्ग कौन सा है, आत्मा, प्रज्ञात्मा, प्रज्ञान क्या वस्तु है, ब्रह्म-आत्मा के ऐक्य का रहस्य क्या है, और ब्रह्म-साक्षात्कार का अर्थ क्या है, ये सभी बातें उनमें वर्णित हैं।

उपनिषद् अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या का नाम है। वह वेद का ज्ञानकाण्ड होने से चिरप्रदीप्त और ज्ञानदीपक है। उपनिषद् ज्ञान की अति व्यापक विचारधारा के अनुसार संसार में ब्रह्म के व्यतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जीव भी ब्रह्मस्वरूप है। उपनिषद्-ज्ञान को प्राप्त करने की आवश्यकता ब्रह्मस्वरूप देहधारी जीव को इसलिए हुई कि वह अविद्या के प्रभाव से अपने वास्तविक अजन्मा, अविनश्वर, शुद्ध-बुद्ध-संयुक्त सच्चिदानन्दमय आत्मस्वरूप को विस्मृत कर स्वयं को जन्म-मरणधर्मा, कर्ता, भोक्ता, सुख-दुःखयुक्त मान बैठा है और उनके कारण वह जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता है। उपनिषद्, वह ज्ञान है, जिसके प्राप्त हो जाने से जीव को दुःखों से छुटकारा पाने, ब्रह्मस्वरूप हो जाने और अविद्या का कोहरा मिटा डालने का प्रकाश मिलता है। ऐसा ज्ञानी जीव, मोक्ष को प्राप्त होकर अनन्त आनन्द का स्वामी हो जाता है।

जन्म दुःखमूलक है। उससे छुटकारा दिलाने वाली, परम-पुरुषार्थ को प्रकाशित करने वाली और परमार्थ का स्वरूप समझाने वाली एकमात्र परम-उपकारिणी विद्या उपनिषद् है। तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिये वह परमार्थ है और क्लेशयुक्त जीवों के लिए परम-उपकार। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय की बिना चिन्ता किए कर्मरत रहने के लिए गीता में जिस परमपुरुषार्थ का निर्देश किया गया है, उपनिषद् भी ठीक उसी निष्काम कर्म का प्रतिपादन करके 'कर्तव्य-शास्त्र' को भी अपने अन्दर समाहित कर लेते हैं।

इस प्रकार उपनिषद् एक ओर तो गूढ ब्रह्मत्व-ज्ञान को प्रतिपादत करने वाले ग्रंथ हैं, और दूसरी ओर उन्हीं के नीति-निर्देश से अध्यात्म जगत का सुगम मार्ग दर्शित है। वे कर्तव्य-शास्त्र की कुंजी भी है। इसके अतिरिक्त उपनिषद्दर्शन में हमें अद्भुत व्यावहारिक ज्ञान का भी पता चलता हैं। उनमें सत्य बोलने के लिए बड़ी कठोर आज्ञायें एवं प्रतिज्ञायें हैं: जो झूठ बोलता

है, वह समूल विनष्ट हो जाता है। या सत्य की ही सर्वदा विजय होती है, झूठ की नहीं; सत्यवादी दृढ़प्रतिज्ञ मनुष्य ही देवलोक का अधिकारी होता है।

उपनिषदों के तत्वज्ञान के भीतर आचार, कर्तव्य और व्यवहार की अनेक उपयोगी बातें भरी हुई हैं, स्वतंत्र रूप से उनका मंथन होने की आवश्यकता है।

अकबर और दाराशिकोह का उपनिषत्प्रेम

मध्यकालीन इतिहास में शाहंशाह अकबर का नाम बड़े आदर से स्मरण किया गया है। महापुरुषो की प्रायः सभी विशेषतायें अकबर के व्यक्तित्व में समाविष्ट थीं। वह एक निपुण राजनीतिज्ञ, असामान्य विद्याप्रेमी और बड़ा धर्मनिरपेक्ष शासक था। अकबर का शासनकाल १५५६-१५८५ ई० के लगभग है। हिन्दुओं के ज्ञान-ग्रंथों को अकबर ने सदा ही बड़े आदर से देखा और उनका श्रवण बड़े ध्यान से किया। इसी विद्याप्रेम के कारण अकबर ने रामायण, महाभारत, योगवाशिष्ठ और गीता आदि संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थों का फारसी में तर्जुमा कराया। कुछ उपनिषद् भी इस युग में अनूदित हुए।

अकबर के पौत्र शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह में अपने पितामह की ज्ञान-जिज्ञासु प्रवृत्ति पुनरुज्जीवित हुई और जो कुछ अकबर करने से रह गया था, दाराशिकोह ने उसको पूरा किया। हिन्दू-मुस्लिम धर्म के समन्वय के लिए दाराशिकोह ने एक 'मजमा-उल-बहरैनी' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। दाराशिकोह का सबसे बड़ा कार्य है, उपनिषदों का फारसी भाषान्तर। दारा के जीवन और उसके महानतम कार्यों में यह कार्य ऐसा था, जिसके कारण उसका व्यक्तित्व भारतीय-साहित्य के साथ एकप्राण होकर अमर है।

सन् १६४० ई० में काश्मीर में रहकर दाराशिकोह ने काशी, काश्मीर जैसी तत्कालीन ज्ञानकेन्द्र महानगरियों से ऐसे सैकड़ों वेदान्तियों और सूफी संतों को आमन्त्रित किया, जो उभयभाषा(संस्कृत-फारसी)विद् थे।

उन विद्वानों से पहिले उसने निरंतर छह मास तक उपनिषद्-ग्रन्थों का श्रवण किया। लाखों की संपत्ति व्यय करके दाराशिकोह ने रमजान हिज़री १०७७ (१६५६ ई०) में यह भाषान्तर का कार्य समाप्त कर हिन्दू-साहित्य में अपने नाम को अमर बनाया। दारा ने उस महाग्रन्थ को स्वयं सम्पादित किया और उसका नाम रखा 'सिर्रे अकबर' अर्थात् 'महारहस्य'। इस महाग्रंथ में ५० उपनिषद् अनूदित करके संकलित किए गए। इस कार्य के लगभग तीन वर्ष बाद १६५९ ई० में इस विद्याप्रेमी मुगल-शासक का औरंगजेब द्वारा प्राणान्त हुआ।

दाराशिकोह द्वारा संपादित इस 'सिर्रे अकबर' का प्रभाव इतना बढ़ा कि संसार के प्रायः सभी हिस्सों में उसे देख लेने की तीव्र लालसा विद्वत्समाज में उदित हुई। इसके रचनाकाल के ६४वें वर्ष १७२० ई० में इसका एक अनुवाद 'उपनिषद्-भाष्य' के नाम से हिन्दी में हुआ।

धार्मिक एकता के नाते उपनिषद्-ज्ञान का प्रचार हिन्दू-मुसलमानों के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। दाराशिकोह ने स्वयमेव हिन्दू-ज्ञान की श्रेष्ठता को ऊँची आवाज में बुलन्द किया। उसने उपनिषद्-विद्या की महानता और उदारता के संमुख संसार के ऊँचे-से-ऊँचे धर्मों के ज्ञान को और मुस्लिम धर्म को एक चुनौती दी। उसने उपनिषद्-ज्ञान के कर्ता हिन्दुओं के पूर्वजों को बड़ी श्रद्धा से याद किया और यह सिद्ध किया कि धार्मिक एकता के लिए उपनिषद्-ग्रन्थों के महान् विचार सदा ही याद रखने योग्य हैं। दाराशिकोह के इस प्रचार से मुसलमान फकीर अधिक प्रभावित हुए। सूफी मत की अद्वैत भावना का मूल उपनिषदों का ही अद्वैत था, यद्यपि सूफी परम्पराओं के अनुसार उसमें कुछ दूसरे तत्त्व भी शामिल किए गए।

उपनिषद्-ज्ञान का विदेशों में प्रवेश

लगभग १७७५ ई० तक सारे पाश्चात्य विद्वान् उपनिषद्-ग्रन्थों के तत्त्वज्ञान से अपरिचित एवं अछूते ही रहे। इसी समय अयोध्या के नवाब सुजाउद्दौला के फरासी रेजिडेंट एम० गेंटिल (M. Gentil) ने १७७५ ई०

में सुप्रसिद्ध फ्रेंच पर्यटक एंक्वेटिल डुपेरन (Anquetil duperron) के लिए दाराशिकोह द्वारा संपादित फारसी अनुवाद की एक प्रति अवलोकनार्थ भेजी। डुपेरन ने उसी अनुवाद की एक दूसरी फारसी प्रति उपलब्ध करके उन दोनों प्रतियों के आधार पर फ्रेंच और लैटिन दो अनुवाद प्रस्तुत किए। १८०१-२ ई० के बीच लैटिन अनुवाद तो 'औपनेखत' (Oupnekhat) नाम से ट्रांसवर्ग, पेरिस से प्रकाशित हो गया, किंतु फ्रेंच अनुवाद नहीं छप सका। इस लैटिन भाषांतर के आधार पर दाराशिकोह के संपादित महाग्रंथ के कई भाषाओं में अनुवाद छपे।

दाराशिकोह द्वारा संपादित महाग्रन्थ जब यूरोप पहुँचा तो उसको देखकर विद्वानों की जिज्ञासा मूल उपनिषद्-ग्रन्थों को देखने को प्रबल हो उठी। फलतः संस्कृत का अध्ययन और उसमें सगृहीत महान् ज्ञान का रहस्य दुनियाँ के संमुख प्रकट होने लगा। इस प्रकार समग्र वैदिक साहित्य का यूरोप में प्रतिदिन प्रचार होने लगा।

डुपेरन महोदय के उक्त लैटिन अनुवाद को देखकर सुप्रसिद्ध प्राच्य इतिहासज्ञ विद्वान् विंटरनित्स का कथन है कि यद्यपि यह लैटिन भाषांतर अनेक अर्थों में एकांगी, अपूर्ण और न्यूनताओं से भरपूर था; किंतु उसी की कृपा थी कि शेलिंग और शोपेनहार जैसे लोग भारतीय तत्त्वज्ञान के पारंगत विद्वान् कहलाने लगे। आर्थर शोपेनहार (Arther Shopenhaure) ने उक्त लैटिन अनुवाद का अध्ययन करने के बाद गद्गद होकर कहा : उपनिषद्-ज्ञान विश्व की विचारधारा के पथ-प्रदर्शन के लिए एक ज्योति है। न केवल जीवन में मुझे उपनिषद्-ग्रन्थों के अध्ययन से शांति प्राप्त हुई, वरन् मृत्य पर भी मुझे वे शांति प्रदान करेंगे।

डुपेरन का लैटिन अनुवाद १८०८ ई० में जर्मन भाषा में अनूदित होकर नूनबर्ग से प्रकाशित हुआ, जिसके कारण प्राच्यविद्या के जिज्ञासु कतिपय जर्मन विद्वान् उपनिषद् और वैदिक साहित्य के अनुसंधानार्थ कार्य करने लगे। विदेशों में उपनिषद्-ज्ञान के प्रति विद्वानों की उत्सुकता और पत्रिकाओं में विदेशियों द्वारा लिखे गए बड़े खोजपूर्ण लेखों को देखकर राजा राममोहन राय

ने भी कुछ उपनिषद् अंग्रेजी में अनूदित करके मूल ग्रन्थों के साथ १८१६-१८१९ के बीच प्रकाशित किए।

तदनंतर ओथमर फ्रांक (Othmar fronk) महोदय ने भी १८२०-१८३० के बीच कुछ उपनिषद्-ग्रन्थों के संक्षिप्त संस्करण निकाले, जिनको देखकर उपनिषद्-ज्ञान के प्रति विद्वानों की उत्सुकता और भी बढ़ती गई। श्री जे० डी० लंजुईनास का एतत्संबंधी कार्य बड़े महत्त्व और परिश्रम का है। उन्होंने १८३२ ई० में दाराशिकोह के फारसी अनुवाद पर आधारित डुपेरन के लैटिन अनुवाद को पूरा-का-पूरा फ्रेंच में उलथा कर प्रकाशित किया और उसका नाम रखा : 'भारतीयों की भाषा, वाङ्मय, धर्म तथा तत्त्वज्ञान-संबंधी अन्वेषण'।

प्राच्य-विद्या-विशारद वेबर साहब के इस क्षेत्र में प्रवेश करते ही भारतीय उपनिषद्-ज्ञान का प्रचार विश्व भर में फैल गया। वेबर साहब ने जर्मन भाषा में एक पुस्तक सत्रह भागों में लिखी, जिसका नाम है : 'इण्डिस्केन स्टडियन'। इसका प्रथम भाग १८५० ई० में बर्लिन से प्रकाशित हुआ। इस भाग में वेबर ने 'सिर्रे अकबर' के प्रथम १४ उपनिषद्-ग्रन्थों को बड़ी शुद्धता के साथ संपादित कर प्रकाशित किया। इसका दूसरा भाग बर्लिन से ही १८५३ ई० में प्रकाशित हुआ। उसमें भी १५-३९ तक के उपनिषद् प्रकाशित किए गए और १८६५ ई० में लिपिजिक से प्रकाशित 'इण्डिस्केन स्टडियन' के नवम भाग में 'सिर्रे अकबर' के ४०-५० तक के दस उपनिषद् प्रकाशित किए गए। वेबर साहब ने अपनी भूमिका में लैटिन अनुवाद की अशुद्धियों पर प्रकाश डाला है। तदनंतर १८८२ ई० में एक जर्मन-भाषांतर ड्रेसडेन से प्रकाशित हुआ, जिसका आधार कि लैटिन-भाषांतर ही था।

महापंडित मैक्समूलर ने अपने प्राच्यविद्याप्रेम के कारणसेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' नाम से एक ग्रन्थमाला का प्रकाशन किया था, जिसमें वैदिक साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर शोधपूर्ण सामग्री प्रकाशित की गई। मैक्समूलर ने पूर्वोक्त प्रमुख १२ उपनिषद्-ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद १८७९-१८८४ के बीच बड़ी शुद्धता के साथ उक्त ग्रन्थमाला में प्रकाशित किया।

मैक्समूलर के बाद दूसरे जर्मन विद्वानों में एफ० मिशल (F. Mischel) ने १८८२ ई० में, ओ० बोटलिंक (O. Bohatlink) ने १८८९ ई० में दो जर्मन अनुवाद प्रकाशित किये। तदनंतर पाल ड्यूसन (Paul deussen) ने लैटिन भाषांतर के संग्रह के साथ १० आथर्वण उपनिषद्-ग्रन्थों का एक जर्मन भाषांतर १८९७ ई० में लिपजिक से प्रकाशित किया, जिसमें ९४६ पृष्ठ हैं और जिस पर एक विद्वत्तापूर्ण विस्तृत भूमिका लिखी गई है। श्री आर० ई० ह्यूम ने भी १९२१ ई० में आक्सफर्ड मे १३ प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों का एक प्रामाणिक संस्करण निकाला।

भारत में सबसे पहिला अंग्रेजी अनुवाद राजा राममोहन राय का है जिसको उन्होंने १८१६–१९ ई० के बीच सम्पन्न किया। बाद में १८५३ ई० में ई० रोअर साहब (E. Roer) और राजा द्विजेन्द्रलाल मिश्र ने शांकर भाष्य युक्त १२ प्रमुख उपनिषद् सानुवाद कलकत्ता से प्रकाशित किए, जिनका पुनः-संस्करण तुकाराम तात्या ने बम्बई से निकाला। इसी प्रकार श्री सीताराम शास्त्री और डॉ० गंगानाथ झा ने भी आठ प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों का अनुवाद कर उनको १८९८–१९०१ ई० के बीच मद्रास से प्रकाशित किया।

आर्षेय, प्रणव, शौनक और नृसिंहोत्तरतापनी, इन चार उपनिषद्-ग्रन्थों का आडयार लाइब्रेरी, पूना के हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रह में से प्राप्त कर डा० श्रीपाद कृष्ण वेलवाल्कर ने विशुद्ध अंग्रेजी भाषान्तर के साथ सम्पादित एवं प्रकाशित किए हैं।

मूल फारसी का उर्दू अनुवाद भी 'अलख प्रकाश' नाम से प्रकाशित हो चुका है, किन्तु उसमें अशुद्धियाँ बहुत हैं।

फिर भी उपनिषद्-साहित्य पर विदेशों में हुए कार्य की अपेक्षा भारत में हुए कार्य की गणना प्रायः नहीं के बराबर है। उपनिषद्-ज्ञान की विश्व-विश्रुति का एकमात्र श्रेय फारसी अनुवाद 'सिर्रे अकबर' को है, जिसके कारण ज्ञानवन्त मनस्वी दाराशिकोह का नाम इतिहास में बड़े आदर के साथ स्मरण किया जायगा।

षड्-वेदांग

षड्वेदांगों के निर्माण की आवश्यकता

वेद ही समग्र आर्य-शास्त्रों के मूल उद्गम हैं। धार्मिक एवं वैदिक क्रिया-कलापों के प्रतिपादक ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रंथ, ब्रह्मज्ञान-विषयक अद्भुत सिद्धान्तों के निर्माता उपनिषद्-ग्रंथ, सामाजिक रीति-नीति और व्यवस्थाओं पर अकाट्य निर्णय देने वाले कल्पसूत्र, भाषा-विज्ञान का प्रतिपादन करने वाले शिक्षा, व्याकरण, छन्द एवं निरुक्त, जैसे उच्चकोटि के शास्त्र और अदृष्ट सत्यों को मूर्त रूप में खड़ा कर देने वाला ज्योति-विज्ञान, सभी वेदों से उद्भूत हैं।

उपनिषद्-ग्रंथों में द्विविध विद्याओं का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम हैं परा और अपरा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये सभी शास्त्र परा विद्या के अन्तर्गत परिगणित हैं, और यद्यपि, अक्षर ब्रह्म के प्रतिपादक आदिग्रन्थ उपनिषद् वेदों के ही अंग हैं, तथापि उन्हें और उनके सिद्धान्तों के विकासरूप दर्शनग्रन्थ, सभी की गणना अपरा विद्या के अन्तर्गत की गई है।

भारतीय ज्ञान-विकास का ऐतिहासिक क्रम वेदों से आरम्भ होता है। वेदों के बाद वैदिक साहित्य और तदनन्तर षड्-वेदांगों का समय आता है। महाज्ञानी वेदव्यास के समय अथवा उससे पूर्व की गुरु-शिष्य-परम्परा से ज्ञान-निर्माण तथा आत्म-चिन्तन के जो अनेक सम्प्रदाय चले आ रहे थे उनके द्वारा विभिन्न आश्रमों में वेदों का अध्यापन, अध्ययन, सम्पादन और संस्करण हो रहा था। आश्रमों की इसी शिष्य-परम्परा ने वेदाध्ययन के विभिन्न मार्गों, षड्-

वेदांगों का निर्माण किया। इन्हीं प्राचीन आश्रमों में विभिन्न चरणों अथवा शाखाओं द्वारा ज्ञान की विभिन्न दिशाएँ निमज्जित होकर प्रकाश में आईं।

षड्वेदांगों के निर्माण से भारतीय साहित्य के विकास का एक नया युग प्रारंभ होता है, इतिहास में जिसको दूसरे अध्याय के नाम से पुकारा गया है। विषय, विचार और शैली की दृष्टि से दोनों युगों की दूरी आकाश और धरती की दूरी के बराबर है। यद्यपि इतिहासकारों ने इस युग को 'उत्तर-वैदिक-युग के नाम से पुकारा है, फिर भी अपने मूलरूप में इस युग ने जिस आने वाले युग का निर्माण किया, उस दृष्टि से इस युग का बहुत कम अंश अपने नाम की सार्थकता को प्रकट करने के लिये रह जाता है। इस उत्तर-वैदिक युग में ६ नये शास्त्रों का प्रणकन हुआ, जिनके नाम हैं : शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। इनका नाम षड्वेदांग पड़ा।

पाणिनीय 'शिक्षा' में एक अच्छा रूपक बाँध कर वेद भगवान् के इन छहों अंगों का, तदनुरूप स्थान निर्धारित किया गया है, और वहाँ बताया गया है कि सांगवेद पढ़ने पर ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। उसमें बताया गया है कि छंद तो वेद भगवान् के पैर हैं, कल्प हाथ, ज्योतिष आँखें, निरुक्त, कान, शिक्षा नाक और व्याकरण मुख है :

शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां च यः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदागांनि षडेव तु॥

वेदांगकाल की मर्यादा

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष, इन छह वेदांगों का उल्लेख 'गोपथब्राह्मण', 'बौधायन धर्मसूत्र', 'गौतम-धर्मसूत्र' और 'रामायण' जैसे प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से वेदांग की प्राचीनता सिद्ध होती है। विद्यालंकार जी ने इस दूसरे उत्तर-वैदिक युग की सीमा को ८००–२०० ई० पूर्व के बीच रखा है। वेदांगकाल की मर्यादा के सम्बन्ध में दीक्षित जी ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। उनके मतानुसार शकपूर्व १५०० वर्ष वेदांग काल की पूर्व सीमा है। उनका कथन है कि तारा-

समूहों की आकृति द्वारा उनका नाम रखने की कल्पना वेदों में भी है; किन्तु ये नाम वैदिक काल के नहीं हैं। वेदांग ज्योतिष में भी वे नहीं मिलते हैं। अतः शकपूर्व १५०० वर्ष तक हमारे देश में इनका प्रचार नहीं था।

वेदांग की उत्तर सीमा दीक्षित जी ने वारों और मेषादि राशियों के शोधपूर्ण अध्ययन के आधार पर निर्धारित की है। उनके मतानुसार मेष प्रथम राशि है, और उसका आरंभ अश्विनी नक्षत्र से होता है। ये मेषादि नाम वेदांग ज्योतिष से पहिले नहीं थे। हमारे यहाँ मेषादि संज्ञाओं का प्रचार शकपूर्व ५०० के लगभग हुआ। सारांश यह कि शकपूर्व ५०० वर्ष वेदांग काल की उत्तर सीमा है।

शिक्षा

दूसरे वेदांगों की भाँति शिक्षा भी एक स्वतन्त्र शास्त्र है। जिस प्रकार वैदिक विधियों को संपन्न करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की उपयोगिता है, उसी प्रकार वेद और वैदिक साहित्य की अध्ययन-अध्यापन-संबंधी जो उच्चारण-विधियाँ हैं उनका निर्देश शिक्षाशास्त्र में वर्णित है। संस्कृत-साहित्य के महत्त्व की एक बहुत जरूरी बात यह है कि जिस प्रकार संस्कृत का एक-एक शब्द शास्त्रीय दृष्टि से व्युत्पन्न एवं सार्थक है, उसी भाँति संस्कृत के एक-एक अक्षर का उच्चारण-स्थान शास्त्रीय दृष्टि से निर्धारित है। एक दूसरी आवश्यक बात जो कि केवल वेदों के संबंध में ही लागू होती है, स्वर प्रक्रिया की है। संपूर्ण संस्कृत साहित्य में शब्दोच्चारण का विशेष महत्त्व है; किंतु वेदों में शब्दोच्चारण के अतिरिक्त स्वर-प्रक्रिया का भी उतना ही महत्त्व है।

वेद-पाठ के समय शुद्ध उच्चारण और ठीक स्वर-क्रिया का होना आवश्यक है। उच्चारण-स्खलित और स्वर-भ्रष्ट वेद-पाठ न केवल अशुद्ध हो जाता है, वरन्, उसका एक बहुत बड़ा भारी कुपरिणाम यह होता है कि जिस इष्ट के लिए वह किया जाता है, उसकी जगह अनिष्ट हो जाता है। इसलिए शुद्धोच्चारण और शुद्ध स्वर-क्रिया की विधियाँ एवं उनके ज्ञान की उपलब्धि के लिए 'शिक्षाशास्त्र' नामक वेदांग की आवश्यकता हुई।

शिक्षाशास्त्र का इतिहास बहुत पुराना है, यद्यपि उस दृष्टि से आज इस विषय पर लिखी हुई बहुत कम पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। एक अनुश्रुति के आधार पर विद्यालंकार जी ने जैगीषव्य के शिष्य बाभ्रव्य को 'शिक्षाशास्त्र' का निर्माता बताया है। उनका कहना है कि 'जैगीषव्य के बेटे शंख और लिखित थे, तथा ब्रह्मदत्त के दो मंत्री कण्डरीक (या पुंडरीक) और सुबालक (या गालव)। बाभ्रव्य पांचाल भी जैगीषव्य के शिष्य थे। दोनों पांचालों में से कण्डरीक द्विवेद और छंदो-ग कहलाता तथा बाभ्रव्य बह्वृच (बहुत ऋचाओं का ज्ञाता) और आचार्य। बाभ्रव्य के सम्बन्ध में यह अनुश्रुति है कि उसने 'शिक्षाशास्त्र' का प्रणयन किया तथा साथ ही ऋक्संहिता का पहिले-पहल क्रमपाठ-व्यवस्थापन भी'।

'महाभारत' के शांतिपर्व में आचार्य गालव कृत एक प्राचीन शिक्षाग्रन्थ का उल्लेख है, जिसका निर्देश 'अष्टाध्यायी' में भी किया गया है। गालव गार्ग्य का समकालीन एवं धन्वन्तरि का शिष्य था। उसका पूरा नाम पांचाल बाभ्रव्य गालव था, जिसको ऊपर बहुत ऋचाओं का ज्ञाता एवं आचार्य कहा गया है।

भंडारकर रिसर्च इंस्टिटयूट, पूना से एक 'भारद्वाजशिक्षा' प्रकाशित हुई है। उसके अन्तिम श्लोक एवं उसके टीकाकार नागेश्वर भट्ट के मतानुसार यह शिक्षाग्रन्थ भरद्वाज-प्रणीत है; किंतु इतिहासकारों ने इसको बाद का संस्करण बताया है। एक चारायणी शिक्षा (चारायण कृत) काश्मीर में भी प्राप्त हुई थी, जिसका उल्लेख डा० कीलहार्न ने किया है।

पाणिनि के पूर्ववर्ती शब्दवित् आचार्य आपिशलि के शिक्षाग्रन्थ का उल्लेख राजशेखर की 'काव्यमीमांसा'[८] और वृषभदेव कृत 'वाक्यपदीय' टीका में मिलता है[९]। आपिशल-शिक्षा के आठवें प्रकरण के २३ सूत्रों का एक लंबा उद्धरण हेमचंद के 'शब्दानुशासन' की स्वोपज्ञ वृत्ति में उद्धृत है। इसके दो हस्तलेख आडियार के राजकीय पुस्तकालय में हैं। इसका एक संस्करण डा० रघुबीर ने और दूसरा पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने संपादित कर प्रकाशित किये हैं, जिनमें मीमांसक जी का संस्करण अधिक प्रामाणिक है।

पाणिनि और शिक्षाशास्त्र

वर्णों के स्थान एवं प्रयत्न का विचार करने वाले ग्रन्थों का पठन-पाठन पाणिनि के समय में ही प्रचलित हो चुका था। 'गणपाठ' और 'ऋक्प्राति-शाख्य' में भी वर्णों के स्थान एवं प्रयत्नों पर विचार किया गया है। काशिकाकार ने भी पाणिनि के एक सूत्र में उल्लिखित 'छंदसि' पद का प्रत्युदाहरण 'शौनकीया शिक्षा' दिया है। 'शौनकीया शिक्षा' का एक हस्तलेख अडियार पुस्तकालय में है। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय में ही शिक्षा-ग्रन्थों की भरपूर रचना होने लग गई थी। भर्तृहरि की स्वोपज्ञटीका और उसके उपटीकाकार वृषभदेव की बातों से ऐसा भी ज्ञात होता है कि पाणिनि के समय में ही शिक्षा-ग्रन्थों पर वृत्तियाँ भी लिखी जाने लगी थीं।

पाणिनीय शिक्षा, शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में ऐसा पहिला ग्रन्थ है, जिस पर प्रस्तुत विषय का सारा अस्तित्व निर्भर है। संप्रति प्राप्त पाणिनीय शिक्षा, पाणिनि-रचित प्राचीन शिक्षासूत्रों पर आधारित है। इसके मूलग्रन्थ को उपलब्ध करने और उसको हिन्दी व्याख्या सहित बड़े व्यवस्थित ढंग से 'वर्णोच्चारणशिक्षा' नाम से प्रकाशित करने का श्रेय प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान् स्वामी दयानंद जी सरस्वती को है।

इसके अतिरिक्त वाराणसी से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह में गौतमशिक्षा, नारदीय शिक्षा, पाण्डुकीय शिक्षा और भारद्वाज-शिक्षा अवलोकनीय हैं। इस विषय पर जितने ग्रन्थ लिखे गये उनमें से बहुत सारे आज उपलब्ध नहीं हैं। अलग-अलग वेदों के अलग-अलग शिक्षाग्रन्थ थे, जिनमें तत्तद् वेदों के मंत्रोच्चारण की विधियाँ और स्वरप्रक्रिया का निर्देश था। आज केवल शुक्ल-यजुर्वेद की 'याज्ञवल्क्य-शिक्षा', सामवेद की 'नारदशिक्षा', अथर्ववेद की 'माण्डूकी शिक्षा' और पाणिनि की 'पाणिनि-शिक्षा' ही उपलब्ध है, जिनको विशेष रूप से उद्धृत किया जाना चाहिये। ऋग्वेद का कोई स्वतंत्र शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उसका आधार पाणिनि-शिक्षा ही है।

विषय

ध्वनि का आरोह-अवरोह, उच्चारण की विशुद्धता और कालावधि का परिसीमन 'शिक्षा' का मुख्य विषय है। सामान्यतः वर्ण, स्वर, मात्रा, बल,

साम और संतान ये छः बातें शिक्षाशास्त्र का वर्ण्य विषय है। अ लेकर ह तक जितने भी वर्ण हैं, विविधस्थानीय होने के कारण उनका पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। वर्णों के स्थान हैं—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ। जो वर्ण जिस स्थान का है उसका उच्चारण वैसा ही होना चाहिए। उदाहरण के लिए दन्तस्थानीय स का उच्चारण तालुस्थानीय श जैसा नहीं होना चाहिए। ऐसा हो जाने से वेद-पाठ सदोष हो जाता है। स्वर उपरिलिखित तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। स्वर-विपर्यय से भी मंत्रार्थ अशुद्ध हो जाता है। मात्रायें तीन है—ह्रस्व, दीर्घ प्लुत। इनका अन्तर्भाव स्वरों के ही अन्तर्गत हो जाता है। पिङ्गल-शास्त्रानुसार मात्रायें गुरु और लघु दो प्रकार की मानी गई हैं। बल कहते हैं प्रयत्न के लिए; प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं—अल्पप्राण महाप्राण। श्रुति-मधुर वेदपाठ को साम कहते हैं। संतान कहते हैं संधि के लिए। वेदपाठ के समय संधि-विच्छेद का भी ध्यान रखना पड़ता है।

इस प्रकार 'शिक्षा'-के उक्त छः वर्ण्य विषयों के समुचित निर्वाह से ही वेदपाठ शुद्ध हो जाता है और उनमें से एक में भी गड़बड़ी हो जाने के फलस्वरूप वेदपाठ विकृत तो हो ही जाता है, साथ ही उसका फल अनिष्टकारी भी होता है। इसलिए 'शिक्षाशास्त्र' का ज्ञान वैदिक मंत्रों की यथेष्ट फल-प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

कल्पसूत्र

मंत्र संहिताओं से लेकर उपनिषद्-ग्रन्थों तक का वाङ्मय वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आता है। उपनिषद्-ग्रंथों का दूसरा 'वेदांत' नाम इसी वैदिक साहित्य की समाप्ति का सूचक है। ऐतिहासिक दृष्टि से, मंत्र-संहिताओं से लेकर षड्-वेदाङ्गों पर्यन्त जितना भी साहित्य है उसको दो बृहद् युगों में विभाजित किया जाता है, जिनके हैं : पूर्व वैदिक युग और उत्तर वैदिक युग। पूर्व वैदिक युग के अन्तर्गत वैदिक साहित्य और उत्तर वैदिक युग के अन्तर्गत वेदांग-साहित्य को परिसीमित किया जा सकता है।

वेदांग छह हैं : शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। वेदों को साक्षात् ब्रह्मस्वरूप माना गया है और ये छह शास्त्र उनके अंग होने के कारण वेदांग की संज्ञा से प्रसिद्ध हैं। शिक्षा, वेद भगवान् की नासिका, कल्प हाथ, व्याकरण मुख, निरुक्त कान, छंद चरण और ज्योतिष नेत्र कहे गए हैं। इन छह अंगों में वेद भगवान् का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग कौन है, इस संबंध में कहना कठिन है। वेदांग के इन स्वतन्त्र छह शास्त्रों में वैदिक साहित्य की बारीकियों की व्याख्या की गई है। एक-एक वेदांग में अपने-अपने विषय का व्यापक विवेचन है।

इतिहासकारों की राय है कि कल्प-ग्रन्थ वेदांग-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। कुछ विद्वान् कल्प-ग्रन्थों को वैदिक साहित्य के अधिक निकट एवं उससे अभिन्न मानने के पक्ष में हैं; किन्तु वैदिक साहित्य के अपौरुषेय और वेदांग-साहित्य के पुरुषकृत होने के कारण ऐसा मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता। इतना अवश्य है कि कल्प-ग्रन्थ वेदांग के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और वैदिक-साहित्य के अधिक निकट बैठते हैं।

कल्पसूत्र : एक नये युग के निर्माता

न केवल विषय की दृष्टि से, वरन् एक नये युग के निर्माण की दृष्टि से भी संस्कृत-साहित्य में कल्पसूत्रों का अपना विशिष्ट स्थान है। कल्पसूत्रों से लौकिक संस्कृत के अभ्युदय का श्रीगणेश होता है। उत्तर-वैदिक युग में जो अनेक विषयों के सहस्रों ग्रन्थ निर्मित हुए उनको प्रेरणा, प्रोत्साहन और प्रगति देने में सूत्रग्रन्थों का बहुत बड़ा भाग है।

कल्पसूत्रों की रचना के बाद भारतीय साहित्य के इतिहास में एक नई दिशा का सूत्रपात हुआ। कल्पसूत्रों के निर्माण का एक विशिष्ट उद्देश्य था। वैदिक साहित्य के विपुल, दुर्गम कठिन और रहस्यमय होने के कारण उसको बोधगम्य करना अति दुस्तर कार्य हो गया था। इसी कठिनाई को दूर करने के हेतु वैदिक विधियों को सूत्रों की संक्षिप्त एवं संकेतपरक भाषा में लिखने की आवश्यकता हुई। 'गागर में सागर' की भांति सूत्रों की संक्षिप्त शब्दावली के द्वारा वेदोक्त विधियों को कण्ठस्थ करने में सुगमता हुई। यही

कल्पसूत्रों के निर्माण का विशिष्ट उद्देश्य था। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक भाव प्रकट करना सूत्रों की विशेषता है।

भाव, भाषा, विचार, शैली और रचना-विधान की दृष्टि से भी सूत्रयुग में अनेक परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। जिस भाषा का रूप हम वैदिक साहित्य में पाते हैं, भावाभिव्यञ्जन एवं रचनाविधान की दृष्टि से जिस शैली का प्रयोग वेदों से उपनिषद्-ग्रन्थों तक निर्वाहित होता रहा, सूत्र-ग्रन्थों की रचना के बाद उसमें आमूल परिवर्तन दिखाई देता है। इस दृष्टि से यह युग अपना अलग स्थान रखता है।

कल्पसूत्रों का प्रधान विषय कर्मों का प्रतिपादन, संस्कारों की व्याख्या और यज्ञों का विधान वर्णन करना है। यज्ञों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन वेदों से एवं ब्राह्मण-ग्रंथों से चला आया है। अथर्ववेद में यज्ञ को जगत् की उत्पत्ति का स्थान कहा गया है। अथर्ववेद के इन्हीं मंत्रों में कहा गया है कि तपःपूत महर्षिवरों ने भगवान यज्ञपुरुष को आत्मना उद्बुद्ध किया।

यज्ञ की श्रेष्ठता का प्रतिपादक ग्रंथ 'यज्ञपरिभाषासूत्र' है। इसमें दो प्रकार के वैदिक यज्ञों का विधान है : श्रौत और गृह्य। क्रमशः इन द्विविध यज्ञों की सम्यग् व्याख्या श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों में वर्णित है। श्रौत यज्ञ के दो भेद किए गए हैं : सोमसंस्था और हविःसंस्था। गृह्ययज्ञ को पाकसंस्था कहा गया है। इन तीनों यज्ञों के सात-सात भेद किए गए हैं, जिनका सांगोपांग वर्णन 'गोपथब्राह्मण' के पूर्वार्ध में वर्णित हैं। सोमसंस्था यज्ञ हैं : अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोयमि; हविसंस्था यज्ञ हैं : अग्न्याध्येय, अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, पशुबन्ध; और पाकसंस्था यज्ञ हैं : सायंहोत्र, प्रातर्होत्र, स्थालीपाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृयज्ञ एवं अष्टका। 'यज्ञपरिभाषासूत्र' के २२ सूत्रों में इन यज्ञों का विधान, व्यवस्थापन और नियम विस्तार से वर्णित हैं।

कल्पसूत्र प्राचीन भारत के कर्मपरायण सात्विक जीवन के परिचायक ग्रंथ हैं। उनमें जीवन की अभ्युन्नति के उपाय और समाज की सद्व्यवस्था की विधियाँ संकलित हैं। उनमें एक ओर तो जीवन को गतिबद्ध करने के तरीके

वर्णित हैं और दूसरी ओर मेधावी भारतीय ग्रंथकारों की सुदूरभूत मेधाशक्ति का अपरिमित वैभव भरपूर है।

कल्पसूत्रों का वर्गीकरण

कल्पसूत्रों के प्रधान तीन विभाग हैं, जिनके नाम हैं : श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। प्राचीन ग्रंथों के उल्लेख से विदित होता है कि वेदों की ११३० मंत्र-संहिताएँ थीं और ब्राह्मण-ग्रंथों, आरण्यकों, उपनिषद्-ग्रंथों एवं कल्पसूत्रों की संख्या भी मंत्र-संहिताओं जितनी (११३०) थी। किन्तु आज न तो उतनी मंत्र-संहिताएँ ही उपलब्ध हैं और न ही उतने ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं कल्पसूत्र हो। कल्पसूत्र संप्रति केवल ४० उपलब्ध हैं। इनमें कुल मिला कर ४२ कर्मों का प्रतिपादन है : १४ श्रौतयज्ञ, ७ गृह्य-यज्ञ, ५ महायज्ञ और १६ संस्कार।

श्रौतसूत्र और उनका विषय

कर्मनिष्ठ हिन्दू जाति के लिए कल्पसूत्रों का बड़ा महत्त्व है। कर्मकाण्ड पर हिन्दू-समाज का अमिट विश्वास दीर्घ काल से चला आ रहा है। श्रौतसूत्र यद्यपि ब्राह्मणग्रंथों में वर्णित कर्मकाण्ड-संबंधी विधानों का ही निर्देश करते हैं, तथापि, उन्हें ब्राह्मण-ग्रंथों एवं वैदिक साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना जाता है। वैदिक संहिताओं में वर्णित जो यज्ञ-यागादि विधान हैं, श्रौतसूत्रों में उनका सार संकलित है। उनका कार्य वैदिक हवि एवं सोमयज्ञ-संबन्धी धार्मिक अनुष्ठानों का प्रतिपादन करना है। श्रौतसूत्रों में श्रुति-प्रतिपादित चौदह यज्ञों का प्रधानतया विधान है। ऐतिहासिक दृष्टि से श्रौतसूत्र प्रायः महत्वशून्य हैं।

प्रधान श्रौतसूत्रों के नाम हैं : आश्वलायन-श्रौतसूत्र, शांखायन-श्रौतसूत्र, मानव-श्रौतसूत्र, बौधायन-श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशी-श्रौतसूत्र, कात्यायन-श्रौतसूत्र, लाट्यायन-श्रौतसूत्र, द्राह्यायण-श्रौतसूत्र, जैमिनीय श्रौत-सूत्र और वैतान-श्रौतसूत्र।

गृह्यसूत्र और उनका विषय

श्रौतसूत्रों के बाद गृह्यसूत्रों का स्थान आता है। गृह्यसूत्रों में गार्हस्थ्य-

जीवन-विषयक धार्मिक विधियों का वर्णन है। गृहस्थ-जीवन से संबंधित गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त जितने भी क्रियाकलाप हैं उन सबकी सविस्तार अनुष्ठानविधि गृह्यसूत्रों में वर्णित है। जिस प्रकार वैदिक यज्ञों की संख्या १४ है, उसी प्रकार गृह-यज्ञों की संख्या भी ७ है, जिनके नाम हैं: पितृयज्ञ, पार्वणयज्ञ, अष्टकायज्ञ, श्रावणीयज्ञ, अश्वायुजीयज्ञ, आग्रहायणीयज्ञ और चैत्रीयज्ञ। इन गृह-यज्ञों के अतिरिक्त पाँच महायज्ञों—देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृ-यज्ञ, महायज्ञ और मनुष्ययज्ञ—का भी गृह्यसूत्रों में विधान है।

गृह्य-सूत्रों में पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, उपनयन, समावर्तन, आठ प्रकार के विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस, पैशाच) और अन्त्येष्टि आदि १६ संस्कारों के विधि-विधान वर्णित हैं।

इन विषयों के अतिरिक्त 'कौशिकगृह्यसूत्र' में चिकित्सा तथा दैविक विपत्तियों को दूर करने के मंत्र भी लिखे हुए हैं। इन गृह्यसूत्रों का एक बहुत बड़ा महत्व यही है कि इनमें हिन्दू धर्म के तत्कालीन गार्हस्थ्य जीवन की पवित्रता और कर्मकाण्डविषयक विश्वासों पर समर्थ प्रकाश डाला गया है।

प्रधान गृह्यसूत्रों के नाम हैं: आश्वलायन-गृह्यसूत्र, शांखायन-गृह्यसूत्र, मानव-गृह्यसूत्र, बौधायन-गृह्यसूत्र, आपस्तंब-गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशी-गृह्यसूत्र, भारद्वाज-गृह्यसूत्र, पारस्कर-गृह्यसूत्र, द्राह्यायण-गृह्यसूत्र, गोभिल-गृह्यसूत्र, खदिर-गृह्यसूत्र और कौशिक-गृह्यसूत्र।

धर्मसूत्र और उनका विषय

वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन की पवित्रता एवं आध्यात्मिक अभ्युन्नति के लिए 'गृह्यसूत्रों' ने जिस प्रकार धार्मिक क्रिया-कर्मों का विधान किया है, 'धर्मसूत्रों' ने उससे आगे बढ़ कर सामाजिक जीवन के रीति-रिवाजों, नियमों और प्रथाओं के भीतर समाज के पारस्परिक कर्तव्यों पर प्रकाश डाला है। धर्मसूत्रों में पारलौकिक, सामाजिक, नैतिक क्रिया-कलापों का भी प्रति-पादन किया गया है।

धर्मसूत्रों में सामाजिक आचार-विचार और वर्णाश्रमधर्म की विस्तृत मीमांसा की गई है। उनमें वैवाहिक सीमाओं, खान-पान और छुआछूत-संबन्धी

बारीकियों पर विचार किया गया है। 'गौतमधर्मसूत्र' में कुछ नियम बड़े उदारवृत्तियुक्त हैं। उदाहरण के लिए उसमें द्विजातियों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों) में पारस्परिक खान-पान की समानता का समर्थन किया गया है; किन्तु उत्तरवर्ती धर्मसूत्रों में इस समानताद्योतक व्यवहार पर प्रतिबन्ध लगाया गया है; यहाँ तक कि विदेशी भाषाओं का अध्ययन और समुद्रयात्रा को भी धर्माचरण के विरुद्ध माना गया है।

इन आज्ञाओं के अतिरिक्त राज्य-व्यवस्था और कर-कानून की भी धर्मसूत्रों में समुचित व्यवस्था वर्णित है। इन धर्मसूत्रों से विदित होता है कि राजा प्रजा-वत्सल होता था और उसके लिए चतुर्वर्ण एक समान होते थे। शासन-विधान का आधार श्रुतियाँ थीं। साथ ही महिला-समाज के उत्तराधिकारों को बड़ी उदारता से निबाहा जाता था। शासन-व्यवस्था प्रजा के हितार्थ थी। राजा-प्रजा के बीच बड़ा भेद-भाव न था। दण्ड-व्यवस्था के संबंध में धर्मसूत्रों की नीति बड़ी असमान और स्वार्थपरतापूर्ण प्रतीत होती है। जहाँ दूसरी जातियों के लिए अंग-भंग जैसे कठोर विधानों की व्यवस्था थी, वहाँ ब्राह्मणों के लिए साधारण अर्थदण्ड मात्र का विधान था और कभी-कभी वे उससे भी मुक्त कर दिए जाते थे। दण्ड-व्यवस्था की यह इतनी असमानता उत्तरवर्ती धर्मशास्त्रविषयक स्मृतिग्रन्थों में नहीं दिखाई देती है। प्रधान धर्मसूत्रों के नाम हैं : वशिष्ठधर्मसूत्र, मानवधर्म-सूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र और गौतमधर्मसूत्र।

कल्पसूत्रों का निर्माण-काल

वैदिककालीन और उत्तर-वैदिककालीन, जितना भी साहित्य था वह पूरा-का-पूरा परंपरा से मौखिक रूप में ही जीवित रहता चला आ रहा था। भारतीय वर्णमाला का निर्माण यद्यपि वैदिक युग में ही हो चुका था और यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में तत्कालीन वर्णमाला के संबंध में उल्लेख मिलते हैं; तथापि, इन वेदोक्त वर्णमालासंबंधी विवरणों का अध्ययन कर स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके निर्माण का उद्देश्य लेखन कार्य के लिए न होकर केवल शास्त्रीय विचार के लिए था। वैदिक युग का समग्र ज्ञान कंठाग्र था। जिन

विभिन्न शाखाओं और उपशाखाओं का उल्लेख हम वैदिक युग में पाते हैं, वही उस युग की पुस्तकें भी थीं। ऋषि-आश्रमों की विभिन्न शाखायें अपने संप्रदाय के समग्र ज्ञान की अधिकारिणी थीं। अपनी शाखा के संपूर्ण साहित्य को जीवित रखना उसके जिम्मे था। अलग-अलग शाखाओं में अलग-अलग विषय का ज्ञान वर्गीकृत था। यही शाखायें तत्कालीन पुस्तकें और उन शाखाओं के बहुसंख्यक शिष्य ही उन पुस्तकों के पृष्ठ थे, जिनकी वाणी में सहस्रों वर्षों तक वैदिक ज्ञान परंपरा से जीवित होता आया।

किन्तु उत्तरवैदिक युग में ऐसी परिस्थिति, इतनी प्रतिभा और इतना ज्ञानानुराग न रहा। 'नारदपुराण' के एक प्रसंग से हमें विदित होता है कि छः मास के बाद ही कंठ-गत ज्ञान विस्मृत होने लगा। जिन ऋषि-वंशजों के पास जो मौखिक ज्ञान सुरक्षित था, लिपिबद्ध होने के अभाव में उनका समग्र ज्ञान उनकी मृत्यु के बाद उन्हीं के साथ अन्तर्धान होता गया।

सिंधु-सभ्यता के उपलब्ध पुरातत्त्वविषयक आलेखों से, जिनका समय वैदिक युग के लगभग है, यह स्पष्ट है कि जहाँ सैंधवजन लेखनशैली और कलाकारिता, दोनों में निपुण थे, वहाँ आर्य लोग दोनों से अनभिज्ञ थे। इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने भी 'नारदपुराण' के कथन का समर्थन करते हुए कहा है कि मृतक व्यक्ति के साथ उसका समग्र मौखिक ज्ञान भी विलुप्त हो जाता था। वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ने का एक कारण यह भी था कि वेदकालीन संपूर्ण ज्ञान श्रुत-जीवित ही चला आ रहा था।

उत्तर वैदिकयुग के संमुख, वैदिकयुग की अपेक्षा एक परिवर्तित परिस्थिति यह भी थी कि तब तक ज्ञान के विभिन्न स्रोतों का आविर्भाव हो चुका था, जिनका सामना पूर्ववैदिक युग को नहीं करना पड़ा था और जिनको संभालना अब उत्तरवैदिक युग के हिस्से में आ पड़ा था।

इसलिए वैदिक ज्ञान की विलुप्त परंपरा को सुरक्षित रखने और ज्ञान के नव-आविर्भूत स्रोतों को गतिबद्ध करने के लिए उत्तरवैदिक युग का आविर्भाव हुआ और उसका आरंभ किया सूत्र-ग्रंथों ने। भोजपत्रों और ताड़पत्रों पर ग्रंथ-निर्माण की परंपरा का आरंभ सूत्र-ग्रंथों से हुआ। सूत्र-ग्रंथों के अतिरिक्त

धर्मशास्त्रविषयक विधि-विधान-संबंधी जितने भी ग्रंथ थे, वे भी बाद में बौद्धधर्म के धार्मिक द्रोह के कारण लिपिबद्ध होने आरंभ हुए। विद्वानों की राय में 'सूत्र-काल' का जन्म बौद्ध-धर्म के साथ-साथ या उससे कुछ पूर्व हुआ। इस दृष्टि से संपूर्ण सूत्र-साहित्य के निर्माण के लिए हम ६००–७०० ई० पू० से २०० ई० पू० का आनुमानिक समय निर्धारित कर सकते हैं।

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' से कल्पसूत्रों के संबंध में एक नया दृष्टिकोण सामने आता है। 'अष्टाध्यायी' के एक सूत्र में कल्पसूत्रों का नाम-निर्देश ही नहीं है, वरन्, उनकी प्राचीन और नवीन, दो श्रेणियों का उल्लेख भी है। काशिका-कार ने प्राचीन कल्पों की श्रेणी में पैङ्ग तथा आरुणयराज और नवीन कल्पों की श्रेणी में आश्मरथ को उद्धृत किया है। कुमारिल भट्ट ने भी 'अरुणपराशर-शाखाब्राह्मणस्य कल्परूपत्वात्' से काशिकाकार के वचनों की प्रामाणिकता सिद्ध की है। जैन शाकटायन की 'चिन्तामणिवृत्ति' में भी 'पैंगलीकल्प' का निर्देश मिलता है। 'बौधायनश्रौतसूत्र' में भी एक 'पैंगलायनिब्राह्मण' उद्धृत है। पाणिनि के एक दूसरे सूत्र में 'काश्यप' और 'कौशिक' ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। कात्यायनकृत 'महाभाष्य-वार्तिक' में 'काश्यप' और 'कौशिक' कल्पसूत्रों की प्रामाणिकता का समर्थन है।

गृहपति शौनक, पाणिनि का समकालीन या उससे कुछ पहिले हुआ था। शौनक का एक शिष्य आश्वलायन था। उसने आश्वलायन और गृह्यसूत्रों का प्रवचन किया। शौनक का दूसरा शिष्य कात्यायन था। उसने कात्यायन-श्रौत और गृह्यसूत्रों की रचना की। संप्रति उपलब्ध 'कात्यायनस्मृति' आधुनिक है।

कल्पसूत्रों में आर्य जाति के पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के प्राचीनतम कर्मानुष्ठान वर्णित हैं। कल्पसूत्रों का जिस क्रम से उल्लेख हुआ है वह उनका ऐतिहासिक क्रम न होकर विषय-क्रम है। कल्पसूत्रों के निर्माणस्थल वही पवित्र ऋषि-आश्रम थे, जहाँ पर वैदिक साहित्य की शाखाओं की स्थापना हुई। कल्पसूत्रों के निर्माता भी वही संप्रदाय थे, जिनका हम पूर्ववैदिक युग में परिचय प्राप्त कर चुके हैं। संस्कृत-साहित्य के सर्वोपरि वैयाकरण पाणिनि ने

अपने व्याकरण-ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में धर्मसूत्रकार एक चरण का उल्लेख किया है। इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए सुप्रसिद्ध भाष्यकार पतंजलि ने 'काठक', 'कालापक', 'मौदक', 'पैप्पलाद' और 'आथर्वण' नामक प्राचीन धर्मसूत्रों का उल्लेख किया है। संप्रति ये सभी धर्मसूत्र अनुपलब्ध हैं; किन्तु इन विलुप्त धर्मसूत्रों का समय ७०० ई० पू० अवश्य था।

धर्मसूत्रकारों में गौतम, बौधायन, आपस्तंब और वशिष्ठ का नाम प्रमुख है। धर्मसूत्रों के निर्माण के लिए विद्वानों की अलग-अलग स्थापनायें हैं। कुछ विद्वानों की राय में गौतम का समय ५०० ई० पू० था। बौधायन का समय भी लगभग यही है। सुप्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् डॉ० जे० जी० बूलर ने १८७१ ई० में 'आपस्तंबसूत्र' का संपादन कर उसको प्रकाशित करवाया। इन्होंने इस सूत्रग्रंथ का निर्माण-काल ४०० ई० पू० के आस-पास सिद्ध किया है। इतिहासकारों की राय में वशिष्ठ, गौतम के बाद और आपस्तंब से पूर्व हुए। बौधायन और आपस्तंब, दोनों दाक्षिणात्य थे और वशिष्ठ निश्चित रूप से उत्तर भारत के थे। इन धर्मसूत्रकारों के सूत्रग्रंथों के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'मानवधर्मसूत्र' का भी उल्लेख मिलता है, जो कि संप्रति अप्राप्य है। 'मनुस्मृति' का आधारभूत ग्रंथ संभवतः 'मानवधर्मसूत्र' ही था।

डॉ० जौली के मतानुसार 'गौतम-धर्मसूत्र' सब सूत्र-ग्रंथों में प्राचीन है, जिसकी समय-सीमा उन्होंने ६०० या ५०० ई० पू० निर्धारित की है। उसके बाद जौली साहब ने 'बौधायन-सूत्र' का रचनाकाल माना है। 'आपस्तंबसूत्र' को उन्होंने बूलर के मत से मिलते-जुलते ५०० या ४०० ई० पू० का बताया है और उसके बाद सबसे अन्त में 'वासिष्ठ-सूत्र' की रचना मानी है।

डॉ० जौली से कुछ असहमत होकर डॉ० जयसवाल 'गौतमधर्मसूत्र' का निर्माण ३५०-३०० ई० पू० के बीच और २०० ई० पू० में उसका पुनः संस्करण होना बताते हैं। 'पारस्करगृह्यसूत्र' और 'बौधायन-धर्मसूत्र' को डॉ० जयसवाल ५०० ई० पू० और उनके वर्तमान रूपों का २०० ई० पू० में संस्करण हुआ स्वीकार करते हैं। 'वाशिष्ठ-धर्मसूत्र' का निर्माण उनकी दृष्टि में १०० ई० पू० हुआ। 'आपस्तंब' के लिए वे डॉ० जौली का मत ही स्वीकार करते हैं।

बौधायन और आपस्तंब दोनों ५०० ई० पूर्व में हुए हैं। इन दोनों ने श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्बसूत्रों का निर्माण किया। संस्कृत-साहित्य के सुविज्ञ विद्वान् बूलर साहब ने तथा दूसरे शोधकर्ता विदेशी पंडितों ने बौधायन का समय आपस्तंब से सौ-दो-सौ वर्ष पहिले माना है। इस दृष्टि से 'आपस्तंब-धर्मसूत्र' का रचनाकाल ३०० ई० पूर्व और 'बौधायन धर्मसूत्र' का रचनाकाल ४०० या ५०० ई० पूर्व बैठता है। किन्तु तिलक प्रभृति कुछ भारतीय इतिहासज्ञ एवं ज्योतिर्विद् सूत्रग्रंथों की सीमा को और पहिले, शकारंभ के कम-से-कम चार सौ वर्ष पहिले मानते हैं।

सूत्रग्रंथों की निर्माण-परम्परा को श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य १२०० ई० पूर्व में ले जाते हैं। डा० गोरखप्रसाद का कथन है कि 'बौधायन-श्रौतसूत्र' के समय में श्रोण और कृत्तिकाओं का उदय एक ही दिशा में होता था। इससे पता चलता है कि 'बौधायन-श्रौतसूत्र' का समय लगभग १२३० ई० पूर्व रहा होगा। किन्तु हमारी दृष्टिसे सूत्रग्रंथों का समय इतना प्राचीन नहीं बैठता है।

मुख्य उपनिषदों का अंतिम समय अनुमानतः हम आठवीं शताब्दी ई० पूर्व रख सकते हैं। कल्पसूत्रों का आरम्भ उपनिषद्-ग्रंथों की अन्त्येष्टि के बाद हुआ। किन्तु संप्रति जो श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र हमें उपलब्ध हैं, वे प्रायः छठी या पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व से दूसरी शताब्दी ई० पूर्व तक के हैं। किन्तु प्राचीन चारणों के आश्रयों में संपादन और परिमार्जन की प्रक्रिया कैसी होती थी, इसका अध्ययन वैदिक संहिताओं के प्रसंग में कर चुके हैं। इसी कारण इन सूत्रों का विद्यमान रूप भले ही पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व के पीछे का हो; किन्तु उनमें बहुत-कुछ पुरानी बातें विद्यमान हैं।

ईसवी पूर्व की ये छः-सात शताब्दियाँ साहित्य-निर्माण की दृष्टि से बड़े महत्व की शताब्दियाँ रही हैं। लगभग इसी युग में बौद्ध-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ तथा कौटिल्य का अर्थशास्त्र (४०० ई० पूर्व) निर्मित हुआ, जिससे कि धर्मशास्त्र की ही भाँति अर्थशास्त्र भी अपनी अलग प्रतिष्ठा स्थापित कर चुका था। सांख्य, योग और लोकायत, इन तीन दर्शन-संप्रदायों के अतिरिक्त, इस युग में बौद्ध-न्याय ने विशेष ख्याति अर्जित की। लगभग ई० पूर्व, पाँचवीं शताब्दी में ही इतिहास और पुराण इन दोनों विषयों ने स्वतंत्र

रूप से अपना निर्माण किया। 'रामायण', 'महाभारत' के संस्करण और 'भगवद्गीता' की अन्त्येष्टि का समय भी यही था। इसी समय को सूत्रग्रंथों के निर्माण का भी समय माना गया है।

सूत्र-ग्रंथों की रचना के विषय में विभिन्न इतिहासकारों की खोजों से विदित होता है कि कल्पसूत्रों के निर्माण की पूर्व सीमा ७०० ई० पूर्व है और लगभग २००, १०० ई० पूर्व तक उनका पुनः संस्करण, संशोधन एवं संपादन होता गया।

व्याकरण

व्याकरणशास्त्र को वेदांगों की श्रेणी में इसलिए रखा गया कि एक ओर तो वह अतिगूढ़ वेदमंत्रों के अर्थ व्यक्त करने की कुंजी है और दूसरी ओर ऐसा कवच भी है, जिससे वेदमंत्र सुरक्षित रह सकें। पहिले भी संकेत किया जा चुका है कि संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् शब्द-भंडार अपनी-अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ-सापेक्ष्य है। शब्दों की व्युत्पत्ति के उद्देश्य से ही व्याकरणशास्त्र का प्रणयन किया गया। 'व्याकरण' शब्द का अर्थ ही शब्दों की व्युत्पत्ति करना है : व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।

मोटे रूप में संपूर्ण संस्कृत-साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : वैदिक और लौकिक। यद्यपि लौकिक साहित्य की आधार-भूमि वैदिक साहित्य ही है; तथापि दोनों की अपनी-अपनी अलग मौलिकताएँ हैं। लौकिक संस्कृत की शब्दोत्पत्ति के लिए जैसे अनेक व्याकरण-ग्रंथ हैं, ठीक उसी भाँति वैदिक संस्कृत की शब्द-निष्पत्ति के लिए अलग व्याकरण-ग्रंथ निर्मित हुए हैं। लौकिक संस्कृत का एकमात्र प्रामाणिक ग्रंथ पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है। यद्यपि 'अष्टाध्यायी' से पहिले और बाद में भी अनेक व्याकरण-ग्रंथ रचे गये; किन्तु पूर्ववर्ती ग्रंथ तो संप्रति उपलब्ध नहीं हैं और जो ग्रंथ बाद में रचे गए, उनमें भी 'अष्टाध्यायी' जितनी सर्वांगीणता एवं सार्वभौमिकता नहीं है। 'अष्टाध्यायी' की परंपरा में रचे गए ग्रंथों एवं ग्रंथकारों में कलाप, चांद्र (६ श०), जैनेन्द्र (८वीं श०), शाकटायन (९वीं श०), संक्षिप्तसार (९वीं श०), सारस्वत (११वीं श०), हेमचंद्र (१२वीं श०), मुग्धबोध

(१३वीं श०) और सुपद्म (१४वीं श०) का उल्लेखनीय स्थान है । 'अष्टाध्यायी' के अंत में वैदिक भाषा से संबंधित एक 'स्वर-वैदिकी' प्रक्रिया है; किन्तु प्रधानतः यह लौकिक भाषा का ही व्याकरण है ।

वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके अर्थबोध के लिए विशिष्ट रूप से जिन व्याकरण-ग्रंथों को रचा गया उनका नाम 'प्रातिशाख्य' है । इन प्रातिशाख्य ग्रंथों के मूल सूत्र ब्राह्मण-ग्रंथों और कल्पसूत्रों में विद्यमान हैं । इस दृष्टि से सिद्ध है कि प्रातिशाख्यकार वैयाकरणों ने अपने ग्रंथों के निर्माण की प्रेरणा वैदिक साहित्य के प्राचीन ग्रंथों से ही प्राप्त की है ।

तुलनात्मक दृष्टि से 'अष्टाध्यायी' में शब्द-रचना के संबंध में जितनी बारीकी और गहराई से विचार किया गया है, प्रातिशाख्यों में वैसी मौलिकता नहीं मिलती है । प्रातिशाख्यों का विषय है : वर्णसमाम्नाय, पदविभाग, संधि-विच्छेद, स्वरविचार, संहितापाठ और उच्चारणभेद ।

प्रातिशाख्य-ग्रंथ अनेक थे । संभवतः ११३० वैदिक संहिताओं के जितने ही प्रातिशाख्य भी रहे हों; किन्तु कुछ ही उपलब्ध वेद की शाखाओं की तरह, प्रातिशाख्य भी बहुत कम संख्या में उपलब्ध हैं । उपलब्ध प्रातिशाख्यों में 'ऋक् प्रातिशाख्य' (पार्षद सूत्र), 'शुक्लयजुः प्रातिशाख्य', 'साम प्रातिशाख्य', 'अथर्व प्रातिशाख्य' और 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' का नाम उल्लेखनीय है । ऋग्वेद का प्रातिशाख्य एक बृहद् ग्रंथ है । इसका रचयिता आश्वलायन का गुरु शौनक था । इस ग्रंथ में तीन कांड और प्रत्येक कांड में ६ पटल हैं । ये पटल १०३ कण्डिकाओं में विभक्त हैं । इस ग्रंथ पर सबसे पहिला भाष्य विष्णुपुत्र ने लिखा । उव्वट इस ग्रंथ के संस्कर्ता और नये भाष्यकार हुए ।

तमिल साहित्य में अगस्त्य का नाम एक निष्णात वैयाकरण के रूप में विख्यात है । अगस्त्य ने 'ऋक् प्रातिशाख्य' से भी पहिले एक वैदिक व्याकरण की रचना की थी, क्योंकि उक्त प्रातिशाख्य-ग्रंथ में अगस्त्य-व्याकरण का हवाला दिया गया है । तंजोर-भंडार की हस्तलिखित पोथियों के सूचीपत्र में भी अगस्त्य-व्याकरण का उल्लेख मिलने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है ।

ये अगस्त्य आयुर्वेदज्ञ भी थे । आयुर्वेद का ज्ञान इन्होंने आचार्य भास्कर

से प्राप्त किया था, क्योंकि 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में भास्कर-शिष्यों की सूची में अगस्त्य का नाम भी उल्लिखित है। 'महाभारत' में एक स्थान पर द्रोण के मुँह से कहलाया गया है कि 'पूर्वकाल में अग्निवेश नामक मेरा गुरु धनुर्वेद में अगस्त्य का शिष्य था'। इस दृष्टि से अगस्त्य को एक ऐतिहासिक पुरुष और वह भी महाभारतकालीन मानने में संदेह नहीं रह जाता है। अगस्त्य के बहुमुखी व्यक्तित्व का पता उनके द्वारा रचित एक वास्तुशास्त्रविषयक ग्रंथ को और एक पक्षिशास्त्रविषयक 'पंचपक्षिशास्त्र' को देखकर सहसा ही लग जाता है।

निरुक्त

निरुक्त और व्याकरण दोनों का प्रायः एक ही विषय है : शब्द-ज्ञान और शब्द-व्युत्पत्ति। वेदमंत्रों का अर्थ जानने के लिए पहिले उनका व्युत्पत्ति-अर्थ जानना आवश्यक होता है। 'निरुक्त' का विषय कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति करना है। जो दुरूह शब्द व्याकरण की पकड़ से बाहर थे, उनके अर्थज्ञान के लिए ही 'निरुक्त' की रचना हुई।

व्याकरण और निरुक्त

'निरुक्त' एक ऐसा विषय है, जिसका अध्ययन करने के लिए व्याकरण का पंडित होना आवश्यक है। इस दृष्टि से 'निरुक्त' व्याकरणशास्त्र के चरमोत्कर्ष का ग्रंथ है। 'निरुक्त' वेदार्थ-बोध के लिए उपयोगी विषय तो है ही, साथ ही, उसमें व्याकरणशास्त्र के विकास के प्राचीन सूत्र होने के कारण उसकी उपयोगिता भी कम नहीं है। यास्क ने स्वयं निर्देश किया है कि अवैयाकरण के लिए 'निरुक्त' नहीं है : नावैयाकरणाय।

निघण्टु और निरुक्त

'निरुक्त' के रचयिता का नाम यास्क था, जिसका स्थितिकाल लगभग ७०० ई० पूर्व बैठता है। 'निरुक्त' से भी प्राचीन एक 'निघंटु'ग्रंथ का उल्लेख मिलता है, जिसमें वेद के कठिन शब्दों की तालिका क्रमबद्ध रूप में संकलित

थी; किन्तु जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। 'निघंटु' निरुक्त से सर्वथा भिन्न एक वैदिक शब्दकोश था, जिस पर 'निरुक्त' नाम से यास्क ने भाष्य लिखा। 'निरुक्त' और 'निघंटु' दोनों अलग हैं, फिर भी उनकी विषय-एकता के कारण सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में लाक्षणिक रूप में 'निघण्टु' को भी 'निरुक्त' ही कहा है, यद्यपि 'निरुक्त', 'निघंटु' की व्याख्या है।

'निरुक्त' में समझाया गया है कि कौन सा शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में क्यों रूढ़ है। 'निरुक्त' के अपने विषय हैं, जिन तक 'निघंटु' नहीं पहुँच सकता है। वे विषय हैं :

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगः तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्॥

वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश, धातु का उसके अर्थातिशय से योग, इन विषयों का प्रतिपादन 'निरुक्त' में है। ये विषय निघंटु जैसे कोश-ग्रंथ के नहीं, अपितु व्याख्या-ग्रंथ के ही हो सकते हैं, जिससे 'निघंटु' और 'निरुक्त' की पृथक्ता और भी स्पष्ट हो जाती है।

निरुक्त का विषय

'निरुक्त' में तीन काण्ड हैं : नैघण्टुक, नैगम और दैवत। परिशिष्ट के दो अध्यायों को मिलाकर 'निरुक्त' की अध्याय-संख्या १४ बैठती है। सायणाचार्य ने परिशिष्ट के दो अध्यायों को छोड़ कर १२ अध्यायों का कर्ता यास्क को माना है। 'निरुक्त' में जिन पाँच बातों का विचार किया गया है, उनका संकेत ऊपर के श्लोक में किया गया है। इस दृष्टि से 'निरुक्त' एक ओर तो कठिन—वैदिक शब्दों का व्युत्पत्ति-बोधक ग्रंथ होने के कारण 'निघंटु' के विषय को भी अपने में समा लेता है और दूसरी ओर 'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्' पद-मीमांसक ग्रन्थ होने के कारण व्याकरणशास्त्र का सर्वस्व भी कहा गया है। यास्क ने शब्दों को धातुज मानकर उनकी निरुक्ति की है; यह 'निरुक्त' के प्रतिपाद्य विषय की असाधारण बात है।

'निरुक्त' यद्यपि वैदिक शब्दोंका व्याख्या-ग्रन्थ है, तथापि, उसमें व्याकरण,

भाषा-विज्ञान, साहित्य, समाजशास्त्र और इतिहास आदि विषयों की प्राचीनतम जानकारी प्राप्त करने के लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।

वेद को निरुक्तकार ने 'ब्रह्म' की संज्ञा दी है और उसको इतिहास, ऋचाओं एवं गाथाओं का समुच्चय कहा है: तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रं ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति।

यास्क

वेदार्थ के प्रतिपादक सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'निघंटु' और 'निरुक्त' हैं। 'निघंटु' संप्रति उपलब्ध न होने के कारण अपने विषय का 'निरुक्त' ही एक मात्र ग्रन्थ हमारे पास बचा हुआ है, जिसको वेद के समग्र भाष्य-ग्रन्थों में आगे रखा जा सकता है। 'निघंटु' और 'निरुक्त' दोनों ही एक प्रकार से वेद-भाष्य हैं। 'निघंटु' वैदिक शब्दकोश का नाम है और उसकी टीका निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है। विद्वानों ने लगभग २० निघंटु-ग्रन्थों का पता लगाया है।

यास्क ने अपने ग्रन्थ 'निरुक्त' में अपने पूर्ववर्ती कतिपय वैयाकरणों, कोशकारों, निरुक्तकारों और निघंटुकारों का उल्लेख 'एके', 'अपरे' 'आचार्याः' 'अन्ये' आदि पर्यायवाची शब्दों से किया है। 'निरुक्त' में उक्त विषयों के १२ आचार्यों का उल्लेख स्पष्ट रूप से मिलता है, जिनके नाम हैं: औदुम्बरायण, औपमन्यव, वार्ष्यायणी, गार्ग्य, आग्रहायण, शाकपूणि, और्णवाभ, तैटीकी, गालव, स्थौलाष्ठीवि, क्रौष्टु और कात्थक्य।

इन प्राचीनतम द्वादश आचार्यों में छठे आचार्य शाकपूणि को एक अद्भुत वैयाकरण और भाषाशास्त्री माना गया है। इन आचार्य शाकपूणि के वंशजों की शिष्यपरंपरा में ही यास्क हुए। इस शिष्यपरंपरा के इतिहास का संबंध लगभग विदेह जनक के युग से आरम्भ होता है।

विदेह जनक के समकालीन उद्दालक आरुणि एक प्रसिद्ध विद्वान् और विचारक हुए हैं, जिन्होंने अश्वपति से तत्त्वज्ञान की शिक्षा ग्रहण की। इनका पुत्र श्वेतकेतु औद्दालकि हुआ, जिसकी प्रसिद्धि एक विचक्षण ब्रह्मवेत्ता और कामशास्त्र के प्रवर्तक के रूप में विश्रुत थी। श्वेतकेतु की वंश-परंपरा में एक

अद्भुत वैयाकरण एवं भाषाशास्त्री शाकपूणि हुए, जिनका उल्लेख उनके उत्तरवर्ती निरुक्तकार यास्क ने किया।

शाकपूणि की अगली पीढ़ी में आसुरि नामक एक अद्भुत विद्वान् हुए, जिनके यशस्वी शिष्य का नाम पंचशिख था। इसी पंचशिख को अनीश्वरवादी दर्शन सांख्य का निर्माता कपिल भी कहा गया है। भारतीय षड्-दर्शनों की परंपरा में सांख्यदर्शन सबसे प्राचीन है और इस प्रकार भारतीय दर्शनकारों में कपिल पंचशिख पहले दार्शनिक आचार्य हुए। इन्हीं पंचशिख की तीसरी पीढ़ी में यास्क हुए, जिनके वंशज अथवा शिष्य ने 'निरुक्त' नामक एक निघंटु ग्रंथ की रचना की।

विद्वानों का निष्कर्ष है कि कश्यप प्रजापति ने पहले-पहल 'निघंटु' की रचना की थी। उसके भाष्य में यास्क ने अपना 'निरुक्त' लिखा। 'निघंटु' के प्रामाणिक भाष्यकार स्कंधस्वामी और देवराज यड्वा हुए। देवराज यड्वा के भाष्य पर भास्कर मिश्र ने एक टीका लिखी, जिसमें उन्होंने माधवदेव, भवस्वामी, ग्रहदेव, श्रीनिवास और उव्वट प्रभृति सुप्रसिद्ध वेदभाष्यकारों का उल्लेख किया है।

कश्यप कृत 'निघंटु' पर देवराज यड्वा द्वारा लिखा गया भाष्य-ग्रंथ विशेष महत्त्व का है। देवराज यड्वा का समय १४वीं श० है। देवराज यड्वा अत्रि-गोत्रीय थे और रंगेशपुरी उनका निवासस्थान था। उनके पिता का नाम यज्ञेश्वर था।

यास्क और देवराज यड्वा, एक ही मूलग्रंथ के दो भाष्यकार होने की वजह से, समय की दूरी के बावजूद भी, निकट के व्यक्ति ठहरते हैं। यास्क और देवराज यड्वा के भाष्य-ग्रन्थों में एक बड़ा अंतर यह है कि जहाँ 'निरुक्त' में वैदिक मंत्रों की व्याख्या पर अधिक बल दिया गया है वहाँ देवराज-भाष्य में वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया गया है।

यास्क कृत 'निरुक्त' के सुप्रसिद्ध और प्रामाणिक टीकाकार दुर्गाचार्य हुए। अपने इस टीका-ग्रंथ में 'निरुक्त' की एक 'निरुक्त-वार्तिक' नामक प्राचीन टीका का उल्लेख दुर्गाचार्य ने किया है, जो संप्रति अनुपलब्ध है। दुर्गाचार्य कश्मीर-देशीय थे, जो आगे चलकर संन्यासी हो गए थे। इनका स्थितिकाल लगभग छठी शताब्दी है।

दुर्गाचार्य के अतिरिक्त बर्बरस्वामी, स्कंदमहेश्वर और वररुचि ने 'निरुक्त' पर टीकाएँ लिखीं। निरुक्त-टीकाकार वररुचि और वैयाकरण वररुचि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हुए।

यास्क का स्थितिकाल ७०० ई० पू० के लगभग था।

छन्द

वेद-मंत्रों की विशुद्धता और उनकी लयबद्ध गति के ज्ञानार्थ छन्दःशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता होती है। वेद-मंत्र छन्दबद्ध हैं। उनके उच्चारण की गति-विधि बिना छन्द-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किए नहीं जानी जा सकती है, जिसके बिना मंत्रों का समुचित फल नहीं मिलता है। इस हेतु षड्वेदांगों में छन्द-शास्त्र की गणना करके उसके अध्ययन के लिये बल दिया गया है।

वेद-मंत्रों के साथ छन्द के उच्चारण का कितना घनिष्ठ संबंध है, इसका विवरण हमें 'छन्द' शब्द की शास्त्रीय व्युत्पत्ति करने के बाद ज्ञात होता है। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार 'छन्द' शब्द की कई प्रकार से निष्पत्ति की जा सकती है। रुचिकर और श्रुतिप्रिय लयबद्ध वाणी ही छन्द है : छन्दयति पृणाति रोचते इति छन्दः। जिस वाणी को सुनते ही मन आह्लादित हो जाता है, वह छन्दमयी वाणी ही वेद है : छन्दयति आह्लादयति छन्द्यन्तेऽनेन वा छन्दः।

'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति का यह एक पक्ष या एक उद्देश्य हुआ; किन्तु वेदमंत्रों के लिए उसका दूसरा भी पक्ष या उद्देश्य है, जो कि पहले उद्देश्य की अपेक्षा अधिक सारवान् प्रतीत होता है। छन्द को एक ऐसे कवच के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसके द्वारा वेद-मंत्र आसुरी हस्तक्षेप से सुरक्षित रह सकें। जो असुरों की विघ्न-बाधाओं से यज्ञादि कर्मों की एवं वैदिक अनुष्ठानों की रक्षा करता है वही छन्द है : छादयति मंत्रप्रतिपाद्ययज्ञादीन् इति छन्दः। प्राचीन एवं प्रामाणिक भाष्यकार यास्क ने अपने 'निरुक्त' में छन्द के इसी सुरक्षार्थक स्वरूप का वर्णन किया है। यास्क का कथन है कि मन्त्रों का विषय मनन, छन्दों का छादन, स्तोत्रों का स्तुति और यजुओं का यजन है : मंत्राः मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोत्रः स्तवनात्, यजुः यजनात्।

श्रुतियों में छन्द की महत्ता पर विशेष बल दिया गया है, और उसको असुरजनित विघ्न-बाधाओं के लिए एक शक्तिशाली सैनिक के रूप में माना गया है। दक्षिणतोऽसुरान् रक्षांसि त्वष्ट्रान्यपहन्ति त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै रविष्टुप्' अर्थात् छंद यज्ञकुण्ड की दक्षिण परिधि में त्रिष्टुप्स्वरूप है और रविष्टुप वज्रस्वरूप है, जिसके कारण विघ्नेच्छु असुरों का विनाश होता है।

वर्णों के न्यूनाधिक्य से वैदिक छन्दों के अनेक भेद-उपभेद हैं। प्रधान वैदिक छंद और उनकी वर्णसंख्या इस प्रकार है : गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पंक्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४, जगती ४८, अतिजगती ५२, शक्करी ५६, अतिशक्करी ७६, कृति ८०, प्रकृति ८४, आकृति ८८, विकृति ९२, संस्कृति ९६, अभिकृति १०० और उत्कृति १०४।

छन्दशास्त्र का प्रवर्तन

भगवान् शिव, अन्य शास्त्रों की भाँति छन्दशास्त्र के भी प्रवर्तक थे। अपने भाष्यग्रन्थ की पुष्पिका में यादवप्रकाश ने एक श्लोक उद्धृत करते हुए यह बताया है कि देवगुरु बृहस्पति ने भगवान् शिव से सर्वप्रथम छन्दोज्ञान प्राप्त किया था। बृहस्पति से यह ज्ञान दुश्च्यवन इंदु और इंदु से माण्डव्य नामक सुरगुरु ने प्राप्त किया था। यादवप्रकाश के 'पिंगलनागछंद-भाष्य' की पुष्पिका में लिखा है कि सनत्कुमार भी छन्दशास्त्र का ज्ञाता था।

छंदशास्त्रविषयक उपलब्ध ग्रंथ

छंदशास्त्रविषयक प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ 'ऋक्प्रातिशाख्य' है। इस ग्रन्थ का प्रधान विषय यद्यपि व्याकरण है, तथापि उसके अन्तिम भाग में वैदिक छंदों पर भी प्रकाश डाला गया है, यद्यपि उसकी यह छंदविषयक चर्चा नितांत अधूरी है। आचार्य पिंगल का 'छंदशास्त्र' वेदांत का सर्वाधिक प्राचीन, प्रौढ़ एवं सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ न केवल वैदिक छंदों के प्रतिपादन की दृष्टि से उपयोगी है, वरन् लौकिक छंदों पर प्रथम प्रकाश डालने वाला आदिग्रन्थ भी यही है। इसी सूत्रग्रन्थ का एक संस्करण 'प्राकृत

पिंगल' नाम से भी प्रसिद्ध है, जिसमें प्राकृत के छंदों की विवेचना है। इस संस्करण-ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग १४वीं शती का है।

यापनीय संप्रदाय के अनुयायी एवं अपभ्रंश भाषा के महाकवि स्वयंभु (७वीं ई०) का एक अधूरा ग्रन्थ 'स्वयंभुछंद' के नाम से प्रकाशित है। छन्दशास्त्र से संबद्ध कालिदास ने 'वृत्तरत्नावली' और 'श्रुतबोध' दो ग्रन्थ लिखे। ये कालिदास, महाकवि कालिदास से भिन्न एवं संभवतः सातवीं-आठवीं शती में हुए। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद वाराहमिहिर (६ठी शताब्दी) ने अपने ज्योतिषविषयक ग्रन्थ 'बृहत्संहिता' के एक अध्याय में छन्दों पर भी प्रकाश डाला है। जनाश्रय (८वीं शताब्दी) ने भी एक अच्छा ग्रन्थ 'छन्दोविचिति' लिखा। क्षेमेन्द्र ने (११वीं शताब्दी) 'सुवृत्ततिलक' ग्रन्थ लिखा और उसमें अपने पूर्ववर्ती पिंगलकर्ता विद्वानों के ग्रन्थों का भी हवाला दिया है।

छन्दशास्त्र की परम्परा का आचार्य हेमचन्द (१०८८-११७२ ई०) ने 'छन्दोऽनुशासन', केदारभट्ट (१५वीं शताब्दी) ने 'वृत्तरत्नाकर', दुर्गादास (१५वीं शताब्दी) ने 'छन्दोमंजरी', दामोदर मिश्र (१६वीं शताब्दी) ने 'वाणीभूषण' और दुःखभंजन (१६वीं शताब्दी) ने 'वाग्वल्लभ' आदि ग्रन्थों को लिखकर सर्वांगीण विकास किया। इनके अतिरिक्त 'वृत्तमणिकोश' और 'वृत्तालंकार' आदि ग्रन्थ भी इसी श्रेणी के हैं।

अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहों के सूचीपत्रों में छन्दशास्त्रविषयक प्राचीन-नवीन ग्रन्थ, अप्रकाशित दशा में पड़े हुए हैं। इस विषय पर अधिक सामग्री प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले पाठकों को हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहों की शरण लेनी चाहिए।

ज्योतिष

वेदांग साहित्य में ज्योतिषशास्त्र का प्रमुख भाग है। यज्ञानुष्ठान की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका समारंभ और समाप्ति अनुकूल ग्रहज्ञान के आधार पर हो। ग्रहों के अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञान के लिए एकमात्र शास्त्र ज्योतिष है। धर्मप्रवण भारत में वैदिकयुगीन आर्य ग्रहों की

पूजा करते थे। इसलिए कि वे समाज के लिए, देश के लिए अनुकूल फल के देने वाले हों। शनैः शनैः ग्रह-नक्षत्रों के प्रति वैदिक जनों की यह जिज्ञासा उनकी गति-विधि की जानकारी के लिये प्रशस्त हुई और फलतः इसी ग्रहजिज्ञासा ने ज्योतिष को जन्म दिया। ग्रहण का अध्ययन, पृथ्वी की परिभ्रमणगति और दशमलव-पद्धति का विचार यहीं से प्रारंभ हुआ। अणुवादी विचारधारा, जिसका आधार ज्योतिष शास्त्र है, कणाद और जैनों ने प्रतिष्ठित की।

'आचार्य ज्योतिष' में कहा गया है कि वेदों का प्रधान विषय यज्ञ-संपादन है और यज्ञ के सफल संपादन के लिए आवश्यक है कि उनका आरंभ ग्रहों की सुगति को देख कर किया जाय, जिसको बताने वाला शास्त्र ज्योतिष है। इस दृष्टि से विदित होता है कि ज्योतिष वेदांग के विना यज्ञों का संपादन नहीं हो सकता है।

वेदांग ज्योतिष

'वेदांग ज्योतिष' को एक पुस्तक नाम देना उपयुक्त नहीं जान पड़ता है, क्योंकि आज जिस रूप में वह उपलब्ध है, उसमें केवल ४४ श्लोक मात्र हैं। उसके दो पाठ उपलब्ध हैं : एक ऋग्वेद ज्योतिष, जिसमें ३६ श्लोक हैं और दूसरा यजुर्वेद ज्योतिष, जिसमें ४४ श्लोक हैं। दोनों में अधिकांश श्लोक एक जैसे हैं; किन्तु उनका पाठ-व्यवस्थापन भिन्न है। उसके कुछ संस्करणों में ४३ श्लोक भी मिलते हैं; किन्तु डॉ० शाम शास्त्री द्वारा संपादित संस्करण में ४४ ही श्लोक हैं, जो कि आज प्रामाणिक संस्करण माना जाता है। डॉ० शाम शास्त्री के कथनानुसार उक्त दोनों पुस्तिकाओं की श्लोक-संख्या में कमी-बेसी इसलिए हो गई कि पीछे से टीकाकारों ने यजुर्वेद ज्योतिष में कुछ श्लोक अपनी ओर से जोड़ दिए। कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि ये दोनों पुस्तिकाएँ, संप्रति विलुप्त, किसी बृहद् ग्रंथ के अवशिष्ट अंश हैं।

उसके व्याख्याकार

'वेदांग ज्योतिष' जैसी छोटी पुस्तिका पर प्राचीन और आधुनिक अनेक विद्वानों ने अपनी व्याख्याएँ लिखीं। इन सभी व्याख्याओं में मतैक्य नहीं है।

उसका कारण यह कि मूल पुस्तिका की सूत्रशैली अत्यंत ही संकेतात्मक है। यह पुस्तिका किसी अध्येता या ज्योतिष के अभीप्सु के लिए नहीं है; बल्कि ज्योतिषशास्त्र का प्रकांड विद्वान् ही उसके मर्मों को समझ सकता है।

'ज्योतिष वेदांग' के प्राचीन टीकाकारों में सोमाकर हुए। जिन आधुनिक विद्वानों ने उस पर भाष्य, टीका तथा टिप्पणियाँ लिखीं उनमें वेबर, सर विलियम जोंस, ह्विटनी कोलब्रुक, बेंटली, डेविस, मैक्समूलर, थीबो, कृष्णशास्त्री गोडबोले, जनार्दन बालाजी मोडक, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, लाला छोटेलाल (बार्हस्पत्य), म० म० सुधाकर द्विवेदी और डॉ० आर० शाम शास्त्री प्रमुख हैं। इस छोटी-सी पुस्तिका को लेकर उक्त विद्वानोंमें कई दिन तक वाद-विवाद चलता रहा और उसका सुपरिणाम यह हुआ कि मूल पुस्तक की बहुत सारी मर्म की बातें प्रकाश में आईं।

उसका लेखक और रचनाकाल

ऋग्वेद और यजुर्वेद के दोनों संस्करणों में स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि ग्रंथकार को ज्योतिष का ज्ञान किसी लगध नामक महात्मा से उपलब्ध हुआ। इन लगध महात्मा के संबंध में विद्वानों का मत है कि संस्कृत का मूल शब्द न होने के कारण तथा संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र कहीं भी इस नाम के लेखक का उल्लेख न मिलने के कारण लगध महात्मा कोई विदेशी थे और इसलिए भारत में ज्योतिष का ज्ञान बाहर से आया; किन्तु यह बात उचित प्रतीत नहीं होती है।

पुस्तक के प्रथम श्लोक में 'शुचि' शब्द के आधार पर कुछ विद्वान् उसके लेखक का नाम 'शुचि' ही बताते हैं; किन्तु यह शब्द वहाँ दूसरे अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है, अर्थात् 'मैं शुचि (शुद्ध होकर) बताऊँगा' इसलिए 'वेदांग ज्योतिष' के कर्ता के संबंध में अभी तक कुछ भी विदित नहीं हो पाया है। 'वेदांग ज्योतिष' में वर्णित अक्षांश के आधार पर विद्वानों ने इतना अनुमान किया है कि वह उत्तर काश्मीर या अफगानिस्तान का निवासी था।

'वेदांग ज्योतिष' में बताई गई विषुव स्थिति के आधार पर भारतीय विद्वानों ने उसका रचना-काल १२०० ई० पूर्व रखा है। जब कि यूरोपीय विद्वानों का कहना है कि तारों के सापेक्ष सूर्य की स्थिति पर ग्रंथ की रचना का अनुमान लगाना त्रुटिपूर्ण भी हो सकता है, क्योंकि बहुत सम्भव है ग्रंथकार ने किसी प्राचीन प्रमाण के आधार पर यह सुनी-सुनाई बात लिख दी हो। 'ज्योतिष वेदांग' की रचना थीबो, ब्राह्मण-ग्रन्थों के बाद मानते हैं। जोंस तथा प्राट के मतानुसार ११८१ ई० पूर्व; डेविस तथा कोलब्रुक की स्थापना १३९१ ई० पूर्व है।

वेदांग ज्योतिष का ज्ञान पहिले-पहिल पितामह अर्थात् ब्रह्मा को प्राप्त हुआ था और उन्होंने अपने पुत्र वसिष्ठ को उस में दीक्षित किया। विष्णु ने उस ज्ञान को सूर्य को दिया और वही ज्ञान 'सूर्यसिद्धान्त' के नाम से विख्यात हुआ। उस सिद्धान्त को सूर्य ने मय को प्रदान किया, जो कि 'वाशिष्ठसिद्धान्त' के नाम से जगत-विश्रुत हुआ। पुलिश ने एक स्व-निर्मित सिद्धान्त अलग से ही गर्ग आदि मुनियों को सिखाया। सूर्य ने शापग्रस्त होकर यवन-जाति में जन्म धारण किया और रोमक-सिद्धान्त को जन्म दिया। रोमक ने अपने नगर में इसका भरपूर प्रचार किया।

षड्-वेदांगों में ज्योतिष वेदांग की मान्यता एवं महत्ता के संबंध में लिखा हुआ है कि जिस प्रकार मयूरों की शिखाएँ एवं नागों की मणियाँ सर्वोपरि स्थान को प्राप्त हैं, उसी प्रकार वेदांगशास्त्रों में गणित का स्थान सर्वोपरि है।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र का मूल यही वेदांग ज्योतिष है। आगे चलकर ज्योतिषशास्त्र ने संहिता, गणित और जातक इन तीन भागों में अपना विकास किया। आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य जैसे विश्वविख्यात भारतीय ज्योतिर्विदों ने अपने अद्‌भुत सिद्धान्तों को जन्म देकर इस शास्त्र को अभिनव रूप प्रदान किया।

वेदांग ज्योतिष में कहीं उदगयन-स्थिति, का अध्ययन करके लोकमान्य तिलक ने उसकी रचना १२०० या १४०० ई० पूर्व के लगभग निश्चित की है।[3]

'वेदांग-ज्योतिष' की पुस्तिका भले ही कुछ उतने महत्व की न रही हो; किन्तु उसके संबंध में क्या इतना कम है कि एक लंबे समय तक विद्वानों का उसके संबंध में विवाद चलता रहा।

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

रामायण : महाभारत : पुराण

रामायण

संस्कृत भाषा का साहित्य दुनिया की शीर्षस्थ भाषाओं के साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर चुका है। संस्कृत भाषा को यह उच्चासन अकारण ही उपलब्ध नहीं हुआ है, वरन्, भारत के उन ज्ञानमना महा मनस्वियों की एकांत ज्ञान-जिज्ञासा के फलीभूत प्राप्त हुआ है, जिन्होंने घर-बार, माया-मोह और धन-संपत्ति, यहाँ तक कि आत्मनाम एवं आत्मकीर्ति से भी विमुख होकर सुनसान अरण्यों में अपने सारे-के-सारे जीवन को, अपनी महानतम कृतियों के निर्माण में ही व्यय कर दिया; और यही कारण है कि आज भारत की उन ज्ञानप्रवण आत्माओं का दैहिक व्यक्तित्व यद्यपि काल की असंख्य परतों से ढक गया, किन्तु उनके यश की उज्ज्वल कथा धरती एवं आकाश के साथ सदाशय रूप में अमर होकर आज ही की भाँति दूर भविष्य तक अक्षुण्ण बनी रहेगी।

'रामायण' एक दिन अपने अकेले निर्माता की कृतिमात्र रही होगी; किन्तु आज वह कोटि-कोटि नर-नारियों के घर-घर की वस्तु है। 'रामायण' निःसंदेह एक महान् कवि की महान् कृति है। उसमें एक ओर तो अपने महान् निर्माता की अनुपम पांडित्य-प्रतिभा का समावेश है और दूसरी ओर जिस देश एवं जिस धरती में उसका निर्माण हुआ, वहाँ के सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और आदर्शमय जीवन की समग्रताओं का एक साथ समावेश है। 'रामायण' अपने मूलरूप में संस्कृत-साहित्य का आदि महाकाव्य और कतिपय परवर्ती महाकाव्यों, काव्यों का प्रेरणास्रोत है, वरन्, वह भारतीय परिवारों की धर्म-पोथी, भारतीय आचार-विचार, संस्कार-संबंधों का आदर्शग्रंथ और भारत की

चिरंतन भक्ति-भावना, ज्ञान-भावना तथा मैत्री-भावना की प्रतिनिधि पुस्तक है। रवीन्द्र बाबू ने 'रामायण' की इस सर्वांगीणता को लक्ष्य करके एक बार कहा था :

'रामायण' का प्रधान विशेषत्व यही है कि उसमें घर की ही बातें अत्यन्त विस्तृत रूप से वर्णित हुई हैं। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, स्वामी-स्त्री में जो धर्म-बंधन है, जो प्रीति और भक्ति का संबंध है, उसको 'रामायण' ने इतना महान् बना दिया है कि वह सहज में महाकाव्य के उपयुक्त हो गया है। हिमालय जितने ऊँचे एवं व्यापक आदर्शों और सागर जैसे गम्भीर विचारों, का एक साथ किसी एक ग्रंथ में समावेश हो पाया है तो वह 'रामायण' ही है। अपनी इन्हीं मौलिक विशेषताओं के कारण देश-काल की सीमाओं को तोड़कर 'रामायण' आज विश्व-साहित्य की महान् कृति और महामुनि वाल्मीकि विश्वकवि के रूप में पूजित हो रहे हैं।

'रामायण' भारतीय साहित्य का पहिला महाकाव्य और विश्व-साहित्य के प्राचीनतम महाकाव्यों की तुलना में भाषा, भाव व छन्द, रचना-विधान एवं रस-व्यंजना, सभी दृष्टियों से एक उत्कृष्ट कृति प्रमाणित हो चुकी है।

महामुनि के जीवन का एकमात्र उद्देश्य ज्ञानार्जन करना था। जन-कलरव से दूर एकान्त अरण्यों में जीवन-यापन करने पर भी पारिवारिक आहार-व्यवहारों एवं सामाजिक क्रिया-कलापों के प्रति भी उनका ज्ञान अपरिमित था। उन्होंने पारिवारिक संबंधों का और सामाजिक जीवन की बातों का इतनी बारीकी से विश्लेषण किया है कि, वैसा कदाचित् ही किसी दूसरे ग्रंथकार ने किया हो।

वे आदिकवि, महाकवि, धर्माचार्य और सामाजिक जीवन की बारीकियों के ज्ञाता, सभी कुछ एक साथ थे। वे गम्भीर आलोचक भी थे। इसीलिए महाकवि कालिदास और प्रतिभावान् काव्यशास्त्री आनन्दवर्द्धन ने वाल्मीकि को न केवल आदिकवि मात्र कह कर छोड़ दिया, वरन्, उन्हें एक महान् कवि होने के अतिरिक्त श्लोक और शोक का समीकरण करने वाला एक अद्भुत आलोचक भी बताया है।

आदिकवि के इस असामान्य व्यक्तित्व का परिचय 'रामायण' एक ऐसी कृति है जिसकी प्रत्येक बात, अपने चरमोत्कर्ष को छूती है। उसकी सर्वांगीण भावना का परिचय उसके कलेवर में ही परोक्ष रूप से मिलता है। उसकी इसी सर्वांगीण भावना को लक्ष्य करते हुए स्थान-स्थान पर कभी उसे काव्य, कभी आख्यान, कभी गीता, और कभी संहिता कह कर स्मरण किया गया है।

'रामायण' के संबंध में उसके निर्माता की यह उक्ति कि जब तक पर्वतों और नदियों का अस्तित्व इस पृथ्वी पर वर्तमान रहेगा, तब तक रामायण की कथा संसार में बनी रहेगी, सर्वथा युक्त है। सहस्राब्दियों से आज तक वाल्मीकि मुनि की यह कृति भारतीय जन-मन के साथ एकप्राण होकर अपनी लोक-प्रियता का एवं अपनी अतलदर्शी भावनाओं का स्वयं द्योतन कर रही है।

रामकथा की उद्भावना और उसकी लोकविश्रुति

रामकथा का अस्तित्व बहुत प्राचीन है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् प्रभृति जितने भी भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं उन सब में सर्वत्र रामकथा की व्यापकता वर्तमान है। रामकथा के मूल उद्गम के संबंध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। डॉ० वेबर का मन्तव्य है कि बौद्ध-ग्रन्थ 'दशरथ-जातक' में वर्णित रामकथा की प्रेरणा को ग्रहण कर आदिकवि ने अपने ढंग से उसको 'रामायण' में विस्तार से लिख दिया है। वेबर साहब का इस संबंध में कहना है कि उक्त बौद्ध-ग्रन्थ में अनुपलब्ध सीताहरण की कथा को वाल्मीकि ने संभवतः होमर काव्य के 'पैरिस द्वारा हेलेन का अपहरण' प्रसंग से और लंका-युद्ध को संभवतः यूनानी सेना द्वारा 'त्राय का अवरोध' प्रसंग से उद्धृत किया है। वेबर साहब के इस मत की पर्याप्त आलोचना हो चुकी है और वह निरर्थक सिद्ध हो चुका है।

दूसरे विद्वान् डॉ० याकोबी हैं, जिन्होंने 'रामायण' पर वर्षों अनुसंधान किया है। उन्होंने 'रामायण' के वर्ण्य-विषय को दो भागों में विभक्त किया है : अयोध्या की घटनाएँ, जिनका केन्द्र कि दशरथ हैं और दण्डकारण्य एवं रावणवध-संबंधी घटनाएँ। उनकी दृष्टि में अयोध्या की घटनाएँ ऐतिहासिक हैं, जिनका आधार

किसी निर्वासित इक्ष्वाकुवंशीय राजकुमार से है और दंडकारण्य एवं रावणवध संबंधी घटनाओं का मूल उद्गम वेदों में वर्णित देवताओं की कथाओं से हुआ।

याकोबी साहब के इस दृष्टिकोण का समर्थन दूसरे विद्वानों ने भी किया।

श्री दिनेशचन्द्र सेन ने इस संबंध में अपनी एक नई सूझ को सामने रखा है। उनके मतानुसार रामकथा का पहिला भाग बौद्ध-ग्रन्थ 'दशरथजातक' से प्रभावित है, जिसका व्यापक प्रचलन उत्तर भारत में था और दूसरा भाग रावण-संबंधी आख्यानों से प्रभावित है, जिसका प्रचलन कि दक्षिण में अधिक था। किन्तु सेन महोदय का यह मत अधिक स्थायी एवं सर्वसम्मत न हो सका।

रामकथा का अस्तित्व वाल्मीकि मुनि से भी पहिले वर्तमान था और वह सूतों एवं कुशीलवों द्वारा गाथाओं या गीतों के रूप में समाज में प्रचलित हो चुकी थी, इसका विवरण 'हरिवंशपुराण' भी प्रस्तुत करता है। 'हरिवंश' का कथन है कि 'रामायण' की रचना से भी पूर्व रामकथा पुराणविदों (चारणों, सूतों या कुशीलवों) द्वारा गाई जाती रही है। 'महाभारत' में भी इस प्रकार की गाए जाने योग्य गाथाओं का उल्लेख मिलता है। उसमें लिखा है कि इंद्र ने जिन गाथाओं को गाया था, उनको उत्तरवर्ती ब्राह्मणों ने उसी अर्थ में गाया। इन्हीं गाथाओं या गीतियों का रूप ग्रहण कर अपने ढंग से बौद्ध त्रिपिटककारों ने संगृहीत किया, जिसका प्रमाण रूप 'दशरथजातक' हमारे सामने हैं; और अपने ढंग से उन्हीं गाथाओं का विकास वाल्मीकि मुनि ने किया। इसलिए यह कहना कि वाल्मीकि ने बौद्ध जातकों से रामकथा को उधार लिया कदाचित् उचित नहीं जान पड़ता।

वैदिक साहित्य के पौराणिक आख्यानों का उल्लेख सर्वत्र मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राचीन आख्यानों, गाथाओं और नाराशंसियों की भरपूर चर्चा देखने को मिलती है। संस्कृत-साहित्य का सारा काव्य-वैभव इन्हीं वेद-ब्राह्मण-प्रोक्त आख्यानों, गाथाओं एवं जन-प्रशस्तियों पर आधारित है और 'रामायण' एवं 'महाभारत' जैसे लौकिक संस्कृति के आदिकाव्यों के कथानकों के प्रेरणासूत्र भी उक्त आख्यान आदि ही रहे हैं।

रामसंबंधी गाथा-साहित्य की उत्पत्ति इक्ष्वाकुवंश द्वारा हुई और सूतों

द्वारा कविताओं एवं गीतियों के रूप में रचित होकर स्फुट काव्यों की सज्ञा लेकर वह लोकविश्रुत हुयी। 'महाभारत' के वनपर्व में रामोपाख्यान को एक अति प्राचीन ऐतिहासिक कथानक के रूप में स्मरण किया गया है, जिससे विदित होता है कि महाभारत-काल तक रामायणी कथा अपना ऐतिहासिक महत्त्व धारण कर चुकी थी।

वाल्मीकि मुनि से भी पहिले सूतों एवं कुशीलवों द्वारा प्रवर्तित-प्रचारित रामसंबंधी कथाओं का संकलन कर किसी दूसरे ही मुनि-महर्षि ने 'रामायण' काव्य की रचना की। उसका नाम संभवतः भार्गव च्यवन था। इसका हवाला हमें 'महाभारत' देता है; और साथ ही 'महाभारत' से हमें यह भी विदित होता है कि भार्गव च्यवन भृगु महर्षि का पुत्र था। बौद्ध महाकवि अश्वघोष के 'बुद्धचरित' से हमें महाभारतकार के उक्त कथन की सत्यता इस रूप में मिलती है कि च्यवन महर्षि जिस रामकथा की रचना में सफल-काम न हो सका था उसको वाल्मीकि ने पूरा किया। यही कारण है कि बाद में च्यवन और वाल्मीकि को भ्रमवशात् एक ही नाम दिया गया।

इतिहासकारों ने भी वाल्मीकि मुनि को भृगुवंशीय और उनके पूर्ववंशज द्वारा रामकथा की रचना का उल्लेख किया है। रामचंद्र के समय में वाल्मीकि नामक भृगुवंश का एक मुनि था। उसने या उसके किसी वंशज ने सबसे पहिले रामचंद्र के उपाख्यान को श्लोकबद्ध किया। वह रचना शायद एक सीधी-सादी ख्यात थी, जिसके आधार पर बाद में वाल्मीकीय रामायण लिखी गई।

इसलिए पर्याप्त अंतरंग प्रमाणों के अभाव में भी यदि यह बात मान ली जाय कि वाल्मीकि मुनि से पहिले भार्गव च्यवन ने रामकथा को काव्यरूप में निबद्ध किया और वाल्मीकि मुनि ने बाद में अपने ढंग से उसका विकास 'रामायण' की रचना कर किया, तो अनुचित न होगा। यदि च्यवन ऋषि ने सचमुच ही रामकथा को काव्यरूप दिया हो तो उस कथा को 'आदिरामायण' कहा जा सकता है।

जिस प्रकार वाल्मीकि से पहिले रामकथा मौखिक रूप में वर्तमान थी, उसी

प्रकार दीर्घकाल तक वाल्मीकि 'रामायण' भी मौखिक रूप में जीवित रही है। वाल्मीकि द्वारा 'रामायण' काव्य की रचना हो जाने के बाद उसको सर्वप्रथम कुश-लव ने गा-गा कर सुनाया और बाद में लोकरुचि की तुष्टि के लिये कुशीलवों ने कंठस्थ कर वर्षों तक उसको मौखिक रूप में जीवित रखा। लव और कुश द्वारा रामकथा के गाए जाने का वर्णन हमें 'रामायण' में देखने को मिलता है। 'रामायण' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसको लिपिबद्ध भी उसके निर्माता वाल्मीकि ने ही किया, वरन्, इतना स्पष्ट रूप से विदित है कि उसकी वाल्मीकिकृत कथा पहिले-पहल लव-कुश द्वारा गाई गई।

वाल्मीकि'रामायण' की कथा लंबे समय तक मौखिक रूप में सुरक्षित रही, इसका प्रमाण हमें उसके संस्करणों को देखकर मिलता है। 'रामायण' के उपलब्ध संस्करणों का विश्लेषण करके विद्वानों ने उनमें पर्याप्त पाठभेद बताया है, जिसका कारण यह बताया जाता है कि वाल्मीकि'रामायण' पहिले मौखिक रूप में प्रचलित थी और विभिन्न परंपराओं के अनुसार उसके संस्करण विभिन्नता से निर्मित हुए।

रामायण का रचनाकाल और वाल्मीकि

भारतीय साहित्य में वैदिक युग से लेकर पौराणिक और काव्य-नाटक-युग तक सर्वत्र रामकथा की व्यापकता को देखते हुए सहज ही विश्वास करना पड़ता है कि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ के लिए जिस कथानक को चुना उसका अस्तित्व उनसे पूर्व भी था और उनके बाद में भी वर्तमान रहा। अष्टादश महापुराणों में रामकथा की सबल चर्चाएं और उन चर्चाओं के अति प्राचीन होने का इतिहास मिलता है। इन चर्चाओं में वाल्मीकीय 'रामायण' के पूर्वापर अनेक रामायण-ग्रन्थों की रचना का निर्देश भी साथ-साथ पाया जाता है। एक पौराणिक अनुश्रुति तो इस प्रकार है कि वाल्मीकीय 'रामायण' से पूर्व, स्वायंभुव मन्वन्तर से भी पहले, सतयुग में भगवान् शंकर ने पहले-पहल महासती माता पार्वती जी को एक रामायण सुनायी थी, जिसका नाम कि 'महारामायण' या 'आध्यात्मिक रामायण' था और जिसका कलेवर तीन लाख पचास हजार श्लोकों का था।

ऐसी भी परम्परागत श्रुतियां हैं कि वेदों की रचना के बाद 'रामायण' की रचना हुयी और उसकी कलेवर-वृद्धि के लिए लगभग ५०० ई० पूर्व तक उसमें अनेक क्षेपक जुड़ते गए। विद्वानों की एक परम्परा राम और वाल्मीकि को समकालीन मानने के पक्ष में है। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का मत है कि ऋग्वेद के दशवें मण्डल, जिसमें राम का उल्लेख हुआ है, उसका नायक कोई दूसरा नहीं था, दाशरथी राम ही थे। इस दशम मण्डल की रचना के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् उसको १५०० ई० पूर्व का रचा हुआ मानते हैं। लोकमान्य तिलक का एतद्विषयक सिद्धान्त वैदिक साहित्य का वर्णन करते समय पहले लिखा जा चुका है। उनके मतानुसार ऋग्वेद का दशम मण्डल ४०० ई० पूर्व से पहले रचा गया। इस दृष्टि से रामकथा का अस्तित्व ४००० ई० पूर्व से भी पहिले का बैठता है।

महामुनि वाल्मीकि को हम लौकिक संस्कृत का पहिला महाकवि मानते हैं। लौकिक संस्कृत का निर्माण न तो एक व्यक्ति द्वारा और न ही एक दिन में हुआ। उसका साँचा हमारी स्थापना के बहुत पहले वैदिक युग में ही ढल चुका था। एकाएक उसका सर्वाङ्गपूर्ण कलेवर निर्मित होकर हमारे सामने नहीं आ गया था। भाषा-विज्ञान की खोजों के अनुसार लौकिक संस्कृत के निर्माण के पीछे भी एक लम्बी परम्परा और युगों पहिले का समय होना चाहिए। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है वैदिक संस्कृत के युग में ही लौकिक संस्कृत की रचना आरम्भ हो गयी थी, जैसा कि दिनकर जी का भी मत है: 'लौकिक संस्कृत किसी वैयाकरण का आविष्कार नहीं कही जा सकती। वैदिक पार्श्व में लौकिक का पहिले से ही अस्तित्व रहा होगा। वाल्मीकि ने पहिले-पहिल लौकिक संस्कृत में काव्य-रचना की, अतएव वे संस्कृत के आदि-कवि माने गए। यह बहुत-कुछ वैसा ही उदाहरण है जैसा कि विद्यापति का संस्कृत और प्राकृत को छोड़कर मैथिली में लिखना तथा अमीर खुसरो का खड़ी बोली में काव्य आरम्भ करना।'

फिर भी वाल्मीकि को आदिकवि कहा जाता है। ऋचाओं के रूप में कविता करने वाले ऋषि यद्यपि बहुत पहले से होते आ रहे थे; किन्तु ऐसा

प्रतीत होता है कि लौकिक उपाख्यानमयी कविता का आरम्भ पहिले-पहिल वाल्मीकि ने ही किया है।

रामायण का अन्त्येष्टि-काल

'रामायण' के निर्माणकाल को बताने के लिए ऐसे प्रामाणिक आधारों का अभाव है, जो सर्वसम्मत हों। महाकाव्य के साथ-साथ 'रामायण' एक ऐतिहासिक काव्य भी है; किन्तु जिन ऐतिहासिक हवालों का उसमें उल्लेख है, वे इतने अस्पष्ट और दूरी के हैं कि उनको आधार बनाकर 'रामायण' की रचना की खोज में हमें सहस्रों वर्ष पीछे जाना पड़ता है।

'रामायण' का निर्माण न सही, उसके अंत्येष्टि-काल का भी हमें ठीक-ठीक परिचय मिल सके, तब भी इतने में, उस महाग्रन्थ के अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आ पाती। 'रामायण' के अंत्येष्टि-काल का पता लगाने के लिए देशी-विदेशी विद्वानों ने बड़ा श्रम किया है। इन विद्वानों ने वर्षों के अनुसन्धान पर जो निष्कर्ष निकाले हैं वे इतने विरोधी एवं बेमेल हैं कि उनसे पाठक को संतोष मिलने की जगह भारी भ्रम में उलझ जाना पड़ता है।

महाशय मेक्डोनेल ने 'रामायण' का पहिला और सातवां काण्ड आधार बनाकर अपनी राय दी है कि 'रामायण' एक हाथ की रचना नहीं है। इसी प्रसंग में मेक्डोनेल ने रामायण का अन्त्येष्टि-काल ५०० ई० पूर्व और उसमें जोड़े गए प्रक्षेपों का समय २०० ई० पूर्व सिद्ध किया है।

मेक्डोनेल साहब के उक्त अभिप्राय का निष्कर्ष यह है कि ५०० ई० पूर्व का जो रामायण का अन्तिम रूप था, उसमें और बाद में २०० ई० पूर्व जो उसका अन्तिम संस्करण हुआ, उसमें, दोनों में, प्रक्षिप्तांश जुड़ते गए। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार मेक्डोनेल साहब की एक बात से सहमत नहीं दिखायी पड़ते। बाकी 'रामायण' के संस्करण के लिए विद्यालंकार जी की मेक्डोनेल साहब से मिलती स्थापनाएं हैं। विद्यालंकार जी की एक विशेष बात यह है कि २०० ई० पूर्व में 'रामायण' का जो अन्तिम संस्करण हुआ उसकी प्रमुख घटनाएं ५००० ई० पूर्व के अन्त्येष्टि रूप जैसी ही थीं और साथ ही विद्यालंकार जी ने भी वाल्मीकीय 'रामायण' का आधार प्राचीन ख्यातों को माना है। विद्यालंकार जी का मत है कि :

वाल्मीकि मुनि की रची हुई राम की प्राचीन ख्यात के आधार पर 'रामायण' का काव्य-रूप में पहले-पहल संस्करण भी छठी श० ई० पूर्व में ही हुआ माना जाता है। बाद में दूसरी शताब्दी ई० पूर्व में उसका पुनः संस्करण हुआ, जो अन्तिम संस्करण कि अब हमें मिलता है। किन्तु उस पिछले संस्करण से उसके रूप में विशेष भेद नहीं हुआ। उसका मुख्य अंश अब भी ५वीं श० ई० पू० वाले काव्य को बहुत-कुछ ज्यों-का-त्यों, उपस्थित करता है। उसकी ख्याति अर्थात् उसकी घटनाओं की वृत्तान्तविषयक अनुश्रुति पुरानी है। उसमें जिन विभिन्न देशों और द्वीपों आदि के भौगोलिक नाम और निर्देश हैं वे दूसरी श० ई० पू० तक के हैं। कुछ धार्मिक अंश भी उसमें उसी पिछले युग के हैं :—जैसे राम के अवतार होने का विचार, जो कि 'रामायण' के प्रधान अंशों में नहीं है, किन्तु 'रामायण' का बड़ा अंश विशेषकर उसका समाज-चित्रण ५वीं श० ई० पू० का है। उसमें हमें ५वीं श० ई० पू० के भारतीय समाज के आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन का अच्छा चित्र मिलता है'।

'रामायण' के रचनाकाल के सम्बन्ध में स्व० श्री काशीप्रसाद जयसवाल का भी यही कहना है कि मूल ग्रन्थ की रचना ई० पू० ५०० के लगभग हुई थी और ई० पूर्व २०० के लगभग वह फिर से दोहराया गया था।

उक्त विद्वानों के मतानुसार स्पष्ट है कि 'रामायण' का अन्त्येष्टिकाल ५०० ई० पूर्व है। हमें इतना तो अवश्य स्वीकार्य है कि 'रामायण' के पुनः संस्करण २०० ई० पूर्व अर्थात् सातवाहन-युग तक होते गए; किन्तु उसकी अन्त्येष्टि ५०० ई० पू० से भी पहले हो चुकी थी। स्पष्ट है कि 'रामायण' में जिन स्थानों का उल्लेख जिन नामों से हुआ है, बौद्ध-युगीन प्राचीनतम ग्रन्थों में उन नामों का उल्लेख ठीक रामायणकालीन नामों से न होकर दूसरे ही नामों से हुआ है। रामायणकाल का विख्यात अयोध्या नाम बुद्ध के समय में आकर श्रावस्ती के नाम में बदल गया और इसी प्रकार जनक पुरी मिथिला का महत्व भी बौद्ध-साहित्य में प्रायः क्षीण हो चुका था। यह नाम-परिवर्तन एक बीती हुई लम्बी अवधि का सूचक है। इसके अतिरिक्त सारी 'रामायण' को खोलकर देखा जा सकता है कि बौद्ध धर्म का उस पर तनिक भी प्रभाव नहीं है; बल्कि बौद्ध जातकों की, जिनको बौद्ध-साहित्य में प्राचीनतम स्थान प्राप्त है,

रामकथा की रूपरेखा 'रामायण' से ही उद्धृत है। इतना ही नहीं, संपूर्ण जैन और बौद्ध-साहित्य भगवान् राम के आदर्श चरित से प्रभावित हैं। इस सम्बन्ध में दिनकर जी का तो यहां तक कथन है कि :

'महाभारत' के वनपर्व में जो रामोपाख्यान है, वह वाल्मीकीय 'रामायण' का ही संक्षिप्त रूप है। 'महाभारत' से यह भी सूचित होता है कि उसकी रचना के समय राम ईश्वरत्व प्राप्त कर चुके थे और उनसे सम्बद्ध स्थान तीर्थ माने जाते थे। शृंगवेरपुर और गोत्यार का उल्लेख इसी रूप में मिलता है'।

इस दृष्टि से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'रामायण' का अन्त्येष्टियुग 'महाभारत' के पूर्व है ही, साथ ही, ५०० ई० पूर्व से भी पहले है।

श्री चन्द्रशेखर पांडेय के मतानुसार 'रामायण' के रचनाकाल के संबंध में निम्नलिखित सात सिद्धान्त हैं :

(१) 'रामायण' के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड के निर्माण और अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक की रचना में समय का पर्याप्त अन्तर है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त हैं, जिनमें वाल्मीकि एक पौराणिक व्यक्ति के रूप में माने जाने लगे थे। इससे यह विदित होता है कि वाल्मीकिकृत 'रामायण' में बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड नहीं थे।

(२) 'महाभारत' के कई आख्यान 'रामायण' के आधार पर निर्मित हैं और 'महाभारत' में वाल्मीकि का उल्लेख एक पौराणिक मुनि के रूप में पाया जाता है। अतः विदित होता है कि जिस समय 'महाभारत' ने अपना वर्तमान रूप धारण किया उससे पूर्व 'रामायण' की गणना एक प्राचीन ग्रंथ के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थी।

(३) 'महाभारत' का अंतिम संस्करण ४०० ई० में और 'रामायण' का इससे पूर्व २०० ई० में पूरा हो चुका था।

(४) 'महाभारत' की कथा वेदों से लेकर बौद्ध-साहित्य तक है, रामचरित की नहीं। 'महाभारत' की मूल कथा की अपेक्षा 'रामायण' की मूल कथा पीछे की है।

(५) बौद्ध-त्रिपिटकों में रामचरित संबंधी वह प्राचीनतम रूप विद्यमान है, जिसको कि चारणों ने पहले-पहल गा कर प्रचारित किया था।

(६) 'रामायण' बौद्ध-धर्म एवं ग्रीक-प्रभावों से सर्वथा अछूती है।

(७) 'रामायण' की मूल कथा बौद्ध-धर्म के आविर्भाव से पूर्व की है और उसकी रचना लगभग ५०० ई० पूर्व में हो चुकी थी।

जैनों और बौद्धों के साहित्य में राम को मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में स्मरण किया गया है और रामकथा को बड़े आदरभाव से अपनाया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की 'कल्पना मंडिता' में 'रामायण' की कथा का पारायण है। जैन कवि विमल सूरि ने प्राकृत में 'पउमचरिय' लिखकर पहिले-पहल लोकप्रिय रामकथा को जैनधर्म के साँचे में ढालने का यत्न किया। इसकी भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विद्वानों ने उसकी रचना तीसरी-चौथी शताब्दी बताई है जो कि निश्चित ही इससे पूर्व की रचना है।

विमल सूरि का यह ग्रंथ इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि रविषेण ने ६६० ई० में उसका एक संस्कृत छायानुवाद 'पद्मचरित्र' से किया। रविषेण के बाद रामकथा पर हेमचन्द्र ने 'जैनरामायण' (१२वीं श०), जिनदास ने 'राम-पुराण' (१५वीं शती), पद्मदेव विजय गणि ने 'रामचरित' (१६वीं श०) और सोमदेव ने 'रामचरित'[७] (१६वीं श०) लिखकर इस परंपरा का प्रवर्तन किया। १८१८ ई० में रविषेण के ग्रन्थ का एक हिन्दी अनुवाद दौलतराम ने किया।

जातक-कथाओं का निर्माण तथागत से भी पहिले हो चुका था और उनकी अंतिम सीमा लगभग ३०० ई० पूर्व तक आती है। 'दशरथ-जातक' पाँचवीं शताब्दी में एक सिंहली पुस्तक का पालि अनुवाद ग्रंथ 'जातकट्ठवण्णना' में संकलित है। इस सिंहली पुस्तक में संगृहीत कथाएं प्राचीन पालि गाथाओं पर आधारित है। 'दशरथ-जातक' पूरा रामाख्यान है। उसके 'रामायण' का एक श्लोक ज्यों-का-त्यों उद्धृत है।

'दशरथ-जातक' में जो रामकथा का स्वरूप है, कुछ विद्वानों ने उसको ही 'रामायण' की कथा का मूल माना है। डॉ० वेबर इस मत के पहिले प्रवर्तक

हैं। डॉ० याकोबी ने यद्यपि वेबर के मत का पर्याप्त खंडन किया, फिर भी अधिकांश विद्वानों ने वेबर के ही मत को मान्यता प्रदान की है, यद्यपि याकोबी के मत का समर्थन करने वाले विद्वानों की संख्या भी कम नहीं है।

बौद्ध महाकवि अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई०) राम-कथा और वाल्मीकीय 'रामायण' से भी सुपरिचित था। उसके महाकाव्यग्रंथ 'बुद्धचरित' के अनेक स्थल विशेषतः कलापक्षविषयक स्थल 'रामायण' की घटनाओं और विशेषतः सुन्दरकाण्ड के प्रसंगों से प्रभावित हैं।

'बुद्धचरित' के बाद तीसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में विरचित 'अभिधर्म-महाविभाषा' ग्रन्थ में 'रामायण' का स्पष्ट उल्लेख है। यह विभाषाग्रन्थ संप्रति चीनी अनुवाद के रूप में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त पहिली शताब्दी से चौथी शताब्दी के बीच लिखी गई अनेक बौद्ध रचनाओं में वाल्मीकीय 'रामायण' तथा उसके कथांशों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। ऐसे ग्रंथों में 'सद्धर्मस्मृत्यु-पाख्यान' (पहली श०), कुमारलताकृत 'कल्पनामंडितिका' (पहली श०) और वसुबंधु की जीवनी (पाँचवीं श०) आदि अवलोकनीय हैं। ये तीनों ग्रंथ संप्रति चीनी अनुवाद के रूप में सुरक्षित है।

'रामायण' पर बौद्ध-प्रभाव के संबंध में विद्वानों का मत है कि राम का शोक पर विजय प्राप्त करने का प्रसंग बौद्ध आदर्शों से प्रभावित है। 'दशरथ-जातक' में उल्लिखित बौद्ध तपस्या और भिक्षुमय जीवन का दाय लेकर आदि-कवि ने हिन्दू गृहस्थ के आदर्शों का निर्माण किया है। संपूर्ण रामकथा में ब्राह्मणों एवं बौद्धों का संघर्ष प्रतीकात्मक ढंग से वर्णित है। बौद्धों को राक्षसों का प्रतीक बनाकर लंकाकाण्ड के प्रसंग में सिंहल द्वीप के बौद्धों के प्रति वाल्मीकि ने परोक्ष रूप से अपना विद्वेष एवं विरोध प्रकट किया है।

इन सभी विद्वानों की उक्त बातों का सम्यक् विश्लेषण फादर कामिल बुल्के ने किया है। उनका कथन है कि संभव है बौद्ध धर्म की पर्याप्त ख्याति के कारण वाल्मीकि मुनि बौद्ध आदर्शों से प्रभावित हुए हों; किन्तु राम के चरित में जो सौम्यता, शान्ति एवं कोमलता आदि सद्गुण दिखाई देते हैं, उनसे यह समझना चाहिए कि वाल्मीकि ने राम के इन गुणों को बौद्ध आदर्शों से उधार

न लेकर राम के स्वभाव की मौलिक उपज के रूप में ग्रहण किया है। क्योंकि राम, मुनि पहिले थे और क्षत्रिय बाद में। फादर कामिल बुल्के ने 'रामायण' की रचना को ६०० ई० पूर्व स्वीकार किया है।

'रामायण' के रचनाकाल के संबंध में विदेशी विद्वानों ने पर्याप्त विश्लेषण किया है और इस संबंध में उनका पर्याप्त मतभेद रहा है। ए० श्लेगल के अनुसार 'रामायण' की रचना ११०० ई० पूर्व में तथा जी० गोरेसियो के अनुसार १२०० ई० पूर्व में हुई, जब कि इसके विपरीत ह्वीलर तथा वेबर ने 'रामायण' पर यूनानी तथा बौद्ध प्रभाव को सिद्ध कर उसकी रचना बहुत पीछे स्वीकार की है।[६] इसके बावजूद कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि प्रचलित 'रामायण' से मूल 'रामायण' भिन्न थी और उसका निर्माण कम-से-कम ३०० ई० पूर्व में हो चुका था।

प्रचलित 'रामायण' के वर्तमान रूप को याकोबी पहली या दूसरी शताब्दी ईस्वी का मानते हैं, जिसका अनुगमन विंटरनित्स ने भी किया है। वैद्य उसकी सीमा को २०० ई० पूर्व से २०० ई० के बीच बताते हैं। याकोबी साहब ने मूल 'रामायण' की रचना ५००-८०० ई० पूर्व के बीच मानी है। इसी मत का अनुगमन मेक्डोनेल साहब ने भी किया है।

मेक्डोनेल साहब का कथन है कि 'रामायण' के मुख्य भाग की रचना ५०० ई० पूर्व में हो चुकी थी। 'महाभारत' में 'रामायण' तथा वाल्मीकि का स्पष्ट उल्लेख होने के कारण 'रामायण' की स्थिति निश्चित ही 'महाभारत' से पहिले की है। 'रामायण' में कौशाम्बी, कान्यकुब्ज, काम्पिल्य आदि नगरों का तो उल्लेख मिलता है; किन्तु पटना का नहीं। पटना को कालाशोक ने ३८० ई० पूर्व से भी पहले बसाया था। 'रामायण' में जो मिथिला और विशाला दो स्वतंत्र राजधानियों का उल्लेख है, बुद्ध के समय में वे अयोध्या के नाम से परिवर्तित हो गयी थीं। अयोध्या के लिए बौद्ध-साहित्य में जो साकेत शब्द मिलता है, 'रामायण' में उसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार राम के पुत्र लव की राजधानी श्रावस्ती का नाम 'रामायण' में कहीं नहीं है। इसलिए 'रामायण' का मूल अंश उस समय निर्मित हो चुका था, जब कि 'महाभारत' अपनी निर्माणावस्था में था।

याकोबी और मेक्डोनेल के आधारों का खंडन कर कीथ ने यह सिद्ध किया है कि 'आदिरामायण' की रचना ४०० ई० में हुई और विंटरनित्स साहब ने भी प्रायः कीथ के हीं मत का अनुगमन किया; किन्तु उन्होंने 'रामायण' की रचना ३०० ई० पूर्व में रखने के लिए अपने स्वतन्त्र सिद्धान्त भी सामने रखे।

'रामायण' के काल-निर्णय-संबंधी विश्लेषण पर विद्वानों का विवाद एक लम्बी अवधि तक बना रहा। हॉपकिन्स, विंटरनित्स, विंसेंट स्मिथ, मेक्डोनेल और मोनियर विलियम्स आदि की स्थापनाओं की आलोचना करके श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने 'महाभारत' की ही भांति 'रामायण' के दो रूप माने हैं। उनके मतानुसार 'रामायण' के प्राचीनतम रूप की रचना १२०० ई० पूर्व 'भारत' और 'महाभारत' की रचना के बीच और दूसरे रूप की रचना ५०० ई० पूर्व में हुई। वैद्य जी की इन असंगतियों का खण्डन पोद्दार जी ने किया।

कुछ विद्वानों के मतानुसार वाल्मीकि, राम के समकालीन त्रेता युग में हुए। त्रेता युग की सीमा ८६७१०० ई० पूर्व में बैठती है, 'महाभारत' ३१०० ई० पूर्व में रचा गया और 'रामायण' की रचना इससे भी बहुत पहले हो चुकी थी। इस मत के अनुसार वाल्मीकि मुनि का स्थितिकाल लाखों वर्ष पहिले बैठता है, जो कि अतिरंजनापूर्ण है।

यद्यपि राम और वाल्मीकि के समकालीन होने के पक्ष में 'रामायण', 'महाभारत', 'अध्यात्मरामायण' और 'कृत्तिवासरामायण' आदि अनेक ग्रन्थ अपना मंतव्य पेश करते हैं, तथापि इन ग्रन्थों के विवरणों को सर्वथा सत्य प्रमाणित करने और विशेषतया त्रेतायुग की सीमा को यथावत् निर्धारित करने के लिए नये सिरे से अनुसंधान की आवश्यकता है।

'रामायण' के रचनाकाल की समीक्षा उसके अन्तःसाक्ष्यों को आधार बना कर की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में पहिला सर्वसंमत मंतव्य यह है कि 'महाभारत', 'रामायण' से पूरे रूप में प्रभावित है। अतः 'रामायण' की रचना उससे पहले हो चुकी थी। इसकी सप्रमाण चर्चा इन दोनों ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन में आगे की जायगी।

बौद्ध साहित्य में जिसको एक सामान्य ग्राम पाटिल नाम दिया गया है, उसको एक नगर के रूप में मगधनरेश अजातशत्रु ने ५०० ई० पूर्व के लगभग बसाया था। अजातशत्रु ने बज्जि लोगों के आक्रमणों की रक्षा के लिए इस नगर में गंगा-सोन के संगम पर एक पराकोट भी बनवाया था। 'रामायण' के सोण और गंगा के संगम के प्रसंग में पाटलिपुत्र का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे प्रतीत होता है कि पाटलिपुत्र नामकरण (५०० ई० पूर्व) से पहिले 'रामायण' की रचना हो चुकी थी।

कोशल जनपद की राजधानी 'रामायण' में अयोध्या बताई गई है। जैन-बौद्धों के साहित्य में उसको साकेत नाम दिया गया है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में बसाई थी। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि 'रामायण' की रचना तभी हो चुकी थी जब कोशल जनपद की राजधानी श्रावस्ती में न होकर अयोध्या में ही थी। बुद्ध के समकालीन कोशल-नरेश की राजधानी भी श्रावस्ती ही थी। इससे विदित होता है कि 'रामायण' निश्चित रूप से श्रावस्ती राजधानी की स्थापना से पहिले ही रची जा चुकी थी।

बुद्ध के समय जिस वैशाली राजतंत्र का पर्याप्त उल्लेख मिलता है, 'रामायण' में वह 'विशाला' और 'मिथिला' दो राजतंत्रों में विभाजित था। विशाला का तत्कालीन राजा सुमति था। उसका यह नामकरण राजा इक्ष्वाकु एवं रानी अलम्बुसा से उत्पन्न पुत्र विशाल द्वारा बसाए जाने के कारण हुआ। इसी प्रकार मिथिला में उस समय जनकवंशीय राजा सीरध्वज जनक राज्य करता था। इससे निश्चित है कि 'रामायण' की रचना तथागत बुद्ध के पहिले हो चुकी थी।

'रामायण' के उक्त अन्तःसाक्ष्य उस युग की स्थिति के परिचायक हैं, जबकि दक्षिण के विराट् अरण्यभाग में आर्य-अनार्य नहीं बसे थे। यह स्थिति ५०० ई० पूर्व से बहुत पहिले की थी। इन सभी प्रकरणों से की रचना का पूरा स्पष्टीकरण हो जाता है, और अध्येता को 'रामायण' के 'रामायण' काल-निर्णय-संबंधी अभीष्ट तक पहुँचने के लिए सहायता मिल जाती है।

प्रक्षिप्त अंश

रामायण की कथा का तुलनात्मक विश्लेषण करके और उसमें आए हुए विभिन्न प्रसंगों का ऐतिहासिक समीक्षण करके विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उसमें समय-समय पर प्रक्षिप्त अंश जुड़ते गए। युद्धकाण्ड की अंतिम पुष्पिका के आधार पर भाषा-वैभिन्य की दृष्टि से एवं वर्णनशैली की विषमता के कारण और अनेक बेमेल अंशों के सम्मिश्रण को दृष्टि में रख कर याकोबी साहब का कथन है कि 'रामायण' अपने मूल रूप में वाल्मीकि-कृत अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक केवल पाँच काण्डों में ही थी।

याकोबी साहब की समीक्षा यद्यपि सर्वथा मान्य नहीं है; फिर भी उसमें सत्य का अंश अवश्य है। 'रामायण' में प्रक्षिप्त अंश अवश्य हैं; क्योंकि एक तो सूतों तथा कुशीलवों ने रोचकता लाने के लिए मूल कथा में परिवर्तन एवं विस्तार किया, जिससे कि जनता आकृष्ट हो सके, और दूसरे भक्ति-भावना एवं स्वर्ग-कामना की दृष्टि से उसके जो अनेक व्यक्तियों द्वारा लिपिबद्ध संस्करण प्रचलित हुए उनके कारण अवश्य ही उसमें हेर-फेर हुआ।

'रामायण' के जो ऋष्यश्रृङ्ग, विश्वामित्र, अहल्या, रावण, हनूमान, गंगा-वतरण आदि की कथाएँ बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में हैं, जिनका मुख्य कथा से प्रत्यक्ष रूप में कोई सम्बन्ध नहीं है, इन कथाओं का लेखक कोई और ही था। अतएव 'रामायण' का यह अंश प्रक्षिप्त है।

वाल्मीकि ने राम को एक आदर्श महापुरुष के रूप में चित्रित किया है; किन्तु बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में ऐसे श्लोक भी मिलते हैं, जिनमें राम को अवतार के रूप में पूजा गया है। इससे भी इन दो काण्डों में प्रक्षिप्त जुड़ जाने की आशंका प्रतीत होती है।

रामायण के वर्तमान संस्करण

महामुनि वाल्मीकि-कृत 'रामायण' के कलेवर का मूल रूप क्या था, और उसमें कितने श्लोक थे, इस संबंध में प्राचीन ग्रन्थों से लेकर आधुनिक विद्वानों तक अलग-अलग स्थापनाएँ देखने को मिलती हैं। यह प्रवाद है कि :

चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्

वाल्मीकि मुनि ने रामायण-कथा को सौ करोड़ श्लोकों में निबद्ध किया था। 'रामायण' के बालकाण्ड में 'रामायण' के कलेवर के संबंध में जो ५०० सर्गों और २४००० श्लोकों का उल्लेख है, वह भी प्रक्षिप्त अंश होने से विश्वास योग्य नहीं है।

'पद्मपुराण' के पातालखंड में अयोध्यामाहात्म्य के वर्णन-प्रसंग में एक श्लोक का शेषांश है :

ततः स वर्णयामास राघवं ग्रन्थकोटिभिः

नागेश भट्ट ने इस श्लोकांश की व्याख्या करते हुए अर्थ स्पष्ट किया है कि महामुनि वाल्मीकि ने सौ करोड़ श्लोकों की रामकथा को लिपिबद्ध किया था, जो कथा कि सारी-की-सारी ब्रह्मलोक में चली गयी; केवल लव-कुश द्वारा अधीत २४००० श्लोक ही उसमें से बच सके, जिनको संप्रति वाल्मीकिरामायण के रूप में जाना जाता है।

महामुनि वाल्मीकि के नाम से उपलब्ध 'रामायण' की वर्तमान प्रति सात खण्डों एवं २४००० श्लोकों में मिलती है। 'रामायण' की जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनके साथ मिलान करने पर वर्तमान प्रति का कलेवर-विस्तार ठीक-ठीक नहीं मिलता। 'रामायण' के संप्रति चार प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध एवं प्रचलित हैं :

१. औदीच्य : गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बंबई, और निर्णयसागर प्रेस बंबई, से प्रकाशित है। यह पाठ अधिक प्रचलित एवं प्रामाणिक है। इसी पर नागेश भट्ट की 'रामोया व्याख्या' टीका है।

२. गौडीय : दूसरा संस्करण डॉ० जी० गोरेसियो (G. Gorresio) ने १८४३-६७ के बीच कलकत्ता संस्कृत सीरीज से प्रकाशित किया और उन्होंने ही इटेलियन में अनुवाद कर उसको पेरिस से भी प्रकाशित किया। इसमें स्थान-स्थान पर डाक्टर साहब के पांडित्यपूर्ण नोट्स भी हैं।

३. पश्चिमोत्तरीय : इसको कश्मीरी संस्करण कहा जाता है, जिसका प्रकाशन १९२३ ई० में डी० ए० वी० कालेज लाहौर से हुआ। इसका प्रचलन उत्तर-पश्चिम में है।

४. दाक्षिणात्य : चौथा दाक्षिणात्य संस्करण माध्वविलास बुकडिपो कुमकोणम्, मद्रास से १९२९-३० के बीच दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ। बम्बई के संस्करण से यह अभिन्न है।

इन चारों संस्करणों के संबंध में विद्वानों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। इन संस्करणों का पाठानुसंधान करने से पता चला कि उनमें पर्याप्त भिन्नता है। इनमें कौन संस्करण अधिक प्रामाणिक है, कहा नहीं जा सकता। अधिक विद्वानों की राय बंबई संस्करण और उसके बाद कलकत्ता संस्करण के पक्ष में है।

दाक्षिणात्य, औदीच्य और गौड़ीय ये तीनों ही संस्करण प्रायः प्रधानतया गिने जाते हैं। इन तीनों की श्लोकसंख्या एवं सर्गसंख्या प्रायः असमान है। बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक के सर्गों की संख्या विभिन्न पाठों में इस प्रकार है : दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार ६४३ सर्ग, औदीच्य पाठ के अनुसार ६६४ सर्ग और गौड़ीय पाठ के अनुसार ६६६ सर्ग उपलब्ध हैं।

विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि औदीच्य पाठ, दाक्षिणात्य पाठ से पहली शताब्दी ई० से अलग होने लग गया था और गौड़ीय तथा पश्चिमोत्तरी पाठों की स्वतंत्र स्थिति ५०० ई० से निर्मित होने लग गयी थी। उक्त तीनों संस्करणों के असमान पाठांशों का तुलनात्मक विवेचन कामिल बुल्के साहब ने विस्तार से किया है।

रामायण की टीकाएँ

'रामायण' जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं; जिनमें से कुछ ही संप्रति उपलब्ध नहीं हैं। इन टीकाओं में रामवर्मन् की 'तिलक' टीका अधिक प्रामाणिक एवं विख्यात है। रामवर्मन् से पहिले भी 'रामायण' पर एक टीका लिखी गई थी, जिसका नाम 'कतक' था और जिसको बड़े सम्मान के साथ उन्होंने अपनी 'तिलक' टीका में उद्धृत किया है; किन्तु वह आज प्राप्त नहीं है।

इसके अतिरिक्त माहेश्वरीतीर्थ-कृत 'रामायण-तत्त्वदीपिका', श्रीराम-कृत

'अमृतकटक', गोविन्दराज-कृत 'शृङ्गार' (भूषण), रामानन्दतीर्थ-कृत 'रामायणकूट', अहोबल-कृत 'वाल्मीकि-हृदय', अप्पय दीक्षित-कृत 'रामायण-तात्पर्य-संग्रह', त्र्यंबक मखिन्-कृत 'धर्माकृत', विश्वनाथ-कृत 'वाल्मीकि-तात्पर्य तरणि' और वरदराज मैथिलभट्ट-कृत 'विवेकतिलक' उल्लेखनीय टीकाएँ हैं। नागेशभट्ट ने भी 'रामायण' पर 'रामीया व्याख्या' नामक एक सुन्दर टीका लिखी।

रामायण की कथा का दाय

'रामायण' के प्रधान विशेषत्व का पता उसके द्वारा अनुप्राणित सैकड़ों कृतियों को देख कर सहसा ही लग जाता है। सत्रहवीं शताब्दी से पहिले की लगभग दो सहस्राब्दियों की सुदीर्घ अवधि के भीतर संस्कृत के ग्रन्थकारों ने अपनी कृतियों के लिए 'रामायण' की कथा का दाय लेकर उसकी लोकप्रियता और उत्कृष्ट काव्य-रचना को सहज ही में प्रमाणित कर दिया। महामुनि वाल्मीकि की कवित्व प्रतिभा का यह सर्वोत्कृष्ट गुण था कि उसकी अनुभूति एवं अनुकरण पर संस्कृत-साहित्य इतना बलिष्ठ हुआ।

महाभारत

वेदव्यास

बृहद् भारत की अति प्राचीन ज्ञान-परम्परा का अध्ययन करने के उपरांत पाश्चात्य विद्वानों ने भारत को पंडितों का देश कहा है। भारत की इस सुदीर्घकालीन पंडित-परम्परा में एक महारथी व्यास भी हुये। भारतीय साहित्य में वेदव्यास एक ऐसे अमर स्मारक, एक ऐसे युग-निर्माता महापुरुष हुए, जिन्होंने एक ओर तो सहस्रों वर्षों से भरपूर बृहद् ज्ञान-सरोवर की जीर्णोन्मुख चहारदीवारी का पुनरुद्धार किया और दूसरी ओर उस आकंठ भरपूर महा ज्ञान-सरोसर से काट-छाँट कर ऐसी विभिन्न ज्ञान-धाराओं को कूलित किया, जिनसे सिंचित होकर भारत की विचार-भूमि निरंतर फूलती-फलती रही।

भारतीय साहित्य के ओर-छोर तक वेदव्यास के महा व्यक्तित्व का परिचय हमें जिस असाधारण एवं आश्चर्यजनक रूप में मिलता है, उसका एक जैसा समाधान खोज निकालना हमें उतना ही दुष्कर प्रतीत होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'व्यास' नाम की इस सर्वत्र विकीर्णित विविधता को छाँटने के लिए जब हम उद्यत होते हैं, तब हमें यह कार्य सर्वथा असंभव सा लगता है, और उससे भी दुष्कर प्रतीत होता है उसके प्रयोजन का एक समाधानपूर्ण निर्णय देना।

इस 'व्यास' नाम पर जुड़े हुए अनेक ग्रंथ हमारे संमुख ऐसे हैं, जिनके वास्तविक रचयिता और रचना-काल का प्रश्न, बिना उनसे लगे 'व्यास' शब्द का समुचित समाधान पाये सुलझ नहीं पाता है। हमारी यह समस्या

कि, क्या 'व्यास' एक जातीय परंपरा, शिष्य-परंपरा, वंश-परंपरा, संप्रदाय-परंपरा, संकेत-परंपरा या उपाधि-परंपरा का पर्यायवाची शब्द है, या कि, किसी का अभिधान अथवा संज्ञावाचक शब्द है, आज भी पूर्ववत् बनी हुई है।

यह सम्भव नहीं है कि वैदिक-काल से लेकर पौराणिक-युग तक व्यास नाम का कोई एक ही इतना दीर्घजीवी व्यक्ति हुआ था; किन्तु साथ ही, यह भी अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता कि समस्त साहित्य में जहाँ-जहाँ 'व्यास' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह भाववाचक रूप से ही प्रयुक्त हुआ है, उस नाम का कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं है। इस प्रकार के दोनों निर्णय मानने योग्य नहीं हैं।

'व्यास' शब्द को छोड़िए; 'ब्रह्मा' शब्द को ही ले लीजिए। चारों वेदों के ज्ञाता को 'ब्रह्मा' कहा गया है। ऐसे ब्रह्मा सृष्टि के आदि से अनेक होते आये हैं। चारों वेदों के ज्ञाता के रूप में 'व्यास' का नाम भी सर्वत्र मिलता है। इस दृष्टि से एक 'व्यास' ब्रह्मा के नाम से भी विदित होते हैं।

व्यास शब्द की इस अनेक नाम-रूपता के कारण भारतीय साहित्य के अनुसंधित्सु कतिपय विदेशी विद्वानों को ऊब कर कहना पड़ा कि व्यास अथवा वेदव्यास किसी का अभिधान न होकर एक प्रतीकात्मक, भावात्मक, कल्पनात्मक या छद्मधारी नाम है। दूसरे संस्कृतज्ञ विद्वान् मैक्डोनेल का भी लगभग यही मत है।

किन्तु भारतीय साहित्य का इतना अद्भुत, बहुश्रुत और प्राचीनतम व्यास नाम सहसा भुलाये जाने योग्य या उपेक्षा करने योग्य नहीं है। उसके मूल में ठोस सत्य एवं प्रबल ऐतिहासिक रहस्य विद्यमान होना चाहिए। उन बहुविध तथा बहुसंख्यक ग्रंथों की उपेक्षा कैसे की जा सकती है, जिनमें व्यास का नाम-स्मरण बड़े पूजाभाव और विश्वास के साथ किया गया है! कुछ ग्रंथों में तो हमें व्यास की जीवन-सम्बन्धी जानकारी के लिए विवरण प्रस्तुत किये हुए भी मिलते हैं।

'अहिर्बुध्न्य-संहिता में एक प्राचीनतम महर्षि व्यास को वेद-व्याख्याता एवं वेद-वर्गयिता के रूप में स्मरण किया गया है। इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक

विवरण का निष्कर्ष है कि वाक् का पुत्र वाच्यायन या अपान्तरतमा नामक एक वेद-वेदज्ञ, जिसका नाम व्यास भी था, कपिल और हिरण्यगर्भ का समकालीन व्यक्ति हुआ। इन तीनों पौराणिक व्यक्तियों ने विष्णु की आज्ञा से, व्यास ने त्रयी (ऋग्यजुसाम), कपिल ने सांख्यशास्त्र और हिरण्यगर्भ ने योगशास्त्र का विभाग किया।

इस संहिता-ग्रन्थ में व्यास के साथ जिन व्यक्तियों (हिरण्यगर्भ और कपिल) का नाम उद्धृत किया गया है, ऐतिहासिक दृष्टि से कपिल के नाम की सांख्यशास्त्र के साथ और हिरण्यगर्भ की योगशास्त्र के साथ संगति बैठती है। साथ ही एक विचारणीय बात इस संहिता-ग्रंथ की यह भी है कि उसमें तीनों व्यक्तियों को तीन शास्त्रों का वर्गीकरण करने वाला कहा गया है। यदि 'व्यास' शब्द को हम किसी का अभिधान न मानकर कर्तृत्व के कारण 'वर्गीकरण करने वाला' मात्र मानते हैं, तो उसके साथ में प्रयुक्त समानकर्मा कपिल और हिरण्यगर्भ को क्या मानना चाहिये ? इस दृष्टि से हमें विदित होता है कि कपिल तथा हिरण्यगर्भ के नामों की तरह व्यास भी एक व्यक्ति-वाचक संज्ञा थी, जिससे 'व्यास' शब्द को केवल भाववाचक न मानकर अभिधानवाचक मानना पड़ेगा।

'अहिर्बुध्न्य-संहिता' के उक्त प्रसंग में व्यास का एक नाम अपान्तरतमा भी उल्लिखित है, जिसका समर्थन 'महाभारत' भी करता है। 'महाभारत' का कथन है कि अपान्तरतमा नामक वेदाचार्य ऋषि का एक प्राचीन नाम गर्भ भी था। उसी ने पुरा काल में एक बार वेदों की शाखाओं का नियमन भी किया था और उसी ने पुनः वेद-शाखाओं का प्रवचन भी किया। इस वेद-प्रवचनकार का नाम व्यास था। अपान्तरतमा नाम का व्यास के साथ कई प्रसंगों में 'महाभारत' में एक साथ उल्लेख हुआ है। इन दोनों ग्रंथ के विवरणों से विदित होता है कि वाच्यायन या अपान्तरतमा भी व्यास था।

व्यास : एक उपाधिसूचक नाम

व्यास का व्यक्तित्व पुराणोपरांत वैदिक साहित्य तक सर्वत्र परिव्याप्त है। विभिन्न पुराणों के प्रवचनकर्ताओं के रूप में ब्रह्मा से लेकर कृष्ण द्वैपायन

तक लगभग २७ से लेकर ३२ तक व्यासनामधारी व्यक्ति हुए हैं। भारद्वाज, पराशर और शक्ति आदि का नाम भी इन पुराण-ग्रन्थों में व्यास ही बताया गया है।

इन पुराण-ग्रंथों के वचनों का सही निरूपण करने में अभी पर्याप्त अनुशीलन की आवश्यकता है। यदि ये पुराणोक्त अनुश्रुतियाँ कुछ अंशों में सत्य भी मान ली जायँ तो 'जय' नामक महाग्रंथ के रचयिता कौरव-पांडवयुगीन और बदरिकाश्रम तथा हस्तिनापुर से सुपरिचित व्यास नामक व्यक्ति उक्त द्वात्रिंशत् व्यास-परम्परा में सबसे अंतिम होने चाहिएँ।

व्यास नाम के इस वैविध्य को देखकर विदित होता है कि उसका अस्तित्व भारतीय साहित्य के अस्तित्व जितना पुराना है। व्यास एक कर्तृत्ववाची नाम है। अपने पुराने अर्थों में वह उपाधि-परंपरा, वंश-परंपरा, शिष्य-परंपरा और सम्मान-परंपरा का सूचक नाम रहा है। महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने व्यास या वेदव्यास के सम्बन्ध में हाल ही में स्पष्टीकरण किया है कि 'साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि व्यास या वेदव्यास, किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, वह एक पदवी है अथवा अधिकार का नाम है। जब जो ऋषि-मुनि वेद-संहिता का विभाजन या पुराण का संक्षेप कर ले वही उस समय व्यास या वेदव्यास कहा जाता है। किसी समय वशिष्ठ और किसी समय पराशर आदि भी व्यास हुए। इस अट्ठाईसवें कलियुग के व्यास कृष्णद्वैपायन हैं। उनके रचित या प्रकाशित ग्रन्थ आज पुराण नाम से चल रहे हैं।'

इससे प्रतीत होता है कि व्यास एक पदवी थी। यह पदवी या अधिकार तदनुरूप कार्य करने के कारण दी जाती रही। परंपरा से आगत इस पदवी के कारण ही महाभारतकार को भी व्यास कहा गया। व्यास, अर्थात् वर्गीकरण करने वाला। जिसने भी वेदों, पुराणों का विभाग, वर्गीकरण, सम्पादन, प्रकाशन या पुनःसंस्करण किया वही व्यास की पदवी से विभूषित किया गया।

आचार्य शंकर भारतीय दर्शन के इतिहास में और विशेष रूप से वेदान्त-दर्शन के क्षेत्र में लोकविश्रुत महापुरुष हुए हैं। उनका एक-एक वाक्य वेद-वाक्य के समान प्रामाणिक और उनकी सैद्धान्तिक स्थापनाएँ दुनिया के दार्शनिकों के

प्रेरणास्रोत हैं। शंकराचार्य ने 'वेदान्त-सूत्र' का भाष्य करते हुए व्यास के सम्बन्ध में एक नया प्रकाश डाला है। शंकराचार्य के मतानुसार पुराकालीन वेदाचार्य अपान्तरतम (व्यास) नामक ऋषि ही कलियुग और द्वापर-युग के संधि-काल में भगवान् विष्णु की आज्ञा से कृष्णद्वैपायन के नये रूप में पुनरुद्भूत हुए।

पूर्वोक्त 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' में विष्णु की आज्ञा से ही अपान्तरतमा व्यास, कपिल और हिरण्य का क्रमशः त्रयी, सांख्य एवं योग का विभाग किया जाना वर्णित है। यहाँ आचार्य शंकर ने पहला स्पष्टीकरण तो यह किया कि पुराकालीन अपान्तरतमा व्यास ही बाद के कृष्णद्वैपायन हुए और दूसरी बात यह कि ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि विष्णु की आज्ञा थी। उधर संहिता-ग्रन्थ के कथनानुसार विष्णु की आज्ञा से अपान्तरतमा व्यास ने वेदों का विभाग किया और इधर शंकराचार्य के कथनानुसार वही वर्गयिता व्यास, विष्णु की आज्ञा से कृष्णद्वैपायन नाम से पुनरुद्भूत हुए।

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के सम्बन्ध में कुछ नये ऐतिहासिक तथ्यों को जोड़कर ठीक यही बात बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने भी कही है। अश्वघोष संस्कृत-साहित्य के सुपरिचित एवं सुप्रसिद्ध महाकवि हुए हैं, जिन्होंने 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' दो महाकाव्य लिखे। अश्वघोष का इतिहाससंमत स्थितिकाल ई० पूर्व प्रथम शताब्दी निश्चित है, जिसको कि विदेशी विद्वान् भी मानते हैं। अश्वघोष ने कृष्ण-द्वैपायन के सम्बन्ध में तीन नई बातों को सामने रखा। पहली बात तो यह कि कृष्ण-द्वैपायन ने वेदों को अलग वर्गों में विभाजित किया, दूसरी बात यह कि वशिष्ठ और शक्ति उनके पूर्वज थे, और तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कि वे सारस्वतवंशीय थे। अश्वघोष का कथन है कि सारस्वतवंशीय व्यास (कृष्ण-द्वैपायन) ने वेद-विभाजन जैसे उस दुस्तर कार्य को किया, जिसको कि उसके वंशज वशिष्ठ और शक्ति तक न कर सके थे।

कृष्णद्वैपायन को व्यास की संज्ञा और उनके द्वारा वेदों का वर्गीकरण करने का हवाला 'महाभारत' भी पेश करता है। 'महाभारत' के इस कथन से विदित होता है कि महाभारतकार का वास्तविक नाम कृष्ण और 'महाभारत' का मूल नाम 'कार्ष्ण' था; उन्होंने ही वेदों को चतुर्धा विभक्त किया।

बादरायण व्यास

इन्हीं कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास का एक नाम, जिनको आचार्य शंकर ने पुरायुगीन वेदव्यास का अवतार माना है, बादरायण भी था। बादरायण का पुराकालीन व्यास के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए मोनियर विलियम्स का कथन है कि बादरायण भी उस पौराणिक पुरुष व्यास की परम्परा में से एक थे।

कृष्ण-द्वैपायन व्यास का 'बादरायण मुनि' नामकरण एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य का परिचायक है। हमें विभिन्न ग्रन्थों के प्रामाणिक विवरणों से, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा, विदित होता है कि कृष्ण-द्वैपायन व्यास ने अपने ज्ञान की समग्र उद्भावना विराट् हिमवन्त की गोद बदरिकाश्रम में बैठकर की थी। उनका बादरायण नाम बदरिकाश्रम की पवित्र भूमि के चिरंतन साथ का स्मारक है। व्यास-प्रणीत 'वेदान्त-सूत्र' का नाम 'कृष्ण-द्वैपायन-सूत्र' अभिहित न होकर, इसी हेतु 'बादरायण-सूत्र' के नाम से लोक-विश्रुत हुआ, क्योंकि उसकी रचना उन्होंने बदरिकाश्रम में बैठकर की थी और उसी नाम से उनके वेदान्त-सूत्रों की ख्याति आज तक वर्तमान है।

पाराशर्य व्यास

कृष्ण-द्वैपायन का एक नाम पाराशर्य भी था, जिससे विदित होता है कि उनके पिता का नाम पराशर था। अलबेरूनी ने भी व्यास को पराशर का पुत्र कहा है और स्पष्ट किया है कि पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामक चार शिष्यों ने उनसे क्रमशः ऋग्, यजु, साम और अथर्व का अध्ययन किया था। मैक्डोनेल और कीथ ने भी पराशर्य व्यास को एक पौराणिक महापुरुष के रूप में स्मरण किया है।

पाणिनि (५०० ई० पू०) कृत 'अष्टाध्यायी' से विदित होता है कि 'भिक्षु-सूत्र' के रचयिता भी यही पाराशर्य व्यास थे। 'भिक्षुसूत्र', 'वेदान्तसूत्र' का ही दूसरा नाम है, जिसकी प्रसिद्धि 'बादरायण-सूत्र' से है और जिसका उल्लेख हम बादरायण नाम की चर्चा में कर आये हैं। इस दृष्टि से पाराशर्य व्यास अर्थात् कृष्णद्वैपायन व्यास के मूल-वंशज महाभारत-युद्ध के पूर्वकालीन ब्रह्मा थे।

जीवन-वृत्त

कृष्ण-द्वैपायन व्यास की जीवन-सम्बन्धी जानकारी से परिचित होने के लिए यहाँ एक स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है। हमने ऊपर जिन महाभारत युद्ध के पूर्ववर्ती ब्रह्मा को कृष्ण-द्वैपायन का मूलवंशज कहा है, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से वे सर्वथा पृथक् थे। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का वंश-वृत्त इस प्रकार है : ब्रह्मा, अथर्वा, अंगिरा, भरद्वाज, सत्याह, अंगिरस और शौनक। ये शौनक 'बृहद्देवता' के कर्ता आश्वलायन से पृथक् एवं पूर्ववर्ती थे। व्यास-वंश के मूल-पुरुष ब्रह्मा के एक पुत्र का नाम वशिष्ठ था, संभवतः 'महाभारत' में जिनको आपव भी कहा गया है। वशिष्ठ के पुत्र शक्ति और शक्ति के पुत्र हुए पराशर। इस पराशर से दाशराज की कन्या सत्यवती का विवाह हुआ। सत्यवती का ही दूसरा नाम योजनगंधा या मत्स्यगंधा भी था। कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास के यही माता-पिता थे।

प्राचीन भारत के इतिहास में कृष्ण नामक दो व्यक्तियों से हमारा परिचय है : एक वासुदेव कृष्ण और दूसरे द्वैपायन कृष्ण। यही द्वैपायन कृष्ण वेदव्यास हुए। जिस प्रकार इनका बादरायण नाम बदरिकाश्रम के संसर्ग से पड़ा उसी प्रकार इनका द्वैपायन नाम भी किसी द्वीप में उत्पन्न होने के कारण या किसी द्वीप से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण पड़ा, जो द्वीप कदाचित् यमुना के तट पर कहीं स्थित था।

चेदि-नरेश वसु उपरिचर से हस्तिनापुर के निकट किसी टापू में सत्यवत नामक एक कन्या का जन्म हुआ और वहीं के निवासी दाशराज ने उस अरक्षित कन्या का पोषण किया। दाशराज की यही पोषित पुत्री सत्यवती जब युवावस्था को प्राप्त हुई तब संयोगवश पराशर मुनि के द्वारा गर्भवती होकर अंत में व्यास, कृष्ण-द्वैपायन की माता बनी। कुछ समय बाद इसी कन्या से राजा शान्तनु ने विवाह किया। इस दृष्टि से भीष्म पितामह और विचित्रवीर्य के साथ व्यास का घनिष्ठ मातृ-सम्बन्ध बैठता है। जब विचित्रवीर्य भी निःसंतान ही परलोकवासी हुए तब वंश-परम्परा को जीवित रखने के लिए माता सत्यवती के आग्रह पर व्यास ने विचित्रवीर्य की विधवा पत्नियों से धृतराष्ट्र और पाण्डु पैदा

किए और दासीपुत्र विदुर भी। धृतराष्ट्र से कौरव-वंश का उदय हुआ और पाण्डु से पाण्डव वंश की प्रतिष्ठा हुई।

कृष्ण-द्वैपायन के प्रपितामह वशिष्ठ के एक यशस्वी प्रपौत्र का नाम 'विष्णु-पुराण' में जतूकर्ण्य लिखा हुआ है। इस दृष्टि से जतूकर्ण्य, कृष्णद्वैपायन के सगे अग्रज या चाचा ताऊ के पुत्र ठहरते हैं। 'विष्णुपुराण' के इसी प्रसंग में लिखा है कि इन्हीं जतूकर्ण्य से कृष्ण-द्वैपायन ने वेद-ज्ञान को प्राप्त कर उस वेदरूपी द्रुम को शाखाओं में पल्लवित किया। इस दृष्टि से जतूकर्ण्य, कृष्ण द्वैपायन के अग्रज ही नहीं, वरन्, गुरु भी ठहरते हैं। जतूकर्ण्य और कृष्ण-द्वैपायन के इस गुरु-शिष्य-सम्बन्ध की चर्चायें अनेक ग्रन्थों में वर्णित हैं।

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के चार शिष्य थे : पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु, जिन्हें उन्होंने क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के ज्ञान में पारंगत किया। अरणीपुत्र शुकदेव से भी कृष्ण-द्वैपायन की बड़ी घनिष्ठता थी, जिसका वर्णन 'महाभारत' के शांति-पर्व में मिलता है।

साहित्य-साधना-भूमि : उत्तराखंड

असाधारण प्रतिभा के महामनस्वी कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास के संबंध में विभिन्न प्राचीन ग्रंथों एवं विभिन्न आधुनिक विद्वानों की जो स्थापनाएँ हैं, उनका उल्लेख किया जा चुका है। इन सभी उल्लेखों को वेदव्यास कृष्ण-द्वैपायन के सर्वाङ्गीण जीवन की पूरी व्याख्या नहीं कहा जा सकता है; किन्तु उनके संबंध में जो सूत्रात्मक संकेत हमें मिले हैं, अभाव के कारण वही हमारे लिए संप्रति सहेजनीय हैं।

इन यशस्वी युगविधायक विद्वान् की जन्मभूमि के संबंध में हमें कोई प्रामाणिक बात उपलब्ध नहीं होती है, और वास्तव में ऐसी दिव्य प्रतिभाओं का कोई एक स्थान होता भी नहीं है; फिर भी इतना तो निश्चित सा है कि उत्तराखंड की भूमि के साथ उनका चिरंतन साथ रहा है। 'महाभारत' के शांतिपर्व से हमें विदित होता है कि कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास की निवासभूमि उत्तरापथ हिमालय थी। भारत के महान् तीर्थों में से एक तीर्थ बदरिकाश्रम में वेदव्यास का आश्रम था। हस्तिनापुर के निकट प्रवाहित होने वाली सरस्वती

नदी के तट पर उनका दूसरा आश्रम था, जहाँ से उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर को शीलसंपन्न प्रजापालक राजा होने का आशीर्वाद देकर कैलाश की ओर प्रस्थान किया था।

हमें व्यास-ग्रंथों के उल्लेख से विदित होता है दि वेदव्यास के जीवन का प्रायः सम्पूर्ण भाग उत्तरापथ हिमालय के दिव्यधाम बदरिकाश्रम में बीता और ज्ञानवन्त हिमालय का अभिन्न साथ होने के कारण महामुनि वेदव्यास की वाणी में जैसे भगवती सरस्वती आकर समाधिस्थ हो गई थीं। उनकी विचार-धारा सचमुच ही हिमालय की तरह महान् और सागर जितनी गंभीर थी। ये विचार उन्होंने हिमालय के सहयोग से पाये थे।

बदरिकाश्रम कृष्ण-द्वैपायन की साधना-भूमि थी। हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियों के दिव्य-दर्शन और उस ज्ञान-संपन्ना भूमि से प्रेरणा प्राप्त कर व्यास ने विपुल वाङ्मय का निर्माण किया, जिसकी तुलना केवल हिमालय से ही दी जा सकती है। इसी तपःपूत पवित्र भूमि में कृष्ण-द्वैपायन ने पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु जैसे अपने अद्भुत ज्ञानवंत शिष्यों के सहयोग से चार संहिताओं का संकलन, वर्गीकरण और संपादन किया। यही वह दिव्य धाम है, जहाँ पर उस युगपुरुष ने निरंतर तीन वर्षों की कठिन साधना में आसीन होकर 'महाभारत' नामक उत्तम आख्यान की रचना की थी।

'महाभारत' के सभापर्व में धर्मराज युधिष्ठिर को दिए जाने वाले उपदेशों के प्रसंग में व्यास ने अपने कैलाश-गमन का संकेत किया है। इस बार उनका कैलाश की ओर प्रस्थान करने का अंतिम समय था, जब कि वे वृद्ध हो चुके थे और ऐसे स्थान की खोज में थे, जहाँ शांति से देहमुक्त हो सकते। इस दृष्टि से निश्चित है कि कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास का शरीरांत भी बदरिकाश्रम में ही हुआ।

इस प्रकार, कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास के जीवन का अध्ययन करने के उपरांत विदित होता है कि भारतीय साहित्य के निर्माताओं में उनका नाम अमर है। वेदव्यास ही ऐसे पहले व्यक्ति हुए, जिन्होंने समग्र ज्ञान को चार संहिताओं और इतिहास, इन पाँच भागों में विभक्त कर वैदिक साहित्य के अध्ययन के

लिए एक वैज्ञानिक प्रणाली का सूत्रपात किया। व्यास का यह विभाजनकार्य भाषा, छन्द, उच्चारण और विचारों के दृष्टिकोण पर आधारित है। इस पंचधा विभक्त ज्ञान को प्रशस्त करने के उद्देश्य से व्यास ने अपने शिष्यों को उसमें दीक्षित किया। एक ओर तो व्यासदेव ने पूर्वार्जित संपूर्ण आर्यज्ञान को एक स्थान पर केन्द्रित कर, विभिन्न रूपों में प्रशस्त होने के लिए उसे व्यवस्था दी और दूसरी ओर भविष्य के लिए अनुशीलन के विभिन्न मार्गों का निर्माण किया।

भारत की ज्ञान-विरासत का विश्वकोश: महाभारत

भारत के ज्ञानमना महा-मनस्वियों द्वारा युग-युगों से सुचिंतित जीवन की सर्वांगीण व्याख्या का एक मात्र प्रतिनिधि-ग्रन्थ 'महाभारत' लगभग दो शताब्दियों पूर्व से दुनिया के पंडितवर्ग की विचारणा का विषय बना हुआ है। यह एक ऐसा महासागर है, जिसमें असंख्य ज्ञान-सरिताएं मिलकर ऐसी एकप्राण हो चुकी हैं जिससे सचमुच ही मानना पड़ता है कि 'यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' जो कुछ इसमें नहीं है, वह इस धरती भर में कहीं भी नहीं है।

'महाभारत' के इस सार्वभौमिक महत्व को देखकर उसको न तो हम वैदिक ग्रंथ ही कह सकते हैं न पुराण ही, न इतिहास ही, न महाकाव्य ही, न एक धर्मग्रंथ ही, और न केवल सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधि-ग्रंथ ही। वस्तुतः वह एक बृहद् राष्ट्र का ज्ञानसर्वस्व होने के कारण आर्ष ग्रंथ भी है, इतिहास-पुराण भी है और महाकाव्य, धर्मग्रंथ आदि सभी कुछ है। इस पर भी हमें यह न समझना चाहिए कि 'महाभारत' का यह सर्वांगीभूत कलेवर विभिन्न विषयों का स्पर्श कर देने मात्र से पूरा हो गया, वरन् यह समझना चाहिए कि उसके हर पहलू में आकाश को स्पर्श करने जितना उत्कर्ष विद्यमान है।

'महाभारत' भारत की उज्ज्वल ज्ञान-परंपरा का एक मात्र अमर स्मारक है। वैदिक और लौकिक युगों के संघर्षमय काल में उनके अधिकारों का परिसीमन करने के लिए 'महाभारत' एक संधिपत्र के समान है, जिसमें वैदिक और लौकिक दोनों युगों के प्रतिनिधि ज्ञानप्रवण मनस्वियों के हस्ताक्षरों की मुहर

है। ऐसे महाग्रंथ को, जिसमें भारत के इतने उच्चादर्श समहित हैं, जितना भी सम्मान दिया जाय, कम ही है।

'महाभारत' से सामान्यतया कौरव-पांडवों के सुप्रसिद्ध महायुद्ध या मार-काट, रक्तपात का आभास होता है; किन्तु 'महाभारत' का वास्तविक उद्देश्य है: मनुष्य जाति को भौतिक जीवन की निःसारता को दिखाकर, उसे मोक्षमार्ग पर निर्दिष्ट करना। काव्य-शास्त्रज्ञों ने इसीलिए 'महाभारत' को शांतरसप्रधान ग्रंथ माना है।

'महाभारत' के माहात्म्य को बताते हुए उसके रचनाकार ने स्पष्ट किया है कि जो मनुष्य चारों वेद, उसके अंग और उपनिषद्-विद्या का भले ही पंडित हो; किन्तु इस आख्यान को नहीं जानता, वह विचक्षण नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यह महान् आख्यान एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और काव्य-शास्त्र भी है। इसलिए जिस भी मनुष्य को यह आख्यान रुच गया उसकी दृष्टि में दूसरे आख्यान वैसे ही सूखे, नीरस हैं जैसे कोकिल की मधुरवाणी के आगे कौए के कर्कश बोल।

महाभारत के कथानक का मूल उद्गम और उसका विकास

'महाभारत' का अध्ययन करने के पश्चात् हमें विदित होता है कि उसमें कौरव-पांडव-युद्ध के अतिरिक्त बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों का भी समावेश है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'भारत' का अर्थ 'संग्राम' बताया है जिसमें 'महाभारत' महासंग्राम का द्योतक है। 'महाभारत' का एक नाम 'महाभारताख्यान' भी उल्लिखित है। इस दृष्टि से वह एक आख्यान-ग्रंथ भी सिद्ध है। ये आख्यान भरतवंश के हैं। 'महाभारत' के नामकरण के संबंध में लिखा है कि देवताओं द्वारा तौले जाने पर चारों वेदों से महान् अर्थात् भारवान् होने के कारण उसका ऐसा नामकरण हुआ।

'महाभारत' के संबंध में संकेत किया जा चुका है कि वह एक विश्वकोश के समान है। वह एक संग्रह-ग्रन्थ है, जो समय-समय पर संकलित, संपादित और संशोधित होता गया। इसी दृष्टि से उसको प्रत्येक पर्व की पुष्पिका में 'संहिता' कह कर बार-बार स्मरण किया गया है।

'महाभारत' के कथानक का मूल उद्गम एवं उसका मूल रूप क्या था और किस क्रम से उसका विकास हुआ, इस संबंध में विद्वानों की अपनी-अपनी मान्यताएं हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार विद्वान् विंटरनित्स का इस संबंध में कथन है कि 'महाभारत' का कथानक अपने मूल रूप में पहले-पहल केवल वीर-गीतों के रूप में प्रचलित था। उन्हीं वीर-गीतों का संकलन, संशोधन और व्यवस्थापन करके कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने 'महाभारत' की रचना की। इसके सैकड़ों वर्षों बाद उसमें सूतों एवं चारणों द्वारा दूसरी भी वीर-गाथाएं और गीत सम्मिलित कर लिए गए, जिससे स्वभावतया उसके कलेवर में वृद्धि होने लगी।

चारणों और सूतों के बाद तत्कालीन प्रभावशाली एवं समुन्नत ब्राह्मण पुरोहितों ने 'महाभारत' की बढ़ती को देखकर उसमें अपने पक्ष के कुछ धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक आख्यानों और ऋषि-वंशों की कथाओं का समावेश कर एक धर्मग्रन्थ के रूप में 'महाभारत' को प्रचलित कर दिया।

इन बातों के अतिरिक्त 'महाभारत' के उपाख्यानों में जो त्याग, वैराग्य, क्षमा, दया, दाक्षिण्य, करुणा, उदारता, पशु-पक्षी, देव-दानव, भूत-प्रेत और साधु-संतों से संबंधित दूसरी बातें मिलती हैं, उनका भी अपना ऐतिहासिक महत्व है। इन प्रसंगों का समावेश साधुओं, संतों, भिक्षुओं एवं संन्यासियों ने किया। इन नए मनोरंजक आख्यानों के जुड़ जाने के कारण 'महाभारत' का रूप और भी बढ़ गया। 'महाभारत' की पूर्वकथा कुरुवंशीय राजाओं के आश्रित सूतों एवं चारणों द्वारा ख्यात होने के कारण उसमें कुरु-वंश की प्रशंसा थी; किन्तु बाद में पांडव-वंश का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के कारण पांडव-वंशीय राजाओं के आश्रित सूत-चारणों ने उसमें पांडववंश की पक्षपातपूर्ण प्रशंसाएँ भर दीं, जिससे कि उसका कलेवर पहिले की अपेक्षा बढ़ गया।

'महाभारत' की विषयवृद्धि का यही कारण है कि उसमें साधारण चारण सूतों, विद्वानों, पुरोहितों और वीतराग साधु-संतों की विचित्रमुखी वाणियों का संग्रह होता गया। घर, परिवार और समाज से लेकर निर्जन अरण्यों तक सभी प्रकार की बातें एक साथ 'महाभारत' में मिलने का कारण भी यही है। इस दृष्टि से ही उसको एक संहिताग्रंथ कहना उपयुक्त समझा गया।

कालान्तर में 'महाभारत' का महत्त्व न केवल कौरव-पांडव के युद्ध तक ही सीमित रहा, वरन् वह भारतीय जीवन का एक ऐसा विश्वकोश बन गया, जिसमें अनायास ही दर्शन, धर्म, इतिहास, पुराण, स्मृति और काव्य प्रभृति विषयों का भी समावेश हो गया। 'महाभारत' के इस बृहद् विश्वकोश रूप पर सारे यूरोपीय विद्वान् मुग्ध हैं।

परवर्ती ग्रन्थों का उपजीवी

अपनी असामान्य विशेषताओं और अपने गुण-बाहुल्य के कारण 'महाभारत' को 'पंचम वेद' के रूप में याद किया जाता है। महासागरस्वरूप इस 'महाभारत' के गर्भ से ही 'गीता', 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज' और 'गजेन्द्रमोक्ष' नामक 'पञ्चरत्नों' की सृष्टि हुई है। 'भगवद्गीता' जैसी अद्वितीय जगद्व्यापी ख्याति की महाकृति का उद्गम होने के कारण 'महाभारत' का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

'महाभारत' संस्कृत-साहित्य के अनेक काव्यों, महाकाव्यों, नाटकों और कथाकृतियों का जन्मदाता है। उसमें कवि-बुद्धि को प्रेरणा देने वाले तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इसी दृष्टि से पाश्चात्य पण्डितों ने उसको 'एपिक विदिन एपिक' (महाकाव्य के भीतर महाकाव्य) कह कर सम्बोधित किया है। यदि संस्कृत के उन ग्रंथों को अलग किया जाय, जो 'महाभारत' से प्रभावित हैं, तो हमारे पास ऐसी बची हुई कृतियों की संख्या बहुत कम रह जायगी। 'महाभारत' अपने मूल रूप में उत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्य का एक ऐसा ग्रन्थराट् है, जिसके छोटे-छोटे हिस्से कालिदास, माघ, भवभूति, बाण, प्रभृति ग्रन्थकारों की कृतियों में देखने को मिल सकते हैं।

आध्यात्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, और ऐतिहासिक सभी विषयों के बीज 'महाभारत' में बिखरे हैं। यही कारण है कि कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास ने गौरव के साथ 'महाभारत' की महत्ता को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि 'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र भी है किन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह कभी कहीं भी नहीं है', 'महाभारत' की श्रेष्ठता का एक प्रसंग दूसरा है, जिसका आशय है कि जैसे दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वैदिक साहित्य में आरण्यक, ओषधियों में अमृत, जलाशयों में समुद्र

और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह 'भारत' श्रेष्ठ है।

संस्कृत की काव्य, महाकाव्य, नाटक और चंपू प्रभृति अनेक विषयों की कृतियों को 'महाभारत' के कथानक ने प्रभावित किया है। लगभग भास से लेकर तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान अगस्त्य कवि की कृतियों तक सर्वत्र 'महाभारत' का दाय लिया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थकारों की कृतियों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं :

भास	पंचरात्र	क्षेमीश्वर	नैषधानन्द
,,	दूतवाक्य	त्रिविक्रमभट्ट	नलचंपू
,,	मध्यम व्यायोग	क्षेमेन्द्र	भारतमंजरी
,,	दूतघटोत्कच	कांचन पंडित	धनंजयव्यायोग
भास	कर्णधार	वत्सराज	किरातार्जुनीय-व्यायोग
,,	ऊरुभंग		
कालिदास	अभिज्ञानशाकुन्तल	श्रीहर्ष	नैषधचरित
भारवि	किरातार्जुनीय	रामचंद	नलविलास,
भट्ट नारायण	वेणीसंहार	,,	निर्भयभीम
माघ	शिशुपालवध	अमरचंद	बालभारत
कुलशेखर वर्मन्	सुभद्रा-धनंजय	देवप्रभ सूरि	पांडवचरित
नीतिवर्मन्	कीचकवध	कृष्णानन्द	सहृदयानन्द
राजशेखर	बालभारत	अगस्त्य	बालभारत

महाभारत का कलेवर

पहले यह संकेत किया जा चुका है कि 'महाभारत' एक समय की रचना नहीं है। इसकी सप्रमाण व्याख्या उसके कालनिर्णय के प्रसंग में एवं उसके कर्त्ता, वक्ता, प्रवक्ताओं के प्रसंग में विस्तार से की गई है। यहाँ केवल इतना ही समझना अभिप्रेत है कि वह विभिन्न युगों में निर्मित होकर परिवर्द्धित होता गया और कालांतर में चलकर उसके सब अंग-प्रत्यंगों को जोड़कर एक रूप में निबद्ध किया गया। उसका यह जुड़ा हुआ संबद्ध रूप एक लाख

अनुष्टुप छन्दों में देखा गया, जिस कारण उसका नामकरण हुआ : 'शतसाहस्री संहिता'। गुप्तकाल के एक १९७ संवत्, (५०२ वि०) के शिलालेख में 'महाभारत' के इस 'शतसाहस्री संहिता' का नाम मिलता है, जिससे विदित होता है कि उस समय तक उसका यह बृहत् कलेवर ऐतिहासिक रूप धारण कर चुका था। इस दृष्टि से यह मानना समीचीन ठहरता है कि विक्रम की पाँचवीं शती के बाद 'महाभारत' में नये क्षेपक जुड़े। उपाख्यान तथा युद्ध आदि के लंबे-चौड़े वर्णन कदाचित् पीछे से मिला लिए गए; किन्तु पांडवों की मूल कथा और युद्ध के समय का ग्रह-नक्षत्र-संयोग कल्पित नहीं है।

मेक्डोनेल साहब का अभिमत है कि मूल 'महाभारत' में बीस हजार श्लोक थे और विभिन्न युगों में विकसित होकर वह अपने वर्तमान स्वरूप तक पहुँचा है। किन्तु 'महाभारत' का यह 'शतसाहस्री' रूप आज ठीक तरह से उपलब्ध नहीं होता है।

प्रथम शताब्दी ईसवी में वर्तमान यूनानी रेटर दियन क्रिसोस्टम का कथन था कि उसके समय में एक लाख श्लोकों वाला 'महाभारत' का संस्करण दक्षिण भारत में प्रचलित हो चुका था। वेबर और मेक्डोलन का मंतव्य है कि वैशम्पायन-प्रोक्त 'महाभारत' में केवल ८८ सौ श्लोक थे। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने गवेषणा करके यह स्पष्ट किया है कि वैशम्पायन ने जिस ग्रन्थ को कहा उसमें २४ हजार श्लोक थे और बाद में उग्रश्रवा ने पुरानी मनोरञ्जक कथाओं को ७६ हजार श्लोकों में जोड़कर 'भारत' को 'महाभारत' रूप दिया।

वर्तमान 'महाभारत' की पुस्तक 'हरिवंश' के श्लोकों को जोड़ देने पर भी पूरे एक लाख श्लोकों तक नहीं पहुँच पाते। आज भी उसकी श्लोक-संख्या न्यूनाधिक ही ठहरती है। 'महाभारत' के अनुसार उसकी वास्तविक श्लोक-संख्या ९६,२४४ है। अनुक्रमणिका-अध्याय की सूची के अनुसार 'महाभारत' में १९२३ अध्याय हैं और तदनुसार ही उसकी ९६,२४४ श्लोकसंख्या बैठती है, जिसमें 'हरिवंश' के खिलपर्व के १२,००० श्लोक भी सम्मिलित हैं। यही श्लोकसंख्या वर्तमान 'महाभारत' की है। उसके कुछ संस्करण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें एक लाख

तो क्या, इससे भी अधिक श्लोक देखने को मिलते हैं। 'हरिवंश' को मिलाकर वर्तमान महाभारत में १८ पर्व और १०० पर्वाध्याय हैं।

संप्रति 'महाभारत' के दो मुख्य रूप मिलते हैं : एक उत्तरीय और दूसरा दाक्षिणात्य। इनमें उत्तर भारत के संस्करण के पांच स्वरूप और दक्षिण भारत के संस्करण के तीन स्वरूप प्रचलित हैं। 'महाभारत' के दो प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुए हैं : एक बंबई से और दूसरा एशियाटिक सोसायटी से। बंबई वाले संस्करण में एक लाख तीन हजार पांच सौ पचास श्लोक और कलकत्ता वाले संस्करण में एक लाख सात हजार चार सौ असी श्लोक हैं। भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना से भी 'महाभारत' का एक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हो रहा है जिसके अभी तक कुछ पर्व छप सके हैं। हाल ही में प्रकाशित गीताप्रेस, गोरखपुर का संस्करण भी उपयोगी है।

महाभारत की टीकाएँ

'महाभारत' के प्रथम टीकाकार सर्वज्ञ नारायण १४वीं शती में हुए। उनकी टीका अपूर्ण है। उनके बाद अर्जुन मिश्र ने एक टीका लिखी, जो कि १८७५ त्रि० में प्रकाशित, कलकत्ता संस्करण के साथ प्रकाश में आ चुकी है। अर्जुन मिश्र ने अपनी इस टीका में अपने पूर्ववर्ती टीकाकार सर्वज्ञ नारायण का उल्लेख किया है। 'महाभारत' के तीसरे टीकाकार नीलकंठ हुए। ये महाराष्ट्र के थे। इनकी टीका भी प्रकाशित हो चुकी है। देवबोध-कृत 'ज्ञानदीपिका' टीका भी प्रकाशिन है। इनके अतिरिक्त 'महाभारत' पर लिखे हुए प्राचीन आलोचनात्मक ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ का 'महाभारततात्पर्यनिर्णय' और अप्पय दीक्षित का 'महाभारततात्पर्यसंग्रह' भी उल्लेखनीय है।

महाभारत के कर्ता, वक्ता और प्रवक्ता

'महाभारत', क्योंकि एक काल की रचना नहीं है, अतएव उसको एक हाथ का लिखा हुआ भी नहीं माना जा सकता। वह समय-समय में प्रादुर्भूत विभिन्न प्रतिभाओं का सामूहिक प्रयास है। इस दृष्टि से 'महाभारत' का अध्ययन करते हुए उसके संबंध में इन बातों का जान लेना आवश्यक है : पहली बात तो यह कि 'महाभारत' एक समय की रचना नहीं है; दूसरी बात यह कि उसका

निर्माता भी एक नहीं था; और तीसरी बात यह है कि उसकी अन्त्येष्टि कई शताब्दियों के अन्तर में हुई।

भाव, भाषा और विषय की दृष्टि से 'महाभारत' का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विदित होता है कि उसकी कथा और उपकथाओं में पर्याप्त अंतर है। कालक्रम की दृष्टि से भी उसकी विषय-सामग्री क्रम-बद्ध नहीं है, जैसा कि विदित है कि 'महाभारत' के कुछ आख्यान बहुत पुराने हैं और कुछ बहुत बाद के हैं; किन्तु उसके क्रम-व्यवस्थापन में इस मोटी-सी बात का भी ध्यान नहीं रक्खा गया है।

'महाभारत' की वर्तमान स्थिति को देखकर उसके विभिन्न मूल कर्त्ताओं को पकड़ सकना कठिन और असंभव भी है। उसके कलेवर-वृद्धि के क्रम को दृष्टि में रखकर उसके मूल कर्त्ताओं के लिए उन अज्ञात-नामा चारण-सूतों, ब्राह्मण-पुरोहितों और साधु-संतों को ही उद्धृत करना पड़ेगा, जिनके व्यक्तित्व की आंशिक छाप भी आज 'महाभारत' में नहीं है। इसलिए 'महाभारत' के वास्तविक कर्त्ताओं ने नाम आज अविदित हैं।

कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास के नाम से 'महाभारत' का प्रचलन है; किन्तु वह भी 'महाभारत' का कर्त्ता न होकर वक्ता था। 'महाभारत' में एक स्थान पर ऐसा उल्लेख मिलता है कि कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास ने निरन्तर तीन वर्षों के घोर परिश्रम से इस अद्भुत आख्यान 'महाभारत' की रचना की; किन्तु आधुनिक गवेषणाएँ इस उक्ति को प्रामाणिक न मानकर प्रक्षेप मानती हैं। यह स्पष्ट है कि स्वयं कृष्ण-द्वैपायन मुनि ने अपने सम्बन्ध में यह बात नहीं कही है। पीछे के किसी 'महाभारत' के सह-लेखक ने कही है।

हॉपकिन्स महोदय ने 'महाभारत' के इस प्रसंग के सम्बन्ध में कहा है कि वस्तुतः उस महान् ग्रंथ का कोई एक लेखक नहीं था। यह जो व्यास नाम उसके साथ जोड़ा गया है, वह तो एक प्रकार से अपनी सुविधा के लिए है। व्यास वस्तुतः लेखक न होकर उसका संपादक ही था। आधुनिक विद्वत्समाज उसको अज्ञात व्यास कह कर स्मरण करता है।

'महाभारत' से विदित होता है कि उसकी कथा का तीन व्यक्तियों ने प्रवचन किया। इस कथा के पहले वक्ता कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास थे। उन्होंने

पहले-पहल 'महाभारत' की संपूर्ण कथा को अपने सुपात्र शिष्य वैशम्पायन को सुनाई, वैशम्पायन ने उस कथा को जनमेजय-नागयज्ञ के अवसर पर अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय को सुनाया और तीसरी बार लोमहर्षण के पुत्र सौति ने इस पवित्र महाख्यान को शौनकादि ऋषियों को सुनाया। इन शौनकादि ऋषियों द्वारा 'महाभारत' की यह कथा लोकविश्रुत हुई।

इस प्रकार 'महाभारत' की कथा तीन विभिन्न व्यक्तियों द्वारा तीन बार पुनरावृत्ति हुई। मूल कथा के प्रथम वक्ता हुए व्यास, और उस विश्रुत कथा के प्रवक्ता वैशम्पायन तथा सौति। चौथे लोकव्यापी करने वाले उप-प्रवक्ता शौनकादि ऋषि हुए।

एक बात ध्यान देने योग्य इस प्रसंग में यह है कि 'महाभारत' की कथा के लिए प्रमुख वक्ता संजय और सौति थे, जो कि कौरवपक्षीय थे। अतएव बहुत संभव है कि कौरव-पक्षीय होने के कारण पांडवपक्ष की प्रशंसात्मक कुछ बातों में उक्त प्रवक्ताओं से हेर-फेर कराया गया हो या उन्होंने स्वयं किया हो।

इसी प्रकार वैशम्पायन भी भारत की कथा के प्रवक्ता थे। वे पांडव-पक्षीय थे। उनकी कथा में भी पांडवों की प्रशंसा की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त 'महाभारत' की कथा में न्यूनाधिक्य की संभावना उसकी भाषा, शैली, छन्द, भाव, आर्ष प्रयोग, पौराणिक शैली, अलंकृत काव्य-शैली, गद्य-पद्य, गद्य-पद्यमिश्रित वैदिक और लौकिक छन्द आदि बातों को देखकर होती है। इस संभावना की पुष्टि उस दशा में और भी पक्की हो जाती है, जबकि 'महाभारत' के प्रथम दो अध्यायों में उल्लिखित सूची से आगे वाले अंश मेल नहीं खाते हैं।

'महाभारत' की कथा में जो उक्त तीन मोड़ या परिवर्तन आए उनका भी अपना इतिहास है। विद्वानों की खोज के अनुसार कृष्ण-द्वैपायन ने जिस कथा को कहा उसका नाम 'जय' था। यह नाम भी ऐतिहासिक है। पांडवों की विजय के कारण संभवतः उस कथा का ऐसा नामकरण हुआ। साथ ही यह भी उल्लेख मिलता है कि कृष्ण-द्वैपायन-प्रोक्त उस 'जय' नामक

ग्रंथ में ८,८०० श्लोक थे। वैशम्पायन ने जिस कथा को कहा उसका नाम 'भारत' था और उसकी श्लोकसंख्या भी बढ़कर २४,००० हो गई। इसी श्लोक से विदित होता है कि चौबीस हजार श्लोकों का वह 'भारत' ग्रंथ आख्यान-उपाख्यानों से रहित था। किन्तु अन्त में सौति ने जिस कथा को शौनकादियों को सुनाया उसमें विभिन्न आख्यान-उपाख्यानों और परिशिष्ट रूप में 'हरिवंश' को भी जोड़ दिया गया था, जो कि बृहदाकार में परिणत हो गया और जिसको, इसीलिए, 'महाभारत' के नाम से अभिहित किया गया। इसी को बाद में 'शतसाहस्री संहिता' भी कहा गया। 'भारत' का 'महाभारत' नामकरण हुए आज लगभग सात सौ वर्ष हो रहे हैं।

'महाभारत' के सम्बन्ध में तत्कालीन हिन्दुओं से सुनी एक कथा के अनुसार अलबेरूनी का कथन है कि व्यास ने ब्रह्मा से उनके पुत्र विनायक को माँगकर उसके द्वारा 'महाभारत' को लिखाया था और स्वयं कथा को रुक-रुक कर कहते गए थे।

'महाभारत' के आदिपर्व में निर्देश किया गया है कि महर्षि व्यास ने साठ लाख श्लोकों का एक बृहद् काव्य लिखा था। उनमें तीस लाख श्लोक तो देवताओं के लिए, पन्द्रह लाख श्लोक पितरों के लिए, चौदह लाख श्लोक गन्धर्वों के लिए और एक लाख श्लोक मनुष्यों के लिए लिखे गये थे। मनुष्यों के लिए लिखा गया एक लाख श्लोक परिमाण का ग्रंथ कौन था, इसका कुछ स्पष्टीकरण नहीं होता है।

'महाभारत' के मूल कथानक और उसके ऐतिह्य पर इतिहासकार विद्वानों की गवेषणाओं का समीक्षण करने पर विदित होता है कि उसका मूल रूप उसके इस वर्तमान रूप से सर्वथा भिन्न था। विद्वानों के मतानुसार व्यास-प्रणीत मूल 'भारतग्रन्थ' बाद में उत्तरवर्ती विद्वानों द्वारा समय-समय पर बढ़ाया गया। यहाँ तक भी विद्वानों के एक सम्प्रदाय का अभिमत है कि 'महाभारत' में पांडवों का चरित्र ही काल्पनिक है, जो कि व्यास द्वारा बाद में जोड़ा गया और इससे भी बढ़ कर कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कह डाला कि पांडवों का भारतीय युद्ध ही सर्वथा काल्पनिक है।

कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जिन्होंने 'महाभारत' को एक ही लेखक की कृति स्वीकार किया है और वेवर आदि विद्वानों के मतों का खंडन किया है।

विंटरनित्स भी अन्त में इस निष्कर्ष पर आ गए। क्योंकि एक अद्भुत भारतीय विद्वान् श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य उक्त विद्वानों के मतों को नहीं मानते, अतः 'महाभारत' के सम्बन्ध में वैद्य जी द्वारा समर्थित मत ही विंटरनित्स को अभिप्रेत हुआ।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य 'महाभारत' तथा 'रामायण' के सम्बन्ध में अधिकारी विद्वान् माने गये हैं। 'महाभारत' पर उनका विशेषाधिकार था। वर्षों के निरंतर श्रम से 'महाभारत' के सम्बन्ध में फैलाई गई अनेक भ्रान्तियों को उन्होंने पांडित्यपूर्ण उक्तियाँ देकर दूर किया, और इस महाग्रंथ के सम्बन्ध में भविष्य के लिए निष्पक्ष विचार दिए।

वैद्य जी का अभिमत है कि 'महाभारत' के अनेक कथाप्रसंग और साथ ही हस्तिनापुर में भगवान् श्रीकृष्ण का विराट्-रूप-दर्शन सौति के निजी मस्तिष्क की रचना है। वैद्य जी ने 'महाभारत' में सौति द्वारा परिवर्द्धित अंशों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने 'महाभारत' के दो रूप स्वीकार किये: एक भगवान् व्यास कृत 'भारत' और दूसरा नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों को श्रवण कराने वाले सौति द्वारा परिवर्द्धित वर्तमान 'महाभारत'। उनके मतानुसार व्यासकृत 'भारत' की रचना ३१०० ई० पूर्व और सौति द्वारा परिवर्द्धित 'महाभारत' का निर्माण २००० ई० पूर्व में हुआ।

महाभारत के पुनः संस्करण

व्याकरण-संमत व्युत्पत्ति के अनुसार 'भारत' शब्द का अर्थ है: वह ग्रंथ जिसमें भरतवंशीय राजाओं के पराक्रम या युद्ध का वर्णन हो। ऐसी स्थिति में हमारे संमुख यह प्रश्न आता है कि जब 'भारत' शब्द से ही उसके इस अभीष्ट अर्थ की प्रतीति हो सकती थी तब उसके पहले 'महा' शब्द जोड़ने की आवश्यकता क्यों हुई? हम देखते हैं कि 'रामायण' कोई छोटा ग्रंथ नहीं है, दूसरे भी अनेक बृहदाकार ग्रंथ संस्कृत में देखने को मिलते हैं। तब फिर क्या कारण था कि भारत के ही आगे 'महा' जोड़ा गया और उसकी कोटि के दूसरे ग्रंथों को 'महा' कहने से वंचित रखा गया?

यद्यपि 'महाभारत' के अंत में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि 'महत्त्व' और 'भारवत्त्व' के कारण उसको 'महाभारत' कहा गया है। किन्तु इतने भर से हमारी जिज्ञासा की तुष्टि नहीं हो जाती है। सामान्यतया 'महाभारत' से हमें किसी बड़े 'भारत' के अस्तित्व का अंदेशा होता है; और इसके साथ ही हमारी जिज्ञासा होती है कि बड़े भारत के होने से पहले क्या छोटा भारत हो चुका था?

'महाभारत' से हमें यह भी विदित होता है कि उपाख्यानों के अतिरिक्त उसकी श्लोकसंख्या २४००० थी और साथ ही यह भी बताया गया है कि उसका नाम पहले 'जय' था। 'जय' शब्द निश्चित ही पांडवपक्ष के विजयी होने का अभिप्राय प्रकट करता है, जिससे यह विदित होता है कि भारत-युद्ध की कथा को पहले 'जय' नामक ग्रंथ में निबद्ध किया गया था, जिसमें कि आख्यान उपाख्यान आदि कुछ भी नहीं थे; किन्तु पीछे से उसमें अनेक ऐतिहासिक एवं काव्यपरक वृत्तों तथा धर्माधर्म-प्रसंगों को जोड़ दिया गया और तब वह 'महाभारत' के बृहद् ग्रंथ के रूप में परिणत हो गया। 'भारत' और 'महाभारत' इन दो नामों के पृथक् अस्तित्व को 'आश्वलायनगृह्यसूत्र' भी प्रकट करता है, जिससे एक ही ग्रंथ के इन दो नामों की उक्त ऐतिहासिक सत्यता का प्रबल स्पष्टीकरण हो जाता है।

'महाभारत' में यह भी कहा गया है कि व्यास ने पहले अपने पुत्र (शुक) को और बाद में अन्य शिष्यों को भारत-कथा का उपदेश दिया। यह भी हमें इसी ग्रन्थ के अध्ययन से विदित होता है कि व्यास के सुमंतु, जैमिनि, पैल, शुक और वैशंपायन नामक पांच शिष्यों ने भिन्न-भिन्न पांच भारतसंहिताओं या महाभारतों की रचना की थी। इस संबंध में यह भी कथा है कि व्यास ने वैशंपायनकृत संहिता पर और जैमिनि कृत केवल अश्वमेध पर्व पर ही अपनी प्रामाणिकता की मुहर लगाई। शेष तीन शिष्यों की संहिताएँ उतनी प्रामाणिक न होने के कारण संभवतया व्यास ने स्वीकृत नहीं कीं।

'महाभारत' के पुनः-पुनः संस्करणों को प्रामाणिकता के साथ बताने वाला आदि पर्व में एक श्लोक उद्धृत है, जिसमें नरश्रेष्ठ नारायण, देवी सरस्वती और व्यास को एक साथ नमस्कार किया गया है। 'महाभारत' में नर-नारायण

नामक दो ऋषिप्रवरों को ईश्वर का स्वरूप और उन्हें अर्जुन तथा श्रीकृष्ण का अवतार बताया गया है। भागवतधर्मप्रधान ग्रंथों में इसीलिए नर-नारायण की प्रथम वंदना की गई है।

इस श्लोक से हमें दो बातों का पता चलता है: एक तो यह कि 'महाभारत' का पुनः संस्करण हुआ, क्योंकि उसके पूर्वकर्ता व्यास को नमस्कार करने वाले किसी दूसरे ही व्यक्ति का यह श्लोक है; और दूसरी बात यह कि इस ग्रंथ का एक संस्करण 'जय' नाम से हुआ।

'महाभारत' के अध्ययन से स्पष्ट है कि उसके कई संस्करण हुए तथा निरन्तर तीन वर्ष तक ग्रंथ को लिखने का कार्य शिव जी के पुत्र गणेश ने किया और पांडवों-कौरवों के अंतकाल के बाद व्यास ने इस ग्रंथ को प्रकाशित किया। यह उसका पहला संस्करण था।

अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय ने जो बृहद् नाग-यज्ञ किया था उसमें व्यास उपस्थित थे। इस अवसर पर जनमेजय के प्रार्थना करने पर व्यास की आज्ञा से उनके शिष्य वैशम्पायन ने कौरवों-पांडवों की कथा से संबंधित 'जय' नामक महाकाव्य को सुनाया। कथा को सुनते हुए जनमेजय ने बीच-बीच में कुछ जिज्ञासाएँ कीं, जिनका समाधान वैशम्पायन ने अपनी ओर से किया। वैशम्पायन की ये समाधानपूर्ण बातें भी आगे चलकर मूल 'जय' काव्य में मिल गईं। यह व्यास के ग्रन्थ का दूसरा संस्करण था, जिसका नाम 'भारतसंहिता' पड़ा।

वैशम्पायन के अतिरिक्त व्यास के चार शिष्य और थे: जैमिनि, पैल, सुमन्तु और शुक। इन्होंने 'जय' महाकाव्य के पृथक्-पृथक् संस्करण किए, जिनमें से जैमिनिकृत अश्वमेधपर्व को छोड़कर बाकी तीन संस्करण नष्ट हो गए।

जनमेजय-नागयज्ञ के कुछ समय बाद ही शौनक ऋषि ने नैमिषारण्य में एक बृहद् यज्ञ का आयोजन किया था, जो कि निरन्तर बारह वर्ष तक चलता रहा। इसमें सौति ऋषि भी उपस्थित थे। सौति ऋषि जनमेजय-नागयज्ञ के अवसर पर वैशम्पायन-प्रोक्त 'भारतसंहिता' को सुन चुके थे। अतएव शौनक के प्रार्थना करने पर सौति ने उस कथा को सुनाया, साथ-ही-साथ अपने विचारों

एवं उदाहरण में दूसरे उपाख्यानों का वर्णन भी अपनी ओर से करते गए। 'हरिवंश' वाला अंश भी उन्होंने इस कथा के साथ जोड़ दिया, जिससे कि 'भारतसंहिता' का कलेवर अतिशय रूप से बढ़ गया। 'जय' काव्य का यह तीसरा बृहद् संस्करण अपने भारवत्त्व के कारण 'महाभारत' के नाम से विख्यात हुआ।

महाभारत का काल-निर्णय

'महाभारत' के कर्ता, वक्ता और प्रवक्ताओं का अध्ययन करने के पश्चात् और उसके पुनः-संस्करणों का अनुशीलन करने के बाद निश्चित हो गया है कि उसका निर्माण अनेक व्यक्तियों द्वारा विभिन्न समयों में हुआ। 'महाभारत' के कालनिर्णय के संबंध में देशी-विदेशी विद्वानों की अलग-अलग स्थापनाएं हैं। ये स्थापनाएं इतनी भिन्न हैं कि सहसा विश्वास ही नहीं होता कि 'महाभारत' का निर्माण कब हुआ। ये स्थापनाएं १००० ईसवी पूर्व से लेकर ४०० ई० की सुदीर्घ दूरी तक फैली हुई हैं।

'महाभारत' के कालनिर्णय के लिए यह अधिक उपयुक्त होगा कि पहले हम उसकी पूर्व सीमाओं का विश्लेषण करें। ऐसा करने पर हम उसकी आंशिक वास्तविकता को खोज निकालने में समर्थ हो सकेंगे। 'महाभारत' के आरंभ और अन्त्येष्टि की सीमाओं की सुनिश्चित जानकारी के अनन्तर उसके अन्तःसाक्ष्य की गहराइयों में पहुँचने के लिए हमें अधिक कठिनाई नहीं उठानी पड़ेगी। इस दृष्टि से पहले हमें उसकी पूर्व-सीमाओं का समीक्षण करना आवश्यक है।

पूर्व सीमाएं

(१) विक्रमी संवत् ५३५ और ६३५ के लगभग जावा और वाली द्वीपों में 'महाभारत' का अनुवाद वहां की प्राचीनतम कविभाषा में हो चुका था। कवि-भाषा में अनूदित आदि, विराट्, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासी, मुसल, प्रास्थानिक और स्वर्गारोहण ये आठ पर्व आज भी वहां सुरक्षित हैं, जिनको कलकत्ता के संस्करण से मिलान करने पर लोकमान्य तिलक ने सर्वान्त शुद्ध बताया है। इससे प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी तक 'महाभारत' को इतनी लोक-

विश्रुति मिल चुकी थी कि उसका प्रचार विदेशों में होने लगा था। इसके कुछ बाद ही उसका एक अनुवाद तिब्बतीय भाषा में भी हुआ।

(२) बौद्धधर्मविषयक संस्कृत की चीनी भाषा में अनूदित कुछ पुस्तकें उपलब्ध हुयी हैं। भारत का चीन के साथ इस सांस्कृतिक मैत्री-संबंध का समय लगभग दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व से है। विद्वानों का कथन है कि ये पुस्तकें भारत से ईसा की तीसरी शताब्दी में चीन को प्रवासित हो चुकी थीं। इन अनूदित पुस्तकों में 'महाभारत' को बड़े आदर भाव से स्मरण किया गया है।

(३) गुप्तकालीन चेदि संवत् १९७ (५०२ विक्रमी, ४४६ ई०) के उपलब्ध एक शिलालेख से प्रतीत होता है कि उस समय तक 'महाभारत' एक लाख श्लोकों का स्वरूप धारण कर चुका था। अतः निश्चित है कि उसकी रचना इसके बहुत पहले हुई।

(४) शालिवाहन शक के आरंभ में संस्कृत के एक सुपरिचित बौद्ध महाकवि अश्वघोष हुए हैं, जो कि सम्राट कनिष्क के सभापंडित थे। उन्होंने 'सौन्दरानन्द' और 'बुद्धचरित', इन दो महाकाव्यों के अतिरिक्त 'वज्रसूचिकोपनिषद्' नामक तीसरा व्याख्यान-ग्रन्थ भी लिखा। इस ग्रन्थ को वेबर साहब ने १८६० ई० में जर्मन से प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में 'हरिवंश' और 'महाभारत' के श्लोक उद्धृत किए हुए मिलते हैं।

अश्वघोष के ग्रन्थ में उद्धृत उक्त दोनों ग्रन्थों के अंशों को पाकर न केवल इतना ही विदित होता है कि 'महाभारत' का अस्तित्व इतना पुराना है, वरन् यह भी सिद्ध होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में 'हरिवंश' 'महाभारत' के साथ संबद्ध होकर अपना बृहद् शतसाहस्री रूप धारण कर चुका था। अश्वघोष का समय ईसा की प्रथम शताब्दी सुनिश्चित है।

(५) भास, संस्कृत के सुपरिचित, सर्वाग्रणी और निपुण नाटककार हुए हैं। उन्होंने लगभग तेरह नाटक लिखे हैं। उनके अधिकांश नाटकों के कथानक 'महाभारत' के उपाख्यानों से लिए गए हैं। अब प्रायः निश्चित-सा हो चुका है कि भास, कालिदास से पहले ३००-४०० ई० पूर्व में हुए। इससे हमें यह विदित होता है कि 'महाभारत' का अस्तित्व भास से पहले था और उसको तभी से एक उपजीवी ग्रंथ माना जाने लगा था।

(६) सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में युधिष्ठिर, भीम, विदुर आदि भारतयुद्ध के चरित-नायकों का तथा 'महाभारत' ग्रन्थ का उल्लेख व्याकरणसंमत व्युत्पत्ति के साथ किया। पाणिनि का स्थितिकाल ई० पूर्व पांचवीं शताब्दी सुनिश्चित है। इस संबंध में विद्वानों की समीक्षाओं से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि पाणिनि के समय में 'महाभारत' था। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी महाभारत-युद्ध का वर्णन विस्तार से किया है। पतंजलि 'अष्टाध्यायी' के प्रामाणिक व्याख्याकार हुए, जिनका समय २०० ई० पूर्व है।

(७) कल्पसूत्रों में 'महाभारत' के संबंध में महत्त्वपूर्ण चर्चाएं लिखी मिलती हैं। 'शांखायन श्रौतसूत्र' में कुरुक्षेत्र-युद्ध में हुई कौरवों की पराजय का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया गया है।

'आश्वलायन-गृह्यसूत्र' में 'भारत' और 'महाभारत' का नाम अलग-अलग उल्लिखित है। उसके व्याख्याता आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख है : सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन प्रभृति। भाषा के इतिहास से यह सिद्ध हो चुका है कि आश्वलायन, पाणिनि से प्राचीन था।

'विष्णुसहस्रनाम' और 'भगवद्गीता' दोनों 'महाभारत' के ही अंश हैं। 'बौधायन-गृह्यसूत्र' में इन दोनों ग्रन्थों के वचनों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है। इनके अतिरिक्त 'बौधायन-धर्म-सूत्र' में भी इस सम्बन्ध में चर्चाएँ मिलती हैं।

कल्पसूत्रों की उक्त बातों को यद्यपि बूलर साहब ने प्रामाणिक नहीं माना है; किन्तु श्री त्र्यबंक गुरुनाथ काले के लेख से यह बात सिद्ध हो जाती है कि धर्म-सूत्रकारों ने अवश्य ही 'महाभारत' से दाय ग्रहण किया और इसी प्रसंग में बूलर साहब ने 'बौधायन-धर्म-सूत्र' का रचना-काल ४०० ई० पूर्व लगभग माना है, जिससे 'महाभारत' के प्राचीनतम अस्तित्व का पता सरलता से ही मिल जाता है।

इन सूत्रों का रचना-काल चिन्तामणि विनायक वैद्य के मतानुसार यद्यपि १२०० ई० पूर्व बैठता है; किन्तु कल्पसूत्रों के निर्माण के प्रसंग में हमने उनकी पूर्व सीमा ७०० ई० पूर्व निर्धारित की है। यही मत संमति

मान्य है। इस दृष्टि से 'महाभारत' के अस्तित्व का पता सूत्र-ग्रंथों से पहले प्रतीत होता है।

(८) 'महाभारत' में दस अवतारों के प्रसंग में बुद्ध को स्थान नहीं दिया गया है; किन्तु वनपर्व में देवालयों के पर्यायवाची रूप में 'एडूक' शब्द का उल्लेख हुआ है। ये 'एडूक' बुद्ध की वस्तुओं को जमीन में गाड़ कर, स्मारक के रूप में अभिहित होते थे। 'एडूक' को संप्रति 'डागोबा' नाम से कहते हैं, जिसका प्रचलन सिलोन और ब्रह्मदेश में है। इससे यह प्रतीत होता है कि 'महाभारत' बुद्ध के बाद, किन्तु बुद्ध के अवतारों में गणना होने से पूर्व, रचा गया। 'महाभारत' में जो 'बुद्ध' या 'प्रतिबुद्ध' शब्द आए हैं, वे तथागत के पर्यायवाची न होकर ज्ञानी, स्थितप्रज्ञ आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

(९) यद्यपि पूर्ववैदिक साहित्य अर्थात् मंत्र-संहिताओं में 'भारत' या 'महाभारत' का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि उत्तरवैदिक साहित्य अर्थात् ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रंथों में कुरु और पांचाल नामक दो आयुधजीवी आर्य जातियों का स्पष्ट हवाला दिया गया है। इस प्रसंग में कुरुक्षेत्र, परीक्षित्, जनमेजय और भरत आदि 'महाभारत' के चरितनायकों के नाम उल्लिखित हैं। वहाँ कुरुक्षेत्र को देवपूजा की पुण्यभूमि और सारे प्राणियों का उत्पत्तिस्थान बताया गया है : 'तदनु देवानां देवयजनं तदनु सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्।' कुरुक्षेत्र के उत्तरी भाग का नाम 'तूर्घ्न' से अभिहित किया गया है।

इस प्रकार 'महाभारत' के मूल कथानक और उसमें वर्णित कुछ आख्यानों का ऐतिहासिक विश्लेषण कर उनकी प्राचीनता उत्तर-वैदिकयुगीन साहित्य (१००० ई० पू०) में सिद्ध की गई है। इस आधार पर 'महाभारत' के कालनिर्णय की पूर्व सीमा वैदिकयुग तक पहुँचती है।

उत्तरी सीमाएँ

'महाभारत' की पूर्व सीमा का समीक्षण करने के बाद और उसकी उत्तर-सीमा का निराकरण करने पर ही उसके निर्माण का ठीक अन्दाजा लगाया जा सकता है। विभिन्न देशी-विदेशी विद्वानों ने 'महाभारत' की अन्तिम सीमा के लिए जो मत दिये हैं, उनका निष्कर्ष इस प्रकार है :

१. इस संबंध में पहला विचारणीय मत हॉप्किन्स साहब का है। हॉप्किन्स साहब ने कुछ बाहरी साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि 'महाभारत' की अन्त्येष्टि चौथी शताब्दी ईसवीके लगभग या इससे कुछ पूर्व हुई। हॉप्किन्स साहब की आधारभूत सामग्री का निष्कर्ष नीचे दिया जाता है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने इन पाँच आधारों को अपनाया है।

(क) सुप्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिल भट्ट ने अपनी कृतियों में 'महाभारत' के प्रायः सभी पर्वों को उद्धृत किया है और स्पष्ट शब्दों में उसको व्यास-विरचित एक विशालकाय स्मृतिग्रन्थ के रूप में स्मरण किया है। कुमारिल का स्थितिकाल ७०० ई० है। अतः ७०० ई० से पहले 'महाभारत' अपने वर्तमान रूप में संपन्न हो चुका था।

(ख) सुबन्धु और बाण ने भी 'महाभारत' को उद्धृत किया है। सुबन्धु का समय ६०० ई० और बाणभट्ट का समय ६५० ई० है।

(ग) कम्बोडिया से प्राप्त एक शिलालेख में 'महाभारत' का निर्देश है। यह शिलालेख ६०० ई० का है। इस निर्देश से विदित होता है कि ६०० ई० तक 'महाभारत' इतना यश अर्जित कर चुका था कि बाहरी देशों में भी उसकी ख्याति पहुँच चुकी थी।

(घ) कुछ दान-पत्र ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनमें 'महाभारत' को स्मृतिरूप में स्वीकार किया गया है, उसको शतसाहस्री-संहिता कहा गया है : 'शत-साहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्'। उसके श्लोक भी उनमें प्रमाण रूप में उद्धृत किए गए हैं। ये दान-पत्र ५०० ई० के पहले के हैं।

(ङ) इसी प्रकार गुप्तकालके एक शिलालेख में, जिसका समय ४४२ ई० है 'महाभारत' को शतसाहस्री संहिता के नाम से अभिहित किया है।

२. कुछ विद्वानों के मत से 'महाभारत' एक ऐतिहासिक काव्य है और उसका आरम्भ यद्यपि ५०० ई० पूर्व में हो चुका था, किन्तु उसका अन्त्येष्टि काल ४००-५०० ई० के लगभग है।

३. जयसवाल जी के मतानुसार 'महाभारत' के निर्माणकाल की अन्तिम सीमा ५०० ई० है। उनके शब्दों में " 'महाभारत' की आधारभूत सामग्री

प्रायः प्राचीन ही है; परन्तु ईसवी की पाँचवीं शताब्दी तक उसमें वृद्धि होती गयी। फिर भी उसका बहुत-कुछ रूप ई० पू० १५० में ही निश्चित हो चुका था।''

४. 'महाभारत' की रचना बदरिकाश्रम में हुई। उसके बाद वह भृगु-वंशीय ब्राह्मणों से लेकर ई० पूर्व तीसरी-दूसरी शताब्दी तक निरन्तर संपादित, परिवर्तित और संशोधित होकर आज की स्थिति तक पहुँचा है।

५. श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने 'महाभारत' के अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'महाभारत' के मूलरूप का निर्माण ३५०-३२० ई० पूर्व के बीच हो चुका था। वही 'महाभारत' का वर्तमान रूप है।

६. श्री जयचन्द विद्यालंकार के मतानुसार 'महाभारत' या 'भारतकाव्य' का एक प्रथम संस्करण ५०० ई० पूर्व में हो चुका था, जिसका हवाला 'आश्वलायनगृह्यसूत्र' (३।३।४) भी देता है; किन्तु बाद के संस्करणों में उसका वह रूप छिप गया।

७. एक मत इतिहासकार विंटरनित्स महोदय का है। विंटरनित्स महोदय ने 'महाभारत' के निर्माणकाल पर अपनी अलग ही राय दी है। उन्होंने इस संबंध में नौ ऐतिहासिक आधार उद्धृत किए हैं, जिनका निष्कर्ष है कि 'महाभारत' में कुछ ऐसे आख्यानों-उपाख्यानों का भी उल्लेख है, जिनका सम्बन्ध वैदिक साहित्य के युग तक पहुँचता है। 'महाभारत' में अनेक नीति-परक सूक्तियाँ तथा कथाएँ इस प्रकार की हैं, जो जैन-बौद्ध संप्रदायों से संबंधित हैं और जिनका समय कदाचित् ६०० ई० पूर्व तक पहुँचता है। इन आधारों पर विंटरनित्स साहब के मतानुसार 'महाभारत' का अन्त्येष्टिकाल ४०० ई० पूर्व से भी पहले का ठहरता है।

किन्तु आधुनिक शोधों ने विंटरनित्स साहब के उक्त आधारों को अप्रामाणिक एवं अनाधारित सिद्ध करके उनको व्यर्थ सिद्ध कर दिया है; और इस दृष्टि से 'महाभारत' के संबंध में विंटरनित्स साहब की उक्त स्थापनाएं प्रायः स्वीकार्य नहीं समझी जातीं।

८. काल-निर्णय की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बात का पता यह चलता है कि 'महाभारत' की नक्षत्र-गणना अश्विनी से न होकर कृत्तिका से है। मेष,

वृष आदि राशियों का भी 'महाभारत' में कहीं उल्लेख नहीं है। जिससे विदित होता है कि भारत में मेष, वृष आदि राशियों के प्रचारक यूनानवासियों, अर्थात् सिकन्दर के प्रवेश से पहले 'महाभारत' की रचना हो चुकी थी। 'महाभारत' में कहा गया है कि विश्वमित्र ने श्रवण आदि की नक्षत्रगणना आरंभ की थी। टीकाकार ने इसका अर्थ लगाया है कि उस समय श्रवण नक्षत्र से उत्तरायण आरम्भ होता था। वेदांग ज्योतिष के समय में धनिष्ठा नक्षत्र से उत्तरायण आरम्भ होता था। यह स्थिति शक सं० से १५०० वर्ष पहले की है। ज्योतिष के अनुसार उदगयन को एक नक्षत्र पीछे रहने में लगभग एक हजार वर्ष लग जाते हैं। इस हिसाब से 'महाभारत' का रचनाकाल शक संवत् ५०० वर्ष पूर्व ठहरता है। यही मत शंकर बालकृष्ण दीक्षित का भी है।

'महाभारत' में उद्धृत ऋतु, अयन, मास, वार, नक्षत्र, तारे, मेषादि नाम, सौरमास, ग्रहण, ग्रहज्ञान और युद्धकालीन ग्रहस्थिति आदि बातों का बारीकी से विश्लेषण कर दीक्षित जी ने निश्चित किया है कि पाण्डवों का समय कलि-द्वापर की संधि में था, जिसको बीते आज लगभग ५००० वर्ष हो रहे हैं। इस दृष्टि से पाण्डव लगभग ३२०० शक पूर्व हुए।

९. रायबहादुर श्री चिन्तामणि राव वैद्य ने 'महाभारत' पर एक टीकात्मक ग्रंथ अंग्रेजी में लिखा है। इसमें उन्होंने सिद्ध किया है कि चन्द्रगुप्त (३२० ई० पूर्व) के दरबार में रहने वाले मेगस्थनीज नामक ग्रीक वकील को 'महाभारत' की कथाएं विदित थीं। उसके ग्रन्थ के उपलब्ध अंशों को देखकर यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि उसके समय तक न केवल 'महाभारत' की लोक-विश्रुति हो चुकी थी, वरन् श्रीकृष्णपूजा का भी पर्याप्त प्रचार हो चुका था।

१०. लोकमान्य तिलक ने एक बहुत ही ऊँची श्रेणी का ग्रन्थ लिखा है: 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य' अथवा 'कर्मयोगशास्त्र'। इस ग्रन्थ में उन्होंने 'गीता' का प्रामाणिक विवेचन किया है। 'यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' की तरह गीता के संबंध में आज तक वही सब कुछ समझा जाता है। क्योंकि 'गीता' 'महाभारत' का ही एक अंश है और 'महाभारत', 'गीता', कृष्ण, पांडव-कौरव तथा भारतयुद्ध का भी एक ही समय है। इसलिए यह जरूरी था कि 'महाभारत' के संबंध में भी इस ग्रन्थ में यथेष्ट प्रकाश डाला जाता। लोकमान्य ने 'महाभारत' के कालनिर्णय के संबंध

में जितना श्रम किया है या उसको स्पष्ट करने के लिए जिस समीक्षण से काम लिया है, उसकी वजह से उसकी स्थापनाएँ आज भी पूर्ववत् उतनी ही ताजी है। लोकमान्य के मतानुसार 'महाभारत' की रचना शक पूर्व ५०० में हुई।

११. डा० वेल्वेलकर ने 'महाभारत' की मुख्य कथा की रचना को बुद्ध से पूर्व (५५७-४७७ ई० पूर्व) माना है। कुछ विद्वानों को यह मान्य है कि उसके 'जय' और 'भारत' नाम से विख्यात संस्करणों का निर्माण बुद्ध से पहले हो चुका था।

१२. सामान्यतया कुरुक्षेत्र का युद्ध २५०० वर्ष ई० पूर्व माना जाता है। अतएव 'महाभारत' के पात्र कृष्ण, युधिष्ठिर आदि को आज से ५००० वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। किन्तु इस प्रसंग में एक समस्या यह भी है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषद्-ग्रन्थों में महाभारतकालीन व्यक्तियों के आख्यान होने के फलस्वरूप क्या ऐसा माना जाना चाहिए कि उक्त ग्रन्थों का निर्माण 'महाभारत' के बाद हुआ? इसका उत्तर यह है कि निश्चित रूप से उक्त ग्रन्थों के ये अंश प्रक्षिप्त हैं।

कौरव-पांडवों के स्थितिकाल के संबंध में 'राजतरंगिणी' के रचयिता कल्हण का कथन है कि कलियुग के ६५३ वर्ष व्यतीत होने पर कौरव-पांडव हुए। कल्हण के ही मतानुसार जब राजा युधिष्ठिर पृथ्वी का शासन करते थे, तब सप्तर्षि मघा नक्षत्र पर थे। युधिष्ठिर का समय शककाल २५५६ वर्ष पूर्व माना जाता है।

'महाभारत' की मूलकथा, जिसको कि भृगुवंशीय ब्राह्मणों ने संबद्ध किया था, बहुत प्राचीन है। ऐसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में, जिनका निर्माण लगभग १००० ई० पूर्व में हो चुका था, कुरुक्षेत्र, परीक्षित्, भरत और धृतराष्ट्र प्रभृति 'महाभारत' से संबद्ध नाम मिलते हैं; किन्तु विभिन्न विद्वानों के उक्त मंतव्यों को भी असत्य नहीं कहा जा सकता है, जिनके कथनानुसार 'महाभारत' अनेक युगों में संकलित, संशोधित एवं संपादित और अनेक हाथों द्वारा विरचित होकर आज हम तक पहुँचा है।

'महाभारत' के अन्तर्बहिः साक्ष्यों और विभिन्न विद्वानों के मतों का विश्लेषण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि उसकी पूर्व सीमा वैदिक युग तक और अन्तिम सीमा ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक पहुँचती है।

गीता और महाभारत

'गीता', 'महाभारत' का ही अंश है। भारतयुद्ध में होने वाले जाति-क्षय और कुलक्षय को देखकर अर्जुन के मन में संन्यास ग्रहण करने की जो प्रबल इच्छा हो गई थी, उसको दूर कर अर्जुन को कर्ममार्ग में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण ने जो उपदेश दिया था—वही 'गीता' में वर्णित है। 'गीता' में बताया गया है कि बुद्धि को साम्यावस्था में रखकर स्वधर्मानुसार जो कर्म किए जाते हैं वे ही मोक्ष को देने वाले हैं। यही 'गीता' का निष्कर्ष है और इसी का उपदेश देकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में पुनः प्रवृत्त किया था।

गीता-भाष्य के आरम्भ में शंकराचार्य ने 'गीता' को सात-सौ श्लोकों की कृति बताया है। आजकल 'गीता' की प्रायः समग्र छपी पुस्तकों में इतने ही श्लोक पाये जाते हैं। इन सात-सौ श्लोकों में १ श्लोक धृतराष्ट्र का, ४० संजय के, ८० अर्जुन के और ५७९ श्रीकृष्ण के हैं; किन्तु गणपत कृष्णजी के बम्बई से प्रकाशित संस्करण में श्रीकृष्ण के ६२०, अर्जुन के ५७, संजय के ६७ और धृतराष्ट्र का १, कुल मिलाकर ७४५ श्लोक बैठते हैं। मद्रास-संस्करण में भी इतने ही श्लोक हैं। इसके विपरीत कलकत्ता वाले संस्करण में यह श्लोकसंख्या प्रक्षिप्त जान पड़ती है। ४५ श्लोकों का उक्त प्रक्षिप्तांश कब उसके साथ जुड़ा, यह कहा भी नहीं जा सकता; किन्तु इतना निश्चित है कि गीता की वास्तविक श्लोकसंख्या सात-सौ थी।

'भगवद्गीता', 'महाभारत' का ही एक भाग है, इस बात का स्पष्टीकरण 'महाभारत' में कई स्थानों पर करते हुए कहा गया है कि उस (गीता) में मोक्ष-धर्म को बतला कर वासुदेव ने अर्जुन के मन का मोहज कल्मष दूर कर दिया था। हम शान्तिपर्व के कई स्थलों पर 'गीता' और 'महाभारत' के इस सम्बन्ध का उल्लेख अधिक विस्तार से हुआ पाते हैं।

'भगवद्गीता' और 'महाभारत' का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् और दोनों ग्रन्थों के शब्दार्थों का समीक्षण करने के पश्चात् विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कालिदास आदि संस्कृत के परवर्ती ग्रन्थकारों ने उन

शब्दार्थों को उस रूप में ग्रहण न करने की अपेक्षा दूसरे ही रूप में ग्रहण किया है। इन दोनों ग्रन्थों की श्लोकरचना आर्ष वृत्तों के आधार पर है।

इन दोनों ग्रन्थों के सादृश्य का दूसरा प्रबल प्रमाण उनका श्लोक-साम्य है। 'महाभारत' के कलकत्ता संस्करण के आधार पर लोकमान्य तिलक ने इन दोनों ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला था कि २७ पूरे श्लोक और १२ श्लोकार्द्ध, गीता तथा 'महाभारत' के भिन्न-भिन्न प्रकरणों में कहीं-कहीं तो अक्षरशः और कहीं-कहीं कुछ पाठान्तर होकर, एक ही से हैं; और यदि पूरी तौर से जाँच की जावे तो और भी बहुतेरे श्लोकों तथा श्लोकार्धों का मिलना संभव हो सकता है।

अन्त में इन ग्रंथों के अर्थ-सादृश्य का विवेचन करते हुए तिलक महाराज ने स्पष्ट किया है कि 'गीता' वर्तमान 'महाभारत' का ही एक भाग है और जिस पुरुष ने वर्तमान 'महाभारत' की रचना की है, उसी ने वर्तमान 'गीता' का भी वर्णन किया है।

लोकमान्य तिलक ने अपने पूर्ववर्ती प्रामाणिक विद्वान् श्री चिन्तामणि राव वैद्य के मत का समर्थन करते हुए स्पष्ट किया है कि श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक पुरुष थे और उनका, पांडवों का तथा महाभारतीय युद्ध का एक ही समय, अर्थात् कलियुग का आरम्भ था। पुराण-गणना के अनुसार उस समय को बीते अब ५००० से भी अधिक वर्ष हो गए हैं।

रामायण और महाभारत

वाल्मीकि और व्यास भारतीय साहित्याकाश की दो उज्ज्वल दिशाएं, साहित्य-साधना के इस अनन्त राजमार्ग की दो मंजिलें, विभिन्न युगों की दो प्रकाशमान प्रतिभाएं और सृष्टि के साथ सदाशय रूप में रात तथा दिन की तरह चलनेवाली दो अक्षय विभूतियाँ हैं। वाल्मीकि और व्यास के भौतिक शरीर समय के बवंडर में न जाने कहाँ खो गए; किन्तु इस धरती से एक पूरे जीवन का साथ होने की कृतज्ञता एवं यादगार के रूप में वे जो कुछ यहाँ छोड़ गए वह इतना चिरंतन है कि इस धरती की अन्तिम सांसों तक जीवित रहेगा।

विश्वकवि ने संसार के काव्यशास्त्र के समस्त कवियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है। पहली श्रेणी के कवि तो वे हैं 'जिनमें उनके सुख-दुःख, उनकी कल्पना और उनके जीवन की अधिकता के अन्दर से संसार के सारे मनुष्यों के चिरंतन हृदयावेग और जीवन की मार्मिक बातें आप ही आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।' और दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं, 'जिनकी रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय बना देता है।' उदाहरण के लिए, 'शकुंतला' और 'कुमारसंभव' में कालिदास की कलम का कौशल दिखाई पड़ता है; किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' हिमालय और गंगा की भाँति भारत के मालूम होते हैं, व्यास और वाल्मीकि तो उपलक्ष्य मात्र हैं।

'रामायण' और 'महाभारत' भारतीय साहित्य की सुदीर्घ परम्परा को दो विभिन्न युगों में विभाजित कर देने वाले अपनी तरह के दो अकेले ग्रन्थ हैं। संपूर्ण संस्कृत-साहित्य दो भागों में विभक्त है, वैदिक और लौकिक। उसका यह विभागीकरण कल्पनाप्रसूत नहीं है, वरन् विषय, भाषा, व्याकरण, छन्द, स्वर और रचनाविधान के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर किया गया है। वैदिक साहित्य का सीमाविस्तार भारतीय दृष्टि से २५००—५०० ई० पूर्व में अनुमित और तदनन्तर लौकिक साहित्य का अभ्युदय माना गया है।

ये दोनों भारत की दीर्घकालीन साहित्य-साधना के दो प्रतिनिधि-ग्रन्थ हैं। वैदिक युग से लेकर आज तक, संस्कृत का जितना भी वाङ्मय है, उसमें वैदिक और लौकिक की सीमा को निर्धारित करने का श्रेय इन्हीं दो ग्रन्थों को दिया जा सकता है। इन ग्रन्थों के अन्तिम संस्करण होने से पूर्व जितना भी साहित्य था उसमें वैदिक भावना की प्रधानता थी। यद्यपि 'रामायण' और 'महाभारत' भी उस प्रभाव से अछूते न थे, फिर भी उसमें वैदिक पक्ष, लौकिक पक्ष की अपेक्षा कम है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की आधारभूमि जिस प्रकार मंत्र-संहिताएँ हैं, सम्पूर्ण लौकिक साहित्य के उद्गम उसी प्रकार ये दोनों ग्रन्थराट् हैं।

हम देखते हैं कि जिन भावनाप्रधान ऋषि-मुनियों ने वेदमंत्रों का प्रवर्तन-अनुवर्तन किया, ब्राह्मणग्रन्थों में पहुँच कर उनका एक बृहत् समुदाय

कर्मकाण्डप्रधान पुरोहित-प्रवृत्ति का हो गया। इसके विरुद्ध वैदिक युग के कुछ बचे हुए भावुक ऋषि उपनिषद्-ग्रन्थों में पहुँचकर सहसा कर्मकाण्डवादी ऋषि-समुदाय के विरोध में अति गंभीर रुख धारण करते हुए सामने आये। तदनन्तर भारतीय साहित्य की कुछ शताब्दियाँ, सूत्रग्रंथों की रचना से लेकर महाकाव्य के युग तक, धुँधली-सी पड़ गयी प्रतीत होती हैं, यद्यपि इस बीच कुछ दर्शन संप्रदायों के निर्माण और जैन-बौद्धों की धार्मिक उन्नति के लिए भूमिका तैयार होती रही। 'महाभारत' में हम देखते हैं कि परम्परागत ऋषि-परम्परा सहसा कवि-सुलभ कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति में परिणत हो गयी।

'महाभारत' में एक विषय, एक रुचि, एक भावना, एक विचार, यहाँ तक कि एक-जैसी भाषा और एक-जैसी बातें न होकर, एक प्रकार से उक्त सभी बातों का समावेश है। वे बातें परस्पर ऐसी गुथी हुई हैं कि भाषा, विचार, विषय और युग की दृष्टि से हम चाहें कि उन्हें अलग कर दें, तो सर्वथा असम्भव होगा। 'महाभारत' के इस सर्वहारा रूप को देखकर विद्वानों ने 'विश्वकोश' कह कर उससे अपना पीछा छुड़ाया। हम दिखा चुके हैं कि कुछ विद्वानों के मतानुसार उसका यह विश्वकोश जैसा बृहत्तम रूप सातवाहन-युग में ही पूरा हो चुका था; किन्तु उसके कुछ अंशों की उधेड़बुन गुप्त-साम्राज्य तक होती रही। सभापर्व का दिग्विजय-वर्णन और राजधर्म-वर्णन सातवाहन-साम्राज्य से इतने मिलते-जुलते हैं कि कदाचित् यह कहते संकोच नहीं होता कि उनकी रचना सातवाहन युग में ही हुई।

'रामायण' का भी यही हाल है। महामुनि वाल्मीकि ने जिस परम्परागत ख्याति के आधार पर 'रामायण' की रचना की थी, कालांतर में वह अनेक बार, दूसरे हाथों की काट-छाँट से अछूती न रह सकी और फलतः 'रामायण' और 'महाभारत' के जो स्वरूप-संस्करण आज हमारे सामने विद्यमान हैं, उनमें कुछ सर्वथा विरोधी भ्रमात्मक बातों का समावेश हो गया।

ये दोनों बृहत्काय ग्रंथ वैदिक और लौकिक संस्कृत के संधिकाल में निर्मित हुए। भारतीय साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में जो नया मोड़ आया उसके साक्षी रूप इन्हीं दो ग्रन्थों को उद्धृत किया जा सकता है।

इन दोनों ग्रन्थों की प्राचीनता का जहाँ तक संबंध है, वहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे एक समय में विरचित न होकर भिन्न-भिन्न युगों में रचित, परिवर्तित, परिवर्द्धित, संपादित और संशोधित होकर आज हम तक पहुँचे हैं। फिर भी इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी में उनका जो स्वरूप निर्मित हो चुका था, प्रायः वही स्वरूप, कुछ गौण बातों को छोड़कर, हमारे सामने विद्यमान है।

'रामायण' और 'महाभारत' में वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का अपूर्व समन्वय होने के कारण उन्हें एक नाम नहीं दिया जा सकता है। दोनों की तुलना उस महासागर से की जा सकती है, जिसमें अनेक काव्य-शैवलिनियाँ आकर मिली हुई हैं। उनमें जिस कथावस्तु का विधान है, उसके भी मध्य में सैकड़ों उपकथाएँ सम्मिलित हैं। 'महाभारत' के कथानक में 'रामायण' की अपेक्षा अधिक पाचक तत्व विद्यमान हैं। दोनों ही इस दृष्टि से पुराण हैं, इतिहास हैं, आख्यान हैं, और इसीलिए, उनको न केवल पुराण ही कहा जा सकता है और न केवल इतिहास-आख्यान ही।

सच बात तो यह है कि 'रामायण' और 'महाभारत' अमर विश्वासों के रूप में हमारे जीवन से कब एकप्राण हो गए, इसका इतिहास बताने में आज हम असमर्थ हैं और उसको बताने की अब हमें आवश्यकता भी नहीं रह गयी है। आज अपने बृहद् राष्ट्र के नाम के पर्यायवाची होकर वे अपनी जन्मभूमि के गौरव को धरती के कोने-कोने में चमका रहे हैं। भारत का संपूर्ण जन-जीवन सहस्रों वर्षों से इन दो ग्रंथों के प्रभाव और असामान्य दीप्ति से प्रभावित होता आ रहा है। इस गंधवती भारतीय धरती की सोंध में सर्वत्र उनका अस्तित्व परिव्याप्त है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इसीलिए कहा था कि :

'अतएव शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं, किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' का स्रोत भारत के नाम को शुष्क नहीं होने देता। प्रतिदिन गाँव-गाँव, घर-घर उनका पाठ होता रहता है। क्या बाजार की दूकानों पर और क्या राजा के दरवाजों पर, सर्वत्र उनका समान भाव से आदर होता है। वे दोनों महाकवि धन्य हैं, जिनके नाम तो काल के महाप्रांतर में लुप्त हो गए

किन्तु जिनकी वाणी आज भी करोड़ों नर-नारियों के द्वार-द्वार अपनी निरंतर प्रवहमान धाराओं से शक्ति और शांति पहुँचाती फिरती है और सैकड़ों प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी को दिनों दिन बहा लाकर भारत की चित्त-भूमि को उर्वरा बनाये हुए है।'

दोनों के कथानकों का मूल उद्गम

कलेवर की दृष्टि से दोनों महाग्रन्थ हैं। उनके अध्ययन से हमें जहाँ एक ओर प्राचीन भारत के जातीय जीवन की ऐतिहासिक परंपराओं का परिचय मिलता है, वहाँ दूसरी ओर, उनमें हमें एक नई बात देखने को यह मिलती है कि उस समय तक ऐसी सैकड़ों लोककथाएँ प्रचलित हो चुकी थीं, जिनको कि आख्यानों के रूप में संकलित किया जाने लगा था। ये आख्यान अपने प्राचीन रूप में ऋग्वेद-संहिता के संवादात्मक सूक्तों में सुरक्षित थे। बाद में इन आख्यानों का प्रचलन हमें आंशिक रूप में ब्राह्मणग्रन्थों में और अधिकता से सूत्रग्रन्थों में मिलता है।

देवताओं, ऋषियों, राजाओं और राक्षसों के सम्बन्ध में जो कथाएँ वैदिक काल से मौखिक रूप में सुरक्षित रहती चली आ रही थीं उन्हीं का लिपिबद्ध रूप हमें 'रामायण' और 'महाभारत' में मिलता है। इतना ही नहीं, वरन्, यही आख्यान-परम्परा हमें बौद्धों के साहित्य में भी भरपूर रूप से उपलब्ध होती है।

'रामायण' और 'महाभारत' का प्राचीनतम मूल रूप उनके उपलब्ध रूप से सर्वथा भिन्न था। जिन वेदयुगीन कथाओं की चर्चा हमने ऊपर की है और जिनको 'रामायण' से पूर्व 'महाभारत' में आख्यान-उपाख्यानों का रूप दिया गया, उन्हीं से मिलती-जुलती कुछ कथाएँ राम और कौरव-पांडवों के सम्बन्ध में भी प्रचलित थीं। ब्राह्मणग्रन्थों और सूत्रग्रन्थों में हमें जिन 'गाथा-नाराशंसी' का उल्लेख मिलता है, वे गाथाएँ एक प्रकार से वीर-वृत्तावलियाँ थीं। ये वीर-वृत्तावलियाँ अनेक राजवंशों एवं वीर पुरुषों से सम्बन्धित थीं। 'रामायण' और 'महाभारत' की कथाओं तथा उपकथाओं का मूल इन्हीं वीर-स्तुतियों पर ही आधारित है। इन वीर-वृत्तों के निर्माता गायक, प्रचारक,

सूत और कुशीलव थे। सूतों और कुशीलवों का यह जीविकोपार्जन का दैनिक कार्य था। वे घूम-घूम कर उत्सवों, त्योहारों, पर्वों और राज्य-समारोहों के अवसरों पर इन वृत्तों को आकर्षक ढंग से गीतिबद्ध रूप में सँजोकर सुनाया करते थे।

इन्हीं परम्परागत कथाओं एवं वीरवृत्तों को धर्म, दर्शन, राजनीति, आचार, इतिहास, पुराण और काव्य की सुन्दरताओं से सँवार-सुधार कर युगपुरुष वाल्मीकि और व्यास ने अपनी परिष्कृत भाषा एवं संस्कृत विचारों को 'रामायण' और 'महाभारत' के रूप में उपस्थित किया। यही दोनों ग्रन्थों के कथानकों का मूल उद्गम था।

'रामायण' और 'महाभारत' भारत की समन्वयवादी विचारधारा के दो प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। आर्य परिवारों और अनार्य परिवारों के लिए उनका एक समान महत्व और उनकी समान रूप से उपयोगिता थी। उनकी लोक-विश्रुति का एकमात्र आधार उनमें वर्णित ऊँचे विचार हैं। एक ओर तो ये दोनों, भारत के जातीय जीवन के दो महाग्रन्थ हैं और दूसरी ओर संस्कृत की सैकड़ों उच्चतम कृतियों के निर्माण के उपजीवी ग्रन्थराट् भी। एक प्रकार से ये दोनों हमारे धर्मग्रन्थ भी हैं। वेद और उपनिषद्-ग्रन्थों के रहस्यमय विचारों को काव्यमयी भाषा में प्रकट करने में इन दोनों ग्रन्थों का अपना नया ढंग, एक सर्वथा नयी शैली को जन्म देने का प्रयास है। ये दोनों ग्रन्थ अपने पूर्ववर्ती संपूर्ण ज्ञान के निचोड़ हैं। वाल्मीकि और व्यास दोनों आर्य महाकवियों ने अपने इन दो ग्रन्थों के द्वारा साहित्य को, समाज को और संस्कृति को एक नया मोड़, नयी जागृति और नया जीवन प्रदान किया है।

'भारतीय एकता की सेवा भी सबसे अधिक इन्हीं दो महाकाव्यों ने की। लंका, पंपापुर और अयोध्या, देश के इन तीन भू-भागों की कथाओं को एक ही राष्ट्रीय महाकाव्य में गूँथ कर वाल्मीकि ने भारत की सांस्कृतिक एकता ही नहीं, भौगोलिक एकता को भी अक्षयतत्व बना दिया। इसी प्रकार महाभारत-कार ने भी देश के विभिन्न भागों में फैली हुई विचारधाराओं एवं संस्कृतियों को एक स्थान पर लाकर इस प्रकार गुंफित कर दिया कि 'महाभारत' सारे देश की जनता का कंठहार हो गया। कोई आश्चर्य नहीं कि कालिदास से

लेकर आज तक के सभी भारतीय भाषाओं के कवि, 'रामायण' और 'महाभारत' की कथाओं पर काव्य-रचना करते रहे हैं। सारे देश का साहित्य आज भी 'रामायण' और 'महाभारत' का क्षीर-पान कर बलिष्ठ हो रहा है, जिससे आप से आप यह सत्य ध्वनित हो उठता है कि भारत की विचारधारा एक है, भारत की मानसिकता एक है एवं भारत की एक ही संस्कृति है, जिसकी सेवा विभिन्न भाषाओं में की जा रही है'।

दिनकर जी के उक्त कथन से 'रामायण' और 'महाभारत' के भारतव्यापी अस्तित्व का सहज में ही पता चल जाता है। ये दोनों ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य एवं महाकाव्य-काव्यों के उपजीवी ग्रन्थ तो हैं ही, वरन् वे इतिहास भी हैं, किन्तु घटनावलियों के नहीं। दोनों ही भारतवर्ष के पुराने इतिहास हैं। अन्यान्य इतिहास समय-समय पर परिवर्तित हो गए हैं, पर इन दोनों ग्रन्थों में परिवर्तन न हुआ। भारतवर्ष की जो साधना और जो संकल्प है, उन्हीं का इतिहास इन दोनों विशालकाय काव्य-प्रासादों के भीतर चिरकालिक सिंहासन पर विराजमान है।

दोनों ग्रन्थों का ऐतिहासिक संतुलन

'रामायण' और 'महाभारत' की रचना अलग-अलग युगों में तो हुई ही है, किन्तु उनकी रचना का एक निश्चित समय अभी तक निर्णीत नहीं हो सकता है। आज हमारे सम्मुख जिस रूप में वे विद्यमान हैं, उनका यह रूप अनेक शताब्दियों में संपादित होता हुआ आया है।

दोनों ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि वे दोहराए गए हैं : पुरा वाल्मीकिना कृतम्। बौद्धों पर उनके आक्रमण और राजनीतिक प्रभाव, जो 'रामायण' के संबंध में पूर्णतया और 'महाभारत' के संबंध में अंशतया चरितार्थ होते हैं, ई० पूर्व दूसरी शताब्दी के हैं। प्रमाणित होता है कि दोनों महाकाव्य प्रारंभिक शुंग-युग में दोहराए गए। इसलिए उनमें ब्राह्मणों के प्रभुत्व का जो बहुत अधिक उल्लेख मिलता है, उससे हमें भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। उनके संशोधन के लिए शिलालेखों, जातकों, तथा दूसरे पालि ग्रंथों, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और विदेशियों के लिखित पर्याप्त प्रमाण आज हमारे पास विद्यमान हैं।

रचनाक्रम की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों के संबंध में बड़ा विवाद है। दोनों ग्रन्थों के चरित्रनायका का मूल खोजा जाय तो राम का युग, कौरव-पांडवों से पहले आता है। राम त्रेता युग में हुए और कौरव-पांडव द्वापर युग में। यदि यह विश्वास सत्य माना जाय, जैसा दोनों ग्रन्थों के आन्तरिक प्रमाणों से भी सिद्ध है, कि वाल्मीकि और कृष्ण-द्वैपायन अपने चरित्र-नायकों के ही समकालीन थे, तब भी वाल्मीकि का स्थान कृष्ण-द्वैपायन से पहले आना चाहिए। 'रामायण' के 'महाभारत' से पहले रचे जाने के सबल प्रमाण दोनों ग्रंथों के अन्तःसाक्ष्य हैं। 'रामायण' के कथानक से 'महाभारत' का कथानक अत्यधिक रूप से प्रभावित है। 'महाभारत' के रामोपाख्यान में वाल्मीकीय 'रामायण' के श्लोक और भाव ज्यों-के-त्यों हैं, वरन् ऐसा कहना चाहिए कि 'महाभारत' का रामोपाख्यान 'रामायण' का संक्षिप्तीकरण है। इसके अतिरिक्त 'रामायण' में वर्णित शृंगवेरपुर और गोप्रतार नामक स्थानों को 'महाभारत' में तीर्थों जितना सम्मान प्राप्त है।

'रामायण' में खोजने पर भी 'महाभारत' की कथा-उपकथाओं का कहीं भी प्रभाव या उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत 'महाभारत' में वाल्मीकीय 'रामायण' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। दोनों ग्रन्थों की नल-दमयन्ती-कथा एक-जैसी है। उदाहरण के लिए 'महाभारत' में 'रामायण' का एक श्लोक ज्यों-का-ज्यों दुहराया गया है। इस दृष्टि से सिद्ध है कि 'महाभारत' से पहले 'रामायण' की रचना हो चुकी थी।

दोनों ग्रन्थों के संबंध में विद्वानों की ऐसी धारणा है कि 'भारत' तथा 'महाभारत' के बीच में 'रामायण' की रचना हुई। 'भारत' काव्य ने 'महाभारत' का रूप ग्रहण किया, इसकी सूचना उसी में लिखित है। यद्यपि 'भारत' काव्य की रचना 'रामायण' से पूर्व हो चुकी थी, फिर भी दोनों की उत्पत्ति एवं विकास स्वतंत्र रूप से हुआ। भारत के पश्चिमी भाग में तो 'भारत' रचा गया और पूर्वी भाग में 'रामायण' का निर्माण हुआ। इन दोनों का जब संपर्क हो गया था तब 'भारत' ने 'महाभारत' का स्वरूप धारण किया।

दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि 'भारत' के कवि राम-कथा और उसके पात्रों से तो परिचित थे; किन्तु वाल्मीकि मुनि-कृत 'रामायण' से भारतकारों का परिचय न होकर 'महाभारत' के रचयिताओं

का परिचय हुआ। यही कारण है कि 'महाभारत' के प्राचीनतम पर्व न तो 'रामायण' से प्रभावित हैं और न उनमें 'रामायण' या वाल्मीकि का उल्लेख हुआ है।

'तैत्तिरीय आरण्यक' और 'सामविधान ब्राह्मण' जैसे वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में व्यास पाराशर्य का नाम तो मिलता है; किन्तु वाल्मीकि का नहीं मिलता है। इस दृष्टि से यह समझा जाना चाहिए कि 'महाभारत' की मूल कथा का निर्माता व्यास बहुत पुराना व्यक्ति था।

'महाभारत' से पहले 'रामायण' की रचना के संबंध में अन्तःसाक्ष्य हैं : ग्रन्थ, ग्रंथकार, पात्र और प्रसंग।

'महाभारत' के स्वर्गारोहण पर्व में 'रामायण' का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जिसकी पुनरावृत्ति 'हरिवंश' में भी हुई है।

इसी प्रकार एक तपस्वी एवं ऋषि के रूप में वाल्मीकि मुनि का उल्लेख 'महाभारत' के द्रोण पर्व में है, बल्कि इस श्लोक का उत्तरार्द्ध वाल्मीकि 'रामायण' से अविकल रूप में उद्धृत है। भार्गव नामक ऋषि का एक श्लोक 'महाभारत' में उद्धृत है, जो कि उसी रूप में 'रामायण' में भी मिलता है।

'महाभारत' के आरण्यकपर्व में भीम स्वयं वानरपुंगव हनुमान का उल्लेख करते हैं।

इन अन्तःसाक्ष्यों के अतिरिक्त 'महाभारत' का रामोपाख्यान और नलोपाख्यान 'रामायण' की कथा से प्रभावित हैं, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। फादर कामिल बुल्के ने अपनी पुस्तक में इन प्रसंगों की पूरी मीमांसा की है।

अतः सुनिश्चित है कि 'रामायण' की रचना 'महाभारत' से पहले और संभवतः 'भारत' से बाद में हुई।

'रामायण' और 'महाभारत' का अपना एक ऐतिहासिक महत्व भी है। संस्कृत-साहित्य के बृहत् इतिहास में दो विभिन्न युगों को विभाजित करने में ये दोनों ग्रन्थ एक प्रकार से सीमा-विभाजक हैं। दोनों वैदिक साहित्य के सीमान्तक और लौकिक साहित्य के सीमोदय के प्रारूप हैं। वैदिक संस्कृति की अन्त्येष्टि और लौकिक संस्कृति का अभ्युदय, इन दो युगों के बीच के ग्रंथ हैं। इस दृष्टि से वाल्मीकि और व्यास लौकिक संस्कृत के आदिकवि हैं।

'रामायण' और 'महाभारत' आज देश-काल की परिधि को लांघ कर सार्वदेशिक एवं सार्वकालीन महत्व को प्राप्त कर चुके हैं, जिस महत्व को विश्व की बहुत कम कृतियाँ प्राप्त कर सकी हैं। अपनी महानताओं के कारण आज दोनों ग्रंथ विश्व-साहित्य के अमर ग्रन्थ-रत्नों के रूप में गिने जाने लगे हैं। आज अपने निर्माताओं—वाल्मीकि, व्यास—और अपनी निर्माणभूमि भारत की महानताओं को दुनिया के सामने रखने में वे सफलकाम हैं।

विश्व की प्रायः सभी समुन्नत भाषाओं में 'रामायण' और 'महाभारत' के अनुवाद हो चुके हैं, वरन् इससे बढ़कर आश्चर्य की बात तो यह है उन अनूदित कृतियों के कई संस्करण भी निकल चुके हैं और उनके कथांशों को लेकर विदेशियों द्वारा कई कृतियों का निर्माण भी हो चुका है। आज भी कितने ही विद्वान् इन दोनों ग्रन्थों की गवेषणा में लगे हैं।

'रामायण' और 'महाभारत' आज इतने सुपरिचित नाम लगते हैं कि कोई भी सहसा उन्हें भूल नहीं सकता है। यहाँ तक कि वाल्मीकि-व्यास भले ही याद न रहें किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' विस्मृत नहीं हो सकते। इन ग्रन्थों का इतना लोकप्रचलन, कि उनके नाम के आगे उनके रचयिता तक याद न रहें, उनकी सबसे बड़ी विशेषता, सबसे बड़ी महानता और सब से बड़ी सफलता है। इन दो ग्रन्थराटों की वर्णनातीत विशेषताओं के सम्बन्ध में अधिक न कह कर इस प्रसंग को हम विश्वकवि के इन शब्दों के साथ समाप्त करते हैं:

'वस्तुतः व्यास और वाल्मीकि किसी का नाम नहीं था, नामकरण मात्र ही इनका उद्देश्य है। इतने महान् दो ग्रन्थ; समस्त भारतव्यापी दो काव्य, अपने रचयिता कवियों के नाम लुप्त कर बैठे हैं। कवि अपने काव्यों के अन्दर ही लुप्त हो गए हैं। सारांश यह कि आज समस्त भारतवासी 'रामायण' और 'महाभारत' का नाम लेने के सिवा उनके रचयिता वाल्मीकि और व्यास के नाम नहीं लेते।'

पुराण-साहित्य

पुराण

वैदिक धर्म का पुनः संस्कार : पौराणिक धर्म का अभ्युदय

वेदमंत्रों में वर्णित विचारों तथा उनके आध्यात्मिक अनुभवों से विदित होता है कि मंत्र-संहिताएँ एक युग की समाप्तिसूचक हैं, न कि किसी युग विशेष के आरम्भ अथवा उसकी परम्पराओं एवं अवस्थाओं का इतिहास प्रस्तुत करनेवाली रचनाएँ हैं। इस संबंध में हमें केवल इतना ही विदित होता है कि वेदों का पूर्वातिपूर्व इतिहास अधिक अस्पष्ट और अधिक धुँधला है।

मंत्र-संहिताओं के एक पक्ष की व्याख्या तो ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों ने प्रस्तुत की और दूसरे पक्ष का प्रतिपादन किया उपनिषद्-ग्रंथों ने, जिन्हें वेदांतिक युग का आविर्भावक कहा जाता है। इस युग में वेदों के पुरातन ज्ञान को सुरक्षित रखने एवं उसको पुनरुज्जीवित करने के लिए अनेक नए प्रयत्न किए गये। वेदों के पुरातन ज्ञान की वास्तविक खोज के लिए इस युग में एक कठिनाई सामने आई। वैदिक रहस्यवादियों के सिद्धांत जिन अनुभूतियों पर आधारित थे, अथच, उन्होंने जिन दिव्य शक्तियों का आश्रय लिया था, सामान्य मनुष्यों के लिए उनको पा लेना अति दुष्कर-सा था। अतः पुरातन ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदांतिक युग में जो यत्न किए गए वे आंशिक रूप से ही सफल हो पाए।

इस क्षेत्र में एक गड़बड़ी पुरोहितों द्वारा भी हुई। उस युग में पुरोहित ही एक ऐसे बचे थे जिन्हें वेद कण्ठस्थ था। पुरोहित ही उस युग का शिक्षक और द्रष्टा दोनों था। वही व्याख्याकार और वही कर्मकांडी भी था। उत्तरोत्तर ऐसी परम्परा बनती गई कि पुरोहितों ने कर्मकांड विषय को तो अधिक अपनाया किंतु व्याख्यान विषय उनसे दूर होता गया। फलतः वैदिक पूजा के भौतिक रूप ने उसके भीतरी ज्ञान को एक प्रकार से ढँक-सा दिया। बाद में इसकी दो धाराएँ सामने आईं। कर्मकांडसंबंधी विधियों की रक्षा के लिए जिन प्रयत्नों को किया गया उनके चिह्न ब्राह्मणग्रंथों के रूप में प्रकट हुए और वैदिक ज्ञान को पुनरुज्जीवित करने एवं प्रकाश में लाने के लिए जिन प्रयत्नों को किया गया वे उपनिषद्-ग्रंथों के द्वारा सामने आए। इस प्रकार वैदिक ज्ञान की दो शाखाएँ हुईं : एक कर्मकांडीय दूसरी ज्ञानकांडीय।

क्योंकि वैदिक मंत्रों की परम्परा पुरोहितों द्वारा कंठगत निर्वाहित होती चली आ रही थी, अतएव उनकी बहुत-कुछ वास्तविकता विलुप्त-सी हो गई थी, जो कि स्वाभाविक भी था। ब्राह्मणग्रन्थों का आविर्भाव उस विलुप्त परम्परा को जीवित करने के उद्देश्य से हुआ था। किंतु हम देखते हैं कि उस विलुप्त परम्परा को प्रकाश में लाने की अपेक्षा ब्राह्मणग्रन्थों ने उसको आच्छादित-सा कर दिया। ब्राह्मणग्रन्थों के नये प्रतीकवाद ने वेदमंत्रों के प्राचीन प्रतीकवाद को धुँधला कर दिया।

इसके सर्वथा प्रतिकूल, उपनिषद्-ग्रन्थों के द्वारा ज्ञान-भावना की जो नई पद्धति प्रकाशित हुई उसकी आधारभूमि ठीक पुरातन थी। उपनिषदों के ऋषियों ने ध्यान, समाधि और आध्यात्मिक शक्तियों के द्वारा वैदिक ज्ञान की क्षीण परम्परा को एक नई दिशा प्रदान की, जो कि नई होते हुए भी पुरातन की अविरोधी थी। उन्होंने पुरातन सत्यों को युग के अनुरूप ढाला। फिर भी उपनिषद्-ग्रंथों की प्रतीकात्मक शैली वेदमंत्रों की आध्यात्मिक पद्धति को, उनकी वास्तविक व्याख्या को, आगे न बढ़ा सकी, क्योंकि उपनिषदों का उद्देश्य वेदों का प्रतिपादन करना न होकर, वेदांत की स्थापना करना था।

प्राचीन और नवीन की इस समन्वयवादी उपनिषदों की विचारधारा ने संन्यास और त्याग को उभारा। वेद और वेदांत में एक मौलिक भेद यह हो

गया कि वेद पुरोहितों के लिए और वेदांत संतों की वस्तु हो गया। अंतर्ज्ञान के पुरातन युग का स्थान तर्क युग ने ले लिया। इसके परिणामस्वरूप ही जैन एवं बौद्ध धर्मों का आविर्भाव हुआ और इन नये धर्मों के आविर्भाव के कारण वैदिक मान्यताएँ तो क्षीण पड़ती ही गईं, परंपरागत साहित्यिक भाषा का स्थान भी प्रचलित लोकभाषाओं ने ले लिया। बौद्धधर्म के विरोध में हिंदूधर्म आगे आया और उसने पुरातन धर्म का पक्ष लेकर क्रिया-कर्मों पर जोर दिया। फलतः वैदिक-धर्म पौराणिक धर्म के रूप में परिवर्तित होकर सामने आया और वैदिक पुरोहितों का स्थान पंडितों ने ले लिया। पौराणिक धर्म के प्रतिष्ठाता इस पंडित वर्ग ने एक ओर तो बौद्धधर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को भारत से उखाड़ कर बाहर छितरा दिया और दूसरी ओर वैदिक धर्म की विलुप्त परंपरा को पुनः प्रतिष्ठित किया।

यह वैदिक धर्म के पुनःसंस्कारस्वरूप पौराणिक धर्म के अभ्युदय का युग था।

पौराणिक धर्म का विकास

भारतीय साहित्य में पौराणिक युग का आविर्भाव एक नई दिशा का सूचक रहा है। अनेक जातियों के समागम के कारण भारतीय सभ्यता और संस्कृति में जो महान् परिवर्तन आ उपस्थित हुआ था, वह समय और समाज की आवश्यकता थी। इस परिवर्तन की प्रतिक्रिया न केवल तत्कालीन सामाजिक धरातल को बदलने तक ही सीमित रही, वरन् आध्यात्मिक जीवन की मान्यताओं में भी उसके कारण जबर्दस्त तबदीली हुई। वेदों में जिन अग्नि, इंद्र, वरुण, पूषण, सोम, उषा और पर्जन्य प्रभृति तैंतीस देवताओं का प्राधान्य था उनका स्थान विष्णु एवं शिव ने ले लिया और आगे चलकर शिव और विष्णु के प्रतीक में तैंतीस कोटि देवताओं की अवतारणा होने लगी।

ऐसा इसलिए हुआ कि यह समाज की आवश्यकता थी; उस समाज की, जो वैदिक समाज से एक पग आगे बढ़ चुका था। इस प्रगतिशील पौराणिक समाज ने न केवल वेदोक्त दैवी स्थापनाओं को ही अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित किया, प्रत्युत, आचार-विचार, धर्म, अनुष्ठान, व्रत, पूजा आदि के कर्म-क्षेत्र में भी सैकड़ों नई मान्यताओं को जन्म दिया।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुराणों के आविर्भाव का युग था। पुराणों में हम धर्म, कर्म, साधना, आराधना और रीति-रिवाज की दृष्टि से, वेदों की अपेक्षा सर्वथा बदली हुई नई परिस्थितियों को उगती हुई पाते हैं। इस पौराणिक युग में भारतीय संस्कारों में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ वह था : वर्ण-संकीर्णता एवं जातिगत भेद-भाव के प्रति अद्भुत विद्रोह। स्मृतिग्रन्थों ने जिन धार्मिक विधियों की रेखा खींच कर वर्ण-व्यवस्था के आचार-विचारों का जो पृथक्-करण कर दिया था, पौराणिक मान्यताओं ने उसको उखाड़ कर उसके विपरीत सवर्ण-असवर्ण एवं अनुलोम-प्रतिलोम विवाह-प्रणाली को प्रचलित किया।

गुप्तकालीन भारत में हिंदू-धर्म सभी क्षेत्रों में बहुत उन्नतावस्था में था। बृहद् हिंदू-धर्म के प्रतिपादक स्मृति-ग्रन्थ इसी युग में निर्मित हुए। बड़े-बड़े धर्माचार्यों और स्मृतिमर्मज्ञों ने महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना कर गुप्त-साम्राज्य के उज्ज्वल यश को चिरस्थायी बनाया।

धार्मिक साहित्य के निर्माण और अर्जन-वर्धन में पुराणों का प्रमुख हाथ रहा है। पुराण भारतीय आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र के विश्वकोश हैं। उनमें वे बीज बिखरे हुए हैं, जिनसे कालान्तर में भारतीय संस्कृति का विशाल वट-वृक्ष उगा और फूला-फला। पुराणों की संख्या अठारह है, जिनमें केवल सात ही ऐसे हैं, जो ऐतिहासिक वृत्तांतों को बताते हैं। पुराणों का प्रधान विषय सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरितों का प्रतिपादन करना है।

पुराणों की अनादिता

भारतीय साहित्य में पुराणों की प्राचीनता वेदों जितनी प्राचीन है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्, वैदिक साहित्य के ये सभी अंग पुराणों के अतिप्राचीन होने और उनके वेदों के समकक्षी होने का विवरण प्रस्तुत करते हैं। अथर्वसंहिता का कथन है कि पुराण, ऋक्, साम, छन्द और यजुः सभी एक साथ आविर्भूत हुए। पुराणों के इस प्राचीनतम अस्तित्व के कारण ही 'शतपथब्राह्मण' ने उनको वेद कह डाला है। 'शतपथ' और 'बृहदारण्यक' में लिखा है कि गीली लकड़ी की आग से जैसे धुआँ अलग निकलता है, उसी प्रकार इस महाभूत से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास,

पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान निःश्वास रूप में उद्भूत हुए। 'स यथा आर्द्रैन्धाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमाविनिश्चरन्ति एवं वा अहेरस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतत् यद्दग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यानुव्याख्यानि व्याख्यानानि अस्यैव एतानि सर्वाणि निश्वसितानि' (१४।६।१०।६ श०; २।४।१० बृ०)।

शंकराचार्य ने इसका भाष्य करते हुए स्पष्ट किया है कि पुरुष से जिस प्रकार अप्रयास ही निःश्वास निकलता है, उसी प्रकार अनायास ही इनका आविर्भाव हुआ। ब्राह्मण-ग्रंथों के इन प्रामाणिक वचनों से विदित होता है कि पुराणों का अस्तित्व भारतीय साहित्य के प्राचीनतम अंश में सर्वत्र उल्लिखित है।

ब्राह्मण-ग्रंथों के अतिरिक्त उपनिषद्-ग्रन्थ भी पुराणों की प्राचीनता को उद्धृत करते हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में इतिहास और पुराण को पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया गया है और चारों वेदों के साथ उनको स्थान दिया गया है।

धर्मशास्त्रकार ने भी 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में चतुर्दश विद्याओं में पुराण-विद्या को प्रमुख स्थान दिया है। स्मृतिकार का कथन है कि पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, चार वेद और छः वेदांग, ये चौदह विद्याएँ धर्म के स्थान हैं :

'पुराण-न्याय-मीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश'

'ब्रह्माण्डपुराण' में लिखा है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने पुराणों का स्मरण किया और बाद में वेदादि शास्त्रों का। इस पुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि सांगोपांग वेद का अध्ययन करने पर भी जो पुराणज्ञान से शून्य है वह तत्त्वज्ञ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वेद का वास्तविक स्वरूप पुराणों में ही दर्शित है।

इस दृष्टि से वेदों और पुराणों पर विचार करने वाले विद्वानों का मत है कि वेदों में जो बात संक्षेप रूप में कही गई है, पुराणों में उसी को विशद एवं

व्याख्यानात्मक ढंग से कहा गया है। पुराणों के इन व्याख्यानों में स्वतंत्र विचारों को खपा सकने की गुंजायश है! इसलिए कहीं-कहीं पुराणों में प्रक्षिप्त प्रसंग और अतिरंजनापूर्ण बातें भी भर गई हैं; किन्तु वे वेदों जितने सनातन हैं।

पुराणों में विविधता

पुराण यद्यपि वैदिक धर्म के प्रतिपादक ग्रंथ हैं, तथापि उनमें सामाजिक पक्ष की भी प्रधानता है। पुराणों में ऐतिहासिक घटनाओं का बाहुल्य है। भले ही उनमें से कुछ घटनाएँ अत्युक्तिपूर्ण एवं कल्पनाप्रसूत हों, फिर भी इतना तो अब स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आधुनिक विद्वानों के शोधकार्यों ने पौराणिक आख्यानों की सत्यता पर विश्वास करने योग्य तथ्यों को छाँट निकाला है। पुराणों के ऐतिहासिक महत्व का पता कल्हण के एक उल्लेख से मिलता है। एक 'नीलमत' नामक पुराण को कल्हण ने स्वयं पढ़ा था, जिसके आधार पर उसने अपना इतिहासग्रन्थ और विशेषतया गोनन्द आदि चार राजाओं का इतिहास लिखा था। इन राजाओं का वंश ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में सर्वथा विलुप्त हो चुका था। इसी सम्बन्ध में आगे चलकर कल्हण ने लिखा है कि गोनन्द तृतीय के शासनकाल में 'नीलमत' पुराण के अनुसार धार्मिक कृत्य संपन्न होते थे।

इन बातों का अध्ययन कर हमें पुराणों के ऐतिहासिक और धार्मिक महत्व का पता चलता है। पुराणों में वर्णित बहुत-सारी ऐतिहासिक घटनाओं का मिलान शनैःशनैः पुरातत्वसम्बन्धी उपलब्ध सामग्री : शिलालेख, दानपत्र, मुद्राएँ और विदेशियों के यात्रा-विवरणों से ठीक-ठीक मिलता जा रहा है।

पुराणों में जो भौगोलिक ज्ञान की अद्भुत बातें और प्राचीन तीर्थों का विस्तृत विवरण उल्लिखित हैं, वे अधिकांशतया मेल नहीं खाते; फिर भी बहुत सारी ऐसी बातों का पता भी उनसे विद्वानों ने खोज निकाला है, जो दूसरी जगह कहीं नहीं मिलती हैं।

पुराणों में उच्चकोटि के काव्यांकुर समाहित हैं। उदाहरण के लिए 'भागवत' को यद्यपि महापुराण माना गया है; किन्तु उसमें कविबुद्धि को प्रभावित करने

योग्य पर्याप्त उपकरण विद्यमान हैं। उसकी भाषा, शैली, छन्द, कथा अन्विति का परिशीलन करके विंटरनित्स साहब ने उसको एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना स्वीकार किया है।

इतिहास और पुराण की पृथक्ता

पुराण-ग्रंथों में इतिवृत्तों की अधिकता के कारण उनको इतिहास ही समझा जाता है; किंतु वास्तव में पुराण, इतिहास नहीं हैं। इतिहास और पुराण दोनों स्वतंत्र विषय हैं। भारतीय साहित्य के सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायण और शंकर जैसे प्रामाणिक विद्वानों ने इतिहास और पुराण की सत्ता को अलग-अलग स्वीकार किया है। उनके मत से वेदों में जो देवासुरसंग्राम एवं संवादपरक वर्णन बिखरे हुए हैं, वे तो इतिहास हैं, किंतु जगत् की प्रथमावस्था से लेकर सृष्टि-क्रिया का विकास उपस्थित करने वाले अंश पुराण हैं: 'जगतः प्रागवस्थामनुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्'

(ऐतरेय ब्राह्मण की अनुक्रमणिका)

इससे स्पष्टतः यह प्रतीत होता है कि पुराणों का प्रधान उद्देश्य आध्यात्मिक विचारों के विकास का प्रतिपादन करना था।

संप्रति जो पुराण-ग्रन्थ हमारे संमुख विद्यमान हैं, उनके संबंध में नहीं कहा जा सकता है कि वे सभी या उनमें से कुछ अथवा उनका कुछ अंश वेदों जितना प्राचीन है। इसका निराकरण, बारीकी से पुराणों का तुलनात्मक अध्ययन या उनके ऐतिहासिक विवरणों को अलग छाँटे बिना, नहीं किया जा सकता है। इसलिए हम तब तक यह भी नहीं कह सकते कि जितने भी पुराण आज विद्यमान हैं, उन सभी की पूरी रचना बाद में हुई।

आधुनिक विद्वानों की राय से अष्टादश नाम से पाये जानेवाले वर्तमान पुराणों की प्राचीनता वैदिकयुगीन नहीं है। किसी भी इतिहासज्ञ को यह मान्य नहीं है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रंथों के साथ जिन पुराणों का उल्लेख ऊपर हुआ है, वे संप्रति उपलब्ध नहीं हैं; किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन युग में उनकी स्थिति अवश्य थी और उनमें

न केवल सृष्टिविषयक कथा का वर्णन था, वरन् उनकी दिव्य कथाएँ वंशवृत्तों से भी संपृक्त थीं।

पुराणों के स्रष्टा : वक्ता : प्रवक्ता

पुराणों के महान् ज्ञान का प्रवर्तन ब्रह्मा ने किया। इस संबंध में विस्तृत सामग्री उपस्थित करनेवाला ग्रंथ 'वायुपुराण' है। उसके एक प्रसंग से विदित होता है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने मातरिश्वा (वायु) के लिए पुराण का प्रवचन किया था। इसी पुराण से हमें यह भी जानकारी प्राप्त होती है कि पुराणों की इस ज्ञानथाती को वायु से उशना कवि ने प्राप्त किया। 'वायुपुराण' का प्रवचन इन्हीं वायु ने किया था। वायु को 'शब्दशास्त्र-विशारद' कहा गया है। वायु के व्याकरणज्ञान के सम्बन्ध में मीमांसक जी ने विस्तार से प्रकाश डाला है। वह पुराणों का भी प्रकाण्ड विद्वान् था।

'वायुपुराण' के एक दूसरे प्रसंग से यह भी प्रतीत होता है कि मृत्यु यम ने इंद्र को पुराण का उपदेश किया। वही ज्ञान इंद्र ने अपने शिष्य वशिष्ठ को दिया। भरद्वाज ऋषि को भी पुराण का प्रवक्ता कहा गया है। देवगुरु बृहस्पति भी इतिहास-पुराण के प्रवक्ता थे। 'विष्णुपुराण' का प्रवक्ता पराशर था। उसने अभिमन्यु के पुत्र एवं कौरव परीक्षित् के समय में इस पुराण का प्रवचन किया था। यदि यह बात सही हो तो पराशर को परीक्षित् के समय तक जीवित होना चाहिए। जातुकर्ण ने भी पुराणों का प्रवचन किया था।

'चान्द्रवृत्ति' और 'सरस्वतीकंठाभरण' की टीका में किसी काश्यपीय पुराण-संहिता का उल्लेख मिलता है। 'वायुपुराण' के अनुसार उसका प्रवक्ता अकृतव्रण काश्यप था।

शैव संप्रदाय की 'सूत-संहिता' में एक उपपुराणकार कपिल का उल्लेख मिलता है। उसमें लिखा है कि मुनियों ने अन्य पुराणों का भी कथन किया। तदनंतर उन उपपुराणवक्ता मुनियों की नामावली दी गई है और फिर कहा गया है कि सप्तम उपपुराण कपिल द्वारा कहा जाना चाहिए।

'कूर्मपुराण' के आरम्भ में भी अठारह उपपुराणों की गणना के अनंतर, उपपुराणों की नामावली में सातवाँ 'कापिल' उपपुराण उल्लिखित है।

पुराणों के निर्माता

ऊपर के प्राचीन ग्रन्थों में 'पुराण' शब्द का जहाँ भी उल्लेख आया है, वह एक ग्रंथविशेष का परिचायक न होकर संपूर्ण विषय का द्योतक है। वस्तुतः जिस प्रकार समग्र वेदों के मंत्र अपनी मूलावस्था में अविभक्त रूप में एक ही साथ मिले-जुले थे, उसी प्रकार पुराण भी एक बृहत्संहिता के रूप में सम्मिलित थे। वेदों के चतुर्धा वर्गीकरण की भाँति पुराणों का भी पंचम वेद के रूप में अलग विभाजन उनकी रचना के बहुत बाद में हुआ और पुराण-ग्रंथों का अध्ययन करने पर इस सत्य का भी स्पष्टीकरण होता है कि वेद-वर्गयिता व्यास के उपाधिधारी ऋषि-महर्षि ही पुराणों के भी विभाजक थे।

व्यास या वेदव्यास एक पदवी या अधिकार का नाम था। जब भी जिन ऋषि-मुनियों ने वेद-संहिताओं का विभाजन या पुराणों का संक्षेप, संपादन अथवा प्रतिसंस्करण किया वही उस समय व्यास या वेदव्यास की उपाधि से संमानित किए गए। किसी समय वशिष्ठ और किसी समय पराशर या शक्ति आदि भी व्यास कहे गये। इस अट्ठाईसवें कलियुग के व्यास कृष्ण-द्वैपायन थे। उनके द्वारा रचित या प्रकाशित ग्रंथ ही आज पुराण नाम से प्रचलित हैं।

संप्रति उपलब्ध होनेवाले ब्रह्माण्ड, विष्णु और मत्स्य आदि पुराणों के अध्ययन से विदित होता है कि उनका प्रतिपाद्य विषय पाँच अंशों में विभक्त है : सर्ग (सृष्टि-ज्ञान), प्रतिसर्ग (सृष्टि की पुनरुद्भूति), वंश (सृष्टि की आदिवंशावली), मन्वन्तर (विभिन्न मनुओं की कालावधि) और वंशानुचरित (सूर्य एवं चन्द्रवंश का इतिहास)। ये पाँच बातें पुराणों का प्रतिपाद्य विषय हैं :

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्'

पुराण-ग्रंथों के प्रणयन या उनके प्रणेताओं के संबंध में 'विष्णुपुराण' में एक रोचक कथा वर्णित है, जिसके अनुसार भगवान् वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि आदि के साथ-साथ पुराण-संहिता की भी रचना की थी और उसका अध्यापन अपने सुयोग्य सूतजातीय लोमहर्षण नामक शिष्य को कराया था। लोमहर्षण ने अपने कश्यपवंशीय तीन सुपात्र शिष्यों—अकृतव्रण, सावर्णि एवं शांशपायन—को पुराणों का महान् ज्ञान दिया और इन तीनों ने मूल संहिता के आधार पर तीन पुराण-संहिताएँ और तैयार कीं। आगे चलकर इन्हीं की शिष्य-परंपरा ने अष्टादश महापुराणों की तथा अनेक उपपुराणों की रचना की। 'ब्रह्मपुराण' इस प्रसंग में सबसे पहिले रचा गया।

'विष्णुपुराण' के इस प्रसंग से दो प्रामाणिक बातों का पता चलता है। पहिली बात तो यह कि वेदव्यास ने पुराण-संहिता का संग्रह कर उसको क्रमबद्ध किया और दूसरी बात यह कि उस संग्रहकार के बहुत बाद में उसकी शिष्य-परंपरा ने अष्टादश महापुराणों या दूसरे उपपुराणों की रचना की।

'मत्स्यपुराण' के एक प्रसंग से विदित होता है कि आदि में केवल एक ही पुराण-संहिता थी। संभवतः, 'विष्णुपुराण' के पूर्वोक्त वचनानुसार, व्यास ने उसी पुराण-संहिता की दीक्षा लोमहर्षण को दी। इस बात का 'शिवपुराण' में भी विस्तार से वर्णन है। उसमें लिखा गया है कि कल्प के अन्त में केवल एक ही पुराण था, जिसे (वेदों की भाँति) ब्रह्मा ने मुनियों को बताया। उसके बाद व्यास ने अनुमान लगाकर यह तय किया कि इतना बड़ा ग्रंथ मनुष्यों की मेधा में न समा सकेगा। अतः उन्होंने उस चार लाख श्लोक परिमाण की बृहत् पुराण-संहिता को अठारह भागों में विभक्त किया। इन अठारह पुराणों का प्रवचन सत्यवती के पुत्र व्यास ने ही किया। एक मूल संहिता से अष्टादश पुराणों के विभाजन एवं प्रवचन की यही बात 'देवीभागवत', 'वराहपुराण', 'भागवत', 'पद्मपुराण' आदि ग्रन्थों में भी एक जैसे रूप में देखने को मिलती है।

इन सब एक जैसे पुराण-प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मा ने, वेदों की ही भाँति, पुराणविद्या का स्मरण किया और तब परम्परया वह

ज्ञान व्यास तक पहुँचा। व्यास ने लोक में पुराण-विद्या का महान् ज्ञान प्रकाशित किया। ऋषियों ने बृहद् पुराण-संहिता के पहिले तो तीन भाग किए और बाद में अठारह। बार-बार उनकी कथाओं में उलट-फेर होता गया, यतः उनकी कथाओं में न्यूनाधिक्य, मत-वैभिन्न्य, संप्रदाय-पक्षपात और प्रक्षेप आदि जुड़ते गये। किन्तु प्रश्न हो सकता है कि यदि पुराण भी वेदों जितने सनातन हैं तो वैदिक संहिताएँ भी तो अनेक ऋषि-मुनियों के हाथ से होकर आज हम तक पहुँची हैं। फिर उनके संशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन की बात तो किसी ने नहीं कही? उसका कारण यह था कि वेदों के पद, क्रम, घन, जटा, माला, प्रातिशाख्य, चरणव्यूह, निरुक्त, शिक्षा और कल्प आदि ऐसे कवच थे कि जिनमें आबद्ध होकर उनमें उलट-फेर आदि की कोई संभावना ही नहीं हुई, और इसीलिए भविष्य में भी ऐसी कोई आशंका नहीं है। यही कारण है, कि जहाँ वेदमन्त्रों की गति-संगति एक जैसी है, वहाँ पुराणों की अनेक बातों में एक जैसी गति और संगति स्थापित करने में कठिनाई होती है।

अष्टादश महापुराणों के अध्ययन से विदित होता है कि उनका विषय, उनकी निर्माण-शैली और यहाँ तक कि उनकी पाठविधि आदि बहुत सारी बातों में एकता है, जिससे उनका एक ही मूल उद्गम मानने में बहुत बाधा नहीं पड़ती है। पुराणों में आज जो वर्तमान वैभिन्न्य दिखाई देता है, उसका कारण उनके प्रवर्तक विभिन्न संप्रदाय थे। पुराणों के इस परिवर्तन और परिवर्द्धन के कारण भी वही संप्रदाय थे। पुराणों के जो पाँच लक्षण विष्णु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य के अनुसार ऊपर गिनाये गए हैं, ठीक उतनी बातों का प्रतिपादन उनमें नहीं हुआ है। उनमें बहुत सारे प्रसंग ऐसे भी हैं जो बहुत बाद की परिस्थितियाँ एवं बहुत बाद के संप्रदायों से संबंधित हैं। ब्राह्म, शैव, वैष्णव और भागवत प्रभृति संप्रदाय बहुत पुराने नहीं हैं; किन्तु 'ब्रह्मपुराण', 'शिवपुराण','विष्णुपुराण' और 'भागवत' पुराणों का नामकरण उक्त संप्रदायों के ही कारण हुआ प्रतीत होता है।

पुराणों की संख्या

पुराणों की वास्तविक संख्या कितनी थी, उनके मूल अंश में कितना प्रक्षिप्त अंश है, उनका निर्माण किस समय हुआ और किस क्रम से वे रचे

गये, इन सभी बातों का उत्तर इतिहासकारों ने एक जैसे ढंग से नहीं दिया है। हम देखते हैं कि वेदों के भावुक ऋषि उपनिषद्-युग में पहुँच कर सहसा अति गंभीर रुख धारण कर लेते हैं और पुराणों में पहुँच कर उनका गांभीर्य सहसा कविता बन कर प्रकट हो जाता है। पुराणों की इस बदली हुई परिस्थिति का अध्ययन उनमें सर्वत्र विद्यमान है।

ऊपर के विवरणों से हमें पुराणों के संबंध में यह विदित होता है कि अपने मूल रूप में वे एक बृहत्संहिता में मिली-जुली अवस्था में विद्यमान थे। समय-परिवर्तन के हिसाब से उनके कलेवर और कथानक दोनों में परिवर्तन हुआ; साथ ही उनकी संख्या भी बढ़ी, और आज महापुराणों तथा उपपुराणों के रूप में वे अपनी संख्या-वृद्धि के कारण अलग-अलग गिने जाने लगे हैं। एक श्लोक में अठारह महापुराणों की गणना इस प्रकार की गई है: मकारादि दो पुराण : १ मत्स्य २ मार्कण्डेय; भकारादि दो पुराण : १ भविष्य २ भागवत; ब्र-युक्त तीन पुराण : १ ब्रह्माण्ड २ ब्रह्मवैवर्त ३ ब्राह्म; वकारादि चार पुराण : १ वराह २ वामन ३ वायु (शिव) ४ विष्णु; और तदनन्तर : १ अग्नि २ नारद ३ पद्म ४ लिंग ५ गरुड़ ६ कूर्म तथा ७ स्कन्द—इन सात पुराणों के आदि वर्णों का क्रमशः उल्लेख है : 'म–द्वयं भ–द्वयं चैव ब्र–त्रयं व–चतुष्टयम्, अ–ना–प–लिं–ग–कू–स्कानि पुराणानि प्रचक्षते' इन सभी का योग क्रमशः २ + २ + ३ + ४ + ७ = १८ बैठता है।

'विष्णुपुराण' में अष्टादश महापुराणों की सूची और उनका क्रम इस प्रकार दिया गया है : १ ब्रह्म, २ पद्म, ३ विष्णु, ४ शिव, ५ भागवत, ६ नारद, ७ मार्कण्डेय, ८ अग्नि, ९ भविष्य, १० ब्रह्मवैवर्त, ११ लिंग, १२ वराह, १३ स्कन्द, १४ वामन, १५ कूर्म, १६ मत्स्य, १७ वरुण और १८ ब्रह्माण्ड।[२]

इन दोनों सूचियों में अष्टादश महापुराणों का लगभग एक जैसा नाम-निर्देश है। अल्बेरूनी ने भी पुराणों की अष्टादशधा संख्या का उल्लेख किया है; किन्तु उनकी सूची उक्त पुराणों की सूची से मेल नहीं खाती है। पुराणों के नामकरण के संबंध में अल्बेरूनी का कथन है कि जिन पशुओं,

मनुष्यों या देवताओं के नाम से उनका नामकरण हुआ है, या तो उनमें उनकी कहानियाँ संकलित हैं, या जिस वस्तु के नाम पर पुस्तक का नामकरण हुआ है, उसने ही उस पुस्तक में कुछ प्रश्नों का उत्तर दिया है। अल्बेरूनी के मतानुसार पुराण, ऋषि कहलाने वाले मनुष्यों द्वारा रचे गए, जिनकी संख्या अट्ठारह है : १ आदि, २ मत्स्य, ३ कूर्म, ४ वराह, ५ नारसिंह, ६ वामन, ७ वायु, ८ नंद, ९ स्कंद, १० आदित्य, ११ सोम, १२ सांब, १३ ब्रह्माण्ड, १४ मार्कण्डेय, १५ तार्क्ष्य, १६ विष्णु, १७ ब्रह्म और १८ भविष्य।[3]

प्रामाणिकता की दृष्टि से अल्बेरूनी की सूची विश्वासयोग्य नहीं है; क्योंकि 'गरुड़पुराण' में उपपुराणों का जो नाम-निर्देश किया गया है, अल्बेरूनी की सूची में उनमें से भी कुछ का नाम जोड़ दिया गया है। 'गरुड़पुराण' में १८ उपपुराणों का उल्लेख इस प्रकार है : १ सनत्, २ कुमार, ३ स्कांद, ४ शिवधर्म, ५ आश्चर्य, ६ नारदीय, ७ कापिल, ८ वामन, ९ औशनस, १० ब्रह्माण्ड, ११ वारुण, १२ कालिका, १३ माहेश्वर, १४ सांब, १५ सौर, १६ पाराशर, १७ मारीच और १८ भार्गव। 'देवीभागवत' की सूची 'गरुड़पुराण' की उक्त सूची से कुछ भिन्नता लिए है। 'देवीभागवत' के अनुसार उक्त स्कांद, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान पर क्रमशः शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वाशिष्ठ नाम दिए गए हैं।

संप्रति उपपुराणों की प्रामाणिक उपलब्धि न होने के कारण उनकी ठीक संख्या का निर्धारण करना और साथ ही पुराणों की उक्त अनेकमुखी गणनाओं में किसी एक को अंतिम रूप से सही बताना अत्यंत कठिन है।

पुराणों के निर्माणकाल का विश्लेषण

अपनी-अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं लोक-विश्रुति के लिए जैनधर्म और बौद्धधर्म ने ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द कर साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में भी नई मान्यताओं को जन्म दिया। दूसरी एक विशेष बात इस सम्बन्ध में यह हुई कि ब्राह्मणधर्म के भीतर अपने एकाधिपत्य की भावना के कारण जो दोष एवं संकीर्णताएँ आ गई थीं, इन विरोधी धर्मों की निरन्तर प्रतिस्पर्धा तथा आलोचना के कारण वे भी दूर हुईं और इसका सुपरिणाम बाद में यह

हुआ कि हिन्दूधर्म अपने नए परिष्कृत रूप में पुनरुदित हुआ। यह भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म के अभ्युदय का सुखी युग था।

लगभग ६०० ई० पू० से लेकर २०० ई० तक के सुदीर्घ आठ-सौ वर्षों तक ब्राह्मणधर्म प्रतिद्वन्द्वी के रूप में निरन्तर लड़ता रहा, और अन्त में वह इतना निष्कलुष, समर्थ, सर्वांगीण और सर्वप्रिय हुआ कि अपने आलोचक जैन-बौद्ध दोनों धर्मों को भी उसने अपने में आत्मसात् कर लिया।

भारत की ये आठ शताब्दियाँ असाधारण बौद्धिक विकास और विचार-स्वातन्त्र्य की महत्वपूर्ण शताब्दियाँ रही हैं। जैन-बौद्ध और हिन्दू-दर्शनों के निर्माण का युग यही था। बौद्धों के 'जातक' और 'अवदान' जैसे लोकप्रिय गाथा-ग्रन्थों का निर्माण इसी युग में हुआ। 'रामायण' और 'महाभारत' के अन्तिम संस्करणों का समय भी यही था। नन्द राजाओं और चन्द्रगुप्त मौर्य (३२१-२९६ ई० पू०) के कारण जैनधर्म खूब फला-फूला और उसका प्रभूत साहित्य लिखा गया। सम्राट् अशोक (२९२-२३० ई० पू०) का आश्रय पाकर बौद्धधर्म और बौद्ध-साहित्य ने अभूतपूर्व प्रगति की। अनेक लोकप्रिय धर्म-ग्रन्थों, विचार-प्रधान दर्शन-ग्रन्थों और संस्कृत के काव्य-नाटकों के निर्माण का सूत्रपात इसी युग में हुआ।

६०० ई० पूर्व में ब्राह्मण-धर्म की संकीर्णतावादी कर्मकाण्ड-प्रवृत्ति के विरोध में जैन और बौद्धों ने जिस अलग धार्मिक परंपरा की प्रतिष्ठा की, उसके मूल में नास्तिकवाद था। जैन-बौद्धों की निराकार-भावना समाज में अधिक दिनों तक न टिक सकी। जनसाधारण उनके दुरूह पन्थ से किनाराकशी करने लगा। धारणा, ध्यान, समाधि, गृहत्याग, उपासना और दुःखवाद समाज के आकर्षण के लिए लोकप्रिय सिद्ध न होने के कारण, समाज, ब्राह्मणधर्म की सुगम पद्धति की ओर सहसा ही मुड़ गया। भागवत-धर्म और शैव-धर्म ने निरीश्वरवादी जैनों और बौद्धों को सर्वथा निस्तेज बना दिया। यह सब पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप हुआ और लगभग यह स्थिति दूसरी शताब्दी ई० तक अक्षुण्ण बनी रही।

छठी शताब्दी ई० पूर्व से लेकर दूसरी शताब्दी के अन्त तक जैन-बौद्ध धर्मों की ब्राह्मणधर्म के साथ निरन्तर लड़ाइयाँ होती रहीं; किन्तु इस बीच

ब्राह्मणधर्म ने अपना परिष्कार करने के बाद जो नया स्वरूप धारण किया, उसके सम्मुख उसके उक्त प्रतिद्वन्द्वी धर्म पराभूत हो गए। अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्मों को परास्त कर ब्राह्मणधर्म तीसरी शताब्दी ईस्वी से निरन्तर उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता गया और उसकी यह उत्कर्ष की स्थिति लगभग १२वीं शताब्दी तक अक्षुण्ण बनी रही। यही पुराणों के निर्माण और अन्तिम संस्करण का समय था।

पुराणों की रचना एक समय की नहीं है, लगभग श्रुतिकाल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक निरन्तर उनकी रचना, संक्षिप्त संस्करण, सम्पादन और संकलन होता गया। विद्वानों की राय है कि गुप्त-शासन की सर्वथा अनुकूल परिस्थितियों को पाकर उस समय पुराणों का एक संस्करण हुआ। 'स्कन्द-पुराण' के सम्बन्ध में विद्वानों की यहाँ तक धारणा है कि उसका नामकरण गुप्त सम्राट् स्कंदगुप्त के नाम से हुआ। 'वायु', 'भविष्यत्', 'विष्णु' और 'भागवत' पुराणों में गुप्तवंश का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि गुप्त-युग में उनका संस्कार अवश्य हुआ।

डॉ० जयसवाल के मतानुसार काँचनका (राजस्थान) के अन्तिम शासकों—पुष्यमित्र और पतुमित्र—का समय ४९९ ई० ही पुराणों की रचना का समाप्ति-युग था। उनमें जो संशोधन-परिष्करण होते गए, उनकी अवधि पाँचवीं शताब्दी के भी आगे तक पहुँचती है।

यद्यपि अपने मूल अर्थ में 'पुराण' शब्द 'वेद' की तरह एक व्यापक-विषय का सूचक है और हमें इस दृष्टि से यह भी मानना पड़ेगा कि 'वेद-संहिता' की भाँति एक 'पुराण-संहिता' भी विद्यमान थी; जिसका वर्गीकरण वैदिक संहिताओं के वर्गीकरण के साथ ही उन्हीं 'व्यास' पदवी वाले महर्षियों ने किया, तथापि 'पुराण-संहिता' का वह प्राचीन रूप सर्वथा विलुप्त एवं विच्छिन्न हो चुका है। पुराणों के विवरण की पूर्व-सीमा का जो उल्लेख वैदिक साहित्य तक में मिलता है, उसका लक्ष्य उसी 'पुराण-संहिता' से है। कुछ प्रामाणिक उल्लेखों के आधार पर हम पुराण-साहित्य के निर्माण की पूर्व और उत्तर सीमाओं की जानकारी नीचे लिखे आधारों पर प्राप्त कर सकते हैं :

(१) आचार्य शंकर और कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थों में पुराणों की पर्याप्त चर्चाएँ की हैं। कथाकार बाणभट्ट (७०० ई०) ने 'हर्षचरित' में स्पष्ट किया है कि उन्होंने अपने जन्म-स्थान में 'वायुपुराण' का पारायण सुना था। 'कादम्बरी' में भी उन्होंने इस 'वायुपुराण' का उल्लेख किया है : 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्'।

(२) 'विष्णुपुराण' में मौर्य-साम्राज्य का, 'मत्स्यपुराण' में दाक्षिणात्य आन्ध्र राजाओं का और 'वायुपुराण' में गुप्त-वंश का जो अविकल उल्लेख मिलता है; उनसे इन पुराणों के तत्सामयिक अस्तित्व का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है।

(३) 'महाभारत' में कतिपय पुराणों के उपाख्यानों का ज्यों का त्यों वर्णन मिलता है। 'महाभारत' या 'जयकथा' के प्रवक्ता लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सूत पुराणों के पूर्ण पण्डित थे। शौनक ऋषि ने एक बार उनसे प्रार्थना की थी कि वे अपने पिता से पुराणों के सम्बन्ध में प्राप्त ज्ञान को उन्हें सुनाएँ। ऋष्यश्रृंग का एक आख्यान 'पद्मपुराण' और 'महाभारत' दोनों में मिलता है। दोनों ग्रन्थों के आख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् डॉ० लूडर्स ने यह सिद्ध किया कि 'पद्मपुराण' का आख्यान प्राचीन है।

(४) कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' पुराणों के अस्तित्व से पर्याप्त प्रभावित ज्ञात पड़ता है। राजकुमारों के लिए पुराणों के ज्ञान की आवश्यकता, पुराणविद् को राज्याश्रय का अधिकार आदि बातों से ज्ञात होता है कि कौटिल्य पुराणों के उपयोगी ज्ञान के पारंगत विद्वान् थे।

(५) सूत्र-ग्रंथों में एक ओर तो प्राचीनतम 'पुराण-संहिता' के अस्तित्व का पता चलता है और दूसरी ओर उनमें उपलब्ध पुराण-ग्रंथों के उद्धरण मिलते हैं।

(६) उपनिषद्-ग्रंथों में वेदों के साथ इतिहास-पुराण का भी उल्लेख किया गया है और उनको पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया गया है; तथा यह भी स्पष्ट किया गया है कि इतिहास एवं पुराण का अस्तित्व, तब सर्वथा पृथक् था।

(७) 'अथर्वसंहिता' में चारों वेदों के अतन्तर पुराणों की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है, जिससे पुराण-विषय के प्राचीनतम अस्तित्व का पता चलता है। कदाचित् 'अथर्व-संहिता' का लक्ष्य प्राचीनतम पुराण-संहिता से था; किन्तु इससे भी इतना तो प्रमाण मिलता ही है कि पुराण-विषय भी वैदिक युग की ही उपज थी।

इस प्रकार लगभग १२वीं शताब्दी ई० से लेकर मौर्यवंश (३७४–१९० ई० पू०), आन्ध्रवंश (२१२ ई० पू० से ३३८ ई०), गुप्तवंश (२७५-५१० ई०), 'महाभारत' (५०० ई० पू०), अर्थशास्त्र (३०० ई० पू०), 'कल्पसूत्र' (७०० ई० पू०), उपनिषद् (१००० ई० पू०) और वैदिक संहिताओं (२५०० ई० पू०) तक पुराणों के प्राचीनतम और आधुनिक स्वरूपों की समर्थ चर्चाएँ विद्यमान होने के कारण उनकी पूर्व-सीमा वैदिक युग और उत्तर-सीमा गुप्त-साम्राज्य तक निर्धारित की जा सकती है।

पुराणों के सम्बन्ध में पार्जिटर साहब ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'एंशियेण्ट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स'। यह पुस्तक उनके पुराण-साहित्य और भारतीय परंपराओं के प्रति गम्भीर ज्ञान का परिचय देती है। इसमें उन्होंने पुराणों के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करने के साथ-साथ पुराणों की महत्ता पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने वेदों को भी पुराणों की भाँति विरुदावली कहा है। जिस प्रकार राजवंशों की विरुदावली पुराणों में वर्णित है, उसी प्रकार ऋषिवंशों की विरुदावली के परिचायक ग्रंथ 'वेद' हैं।

अपने सन्तुलित एवं गम्भीर अध्ययन के आधार पर पार्जिटर साहब का कथन है कि पुराण मूल रूप में ईस्वी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों के बाद के नहीं हो सकते हैं। पुराणों में 'अग्निपुराण' सब से प्राचीन है। 'अग्नि-पुराण' का समय इतिहासकारों ने चौथी शताब्दी या इससे पहले का बताया है। पुराण-ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक का मत है कि उनका समय ईस्वी सन् के दूसरे शतक से बाद का कदाचित् नहीं हो सकता है।

'अग्निपुराण' की रचना के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। श्रीयुत सुशीलकुमार दे के मतानुसार 'अग्निपुराण' के अलंकार प्रकरण, दण्डी और भामह के पश्चात् और 'ध्वन्यालोक' के कृतिकार श्री आनन्दवर्धन से पहले ईसा की नवम शताब्दी के लगभग रचा गया। श्री काणे साहब 'अग्निपुराण' को ७०० ई० के बाद और उसके काव्य-शास्त्र-विषयक अंश की रचना ९०० ई० के बाद की स्वीकार करते हैं। इन दोनों विद्वानों की स्थापनाओं का विधिवत् खण्डन करके श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने अपना सप्रमाण मंतव्य दिया है कि 'अग्निपुराण' के काव्य-प्रकरण का ध्यान देकर अध्ययन करने से यह निर्विवाद विदित हो सकता है कि वह वर्णन भामह, दण्डी, उद्भट और ध्वनिकार आदि सभी प्राचीन साहित्याचार्यों से विलक्षण है और वह काव्य के विकास-क्रम के आधार पर 'नाट्यशास्त्र' के पश्चात् और भामहादि के पूर्व का मध्यकालीन रूप है।

डॉ० हजारा ने पुराण-साहित्य पर खोजपूर्ण कार्य किया है और उनके ऐतिहासिक स्तर पर गम्भीर प्रकाश डाला है। उन्होंने कालक्रम से प्राचीनतम महापुराणों में 'मार्कण्डेय', 'ब्रह्माण्ड', 'विष्णु', 'मत्स्य', 'भागवत' एवं 'कूर्म' की गणना की है।

पहले दो पुराणों को उन्होंने 'विष्णुपुराण' से पहले का रचा माना है। शेष पुराणों में 'विष्णु' ४०० ई० 'वायु' ५०० ई० 'भागवत' ६००-७०० ई० और 'कूर्म' ७०० ई० में रचे गए। उन्होंने 'हरिवंश' का रचनाकाल भी ४०० ई० सिद्ध किया है। उनके मतानुसार 'अग्निपुराण' की रचना यद्यपि ८०० ई० में हुई, किन्तु उसकी कुछ सामग्री इससे पहले की और कुछ इससे बाद की है। यद्यपि मूल 'नारदीय पुराण', संप्रति अप्राप्य है, तथापि प्रचलित 'नारदीय पुराण' की रचना दसवीं शताब्दी में हो चुकी थी और बाद में उसका कलेवर प्रक्षेपों से बढ़ता गया। इसी प्रकार 'ब्रह्मपुराण' की कुछ सामग्री बहुत बाद की होते हुए भी उसकी रचना दसवीं शताब्दी में हो चुकी थी। 'स्कन्द-पुराण' की कुछ सामग्री आठवीं शताब्दी में और अधिकांश उसके बाद निर्मित हुई। 'गरुडपुराण' की रचना दसवीं शताब्दी में हुई। इसी प्रकार 'पद्मपुराण' की रचना १२००-१५०० ई० के

बीच हुई। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' की रचना यद्यपि ७०० ई० पू० हो चुकी थी तथापि उसका वर्तमान रूप सोलहवीं शताब्दी ई० का है।

पुराणग्रन्थों के संबंध में इधर कुछ नई सामग्री प्रकाश में आई है। यह स्फुट लेखों में है; किन्तु है बड़े महत्त्व की। आज से लगभग २०-२२ वर्ष पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में एक विवाद उठाया गया था कि 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' की रचना किसी कवि ने १६वीं शताब्दी में की है, एवं उस पर गीतगोविन्दकार जयदेव का प्रभाव है। साथ ही इस संबंध में यह भी प्रचारित किया गया था कि इस पुराणग्रंथ पर १६वीं शताब्दी की सामाजिक अवनति तथा तत्सामयिक दुर्नीति-परायण वातावरण की छाप है; बल्कि यह भी कहा गया कि उस युग की सामाजिक चरित्रहीनता का दिग्दर्शन भी 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में निहित है। इसी प्रसंग में यह भी उड़ाया गया कि 'भागवत' का अंतिम संस्करण १०वीं शताब्दी में हुआ।

इस मत के विपक्ष में भी कम नहीं लिखा गया। इस संबंध में कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा कि 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' की रचना की बात १६वीं शताब्दी तो अलग रही, उसकी रचना कालिदास से भी पहिले हो चुकी थी।

ये दोनों प्रकार की बातें अतिरंजनापूर्ण हैं। समीक्षा का यह एकांगी दृष्टिकोण है, जिससे सचाई का पता नहीं लगाया जा सकता है।

'ब्रह्मपुराण' की रचना के संबंध में भी कहा जाता है कि ११वीं सदी में भवदेव भट्ट ने उड़ीसा के भुवनेश्वर क्षेत्र में अनंत वासुदेव का एक मंदिर बनवाया था। 'ब्रह्मपुराण' में अनंत वासुदेव का माहात्म्य तो वर्णित है; किन्तु इस मंदिर का कहीं भी उल्लेख नहीं है। यदि 'ब्रह्मपुराण' की रचना उक्त मन्दिर के निर्माणानन्तर हुई होती तो उसमें मंदिर का उल्लेख अवश्य हुआ होता। इसके अतिरिक्त 'महाभारत' में 'ब्रह्मपुराण' के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। इसके विपरीत 'ब्रह्मपुराण' में 'महाभारत' का कोई भी श्लोक उद्धृत हुआ नहीं मिलता है। इसलिए निश्चित ही 'ब्रह्मपुराण' की रचना 'महाभारत' से पहिले हुई होगी।

'विष्णुधर्मोत्तर-पुराण' का संभावित काल बूलर ने सातवीं शताब्दी

बताया है, जो कि काश्मीर में रचा गया। इसी प्रकार 'नृसिंहपुराण' की रचना ४००-५०० ई० के बीच हुई। 'ब्रह्मपुराण' की एक हस्तलिखित प्रति १६४६ वि० की उपलब्ध है। इस दृष्टि से इसका रचनाकाल कम से कम १४वीं १५वीं शताब्दी में होना चाहिए। 'सौरपुराण' की रचना विद्वानों ने ९५०-१०५० ई० के बीच बताई है।

पुराण-ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में इतनी ही सूचनाएँ उपलब्ध हैं। अन्यत्र भी पुराणों के ऐतिहासिक स्तर पर कुछ विचार-सामग्री देखने को मिलती है; किन्तु उनमें कल्पना की प्रचुरता है। मेरी दृष्टि में पार्जिटर साहब और डॉ० हजारा की एतत्सम्बन्धी स्थापनाएँ ही अधिक युक्तिसंगत एवं विश्वसनीय प्रतीत हुई हैं।

उपपुराण

यद्यपि महापुराणों की संख्या अष्टादश है; किन्तु 'वायुपुराण' और 'देवीभागवत' को जोड़कर वे बीस तक पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार उपपुराणों की संख्या भी लगभग ३० तक पहुँच जाती है। बहुत-से लोगों का कथन है कि इन उपपुराणों की रचना महापुराणों के बाद हुई; किन्तु मौलिकता और प्राचीनता की दृष्टि से महापुराणों से किसी भी प्रकार उप-पुराणों का महत्व कम नहीं है। ये ३० उपपुराण हैं :

१ सनत्कुमार, २ नरसिंह ३ बृहन्नारदीय ४ शिवधर्म, ५ दुर्वासस् ६ कपिल ७ मानव ८ उशनस् ९ वारुण १० कालिका ११ साम्ब १२ नंदकेश्वर १३ सौर १४ पाराशर १५ आदित्य १६ ब्रह्माण्ड १७ माहेश्वर १८ भागवत १९ वाशिष्ठ २० कौर्म २१ भार्गव २२ आदि २३ मुद्गल २४ कल्कि २५ देवी २६ महाभागवत २७ बृहद्धर्म २८ परानंद २९ पशुपति और ३० हरिवंश।

'महाभारत' के खिल-पर्व का ही दूसरा नाम 'हरिवंशपुराण' है। इसी की श्लोकसंख्या मिलाकर 'महाभारत' के श्लोक एक-लाख तक पहुँचते हैं। बहुत संभव है, जैसा कि अनेक विद्वानों का मत भी है, यह अंश पीछे से 'महाभारत' में जोड़ दिया गया हो।

जैन और बौद्ध पुराण

वेद, वैदिक-साहित्य वेदांग और पुराणों की भाँति जैन-धर्मावलंबियों के वेद, वेदांग और पुराण आदि हैं, जो अपना स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में मध्ययुगीन न्याय के जन्मदाता जैन-बौद्ध ही थे। वेद-अविश्वासी होने के कारण जैन-बौद्ध दर्शन को नास्तिक संज्ञा दी गई है। षड् आस्तिक दर्शनों की भाँति नास्तिक दर्शनों की संख्या भी छह है। पहिला नास्तिक-दर्शन चार्वाक-प्रणीत, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ बौद्धाचार्यों द्वारा प्रवर्तित और छठा जैन-दर्शन है। आस्तिक-दर्शन के षट्-संप्रदायों ने नास्तिक दर्शनों के ऐतिहासिक महत्त्व को बराबर स्वीकार किया है।

जैन और बौद्ध एक ही बृहद् हिन्दू-जाति के अंग हैं। आज जिस प्रकार अपनी मूलभूमि भारत में उनकी जातीय परंपरा कुछ क्षीण-सी हो गई है, उसी भाँति उनका बहुत सारा साहित्य भी आज विलुप्त हो चुका है। इस प्रसंग में हम केवल उनके पुराण-ग्रंथों की ही चर्चा करेंगे।

ब्राह्मणधर्म के नाम से जिस प्रकार अष्टादश महापुराणों तथा अनेक उपपुराणों का उल्लेख हुआ है, उसी प्रकार जैनधर्म के भी अपने चतुर्विंशति पुराण है। इन चतुर्विंशति पुराण-ग्रंथों में उनके चौबीस तीर्थंकर महात्माओं का माहात्म्य वर्णित है। जैनियों के पुराण ब्राह्मण-पुराणों की भाँति पंचलणी न होकर :

'पुरातनं पुराणं स्यात्तन्महन्महदाश्रयात्'

अपने महापुरुषों की पुरातन कथा के प्रतिपादक ग्रंथ हैं। जैनियों के २४ पुराणों में क्रमशः उनके २४ तीर्थंकर महात्माओं की कथायें वर्णित हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं : १ आदि पुराण, २ अजितनाथ पुराण, ३ संभवनाथ पुराण, ४ अभिनन्द पुराण, ५ सुमतिनाथ पुराण, ६ पद्मप्रभ पुराण, ७ सुपार्श्व पुराण, ८ चंद्रप्रभ पुराण, ९ पुष्पदंत पुराण, १० शीतलनाथ पुराण, ११ श्रेयांश पुराण, १२ वासुपूज्य पुराण, १३ विमलनाथ पुराण, १४ अनंतजीत पुराण; १५ धर्मनाथ पुराण, १६ शांतिनाथ पुराण, १७ कुन्थुनाथ पुराण, १८ अरनाथ पुराण, १९ मल्लिनाथ पुराण, २० मुनिसुव्रत पुराण, २१ नेमिनाथ पुराण, २२ नेमिनाथ पुराण, २३ पार्श्वनाथ पुराण, और २४ सम्मति पुराण।

इन २४ जैन-पुराणों में भी सुप्रसिद्ध पुराणों के नाम हैं : आदि पुराण, पद्मप्रभ पुराण, अरिष्टनेमि पुराण (जिसे हरिवंश पुराण भी कहते हैं) और उत्तर पुराण। इनमें भी 'आदि पुराण' और 'उत्तर पुराण' का विशेष महत्त्व है।

आदि पुराण

इसमें जैनों के प्रथम तीर्थंकर महात्मा ऋषभदेव की कथायें वर्णित हैं। ऋषभदेवजी के संबंध में जैन-परम्परा है कि उनका जन्म सर्वार्थसिद्धि योग, उत्तराषाढ़ नक्षत्र, धन राशि, चैत्र मास की कृष्णाष्टमी को इक्ष्वाकुवंशीय राजा नाभि और रानी मरुदेवी के गर्भ से विनीता नामक नगरी में हुआ था। यह भी परंपरागत विश्वास है कि वे चतुर्युगी अर्थात् चौरासी-लाख वर्ष जीवित रहकर मोक्ष को प्राप्त हुए। 'भागवत' में इनकी महिमा का बड़ा बखान है। 'भागवत' में भी इनके माता-पिता के उक्त नाम ही बताये गये हैं और इन्हें भगवद्-गुणसंपन्न कहा गया है। इनकी पत्नी का नाम इंद्रकन्या जयन्ती बताया गया है, जिससे कि इनके धर्मात्मा, वेदज्ञ और भागवत-धर्मानुयायी भरत, कुशावर्त आदि सौ पुत्र हुए। 'भागवत' में प्रोक्त, बाईस अवतारों में इन्हें आठवाँ अवतार बताया गया है।

इस पुराण में ४७ पर्व हैं। इसके रचयिता जिनसेन हुए। जिनसेन ने ग्रंथारंभ करते हुए नयकेशरी, सिद्धसेन, वादिचूड़ामणि, समंतभद्र, श्रीदत्त, यशोभद्र, चंद्रोदयकर, प्रभाचंद्र, मुनीश्वर, शिवकोटि, जटाचार्य (सिंहनंदी), कथालंकारकार काणभिक्षु (देवमुनि), कवितीर्थ, भट्टारक, वीरसेन और वागर्थ-संग्रहकार जयसेन प्रभृति गुरुजनों का नाम-स्मरण किया है, जिससे ग्रंथ के रचनाकाल में पर्याप्त सहायता मिलती है।

इस पुराण-ग्रंथ में सृष्टि-तत्व के संबंध में जो विचार किया गया है, इसको देखकर ऐसा विदित होता है कि जैसे उन्होंने अपने उत्तरभावी आचार्य शंकर के अद्वैत ब्रह्म-संबंधी विचारों का खंडन कर दिया है।

उत्तर पुराण

यह 'आदि पुराण' का उत्तरार्द्ध भाग है। आचार्य जिनसेन 'आदि पुराण' के ४४ सर्ग लिखने के बाद ही निर्वाण को प्राप्त हुए। तदनन्तर ४५ सर्ग से

४७ सर्ग तक और अंत में जिनचरित्र को साथ जोड़ कर उनके शिष्य गुणभद्र ने 'आदि पुराण' के उत्तरभाग की समाप्ति की।

ग्रंथ की अंतिम पुष्पिका में लिखा हुआ है कि समस्त शास्त्रों का सारस्वरूप यह पुराणग्रंथ धर्मवित् श्रेष्ठ व्यक्तिगण द्वारा ८२० शक पिंगल संवत्सर, ५ आश्विन शुक्लपक्ष, बृहस्पतिवार को पूजित हुआ। यह समय विश्वविख्यात-कीर्ति सर्वशत्रुपराजयकारी अकालवर्ष भूपति के राज्याधिरोहण का था।

'उत्तर पुराण' वस्तुतः जैनों के चतुर्विंशति पुराणों का विश्वकोश है। उसमें सभी पुराणों का सार संकलित है। इसका आरंभ ४८वें पर्व से प्रारंभ होता है। दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी तक का इसमें आख्यान है। इसमें २३ उत्तरवर्ती पुराणों की अनुक्रमणिका दी हुई है।

'आदि पुराण' और 'उत्तर पुराण' में प्रत्येक तीर्थंकर से पहिले चक्रवर्ती राजाओं की कथा वर्णित है। जैन-पुराणों के मतानुसार वे तीर्थंकर ही पूर्वजन्म में राजा थे। इन दोनों पुराणों में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ शुक्लबल, नौ विष्णुद्विष आदि ६३ महात्माओं के चरित्र वर्णित हैं। इसलिए इन्हें 'त्रिषष्ट्यवयवी पुराण' भी कहा जाता है।

पुराणों के वैज्ञानिक अनुशीलन की आवश्यकता

पाश्चात्य विद्वान् कुछ दिन पूर्व बड़ी एकाग्रता से भारतीय साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन की ओर प्रवृत्त हुए। उनकी इस प्रवृत्ति से भारतीय साहित्य की अनेक विलुप्त या गूढ़ बातें प्रकाश में आईं; किन्तु कुछ बातों के संबंध में उन्होंने इतने भ्रमात्मक निष्कर्ष निकाले, जिनको देखकर आज विश्वास-पूर्वक कहा जा सकता है कि वे उनकी निरी अज्ञानता के सूचक थे।

पुराणों के प्रति भी पाश्चात्यों का अधूरा ज्ञान था। इन्हीं अधूरी बातों का समर्थन कुछ भारतीय विद्वानों ने भी किया है। विलसन, स्मिथ और पार्जिटर प्रभृति विद्वानों ने पुराणों का गंभीर अध्ययन किया है, और इस संबंध में उन्होंने जो विश्लेषण किया है, उसको देख कर अब यह कहने की गुंजाइश

नहीं रह जाती है कि पुराणों की बातें सर्वथा कल्पित तथा पुराणों की रचना नितांत आधुनिक है।

पुराणों का सृष्टि-वर्णन, इतिहास की दृष्टि से सही है, और उसकी घटनाएँ अकल्पित हैं। पुरातत्व या विज्ञान की किसी भी प्रामाणिक खोज की तुलना में पुराणों का सृष्टि-वर्णन किसी भी प्रकार न्यून नहीं है। विकासवाद, आधुनिक विज्ञान की जो सर्वथा नई खोज है, उसके विविध तथ्य एवं दृष्टांत पुराणों में मौजूद हैं। पृथ्वी, पहाड़, नदी, आदि की सृष्टि, पौराणिक एवं दार्शनिक परमाणुवाद, महत्तत्त्व से भू-तत्त्व की सृष्टि, जलचर, भूचर, खेचर तथा मनुष्य आदि प्राणियों की रचना और मानव-जगत् की कई योनियों की रचना का इतिहास पुराण-ग्रंथों में सुरक्षित है।

इतना ही नहीं, बल्कि पुराणों में अनेक बातें आज भी ऐसी मौजूद हैं, जिन पर विज्ञान ने अब तक कुछ कहा ही नहीं है। दूर भूत और दूर भविष्य के सम्बन्ध में जो बातें पुराणों में दी गई हैं, युग-परिमाण के हिसाब से उनकी गणना अभी तक हुई ही नहीं है। पुराणों के सभी विषय कथोपकथन के ढंग पर लिखे हैं। विषय को सुगमता से हृदयंगम कराने वाले इस प्रकार के ग्रन्थ किसी भी भाषा में नहीं मिलेंगे। किसी ऋषि ने किसी दूसरे ही ऋषि से सुना; उसने भी किसी देवता से जाना; देवता ने भी ब्रह्मा से सुना; इस प्रकार पुराण विषय-परंपरा से मौखिक रूप में या शिष्य-परंपरा के क्रम से जीवित रहते आये हैं। विज्ञान को भले ही यह स्वीकार न हो; किन्तु भारतीय आचार-विचारों, संस्कारों और विश्वासों का यह चिर-पुरातन इतिहास झूठा नहीं है।

पुराणों में अनेक कल्पों और अनेक सृष्टियों के उत्थान-पतन की कथाएँ हैं; उनमें अनेक द्वीपों तथा समुद्रों, अनेक देशों और अनन्त राजधानियों का क्रमबद्ध इतिहास है; किन्तु उनमें कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि आर्य लोग बाहर से भारत में आये। तब यदि कुछ पाश्चात्य विद्वान् इस बात को स्वीकार करें कि आर्यों का आदिस्थान कहीं बाहर था अथवा पुराणों की कथाएँ सच्ची नहीं हैं, तो हम कैसे उन बातों को मान सकते हैं? इसके विपरीत पुराणों

में स्पष्टतया यह देखने को मिलता है कि शक और मग भारत में कब आये और कब भारतीय जन बाहर के देशों में जाकर बसने लगे।

पुराण हिन्दुओं की समस्त विद्याओं के आश्रय और सारी आर्य-संस्कृति के विश्वकोश हैं। उनमें लिखी गई बातें अत्यंत ही सच्चाई और सादगी से भरपूर हैं। उनके प्रति अविश्वास भले ही किया जाय; किन्तु सच्चाई अविश्वास से थोड़े ही ढांकी जा सकती है!

पुराणों की इन सच्ची और सादे ढंग से कही हुई बातों को विस्तार से समझने के लिए यह आवश्यक है कि पुराणों की वैज्ञानिक गवेषणा हो। उनकी कुछ बातों में जो वैपरीत्य आ गया है उसका मूल कारण खोजा जाय। उनमें जिस विराट् संस्कृति और पुरातन इतिहास के बीज बिखरे हुए हैं, उनको एक स्थान पर समेट कर उनका परीक्षण किया जाय।

बड़ी ही प्रसन्नता की बात है कि इस दिशा में भारतीय विद्वान् प्रवृत्त हो रहे हैं। पत्र-पत्रिकाओं में भी पुराणों के संबंध में नई बातें, नई गवेषणाएँ देखने को मिल रही हैं। उन पर नये सिरे से सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक ढंग के ग्रन्थ भी लिखे जा रहे हैं।

जैनयुग

धर्म : दर्शन : साहित्य

जैनयुग

ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी पूर्व वैदिक धर्म के विरोध में एक महान् क्रांति का सूत्रपात हुआ, जिसके नेता थे महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध। इस क्रांति का उद्देश्य मूलतः धार्मिक विरोध था; किन्तु आगे चलकर इसके लक्षण साहित्य के क्षेत्र में भी प्रकट हुए। धर्म के क्षेत्र में यह वैर-वैमनस्य भले ही एक अच्छी परंपरा की प्रतिष्ठा न कर सका हो; किन्तु साहित्य के क्षेत्र में वह अत्यंत शुभंकर सिद्ध हुआ। ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध जैन-बौद्धाचार्यों की इस साहित्यिक होड़ के कारण महानतम कृतियों से भारतीय वाङ्मय की एक अछूती दिशा प्रकाश में आई। भारतीय षड्दर्शनों की इतनी बड़ी अभ्युन्नति में भी इस क्रांति का हाथ रहा है। इस दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैन एवं बौद्ध, दोनों धर्मों का अपना विशिष्ट स्थान है।

धार्मिक दृष्टि से यह युग एक महान् परिवर्तन का युग था। महावीर स्वामी और बुद्धदेव के पूर्व सारी धार्मिक व्यवस्था पुरोहितों के हाथ में थी। इसके बाद धार्मिक व्यवस्था और धर्मप्रचार का कार्य इन दोनों क्षत्रिय-वंशीय महापुरुषों के हाथ में आया। वस्तुतः देखा जाय तो वामन और परशुराम के अतिरिक्त जितने भी अवतार हुए सभी क्षत्रिय-कुलोत्पन्न थे। इस दृष्टि से ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच काफी होड़ रही। वैदिक युग से जिस धार्मिक नेतृत्व का कार्य ब्राह्मण करते आ रहे थे, इस युग में वह क्षत्रियों के अधीनस्थ हो गया। वैदिक कर्मकाण्ड के अनुयायी पुरोहितों और उपनिषद्-धर्म के अनुयायी जैन-बौद्धों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण साहित्य के अतिरिक्त सामाजिक जीवन में भी अद्भुत उन्नति हुई।

यह एक विचित्र संयोग की बात है कि संसार के अनेक देशों के इतिहास में ईसा पूर्व की छठी शताब्दी, एक नई भावभूमि को लेकर आई। भारत में यह शती आध्यात्मिक असंतोष और बौद्धिक क्रांति के रूप में विख्यात हुई। चीन में लाओत्से तथा कन्फ्यूशियन ने, यूनान में परमेनाइडीस एवं एम्पेडोकल्स ने, ईरान में जरथुस्त्र ने और भारत में महावीर एवं बुद्ध ने इस धार्मिक क्रांति का प्रतिनिधित्व प्रायः एक ही समय में किया।

जैनधर्म के प्रमुख दो संप्रदाय

जैसे भगवान् तथागत की निर्वाण-प्राप्ति के बाद बौद्धधर्म के क्षेत्र में अनेक विकृतियाँ और संप्रदायजन्य मतभेद आरंभ हो गये थे, वैसे ही महावीर स्वामी के बाद जैनधर्म के क्षेत्र में भी सैद्धांतिक मतभेदों के कारण दो दल हो गए थे। जैनधर्म के इस संप्रदाय-विभेद का बड़ा रोचक इतिहास है।

महावीर स्वामी के नौ प्रकार के शिष्य थे, जिन्हें 'स्थविरावली' में 'गण' कहा गया है। इनके निरीक्षक को 'गणधर' कहा जाता था। इस प्रकार के ११ गणधर थे, जिनके नाम थे : इंदुभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डिक, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रकाम्र। गोशाल और जमालि भी महावीर के प्रमुख शिष्यों में से थे। महावीर स्वामी की यह शिष्य-परंपरा ३१७ ई० पूर्व तक अटूट रूप में बनी रही।

महावीर स्वामी की शिष्य-परंपरा में जिन शिष्यों ने 'संघ' का कार्य सुचारु रूप से संचालित किया और अपने अच्छे कार्यों के कारण लोकप्रियता प्राप्त की, उनमें आर्य भद्रबाहु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ३१७ ई० पूर्व में संघ का कार्य उन्होंने अपने हाथों में लिया था। ३१० ई० पूर्व, सात वर्ष बाद, संघ का कार्य भार अपने शिष्य स्थूलभद्र के ऊपर छोड़ कर आचार्य भद्रबाहु भ्रमणार्थ दक्षिण की ओर चल दिए थे। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में इसी बीच स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में साधुओं की एक बृहद् सभा का आयोजन किया, जिसमें जैनधर्म के अंगों का संग्रह करने के लिए योजनाएँ पारित की गईं।

बहुत दिनों बाद भद्रबाहु जब दक्षिण से वापिस आये तो उनके समक्ष

पाटलिपुत्र की विज्ञ-सभा द्वारा पारित प्रस्तावों को स्वीकृत्यर्थ रखा गया। भद्रबाहु ने उनको मानने से इन्कार कर दिया। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में एक नई बात और हुई। स्थूलभद्र की आज्ञा से जैन साधुओं ने वस्त्र पहनना भी आरंभ कर दिया था। भद्रबाहु को यह बात भी न रुची। फलतः यह विवाद बढ़ता ही गया। अंत में भद्रबाहु अपनी शिष्यमंडली के साथ अन्यत्र चले गए, और अपनी पुरानी परंपरा को ही उन्होंने बनाये रखा। इस प्रकार जैन साधुओं के दो दल हो गए: एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर। जैनियों के इन दो संप्रदायों का आविर्भाव ३०० ई० पूर्व में हो चुका था। भद्रबाहु का परलोकवास २९७ ई० पूर्व में हुआ और स्थूलभद्र का २५२ ई० पूर्व में।

इस प्रकार ३०० ई० पूर्व में जैनधर्मानुयायी मुनि-समाज में रहन-सहन और सैद्धांतिक मत-भेद के कारण जो दो दल बन गए थे; आगे-आगे विलयित होने की अपेक्षा उनकी दूरी बढ़ती ही गई और आज तक उनका मतभेद पूर्ववत् बना हुआ है।

जैनधर्म बहुव्यापी और बहुजीव धर्म रहा है। उसकी परम्परा आज भी अविच्छिन्न रूप से वर्तमान है। भारत के धार्मिक इतिहास में जैनधर्म का प्रमुख स्थान है। भारतीय साहित्य को प्रेरणा, प्रोत्साहन और प्रगति प्रदान करने में जैनधर्मावलंबी आचार्यों का प्रमुख योग रहा है। जैनधर्म, बौद्धधर्म की भाँति, एक आँधी-तूफान के रूप में आया और बह गया, जैसी स्थिति में कभी भी नहीं रहा है। आरम्भ में, अपने जन्मकाल में, उसकी स्थिति भले ही दूसरे रूप में परिचित हुई; किन्तु उत्तरोत्तर उसमें समन्वय एवं सामंजस्य की भावना भरती गई, और आज भारत का सारा जन-मानस जैनधर्म को परम आदर की दृष्टि से देखता है। उसके विरोधी तत्त्व प्रायः अब शिथिल पड़ गए हैं, और उसकी लोकप्रियता का एक बड़ा कारण यह भी रहा है।

बौद्धधर्म की भाँति जैनधर्म का उदय यद्यपि एक ही उद्देश्य को लेकर हुआ; किन्तु कुछ समय बाद ही उसकी इतनी शाखाएँ फूटीं कि, जिनके कारण उसके विकास में बड़ी बाधा उपस्थित हुई। दूर से देखने पर यही

कहा जा सकता है कि अनेक शाखा-संप्रदायों में विभाजित होकर जैन और बौद्ध, दोनों धर्मों ने अपना सर्वांगीण विकास किया; कुछ अंशों में यह संभव भी है ; किन्तु इन शाखा-संप्रदायों के कारण दोनों धर्मों की गति रुकी ही, बढ़ी नहीं।

जैनधर्म की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं। उन सब की नामावली प्रस्तुत करना और उनके उद्गम के कारण गिनाना यहाँ संभव नहीं है। मूलसंघ, काष्ठासंघ, तेरापंथ, यापनीयसंघ (आपुलीय या गोप्यसंघ), गौडसंघ, मयूरसंघ, नंदिसंघ, निर्ग्रंथसंघ, कूर्चकसंघ, वीरसेणाचार्यसंघ, पुन्नाटसंघ, किन्नूरसंघ, बलात्कारसंघ, सेनान्वय, तापगच्छ, सरस्वतीगच्छ, वागड़गच्छ, लाटबागडगच्छ, आदि जैनधर्म की ऐसी शाखाएँ हैं, जिनके कारण जैनधर्म की दिशा में अनेक विचारशाखाएँ उदित हुईं; किन्तु जिनमें अधिकांश कच्ची आधारभूमि पर टिके होने के कारण थोड़े ही समय में धरासात् भी हो गईं।

जैनधर्म और बौद्धधर्म की एकता

जैन और बौद्ध, दोनों धर्म भारत के धार्मिक इतिहास के बड़े प्रगतिशील धर्म रहे हैं। इस देश के निर्माण में इन दोनों धर्मों का बड़ा ऊँचा स्थान है। बौद्धधर्म यद्यपि अपनी जन्मभूमि भारत से सर्वथा विलुप्त हो चुका है ; किन्तु संसार के विभिन्न छोरों में बिखर कर भारत के नाम को वह सहस्राब्दियों से आजतक गौरवान्वित किए है। जैनधर्म की परम्परा भारत में आज भी जीवित है।

जैन और बौद्ध, दोनों धर्मों के उदय का प्रायः एक ही उद्देश्य था। अतः उनमें कुछ मौलिक एकताएँ हैं। एक दूसरे पर उनके दाय के चिह्न आज भी उनकी इस एकता को प्रकट करते हैं। 'जिन' और 'वीर', जो महावीर स्वामी या उनके पूर्ववर्ती महात्माओं के आदर-सूचक संबोधन थे, पालि-साहित्य में बुद्ध के विशेषणों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। बुद्ध को 'पापकर्मों का जीतने वाला' अतएव 'जिन' कहा गया। इसी प्रकार महाप्रजापति गोमति ने भगवान् बुद्ध की 'वीर' कह कर वन्दना की है। बौद्धभिक्षु अपना परिचय 'श्रमण' कह कर दिया करते थे। और इसीलिए उन्हें भी लोग श्रमण कह

कर पुकारने लगे। श्रमणप्रधान जैनधर्म से बौद्धधर्म की यह मौलिक एकता है। यही कारण था कि बहुत दिन तक यूरोप में इन दोनों धर्मों को एक ही धर्म माना जाता रहा, और इसी दृष्टि से कुछ विद्वानों ने महावीर और बुद्ध को एक ही व्यक्ति समझने का भ्रम किया।

पालि-साहित्य में जैनधर्म के अनुयायियों को निगण्ठ (निग्रंथ) और इसीलिए महावीर स्वामी को निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र) कहा जाता था। उनके मुख्य सिद्धांतों का उल्लेख भी पालि-साहित्य में देखने को मिलता है।

पालि-साहित्य और जैन-साहित्य की इन मौलिकताओं के फलस्वरूप भी दोनों धर्मों के अनुयायियों में जो वैर, वैमनस्य, प्रतिस्पर्धा और पारस्परिक आलोचना-प्रत्यालोचना की भावना दिखाई देती है, उसको गौणतया ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यह तो उनके व्यक्तिगत अस्तित्व और स्वतंत्र विचारों का प्रश्न था, जैसा कि प्रत्येक युग में एवं प्रत्येक धर्म में स्वभावतया होता गया है।

जैनधर्म और ब्राह्मणधर्म की एकता

जैनधर्म और ब्राह्मणधर्म में कोई विशेष अंतर नहीं है, मात्र इसके कि जैनधर्म वैदिक कर्मकाण्ड के प्रतिबंधों एवं उसके हिंसा-संबन्धी विधानों को स्वीकार नहीं करता है और ब्राह्मणधर्म वैदिक निर्देशों को ही अंतिम प्रमाण मानता है। समाज में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए जैनियों के समक्ष विकट परिस्थिति यह थी कि वेदों का खुल कर विरोध किया जाय। समाज संभवतः पुरोहितवाद के बढ़ते हुए प्रभाव और उसकी स्वेच्छाचारिता को सहन भी कर लेता; किन्तु वेदों की निष्क्रियता स्वीकार करने के लिए वह कदापि भी तैयार न था। वेदों के प्रति समाज के इस प्रबल विश्वास को डिगाने के लिए जैनियों ने अहिंसा का आधार लिया और पुरोहितवादी प्रवृत्तियों का, जिनके प्रति समाज की अरुचि बढ़ती जा रही थी, प्रबल विरोध कर समाज को अपने साथ कर लिया।

महावीर स्वामी ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों एवं उनकी मान्यताओं को इस सरल, सुगम ढंग से समाज के सामने रखा कि उनके

निर्दिष्ट मार्ग पर लोग बरबस ही खिंचे चले आये। वेदों में वर्णित अहिंसा और तप को ही जैनों ने अपनाया। साधना और वैराग्य की भावना उन्होंने वेदांत से ग्रहण की।

जैनधर्म अतिशय अहिंसावादी धर्म रहा है। कष्ट-सहिष्णुता जैन-धर्मावलंबियों का प्रमुख सिद्धांत था—बौद्धधर्मानुयायियों से भी बढ़कर। जैनधर्म का त्रिरत्न—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित—हिन्दू धर्म के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का ही रूपांतर है। समानता की दृष्टि से बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म हिन्दूधर्म के अधिक निकट है। जैनधर्म मूलतः हिन्दूधर्म और विशेषतः वैष्णवधर्म के अधिक पास है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से भी ब्राह्मणों के सांख्य और योग दर्शनों के निरीश्वरवाद से जैन दर्शन की पर्याप्त समानता है। सृष्टि और ब्रह्म की पृथक् सत्ता का जितना समर्थक कपिल का सांख्य है, उतना ही जैनदर्शन भी। जैन दर्शन आत्मा का चरमोद्देश्य साधना एवं तपश्चर्या में बताता है, वेदांत में भी जीवन्मुक्त के लिए ब्रह्म तक पहुँचना अनिवार्य बताया गया है। वेदांत का मुमुक्षु या जीवन्मुक्त ही जैन दर्शन का सिद्धजीव एवं अर्हत् है। दोनों दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं और ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए आत्मा के विकास पर जोर देते हैं। आत्मा और मोक्ष के स्वरूप संबंध को दृष्टि में रखकर विचार किया जाय तो जैन-बौद्ध दर्शन उतने ही आस्तिक ठहरते हैं, जितने ब्राह्मण दर्शन।

जैन दर्शन

अनादि काल से ही भारतीय विचारधारा हमें दो रूपों में विभक्त हुई मिलती है: पहिली परंपरामूलक, ब्राह्मण्य या ब्रह्मवादी, जिसका विकास वैदिक साहित्य के बृहत् स्वरूप में प्रकट हो चुका था, और दूसरी पुरुषार्थमूलक, प्रगतिशील, श्रामण्य या श्रमणप्रधान, जिसमें आचरण को प्रमुखता दी गई है। ये दोनों चिंताधाराएँ एक-दूसरी की पूरक भी रहीं और पारस्परिक विरुद्धगामी भी। जहाँ सामंजस्य की भावना के आधार पर इनमें आदान-प्रदान हुआ, वहाँ दूसरी ओर सारे राष्ट्र की बौद्धिक एकता को बनाये रखने में भी इनका महत्वपूर्ण योग रहा है। पहिली ब्रह्मवादी

विचार-परंपरा की उद्भूति पंजाब एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश में और दूसरी श्रमण विचार-परंपरा का जन्म आसाम, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश में हुआ। इन दोनों भारतीय विचारधाराओं के जन्म और विकास की संक्षिप्त रूपरेखा यही है। श्रामण्य विचार-परंपरा के जन्मदाता जैन थे।

श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक जैनधर्म प्रागैतिहासिक धर्म रहा है; बौद्धधर्म की अपेक्षा प्राचीन। 'भागवत' में वर्णित जैनधर्मसंबंधी विवरणों का अनुशीलन करने पर विद्वानों ने जैनियों के इस मंतव्य का समर्थन किया है कि जैनमत का आविर्भाव वैदिकमत के पार्श्व या उसके कुछ बाद में हुआ। मोहेन-जो-दारो से उपलब्ध ध्यानस्थ नग्न योगियों की मूर्तियों से जैनधर्म की अति प्राचीनता सिद्ध होती है। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परंपरा का प्रतिनिधित्व भी जैनधर्म ने ही किया। जैनधर्म के प्रवर्तक महात्माओं को तीर्थंकर कहा जाता है। ज्ञान का प्रवर्तन करने वाले वीतराग महात्मा ही तीर्थंकर कहलाए। धर्मरूपी तीर्थ का निर्माण करने वाले ज्ञानमना मुनिजन ही तीर्थंकर थे: 'तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति।'

ये तीर्थंकर महात्मा संख्या में चौबीस हुए, जिनमें सर्वप्रथम ऋषभदेव और अन्तिम महावीर थे। उनका क्रम इस प्रकार है: १ आदिनाथ (ऋषभदेव), २ अजितनाथ, ३ संभवनाथ, ४ अभिनन्दन, ५ सुमतिनाथ, ६ पद्मप्रभु, ७ सुपार्श्वनाथ, ८ चंद्रप्रभ, ९ सुविधिनाथ, १० शीतलनाथ, ११ श्रेयांसनाथ, १२ वासुपूज्य, १३ विमलनाथ, १४ अनंतनाथ, १५ धर्मनाथ, १६ शांतिनाथ, १७ कुन्थुनाथ, १८ अरनाथ, १९ मल्लिनाथ (मल्लीदेवी), २० मुनि सुव्रत, २१ नमिनाथ, २२ नेमिनाथ, २३ पार्श्वनाथ और २४ वर्धमान महावीर।[४] ऋग्वेद, अथर्ववेद, 'गोपथ ब्राह्मण' और 'भागवत' आदि भारतीय साहित्य के प्राचीन, मध्ययुगीन ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव की चर्चाएँ सर्वत्र बिखरी हुई मिलती हैं, जिनसे उनकी अति प्राचीनता और उनके व्यक्तित्व की महत्ता सिद्ध होती है। इसी प्रकार दूसरे तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि भी वैदिक युग के महापुरुष प्रतीत होते हैं।

महाभारतकालीन तीर्थंकर नेमिनाथ जैनधर्म के सामान्य ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं। जैनधर्म के ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के नाम पर सारनाथ जैसे पवित्र तीर्थ की स्मृति आज भी जीवित है। इन चौबीस तीर्थंकर महात्माओं में अन्तिम पार्श्वनाथ और महावीर ही ऐसे हैं, जिनकी ऐतिहासिक जानकारी ठीक रूप में उपलब्ध है। शेष पूर्ववर्ती महात्माओं के संबंध में जैन पुराणों के अनुवंश्य प्रसंगों में जो चर्चाएँ देखने को मिलती हैं, ब्राह्मण पुराणों की ही भांति उनकी अतिरंजित बातें काफी भ्रमोत्पादक अतएव पूरी तरह विश्वासयोग्य नहीं हैं।

तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ बड़े ही प्रतिभाशाली महापुरुष हुए। इनका जन्म महावीर स्वामी से लगभग २५० वर्ष पूर्व, ८०० ई० पूर्व वाराणसी के एक राज-परिवार में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम क्रमशः वामा और अश्वपति था। तीस वर्ष की युवावस्था में ही ये राज-पाट त्यागकर वनवासी हुए और अथक घोर तपस्या के ८३ वें दिन बाद इन्हें ज्ञानोपलब्धि हुई। लगभग ७० वर्ष तक धर्म-प्रचार करने के उपरांत पार्श्वनाथ पर्वत पर शरीर त्यागकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। इन्हीं तीर्थंकर द्वारा श्रमण-संप्रदाय की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। अद्भुत इन्द्रियनिग्रही और महान् जगत्-विजयी होने के कारण भगवान् पार्श्वनाथ 'जिन' के नाम से लोक में विश्रुत हुए और तभी से उनके अनुयायी जन जैन कहलाने लगे।

महात्मा पार्श्वनाथ की मोक्षप्राप्ति के लगभग ढाई-सौ वर्ष पश्चात् लगभग छठी शताब्दी ई० पूर्व के उत्तरार्ध में महावीर स्वामी का जन्म हुआ। कुण्ड ग्राम वैशाली (बसाढ, जिला मुजफ्फरपुर) के ज्ञातृक नामक क्षत्रिय राजकुल में उन्होंने जन्म धारण किया। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ, माता का नाम त्रिशला और उनका अपना पितृप्रदत्त नाम वर्धमान था। पार्श्वनाथ की ही भांति पिता के देहांत के तीस वर्ष बाद अपने छोटे भाई को राजकाज सौंपकर उन्होंने गृहत्याग किया। निरन्तर तेरह वर्ष तक आत्मचिन्तन करने के बाद उन्हें ज्ञानोपलब्धि हुई। ५२७ ई० पूर्व, लगभग ७२ वर्ष बाद राजगृह के समीप पावा नामक स्थान में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

जैन दर्शन का तात्त्विक पक्ष

जैन दर्शन का मोटा-सा अभिमत है कि संसार की समग्र वस्तुओं में स्थिरता और विनाश, दोनों का आवास रहता है। कोई वस्तु एकांत नित्य और एकांत अनित्य नहीं कही जा सकती है। सभी में नित्य और अनित्य की सत्ता विद्यमान रहती है। जैन दर्शन में परमाणुओं के संघात से ही संसार के सारे पदार्थों की उत्पत्ति बताई गई है। इस परमाणु-पुन्ज को ही वहां 'स्कंध' कहा गया है। परमाणु अनादि, अनंत और नित्य हैं; अमूर्त हैं। पृथ्वी, जल, तेज आदि उन्हीं परमाणुओं के रूपांतर हैं। मुमुक्षु जीव परमाणुओं को प्रत्यक्ष करता है। इस दृष्टि से जैन दर्शन परमाणुवादी तथा जीववादी दर्शन ठहरता है। ईश्वर-कर्तृत्ववाद के संबंध में बौद्धाचार्यों की जैनाचार्यों जैसी ही मान्यताएँ हैं।

संवर (संयम) का अभ्यास करते-करते जब जीव कर्म-परमाणुओं से मुक्ति प्राप्त कर लेता है, तब वह 'निर्जरा' की अवस्था कहलाती है। इस संयम-साध्य निर्जरा की अवस्था प्राप्त कर ही जीव मुक्ति तक पहुँचता है और उस दशा में वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति का अधिकारी हो जाता है।

जैनियों के मतानुसार बोधि अर्थात् ज्ञान की पांच श्रेणियाँ हैं : मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। मन, इंद्रिय, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क से मतिज्ञान ; शब्द एवं संकेतों से श्रुतिज्ञान ; त्रिकालजन्य वस्तुओं का प्रत्यधिकरण अवधिज्ञान ; दूसरों के मन का ज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और मुक्त जीव का ज्ञान केवल ज्ञान कहलाता है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा की भांति जैन दर्शन भी जीववादी दर्शन है; किन्तु उसकी व्यापकता के वे विरोधी हैं। वह बौद्ध दर्शन की भांति अनीश्वरवादी एवं अहिंसावादी; किन्तु उपनिषद् ग्रंथों की भाँति पुनर्जन्म-विश्वासी भी है।

अनीश्वरवाद और स्याद्वाद के संबंध में जैन दर्शन की मान्यताएँ बड़ी ही मौलिक हैं। जैन ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं मानते हैं। वे ईश्वर की

सर्वव्यापक, स्वतंत्र और नित्य सत्ता को मानते ही नहीं हैं। उनकी दृष्टि में सृष्टि का निर्माण प्राकृतिक तत्त्वों के निश्चित नियमों के अनुसार होता है। इस संबंध में उनके द्वारा उपस्थित किए गए तर्क एवं प्रमाण बड़े ही अनूठे हैं।

स्याद्वाद की प्रतिष्ठा में जैन दर्शन का अति उदार दृष्टिकोण लक्षित होता है। स्याद्वाद, अनेकांतवाद को कहते हैं, जिसके अनुसार एक ही वस्तु में नित्य एवं अनित्य आदि अनेक धर्म विद्यमान रहते हैं। स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनंत-धर्मक है। स्याद्वाद का स्वरूप जैन दर्शन में वर्णित 'सप्तभंगी' वाक्यों से समझा जा सकता है। एक ही वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखने के सिद्धांत को ही स्याद्वाद कहते हैं। उदाहरणार्थ एक ही पदार्थ घटस्वरूप से सत् है और पटस्वरूप से असत् भी। इस दृष्टि से संसार की सभी वस्तुएँ सदसदात्मक हैं।

जैनी लोग जीव की अनंत सत्ता में विश्वास करते हैं। जल, वायु, इंद्रिय, खनिज पदार्थ और धातुओं, सभी को वे जीववंत मानते हैं। उनके मतानुसार कुछ जीव पृथ्वीकाय, कुछ अपःकाय, कुछ वायुकाय और कुछ वनस्पतिकाय हैं। समग्र जीवों की 'बद्ध' और 'मुक्त' दो श्रेणियाँ हैं। बद्ध जीव भी कुछ 'सिद्ध' होते हैं और कुछ 'असिद्ध'। सिद्ध पुरुष ही जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ है।

जैन दर्शन के अनुसार कुछ वस्तुएँ, जो चैतन्य नहीं हैं, और जिनका अन्तर्भाव 'जीव' में नहीं हो सकता है, वे अजीव, अथच जड़ हैं। इनकी भी पाँच श्रेणियाँ हैं जिनके नाम हैं: काल, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। काल के अतिरिक्त शेष चतुर्विध जड पदार्थ अस्तिकाय हैं। सत् और सावयव पदार्थ ही अस्तिकाय कहलाते हैं। काल 'सत्' होने पर भी अस्तिकाय इसलिए नहीं क्योंकि वह निरवयव है। उत्पत्ति, क्रम और स्थिर स्वभाव वाले गुण ही 'सत्' हैं।

जैन दर्शन का व्यावहारिक पक्ष

आस्तिक दर्शनों की भाँति जैन दर्शन का चरमोद्देश्य मोक्षप्राप्ति है। मोक्ष-प्राप्ति बिना त्याग और संन्यास के दुर्लभ है। इस हेतु 'तत्त्वार्थसूत्र' में

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र ही मोक्ष-साधन के तीन रत्न या उद्देश्य बताए गए हैं। 'जिन' अर्थात् इन्द्रियजयी ही जैन कहा जाता है।

दान, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और त्याग जैनधर्म के व्यावहारिक उद्देश्य हैं। कर्मों का नाश करने के बाद ही मोक्ष-प्राप्ति होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय कर्मों की कई श्रेणियाँ हैं। ये चतुर्विध अंतराय कर्म ही जैन-दर्शन में 'घातीय कर्म' कहे गए हैं।

जैन और बौद्ध दर्शन की एकता

कर्मफलवाद और पुरोहितवाद के प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों का जो विरोध उपनिषद् ग्रन्थों में प्रकट हुआ था, उसका प्रभाव ई० पूर्व की छठी शताब्दी में एक आलोचनात्मक भावना के रूप में प्रकट हुआ। भारत में यह युग बौद्धिक मोर्चाबन्दी का युग था। वेदों और उपनिषदों की विचारधारा एक जैसे रूप में नहीं रही। उनके भीतर एक बृहद् मानस-मन की चिंताधाराएँ समन्वित थीं। ये धाराएँ कभी-कभी विरोधी भी रहीं। इन धाराओं में से जिसको जो रुची, उसने उसी को लेकर अपने सिद्धांतों का विकास कर डाला। इस प्रकार जैन, बौद्ध तथा अन्य दर्शन संप्रदायों का जन्म हुआ। लेकिन एक ही उद्गम से उत्पन्न होने के कारण, इन सभी धर्मों की, ब्राह्मणधर्म के साथ बराबर समानता बनी रही; और इन सभी धर्मों पर इस देश की जनता की रुचियों का प्रभाव भी पड़ता रहा, जो रुचियाँ कि ब्राह्मण-संस्कारों से ओतप्रोत थीं।

यद्यपि उपनिषद् एक प्रकार से वेदविहित कर्मों के अनुकर्ता किन्तु ब्राह्मणग्रंथों की भोगवादी विचारधारा के कट्टर विरोधी, या दूसरे शब्दों में वेदोक्त धर्म के आलोचनाप्रधान ग्रंथ होने के कारण जैन-बौद्ध-दर्शन के अधिक निकट हैं; किन्तु वे वेद-निंदक न होकर उनके प्रबल समर्थक हैं। वस्तुतः जैन-बौद्धों ने जिस आलोचना-पद्धति और नास्तिकवाद को अपनाया था, उसके मूल हेतु आचार्य बृहस्पति और आचार्य चार्वाक के सिद्धांत थे।

किन्तु जैन और बौद्ध-धर्म के अधिष्ठाता महावीर स्वामी एवं बुद्धदेव ने

जिस नास्तिकवाद को अपनाया वह, बृहस्पति तथा चार्वाक के सिद्धांतों से प्रसूत एवं उनका अविकल रूप न होकर उनका संस्कृत रूप था। बृहस्पति तथा चार्वाक के अहिंसावादी दृष्टिकोण तो इन दोनों महापुरुषों ने अपनाये; किन्तु उसके नितांत भोगवादी पक्ष से वे अछूते ही रहे; बल्कि अंत तक जैन-बौद्ध विचारधाराएँ उसके विरुद्धगामी ही रहीं।

'गीता' ऐसा पहिला ग्रन्थ है, जिसमें ज्ञानेच्छु आस्तिकों के विचारों का समर्थन और संदेहालु नास्तिकों के विचारों का विरोध दर्शित है। किन्तु इसके अतिरिक्त 'गीता' में एक तीसरी, सर्वथा नई बात कही गई है: कर्मकाण्ड एवं पुरोहितवाद के विरुद्ध। वैदिक यज्ञों के संबन्ध में यद्यपि गीताकार ने अपना स्पष्ट मंतव्य प्रकट नहीं किया है; फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि याज्ञिक कर्तव्यों को उसने कोई मान्यता नहीं दी है। 'गीता' के इस अस्पष्ट मंतव्य का स्पष्टीकरण जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने किया। जैन और बौद्ध दर्शन की, इस संबन्ध में कुछ मौलिक मान्यताएँ भी हैं। जैन दर्शन में जहाँ आस्तिक दर्शन के व्यावहारिक पक्ष का ही खंडन किया गया है, बौद्ध दर्शन में वहाँ आस्तिकों के व्यावहारिक और तात्त्विक दोनों पक्षों का विरोध प्रकट किया गया है।

जैन और बौद्ध, दोनों दर्शनों को नास्तिक की श्रेणी में रखा गया है, यद्यपि दोनों दर्शन अपने-अपने को नास्तिक नहीं बतलाते हैं। नास्तिकवाद के प्रवर्तक बृहस्पति और चार्वाक प्रभृति आचार्यों ने अपने सैद्धांतिक विचारों की पुष्टि के लिए जिन तर्कों और मान्यताओं का प्रतिपादन किया है, ठीक उन्हीं का समर्थन एवं प्रवर्तन हम जैन-बौद्ध दर्शनों में नहीं पाते हैं। जैन-बौद्ध-दर्शनों के अनुसार नास्तिक वह है जो परलोकविरोधी एवं धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य से विमुख है। परलोकविश्वास, धर्माचरण और कर्तव्यनिष्ठा-संबन्धी बातों के लिए आस्तिक दर्शन भी अपना वही अभिमत प्रकट करते हैं, जो जैन-बौद्ध दर्शन।

जैन-बौद्ध दर्शनों को नास्तिक दर्शन की श्रेणी में रखने का एकमात्र कारण उनका वेदनिंदक होना है: नास्तिको वेदनिन्दकः-मनुस्मृति। आस्तिक

दर्शन वेदवाक्यों को अन्तिम प्रमाण मानकर आगे बढ़ते हैं और जैन-बौद्ध दर्शन वेदों की सत्ता को बृहस्पति तथा चार्वाक के अनुसार कल्पित मानने के कारण नास्तिकों की श्रेणी में गिने जाने लगे; जो वस्तुतः आस्तिवादी विचारों के उतने ही विरोधी रहे हैं, जितने कि आस्तिकों के घोर जड़वाद के। इस दृष्टि से जैन-बौद्ध दर्शन आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओं के बीच के दर्शन हैं। जैन दर्शन में तो ब्राह्मण दर्शन की बहुत-कुछ बातों पर उसी दृष्टि से विचार किया गया है।

जैन और बौद्ध, दोनों दर्शन एक स्थिर चैतन्य की सत्ता पर विश्वास करते हैं। दोनों ही अहिंसा पर बल देते हैं और वेदों की प्रामाणिकता दोनों को अस्वीकार है। व्यवहार या नीति के क्षेत्र में जैन-दर्शन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष का साधन बताया गया है। जैन-योग की समानता उपनिषद्, योगदर्शन और बौद्ध-योग से पूरी तरह घटित होती है। उसमें शून्यागारों में ध्यान करने का उपदेश, हिंसा, असत्य और चोरी आदि से विरति, सत्य, अस्तेय, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की भावनाएँ, कर्मों का विभाजन एवं कर्मद्वारा मोक्षोपलब्धि की सभी बातें बौद्धदर्शन के सिद्धांतों से समानता रखती हैं। बौद्धों की मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा-संबन्धी विचार जैसे के तैसे जैन धर्म में भी विद्यमान हैं।

जैन और बौद्ध दर्शन के इस विचार-साम्य को ही लक्ष्य करके डॉ० हरदयाल ने बौद्धधर्म पर जैनधर्म के ऋण को स्वीकार किया है और इस सम्बन्ध में विस्तार से प्रमाण भी दिए हैं।

जैन-साहित्य

श्वेताम्बर संप्रदाय के अंगग्रंथ

स्थूलभद्र द्वारा पाटलिपुत्र में आयोजित विद्वत्परिषद् द्वारा संगृहीत एवं संपादित अंगग्रन्थों की प्रामाणिकता को स्वीकार करने में भद्रबाहु आदि आचार्यों ने अपनी असहमति प्रकट कर दी थी। अतः ४५४ ई० में भावनगर

(गुजरात) के समीप वलभी नामक स्थान में देवधर्मा की अध्यक्षता में जैन मुनि-समाज ने एक दूसरी परिषद् का आयोजन किया। इस सभा में ३०० ई० पूर्व की परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों पर पुनर्विचार किया गया। बड़े वाद-विवाद के पश्चात् भी दोनों दलों में एकता न हो सकी।

इस सभा में श्वेताम्बर संप्रदाय के आचार्यों ने १२ आगमिक या अंगग्रंथों का संग्रह किया था। उनके नाम हैं : १ 'आचारांगसुत्त' (आचारांगसूत्र), २ 'सूयगडंग' (सूत्रकृतांग), ३ 'थाणंग' (स्थानांग), ४ 'समवायांग', ५ 'भगवतीसूत्र', ६ 'नायाधम्मकहाओ' (ज्ञाताधर्मकथा), ७ 'उवासगदसाओ' (उपासकदशा), ८ 'अंतगड्दसाओ' (अंतकृद्दशा), ९ 'अणुत्तरोववाइयदसाओ' (अनुत्तरौपपादिकदशा), १० 'पण्हावागरणिआइं' (प्रश्नव्याकरणानि), ११ 'विवागसुयं' (विपाकश्रुतं) और १२ 'दिट्ठिवाय' (दृष्टिवाद)। इनमें से कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इन १२ अंगग्रंथों के उतने ही उपांगग्रन्थ भी हैं, जिनके नाम हैं : १ 'औपपातिक' २ 'राजप्रश्नीय' ३ 'जीवाभिगम' ४ 'प्रज्ञापणा' ५ 'सूर्यप्रज्ञप्ति' ६ 'जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति' ७ 'चंद्रप्रज्ञप्ति' ८ 'निर्यावलिका' ९ 'कल्पावतंसिका' १० 'पुष्पिका' ११ 'पुष्पचूलिका' और १२ 'वृष्णिदशा'।

प्रकीर्ण ग्रन्थ

श्वेताम्बर संप्रदाय के अंग-उपांग ग्रन्थों का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त भी श्वेताम्बरीयों के कुछ प्रकीर्ण ग्रन्थ हैं, जैन-साहित्य के क्षेत्र में जिनका बड़ा महत्व है। ये प्रकीर्णग्रन्थ संख्या में १० हैं। उनके नाम हैं : १ 'चतुःशरण', २ 'आतुरप्रत्याख्यान', ३ 'भक्तिपरिज्ञा', ४ 'संस्तार', ५ 'ताण्डुलवैतालिक', ६ 'चंद्रवेध्यक', ७ 'देवेंद्रस्तव', ८ 'गणितविद्या', ९ 'महाप्रत्याख्यान' और १० 'वीरस्तव'।

इनके अतिरिक्त 'छेदसूत्र', 'मूलसूत्र' और 'चूलिकसूत्र' भी उनके ग्रन्थ हैं।

संपूर्ण जैन-साहित्य के क्षेत्र में श्वेतांबरीयों के उक्त ग्रन्थ बड़े आदर से स्मरण किए जाते हैं। श्वेताम्बरीयों की यह ग्रन्थसामग्री जैन-साहित्य की प्राचीनतम निधि है।

यापनीय संप्रदाय और उसका साहित्य

जैनधर्म के दिगम्बर और श्वेतांबर, इन दो संप्रदायों से ही अधिकांश लोग परिचित हैं; किन्तु इनके अतिरिक्त जैनधर्म की अनेक उपशाखाएँ दिखाई देती हैं। यापनीय, जैनधर्म का एक तीसरा संप्रदाय है। उक्त दोनों संप्रदायों की भाँति यापनीय संप्रदाय का अस्तित्व भी बहुत प्राचीन है और उसकी परम्परा लगभग १६वीं शताब्दी तक बनी रही। इस यापनीय संप्रदाय को 'आपुलीय' या 'गोप्य' संघ भी कहते थे। कदम्ब, राष्ट्रकूट और दूसरे राजवंशों ने इस तीसरे धर्मसंघ के साधुओं को पर्याप्त दानादि देकर संमानित किया।

यापनीय और दिगम्बर, दोनों संघों की कुछ मौलिक बातें एक जैसी हैं। उदाहरण के लिए यापनीय संघ की भी निर्वस्त्र प्रतिमायें होती थीं और उनका अधिकांश साहित्य दिगम्बरियों के साहित्य जैसा था। इससे अतिरिक्त यापनीय संघ के मुनिजन भी नग्न रहते थे। मोरका और पिच्छि धारण करते थे। यापनियों का पाणितलभोजी होना और नग्न मूर्तियों का पूजना आदि आचारसम्बन्धी बातें भी दिगम्बरियों से मिलती हैं।

यापनीय संप्रदाय के साहित्य को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदाय के विद्वानों ने आदर से देखा। यापनीय संप्रदायों के विलुप्त हो जाने पर उनका सारा साहित्य श्वेताम्बरीय भण्डारों में चला गया। यापनीय संघ के प्रमुख आचार्यों के नाम है: उमास्वाति, शिवाचार्य, शाकटायन, स्वयंभु, त्रिभुवन स्वयंभु और वादिराज।

उमास्वाति

आचार्य उमास्वाति का जैन-साहित्य के इतिहास में वही स्थान है जो बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र में आचार्य वसुबंधु का। जैसे पालि त्रिपिटकों और दूसरे ग्रन्थों में बिखरे हुए बौद्ध तत्त्वज्ञान को वसुबंधु ने सँवार-सुधार कर अपने 'अभिधर्मकोश' में वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया और तदनंतर उस पर स्वयं ही भाष्य लिखा, ठीक उसी प्रकार उमास्वाति ने भी प्राकृत के आगम ग्रन्थों में अस्तव्यस्त जैन-तत्त्वज्ञान को अपने 'तत्त्वार्थाधिगम' ग्रन्थ में समेट

कर एकरूप कर दिया और बाद में उस पर भाष्य भी लिख दिया। उमास्वाति पहिले विद्वान् हुए जिन्होंने जैन तत्त्वज्ञान को योग, वैशेषिक आदि दर्शन-पद्धतियों के अनुरूप वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया।

इन दोनों आचार्यों की एकता के कुछ और भी कारण हैं। उदाहरण के लिए, यद्यपि वसुबंधु से पहिले भी कुछ बौद्धाचार्य पालि का मोह छोड़ कर संस्कृत की ओर अग्रसर हो चुके थे, तथापि उनमें वसुबंधु ही पहिले आचार्य थे, जिन्होंने संस्कृत भाषा को अपनाकर बौद्धाचार्यों की संस्कृत-विरोधी भावनाओं को दूर किया। ठीक यही स्थिति जैन-साहित्य के क्षेत्र में भी थी। उमास्वाति से पूर्व का सारा जैन-साहित्य अर्ध-मागधी प्राकृत में था। उमास्वाति को ही सर्वप्रथम यह ज्ञान हुआ कि संस्कृत अंतरदेशीय विद्वत्समाज की भाषा का रूप प्राप्त कर चुकी है, और किसी भी भारतीय धर्म का साहित्य तभी पनप सकता है तथा प्रकाश में आ सकता है, जब कि उसका निर्माण संस्कृत में होगा। उमास्वाति का यह संस्कृतानुराग संभवतः ब्राह्मण होने के नाते भी रहा हो; किन्तु जैन-दर्शन में संस्कृत भाषा का पहिला विधान उन्हीं के द्वारा हुआ।

उमास्वाति के ग्रन्थ का नाम है 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र'। उस पर उन्होंने स्वयं ही भाष्य भी लिखा। जैन-साहित्य के क्षेत्र में यह ग्रन्थ इतना प्रभाव-कारी सिद्ध हुआ कि उस पर श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय दोनों संप्रदायों के विद्वानों ने एक साथ टीकाएँ लिखीं।

ग्रन्थ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उमास्वाति, मुण्डपाद के प्रशिष्य और वाचकाचार्य के शिष्य थे। उनके पिता का नाम स्वाति और माता का नाम वात्सी था। न्यग्रोधिका में उनका जन्म हुआ और कुसुमपुर में भी छवे कु दिन रहे। उनका स्थितिकाल विक्रम की चौथी शताब्दी था।

शिवाचार्य

यापनीय संघ के प्रसंग में शिवाचार्य और उनकी काव्यकृति 'आराधना' का उल्लेखनीय स्थान है। यह कृति शौरसेनी प्राकृत में है और उसमें २१७० गाथाएँ हैं। 'भगवती' इस गाथाकृति का विशेषण है, नाम नहीं।

शिवाचार्य ने पुष्पिका में संकेत किया है कि पूर्वाचार्यों की रचनाओं के आधार पर उन्होंने अपना यह ग्रंथ लिखा। शिवाचार्य, शाकटायन (९०० वि०) से पहिले हुए। शिवाचार्य सम्भवतः पांचवीं-छठी शताब्दी के आसपास हुए। उनकी इस कथाकृति पर ७वीं शती से लेकर १९वीं शती तक प्राकृत और संस्कृत में अनेक टीकाएँ लिखी गई, जिनमें लगभग नौ टीकाएँ संप्रति उपलब्ध हैं।

शाकटायन

जैन शाकटायन का वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था। उन्हें यापनीय यतियों का अग्रणी कहा गया है। उनसे पहिले इस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हो चुके हैं, जिनके नाम थे श्रीकीर्ति, विजयकीर्ति, अर्ककीर्ति, इन्दु, सिद्धनंदि और आर्य व्रज। अभयचंद्र के 'शाकटायन-प्रक्रिया-संग्रह', के संपादक श्री गुस्तव आपर्ट ने पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरण शाकटायन और जैन शाकटायन को एक ही व्यक्ति बताया था, किन्तु इस सम्बन्ध में अब यह प्रमाणित हो चुका है कि प्रातिशाख्यों, 'निरुक्त' और 'अष्टाध्यायी' में जिन ऋषिस्थानीय शाकटायन का उल्लेख हुआ है, वे जैन शाकटायन से सर्वथा भिन्न थे। इनका स्थितिकाल ७७१-८२४ वि० के बीच अनुमित है।

आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्ति की तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं 'शब्दानुशासन', 'अमोघवृत्ति' और 'सिद्ध-मुक्ति-केवलि-मुक्ति प्रकरण'। इनके 'शब्दानुशासन' पर लगभग सात टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं।

स्वयंभु

अपभ्रंश का जितना भी साहित्य अब तक उपलब्ध है, स्वयंभु, उसके पहिले कवि एवं आचार्य हैं। कुछ दिन पूर्व चतुर्मुख और स्वयंभु को एक ही व्यक्ति माना गया था; किन्तु अब एतत्संबन्धी पुष्कल सामग्री के प्राप्त हो जाने पर यह प्रमाणित हो चुका है कि चतुर्मुख पूर्ववर्ती विद्वान् थे, जिनका उल्लेख स्वयंभु ने भी किया है। चतुर्मुख की कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

स्वयंभु के 'छेदचूड़ामणि', 'विजयशेषित' और 'कविराज' आदि वीरुद बताते हैं कि एक काव्यकार होने के अतिरिक्त वे छन्दःशास्त्री और वैयाकरण

भी थे। उनके पिता मारुतदेव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'गाथा-सप्तशती' के निर्माण में उनका भी हाथ रहा। स्वयंभु यापनीय संप्रदाय के अनुयायी थे, और रामकथा का प्रसाद उन्हें वर्धमान-इन्दुभूति-गणधर-सुधर्मास्वामी-रविषेण की परंपरा से प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने ग्रन्थों 'पउमचरिउ' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' को क्रमशः धनंजय और धवलइया के आश्रय में रहकर लिखा।

त्रिभुवन स्वयंभु

ये स्वयंभु के पुत्र और उनके सहलेखक भी थे। त्रिभुवन स्वयंभु को अपने पिता का काव्य, कुल और कविता का उद्धार करने वाला सुयोग्य पुत्र बताया गया है। वे वैयाकरण और आगमों के ज्ञाता थे। दोनों पिता-पुत्र संभवतः दाक्षिणात्य थे और उनका स्थितिकाल ७३४-८४० वि० के बीच बैठता है।

'पउमचरिउ' (पद्मचरित) या 'रामायण' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' (अरिष्टनेमिचरित) या 'हरिवंशपुराण' ये दोनों ग्रन्थ इन पिता-पुत्रों की संयुक्त कृतियाँ है। तीसरा ग्रंथ 'पंचमिचरिउ' (पंचमी कथा या नागकुमारचरित) भी इन्होंने लिखा था, जो उपलब्ध नहीं है। 'स्वयंभु-छंद' की भी एक अपूर्ण प्रति उपलब्ध है। स्वयंभुकृत व्याकरण का उल्लेख तो मिलता है; किन्तु वह उपलब्ध नहीं है।

वादिराज

इनका वास्तविक नाम विदित नहीं है। वादिराज, इनकी ख्यात या पदवी थी। मल्लिषेण-प्रशस्ति में इन्हें महान् वादी, विजेता और कवि आदि विशेषों से स्मरण किया गया है। सारे वैयाकरण, तार्किक और भव्यसहायों में उन्हें अग्रणी एवं धर्मकीर्ति, बृहस्पति, गौतम आति के तुल्य तथा उनका एकीभूत रूप माना गया है।

वादिराज, श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसार के शिष्य और 'रूपसिद्धि' (शाकटायन-व्याकरण की टीका) के कर्ता दयापाल मुनि के सहपाठी विद्वान् थे। चालुक्यनरेश सिंहचक्रेश्वर जयसिंहदेव (शा० सं० ९३८-९४५)

की राजसभा के संमानित विद्वान् होने के कारण इन्हें १०वीं शक शताब्दी में रखा गया है।

इनकी पाँच कृतियाँ उपलब्ध हैं : १ 'पार्श्वनाथचरित', २ 'यशोधरचरित', ३ 'एकीभावस्तोत्र', ४ 'न्यायविनिश्चय-विवरण' और ५ 'प्रमाणनिर्णय'। इनके अतिरिक्त 'अध्यात्माष्टक' और 'त्रैलोक्यदीपिका' का रचयिता भी इन्हें ही बताया जाता है।

पंचस्तूपान्वय और उसका साहित्य

जैनधर्म के क्षेत्र में एक उप-संप्रदाय पंचस्तूपान्वय या सेनान्वय के नाम से भी कहा गया है। इस संघ का उद्देश्य जीर्ण स्तूपों का उद्धार करना था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी मुनि-समाज के अतिरिक्त धनिक गृहस्थ भी रहे हैं, जिन्होंने पर्याप्त धन देकर जीर्ण स्तूपों का उद्धार करवाया।

जैन-साहित्य के प्रसिद्ध आचार्य वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र पंचस्तूपान्वय संप्रदाय के प्रमुख विद्वान् हुए। इन तीनों आचार्यों ने ही इस स्वतंत्र संघ को जन्म दिया और उन्हीं के समय तक इस संघ का विशेष मान-महत्व बना रहा। यद्यपि इस संघ के अनुयायी लोकसेन, अमितगति, वसुनंदि एवं श्रीभूषण आदि अनेक विद्वान् रहे और यद्यपि ऐसा विदित होता है कि मथुरा में अकबर के समय तक पंचस्तूपों का महत्व बना रहा; किन्तु बहुत ही मंथर गति से।

वीरसेन

वीरसेन जैन-साहित्य के ख्यातिमान् विद्वान् हुए। उनमें अनेक विशेषताएँ एकसाथ देखने को मिलती हैं। उन्होंने अपने को सिद्धांत, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण प्रभृति अनेक शास्त्रों का ज्ञाता कहा है। उनके सम्बन्ध में उनके शिष्य जिनसेन ने तथा प्रशिष्य गुणभद्र ने जो प्रशंसापूर्ण सूचनाएँ दी हैं, वे सभी उनके ऊँचे व्यक्तित्व के अनुरूप ही हैं। वे राष्ट्रकूट के राजा अमोघवर्ष प्रथम के समकालीन (८०० ई०) और संभवतः उसकी पंडित-सभा के संमाननीय विद्वान् थे।

उन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें 'धवलाटीका' और 'जयधवलाटीका'

दो ही उपलब्ध हैं। उनका एक पहिला बृहद् ग्रन्थ प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित ७२ हजार श्लोक-परिमाण का है। दूसरा ग्रन्थ आचार्य गुणभद्र के 'कषायप्राभृत' पर ६० हजार श्लोक-परिमाण की एक टीका है, जिसके प्रारंभिक २० हजार श्लोकों की रचना वीरसेन ने की और अंतिम ४० हजार श्लोक, गुरु के निधन हो जाने पर जिनसेन ने लिखे।

जिनसेन

जिनसेन अपने गुरु के गुण-कर्मानुसार ऊँची प्रतिभा को लेकर आये। 'जयधवला' की प्रशस्ति में दिए गए उनके आत्मसम्बन्धी परिचय से ज्ञात होता है कि बाल्यकाल से ही जिनसेन को बुद्धि, शांति और विनय के कारण अपने आचार्यों का विशेष अनुग्रह प्राप्त हो गया था। वह दर्शनशास्त्र और आध्यात्मिक ज्ञान के पारंगत हो चुके थे।

संयुक्त कृति 'जयधवला' के अतिरिक्त जिनसेन ने 'पार्श्वाभ्युदय' और 'आदिपुराण' की भी रचना की है। 'आदिपुराण' के अंतिम १६२० श्लोकों की रचना जिनसेन के देहान्त हो जाने के बाद उनके शिष्य गुणभद्र ने की।

गुणभद्र

गुणभद्र को भी ज्ञान की ऊँची विरासत गुरु-परम्परा से उपलब्ध हुई थी। अपने गुरु के प्रति उनमें अथाह श्रद्धा थी। 'आदिपुराण' की समाप्ति पर अपने गुरु के प्रति प्रकट किए गए उनके हृदयोद्गार उनकी गुरुभक्ति और उनकी काव्यप्रतिभा के परिचायक हैं। उन्होंने 'उत्तरपुराण' और 'आत्मानुशासन' नामक दो ग्रन्थ और लिखे। उनका यह अंतिम ग्रन्थ भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' की शैली में है। गुणभद्र के नाम से 'जिनदत्तचरित' नामक एक ग्रन्थ और भी उपलब्ध है। कहा नहीं जा सकता कि यह इन्हीं का है या किसी दूसरे गुणभद्र का।

इस आचार्यत्रयी का स्थितिकाल

वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र, इन तीनों आचार्यों के समय गुजरात में राष्ट्रकूट वंश के जिन तीन राजाओं का शासन रहा उनके नाम और राज्य-

काल का विवरण इस प्रकार था : जगतुंगदेव (लगभग ७१५–७३७ श० सं०), अमोघवर्ष (लगभग ७३५–७९८ श० सं०) और अकालवर्ष (लगभग ७९७-८३३ श० सं०)।

इस दृष्टि से तथा इन आचार्यों के ग्रन्थों में दिए गए समाप्तिकाल की परीक्षा करके श्री प्रेमीजी का कथन है कि वीरसेन का समय ६७०–७४५ श० सं०, जिनसेन का समय ६५८–७६५ श० सं० और गुणभद्र का जन्मसमय ७४० है ; किन्तु उनके निधनकाल की तिथि संदिग्ध है। वीरसेन चित्रकूटपुर के रहने वाले थे और उन्होंने अपने दोनों ग्रन्थों की रचना वाटग्राम के जिन-मंदिर में रहकर की। यह वाटग्राम गुजरात के राष्ट्रकूटों की प्रांतीय राजधानी थी।

श्रावकधर्म और उसकी आचार्य-परम्परा

गृहस्थ-व्रती को श्रावक, उपासक, देशसंयमी, आगारी आदि अनेक नामों से कहा गया है। इस दृष्टि से यद्यपि ये सभी नाम पर्याय जैसे लगते हैं, फिर भी उनके अर्थों में कुछ मौलिक भेद है। श्रावक या उपासक जनों के आचार धर्म का प्रतिपादन करने वाले सूत्र, शास्त्र या ग्रन्थों को 'श्रावकाचार', 'उपासकाचार' या 'उपासनाध्ययन' कहा जाता है। जैनधर्म के द्वादशांगों में सातवां अंग श्रावकांग के नाम से कहा गया है, जिसके भीतर ग्यारह लाख, सत्तर हजार पदों में ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण, उनके व्रतधारण की विधियों और उनके आचारसंबंधी विधानों का वर्णन है।

जैनधर्म में श्रावकाचार की आचार्य-परम्परा बहुत पुरातन है। वीर परिनिर्वाण के पांच-सौ-पैंसठ वर्ष तक श्रावक धर्म मौखिक रूप में अध्ययन-अध्यापन के क्रम से गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा अनुवर्तित होता रहा है। उसकी उपलब्ध आचार्य-परम्परा इससे भी बहुत बाद की है। इस उपलब्ध आचार्य-परम्परा का क्रम इस प्रकार है : आचार्य कुंदकुंद, स्वामी कार्तिकेय, आचार्य उमास्वाति, आचार्य यतिवृषभ, स्वामी समंतभद्र, आचार्य जिनसेन, आचार्य सोमदेव, आचार्य देवसेन, आचार्य अमितगति, आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य वसुनन्दि (गुरु नयनंदि) और पं० आशाधर।

आचार्य कुंदकुंद

दिगम्बर संप्रदाय की आचार्य-परम्परा में भगवद् भूतबली, पुष्पदंत और गुणधराचार्य के पश्चात् आचार्य कुंदकुंद का नाम आता है। इन्होंने अनेक पाहुड़ों की रचना की थी, जिनमें से 'चारित्रपाहुड' भी एक है। इसमें इन्होंने छह गाथाओं में संक्षिप्त रूप से श्रावक धर्म का वर्णन किया है।

कुंदकुंद जैनधर्म के प्राचीन आचार्यों में हुए। मल्लिषेण-प्रशस्ति में जिन पुरातन आचार्यों की नामावली दी गई है, उनमें कुंदकुंद आचार्य का नाम पहिले है। अमृतचन्द्र, कुंदकुंद के ग्रंथों का प्रमुख टीकाकार था।

स्वामी कार्तिकेय

इस परम्परा में आचार्य कुंदकुंद के बाद स्वामी कार्तिकेय का स्थान है। उन्होंने 'उत्प्रेक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें श्रावक धर्म का विस्तार से वर्णन है। स्वामी कार्तिकेय की प्रतिपादन-शैली सर्वथा स्वतन्त्र है। दिगम्बर संप्रदाय में श्रावक धर्म का व्यवस्थित निरूपण करने वाले आचार्यों में स्वामी कार्तिकेय का प्रथम स्थान है।

स्वामी कार्तिकेय जैनधर्म के पुरातन आचार्यों में से थे। हरिषेण का 'कथाकोश' दिगम्बरीयों का सर्वोच्च ग्रन्थ माना जाता है। सारे जैन-साहित्य के उपलब्ध कथाकोशों में वह सब से प्राचीन है। उसमें कुल मिलाकर १९७ गाथाएँ हैं। इनमें से कुछ गाथाएँ प्राचीन महापुरुषों की जीवनी से संबद्ध हैं, जिनमें एक कथा स्वामी कार्तिकेय की भी है। यह ग्रन्थ १०वीं श० वि० का है। स्वामी कार्तिकेय की 'अनुप्रेक्षा' पर १७वीं श० में ज्ञानभूषण के प्रशिष्य एवं सुमतिकीर्ति के शिष्य लक्ष्मीचन्द्र ने एक टीका लिखी थी।

आचार्य उमास्वाति

आचार्य उमास्वाति के कृतित्व पर यापनीय संप्रदाय के प्रसंग में यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है। उनके 'तत्त्वार्थसूत्र' में श्रावकधर्म का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है।

स्वामी समंतभद्र

स्वामी समंतभद्र का 'रत्नकरण्ड' ग्रन्थ श्रावकाचार का बहुत ही ख्यातिलब्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा', 'तत्त्वार्थसूत्र', 'पाहुड' और 'षड्खण्डागम', इन चार पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर आधारित है ; किन्तु उसकी बहुत सी बातें सर्वथा मौलिक भी हैं। इस ग्रन्थ में धर्म की परिभाषा, सत्यार्थ देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप, आठ अंगों एवं तीन मूढताओं के लक्षण, मदों के निराकरण का उपदेश, सम्यग् दर्शन, ज्ञानचरित्र का लक्षण, अनुयोगों का स्वरूप, सयुक्तिकचरित्र की आवश्यकता और श्रावक के बारह व्रतों तथा ग्यारह प्रतिमाओं का ऐसा विशद, सर्वांगपूर्ण विवेचन दूसरे ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता है।

स्वामी समंतभद्र, 'पार्श्वनाथचरित' (समाप्त १०८२ वि०) के कर्ता वादिराजसूरि से पहिले हुए। 'रत्नकरण्ड' के अतिरिक्त उन्होंने 'आप्तमीमांसा', 'स्वयम्भुस्तोत्र', 'युक्त्यनुशासन' आदि ग्रन्थों की भी रचना की है।

आचार्य जिनसेन

आचार्य जिनसेन का उल्लेख पंचस्तूपान्वय संप्रदाय की आचार्यत्रयी में यथास्थान कर दिया गया है। उनका 'आदिपुराण' श्रावकाचार का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। जिनसेन ने ही ब्राह्मणों की उत्पत्ति का आश्रय लेकर दीक्षान्वय आदि क्रियाओं का विस्तार से वर्णन किया है और उन्होंने ही सर्वप्रथम पक्ष, चर्या तथा साधनरूप से श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है, जिसको कि प्रायः सभी परवर्ती श्रावकाचार के अनुयायी आचार्यों ने अपनाया है। जिनसेन ने ही सर्वप्रथम व्यसनों के त्याग का वर्णन किया है।

आचार्य सोमदेव

आचार्य सोमदेव ने अपने ग्रन्थ 'यशस्तिलकचम्पू' के छठे, सातवें और आठवें आश्वास में श्रावकधर्म पर विस्तार से प्रकाश डाला है, और इसी हेतु उन्होंने उक्त आश्वासों का नाम 'उपासकाध्ययन' रखा है। इन अध्याओं पर समंतभद्र के 'रत्नकरण्ड' का प्रभाव है।

सोमदेव का व्यक्तित्व जैन साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में भी आदर से याद किया जाता है। वे एक समन्वयवादी विचारधारा के उदारचेता विद्वान् थे। व्याकरण, कला, छंद, अलंकार और समयागम (अर्हत्, जैमिनि, कपिल, चार्वाक, कणाद तथा बुद्ध) आदि शास्त्रों पर उनकी समानरूप से श्रद्धा थी; और उनकी कृतियों के अध्ययन से यह भी झलकता है कि उक्त विषयों या शास्त्रों पर उनका अधिकार भी था।

सोमदेव के गुरु नेमिदेव, दादागुरु यशोदेव और सहोदर महेन्द्रदेव सभी दिग्विजयी ख्याति के विद्वान् हुए। सोमदेव स्वयं भी अद्भुत तार्किक, निपुण राजनीतिज्ञ और सिद्धहस्त कवि थे। ज्ञान की यह विरासत, उन्हें अपने वंश तथा गुरु-परंपरा से उपलब्ध हुई थी।

'यशस्तिलकचम्पू' की पुष्पिका में लिखा है कि चैत्र सुदी १३ शक संवत् ८८१ (१०१६ वि० सं०) में श्रीकृष्णराजदेव पांड्य के सामंत एवं चालुक्यवंशीय अरिकेशरी के प्रथम पुत्र वद्दिगराज की राजधानी गंगधारा में सोमदेव ने अपने इस ग्रंथ को समाप्त किया। राष्ट्रकूट के अमोघवर्ष के तीसरे पुत्र कृष्णराजदेव (जिनका दूसरा नाम अकालवर्ष भी था) का राज्यकाल ८६७ से ८९४ शक संवत तक रहा। 'यशस्तिलकचम्पू' से पूर्व उनका 'वाक्यामृत' रचा जा चुका था। इस दृष्टि से सोमदेव का स्थितिकाल उक्त शक संवत् के पूर्वार्ध में होना चाहिए।

सोमदेव के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं : 'नीतिवाक्यामृत', 'यशस्तिलकचंपू' और 'अध्यात्मतरंगिणी'। इसके अतिरिक्त चार ग्रंथ इनके नाम से और बताये जाते हैं : 'युक्तिचिंतामणिस्तव', 'त्रिवर्ग-महेंद्र-मातलिसंजल्प', 'षण्णवती प्रकरण' और 'स्याद्वादोपनिषद्'। ये अप्राप्य हैं।

आचार्य देवसेन

आचार्य देवसेन ने अपने प्राकृत ग्रन्थ 'भावसंग्रह' में श्रावक धर्म का विवेचन किया है। इन्होंने भी सोमदेव की ही भाँति पाँच उदुम्बर, मद्य, मांस और मधु के त्याग को आठ मूल गुण माना है। परन्तु उन्होंने गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के नाम कुन्दकुन्द के ही अनुसार दिये हैं। आचार्य कुंदकुन्द

के मतानुसार पूजा और दान ही श्रावक का मुख्य कर्तव्य बताया गया है, जब कि आचार्य देवसेन पुण्य का उपार्जन करना ही श्रावक का धर्म मानते हैं।

आचार्य वसुनंदि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ विवाद हैं। कुछ विद्वानों के मत से 'भावसंग्रह' के रचयिता, विमलसेनगणि के शिष्य देवसेन 'लघुनयनक्र' के रचयिता देवसेन के भिन्न थे और उन्होंने उक्त ग्रंथ के अतिरिक्त 'सुलोयणाचरिउ' (सुलोचनाचरित) नामक एक अपभ्रंश ग्रंथ भी लिखा; किन्तु इन दो देवसेन व्यक्तियों के सम्बन्ध में जब तक प्रामाणिक सामग्री नहीं मिलती तब तक उन्हें दो मानना उचित नहीं जान पड़ता है।

देवसेन तथा पद्मनंदि, कुन्दकुन्द अन्वय के थे। उनका स्थितिकाल दशवीं शताब्दी विक्रमी के लगभग था, क्योंकि 'दर्शनसार' की पुष्पिका में उन्होंने लिखा है कि धारा नगरी में निवास करते हुए पार्श्वनाथ के मंदिर में मार्ग सुदी १०, वि० सं० ९९० को उन्होंने अपना उक्त ग्रन्थ समाप्त किया। 'आराधनासार' और 'तत्त्वसार' भी उन्होंने ही लिखे।

आचार्य अमितगति

आचार्य अमितगति ने श्रावक धर्म पर एक पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम है 'उपासकाचार' (अमितगतिशावकाचार)। इसके १४ परिच्छेदों में श्रावकधर्म पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में समंतभद्र, उमास्वाति, जिनसेन, सोमदेव और देवसेन प्रभृति पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के श्रावकधर्म सम्बन्धी सिद्धांतों का परीक्षण और स्वतंत्र रूप से विचार दिए गए हैं।

अमितगति बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् थे। जैनधर्म के अतिरिक्त संस्कृत के क्षेत्र में भी उनका ऊँचा स्थान माना जाता है। एक काष्ठा नामक स्थान (दिल्ली के उत्तर में कहीं यमुना के तट पर) के नाम से 'काष्ठासंघ' का नामकरण हुआ था। इस संघ की प्रतिष्ठा जिनसेन के सतीर्थ्य, वीरसेन के शिष्य कुमारसेन ने वि० स० ७५३ में की थी और उसके डेढ़-दो-सौ वर्ष बाद ९५३ वि० सं० में माथुरों के गुरु रामसेन ने काष्ठासंघ की एक शाखा के रूप में मथुरा में माथुर संघ का निर्माण किया था। अमितगति इसी माथुर संघ के अनुयायी थे। अमितगति की गुरु-परंपरा वीरसेन-

देवसेन-अमितगति-(प्रथम)-नेमिषेण-माधवसेन-अमितगति, और शिष्यपरंपरा शांतिषेण-अमरसेन-श्रीषेण-चंद्रकीर्ति-अमरकीर्ति, इस प्रकार रही है।

अमितगति, मालव के परमारवंशीय धारानरेश मुंज और सिंधुल के समकालीन थे। मुंज का दूसरा नाम वाक्पतिराज था, जो स्वयं भी विद्वान् एवं विद्वानों का आदर करनेवाला था। 'प्रद्युम्नचरित' का कर्ता महासेन, 'तिलकमंजरी' का कर्ता धनपाल, 'नवसाहसांकचरित' का कर्ता पद्मगुप्त, 'दशरूपावलोक-टीका' का कर्ता धनिक, 'पिंगलछंदसूत्र' का टीकाकार हलायुध और अमितगति, इन्हीं वाक्पतिराज के आश्रित विद्वान् थे। १०५०–१०५४ के बीच वे युद्ध में दिवंगत हुए। मुंज के अनुज और भोज के पिता सिंधुल हुए, जिनका उपनाम नवसाहसांक था और जिनकी आज्ञा से पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांकचरित' की रचना की थी। वे भी १०५४–१०६६ वि० के बीच मारे गए। अतः अमितगति का स्थितिकाल ११वीं श० वि० का पूर्वार्ध बैठता है।

अमितगति की रचनाओं के नाम हैं : 'सुभाषितरत्नसंदोह', 'धर्मपरीक्षा', 'पंचसंग्रह', 'उपासकाचार', 'आराधना', 'सामयिकपाठ', 'भावनाद्वात्रिंशतिका' और 'योगसार प्राभृत'। कुछ सूचीग्रन्थों में अमितगति के नाम से 'जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति', 'चंद्रप्रज्ञप्ति', 'सार्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति' और 'व्याख्याप्रज्ञप्ति', इन चार पुस्तकों का और उल्लेख मिलता है; किन्तु वे संप्रति उपलब्ध नहीं हैं।

आचार्य अमृतचंद्र

आचार्य कुंदकुंद के प्रसंग में आचार्य अमृतचंद्र का संकेत किया जा चुका है। अपने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रन्थ में उन्होंने सम्यक्चारित्र्य की व्याख्या करते हुए उपासक को हिंसादि पापों से विरत रहने का उपदेश दिया है। अहिंसा का ऐसा अपूर्व वर्णन दूसरे ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

आचार्य अमृतचंद्र ने अपने बारे में कुछ भी नहीं कहा है। आशाधर ने उनको दो-एक स्थान पर 'ठक्कुर' कह कर स्मरण किया है। ठक्कुर, ठाकुर का ही वाचक शब्द है। जागीरदारों और ओहदेदारों को ठक्कुर या ठाकुर कहा जाता है, चाहे वे किसी भी जाति या वर्ण के हों। गहडवालों के दानपत्रों में यह अधिकार, उपाधि, प्रदेश आदि का सूचक शब्द है। जयसेन

के 'धर्मरत्नाकर' (र-का० १०१५ वि०) में अमृतचंद्र के 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रन्थ के ५९ श्लोक उद्धृत हुए हैं। ये जयसेन परमार राजा मुंज (१०५०-१०१४ वि०) के समकालीन थे। अतएव अमृतचंद्र विक्रम की ११वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रखे जाने चाहिए। अमृतचंद्र ने पांच ग्रंथ लिखे, जो संस्कृत में हैं: 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय', 'तत्त्वार्थसार', 'समयसार', 'आत्मख्याति', 'प्रवचनसारटीका' और 'पंचास्तिकायटीका'।

आचार्य वसुनंदि

आचार्य वसुनंदि के श्रावकधर्म के प्रतिनिधिग्रन्थ का हिन्दी संस्करण पं० हीरालाल जैन ने 'वसुनंदिश्रावकाचार' के नाम से तैयार किया है। इस ग्रंथ पर तथा ग्रन्थकार पर जैन महोदय ने भूमिका में विस्तार से विचार किया है। इस ग्रन्थ की विशेषताओं के बारे में उनका कहना है कि 'आचार्य वसुनंदि के सामने यद्यपि अनेक श्रावकाचार विद्यमान थे, तथापि उनके द्वारा वह बुराई दूर नहीं होती थी, जो कि तात्कालिक समाज एवं राष्ट्र में प्रवेश कर गई थी। दूसरे, जिन शुभ प्रवृत्तियों की उस समय अत्यंत आवश्यकता थी, उनका भी प्रचार या उपदेश उन श्रावकाचारों से नहीं होता था। इन्हीं दोनों प्रधान कारणों से उन्हें स्वतंत्र ग्रन्थ के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई।'

वसुनंदि नाम के अनेक विद्वान् हुए हैं। ये वसुनंदि आशाधर के पूर्व और अमितगति से पहिले १२वीं शताब्दी वि० में या १२ वीं श० वि० के पूर्वार्द्ध में हुए। वसुनंदि के नाम से प्रकाश में आने वाली रचनाओं के नाम हैं: 'आप्तमीमांसावृत्ति', 'जिनशतकटीका', 'मूलाचारवृत्ति', 'प्रतिष्ठासार-संग्रह' और 'उपासकाध्ययन'। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये सभी ग्रंथ एक ही वसुनंदि के थे।

आचार्य आशाधर

इस परंपरा के ये अंतिम विद्वान् हुए। इनका ग्रंथ 'सागरधर्मामृत' सचमुच ही श्रावकाचाररूप समुद्र का मंथन करके निकले हुए अमृत के समान, अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करता है। सप्तव्यसनों के अतीचारों का

वर्णन, श्रावक की दिनचर्या और साधक की समाधिव्यवस्था पर इतनी सुन्दर सामग्री प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ इससे पूर्व नहीं लिखा गया था।

पण्डित आशाधर बहुश्रुत और बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् हुए। काव्य, अलंकार, व्याकरण, कोश, दर्शन, धर्म और वैद्यक आदि अनेक विषयों पर उन्होंने ग्रंथ लिखे। वे धर्म के बड़े उदार थे। यद्यपि वे गृहस्थ थे, तथापि बड़े-बड़े मुनियों और महात्माओं ने उनका शिष्यत्व लेने में गौरव समझा। अर्जुनवर्मदेव के राजगुरु 'पारिजातमंजरी' के रचयिता मदन कवि ने इनसे काव्यशास्त्र का अध्ययन किया था। इनका स्थितिकाल १३वीं श० वि० के उत्तरार्ध में निश्चित है।

आशाधर ने विभिन्न विषयों पर लगभग १९ ग्रन्थ लिखे जिनकी नामावली प्रेमीजी के इतिहासग्रंथ के अनुसार इस प्रकार है : १, 'प्रमेयरत्नाकर' (अप्राप्य), २ 'भरतेश्वराभ्युदय काव्य' (सटीक), ३ 'ज्ञानदीपिका'; ४ 'राजमती विप्रलंभ' (अप्राप्य), ५ 'अध्यात्मरहस्य', ६ 'मूलाराधनाटीका', ७ 'इष्टोपदेशटीका', ८ 'भूपालचतुर्विंशतिकाटीका', ९ 'आराधनासारटीका' (अप्राप्य), १० 'अमरकोशटीका' (अप्राप्य), ११ 'क्रियाकलाप', १२ 'काव्यालंकारटीका' (अप्राप्य), १३ 'सहस्रनामस्तवन' (सटीक), १४ 'जिनयज्ञकल्प' (सटीक), १५ 'त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र' (सटीक), १६ 'नित्यमहोद्योत', १७ 'रत्नत्रयविधान', १८ 'अष्टांगहृदयटीका' (अप्राप्य) और १९ 'धर्मामृत' (सटीक)।

जैन-साहित्य का बहुमुखी विकास

जैन-साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसी प्रकार जैनधर्म के संप्रदायभेद भी अनेक हैं। जैन-साहित्य का अध्ययन संप्रदाय-परंपरा की अपेक्षा ऐतिहासिक क्रम से करना अधिक सुगम प्रतीत होता है। संप्रदायों का आग्रह और सैद्धांतिक प्रतिस्पर्धा का जो दृष्टिकोण हमें बौद्धधर्म में दिखाई देता है, वह जैनधर्म में नहीं है। जैन-साहित्य के निर्माता विद्वानों या आचार्यों का दृष्टिकोण, किसी सैद्धांतिक धारा को लेकर चलने की अपेक्षा, सामान्यतया साहित्य की सर्वाङ्गीण अभिवृद्धि के लिए था। किसी एक विषय या किसी एक मत के प्रतिपादन की दृष्टि से जैन-साहित्य के क्षेत्र में विरले ही

विद्वान् दिखाई देते हैं। अधिकतर जैन-साहित्यकारों ने एक साथ अनेक विषयों पर लिखा है।

सिद्धांत या संप्रदाय की दृष्टि से कुछ विद्वानों या आचार्यों का जो परिचय दिया जा चुका है वह गौण दृष्टिकोण है। इसलिए उनकी कृतियों का अध्ययन करने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे एक ही विषय, एक ही दृष्टिकोण अथवा एक ही सिद्धांत से संबद्ध न होकर अलग-अलग विषयों से संबंध रखती हैं। यहां हम श्रद्धेय नाथूराम जी के इतिहासग्रंथ के आधार पर जैन-साहित्यकारों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

यतिवृषभ और सिंहसूरि

कालक्रम की दृष्टि से ये दोनों जैनाचार्य बहुत दूरी पर हैं; किन्तु विषय की दृष्टि से उनकी बहुत समानता है। भट्टारक सिंहसूरि का 'लोकविभाग' और यतिश्रेष्ठ यतिवृषभ का 'तिलोयपण्णत्ति', दोनों ग्रन्थ करणानुयोग (गणितानुयोग) से संबंधित हैं।

जिनप्रवर यतिवृषभ का उल्लेख 'श्रुतावतार', 'जयधवला-टीका' और 'धवला टीका' आदि अनेक ग्रंथों में मिलता है। 'श्रुतावतार' के उक्त प्रसंग से यतिवृषभकृत छह-हजार श्लोकपरिमाण के एक 'चूर्णिसूत्र' नामक ग्रंथ का भी पता चलता है। प्रेमी जी ने अनेक ग्रन्थों और अनेक विद्वानों के मतों का परीक्षण करके यह निष्कर्ष दिया है कि प्राकृत 'लोकविभाग' के लेखक सर्वनंदि के ५० वर्ष बाद शक सं० ४०० (वि० सं० ५३५) में 'तिलोयपण्णत्ति' का रचनाकाल और ५३५-६६६ वि० सं० के बीच यतिवृषभ का स्थितिकाल था।

दिगम्बर संप्रदाय के गाथा-ग्रन्थों में 'तिलोयपण्णत्ति' पहिला उपलब्ध ग्रंथ है। यह प्राकृत में है, और संप्रति उपलब्ध उसके संस्करण में अनेक प्रक्षिप्तांश जुड़ गए हैं, ऐसा विद्वानों का अभिमत है।

प्रेमीजी ने, सिंहसूरि के संबंध में उपलब्ध पुष्कल सामग्री के आधार पर यह पता लगाया है कि वे 'ऋषि' और 'भट्टारक' कहे जाते थे। उनका संक्षिप्त नाम सिंहसूरि एवं अपरनाम सिंहनंदि या सिंहकीर्ति था और वे श्रुतसागर के समकालीन विक्रम की १६ वीं श० में हुए।

संस्कृत का जो 'लोकविभाग' ग्रन्थ उपलब्ध है, मूलतः वह प्राकृत में था, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। उस अनुपलब्ध ग्रन्थ का यह संक्षिप्त व्याख्यान है। साथ ही हमें यह भी ज्ञात होता है की प्राकृत ग्रन्थ के लेखक का नाम मुनि सर्वनंदि था, और पांडय राष्ट्र के पाटलिक ग्राम में इस ग्रन्थ का आरम्भ करके कांचीनरेश सिंहवर्मा के २२वें संवत्सर (३८० शक) में उसको समाप्त किया गया था।

देवनंदि

आचार्य देवनंदि को संक्षिप्त 'देव' नाम से भी स्मरण किया गया है। किन्तु १३वीं १४वीं शताब्दी के शिलालेखों में उन्हें जिनेंद्रबुद्धि और पूज्यपाद भी कहा गया है। पाणिनि-व्याकरण की 'काशिकावृत्ति' पर 'न्यास' नामक टीका का लेखक बौद्ध जिनेंद्रबुद्धि, जैन देवनंदि से भिन्न था। जैन देवनंदि समंतभद्र के समय छठी शताब्दी में हुआ। देवनंदिकृत अनेक ग्रन्थों के उद्धरण दूसरे परवर्ती ग्रन्थों में पाये जाते हैं; किन्तु उनके केवल छह ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं : 'जैनेन्द्रव्याकरण', 'सर्वार्थसिद्धि', 'समाधितंत्र', 'इष्टोपदेश', 'दशभक्ति' और 'सिद्धिप्रियस्तोत्र'।

डॉ० कीलहार्न ने कुछ दिन पूर्व यह सूचना दी थी कि इन्द्र के शब्द-लक्षण-विषयक प्रश्नों के उत्तर में जिनदेव भगवान् महावीर ने आठ वर्ष की अवस्था में जिस व्याकरण का प्रवचन किया था, कालांतर में वही व्याकरण उनके नाम 'जैनेंद्रव्याकरण' से प्रचलित हुआ। किन्तु डॉ० कीलहार्न के इस दृष्टिकोण के मूल में संभवतः व्याकरण का कोई जाली ग्रंथ था। जिनसेन का व्याकरण अपना अलग ही स्थान रखता है। हेमचंद ने उसको ही 'ऐंद्र' नाम दिया है, 'ऋक्तंत्र' भी जिसका समर्थन करता है। जिनदेव के वास्तविक ग्रंथ का नाम 'ऐंद्र' ही था, और पीछे चलकर उसको 'जैनेंद्र' नाम दिया गया। भारतीय, चीनी और तिब्बतीय साहित्य में बिखरे हुए ऐंद्रव्याकरणविषयक सूचनाओं को समेट कर डा० एस० पी० वर्नेल ने 'ऑन दि ऐंद्र स्कूल ऑफ संस्कृत ग्रामेरियन्स' नाम से एक उत्तम पुस्तक का निर्माण किया है।

विमलसूरि और रविषेण

इन दोनों विद्वानों की समकक्षता भी उनके कृतित्व के कारण ही है। विमलसूरि के ग्रन्थ का नाम 'पउमचरिय' और रविषेण के ग्रन्थ का नाम 'पद्मचरित' है। पहिले ग्रन्थ की रचना महावीर के निर्वाण-संवत् ५३० (६० वि०) में और दूसरे ग्रंथ की रचना म० नि० सं० १२०३ (७३३ वि०) के लगभग मानी जाती है। विमलसूरि द्वारा पुष्पिका में अपने ग्रन्थ का रचनाकाल दिए जाने के बावजूद भी डॉ० एच० जैकोबी ने उसको चौथी श० ई० में रखा।; और इसी प्रकार डॉ० कीथ तथा डॉ० वुलनर ने भी उसका रचनाकाल तीसरी या चौथी शताब्दी स्वीकार किया। किन्तु बाद में इस भूल का परिष्कार डॉ० विंटरनित्स, डॉ० लायमन और श्री प्रेमीजी ने किया।

जिस प्रकार 'पउमचरिय' प्राकृत जैन-कथा-साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है, इसी प्रकार 'पद्मचरित' भी संस्कृत के जैन-कथा-साहित्य का पहिला ग्रंथ है। 'पद्मचरित' या 'पद्मपुराण' का हिन्दी अनुवाद उत्तर भारत के प्रत्येक जैन परिवार में प्रचलित है, किन्तु उसके प्राकृत संस्करण का कोई प्रामाणिक सुगम अनुवाद न होने के कारण उसका उतना प्रचलन नहीं है। संस्कृत 'पद्मचरित' प्राकृत 'पउमचरिय' का छायानुवाद होते हुए भी दोनों ग्रन्थों के कलेवर में पर्याप्त न्यूनाधिक्य है।

धनंजय

महाकवि धनंजय के संबंध में केवल इतना ज्ञात होता है कि उनकी माता का नाम श्रीदेवी, पिता का नाम वसुदेव और गुरु का नाम दशरथ था। इनका स्थितिकाल विक्रम की आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लेकर नवम शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक निश्चित किया गया है।

इनके महाकाव्य ग्रन्थ का नाम 'राघवपाण्डवीय' है। द्विसंधान पद्धति पर लिखा हुआ यह संभवतः पहिला महाकाव्य है। दूसरा नेमिचन्द की 'पदकौमुदी', कवि देवर की 'राघवपाण्डवीयप्रकाशिका' और बदरीनाथकृत 'संक्षिप्त टिप्पण' तीन टीकाएँ हैं। धनंजय के दो ग्रन्थ और उपलब्ध हैं: 'धनंजयनिघंटु' या 'नाममाला' और 'विषापहारस्तोत्र'।

जिनसेन

जिनसेन पुन्नाट संप्रदाय की आचार्य-परंपरा में से हुए। पुन्नाट, कर्नाटक का ही पुराना नाम है, जिसको हरिषेण ने दक्षिणापथ नाम दिया है। ये जिनसेन आदि पुराण के कर्ता, श्रावकधर्म के अनुयायी एवं पंचस्तूपान्वय के जिनसेन से भिन्न थे। ये कीर्तिषेण के शिष्य और जिनसेन के प्रशिष्य थे।

जिनसेन का 'हरिवंश' इतिहासप्रधान चरितकाव्य श्रेणी का ग्रंथ है। इस ग्रन्थ की रचना वर्धमानपुर (धार) में हुई थी। इसका रचनाकाल लगभग नवम शताब्दी विक्रमी के मध्य में बैठता है। दिगम्बरीय संप्रदाय के संस्कृत कथा-ग्रंथों में इसका तीसरा स्थान है। पहिला रविषेण का 'पद्मचरित', दूसरा जटासिंह का 'वारांगचरित' और तीसरा 'पद्मपुराण' (हरिवंश पुराण)।

हरिषेण

पुन्नाट संघ के अनुयायियों में एक दूसरे आचार्य हरिषेण हुए। इनकी गुरु-परंपरा : मौनीं भट्टारक-श्रीहरिषेण-भरतसेन-हरिषेण, इस प्रकार बैठती है। अपने 'कथाकोश' की रचना इन्होंने वर्धमानपुर या बद्वाण (धार) में विनायकपाल राजा के राज्यकाल में की थी। विनायकपाल प्रतिहारवंश का राजा था, जिसकी राजधानी कन्नौज थी। इसका एक ९८८ वि० का दान-पत्र मिला है। इसके एक वर्ष बाद अर्थात् ९८९ वि० (८५३ श० सं०) में 'कथाकोश' की रचना हुई। हरिषेण का 'कथाकोश' साढ़े बारह हजार श्लोक परिमाण का बृहद् ग्रन्थ है।

मल्लवादि

मल्लवादि श्वेताम्बर संप्रदाय के विख्यात तार्किक हुए। इन्होंने 'नयचक्र' नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसका अपर नाम 'द्वादशार नयचक्र' था। ये विक्रम की आठवीं शताब्दी से भी पहिले हुए, क्योंकि विक्रम की आठवीं शताब्दी में उपाध्याय यशोविजय ने मल्लवादि के उक्त ग्रन्थ का पुनरुद्धार किया था, यद्यपि वह भी संप्रति उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ को, मुनि जम्बूविजय ने पुनः संकलित कर उसकी एक सिंहक्षमाश्रमण-कृत टीका के साथ प्रकाशित कर दिया है।

पुष्पदंत

पुष्पदंत की गणना अपभ्रंश भाषा के सिद्धहस्त कवियों में की जाती है। उनकी कविता में भाव और शिल्प दोनों का समन्वय है। उनकी कविताएँ गेयात्मक भी हैं। उनके 'नागकुमारचरित' की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम केशवभट्ट और उनकी माता का नाम मुग्धादेवी था। उनके पिता शैव से जैन हुए। 'सिद्धांतशेखर' नामक ज्योतिषग्रन्थ के रचयिता श्रीपतिभट्ट के पितामह और पुष्पदंत के पिता को प्रेमी जी ने एक ही व्यक्ति माना है। इस दृष्टि से श्रीपतिभट्ट, पुष्पदंत के भतीजे सिद्ध होते हैं और इसी आधार पर पुष्पदंत को बरारनिवासी तथा विदर्भ (बरार) की भाषा व्राचट अपभ्रंश का कवि माना है।

पुष्पदंत का एक नाम 'खंड' भी था। 'महिम्नस्तोत्र' के कर्ता पुष्पदंत से जैन कवि पुष्पदंत भिन्न एवं पूर्ववर्ती थे। उनका स्थितिकाल ७५९ श० सं० (८९४ वि०) के बाद और श० सं० ९०९ (१०४४ वि०) के बीच था। उनके रचे तीन ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं : 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु' (त्रिषष्टिमहापुरुषगुणालंकार),'णायकुमारचरिउ' (नागकुमारचरित) और 'असहरचरिउ' (यशोधरचरित)। तीनों प्रकाशित हैं।

तीन धनपाल

पहिला धनपाल अपभ्रंश भाषा का प्राचीन कवि था। उसका एक ग्रन्थ उपलब्ध है जिसका नाम है 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा)। विद्वानों की दृष्टि से इस ग्रन्थ में अपभ्रंश का वह रूप दर्शित है, जो बोलचाल के रूप में था। इस धनपाल को ईसा की दसवीं शताब्दी का कवि माना गया है।

ये धनपाल दिगम्बर संप्रदाय के विद्वान् थे। इनके उक्त ग्रंथ के आरंभिक अंश को देखकर पता चलता है कि धक्कड़ नामक वणिक्वंश में उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम मायेसर और माता का नाम धनश्री था।

दूसरे धनपाल फर्रुखाबाद जिले के सांकाश्य नामक स्थान में पैदा हुए थे। काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण देवर्षि उनके पितामह और सर्वदेव उनके पिता

थे। वाक्पतिराज मुञ्ज की विद्वत्सभा के ये प्रमुख रत्न थे और मुंज द्वारा ही इन्हें 'सरस्वती' की उपाधि मिली थी। संस्कृत और प्राकृत, दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। ये श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुयायी थे और इस संप्रदाय में इन्हें इनके भाई ने दीक्षित किया था। मुंज के सभासद होने के कारण इनका स्थितिकाल ११वीं श० में निश्चित है।

इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनके नाम हैं: 'पाइअलच्छी नाममाला' (प्राकृत कोश) 'तिलकमंजरी' और अपने छोटे भाई शोभनमुनिकृत स्तोत्रग्रंथ पर एक संस्कृत टीका। इनके अतिरिक्त 'ऋषभपंचाशिका' (प्राकृत), 'महावीरस्तुति', 'सत्यपुरीय' और 'महावीर-उत्साह' (अपभ्रंश) भी इनकी कृतियाँ हैं।

तीसरे धनपाल का परिचय उन्हीं के ग्रन्थ के अंत में दिया गया है, जिसका निष्कर्ष है कि वे अणहिल्लपुर के पल्लीवाल कुल में पैदा हुए थे। उस कुल में एक बहुशास्त्रज्ञ एवं 'नेमिचरित' महाकाव्य के रचयिता रामन नामक कवि हुए। उनके चार पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े लड़के अनन्तपाल ने 'पारीगणित' की रचना की; दूसरे धनपाल, तीसरे रत्नपाल और चौथे गुणपाल हुए। धनपाल दिगम्बर थे।

धनपाल के ग्रन्थ का नाम 'तिलकमंजरीकथासार' है, जिसमें १२०० से अधिक श्लोक हैं। यह ग्रन्थ धनपाल की गद्यकृति पर आधारित है; फिर भी उसके कलेवर को देखकर उसकी मौलिकता असंदिग्ध है।

पद्मनंदि

आचार्य पद्मनंदि ने अपने संबंध में प्रायः कुछ नहीं कहा है। उनके गुरु बलनंदि और प्रगुरु वीरनंदि हुए। विजयगुरु और नंदगुरु के निकट रहकर ही उन्होंने अध्ययन किया। अपना ग्रन्थ 'जम्बूदीवपण्णत्ति' (जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति) उन्होंने बारनगर में लिखा। उस समय वहाँ शक्ति या शक्तिकुमार राज्य करता था। नंदिसंघ की पट्टावली के अनुसार बारा में भट्टारकों की एक गद्दी थी। ये भट्टारक पद्मनंदि या माघनंदि की परम्परा में हुए। राजस्थान के कोटाराज्य में जो बारा नामक कसबा था, वही बारानगर कहा जाता था।

पद्मनंदि ने अपने ग्रन्थ की रचना 'तिलकोसार' (१०५० वि०) के पश्चात बारानगर के तत्कालीन राजा शक्तिकुमार के समय ग्यारहवीं श० वि० के अंत में की थी।

दिगम्बर संप्रदाय के करणानुयोग विषय के प्राचीनतम ग्रन्थों 'लोकविभाग' और 'तिलोपपण्णत्ति' का उल्लेख किया जा चुका है। माथुर संघ के विद्वान् अमितगति ने भी 'जम्बूदीपप्रज्ञप्ति' नाम से एक ग्रंथ लिखा था, जो उपलब्ध नहीं है। पद्मनंदि का 'जम्बूदीवपण्णति' दिगम्बर संप्रदाय का गाथाबद्ध ग्रन्थ है। इसकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है।

चामुण्डाराय

चामुण्डाराय महामात्य, सेनापति और विद्वान्, सब एक साथ थे। दाक्षिणात्य गंगवंश के राजा राचमल्ल (८९६–९०६ श० सं०; १०३१–१०४१ वि०) के वे सेनापति एवं महामात्य थे। 'गोम्मट' तथा 'अण्ण' उनके घरेलू नाम और देव तथा राय साहित्यिक नाम थे। वे ब्रह्म-क्षत्रिय-वैश्य कुल में हुए। इस विचित्र वंश का इतिहास अज्ञात है।

चामुण्डराय ने नन्दगिरी के ऊपर गोम्मटजिन तथा दक्षिण-कुक्कुटजिन की दो मूर्तियाँ स्थापित की थीं और इस कारण उनका नाम वर्षों तक बना रहा। उनका स्थितिकाल ग्यारहवीं श० वि० का पूर्वार्द्ध था।

चामुण्डाराय ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें से कुछ का केवल नाम ही जाना जाता है। उनके ग्रन्थों के नाम हैं : 'त्रिषष्टिलक्षण महापुराण' (चामुण्डारायपुराण), 'वीरमत्तण्डी-टीका', (गोम्मटसार पर) और 'चरित्रसार'।

श्रीचंद्र और प्रभाचंद्र

ये दोनों ग्रन्थकार समकालीन, एकस्थानीय और पुष्पदंत के अपभ्रंश ग्रन्थ 'महापुराण' के टिप्पण-लेखक होने के कारण पहिले एक ही व्यक्ति माने गए थे। किन्तु प्रेमी जी ने प्रामाणिक खोजों के आधार पर दोनों को अलग-अलग व्यक्ति सिद्ध किया है।

श्रीचन्द्र बलात्कारगण के श्रीनन्दि नामक सत्कवि के शिष्य और धारानगरी के निवासी थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना १०८०–१०८७ वि०

सं० के बीच की। उन्होंने रविषेण के 'पद्मचरित' पर टिप्पण, 'पुराणसार' और पुष्पदंत के 'महापुराण' पर टिप्पण आदि ग्रन्थ लिखे।

प्रभाचन्द्र अद्भुत प्रतिभा के विद्वान् हुए। वे परमारवंशीय राजा भोजदेव के उत्तराधिकारी धारानरेश जयसिंहदेव के समय हुए। श्रीचन्द्र भी इसी समय हुए। दोनों का स्थितिकाल ग्यारहवीं श० के उत्तरार्ध में बैठता है।

प्रभाचन्द्र ने कई ग्रन्थ लिखे हैं : 'महापुराण-टिप्पण', 'रत्नकरण्ड-टीका', 'क्रियाकलाप-टीका', 'समाधितंत्र-टीका', 'आत्मानुशासन-तिलक', 'द्रव्यसंग्रह-पंजिका', 'प्रवचन-सरोज-भास्कर', 'सर्वार्थसिद्ध-टिप्पण' (तत्त्वार्थवृत्तिपद-विवरण) आदि उनके टीकाग्रन्थ हैं। 'आराधनाकथाकोश' उनका गद्यग्रन्थ है। 'प्रमेयकल्प-मार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचंद्र' नामक न्यायविषयक ग्रंथों के रचयिता भी यही थे। उनके नाम से 'अष्टपाहुड़-पंजिका', 'पंचास्तिकाय-टीका', 'मूलचार-टीका', और 'आराधना-टीका' आदि ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है, जो उपलब्ध नहीं हैं।

हरिचन्द्र

हरिचन्द्र कायस्थ-कुल में पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम आर्द्रदेव और माता का नाम रथ्यादेवी था। ये किसी राजकुल से सम्बद्ध थे। अपने भाई लक्ष्मण की कृपा से हरिचन्द्र उसी प्रकार निर्व्याकुल होकर शास्त्र-समुद्र से पार हो गया, जैसे लक्ष्मण की सहायता से राम सेतु-पार हुए थे। उनका स्थितिकाल ११वीं शताब्दी के लगभग था।

गद्यकार बाण ने जिस भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है, उससे जैन हरिचन्द्र पृथक् हुआ। विद्वानों का कहना है कि वे भट्टार हरिचन्द्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के सम्बन्धी, 'चरक' के टीकाकार और 'खरनाद-संहिता' के कर्ता थे। लेकिन जैन हरिचन्द्र के जीवन में कोई भी ऐसी घटना नहीं दिखाई देती है। जैन कवि हरिचन्द्र ने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक महाकाव्य लिखा। इस ग्रन्थ पर ललितकीर्ति के शिष्य के शिष्य यशःकीर्ति की एक संस्कृत टीका 'संदेहध्वांतदीपिका' भी मिलती है।

'जीवनधरचंपू' नामक एक ग्रन्थ हरिचन्द्र के नाम से प्रकाशित हुआ है; जिसमें 'धर्मशर्माभ्युदय' के भाव और शब्द ज्यों-के-त्यों हैं; किन्तु इस ग्रंथ

को विद्वान् हरिचन्द्र के नाम से किसी अज्ञातनाम दूसरे कवि का लिखा हुआ बतलाते हैं। 'धर्मशर्माभ्युदय' के कर्ता का नाम हरिश्चन्द्र न होकर हरिचन्द्र था।

मल्लिषेण

आचार्य मल्लिषेण संस्कृत और प्राकृत के उभयभाषाविद् विद्वान् थे। उनके संबंध में कहा गया है कि संस्कृत या प्राकृत का कोई भी ऐसा कवि नहीं था, जिसको उन्होंने अपने कवित्व की चुनौती न दी हो। वे अजितसेन की शिष्यपरम्परा में हुए। उस परम्परा का क्रम था: अजितसेन-कनकसेन-जिनसेन और मल्लिषेण। मल्लिषेण ने अपने ग्रन्थ 'महापुराण' की समाप्ति ज्येष्ठ सुदी ५, श० सं० ९६९ (११०४ वि०) में की थी। अतः इनका स्थितिकाल ग्यारहवीं श० वि० के उत्तरार्ध में होना चाहिए।

इनके छह ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जो संस्कृत में हैं: 'महापुराण', 'नागकुमारकाव्य', 'भैरवपद्मावतीकल्प', 'सरस्वतीमंत्र-कल्प', 'ज्वालिनीकल्प' और 'कामचाण्डाली-कल्प'। इनके अतिरिक्त भी कुछ ग्रन्थ मिलते हैं; किन्तु उनके संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि वे इन्हीं मल्लिषेण के हैं।

वादीभसिंह

वादीभसिंह इनकी ख्यात थी, जिसका अर्थ है वादिरूपी हाथियों के लिए सिंह के समान। यह पदवी कई विद्वानों की थी। 'मल्लिषेणप्रशस्ति' और जिनसेन के 'आदिपुराण' में भी अनेक 'वादीभसिंह' उपाधिधारी विद्वानों का उल्लेख मिलता है। उनका वास्तविक नाम ओडयदेव था। सन् १९१६ में स्वर्गीय पं० टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने 'मल्लिषेणप्रशस्ति' के लेखक अजितसेन और 'गद्यचिंतामणि' के लेखक वादीभसिंह को एक ही व्यक्ति बताया था। उनके बाद के भुजबली शास्त्री ने भी उनका प्रबल समर्थन किया। किन्तु श्री नाथूराम प्रेमी ने अपने ग्रंथ में बताया है कि ओडयदेव और अजितसेन में 'वादीभसिंह' पद की समानता होने के अतिरिक्त कोई भी सबल प्रमाण दोनों व्यक्तियों के एक होने के संबन्ध में नहीं मिलते हैं। ओडयदेव वादीभसिंह दाक्षिणात्य थे; संभवतः तेलगु प्रांत के गंजाम

इन्हीं पांड्यराजा के ये आश्रित कवि थे। इनका स्थितिकाल १३४७ वि० (१२९० ई०) निश्चित किया गया है।

इनके लिखे चार नाटक उपलब्ध हैं, जो माणिकचंद्र जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित हो चुके हैं। उनके नाम हैं : 'विक्रांत कौरव', 'मैथिलीकल्याण', 'अंजनापवनंजय' और 'सुभद्रा'। इनके अतिरिक्त 'उदयनराज', 'भरतराज', 'अर्जुनराज' और 'मेघेश्वर' नामक चार नाटकों का रचनाकार भी इन्हें ही माना जाता है, जिनमें 'अर्जुनचरित' का नाम ही 'सुभद्रा' है। ये चारों नाटक आफ्रेक्ट के सूचीग्रन्थ में, दक्षिण भारत की ग्रन्थसूचियों के आधार पर लिखे गए हैं। इनके नाम से 'प्रतिष्ठातिलक' और कन्नडी भाषा के दो ग्रन्थ 'आदिपुराण' (पुरुषचरित) तथा 'श्रीपुराण' भी उपलब्ध हैं।

श्रुतसागर

श्रुतसागर बहुश्रुत और बहुशास्त्रज्ञ विद्वान् हुए। उनकी अनेक उपाधियाँ उनकी विद्वत्ता का परिचय देती हैं। उनकी गुरुपरंपरा इस प्रकार है : पद्मनंदि-देवेंद्रकीर्ति-विद्यानंदि-श्रुतसागर। श्रुतसागर के शिष्य श्रीचंद्र हुए, जिनकी लिखी 'वैराग्यमणिमाला' उपलब्ध है। श्रुतसागर का स्थितिकाल १६ श० वि० था।

श्रुतसागर के प्रमुख ग्रन्थों के नाम हैं : 'यशस्तिलक चंद्रिका', 'तत्त्वार्थवृत्ति', 'औदार्यचिंतामणि', 'तत्त्वमयप्रकाशिका', 'जिनसहस्रनामटीका', 'महाभिषेकटीका' और 'षट्प्राकृतटीका'।

जिनचंद्र

जिनचंद्र नाम के अनेक विद्वानों का परिचय मिलता है। एक जिनचन्द्र 'पांडवपुराण' के कर्ता, एक जिनचन्द्र 'सुखबोधिका' के टीकाकार हुए, किन्तु ये जिनचन्द्र उनसे भिन्न थे। इन्होंने ७९ गाथाओं का एक 'सिद्धांतसार' ग्रंथ लिखा था, जो कि माणिकचन्द ग्रन्थमाला में पूरा प्रकाशित हो चुका है।

ज्ञानभूषण

मूलसंघान्वयी भट्टारक ज्ञानभूषण की गुरु-परम्परा का क्रम है : पद्मनंदि-

सकलकीर्ति-भुवनकीर्ति और ज्ञानभूषण। इसी परम्परा में आगे विजयकीर्ति-शुभचन्द्र-सुमतिकीर्ति-गुणकीर्ति-वादिभूषण-रामकीर्ति और यशकीर्ति हुए। इसी क्रम से इन्हें गद्दी का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। ज्ञानभूषण गुजरात के निवासी और सागबाड़े (बागड़) की गद्दी के भट्टारक थे। अनेक राजाओं ने उनके चरण पूजे और अनेक तीर्थस्थानों का उन्होंने पर्यटन किया। व्याकरण, छंद, अलंकार, तर्क, आगम और अध्यात्म आदि कई विषयों के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। ज्ञानभूषण १५३४-१५५६ वि० तक भट्टारक पद पर बने रहे और इस पद को छोड़ने के बाद भी बहुत समय तक जीवित रहे। १५६० वि० में उन्होंने 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' लिखी।

उनके दो ग्रन्थ : 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' और 'सिद्धांतसारभाष्य' प्रकाशित हो चुके हैं। 'परमार्थोपदेश' नामक एक तीसरा ग्रन्थ भी उनका उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त 'नेमिनिर्वाणपंजिका', 'पंचास्तिकायटीका', 'दशलक्षणोद्यापन', 'आदीश्वरफाग', 'भक्तामरोद्यापन' और 'सरस्वतीपूजा' नामक ग्रन्थ भी ज्ञानभूषण के नाम से मिले हैं; किन्तु उनमें से कितने ग्रन्थ इनके हैं, यह विचारणीय है।

शुभचंद्र

ज्ञानभूषण की शिष्य-परंपरा में शुभचन्द्र का उल्लेख किया जा चुका है। ये भी अपने प्रगुरु की भाँति अद्भुत विचारक, विख्यात विद्वान्, प्रबल तार्किक, अनेक धर्मों के ज्ञाता, पर्यटक और अनेक राजाओं द्वारा पूजित थे। अपना 'पाण्डवपुराण' उन्होंने १६०८ वि० में, 'करकुण्डचरित' १६११ वि० में और 'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-टीका' १६१३ वि० में समाप्त किया। अतः उनका स्थितिकाल १५वीं श० वि० के उत्तरार्ध और १६वीं श० वि० के पूर्वार्ध में होना चाहिए।

उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। 'पुराणचरित' की प्रशस्ति में उनके लिखे हुए लगभग २५-२६ ग्रंथों का उल्लेख है, जिनकी नामावली इस प्रकार है : 'चन्द्रप्रभचरित', 'पद्मनाभचरित', 'जीवनधरचरित', 'चन्दनाकथा', 'नंदीश्वरकथा', 'नित्यमहोद्योत-टीका', 'त्रिशच्चतुर्विंशति-पूजापाठ', 'सिद्धचक्रव्रतपूजा', 'सरस्वती-पूजा', 'चिंतामणियंत्रपूजा', 'कर्मदहनविधान', 'गणधवलयपूजा', 'पार्श्वनाथपंजिका',

'पल्यव्रतोद्यापन', 'चतुस्त्रिंशदधिकद्वादशशतोद्यापन' (१२३४ व्रतों का उद्यापन), 'संशयिवदनविदारण' (श्वेताम्बरमतखण्डन), 'अपशब्दखण्डन', 'तत्त्वनिर्णय', 'स्वरूपसंबोधनवृत्ति', 'अध्यात्मपद्यटीका', 'सर्वतोभद्र', 'चिंतामणि' (प्राकृत व्याकरण),'अंगपण्णत्ति' (प्राकृत), 'अनेकस्तोत्र', 'षड्वाद' और 'पाण्डवपुराण'।

वादिचंद्र

ये मूलसंघ के अनुयायी भट्टारक थे। गुजरात में कहीं इनकी गद्दी थी। इनकी गुरु-परंपरा इस प्रकार है : विद्यानन्दि-मल्लिभूषण-लक्ष्मीचन्द्र-वीरचन्द्र-प्रभाचन्द्र और वादिचन्द्र। कमलसागर और कीर्तिसागर संभवतः इन्हीं के शिष्य थे। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और गुजराती, चारों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। इनके 'ज्ञानसूर्योदय' (१६४८ वि०), 'श्रीपाल-आख्यान' (१६५१ वि०), 'यशोधरचरित' (१६५७ वि०) और 'सुलोचना-चरित' (१६६१ वि०) आदि ग्रन्थों के रचनाकाल से विदित होता है कि ये १७ वीं श० वि० के मध्य में हुए।

इनके रचे हुए उपलब्ध-ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है : 'पार्श्वपुराण' (संस्कृत का कथाकाव्य), 'ज्ञानसूर्योदय' (संस्कृत का नाटक), 'पवनदूत' (मेघदूत की शैली पर लिखा हुआ दूतकाव्य), 'श्रीपाल-आख्यान' (गीतिकाव्य : गुजराती-मिश्रित हिन्दी) और 'सुलोचनाचरित' (संस्कृत का काव्य)। इनके अतिरिक्त 'पाण्डवपुराण', 'होलिकाचरित', 'अम्बिकाकथा' और दूसरे भी अनेक गुजराती में लिखे हुए ग्रंथ इनके मिले हैं।

श्रीभूषण

सोजित्रा (गुजरात) में काष्ठासंघ के अंतिम भट्टारक राजकीर्ति से १९०१ ई० में श्री प्रेमीजी ने श्रीभूषणकृत 'प्रतिबोधचिंतामणि' नामक एक संस्कृत की पुस्तक को प्राप्त किया था, जिसके आधार पर उन्होंने श्रीभूषण के संबंध में नया प्रकाश डाला।

तदनुसार श्रीभूषण काष्ठासंघ के भट्टारक थे। उनकी गुरु-परम्परा का क्रम : रामसेन-नेमिषेण-धर्मसेन-विमलसेन-विशालकीर्ति-विश्वसेन-विद्याभूषण और श्रीभूषण, इस प्रकार था। श्रीभूषण के उत्तराधिकारी चंद्रकीर्ति हुए,

जिन्होंने 'पार्श्वपुराण' (१६५४ वि० में दौलताबाद में रचित) और 'वृषभदेवपुराण' दो ग्रन्थ लिखे। अपने गुरु श्रीभूषण की इन्होंने बड़ी प्रशंसा की है।

श्रीभूषण ने स्वयं को 'षड्भाषाकविचक्रवर्ती' और 'षड्दर्शनतर्क-चक्रवर्ती' आदि विशेषणों से प्रकट किया है। इनके ग्रंथों का रचनाकाल १६५९-१६७५ वि० के बीच बैठता है, जिससे १७वीं श० वि० के मध्यभाग में इनका स्थितिकाल ज्ञात होता है।

इनके उपलब्ध तीन ग्रन्थों के नाम हैं : 'शांतिनाथपुराण', 'पाण्डवपुराण' और 'हरिवंशपुराण'। इनके 'प्रतिबोधचिंतामणि' का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'अनन्तव्रतपूजा', 'ज्येष्ठजिनवरव्रतोद्यापन'; और 'चतुर्विंशतिपूजा' आदि छोटे-छोटे ग्रंथ भी इन्होंने लिखे।

पद्मसुन्दर

पद्मसुन्दर नागौरी तापगच्छ, श्वेताम्बर संप्रदाय के प्रकाण्ड विद्वान् हुए। उनके गुरु का नाम पद्मसेन तथा प्रगुरु का नाम आनन्दसेन था। अकबरी दरबार के ३३ हिन्दू सभासदों में उन्हें प्रमुख स्थान प्राप्त था। दरबार के किसी बड़े विद्वान् को शास्त्रार्थ में परास्त करने के उपलक्ष्य में दरबार की ओर से उन्हें पुरस्कृत किया गया था। जोधपुर के हिन्दू नरेश मालवदेव द्वारा भी वे सम्मानित हुए थे।

श्वेताम्बर संप्रदाय के विद्वान् हीरविजय की जब अकबर से मुलाकात हुई थी (१६३९ वि० में) तब पद्मसुन्दर का देहावसान हो चुका था। उनके ग्रंथों का रचनाकाल १६३२ वि० से पूर्व का है। अतः कुछ वर्ष बाद ही उनका देहांत हो गया था।

उन्होंने 'भविष्यदत्तचरित', 'रायमल्लाभ्युदय', 'पार्श्वनाथकाव्य', 'प्रमाणसुन्दर', 'सुंदरप्रकाशशब्दार्णव' (कोश), 'शृंगारदर्पण', 'जम्बूचरित' (प्राकृत) और 'हायन सुन्दर' (ज्योतिष) आदि ग्रंथों के अतिरिक्त छोटे-छोटे भी अनेक ग्रन्थ लिखे थे।

जैन-साहित्य के बृहद् इतिहास की आवश्यकता

जैन-साहित्य के संबंध में जो सामग्री दी गई है, वह उसके सर्वांगीण अध्ययन के लिए यथेष्ट नहीं है। भारत के हर हिस्से में बृहद् जैन-भंडारों को देखकर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि अब तक जैन-साहित्य के संबंध में जितना भी लिखा गया है, उससे कहीं अधिक लिखी जाने योग्य पुष्कल सामग्री अछूती पड़ी हुई है।

किन्तु जैन-साहित्य के क्षेत्र में आज कुछ विद्वानों द्वारा जो कार्य हो रहा है, दूसरे क्षेत्रीय साहित्य की अपेक्षा वह बढ़कर है। आज भी ऐसे जैनाचार्यों या जैन-साहित्य के विद्वानों की कमी नहीं है, जो सहस्रों की निधि व्यय करके जैन-भंडारों का पुनरुद्धार एवं उनकी रक्षा कर रहे हैं। फिर भी कार्य इतना व्यापक है कि कुछ व्यक्तियों के बूते पर वह पूरा नहीं हो पा रहा है।

आज जैन-साहित्य के एक ऐसे बृहद् इतिहास की आवश्यकता है, जिसमें कुछ वर्गों या विचारों के विभाजन के आधार पर उसका क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके। स्फुट रूप से जैन-साहित्य पर बहुत सामग्री प्रकाश में आ चुकी है; किन्तु उसकी क्रमबद्ध व्यवस्थिति का अभाव अब भी बना हुआ है। जैन-साहित्य का ऐसा प्रतिनिधि-इतिहास-ग्रंथ न होने के कारण संस्कृत-साहित्य की बहुत-सी उन्नत दिशाएँ आज भी धुँधली हैं।

इसलिए जैन और संस्कृत, दोनों के साहित्य के लिए इस प्रकार के इतिहास-ग्रन्थ की आज कितनी आवश्यकता है, यह अविदित नहीं है।

बौद्धयुग

धर्म : दर्शन : साहित्य

बौद्धधर्म : प्राचीन भारत का राजधर्म

भगवान् तथागत के जीवन-दर्शन के दो प्रमुख आधार रहे : एक व्यष्टिमय और दूसरा समष्टिमय। उनका व्यष्टिमय जीवन नितांत एकाकी, समाधिस्थ योगी जैसा अन्तर्मुखीन रहा है। उनके इस जीवनपक्ष के परिचायक थेरवाद, बौद्धधर्म एवं प्रियदर्शी अशोक की धर्मलिपियाँ हैं, जिनके अनुसार बौद्ध असाधारण लक्षणों एवं विभूतियों से युक्त होते हुए भी मनुष्य थे, देवता नहीं। बुद्ध के जीवन का दूसरा समष्टिमय पक्ष 'बहुजनहिताय' पर आधारित था। उसमें प्राणिमात्र की कल्याण-कामना और प्राणिमात्र की दुःखनिवृत्ति की भावना विद्यमान थी। इस दूसरी भावना में विश्वसेवा के उच्चादर्श समन्वित थे, जिनको क्रियारूप में उतारने का कार्य किया मौर्यों के बाद कुषाणवंश और गुप्तवंश ने। बुद्ध के जीवन-दर्शन के इन दोनों पक्षों में पहिली परम्परा का विकास श्रीलंका, वर्मा एवं थाई देश में और दूसरी परम्परा का अनुवर्तन नेपाल, तिब्बत, कोरिया, चीन तथा जापान आदि देशों में हुआ।

प्राचीन भारत के राजवंशों में मौर्य-साम्राज्य का प्रतापी सम्राट् अशोक बौद्धधर्म का सबसे बड़ा अनुयायी एवं आश्रयदाता रहा है। उसके १३वें अभिलेख से ज्ञात होता है कि कलिंग-विजय की रक्तिम क्रीड़ा ने उसकी राज्यविजयलिप्सा को धर्मविजय के रूप में परिवर्तित कर दिया था। बौद्धधर्म के संस्पर्श से ही वह सम्राट् से प्रियदर्शी बन गया। उसने बौद्धधर्म के प्रचारार्थ अपने राज्य में धर्मप्रचारक भेजे। स्थान-स्थान पर तथागत की कल्याणमयी वाणी को उत्कीर्णित कराके अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचाया। उसने वृक्ष लगवाये, कूप खुदवाये और चिकित्सालय बनवाये; निष्कर्ष यह कि अपना सारा

जीवन और अपने साम्राज्य की सारी शक्ति उसने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार एवं उसके उच्चादर्शों को चमकाने में लगा दी।

यही नहीं, इस लोकहितकारी संदेश को उसने धरती भर में फैला देने का महान् कार्य भी किया। मनुष्य-मनुष्य के कानों तक इस शुभ संवाद को पहुँचा सकने में वह जो कुछ कर सकता था, उसने किया। उसके उत्तरकालीन राजवंशों ने भी इस प्रचार कार्य में भरपूर योगदान दिया। कुषाणराज्य के संस्थापक कनिष्क ने और उसके बाद उदारनीतिक गुप्त राजाओं ने, अशोक द्वारा प्रवर्तित इस धर्म-प्रचार कार्य को मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, वर्मा, थाइलैंड और कंबोडिया आदि दूर देशों में प्रचारित-प्रसारित करवाया। इन देशों में बौद्धधर्म की जो अटूट परम्परा सहस्राब्दियों बाद आज भी बनी हुई देखने को मिलती है, उसको पहुँचाने वाले भारत के यही प्राचीन राजवंश थे।

प्राचीन भारत के उक्त राज्यवंशों द्वारा और विशेषतया अशोक द्वारा धर्म-प्रचारार्थ जिन भिक्षुओं को जिन-जिन स्थानों में भेजा गया था, उसका विवरण इस प्रकार है :

१ स्थविर माध्यंतिक (मज्झितिक) — काश्मीर, गांधार
२ स्थविर महादेव — महिषमंडल (नर्मदा के दक्षिण)
३ स्थविर रक्षित (रक्खित) वनवासी प्रदेश (वर्तमान उत्तरी कनारा)
४ यूनानी भिक्षु धर्मरक्षित (योनक धम्मरक्खित) अपरांतक प्रदेश (वर्तमान गुजरात)
५ स्थविर महाधर्मरक्षित (महाधम्मरक्खित) — महाराष्ट्र
६ स्थविर महारक्षित (महारक्खित) — यवनदेश (बैक्ट्रिया)
७ स्थविर मध्यम (मज्झिम) — हिमालय प्रदेश
८ स्थविर शोण एवं उत्तर (दोनों भाई) — सुवर्णभूमि (बरमा)
९ महेंद्र (महिंद), उत्त्रिय (उत्तिय), शंबल (संबल), भद्रसाल (भद्दसाल) — ताम्रपर्णी (लंका)

कनिष्क के ही युग में भारतीय-यूनानी कला का निर्माण हुआ, बौद्धधर्म के इतिहास में जिसे नई संभावनाओं का प्रतीक और बौद्ध-कला-शैली

की एक नवीन शाखा कहा गया है। उसकी रचना और विकास कनिष्क के ही युग में हुआ।

स्वयमेव भागवतधर्म के मानने वाले, गुप्तराजाओं ने ब्राह्मणधर्म के समर्थक होते हुए भी, अपने द्वारा बौद्धधर्म की उन्नति और व्याप्ति में जितना कुछ हो सकता था, किया। अन्य धर्मों के अनुयायियों की भाँति बौद्धधर्मानुयायियों तथा बौद्ध-भिक्षुओं के लिए गुप्तकाल में पूरी सुविधाएँ थीं। मथुरा, सारनाथ, नालंदा, अजंता, बाघ और धान्यकूट प्रकृति कलातीर्थों में जो बौद्धयुगीन कृतियाँ पाई गई हैं उनको देखकर सहसा ही यह अनुमान होता है कि उस समय बौद्धकला की कितनी उन्नति हुई। नालंदा-जैसा विश्वव्यापी ख्याति का महान् विद्यासंस्थान गुप्तों की ही देन थी, जिसकी स्थिति छठी से नवीं शती तक उन्नत रूप में बनी रही।

गुप्तयुग के बाद भारत में बौद्धधर्म का सामाजिक पहलू कुछ निर्बल ही नहीं होता गया; बल्कि उसमें अनेक विकृतियाँ घर करती गईं; किन्तु उसका साहित्यिक धरातल तब भी निरन्तर ऊँचाई की ओर अग्रसर था। गुप्तयुग में स्थापित नालंदा महाविहार में, काश्मीर, वाराणसी में स्थापित अनेक विद्याकेन्द्रों में, पश्चिम के वलभी तथा पूर्वी भारत के विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, जगद्दल और विक्रमपुरी आदि के ज्ञानकेंद्रों में बौद्ध-साहित्य का निरन्तर निर्माण होता गया। यह स्थिति नवीं से बारहवीं शताब्दी तक की है। राजनीतिक दृष्टि से इस समय सम्राट् हर्षवर्धन और दक्षिण में पाल राजाओं के शासन का समय था।

बौद्धधर्म का विदेशों में विस्तार

मध्य एशिया

मध्य एशिया में बौद्धधर्म का प्रवेश ईसवी पूर्व में ही हो चुका था। खोतान की एक प्राचीन परम्परा के अनुसार पूर्वी तुर्किस्तान में अशोक के एक पुत्र कुस्तन ने ईसा पूर्व २४० में एक उपनिवेश की स्थापना की थी और उसके पुत्र विजयसंभव ने वहाँ बौद्धधर्म का विस्तार किया। परम्परा के

अनुसार खोतान में पहिला बौद्ध-विहार २११ ई० पूर्व में स्थापित हो चुका था और उक्त भारतीय राजवंश की ५६ पीढ़ियों के समय में वहाँ बौद्धधर्म के लगभग एक हजार केंद्र स्थापित हो चुके थे।

चीन

चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश हान सम्राट् वू-ती के शासनकाल (१४८–८० ई० पूर्व) में हुआ, जिसका प्रमाण 'वाई राजवंश में बौद्धधर्म और ताओवाद का अभिलेख' है। चीन में बौद्धधर्म के प्रवेश की प्रामाणिक ऐतिहासिक तिथि का उल्लेख यू-हुआन द्वारा लिखित (२३९–२६५ ई०) 'वाई लिआओ' नामक इतिहास ग्रन्थ से मिलता है। उसमें लिखा है कि २ ई० में सम्राट् आई-ती ने राजकुमार युएह-ची के दरबार में अपने राजदूत चिंग-चिंग को भेजा। राजकुमार ने सम्राट् का अनुरोध स्वीकार कर अपने अनुचर ई-त्सुन को आज्ञा दी कि वह चिंग-चिंग को 'बुद्धसूत्र' नामक पवित्र ग्रन्थ जबानी पढ़ा दे।

चीन और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थायी परम्परा ६४ ई० से आरंभ होती है, जिसका हवाला सुंग युग (११२७–१२८० ई०) में पुरोहित चिह यांग द्वारा लिखित पुस्तक 'बुद्ध और महास्थविरों की वंशावलियों के अभिलेख' से मिलता है।

भारतीय बौद्ध भिक्षु काश्यप मातंग (किआ-यह-मो-तान) और धर्मरक्ष (चु-फा-लान) के चीन-प्रवेश (६८ ई०) और वहाँ 'बयालीस-परिच्छेदीय सूत्र' आदि ग्रन्थों के भाषान्तर करने के बाद चीन-भारत के सांस्कृतिक मैत्री-संबंधों की ऐतिहासिक परम्परा का उदय हुआ।

दूसरी शताब्दी ईसवी के लगभग पार्थिआ (मध्य एशिया) से आन-शिह-काओ (लोकोत्तम) नामक एक राजकुमार ने राज्य त्याग कर संन्यास धारण किया और चीन आकर लो-यांग में रहने लगा। उसका चीन-प्रवेश-काल हान-वंशीय सम्राट् हुआंग-त्सी के राज्य में (१४८ ई०) हुआ और लो-योग में वह लगभग १७१ ई० (लिंग ती के राज्यकाल तक) २० वर्ष तक रहा। सुप्रसिद्ध बौद्धभिक्षु ताओ-आन का कथन है कि आन-शिह-काओ

ने लगभग दस लाख शब्दों से युक्त तीस ग्रन्थों का चीन में रह कर अनुवाद किया।

लिआंग राजवंश (५०२–५५७ ई०) तक चीन में बौद्धधर्म का विकास किस सीमा तक पहुँच चुका था, इसका अनुमान नीचे लिखे आँकड़ों से लगाया जा सकता है, जिनका संग्रह डॉ० चाउ सिआंग कुआंग ने विभिन्न अभिलेखों को छान कर किया।

वंश	मंदिर-संख्या	भिक्षु-भिक्षुणियों की संख्या
पूर्वी-त्सिगं	१७५६	२४,०००
लिउ-सुंग	१९१३	३६,०००
ची	२०१५	३२,५००
लिआंग	२८४६	८२,७००

चीनी बौद्धधर्म के इतिहास में तांग-वंश (६१८–९०७ ई०) के शासन-काल को स्वर्णयुग कहा जाता है। इस युग में प्रभाकर मित्र, अतिगुप्त, नादि, बुद्धपाल, दिवाकर, देवप्रज्ञा, शुभकरणसिंह, हुआन-त्सांग, ईत्सिग, शिक्षानंद और बोधिरुचि आदि बौद्धभिक्षु भारत से चीन गए और चीन से भारत आए। इन भिक्षुओं ने चीन में रहकर सैकड़ों ग्रन्थों का प्रणयन, संपादन एवं अनुवाद किया।

तांग-राज्यकाल में प्रतिष्ठित त्रिशास्त्र संप्रदाय, धर्मलक्षण संप्रदाय, अवतंसक संप्रदाय, ध्यान संप्रदाय आदि विभिन्न संप्रदाय बौद्ध-साहित्य एवं बौद्ध-धर्म की चरमोन्नति के परिचायक हैं।

चीन के आधुनिक प्रजातंत्र युग तक, जिसकी प्रतिष्ठा १० अक्टूबर, १९११ ई० में हुई, बौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-साहित्य की उन्नति के लिए अनेक कार्य हो रहे हैं। प्रजातंत्र के चौथे वर्ष चीन के गृह-विभाग ने एक विशेष अधिनियम बनाकर बौद्ध मठों का जीर्णोद्धार करवाया। इस युग के प्रमुख भिक्षु ताई-हु और ओउ-यांग-चिंग-वू हुए, जिनके अविरत यत्न से चीन में कई साहित्यिक संस्थाएँ, विद्यापीठ और परिषदें नियुक्त हुईं। उन्होंने स्वयमेव कई ग्रन्थों का निर्माण, अनुवाद, संपादन, पाठशोध और मुद्रण किया।

कोरिया

चीनी बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा लगभग चौथी शताब्दी ईसवी में बौद्धधर्म कोरिया पहुँचा। वांग राजवंश, लगभग ग्यारहवीं शताब्दी तक, वह अपनी चरमोन्नति पर पहुँच चुका था। सातवीं-आठवीं शताब्दी में चीन के संपर्क में आकर जिन कोरियायी विद्वानों, एवं भिक्षुओं ने कोरिया में बौद्ध-धर्म की जड़ें मजबूत कीं उनमें युआन-त्सो, युआन हिआओ और यी सिआङ् प्रमुख थे।

कोरिया के असुकयुग और नरयुग में, लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में प्रतिष्ठित कुश, सानूरोन, जोजित्सु, केगौन, होस्सो और रित्सु आदि धार्मिक पंथ या बौद्ध संस्थाएँ बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास बताती हैं। नवम शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक हीआन और कमकुर युगों में बौद्धधर्म को जनसाधारण का धर्म बनाने के लिए बौद्ध-सिद्धान्तों का राष्ट्रीयकरण हुआ।

तिब्बत

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रवेश लगभग चौथी शताब्दी में हो चुका था; किन्तु उसके ऐतिहासिक क्रम का हवाला हमें लगभग सातवीं शताब्दी के आरंभ (राजा स्नोङ्-वत्सन-स्गम : जन्म ६१७ ई० के बाद) से मिलता है। उसने अपने राज्य के विख्यात विद्वान् थोन-मि-सम्-भो-ट और उसके साथ सोलह बुद्धिमान् मुमुक्षुओं को दक्षिण भारत के विद्यापीठों के भारतीय बौद्ध-साहित्य, शिलालिपियों के ज्ञान, ध्वनिशास्त्र तथा व्याकरण के अध्ययन के लिए भारत भेजा। इन विद्वानों ने उक्त विषयों में पारंगत हो जाने के बाद तिब्बती भाषा के लिए एक लिपि का निर्माण कर उसका व्याकरण स्थिर किया।

तिब्बतीय साहित्य के पिता थोन-मि सम्-भौ-ट ने अकेले तिब्बती लिपि और व्याकरण पर आठ स्वतंत्र ग्रंथ लिखे, अनेक संस्कृत बौद्ध-ग्रंथों को तिब्बती में अनूदित किया और राजकुमार स्नोङ्-वत्सन को बौद्ध-धर्म की उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण परामर्श दिए। तिब्बतीय बौद्ध-धर्म के इतिहास में इस राजकुमार को सम्राट् अशोक जितना संमान दिया गया है। स्नोङ्-वत्सन के

पाँचवें वंशज खी-स्नोङ्-ल्दे-वत्सन (७५५-७९७ ई०) तिब्बत में धर्म के प्रचार-प्रसार और बौद्ध-ग्रंथों के अनुवाद के लिए नालंदा विश्वविद्यालय से आचार्य शांतरक्षित को आमंत्रित किया। उसने बसम-यास नामक एक बौद्ध-विहार, ओदन्तपुरी बिहार के अनुकरण पर स्थापित किया।

आचार्य शांतरक्षित की मृत्यु के बाद तिब्बत में बौद्ध-दर्शन-संबंधी अनेक विवादास्पद प्रश्न उपस्थित हुए, जिनके निराकरण के लिए उनके शिष्य कमलशील को नालंदा से बुलाया गया। तिब्बतीय भिक्षुओं से कमलशील का गंभीर शास्त्रार्थ हुआ और अन्त में कमलशील विजयी हुए। किन्तु पराजित भिक्षुओं ने कमलशील की हत्या कर दी, जिसकी निर्जीव देह ल्हासा के किसी विहार में आज भी सुरक्षित है। अपनी विद्वत्ता के कारण वह 'तिब्बती-मंजुश्री' नाम से प्रसिद्ध था।

दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग पश्चिमी तिब्बत के राजवंशों ने विद्वान् भिक्षुओं को आश्रय देकर, कई तिब्बती विद्वानों को तत्कालीन बौद्ध-विद्या के केन्द्र काश्मीर में अध्ययनार्थ भेजा और बहुत सारे बौद्ध-ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद करवाया। इसी राजवंश से संबंधित ह्-खोर-ल्दे (ज्ञानप्रद) ने भिक्षुमय जीवन धारण कर बिहार के विक्रमशिला के मठ के प्रमुख आचार्य अतिश (दीपंकर श्रीज्ञान) को तिब्बत आमंत्रित किया, जिसने भारत से आध्यात्मिक प्रकाश को साथ लेकर तिब्बत की ज्ञान-धरती को आलोकित किया।

नेपाल

ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक ने लुम्बिनी जाकर तथागत की पवित्र स्मृति में एक लेखयुक्त स्तंभ निर्मित करवाया। नेपाल में उसने कई मठ और स्तूप निर्मित करवाये। नेपाल में बौद्धदर्शन की व्यापक प्रतिष्ठा आचार्य वसुबंधु के गमनानन्तर चौथी शताब्दी में हुई। सातवीं शताब्दी में राजा अंशुवर्मन् ने अपनी पुत्री का विवाह तत्कालीन तिब्बत के राजा स्तोङ्-बत्सन-स्गम के साथ संपन्न कर, उसके राज्याश्रय में संस्कृत के बौद्धग्रन्थों का अनुवाद करवाया, जिन अनुवादकों में नेपाली विद्वान् शीलमंजु का नाम उल्लेखनीय है। आठवीं शताब्दी के बाद बिहार और बंगाल में जब मुसलमानों

के आक्रमण होने लगे तो आत्मरक्षा के हेतु अनेक भारतीय विद्वान् सैकड़ों हस्तलिखित पोथियों को साथ लेकर तिब्बत में प्रविष्ट हुए और वहाँ उन्होंने तिब्बती में उनका अनुवाद किया।

अभी हाल ही में नेपाल की धर्मोदयसभा के द्वारा बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन का सिलसिला शुरू हुआ है और फलस्वरूप कई पालि ग्रन्थ अनूदित होकर प्रकाश में आये हैं।

दक्षिण

इसी प्रकार दक्षिण में श्रीलंका, बर्मा, मलयप्रायद्वीप, स्याम (थाईलैंड), काम्बुज (कम्बोडिया), चम्पा (वियतनाम) और इंडोनेशिया आदि देशों में भी बौद्धधर्म और बौद्धसाहित्य का प्रवेश सम्राट् अशोक के समय से होने लग गया था और भारत के साथ उक्त देशों का दृढ मैत्री-संबंध स्थापित हो जाने के बाद बौद्धधर्म एवं बौद्ध-साहित्य के अध्ययनार्थ वहाँ अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य होते रहे और आज भी वहाँ साहित्यनिर्माण की यह उच्च परंपरा बनी हुई है।

बौद्धकालीन भारत की ज्ञान-गवेषणा की साक्षी : चार परिषदें

बौद्धयुग की चार परिषदें तत्कालीन भारत की बौद्धिक उन्नति, ज्ञान-मन्थन, गंभीर गवेषणा, अद्भुत वाक्चातुर्य और ज्ञान के क्षेत्र में एक विहंगम परीक्षण की साक्षी हैं। बौद्धयुग विचार-संक्रांति का एक अद्भुत युग रहा है। उस युग की सामाजिक मान्यताएं, धार्मिक मान्यताएँ और बौद्धिक मान्यताएँ, सभी में एक मौलिकता, एक नवीनता, आगत का समाधान और अनागत के लिए एक सुविचारित व्यवस्था है। भारतीय ज्ञान की सुदूरभूत ज्ञान-परंपरा के निर्माण, उन्नयन और अनुवर्तन-प्रवर्तन में बौद्ध-विद्वानों जैसी निर्भीक प्रतिभा, स्पष्टवादी विचारधारा एवं कुशाग्र दृष्टि किसी भी युग में नहीं दिखाई देती। बौद्ध-विद्वानों ने जहाँ एक ओर अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए प्रकाण्ड हिन्दू-दार्शनिकों से लोहा लिया, वहाँ दूसरी ओर अपने विचार-स्वातंत्र्य को बचाने के लिए आपस में ही जूझने में वे भूल से भी नहीं चूके। ऐसी थी उनकी क्षमता और उनके अथाह पांडित्य की कथा।

बौद्धकालीन भारत की इन चार संगीतियों का अभिप्राय यह था कि धर्म के क्षेत्र में, समाज के क्षेत्र में, ज्ञान के क्षेत्र में और अधिकारों के क्षेत्र में जो विकृतियाँ घर कर गई थीं, उन पर एक साथ बैठ कर विचार किया जाय। समाज की सारी व्यवस्था का दायित्व शासकों पर था और वे शासक विद्वानों के अधीनस्थ थे। दिग्विजयी साम्राज्य के अतुल वैभव और अपरिमित बल-विक्रम के स्वामी होने पर भी तत्कालीन शासक, विद्वद्वर्ग के करतल में अपने सारे अस्तित्व को स्वेच्छा से सौंपे हुए थे, इसलिए कि धर्म, राजनीति और विद्या के क्षेत्र में किसी भी प्रकार की त्रुटियाँ न आ सकें, शासकों की ओर से समय-समय पर राष्ट्र भर के विद्वानों का सामूहिक अधिवेशन आयोजित हुआ करता था। इस प्रकार का पहिला अधिवेशन राजगृह में आयोजित किया गया था। सामाजिक नीति-नियमों एवं व्यवस्थाओं में अनधिकार चेष्टा करने वाले कुछ दायित्वपूर्ण व्यक्तियों के लिए दण्डविधान भी इन्हीं अधिवेशनों में नियुक्त किए जाते थे।

प्रथम संगीति

बुद्धपरिनिर्वाण के तत्काल बाद ही, संभवतः चौथे मास बाद, श्रावण महीने में प्रथम संगीति का अधिवेशन आयोजित हुआ था। 'चुल्लवग्ग' के ११वें खंधक के अनुसार और 'दीपवंश' तथा 'महावंश' के वचनानुसार यह संगीति राजगृह कुशीनगर में आयोजित हुई थी। अजातशत्रु इसके आयोजक और महाकस्सप इसके सभापति थे। उपालि और आनंद ने उसमें प्रमुख भाग लिया था। चीनी-तिब्बतीय परंपराओं के अनुसार इस संगीति में एक हजार भिक्षु उपस्थित थे; किन्तु भारतीय परंपरा उनकी संख्या चार सौ निन्यानवे बताती है, जैसा कि बौद्ध अनुश्रुतियों में उनको 'पंचशतिका' नाम दिया गया है। इस संगीति का वर्णन 'विनयपिटक', 'दीपवंश', 'महावंश', 'सामंतपासादिका' की 'निदानकथा' (विनयपिटक का रूपांतर), 'महाबोधिवंश', 'महावस्तु' और तिब्बती 'डुल्व' आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

इस संगीति में चार बातों का निर्णय हुआ : (१) उपालि के नेतृत्व में विनय की निश्चिति, (२) आनन्द के नेतृत्व में धम्म के पाठ का निश्चय,

(३) आनन्द पर आक्षेप एवं उनका उत्तर और (४) चन्न को ब्रह्मदण्ड की सजा तथा उसका परिताप। इस संगीति का प्रमुख उद्देश्य वस्तुतः बुद्धवचनों का संगायन एवं संग्रह करना था।

द्वितीय संगीति

द्वितीय संगीति का आयोजन बुद्धपरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद हुआ। इसमें ७०० भिक्षु उपस्थित थे, जिससे कि उसको 'सप्तशतिका' भी कहा जाता है। इस संगीति का उद्देश्य कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों को हल करने के अतिरिक्त प्रथम संगीति का पुनः संस्करण करना भी था। यह वैशाली में आयोजित हुई थी और पूरे आठ मास तक चली।

इस परिषद् में काकण्डकपुत्र यश और वज्जी के भिक्षुओं के पारस्परिक आक्षेपों पर विचार हुआ। अपने पक्ष का पर्याप्त स्पष्टीकरण करने पर भी वज्जियों ने यश को संघ से निष्कासित कर दिया। भदन्त यश ने वज्जियों की दस वत्थूनि (दस बातें) मानने से इन्कार कर दिया था।

यश ने अपने निराकरणों का समाधान एवं समर्थन पाने के लिए कौशांबी, अवन्ती और अट्ठोपांग के भिक्षुओं से निवेदन किया और अंत में वह अर्हत् रेवत के पास सौरेय्य पहुँचे। इन सभी भिक्षुओं ने एकमत होकर भदन्त यश के पक्ष में अपना निर्णय दे दिया। इधर से इस बात को सुनकर, वज्जी भिक्षु भी रेवत के पास पहुँचे। विवाद बढ़ता ही गया। अन्त में सात सौ भिक्षुओं की एक परिषद् आयोजित की गई और उसमें पूरब तथा पश्चिम के चार-चार भिक्षुओं की एक समिति बनाई गई। भिक्षु अजित को समिति का प्रधान और आचार्य सब्बकामी को सभापति नियुक्त किया गया। सभा में वज्जी के भिक्षुओं का आचरण अधर्मयुक्त घोषित किया गया। यह वृत्तांत 'चुल्लवग्ग' में दिया गया है।

'महावग्ग' और 'दीपवंश' के अनुसार यह परिषद् अजातशत्रु के वंशज कालाशोक के समय में हुई थी, जिसमें दस हजार भिक्षु उपस्थित थे। उन दस हजार भिक्षुओं में सात सौ चुने हुए भिक्षुओं ने 'विनय' और 'धम्म' का एक संशोधित संस्करण तैयार किया, जिससे पिटक, निकाय, अंग और

धर्मस्कंध निर्मित हुए। 'धम्म' के संगायन और संकलन के फलस्वरूप बुद्ध-वचनों के तीन पिटकों, पाँच निकायों, नव अङ्गों और ४८००० धर्मस्कन्धों का वर्गीकरण हुआ।

तृतीय संगीति

तृतीय संगीति सम्राट् अशोक के समय एवं संरक्षण में, बुद्धपरिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई। उसका वर्णन 'दीपवंश', 'महावंश' और 'सामंतपासादिका' में मिलता है। इस संगीति में अशोक ने सभी पंथों के भिक्षुओं को आमंत्रित कर उनसे उनके तत्-तत् संप्रदायों का प्रतिपादन करने का आग्रह किया। प्रियदर्शी अशोक के गुरु तिस्स मोग्गलिपुत्त इस अधिवेशन के सभापति थे और यह संगीति निरंतर नौ मास तक चलती रही। थेर तिस्स ने पारंगत एक हजार भिक्षुओं को चुनकर बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की भावी निश्चिति के लिए उन्हें एकाधिकार दिया। इसी संगीति में अंतिम रूप से त्रिपिटकों का संकलन हुआ और कथावस्तुप्रकरण का भी निराकरण हुआ।

अन्य संगीतियों की अपेक्षा इस संगीति की विशेषता यह थी कि इस समय अशोक ने यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आंध्र, पुलिंद, केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पांड्य और सिंहल आदि देशों में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ अपने धर्मोपदेशकों को भेजा। जिन-जिन धर्मोपदेशक भिक्षुओं को जिन-जिन प्रदेशों को भेजा गया उनकी नामावली 'दीपवंश', 'महावंश' और 'सामंतपासादिका' के अनुसार इस प्रकरण के आरम्भ में दे दी गई है।

चतुर्थ संगीति

तुरुष्क साम्राज्य के संस्थापक कनिष्क के निर्देशन में चौथी परिषद् आयोजित हुई थी, जिसका निश्चित समय १०० ई० है। कुछ के मत में इस परिषद् का अधिवेशन जालंधर में हुआ; किन्तु अधिकांश विद्वानों की राय उसके कश्मीर में आयोजित होने के पक्ष में है। आचार्य पार्श्व के आग्रह पर कनिष्क ने इस परिषद् को बुलाया था। कनिष्क ने एक महाबिहार (कुंडलवन) का निर्माण कर उसमें पाँच सौ भिक्षुओं को आमंत्रित किया, और उनसे पिटकों पर भाष्य लिखने का आग्रह किया। इस परिषद् में सर्वप्रथम

संस्कृत भाषा को मान्यता मिली और संस्कृत में ही बौद्ध न्याय को भी सूत्र-बद्ध किया गया।

संप्रदायों की प्रतिष्ठा और उनका प्रयोजन

बौद्धधर्म के क्षेत्र में जो विभिन्न मत-मतांतर एवं वाद-विवाद प्रचलित हुए, तथागत की संभावना से वे अदृष्ट थे; और यद्यपि वे खुले रूप से प्रकाश में बुद्ध के बाद ही आये, तथापि उनके बीज बुद्ध के जीवनकाल में ही बोये जा चुके थे। बुद्ध का भतीजा देवदत्त उनके सिद्धान्तों का प्रबल प्रतिद्वंद्वी था। उपनंद, चन्न, मेत्तिय भुम्मजक और षड्वर्षीय प्रभृति भिक्षु बुद्ध के जीवनकाल में ही विनय के नियमों की कड़ी आलोचना करने लग गए थे। सुभद्र जैसे उद्दंड मति के लोग भी उस समय वर्तमान थे, जिन्हें जीवन की स्वच्छन्दता में नियमों की हथकड़ी कतई पसन्द न थी। और इसीलिए, उसने बुद्ध की मृत्यु का समाचार सुन कर चैन की सांस खींची।

बुद्धपरिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद ही भिक्षुओं के एक दल ने बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं एवं उनके विचारों की प्रामाणिकता के विरुद्ध आवाज उठाई। वैशाली के वज्जियों का इसमें प्रमुख हाथ रहा। महाकश्यप के राजगृह में पाँच सौ बौद्ध भिक्षुओं की संगीति का जो अधिवेशन आयोजित किया गया था उसमें सम्मिलित होने वाले पुराणपंथी या गवांपति जैसे लोगों ने संगीति में निर्णीत नियमों को यह कह कर मानने से इन्कार कर दिया कि उसमें बुद्ध के नाम से जो साहित्य संकलित एवं सम्पादित किया गया है वह अमौलिक एवं अप्रामाणिक है।

संघ के प्रधान महादेव नामक विद्वान् द्वारा निर्धारित सिद्धांतों को अविकल रूप से स्वीकार करने में भिक्षुओं का मतभेद हो गया और फलतः वैशाली में दूसरा संघ आयोजित करने की माँग की गई। कुछ भिक्षुओं ने पारित किए गए अति कठोर नियमों के विरुद्ध आवाज भी उठाई। इस प्रकार भिक्षुओं की दो शाखाएँ हो गईं: एक तो कट्टर पुराणपंथी और दूसरी उदारमतावलम्बी। पुराणपंथी भिक्षुओं का दल थेरवादिन् (स्थविरवादिन्) और उदारतावादी दल महासंघिक (महासांघिक) कहलाए।

वैशाली में आयोजित उक्त संगीति में जो विचार-व्यवस्था और नीति-नियम निर्धारित किए गये थे, वे पुराणपंथी भिक्षुओं के अनुकूल थे, अतः महासांघिकों ने वज्जिजनप्रधान दस हजार भिक्षुओं की एक तीसरी संगीति का अधिवेशन आयोजित किया और उसमें अपने सिद्धांतों पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई।

आगे चलकर इन दोनों दलों में भी एकता कायम न रह सकी और फलतः बुद्धनिर्वाण की दूसरी-तीसरी शताब्दी बाद ही थेरवाद से ग्यारह एवं महासांघिक से सात उपशाखाएँ, कुल मिलाकर अठारह उपशाखाएँ उठ खड़ी हुईं।

इन उपशाखाओं का पूरा परिचय उपलब्ध नहीं है; किन्तु ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी के उपलब्ध शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उस समय तक सर्वास्तिवादिन्, महासांघिक, चैत्यक, साम्मितीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, महाशासकीय, पूर्वशैलीय, बहुश्रुतीय और काश्यपीय प्रभृति अनेक छोटे-बड़े संघों का जन्म हो चुका था। 'कथावत्थु-भाष्य' से हमें यह भी जानने को मिलता है कि उस समय तक राजगिरिक, सिद्धत्थक, पुब्बसेलिप, वाजिरिप, उत्तरापथ, वेतुल्य और हेतुवादिन् आदि अनेक पंथ प्रकाश में आ चुके थे।

बौद्ध-साहित्य का अनुशीलन करते हुए विदित होता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से उसमें मौलिक अन्तर है। हीनयान और महायान उसके दो प्रधान सैद्धान्तिक संप्रदाय हैं। हीनयान संप्रदाय का उद्भव ६०० ई० पूर्व के लगभग हो चुका था। डॉ० केर्न के अनुसार महायान संप्रदाय की प्रतिष्ठा शालिवाहन शक के लगभग तीन सौ वर्ष पहिले हो चुकी थी; क्योंकि बौद्ध-ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि शक-सम्राट् कनिष्क के शासनकाल में बौद्ध भिक्षुओं की जो परिषद् हुई थी उसमें भी महायान पन्थ के आचार्य उपस्थित थे। लोकमान्य के मतानुसार महायान संप्रदाय की प्रतिष्ठा इससे भी पूर्व हो चुकी थी। अशोक के जो २३० ई० पूर्व के लेख उपलब्ध होते हैं उसमें संन्यासप्रधान निरीश्वरवादी बौद्धधर्म को कोई मान्य स्थान नहीं दिया गया था। उनमें प्राणिमात्र पर दया करने वाले प्रवृत्ति-

प्रधान बौद्धधर्म की भावना का प्राधान्य था। ये प्रवृत्तिप्रधान विचार महायान पंथ के ही थे।

हीनयान और महायान, दोनों संप्रदायों की दो-दो शाखाएँ हुईं। हीनयान ने स्थविरवाद और वैभाषिक को जन्म दिया और महायान ने माध्यामिक और योगाचार को। इनकी भी आगे चल कर अनेक उपशाखाएँ हुईं।

बौद्धधर्म की सामाजिक प्रतिष्ठा

यद्यपि बौद्धधम वैदिक धर्म के विरुद्ध खड़ा हुआ था; किन्तु इतना मात्र ही लोकव्यापी प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए यथेष्ट नहीं था। एकमात्र वेदों के विरुद्ध आवाज उठाकर बौद्धधर्म को जगद्व्यापी संमान प्राप्त नहीं हो सकता था; बल्कि यदि उसका एक मात्र उद्देश्य वैदिक धर्म का विरोध करना ही होता तो, वह पनपने की जगह विलुप्त हो गया होता। उसका जगद्व्यापी होने का कारण था सर्वानुग्राही सामाजिक पक्ष। बौद्धधर्म के इस सामाजिक पक्ष ने उसको मानवधर्म के उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया।

जगत् के मूल में जो एक महान् अभाव दुःख था, दिव्यदृष्टि भगवान् तथागत ने उसकी इस ढंग से व्याख्या की, कि सामान्य जन की समझ में भी वह सरलता से समा सके। उन्होंने इस जगत्-पीडक दुःख की विविध व्याख्याएँ करके उसको जगत् का एकमात्र अशान्ति का मूल कारण सिद्ध किया। दुःख के कारण और उसकी निवृत्ति के लिए उन्होंने चार आर्य-सत्यों का प्रवचन किया : १. दुःख को आर्य-सत्य बताकर उन्होंने उसको जन्म, जरा, व्याधि और अभाव का कारण बताया; २. दुःख-समुदाय को आर्य-सत्य कह कर उन्होंने उसको तृष्णा को उत्पन्न करने का कारण बताया; ३. दुःख-निरोध को आर्य-सत्य कह कर उन्होंने उसके अनेकविध कारणों को खोज निकाला; और ४. दुःख-मुक्त होने के लिए उन्होंने सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि, इस उपदेशाअष्टक को प्रचारित किया।

दिव्यचेता भगवान् बुद्ध के इन लोकोपकारी सद्वचनों को समाज में

यथेष्ट आदर प्राप्त होने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि वे सभ्य एवं सुशिक्षित लोगों की संस्कृत भाषा में न होकर तत्कालीन समाज की लोक-भाषा पालि में थे। बुद्ध की वाणी ने प्रचलित लोकभाषा का आश्रय लेकर एक ओर तो अपने उपदेशों को सीधे समाज के कानों तक स्वयं पहुँचाया, और दूसरी ओर क्षीणोन्मुख समाप्तप्राय पालि भाषा को अपनाकर उन्होंने उसको अग्रसर होने का सुयोग दिया। बौद्धधर्म की इन विशेषताओं के कारण एक दिन वह भारत का राजधर्म मात्र बनकर न रह गया, वरन्, अपने प्रबल आचारपक्ष और परीक्षित सत्य के कारण, संसार का एक बहुत बड़ा जनसमाज उसका अनुयायी होने में अपना गौरव समझने लगा। तथागत ने ज्ञान और भक्ति की अपेक्षा कर्ममार्ग की श्रेष्ठता को सामने रखा, जिसका स्वत्व उन्होंने महान् ग्रंथ गीता से ग्रहण किया। उन्होंने ज्ञान एवं भक्ति को कर्ममूलक सिद्ध किया और मनुष्य को अपने उपदेशों द्वारा कर्म की ओर प्रवृत्त होने का प्रेरणा दी।

यही कारण था कि जिस हिन्दू धर्म ने पहिले-पहिल तथागत को नास्तिक कहकर बदनाम करना चाहा था, उनके उक्त महान् कार्यों के कारण, पीछे उनको अपने दशावतारों की श्रेणी में रखकर संमानित किया।

बुद्ध ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया वह आचारप्रधान था। आत्मदर्शी तथागत का पारलौकिक चिंतन, ऐहिक चिन्तन पर आधारित था। उन्होंने मानव-जीवन की वेदनाओं, दुःखों और उत्पीड़नों का मूल कारण आचार-विमुखता बताया, और कर्मों के सुधार में ही जीवन की निर्मलता एवं शांति को बताया। उन्होंने 'अव्याकृत' कहकर मानव-जीवन की संपूर्ण सिद्धि सत्कर्मों के क्रोड़ में बताई। बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म आचारपरक था, ऊहापोह-परक नहीं। इसीलिए वह साधारण समाज, अथच मानवमात्र का धर्म बन सका।

बौद्धधर्म की विकृतावस्था

महायान संप्रदाय ने समाज को हिन्दुत्व के विरुद्ध उभाड़ने के उद्देश्य से मंत्र और योगाचार जैसे कुछ स्थूल आचारों का प्रचलन किया। उनके इन स्थूल आचारों में महासुखवाद का दृष्टिकोण समाहित था, जिसका तंमूरूप

मंत्रयान और वज्रयान जैसे उपसंप्रदायों में देखने को मिला। यद्यपि मंत्र और योग की ऐतिहासिक परंपरा वेदों तक पहुँचती है; किन्तु उनको तड़कीला-भड़कीला रूप बौद्ध साधकों ने ही दिया। बौद्ध धर्म के महायान का यह नया स्वरूप हिन्दुत्व और स्वयमेव बौद्ध धर्म के लिए एक बड़े खतरे का सूचक था। पाँचवीं शताब्दी से लेकर लगभग दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक का यह समय विशेषतः उत्तर भारत के आध्यात्मिक पतन का समय था। मन और इन्द्रिय को उनकी सहज, स्वाभाविक गति पर छोड़ देने के कारण एक तीसरे ही उपसंप्रदाय 'सहजयान' का आविर्भाव भी इसी समय हुआ। आगे चलकर इसकी सहजता केवल ऐंद्रियिक सुखों में ही सिकुड़कर रह गई और यह संप्रदाय मूलतः व्यभिचारवाद का परिचायक हो गया।

जिस पवित्र बौद्ध धर्म ने एक समय अपनी आचारिक उच्चताओं के कारण भारतीय समाज को और दुनिया के विभिन्न देशों को अपनी ओर आकर्षित किया था, जिसके आविर्भाव का एक मात्र उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों को दूर कर, उसको एक समान स्तर पर प्रतिष्ठित करना था, वह स्वयं ही इस विकृतावस्था को पहुँचा कि जिस धरती पर उसका जन्म हुआ, और जहाँ की सारी प्रकृति ने उसको पाकर अपने को धन्य समझा, वहीं से उसको उन्मूलित होने में देर न हुई। भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण कुछ इस प्रकार थे :

१. स्त्रियों को भिक्षुणी धर्म में अभिषिक्त करने के कारण व्यभिचार का प्रचार बढ़ा।
२. आत्मा को अनित्य कहकर समाज की आस्था से वह दूर होता गया।
३. श्रमणों ने सात्विक जीवन को छोड़कर राज्याश्रय में अपनी बुद्धि को लगाया।
४. पौराणिक कथाओं का निर्माण कर उनमें बुद्ध के उपदेशों का हलकापन प्रकट किया।
५. योगाभ्यास और भोगविलास के कारण श्रमणों के प्रति ब्राह्मणों एवं शैवों की प्रतिरोध भावना।
६. मंत्र और योगाचार की अधिकता।

७. पाँचवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच का समय जहाँ एक ओर दार्शनिक चिन्तन और बौद्धिक विकास का समय रहा, वहाँ दूसरी ओर बौद्ध-भिक्षुओं के पाखंडों से जनता की विमुखता।

८. पौराणिक धर्म की पुनः-प्रतिष्ठा के कारण बौद्ध-धर्म का उड़खता हुआ अस्तित्व।

९. भिक्षु-भिक्षुणी, श्रावक-श्रावकी और कापालिक-कापालिनी के गुप्त व्यभिचारों का पर्दाफाश।

१०. इस्लाम के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण।

११. बौद्ध-दर्शन का स्वरूप नकारात्मक होने के कारण उसमें जीवन से पलायित होने की प्रवृतियाँ मौजूद थीं, जिनसे जनसाधारण की जिज्ञासाओं का समाधान न हो सका।

१२. मद्य-मैथुन की छूट। सहजिया वज्रयानियों ने शून्यता और करुणा को प्रज्ञा तथा उपाय की संज्ञा देकर दोनों के बीच नर-नारी के संबंध की नई बात को रखा। उपाय का प्रतीक तो साधक हो गया और प्रज्ञा का प्रतीक नारी बन गई।

ये सभी कारण थे, जिन्होंने मिलकर इस महान् मानव-धर्म की जड़ें खोखली कर दीं, और फलतः जिस धरती पर वह जन्मा, पनपा एवं दिनों-दिन अपनी लोकप्रियता के कारण उच्चासन पर प्रतिष्ठित हुआ, वहाँ अपनी जन्मभूमि से ही उसको विलुप्त होते भी देर न लगी।

वर्तमान भारत में बौद्धधर्म की अवस्था

किन्तु परम कल्याण की बात है कि हमारी सरकार बौद्धधर्म के पुनरुज्जीवन के लिए यत्नशील है, और बौद्धधर्मानुयायी देश आज इस धार्मिक एकता को लेकर भारत के साथ घनिष्ठ मैत्री की दिशा में यत्नशील है। पंचशील के सिद्धांतों पर चलकर, जिनका आधार बुद्धवाणी है, सद्भाव और मैत्री के प्रचार-प्रसार के लिए जो धरतीव्यापी कार्य हो रहे हैं, उनमें मनुष्यमात्र की भलाई निहित है।

आज, जब कि मनुष्य इतनी बौद्धिक उन्नति कर चुका है कि सारी दुनिया को उसने अपनी हथेली में बाँधकर रख दिया है, उसके मानसिक द्वन्द्व

और मन की अशांति को दूर करने के लिए शांतिमय बुद्धमार्ग ही श्रेयस्कर है।

आज, इस स्थिति में, अशांत मानवता के लिए भारत की यह अपनी अकेली देन होगी कि वह बौद्धधर्म के ऊँचे आदर्शों को जगाकर उन्हें दुनिया भर में फैलाये।

बौद्धन्याय

भगवान् तथागत ने जिस महान् धर्म को जन्म दिया था, उसके मूल में सामाजिक समझौते की भावना विद्यमान थी। दलगत विचारधाराओं का उन्होंने यावज्जीवन बहिष्कार किया। उनके लिए यह संभव न था कि वे दार्शनिक गुत्थियों के जंजाल में पड़कर अपने धार्मिक उपदेशों से दूर, दर्शन के ऊहापोह में फँसते। अपने जीवनकाल में बड़ी कड़ाई से उन्होंने अपने अनुयायियों को उधर जाने से रोका, टोका एवं निषेध किया। यही कारण है कि ज्ञानोपलब्धि के बाद सारनाथ में उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षुओं के लिए जो सबसे पहिला प्रवचन (५२८ ई० पूर्व) किया उसमें यही कहा था कि हे भिक्षुओ, बहुजन-हित के लिए और बहुजन-सुख के लिए विचरण करो। गृहस्थ के लिए उन्होंने जिन दश अकुशल कर्मपथ से दूर रहने का निर्देश किया है उनमें से एक दार्शनिक पक्ष भी था।

किन्तु बुद्ध-निर्वाण (३८३ ई० पूर्व) के लगभग दो वर्ष के भीतर ही उनके शिष्यों की दबी हुई इच्छायें प्रबल हो उठी, और बुद्ध के पवित्र उपदेशों को पीछे करके वे जीवन-जगत् के गूढ़-रहस्यों को सुलझाने में डट गए, जिसके फलस्वरूप चार दार्शनिक संप्रदाय आज हमारे सामने मौजूद हैं। इन चारों संप्रदायों का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है :

वैभाषिक	प्रत्यक्षवादी	संसार सत्य, निर्वाण सत्य
सौत्रांतिक	बाह्यार्थानुमेयवादी	संसार सत्य, निर्वाण असत्य
योगाचार	विज्ञानवादी	संसार असत्य, निर्वाण सत्य
माध्यमिक	शून्यवादी	संसार असत्य, निर्वाण असत्य

१. प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण के अनुसार सांसारिक वस्तु में, जिसके द्वारा असंख्य प्राणियों का जीवन-निर्वाण हो रहा है, वह अनंत सत्ता विद्यमान है; अतएव वह सत्य है।

२. बाह्यार्थानुमेयवाद के अनुसार बाह्य पदार्थ नाशवान् होने के कारण उनका प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है। वह अनुमान पर आधारित हैं : दर्पण के प्रतिबिंब को देखकर बिंब के अनुमान की भाँति। अनुमिति से बाह्य पदार्थों की सत्यता पर विश्वास किया जा सकता है।

३. विज्ञानवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रतिबिंब के द्वारा बिंब का आनुमानिक ज्ञान असत्य एवं मिथ्या ज्ञान है। चित् ही एकमात्र सत्ता है, जिसके आभास को हम जगत् के नाम से पुकारते हैं। चित् ही विज्ञान है।

४. शून्यवाद के अनुसार चित भी अस्वतंत्र है। पदार्थ की भाँति विज्ञान भी क्षणिक है। शून्य ही परमार्थ है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक और शून्य की पारमार्थिक हैं। पारमार्थिक शून्य ही सत्य है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इन दार्शनिक संप्रदायों का जन्म किसी एक निश्चित दिन या किसी एक व्यक्ति से नहीं हुआ। उनके सिद्धान्त एक दूसरे से संबद्ध हैं। छठी शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर नवीं शताब्दी ईसवी तक के १५०० वर्षों में बौद्ध-दर्शन पनपा और फला-फूला। इस कालावधि को बौद्ध-साहित्य में 'त्रि-चक्र-परिवर्तन' के नाम से कहा जाता है, जिसको ५००-५०० वर्षों के तीन विभागों में अलग किया जा सकता है।

ईसवी पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी तक पुद्गल-नैरात्म्य (आत्मा के निषेध) का समय रहा है। यह वैभाषिक सिद्धान्तों की उन्नति का समय था। उसके बाद के पाँच शतकों में पुद्गल-नैरात्म्य की जगह धर्म-नैरात्म्य ने ले ली थी। व्यक्ति-कल्याण, समष्टि-कल्याण में परिवर्तित हो गया था। शून्यवाद का उदय इसी समय हुआ। आर्य सत्य की जगह सांवृतिक एवं पारमार्थिक ने ले ली थी। वैभाषिकों के 'बहुत्ववाद' की जगह 'अद्वैतवाद' (शून्यवाद) ने घेर ली थी। अर्हत् की संकीर्णता से बोधिसत्व की भावना ने प्रबलता प्राप्त की, जिससे मैत्री और करुणा की वृद्धि हुई। मानव बुद्ध अब अलौकिक बुद्ध हो गए थे।

लगभग पाँचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक बौद्धदर्शन के विकास की तीसरी स्थिति है। इस युग में बौद्ध विद्या की अपूर्व उन्नति हुई। एकांत शून्यवादी विचारधारा विज्ञानवाद की समर्थक इसी युग में हुई। फलस्वरूप जगत् को चित् या विज्ञान का परिणाम स्वीकार किया गया। इसके बाद के पाँच शतकों में बौद्ध तत्त्वज्ञान की अपेक्षा बौद्ध धर्म की अधिक उन्नति हुई। यह युग तंत्र और योगाचार का समय था।

बौद्धन्याय का विकास

बौद्ध-साहित्य की दार्शनिक परंपरा का इतिहासबद्ध अध्ययन हम आचार्य नागार्जुन की कृतियों से कर सकते हैं। बौद्ध-दर्शन के इतिहास में नागार्जुन को एक युग-विधायक मनस्वी के रूप में याद किया जाता है। तिब्बत, चीन और मंगोलिया के जन-जीवन में इन आचार्यपाद का व्यक्तित्व आज भी संमान पा रहा है। बौद्ध-न्याय की प्रतिष्ठा और उसके प्रचार-प्रसार का संपूर्ण श्रेय आचार्य नागार्जुन की महान् कृतियों को प्राप्त है।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विरचित महायान संप्रदाय के आधारभूत ग्रन्थ 'महायानसूत्र' और 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' आदि ग्रन्थों के यशस्वी निर्माताओं के संबंध में आज भी कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकाव्यकार एवं महायान संप्रदाय के सर्वास्तिवादी आचार्य अश्वघोष को हम सैद्धांतिक चर्चाओं का प्रतिपादन करते हुए अवश्य पाते हैं, किन्तु उनके विचारों में एकता एवं व्यवस्था का अभाव है। महायान संप्रदाय के इन विच्छिन्न सैद्धान्तिक विचारों को एक रूप में बाँधने और उनको अग्रसर करने का अपूर्व कार्य आचार्य नागार्जुन ने किया। नागार्जुन के समान अद्भुत तार्किक विश्व के इतिहास में दूसरा नहीं मिलता है।

किन्तु नागार्जुन का दार्शनिक दृष्टिकोण समझने से पूर्व भारतीय न्याय-दर्शन की परम्परा से परिचित हो जाना आवश्यक है। षड्-दर्शनों के विकास में न्याय-दर्शन और वेदान्त की परंपरा अपना एक प्रतिष्ठित स्थान रखती है। ऐतिहासिक दृष्टि से न्याय-दर्शन की दो प्रमुख धाराएँ हैं। पहिली परम्परा

का प्रवर्तन महर्षि अक्षपाद गौतम (५०० ई० पूर्व) कृत 'न्याय-सूत्र' और उस पर लिखे गए वात्स्यायन-भाष्य (३०० ई०) से प्रारंभ होता है जिसको कि 'प्रकृत' की संज्ञा दी गई है। दूसरी परम्परा के आविर्भावक जैन और बौद्ध थे। इन दोनों धाराओं की प्रतिस्पर्धा के कुछ शतकों बाद न्याय-दर्शन के क्षेत्र में एक सर्वथा नया मोड़ आया, जिसको 'नव्य-न्याय' के नाम से कहा जाता है। नव्य-न्याय का उदय होते ही प्रकृत-न्याय का भी उसी में समावेश हो गया; किन्तु जैन-न्याय और बौद्ध-न्याय का पार्थक्य, प्रकृत या नव्य-न्याय से अन्त तक बना रहा।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् डॉ० विद्याभूषण ने अपने इतिहास-ग्रंथ में न्याय-दर्शन की इन तीन प्रवृत्तियों की सीमा को तीन युगों में इस प्रकार विभाजित किया है :

प्रकृत न्याय : ६५० ई० पूर्व से १०० ई० तक

मध्ययुगीन न्याय : १०० ई० से १२०० ई० तक

नव्य न्याय : ९०० ई० से

मध्ययुगीन न्याय की प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि सम्राट् कनिष्क से लेकर सम्राट् हर्ष तक मध्यकालीन बौद्ध-न्याय का शास्त्रीय युग और गुप्तकाल से लेकर पाल युग तक बौद्ध-दर्शन का नैयायिक युग रहा है।

ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि न्याय-दर्शन की प्राचीन परम्परा का प्रवर्तक ग्रंथ अक्षपाद महर्षि गौतम का 'न्याय-सूत्र' है। गौतम के न्याय-सूत्रोंपर प्रथम भाष्य वात्स्यायन ने ३०० ई० में लिखा। प्राचीन न्याय की इस परंपरा को उद्योतकर (५५० ई०) ने 'न्याय-वार्तिक' लिख कर आगे बढ़ाया और तदनन्तर इस परम्परा की सुप्रतिष्ठा करनेवाले नैयायिकों में वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) तथा उदयन (९८४ ई०) प्रमुख हैं। अक्षपाद गौतम से लेकर उदयन तक की न्याय-परम्परा बड़े संघर्ष, तर्क-वितर्क और खंडन-मंडन की रही है।

वात्स्यायन-भाष्य के बाद न्याय-दर्शन का संक्रांति-युग आरम्भ होता है। इस संक्रांति का मूल कारण बौद्ध-न्याय का आविर्भाव था, गौतमीय न्याय

और बौद्ध-न्याय की इस पारस्परिक स्पर्धा से एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि भारतीय न्याय-दर्शन के क्षेत्र में दुनियाँ के दार्शनिकों को आश्चर्यचकित कर देनेवाले महान् सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई।

इस सैद्धान्तिक संघर्ष में जिन बौद्ध-नैयायिकों ने प्रमुख भाग लिया उसमें नागार्जुन (१७५ ई०), वसुबंधु (४०० ई०), दिङ्नाग (४२५ ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०) का प्रमुख स्थान है। प्रकृत न्याय और मध्ययुगीन न्याय के समर्थक विद्वानों में खंडन-मंडन की यह परम्परा १२वीं शताब्दी तक बनी रही। १२वीं शताब्दी में मिथिला के गंगेश उपाध्याय ने नव्य-न्याय की प्रतिष्ठा कर प्रकृत-न्याय की आधारभूमि को अजेय सिद्धान्तों से मण्डित किया।

नागार्जुन महायान सम्प्रदाय के माध्यमिक मत के अनुयायी आचार्य थे। बौद्ध-धर्म के इतिहास में माध्यमिक मत अतिप्राचीन और अतिमान्य मत माना गया है। तथागत स्वयमेव इस मत के प्रवर्तक माने गये हैं। इस मत का सर्वप्रथम महान् ग्रंथ 'प्रज्ञापारमितासूत्र' है, जिस पर आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिककारिका' नामक व्याख्या लिखी। उनके दर्शन का यह आधारभूत ग्रन्थ है। इसमें उनके उच्च दार्शनिक विचारों और तर्कपूर्ण अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। यह ग्रंथ उनकी महान् मेधा का परिचायक ग्रन्थ है।

आचार्य नागार्जुन का दार्शनिक दृष्टिकोण शून्यवाद के नाम से प्रचलित है। शून्यवाद दार्शनिक जगत् का अति प्रभावशाली एवं सूक्ष्म मत माना गया है। 'शून्य एव धर्मा' माध्यमिकों का मूल आधार है। पंचविध धर्मों (वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ और प्रमेय) का विस्तृत निरूपण आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' में किया है। नागार्जुन का परमतत्त्व अष्टनिषेधयुक्तः, अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद्य, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनागम, अनिर्गम और अनानार्थ है; किन्तु वह है सत्तात्मक; ऐसा सत्तात्मक शून्य, जो स्वयं में कल्पनातीत, अशब्द, अनक्षर और अगोचर है। नागार्जुन के अनुसार समस्त प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थों की स्वभावहीनता ही पारमार्थिक रूप है। परमार्थ नाम उक्त पंचविध धर्मों की निःस्वभावता का है। निर्वाण का ही

दूसरा नाम परमार्थ सत्य है। 'माध्यमिक कारिका' के २५वें अध्याय में निर्वाण की व्याख्या करते हुए आचार्यपाद ने कहा है: निर्वाण भाव और अभाव, दोनों से व्यतिरिक्त एक अनिर्वचनीय परम तत्त्व है।

आचार्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रबल समर्थक उन्हीं के शिष्य आर्यदेव (२०० ई०) हुए। आर्यदेव के बाद की चार शताब्दियाँ अन्धकारपूर्ण हैं। छठी शताब्दी में दो प्रबल मेधावी आचार्यों का दर्शन होता है, जिनके नाम हैं भावविवेक और ब्रह्मपलित और जिनकी उद्भव भूमि है क्रमशः उड़ीसा तथा वलभी। इन्होंने आचार्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित और आचार्य आर्यदेव द्वारा समर्थित 'शून्यवाद' को नई योजनाओं, नये दृष्टिकोणों के साथ आगे बढ़ाया। आचार्य भावविवेक ने 'माध्यमिक स्वातंत्रिक' और आचार्य बुद्धपालित ने 'माध्यमिक प्रासंगिक', इन दो दार्शनिक मार्गों का निर्माण कर शून्यवाद की वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा की। शून्यवाद के प्रकांड भाष्यकार आचार्य बुद्धपालित का मत चीन, तिब्बत और मंगोलिया तक प्रचारित हुआ। सातवीं शताब्दी में आचार्य चंद्रकीर्ति ने इस परम्परा का सफल नेतृत्व किया।

गौतमीय नैयायिकों के प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमा का नागार्जुन ने पर्याप्त खंडन किया है। इनका प्रतिषेध रूप 'शून्य' ही उनकी दृष्टि में परम तत्त्व है, जिसको शब्द और प्रमाणादि से बोधगम्य नहीं किया जा सकता है। न वह भाव है, न अभाव और न इन दोनों का संघात-विघात ही। शून्यता को उन्होंने 'निःस्वभाव' कहा है और इसी का अभिन्न स्वरूप बताया है 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को : 'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते माता।'

नैयायिकों के प्रत्यक्ष ज्ञान पर भी बौद्धाचार्यों ने भरपूर हथौड़ों की चोट की है। प्रमाण-मीमांसा नैयायिकों का मूल विषय है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, न्याय के ये चार प्रमाण हैं। बौद्धाचार्यों की सैद्धान्तिक मान्यताएँ हैं कि भौतिक और मानसिक जितने भी पदार्थ हैं, सब मायाजन्य हैं। अतएव वे अस्तित्वहीन और कल्पित हैं। संसार वासनालिप्त हैं। इस स्वप्नोपम जगत् के विशेष्य-विशेष और भाव-अभाव का अस्तित्व ही क्या? नागार्जुन के मतानुसार जब ज्ञात और ज्ञेय दोनों ही कल्पनाप्रसूत हैं तब वास्तविक ज्ञान की बात सोचना ही व्यर्थ है।

गौतमीय न्याय के उत्तरवर्ती नैयायिकों ने आचार्य नागार्जुन के दार्शनिक दृष्टिकोण को 'अत्यंताभाव' की संज्ञा दी है। नागार्जुन की दृष्टि में ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान सभी निःस्वभाव हैं। उन्होंने दुःख को कल्पित, मोक्ष को मिथ्या और कर्मफल को असत्य तो बताया ही है, कहीं-कहीं आवेश में आकर निर्वाण के निरर्थक एवं नैतिक आदर्शों की भी अवहेलना की है। नागार्जुन की आदि से लेकर अंत तक एक ही दृष्टि है। प्रतीत्यसमुत्पाद ही उनकी दृष्टि का केंद्रबिंदु है। उसी की व्याख्या शून्यवाद है और उसी के माध्यम से उनके समग्र सिद्धान्त आविर्भूत हैं।

आचार्य नागार्जुन के बाद मध्ययुगीन बौद्धन्याय के क्षेत्र में आचार्य वसुबंधु का नाम आता है। वसुबंधु अल्पावस्था में ही बड़े वाग्मी, तार्किक और बौद्ध-दर्शन के धुरंधर आचार्य हो गए थे। 'परमार्थ-सप्तति' नामक महान् ग्रन्थ के निर्माणानन्तर विद्वत्समाज में उनके पांडित्य की धूम मच गई थी। अपने गुरु के विजेता सुप्रसिद्ध सांख्याचार्य विंध्यवासी कृत 'सांख्य-सप्तति' के खंडनार्थ उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ के प्रकाश में आते ही बौद्ध-न्याय के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित हो गया था।

आचार्य वसुबंधु के साथ संघभद्र नामक एक सर्वास्तिवादी विद्वान् के शास्त्रार्थ होने का उल्लेख मिलता है। प्रसंग ऐसा था कि वसुबंधु ने 'अभिधर्मकोश' लिखकर वैभाषिक संप्रदाय के सिद्धान्तों को अजेय बना दिया था, संघभद्र ने उक्त ग्रंथ के खंडनार्थ 'न्यायानुसार-शास्त्र' की रचना की और साथ ही वसुबंधु को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा; किन्तु इतिहासकारों के कथानुसार और ह्वेनसाँग के वृत्तान्तानुसार उसके तत्कालबाद ही संघभद्र की मृत्यु हो जाने के कारण दोनों विद्वानों में शास्त्रार्थ न हो सका। वसुबंधु ने उक्त विपक्षी-ग्रन्थ पर एक योग्यतापूर्ण टीका लिखकर अपने उदार पांडित्य का परिचय दिया।

आचार्य वसुबंधु के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिपादक ग्रन्थ उनका 'अभिधर्मकोश' है। कश्मीर के वैभाषिक इस कोश-ग्रन्थ को बड़ा प्रामाणिक और अपना सर्वस्व मानते थे। बौद्ध-दर्शन की विचार-परंपरा का इतना समर्थ और मौलिक प्रतिपादन किसी दूसरे ग्रंथ में नहीं मिलता है। सुप्रसिद्ध

गद्यकार वाणभट्ट ने तो इस कोश-कृति के संबंध में यहाँ तक लिख दिया है कि शुक-शारिका तक इस कोश का उपदेश देते थे : 'शुकैरपि शाक्यशासन-कुशलैः कोशं समुपदिशद्भिः'। 'अभिधर्मकोश' वैभाषिक संप्रदाय से विशिष्ट संबद्ध होने पर भी संपूर्ण बौद्ध-दर्शन का विश्वकोश है। ऐसा संमान और इतनी ख्याति इस देश के किसी दूसरे बौद्धाचार्य की कृति को आज तक नसीब न हुई। परमार्थ तथा युआनसाँग द्वारा क्रमशः छठी और सातवीं शताब्दी में इस कोश-कृति का दो बार चीनी भाषा में अनुवाद भी हुआ। इसकी सुप्रसिद्ध टीकाओं में स्थिरमति (तत्त्वार्थ), दिङ्नाग (मर्मप्रदीप) और यशोमित्र (स्फुटार्थ) की टीकाएँ प्रामाणिक मानी जाती हैं। डॉ० पुसें ने बड़े यत्न से इस ग्रंथ को खोजकर अनेक टीका-टिप्पणियों सहित छह जिल्दों में संपादित एवं प्रकाशित किया।

आचार्य वसुबंधु सर्वास्तिवादी दार्शनिक थे। भगवान् तथागत द्वारा प्रतिपादित त्रिकाल की अनित्यतासंबंधी वचनों के विरोध में 'सर्वास्तिवादी' मत का आविर्भाव हुआ था। आचार्य वसुबंधु ने 'अभिधर्मकोश' में लिखा है कि पंचविध धर्म (वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ और प्रमेय) की सत्ता का भूत, वर्तमान एवं भविष्य में अस्तित्व प्रतिपादन करनेवाला मत 'सर्वास्तिवादी' मत कहलाता है : 'तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः'। सर्वास्तिवादी-मत के अनुसार त्रिकाल नित्य और सास्तित्व समन्वित है। यदि अतीत और अनागत को अनित्य एवं अस्तित्वहीन कहा जायगा, तो मनोविज्ञान का सर्वथा लोप हो जायगा, जो असंभव-सी बात है।

इसी अभिप्राय से आचार्य वसुबंधु ने पंचविध धर्म की सत्ता को सर्वश्रेष्ठ माना है। उनके मतानुसार बाह्याभ्यंतरीय पदार्थों के सम्यग् ज्ञान के बिना क्लेशों एवं रागादि द्वेषों के उपशमन का दूसरा उपाय नहीं है : 'धर्माणां प्रति-चयमन्तरेण नास्ति क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः'। इन आचार्यपाद ने धर्म की नित्यता, सर्वव्यापकता और उसकी शाश्वत एवं सनातन सत्ता पर बड़ी सूक्ष्मता तथा मौलिकता से विचार किया है। सर्वास्तिवादी दर्शन के चार आचार्यों भदंत धर्मत्राता, भदंत घोषक, आचार्य वसुमित्र और भदंत बुद्धदेव का इन्होंने बड़े आदर से स्मरण किया है।

वसुबंधु के कोश-ग्रन्थ की 'स्फुटार्था' लिखते हुए यशोमित्र ने वसुबधु को द्वितीय बुद्ध के नाम से स्मरण किया है : 'यं बुद्धिमतामग्रयं द्वितीयमिव बुद्ध-मित्याहुः' । इससे सहज में ही वसुबंधु की विद्वत्ता और उनके संमानित जीवन का अनुमान किया जा सकता है ।

नागार्जुन और वसुबंधु के बाद काल-क्रम की दृष्टि से बौद्ध-दर्शन के क्षेत्र में दिङ्नाग का नाम आता है । आचार्य दिङ्नाग को मध्ययुगीन बौद्ध-न्याय का पिता कहा जाता है । वे एक दिग्विजयी विद्वान् और साथ ही अद्भुत तार्किक थे ।

बौद्ध-नैयायिकों के मतानुसार व्यक्ति और जाति में, विशेष और सामान्य में तथा द्रव्य और गुण में कोई वैभिन्य नहीं है । इनमें जो भेद हम करते भी हैं वह बुद्धि-कल्पित है, वास्तविक नहीं । केवल किसी वस्तु के संबंध में 'यह' कहा जा सकता है । उसके नाम, जाति, विशेष, सामान्य और गुण की कल्पना अपनी ओर से की जाती है । इसके अतिरिक्त गौतमीय नैयायिकों के अनुसार पदार्थ अपने नाम, गुण आदि के ही अनुसार विभापित होता है । उसमें विशेषण-विशेष्य-भाव सदा बना रहता है और सामान्य की भी स्थिति बनी रहती है । क्योंकि जो कुछ सत् है, वह क्षणिक कैसे हो सकता है । उसमें एकत्व और अनेकत्व की अनुभूति सदा बनी रहती है । आचार्य दिङ्नाग शब्द को एक स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते हैं; जब कि गौतमीय न्याय-परंपरा शब्द की स्वतंत्र सत्ता के प्रबल पक्षपाती हैं ।

क्षणभंगुरवाद, प्रायः सभी उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों का सिद्धान्त रहा है; किन्तु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे 'स्वातंत्रिक' विज्ञानवादी आचार्यों ने इसका विशेषरूप से प्रख्यापन किया है । दिङ्नाग के मतानुसार द्रव्य, गुण और कर्म विषयक सारा ज्ञान मिथ्या है । जब कि सभी बाह्य पदार्थ क्षणिक हैं तो फिर उनका ज्ञान कैसे संभव हो सकता है : 'क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितुं अशक्यत्वात्' । दिङ्नाग का कहना है कि भूत, भविष्य की प्रपंचजन्य कल्पना ही हमें क्षणिक पदार्थों में स्थिरता की बुद्धि कराती है । वास्तविक वस्तु तो विज्ञान है । इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग ने अपने प्रबल तर्कों द्वारा बौद्धन्याय की स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए घोर परिश्रम किया ।

बौद्धन्याय की चिरस्थायी प्रतिष्ठा करने के अतिरिक्त दिङ्नाग ने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि बौद्धन्याय की जो विच्छिन्न अवस्था हो गई थी उसको गतिबद्ध रूप में व्यवस्थित कर अपने प्रामाणिक ग्रन्थों द्वारा उसके मार्ग को प्रशस्त भी किया। बौद्धन्याय के क्षेत्र में दिङ्नाग की सबसे बड़ी देन यह है कि एक ओर जहाँ उन्होंने ब्राह्मण-तार्किकों के चंगुल से उसका उद्धार कर उसको स्वतंत्र रूप दिया; वहाँ दूसरी ओर प्रतिपक्षियों का जमकर मुकाबला भी किया। उन्होने स्थान-स्थान और नगर-नगर में जा-जा कर अपनी विद्वत्ता के बल पर ब्राह्मण तार्किकों को परास्त किया। नालंदा महाविहार उस समय चोटी के विद्वानों का केंद्र था। वहाँ जाकर दिङ्नाग ने एक दुर्जय नामक ब्राह्मण-तार्किक को शास्त्रार्थ में पराजित किया और अपने प्रकांड पांडित्य से विद्वन्मंडली को चकित कर दिया। उड़ीसा और महाराष्ट्र में भी दिङ्नाग के शास्त्रार्थ हुए। गौतम और वात्स्यायन के दार्शनिक सिद्धान्तों के विपक्ष में उन्होंने बड़ी अजेय उक्तियाँ उपस्थित कीं। उनकी तार्किक बुद्धि का विजयघोष सारे भारत में व्याप्त हुआ और इस कारण वे 'तर्कपुंगव' के नाम से कहे जाने लगे।

बौद्ध-साहित्य

पालि

पालि-साहित्य की निर्माण भूमि यद्यपि भारत है, तथापि उसके सर्वांगीण अध्ययन के लिए हमें ज्ञान की उन शाखा-प्रशाखाओं को भी साथ लेना होगा, जो संस्कृत, पालि, तिब्बती और चीनी आदि भाषाओं में निर्मित एवं बौद्धधर्मानुयायी देशों में फली-फूली तथा पल्लवित हुई हैं। पालि-साहित्य की रचना तथागत से लेकर आजतक अबाध गति से हो रही है। पालि के इन २५०० वर्षों के इतिहास को बौद्ध-साहित्य के दिग्गज विद्वान् श्री भरतसिंह उपाध्याय ने दो मोटे भागों में विभाजित किया है : १ पालि या पिटक साहित्य और २ अनुपालि या अनुपिटक साहित्य। पहिले भाग की कालसीमा बुद्ध-परिनिर्वाण से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व तक और दूसरे भाग की रचना प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से आजतक चली आ रही है।

त्रिपिटक साहित्य

भगवान् के बुद्धत्व प्राप्त करने से लेकर परिनिर्वाण प्राप्त करने के बीच उन्होंने जो कुछ भी कहा उसी का संग्रह-संकलन त्रिपिटक में है। त्रिपिटक, अर्थात् तीन पिटारियाँ; जिनका नाम है : 'सुत्तपिटक', 'विनयपिटक' और 'अभिधम्मपिटक'। पहिला अनुशासन विषयक संकलन है, दूसरा उपदेशात्मक और तीसरा मनोवैज्ञानिक नीतियों पर आधारित दर्शन का दुरूह संग्रह। यद्यपि इस त्रिपिटक में प्रमाणित रूप से बुद्ध के विचार ही संगृहीत हैं, तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने जितना कुछ सोचा एवं कहा, वह सभी-का-सभी त्रिपिटक में आ गया है। इन त्रिपिटकों का संकलन-संपादन तथागत के अनुयायी भिक्षुओं ने किया।

त्रिपिटक, बौद्धधर्म के अनुश्रुतिग्रन्थ है। ३०० ई० पूर्व मगध में उन्हें संकलत किया गया था। 'सुत्तपिटक' के पाँचवें भाग 'खुद्दकनिकाय' में जातकों की कथाएँ संकलित हैं, जो कि तीसरी शताब्दी ई० पूर्व में सुरक्षित थीं। राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र में आयोजित तीनों संगीतियों के अधिवेशनों में त्रिपिटक का पुनः पुनः प्रामाणिकता के साथ संकलन होता रहा। तीसरी संगीति में अंतिम रूप से त्रिपिटक संकलित हुआ और उसकी एक प्रतिलिपि महेंद्र तथा दूसरे धर्मप्रचारक भिक्षु अपने साथ लंका को ले गए। लंका के महाविहार में त्रिपिटक का वर्षों तक मौखिक अध्ययन चलता रहा और बाद में वहाँ के राजा वट्टगामणि अभय के समय प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में उसको सिंहली भाषा में लिपिबद्ध किया गया।

इस दृष्टि से त्रिपिटक के निर्माण, संकलन, संपादन का समय बुद्ध परिनिर्वाण से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व तक है। इस बीच पालि-साहित्य का विकास-विस्तार त्रिपिटक-संकलन के ही रूप में हुआ।

पिटक-साहित्य के सुत्त, विनय और अभिधम्म, तीन विभाग ऊपर बताये जा चुके हैं। 'सुत्तपिटक' के पाँच निकाय या शास्त्र हैं : १ दीघ, २ मज्झिम, ३ संयुत्त, ४ अंगुत्तर और ५ खुद्दक। इन पाँच निकायों के भी उपभेद हैं। 'विनयपिटक' भी तीन भागों में विभक्त है : १ सुत्त, २ खंधक और ३ परिवार। सुत्त विभंग के पुनः दो भाग हैं : १ पाराजिक और २ पाचित्तिय।

खंधक विभंग के भी दो भाग हैं : १ महावग्ग और चुल्लवग्ग। इसी प्रकार 'अभिधम्मपिटक' में सात बृहद् ग्रंथ संकलित हैं, जिनके नाम हैं : १ धम्मसंगणि, २ विभंग, ३ धातुकथा, ४ पुग्गलपंजत्ति, ५ कथावत्थु, ६ यमक और ७ पट्ठनि।

'आजकल' के बौद्धधर्म विशेषांक में प्रकाशित त्रिपिटक-साहित्य के विकास का एक चार्ट यहाँ दिया जा रहा है।
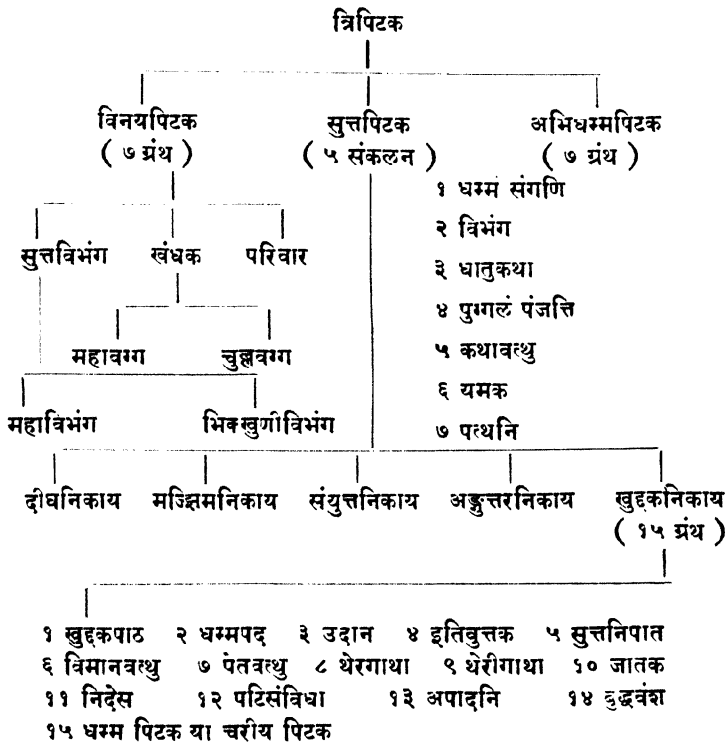
ऊपर की गई गणना के अनुसार यद्यपि इस चार्ट में कुछ हेर-फेर है, तथापि उससे त्रिपिटक-साहित्य को समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

पालि-साहित्य की आदिसंपत्ति बुद्ध-वचनों के उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के विभाजन हैं ; किन्तु उनमें इतनी वैज्ञानिकता नहीं है। पालि-साहित्य के ये सभी विभाग ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से पहिले ही संपन्न हो चुके थे। डॉ० विमलाचरण लाहा ने पिटक-साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के उद्भव और विकास के लिए पाँच विभिन्न युगों का इस प्रकार उल्लेख किया है :

प्रथम युग : ४८३–३८३ ई० पूर्व
द्वितीय युग : ३८३–२६५ ई० पूर्व
तृतीय युग : २६५–२३० ई० पूर्व
चतुर्थ युग : २३०–८० ई० पूर्व
पंचम युग : ८०–२० ई० पूर्व

अनुपिटक साहित्य

पहिले निर्देश किया जा चुका है कि पिटक-साहित्य के बाद अनुपिटक-साहित्य की रचना हुई, जिसकी स्थिति आज तक बनी हुई है। लगभग दो शताब्दियों के सुदीर्घ काल तक रचे जानेवाले इस अनुपिटक-साहित्य में एक ही रुचि, एक ही विधान और एक ही प्रकार के नीति-नियमों का जो अभाव दिखाई देता है उसका कारण भी उसकी यही दीर्घावधि है। अनुपिटक-साहित्य के आविर्भाव और विकास की अवस्थाओं को श्री उपाध्याय जी ने तीन भागों में विभक्त किया है :

प्रथम : १०० ई० पूर्व से ४०० ई० तक
द्वितीय : ५०० ई० से १२०० ई० तक
तृतीय : १२०० ई० से अब तक

पालि अनुपिटक-साहित्य के प्रथम युग को उपाध्याय जी ने 'प्राग्बुद्धघोष-युग', दूसरे युग को 'बुद्धघोषयुग' और तीसरे युग को 'उत्तरबुद्धघोषयुग' या 'बुद्धघोषयुग की परंपरा अथवा टीकाओं का युग' कहा है। आचार्य बुद्धघोष को केन्द्र मानकर अनुपिटक-साहित्य का काल-विभाजन इसलिए किया गया है क्योंकि अनुपिटक-साहित्य में बुद्धघोष ही सबसे बड़ी विभूति थे।

प्रथम 'प्राग्बुद्धघोषयुग' में रचे गए अनुपिटक-साहित्य के ग्रन्थों में 'नेतिप्रकरण', 'पेटकोपदेश', 'सुत्तसंगह', 'मिलिन्दपञ्ह' और इतिहासप्रसिद्ध ग्रन्थ 'दीपवंश' का नाम प्रमुख है। दूसरे 'बुद्धघोषयुग' का आरंभ आचार्य बुद्धघोष के ग्रन्थ 'विसुद्धिमग्ग' तथा उनके द्वारा रचित 'अर्थकथाओं' से होता है। इनके अतिरिक्त बुद्धदत्त, धम्मपाल की 'अर्थकथाएँ', लंका में रचित बृहद् ग्रन्थ 'महावंश', 'कच्चान व्याकरण' और अनिरुद्ध का 'अभिधम्मत्थसंगह' आदि की गणना की जाती है। तीसरा 'उत्तरबुद्धघोषयुग' बृहद् अर्थकथा-साहित्य का टीकाओं एवं अनुटीकाओं का युग है, जिसमें रचे गए ग्रंथों में: आचार्य बुद्धघोष कृत 'अर्थकथाओं' का मगध-भाषा में लिखित टीकाकार्य प्रथम है, जिसका निर्माण लंका के राजा पराक्रमबाहु के समय बारहवीं शताब्दी में हुआ। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में सिंहल के भिक्षु सारिपुत्त एवं उनके शिष्यों ने भी इस दिशा में कार्य किया। 'महावंश' का 'चूलवंश' भाग भी इसी युग में निर्मित हुआ। बरमी भिक्षुओं ने अनिरुद्ध के 'अभिधम्मत्थसंग्रह' की परम्परा में अनेक ग्रंथों की रचना इसी समय की। वर्तमान सदी में रचे गए आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी के 'विसुद्धिमग्गदीपिका' और 'अभिधम्मत्थसंग्रह-टीका' भी उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

निष्कर्ष यह है कि पालि अनुपिटक-साहित्य के इस तीसरे युग में बरमा, स्याम, लंका और भारत आदि देशों में अनेक अच्छी कृतियों का निर्माण हुआ और आज भी वह स्थिति पूर्ववत् जारी है।

पालि साहित्य का विकास

पालि भारत की अति प्राचीन भाषा है, और उसके सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने भारतीय भाषाओं के निर्माण में अपना बहुत बड़ा योग ही नहीं दिया, वरन्, भारत के पड़ोसी देशों सिंहल, बर्मा और स्याम की भाषाओं के विकास को भी प्रभावित किया। इसलिए उक्त देशों के साथ भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों का अनुशीलन करने के लिए हमें पालि से बहुत सहायता मिल सकती है। पालि भारत की अति प्राचीन और प्रभावशाली भाषा होने के कारण अतीतकालीन भारत के ज्ञान-गौरव

को प्रकाश में लाने के लिए एकमात्र साधन सिद्ध हो सकती है। और भगवान् तथागत की वाणी में उसका निरन्तर आवास होने के कारण बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र में तो उसकी बहुत बड़ी देन कही जा सकती है।

पालि के प्राचीन ग्रंथों में 'मिलिन्नपन्ह' त्रिपिटकों के बाद अपना विशिष्ट महत्व रखता है, जिसको कि महास्थविर नागसेन ने संकलित किया था। इस संकलन का वास्तविक रचनाकार एवं वास्तविक निर्माणकाल कौन है, इस सम्बन्ध में, उसके आंतरिक साक्ष्यों का समीक्षण करने के बाद बड़ी द्विविधा में पड़ जाना पड़ता है। किन्तु यह निश्चित-सा है कि वह हमें सम्प्रति जिस रूप में प्राप्त है, वही उसका मूल रूप था। उसमें सात अध्याय हैं। तीसरे अध्याय के अन्त में यह संकेत किया गया है कि मिलिन्द के प्रश्न समाप्त हो गए। इन तीनों अध्यायों का एक चीनी अनुवाद ३१७-४२० ई० के बीच 'नागसेन-सूत्र' के नाम से हुआ। इस दृष्टि से यह अवगत होता है कि उसके अन्तिम चार अध्याय बाद में जोड़े गए या उसकी जो प्रति चीन में उपलब्ध थी, उसमें केवल तीन ही अध्याय सुलभ थे। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसके निर्माण की पूर्वसीमा मिनान्दर के समकालीन या उसके कुछ बाद १५० ई० पूर्व और अन्तिम सीमा बुद्धघोष से पहिले ४०० ई० के पूर्व है।

बौद्धतत्त्वज्ञान, बौद्धनीतिशास्त्र और बौद्धमनोविज्ञान के अतिरिक्त इस ग्रन्थ का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। उसमें तत्त्वज्ञान, साहित्य, इतिहास और भूगोल आदि सभी विषयों का अपूर्व संयोग है, जिससे कि सहज में ही वह त्रिपिटकों के बाद स्थान प्राप्त कर लेता है।

पालि कृतियों में 'मिलिन्दपन्ह' के बाद आचार्य बुद्धदत्त की कृतियों का स्थान आता है। इन्होंने 'अभिधर्मपिटक' की अट्ठकथाओं का संक्षेप 'अभिधम्मावतार' में और 'विनयपिटक' की अट्ठकथाओं का संक्षेप 'विनय विनिच्छय' में किया। बुद्धदत्त चोलराज्य के अन्तर्गत उरगपुर (उरईपुर) के निवासी थे। उनका दीक्षण और शिक्षण अनुराधापुर के महाविहार में हुआ। वे तथागत के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए सिंहल गए थे और वहाँ से आकर उन्होंने कावेरी नदी के तट पर कृष्णदास या विष्णुदास

नामक वैष्णव द्वारा निर्मित एक बिहार में रहकर अपने ग्रंथों का निर्माण किया।

आचार्य बुद्धदत्त के ही समय में अनुपिटक साहित्य के एक महान् व्याख्याकर बुद्धघोष हुए। बुद्ध-वाणी का अध्ययन करने के बाद बुद्धदत्त जब अपनी आयु की अन्तिम सीमा का आभास पाकर लंका से अपनी जन्मभूमि की ओर लौट रहे थे, तो बीच नदी में उनका संमुखीकरण बुद्धघोष से हुआ, जो कि उसी कार्य के लिए लंका जा रहे थे। बुद्धघोष ने कहा 'भगवान् बुद्ध के सिद्धान्त (व्याख्याएँ) सिंहली भाषा में उपलब्ध हैं। मैं उन्हें मागधी में रूपान्तरित करने के उद्देश्य से सिंहल जा रहा हूँ।' और हमने बुद्धदत्त-प्रणीत जिन दो ग्रन्थों का उल्लेख ऊपर किया है, उनका आधार बुद्धघोष के ही ग्रन्थ थे।

बुद्धघोष के समय तक बौद्धों में संस्कृत का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। जिन बौद्ध विद्वानों ने अपनी कृतियों के लिए उसको अपनाया उनमें अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबंधु और दिङ्नाग प्रमुख हैं। इधर गुप्त राजाओं ने भी पालि की जगह संस्कृत में ही अपनी रुचि प्रदर्शित की।

किन्तु दूसरी ओर पालि भाषा के प्रति अपना अलग अनुराग रखनेवाले विद्वानों की भी कमी नहीं थी। बोधगया के भिक्षुसंग में महास्थविर रेवत के प्रधानत्व (५०० ई०) में बुद्धघोष ने प्रवेश किया और पालि के पुनरुद्धार के लिए पर्याप्त यत्न किया। उपसंपदा होने पर बुद्धघोष ने अपने गुरु रेवत से धर्म और विनय का गंभीर अध्ययन कर बौद्ध-साहित्य के एक बहुत बड़े व्याख्याकार के रूप में अपने को विश्रुत किया। यहाँ रहकर सर्वप्रथम उन्होंने 'ञाणोदय' और 'अट्ठसालिनी' ये दो ग्रन्थ लिखे।

अपने गुरु की ही प्रेरणा से बुद्धघोष उन अट्ठकथाओं के अध्ययन के लिए सिंहल गए थे, जो महामति महेन्द्र द्वारा मूलरूप में वहाँ ले जाई गई थीं। श्रीलंका पहुँचकर बुद्धघोष ने भिक्षु-संघ से सिंहली में अनूदित अट्ठकथाओं का अनुवाद मागधी में करने के लिए प्रार्थना की। भिक्षुओं ने उसकी परीक्षा के लिए दो पालि-गाथाएँ देकर उनकी व्याख्या करने के लिए कहा। बुद्धघोष ने उनकी व्याख्या बड़ी विद्वत्तापूर्ण ढंग से की और अपने उस

व्याख्याग्रन्थ का नाम रखा 'विसुद्धिमग्ग'। भिक्षुसंघ ने संतुष्ट होकर उन्हें अट्ठकथाओं के अनुवाद की आज्ञा दे दी।

उन्होंने 'समन्तपासादिका', 'कंखावितरणी' (मातिकट्ठकथा) के अतिरिक्त प्रथम चार निकायों पर भी अट्ठकथाएँ लिखीं, जिनमें से 'दीघनिकाय' पर 'सुमंगलविलासिनी', 'मज्झिमनिकाय' पर 'पपंचसूदनी', 'संयुत्तनिकाय' पर 'सारत्थप्पकासिनी' और 'अंगुत्तरनिकाय' पर 'मनोरथपुरणी' प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि 'खुद्दकनिकाय' के चार ग्रन्थों धम्मपद, जातक, खुद्दकपाठ, और सुत्तनिपात पर भी बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ लिखीं : 'धम्मपदट्ठकथा' 'जातकट्ठकथा' और 'परमत्थजोतिक' (खुद्दक-सुत्त पर)। अनुराधापुर (सिंहल) महाविहार की परम्परा पर उन्होंने 'अभिधम्मपिटक' के सात ग्रन्थों पर अट्ठकथाएँ लिखीं, जिनके नाम हैं 'अट्ठसालिनी' (धम्मसंगणि पर), 'संमोहविनोदिनी' (विभंग पर) और 'पंचप्पकरणट्ठकथा' (शेष पाँच ग्रन्थों पर)।

पालि भाषा में संप्रति उपलब्ध 'जातकट्ठवण्णना' किसी सिंहली पुस्तक का अनुवाद है, जो कि पाँचवीं शताब्दी में किया गया था। मूल सिंहली पुस्तक संप्रति अप्राप्य है। यह अनुवाद अनुराधापुर की परंपरा के अनुसार रचित है। यह परंपरा बुद्धघोष कृत 'जातकट्ठकथा' पर निर्भर थी।

बुद्धघोष के बाद अट्ठकथाकार के रूप में थेर धम्मपाल का नाम उल्लेखनीय है। बुद्धघोष द्वारा 'खुद्दक-निकाय' के अछूते छः ग्रंथों पर उन्होंने संयुक्त रूप से 'परमत्थदीपिनी' ग्रंथ लिखा, जिसका मूल आधार सिंहली कथाएँ थीं। उन्होंने बुद्धघोष के 'विसुद्धिमग्ग' पर भी 'परमत्थमंजूषा' नामक पांडित्यपूर्ण टीका लिखी।

वंशग्रंथ

पालि-साहित्य के इतिहास में काल-विभाग की दृष्टि से वंशग्रन्थों की गणना यद्यपि अनुपिटकों के अन्तर्गत पहिले दिखाई जा चुकी है; किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से और समग्र बौद्ध-साहित्य से परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से इन वंशग्रन्थों का अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसलिए उनके संबंध में अलग से समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

पालि साहित्य में वंश-ग्रंथों की वही स्थिति है, जो संस्कृत-साहित्य में अष्टादश महापुराणों तथा 'महाभारत' एवं 'राजतरंगिणी' आदि पौराणिक-ऐतिहासिक ग्रंथों की है; बल्कि संस्कृत के इन पुराण-इतिहास कोटि में परिगणित होनेवाले विपुल ग्रंथों की अपेक्षा पालि के वंशग्रन्थों में जो सामग्री संगृहीत है, उसमें अधिक संगति, अधिक स्पष्टीकरण और अधिक सत्यता दिखाई देती है।

पालि वंश-साहित्य के निर्माण की परंपरा का प्रवर्तन लगभग चौथी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध से प्रारंभ होकर बीसवीं शताब्दी ईसवी तक पहुँचती है। प्रमुख वंशग्रन्थों के नाम हैं: १ 'दीपवंश', २ 'महावंश', ३ 'चूलवंश', ४ 'बुद्धघोसुप्पत्ति', ५ 'सद्धमसंग्रह,' ६ 'महाबोधिवंश', ७ 'थूपवंश,' ८ 'अत्तनगलुविहारवंश', ९ 'दाठावंश', १० 'छकेसधातुवंश', ११ 'ग्रंथवंश' और १२ 'सासनवंश'।

दीपवंश

'दीपवंश' लंका के साहित्य में पहिला इतिहास ग्रन्थ है, जिसमें लंका की शासन-सत्ता का आदि लेकर राजा महासेन (३२५-३५२ ई०) तक का क्रमबद्ध इतिहास वर्णित है। यद्यपि इसके लेखक का पता नहीं चलता है; फिर भी इतना स्पष्ट है कि इसकी रचना बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं श०) से पहिले, संभवतः ३५२-४५० ई० के बीच हुई। दीपवंश में काव्यत्वगुण उतने नहीं हैं, जितना कि ऐतिहासिक दृष्टि से उसका महत्त्व है। उसके इस महत्त्व को सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। 'दीपवंश' लंकाद्वीप की प्राचीन शासनपरंपरा को बतानेवाला एकमात्र पहिला ग्रंथ है, वरन्, पालि-साहित्य और बौद्धधर्म की विकास-परंपरा का क्रमबद्ध इतिवृत्त जानने के लिए भी उसकी उपयोगिता स्वतःसिद्ध है।

महावंश

विषय की दृष्टि से, क्रम की दृष्टि से, आकार-प्रकार से एवं स्वरूप-शैली की दृष्टि से 'दीपवंश' का दाय लेकर ही 'महावंश' की रचना हुई प्रतीत होती है। फिर भी 'दीपवंश' की अपेक्षा 'महावंश' में काव्यत्वगुण अधिक हैं। उसको एक विशुद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य और काव्य-महाकाव्यों का प्रेरणा-

ग्रंथ भी कहा जा सकता है। 'महावंश' मूलरूप में ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा तक ही था; किन्तु बाद में उसके कलेवर का परिवर्द्धन हुआ, जिसको कि 'चूलवंश' कहा जाता है।

'महावंश' पर १२ वीं शताब्दी में एक टीका लिखी गई, जिससे पता चलता है कि 'महावंश' के रचयिता का नाम भदंत महानाम था। विद्वानों का बहु-समर्थित मत इस वंशग्रंथ की रचना ईसा की पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम भाग या छठी शताब्दी का आदि भाग स्वीकार करता है।

बुद्धघोसुप्पत्ति (बुद्धघोषोत्पत्ति)

इस ग्रन्थ के रचयिता महामंगल सिंहली भिक्षु थे, जिन्होंने कि 'गंधट्ठि' नामक व्याकरण की भी रचना की थी। इनका स्थितिकाल १४वीं शताब्दी था। इसके नाम से ही विदित है कि यह बुद्धघोष का जीवनी-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना अनुश्रुतियों पर आधारित होने के कारण उसमें कहीं कहीं ऐतिहासिक भूलें भी हो गयी हैं। 'महावंश' के परिवर्द्धित संस्करण में बरमी भिक्षु धम्मकित्ति (१३वीं श०) द्वारा उल्लिखित बुद्धघोष सम्बन्धी विवरण भिक्षु महामंगल के इस ग्रन्थ के विवरणों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक ठहरते हैं।

सद्धम्मसंगह

इसमें आरंभ से लेकर १३वीं श० तक के भिक्षुसंघ का इतिहास वर्णित है, जिसका आधार बुद्धघोष की अट्ठकथाएँ एवं 'दीपवंश' तथा 'महावंश' हैं। प्रियदर्शी अशोक के समय में आयोजित तीसरी बौद्ध संगीति के बाद प्रचारार्थ भेजे गए भिक्षुओं का वर्णन भी इस ग्रंथ में दिया गया है। इसमें ४० अध्याय हैं।

इस ग्रंथ के रचयिता धम्मकित्ति महासामी (धर्मकीर्ति महास्वामी) का स्थितिकाल चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध था, जिन्होंने कि 'बालावतार-व्याकरण' की भी रचना की थी।

महाबोधिवंश (बोधिवंश)

इस ग्रंथ की कथावस्तु के आधार भी 'दीपवंश', 'महावंश' आदि प्राचीन रचनाएँ हैं। इस ग्रन्थ में अनुराधापुर के बोधिवृक्ष की कथा पद्यबद्ध वर्णित है, जिसमें कि लेखक ने रूपकात्मक शैली में बौद्धधर्म का ही इतिहास दिखा है। इस ग्रन्थ की रचना सिंहली भिक्षु उपतिस्स (उपतिष्य) ने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में की थी। स्ट्रॉग महोदय ने उपतिष्य को बुद्धघोष का समकालीन सिद्ध किया था; किन्तु डॉ० गायगर ने उसका प्रतिवाद कर प्रामाणिक आधारों पर यह सुझाया कि उपतिष्य का स्थितिकाल ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में था।

थूपवंश (स्तूपवंश)

इस वंशग्रन्थ की रचना सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर ने की है। वाचिस्सर (वागीश्वर) नाम के कई भिक्षु सिंहल में हो चुके हैं; किन्तु उन सभी में थूपवंशकार की ही अधिक विश्रुति है। 'गंधवंश' में इनके रचे हुए १८ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। सुप्रसिद्ध वेदांती वाचस्पति मिश्र और स्थविर वाचिस्सर का व्यक्तित्व प्रायः एक जैसी ऊँचाई पर गिना गया है।

'थूपवंश' की रचना पूर्ववर्ती ग्रन्थों के आधार पर की गई है। वह १३वीं शताब्दी में रचा गया और इसी समय उसका सिंहली रूपान्तर भी हुआ। 'थूववंश' (स्तूपवंश) में भगवान् बुद्ध के स्मृतिस्वरूप धातुनिर्मित स्तूपों का इतिहास वर्णित है, जिसका आरंभ बुद्ध-परिनिर्वाण से लेकर लंका के राजा दुट्ठगामणि (१०१–७७ ई० पूर्व) के समय तक पहुँचता है। स्तूपों के इतिहास के अतिरिक्त ई० पूर्व प्रथम शताब्दी तक बौद्धधर्म का जो विकास हुआ, उसका भी पूरा विवरण इस ग्रन्थ में मिलता है। लंका के धार्मिक इतिहास में 'थूपवंश' का बड़ा महत्त्व है।

अत्तनगलुविहारवंश

इस ग्रन्थ के लेखक का नाम अविदित है। सिंहली भिक्षु अनोमदस्सी के अनुरोध पर इस ग्रंथ का निर्माण १३वीं शताब्दी, पराक्रमबाहु

(१२२९-१२४६ ई०) के समय हुआ। किसी विहार के नाम पर इस ग्रंथ का नामकरण हुआ। इसका सिंहली संस्करण 'हत्थवनगल्लविहारवंश' के नाम से प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में ११ अध्याय हैं और इसकी वर्णनशैली सरल एवं स्वाभाविक बताई गई है।

दाठवंश

इसका दूसरा नाम 'दंतधातुवंश' भी है, क्योंकि इसमें बुद्ध के दाँत-धातु की कथा है। इसके कथानक की समानता 'थूपवंश' से बैठती है। इस ग्रन्थ की रचना तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य महाथेर धम्मकित्ति (महास्थविर धर्मकीर्ति) ने की। इन धर्मकीर्ति को संस्कृत-मागधी का पूर्णज्ञ, तर्कशास्त्र, व्याकरण, काव्य, आगम और विशेषतया छंदों का निष्णात विद्वान् बताया गया है।

छकेसधातुवंश

वंशग्रन्थों के निर्माण की परंपरा तेरहवीं शताब्दी के बाद कुछ शिथिल-सी दिखाई देती है। लगभग पाँच शतक बाद १९वीं शताब्दी में 'छकेस-धातुवंश', 'सासनवंश' और 'नन्दवंश', इन तीन वंशग्रंथों का एक साथ निर्माण हुआ।

'छकेसधातुवंश' का निर्माण किसी वर्मी भिक्षु ने किया, जिसका नाम विदित नहीं होता है। इस ग्रंथ में भगवान् तथागत के छह केशों के ऊपर निर्मित स्तूपों का इतिहास वर्णित है।

सासनवंश (शासनवंश)

'सासनवंश' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। उसकी आधारभूत सामग्री ही प्राचीन पालि ग्रन्थ है। उसमें बुद्ध-शासन का इतिहास वर्णित है। बुद्ध-परिनिर्वाण से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के सुदीर्घ समय में बौद्धधर्म का जिस क्रम से विकास हुआ, उसकी क्रमबद्ध स्थितियों का पूरा-पूरा हवाला इस ग्रन्थ में दिया हुआ है। तृतीय बौद्ध संगीति के बाद विदेशों में भेजे गए

धर्मोपदेशक भिक्षुओं का भी इस ग्रन्थ में वर्णन है। बर्मी भिक्षु पञ्ञसामी (प्रज्ञास्वामी) ने उन्नीसवीं शताब्दी में इस ग्रन्थ का निर्माण किया।

गन्धवंश (ग्रंथवंश)

इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इसमें पालि ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का इतिहास वर्णित है। इस दृष्टि से इस ग्रंथ का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पुस्तक में पालि ग्रन्थों की सूची, उनके रचयिताओं की सूची, उनके रचनास्थान का विवरण एवं उनके रचनाकाल का, रचना के उद्देश्य का विस्तार से वर्णन है। विषय की दृष्टि से पालि ग्रन्थकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण और तदनन्तर ऐतिहासिक क्रम से उनका परिचय, इस ग्रन्थ की विशेषता है। भारतीय और लंकावासी ग्रन्थकारों का इसमें अलग-अलग ब्यौरा दिया हुआ है। साथ ही एक सूची ऐसे ग्रन्थों की भी टाँक दी गई है, जिनके लेखकों का पता नहीं है। यह ग्रन्थ पालि-साहित्य के इतिहासकार एवं पालि-साहित्य के अध्येता के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसकी रचना बरमा में उन्नीसवीं शताब्दी में हुई।

पालि काव्य

पालि-साहित्य के क्षेत्र में काव्यों की उन्नत निर्माण-परंपरा का प्रायः अभाव ही समझना चाहिए। मानवजीवन की व्यापक एवं गहन अनुभूतियों का पहिला दर्शन हमें त्रिपिटकों में होता है। त्रिपिटकों में संगृहीत भगवान् तथागत के ऊँचे विचारों में यद्यपि काव्य-विषय की सर्वांगीणताएँ समाविष्ट हैं, फिर भी, संस्कृत में हम काव्यों का जिस दृष्टि से विश्लेषण एवं विवेचन पाते हैं, उस दृष्टि से त्रिपिटकों को हम काव्य न कह कर काव्यों के उपजीवी, पालि काव्यों के जन्मदाता कह सकते हैं। त्रिपिटकों के सुन्दर कथा-शिल्प को लेकर काव्यत्व की परिधियों में बाँध देने का यह कार्य दसवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक प्रधनतया लंका में और गौणतया बरमा में होता गया।

विषय की दृष्टि से पालि में दो प्रकार से काव्यों का प्रणयन हुआ: वर्णनात्मक और आख्यानात्मक।

पहिली श्रेणी के काव्यग्रन्थों में कस्सप (कश्यप) का 'अनागतवंश' (प्राग्-बुद्धघोष), भिक्षु कल्याणप्रियकृत 'तेलकटाहगाथा' (संभवतः ३००ई० पूर्व), बुद्धरक्खित (बुद्धरक्षित) का 'जिनालंकार' (१२वीं श०), मेघंकरकृत 'जिनचरित' (१३वीं श०), स्थविर बुद्धप्पिय (बुद्धप्रिय) का 'पज्जमधु' (१३वीं श०), सिंहली भिक्षु ब्रह्मचारी सोमप्पिय (सोमप्रिय) का 'सद्धम्मोपायन' (१२वीं १३वीं श०), अज्ञातकालीन एवं अविदित लेखक का 'पञ्चयतिदीपन', बरमी भिक्षु मेघंकरकृत 'लोकप्पदीपसार' या 'लोकदीपसार' (१४वीं श०) का नाम उल्लेखनीय है।

दूसरी श्रेणी के आख्यान काव्यों में प्रथम संस्कर्ता स्थविर रट्ठपाल (राष्ट्रपाल) तथा द्वितीय संस्कर्ता भिक्षु वैदेह स्थविर (वेदेह थेर) कृत 'रसवाहिनी' (१३-१४वीं श०), बरमी भिक्षु शीलवंश कृत 'बुद्धालंकार' (१५वीं श०), बरमा में संकलित कथासंग्रह 'सहस्सवत्थुप्पकरण' और बरमी राजा बोदोपया (बुद्धप्रिय) (१८वीं श०) के आग्रह से लिखा गया गद्यग्रंथ 'राजाधिराजविलासिनी' का नाम उल्लेखनीय है।

पालि व्याकरण

लगभग पाँचवीं शताब्दी ईसवी तक पालि भाषा में किसी भी प्रकार के व्याकरण-ग्रंथ की रचना नहीं हो पाई थी। आचार्य बुद्धघोष (पाँचवीं शताब्दी) ने जितनी भी निष्पत्तियाँ या प्रयोग दिए हैं, उनका आधार पाणिनि-व्याकरण ही था। यद्यपि बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार भगवान् तथागत के प्रधान शिष्य महाकच्चायन (महाकात्यायन) ने एक पालि-व्याकरण की रचना की थी और इसी प्रकार बोधिसत्त एवं सब्बगुणाकर के व्याकरण-ग्रन्थों का भी बौद्ध-परंपरा में नाम लिया जाता है; किन्तु इनमें संप्रति कोई भी व्याकरण उपलब्ध नहीं है।

उपाध्याय जी ने पालि के उपलब्ध व्याकरण को तीन शाखाओं या संप्रदायों में विभक्त किया है : १ 'कच्चायन-व्याकरण' और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य, २ 'मोग्गलायन-व्याकरण' और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य, ३ अग्गवंसकृत 'सद्दनीति' और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य।

कच्चायन व्याकरण और उसका उपजीवी साहित्य

'कच्चायन-व्याकरण' पालि-साहित्य का प्रथम व्याकरण है, जिसके दूसरे नाम 'कच्चायन-व्याकरण', 'कात्यायन-व्याकरण' या 'कच्चायन-गन्ध' (कात्यायन-ग्रन्थ) भी है। इन व्याकरणकार का सम्बन्ध न तो बुद्ध के प्रधान शिष्य महाकच्चायन से है और न वार्तिककार कात्यायन से ही; एवं 'नेत्तिपकरण' तथा 'पेटकोपदेस' के रचयिता कच्चायन से भी ये भिन्न हैं। पाणिनि-व्याकरण, बुद्धघोष के ग्रन्थों, 'कातन्त्र-व्याकरण' और 'काशिकावृत्ति' से 'कच्चायन-व्याकरण' के रचनात्मक विधान का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि उसका निर्माण सातवीं शताब्दी के बाद हुआ। वैयाकरण कच्चायन को 'महानिरुत्तिगंध' (महानिरुक्तिग्रन्थ) और 'चुल्लनिरुत्तिगंध' (संक्षिप्तनिरुक्तिग्रन्थ) नामक दो व्याकरण-ग्रंथों का रचयिता भी बताया गया है।

'कच्चायन व्याकरण' पर पहिला भाष्य आचार्य विमलबुद्धि ने (११वीं से ७वीं श० के बीच) 'न्यास' नाम से लिखा, जिसका दूसरा नाम 'मुखमत्त-दीपिनी' भी उल्लिखित है। सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य छपद नामक आचार्य (१२वीं श०) ने 'न्यास' की टीकास्वरूप 'न्यासप्रदीप' लिखा। 'न्यास' पर एक टीकाग्रन्थ बरमी भिक्षु दाठानाग (१७वीं श०) ने 'निरुत्त-सारमंजूषा' नाम से लिखा। छपद कृत 'न्यासप्रदीप' पर 'सुत्तनिद्देस' नामक एक व्याकरण-ग्रन्थ बुद्धाब्द १७१५ (११८१ ई०) में लिखा गया। सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य स्थविर संघरक्खित (संघरक्षित १२वीं श०) ने भी 'कच्चायन व्याकरण' पर एक ग्रन्थ 'संबंधचिंता' नाम से लिखा। इन्हीं स्थविर ने भिक्षु धम्मसिदि (धर्मश्री) के 'खुद्दक-सिक्खा' पर टीकास्वरूप 'खुद्दकसिक्खा टीका' भी लिखी।

'कच्चायन-व्याकरण' पर लिखे गए ग्रन्थों में स्थविर धर्मश्री (१२वीं श०), 'सद्दत्थभेदचिंता' (शब्दार्थभेदचिंता), सरिपुत्त के शिष्य स्थविर बुद्धप्रिय-दीपंकर (१३वीं श०) की 'रूपासिद्धि', 'पज्जमधु', धर्मकीर्ति (१४वीं श०) का 'बालावतार व्याकरण', इस पर लिखी गई किसी अज्ञातनामा एवं अज्ञातकालीन लेखक की टीका; बरमी भिक्षु कंटकखियनागित (या नागित)

रचित 'सद्दसारत्थजालिनी' (रचनाकाल १९०० बुद्धाब्द—१३५६ ई०), स्थविर महायास (१४वीं श०) कृत 'कच्चायनभेद' और 'कच्चायनसार'; बरमी भिक्षु अरियालंकारकृत 'कच्चायनभेद' की एक टीका 'सारत्थविकासिनी' (बुद्धाब्द २१५२–१६०८ ई० में रचित) और अज्ञातकालीन भिक्षु उत्तमसिक्ख (उत्तमशिक्ष) कृत दूसरी टीका 'कच्चायनभेद महाटीका' ; 'कच्चायनसार' पर स्वयं स्थविर महायास कृत 'कच्चायनसार-पुराणटीका', बरमी भिक्षु सद्धमविलास-कृत 'कच्चायनसार-अभिनवटीका' (या सम्मोहविनाशिनी), बरमी नरेश क्यच्चा (१५वीं श०) द्वारा लिखित 'सद्दबिन्दु' (शब्दबिन्दु—बुद्धाब्द २०२५–१४८१ ई० में रचित) ; ज्ञानविलास भिक्षु (१६वीं श०) कृत 'सद्दबिन्दु' या 'लीनत्थसूदनी' नामक टीका ; किसी अज्ञात लेखक (१६वीं श०) का 'बालप्पबोधन' (बालप्रबोधन), एक दूसरे अज्ञातनामा तथा अज्ञातकालीन ग्रंथकार का 'अभिनवचुल्लनिरुक्ति' नामक व्याकरण ; बरमी भिक्षु महाविजितावी (१७वीं श०) कृत 'कच्चायनवण्णना' तथा 'वाचकोपदेश' ; और स्थविर शीलवंश-कृत 'धातुमंजूषा' आदि का नाम उल्लेखनीय है ।

मोग्गल्लान व्याकरण और उसका उपजीवी साहित्य

'मोग्गल्लान-व्याकरण' का लंका और बरमा की बौद्ध-परंपरा में बड़ा आदर एवं प्रचलन है । यद्यपि वह अधिक प्राचीन नहीं है ; तथापि 'कच्चायन-व्याकरण' की अपेक्षा वह अधिक सर्वांगीण और भाषा-उपादानों की दृष्टि से अधिक संयत एवं व्यवस्थित है । इसका दूसरा नाम 'मागधसद्दलक्खण' भी है, जो कि पाणिनि-व्याकरण, कातन्त्र-व्याकरण, प्राचीन पालि-व्याकरण और चंद्रगोमिन् के व्याकरण पर आधारित है ।

मोग्गल्लान महाथेर का 'मोग्गल्लान-व्याकरण' एक उच्चकोटि की रचना है । अपने व्याकरण-ग्रन्थ पर मोग्गल्लायन महाथेर ने एक वुत्ति (वृत्ति) और उस पर एक पांडित्यपूर्ण टीका 'पञ्चिका' नाम से लिखी । मोग्गल्लान महाथेर का स्थितिकाल १२वीं शताब्दी का अंतिम भाग है ।

'मोग्गल्लान-व्याकरण' के आधार पर रचे गए ग्रन्थों में मोग्गल्लान के समकालीन उनके शिष्य पियदस्सी-कृत 'पदसाधन', तित्थगाम (लंका)

निवासी स्थविर राहुल वाचिस्सर कृत 'पदसाधनाटीका' (या बुद्धिप्पसादिनी—१४७२ ई० में रचित); मोग्गल्लान-पंचिका-प्रदीप (१४५७ ई० में रचित), वनरतन मेधंकर (१३०० ई०) कृत 'प्रयोगसिद्धि', आचार्य धम्माराम नायक महाथेर (१८९६ ई०) कृत 'विद्यालंकार परिवेण' और अज्ञातनामा एवं अज्ञातकालीन लेखक की 'धातुमंजूषा' आदि उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

सद्दनीति और उसका उपजीवी साहित्य

पालि व्याकरण की परंपरा का तीसरा 'सद्दनीति' संप्रदाय बरमा की देन है। बरमा से पहिले सिंहल में व्याकरण की दिशा में अच्छा कार्य हो चुका एवं हो रहा था; किन्तु कुछ सिंहली भिक्षुओं ने बरमा में आकर जब 'सद्दनीति-व्याकरण' को देखा तो उन्हें यह बात स्वीकार करनी पड़ी कि सिंहली-व्याकरण-परंपरा में अभी तक 'सद्दनीति' जैसी उच्चकोटि की रचना की समानता में कोई पुस्तक नहीं रची गई।

बरमी भिक्षु अग्गवंश ने, जो कि 'अग्गपीडित तृतीय' के नाम से प्रसिद्ध थे, ११५४ ई० में 'सद्दनीति' व्याकरण की रचना की, जो कि 'कच्चायन-व्याकरण' पर आधारित है। हिंगुलवल जिनरतन नामक बरमी भिक्षु ने 'सद्दनीति' पर एक 'धातुरूपावली' के ढंग की 'धात्वर्थदीपनी' नामक पुस्तक लिखी। इनका समय निश्चित नहीं है। 'सद्दनीति' व्याकरण की परंपरा में इसके अतिरिक्त दूसरी पुस्तकें देखने को नहीं मिलती हैं।

पालि के अन्य व्याकरण

इन तीनों संप्रदायों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से भी पालि-साहित्य में व्याकरण-ग्रन्थों की विपुल रचना देखने को मिलती है, जिसका पूरा परिचय आचार्य सुभूतिकृत 'नाममाला' तथा डे जॉयसा के 'कैटलॉग' से प्राप्त किया जा सकता है। पालि के इन विपुल व्याकरण-ग्रन्थों में बरमी भिक्षु रामणेर धम्मदस्सी (१४वीं श०) कृत 'वच्चवाचक,' जिस पर बरमी भिक्षु सद्धम्मनंदी ने १७६८ ई० में एक टीका लिखी। इनके अतिरिक्त मंगल (१४वीं श०) कृत 'गंधदिट्ठि,' अरियंस (१५वीं श०) कृत 'गंधाभरण,' बरमी राजा

कयच्चा की पुत्री (१४८१) कृत 'विभत्त्यत्थप्पकरण', जिस पर बाद में 'विभत्थ', 'विभत्यत्थदीपनी' तथा 'विभत्तिकथावण्णगा' नाम से अनेक टीकाएँ लिखी गईं; जंबुध्वज (१७वीं श०) कृत 'संवण्णनानयदीपना', 'निरुत्तिसंगह' तथा 'सर्वज्ञन्यायदीपनी', सद्धम्म गुरु कृत 'शद्दवुत्ति' (शब्दवृत्ति १६५६ ई० में रचित), लंका के अंतरगमवंडार राजगुरु (१८वीं श०) कृत 'कारकपुप्फ-मंजरी'; बरमी भिक्षु विचित्ताचार (विचित्राचार–१८वीं श०) कृत 'नयलक्खणविभावनी' और अज्ञातनामा लेखकों की 'सुधीरमुखमंडन', 'सद्दविदु', 'सद्दकलिका', 'सद्दविनिच्छय' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

पालि : कोश छन्द और काव्यशास्त्र-ग्रंथ

पालि कोशग्रंथों से दो ही ग्रंथों का नाम प्रमुखता से उल्लेखनीय है, जिनमें पहिला मोग्गल्लानकृत 'अभिधानप्पदीपिका' और दूसरा बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति) कृत 'एकक्खरकोस' है। 'अभिधानप्पदीपिका' संस्कृत के सुप्रसिद्धकोश 'अमरकोश' की शैली एवं उसके आधार पर निर्मित है। सिंहल और बरमा में इसकी अधिक ख्याति है। इस कोशग्रंथ की रचना महाथेर मोग्गलायन ने लंकाधिपति परक्कम-भुज भूपाल (पराक्रमवाहु प्रथम ११५३–११८६ ई०) के समय महाजेतवन नामक विहार में की थी। ये कोशकार मोग्गल्लान पूर्वोक्त व्याकरणकार मोगल्लान से पृथक् व्यक्ति हुए, 'गंधवंश' में जिनको 'नव मोग्गल्लान' कहा गया है।

आचार्य सद्धर्मकीर्ति का कोश संस्कृत के एकाक्षरी कोश का पालि रूपांतर है, जिसका उल्लेख कि कोशकार ने पुष्पिका में कर दिया है। इस कोश का रचना १४६५ ई० में हुई।

इसी प्रकार सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य स्थविर संघरक्खित (१२वीं श०) द्वारा लिखित 'वृत्तोदय' पालि का एक मात्र छन्दश्शास्त्र-विषयक ग्रन्थ है, जिस पर 'वचनत्थजोतिका' नामक एक टीका भी लिखी गई। इस विषय के अनधिक ख्यातिप्राप्त ग्रंथों में 'छंदोविचिति, 'कविसार-प्पकरण' और 'कविसारटीका-निस्सय' का नाम लिया जा सकता है।

इन्हीं स्थविर संघरक्खितकृत 'सुबोधालंकार' काव्यशास्त्र का एकमात्र पालिग्रन्थ है।

संस्कृत के ग्रंथकार

जिस प्रकार बौद्धधर्म की स्थविरवादी शाखा के प्रायः संपूर्ण ग्रन्थ पालि भाषा में उल्लिखित हैं, उसी प्रकार सर्वास्तिवादी शाखा के प्रवर्तक और अनुवर्तक विद्वानों की प्रायः समग्र कृतियाँ संस्कृत भाषा में लिखी हुई मिलती हैं। बौद्ध-विद्वानों की यह एक बहुत बड़ी दूरदर्शिता थी कि उन्होंने अपनी कृतियों का प्रणयन पालि को छोड़कर संस्कृत में किया। संस्कृत को अपनाकर उन्होंने एक ओर तो अपने अभीष्ट को यथाशक्ति पूरा किया और दूसरी ओर तथागत के समय से ही संस्कृत के प्रति बौद्ध जगत् में जो एक प्रकार से संप्रदायजन्य संकीर्णता की भावना पैदा होती चली आ रही थी, उसको दूर कर अपने उदार विचारों का परिचय दिया, और ऐसा करके उन्होंने बौद्धधर्म के महत्त्व को बढ़ाया।

अश्वघोष

इस प्रकार के संस्कृतानुरागी बौद्ध-विद्वानों में पहिला नाम अश्वघोष का है। अश्वघोष संस्कृत-साहित्य के एक सुपरिचित महाकवि और बौद्ध-न्याय के प्रकाण्ड दार्शनिक भी थे। संस्कृत-साहित्य में उनकी गणना भास एवं कालिदास जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थकारों में की जाती है। अश्वघोष सर्वास्तिवादी विचारधारा के बौद्ध थे। क्योंकि एक बौद्ध होने की अपेक्षा वे एक महाकवि के रूप में अधिक विख्यात हैं, इसलिए उनकी जीवनी और कृतियों पर महाकाव्यकारों के प्रसंग में प्रकाश डाला गया है।

नागार्जुन

बौद्ध-न्याय के यशस्वी निर्माता होने के कारण बौद्ध-साहित्य के इतिहास में एवं शीर्षस्थानीय भारतीय दर्शनकारों की कोटि में आचार्य नागार्जुन के बहुमुखी व्यक्तित्व एवं उनकी असामान्य प्रतिभा को आदर के साथ स्मरण

किया जाता है। इन आचार्यपाद की पांडित्यपूर्ण कृतियों से बौद्ध-साहित्य गौरवान्वित है; किन्तु उनके जीवन से संबंधित प्रामाणिक जानकारी आज भी संदिग्धावस्था में है। यह जानकर हमें प्रभूत विस्मय होता है कि इस महा मनस्वी एवं अद्भुत विचारक की कीर्ति-कथा जहाँ एक ओर भारतीय धरती को लाँघकर सुदूर चीन, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों तक विस्तारित है वहाँ दूसरी ओर उनके जीवनचरित्र के वैविध्य का एक सर्वमान्य हल नहीं निकल सका है।

इसका प्रमुख कारण है 'नागार्जुन' नाम की अनेकरूपता। बौद्ध-दार्शनिक, तांत्रिक और रासायनिक आदि के रूप में एकाधिक नागार्जुन इतिहास की पुस्तकों में मिलते हैं। इनका स्थितिकाल भी इतिहासकारों ने ई० पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की आठवीं शताब्दी तक विभिन्न तिथियों में रक्खा है, और एक के नाम से दूसरे की कृतियों को जोड़कर यह समस्या और भी जटिल बना दी है। जहाँ एक ओर हमें यह विदित होता है कि तांत्रिक एवं रासायनिक नागार्जुन का स्थितिकाल सातवीं-आठवीं शताब्दी है, और बौद्ध-दार्शनिक नागार्जुन उक्त नागार्जुन से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हुए, वहाँ दूसरी ओर तिब्बतीय एवं चीनी परंपरा के अनुसार तांत्रिक, रासायनिक और बौद्ध एक ही व्यक्ति सिद्ध होते हैं। चीन और तिब्बत में प्रचलित ये अनुश्रुतियाँ हमें अतिरंजित लगती हैं। यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि रासायनिक और दार्शनिक दोनों समान नामधारी नागार्जुन पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे। 'आरोग्य-मंजरी', 'रसेंद्रभंग', 'रसरत्नाकर' और 'योगशतक' प्रभृति कृतियों का निर्माता रासायनिक नागार्जुन था।

इतना स्पष्टीकरण कर देना भी आवश्यक है कि लौहशास्त्रविद् नाम से कुछ समालोचकों ने जो तीसरे ही नागार्जुन का उल्लेख किया है, वे रासायनिक नागार्जुन ही थे। ये रासायनिक नागार्जुन, दार्शनिक नागार्जुन के पूर्ववर्ती थे और इनका आनुमानिक स्थितिकाल ई० पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी के लगभग था। भ्रमवशात् कुछ विद्वानों ने एक ही नागार्जुन को 'सुश्रुत' का संस्कर्ता, सिद्ध लौहशास्त्रकार और सुप्रसिद्ध शून्यवादी सिद्ध किया है; किन्तु अब पूरी तरह इतना निराकृत हो चुका है कि ये भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे।

सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु एवं संस्कृत ग्रंथों के चीनी अनुवादक कुमारजीव ने ४०१-४०९ ई० के भीतर आचार्य नागार्जुन और आचार्य वसुबंधु के दो जीवनीग्रंथ लिखे थे। ४०५ ई० में कुमारजीव कृत नागार्जुन के जीवनी-ग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका था। इस जीवनी ग्रंथ के अनुसार नागार्जुन ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए और उनकी जन्मभूमि दक्षिण थी। युवान च्वांग ने नागार्जुन को दक्षिण कोशल या प्राचीन विदर्भ (बरार) का पैदा हुआ माना है। तिब्बतीय भाषा में बौद्धधर्म के इतिहासकार लामा तारानाथ ने नागार्जुन के गुरु का नाम राहुलभद्र बताया है और इस संबंध में कहा है कि नागार्जुन पहिले ब्राह्मण था तथा उसको महायान पंथ की प्रेरणा ज्ञानी श्रीकृष्ण एवं गणेश से प्राप्त हुई। टी० वैटर्स ने नागार्जुन को छत्तीसगढ़ का निवासी बताया है।

कुमारजीव-कृत ग्रंथ के अनुसार प्रौढ़ावस्था तक नागार्जुन ने वेदों का गंभीर अध्ययन किया और तदनंतर बौद्धधर्म की दीक्षा ग्रहण की। बौद्धधर्म में दीक्षित होने के बाद ९० दिनों तक उन्होंने त्रिपिटक का सूक्ष्म अध्ययन किया और इससे भी संतुष्ट न होकर हिमालयवासी एक विद्वान् से उन्होंने 'महायान-सूत्र' का ज्ञानोपार्जन किया।

लामा तारानाथ के मतानुसार आचार्य नागार्जुन ने जीवन का अधिकांश भाग नालंदा महाविहार में रहकर बिताया; किन्तु कुमारजीव का कहना है कि वे अधिकतया दक्षिण भारत में बौद्धधर्म का प्रचार करते हुए श्रीपर्वत (गुंटूर जिला में स्थित नागार्जुनी कोंडा) पर रहे। युआन च्वांग ने संसार को प्रकाशित करनेवाले नागार्जुन, अश्वघोष, कुमारलब्ध (कुमारलात) और आर्यदेव को चार सूर्य कहा है। वैटर्स ने नागार्जुन को उत्तरकालीन बौद्धधर्म का एक महान् आश्चर्य और रहस्य कहा है।

कुमारजीव-कृत जीवनी-ग्रंथ की कुछ बातें अतिरंजित प्रतीत होती हैं। उन्होंने लिखा है कि आचार्य नागार्जुन ३०० वर्ष तक जीवित रहे। तिब्बती परंपराएँ इससे और आगे बढ़कर नागार्जुन की जीवनावधि को ५२८ या ६०० वर्ष बताती हैं। लामा तारानाथ ने नागार्जुन को कनिष्ककालीन बताया है, जब कि कतिपय दूसरे तिब्बती विद्वानों ने उसका जन्म बुद्धनिर्वाण के ४०० से ७०० वर्ष बाद बताया है।

सुप्रसिद्ध गद्यकार बाणभट्ट ने एक नागार्जुन को मित्रसमुद्राधिपति सातवाहननरेश का मित्र बताया है। ये बौद्ध नागार्जुन ही थे। इतिहासकारों की आधुनिकतम खोजों के अनुसार आचार्य नागार्जुन आँध्रनरेश सातवाहन गौतमीपुत्र यज्ञश्री (१६६–१९६ ई०) के समकालीन ठहरते हैं। विंटरनित्स ने नागार्जुन के इस स्थितिकाल के संबंध में गवेषणात्मक प्रकाश डाला है।

कृतियाँ

आचार्य नागार्जुन के वर्चस्वी व्यक्तित्व एवं उनकी अद्भुत प्रतिभा का दर्शन उनकी महान् कृतियों को देखकर किया जा सकता है। चीनी और तिब्बतीय भाषाओं के अनुवाद के रूप में नागार्जुन के नाम से २० ग्रंथों का पता लगता है। बुनियु नंजियों ने भी अपने सुप्रसिद्ध 'सूचीग्रंथ' में नागार्जुनकृत १८ कृतियों का उल्लेख किया है। ये सभी कृतियाँ दार्शनिक नागार्जुन द्वारा ही रचित हैं, इसमें पर्याप्त संदेह है। आचार्य नागार्जुन की स्वरचित १२ कृतियाँ ही ऐसी हैं, जिनको अधिकांश विद्वानों ने प्रामाणिक रूप से उन्हीं की बताया है। ये कृतियाँ हैं : १ 'माध्यमिक कारिका' या 'माध्यमिक शास्त्र', २ 'दशभूमि विभाषाशास्त्र', ३ 'महाप्रज्ञापारमितासूत्र-कारिका', ४ 'उपायकौशल्य', ५ 'प्रमाण-विध्वंसन', ६ 'विग्रह-व्यावर्तिनी', ७ 'चतुःस्तव', ८ 'युक्ति-षष्ठिका', ९ 'शून्यता-सप्तति', १० 'प्रतीत्यसमुत्पादहृदय', ११ 'महायान विंशक' और १२ 'सुहृल्लेख'।

'माध्यमिककारिका' पर नागार्जुन ने स्वयं 'अकुतोभय' नाम की व्याख्या लिखी थी, जो कि तिब्बती भाषा में सुरक्षित है। अपने अंतिम ग्रन्थ 'सुहृल्लेख' को उन्होंने एक पत्र के रूप में अपने मित्र यज्ञश्री गौतमीपुत्र को लिखा था। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में इत्सिंग का कहना है कि नीति और सदाचार विषयक उच्चकोटि की रचना को उस समय बच्चों और वयस्कों को रटाते तथा अध्ययन कराते थे।

नागार्जुन की उक्त बारह कृतियों में 'माध्यमिक कारिका' और 'विग्रहव्यावर्तिनी' ही अपने मूल रूप संस्कृत में उपलब्ध हैं। शेष तिब्बतीय एवं चीनी अनुवादों के रूप में सुरक्षित हैं।

आचार्य नागार्जुन ने जिस सूक्ष्म दार्शनिक मत शून्यवाद की प्रतिष्ठा की थी उसके प्रमुख व्याख्याकारों में बुद्धपालित और भावविवेक का नाम उल्लेखनीय है। इन दोनों विचारकों का स्थितिकाल पाँचवीं शताब्दी है और बौद्ध-दर्शन के क्षेत्र में उनका स्थान इसलिए माना जाता है कि उन्होंने क्रमशः प्रासंगिक एवं स्वतंत्र दो नये संप्रदायों की प्रतिष्ठा की थी। माध्यमिक संप्रदाय के अनुवर्ती विद्वानों में आर्यदेव, शांतिदेव, शांतरक्षित और कमलशील का नाम उल्लेखनीय है।

आर्य असंग

बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र में असंग और वसुबंधु दो विख्यात सहोदर हुए हैं, जिन्होंने बौद्ध-दर्शन के क्षेत्र में शास्त्रीय युग की प्रतिष्ठा की। उनके एक छोटे भाई का नाम विरिंचिवत्स था, जिनका कोई भी उल्लेखनीय कार्य हमें नहीं मिलता है। पुरुषपुर (पेशावर) इनकी जन्मभूमि थी। असंग और वसुबंधु की शिक्षा काश्मीर में संपन्न हुई, जहाँ उन्होंने 'विभाषा-शास्त्र' का गंभीर अध्ययन किया एवं वैदिक ज्ञान में पारंगत हुए। आरंभ में दोनों भाई सर्वास्तिवादी संप्रदाय के अनुयायी थे। उन दिनों इस संप्रदाय का काश्मीर और गंधार में अधिक प्रचलन था। दोनों भाई अयोध्या भी गए।

असंग योगाचार या विज्ञानवाद के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य माने गए हैं। उन्हीं के प्रभाव से वसुबंधु ने सर्वास्तिवाद को त्याग कर विज्ञानवाद को अपनाया। आर्य असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य थे, जिन्हें विज्ञानवाद का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है।

आर्य असंग के प्रमुख ग्रन्थों के नाम हैं : 'महायान संपरिग्रह', 'प्रकरण आर्यवाचा', 'योगाचार भूमिशास्त्र' और 'महायानसूत्रालंकार'। इनमें अंतिम दो कृतियाँ सर्वाधिक महत्त्व की हैं। 'योगाचार भूमिशास्त्र' के मूल संस्कृत रूप की खोज का श्रेय महापंडित राहुल जी को है। 'महायानसूत्रालंकार', असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना है, जिसमें कारिकाएँ मैत्रेयनाथ की हैं और उनकी व्याख्या असंग की।

वसुबंधु

बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र में धर्म और दर्शन, दोनों विषयों के एक असामान्य अधिकारी के रूप में आचार्य वसुबंधु का नाम स्मरण किया जाता है। इन आचार्यपाद का जन्म गांधार (सीमाप्रांत) देश के पुरुषपुर नगर अर्थात् पेशावर में हुआ था। ये कौशिकगोत्रीय ब्राह्मण थे। प्रचंड दार्शनिक योगाचार संप्रदाय के अनुवर्ती विद्वान् आर्य असंग इनके ज्येष्ठ भ्राता थे।

सौभाग्य से आचार्य वसुबंधु की जीवनसंबंधी जानकारी के लिए हमारे पास यथेष्ट सामग्री विद्यमान है। सातवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध चीनी पर्यटक ह्वेनत्सांग और इत्सिंग ने अपने भ्रमण-वृत्तान्तों में वसुबंधु का पर्याप्त उल्लेख किया है। स्वतंत्र रूप से इनके दो जीवनी-ग्रन्थ भी लिखे गए। वसुबंधु का पहिला जीवनीकार कुमारजीव था, जिसने ४०१–४०९ ई० के बीच इनका जीवनचरित लिखा। दूसरे जीवनीकार परमार्थ (४९९-५६० ई०) ने भी इन पर एक ग्रन्थ लिखा। कुमारजीव की पुस्तक संप्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु परमार्थ की चीनी भाषा में अनूदित पुस्तक आज भी सुरक्षित है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् तकाकुसु ने किया है।

इस जीवनी-ग्रंथ से विदित होता है कि आचार्य वसुबंधु युवावस्था में अपनी जन्मभूमि को छोड़कर तत्कालीन विद्वद्-भूमि अयोध्या चले आए थे, और वहीं उन्होंने स्थविर बुद्धमित्र से हीनयान संप्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। गुरुमठ में रहकर उन्होंने बौद्ध-दर्शन का गंभीर अध्ययन किया। इसीलिए अयोध्या को वसुबंधु ने मातृभूमि के समान संमान एवं प्रेम से याद किया है। अपने अगाध पांडित्य का निर्माण, और जिन महान् कृतियों के द्वारा उनकी विलक्षण प्रतिभा जगद्विख्यात हुई, उनकी रचना वसुबंधु ने इसी भूमि में बैठकर की। अस्सी वर्ष के सुदीर्घ जीवन के सुख-दुःख उन्होंने इसी पवित्र भूमि के पादमूल में रहकर बिताए। अयोध्या के अतिरिक्त भी उन्होंने भारत के अनेक तीर्थस्थानों, प्रसिद्ध नगरों और ज्ञानपीठों का भी भ्रमण किया। शाकल और कौशांबी में भी वे कुछ समय तक रहे। स्थिरमति, दिङ्नाग, आर्य विमुक्तसेन और गुणप्रभ जैसे पारंगत नैयायिक इन्हीं के शिष्य थे।

आचार्य वसुबंधु के स्थितिकाल के संबंध में कुछ समय पूर्व विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के बीच विभिन्न तिथियों में उनके स्थितिकाल को रखा गया। ह्वेनत्सांग के मतानुसार वसुबंधु २८वाँ महात्मा हुआ है, जिसका स्थितिकाल ५१० ई० था। मैक्समूलर छठी शताब्दी के अंतिम भाग में उनका होना निश्चित करते हैं। इन्हीं मतों की आलोचना-प्रत्यालोचना लम्बे समय तक होती रही।

जिन कुछ विद्वानों ने गंभीर प्रमाणों और लंबी बहसों को सामने रखकर विशेष उत्सुकता से वसुबंधु के स्थितिकाल पर विचार किया है, उनमें जापानी विद्वान् तकाकुसु प्रमुख हैं, जिनके मतानुसार वसुबंधु की समय-सीमा ४२०–५०० ई० के बीच बैठती है। दूसरे जापानी विद्वान् ओजीहारा (Wogihara) ने वसुबंधु को पाँचवीं शताब्दी के अंत में रखा। मेक्डानल साहब ने चौथी शताब्दी में वसुबंधु के स्थितिकाल के संबंध में अपना खोजपूर्ण दृष्टिकोण रखा, जिसका समर्थन और जिसकी व्याख्या डॉ० विद्याभूषण, डॉ० स्मिथ और डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने की।

दिङ्नाग, शंकर स्वामी, ईश्वरकृष्ण और माठर प्रभृति ग्रन्थकारों के ग्रन्थों का चीनी भाषा का भारतीय अनुवादक परमार्थ ५४६ ई० में चीन गया था। ये सभी ग्रन्थकार वसुबंधु के उत्तरवर्ती हैं। परमार्थ ने स्वयं वसुबंधु के ग्रन्थों का अनुवाद और उनकी जीवनी भी लिखी, जिसकी चर्चा पहिले की जा चुकी है। इस दृष्टि से आधुनिक विद्वान् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वसुबंधु निश्चित ही चौथी शताब्दी में हुए। उन्हें समुद्रगुप्त के अंतरंग मित्रों में बताया गया है। और उनका, इस दृष्टि से संभावित स्थितिकाल २८०–३६० ई० के बीच निर्धारित किया है।

इस संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य है। वसुबंधु अयोध्या के राजा विक्रमादित्य के बड़े प्रेमपात्र थे। इस राजा के पुत्र की शिक्षा-दीक्षा वसुबंधु द्वारा ही संपन्न हुई। 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' के लेखक सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री वामनाचार्य ने उक्त विक्रमादित्य नरेश के पुत्र का नाम चंद्रप्रकाश बताया है और यह भी स्पष्ट किया है कि वसुबंधु का उनसे घनिष्ठ संबंध था। ये चंद्रप्रकाश इतिहासकारों की दृष्टि से सम्राट् चंद्रगुप्त (३२०–३३०) ही थे।

इन सब निष्कर्षों का मंथन करने पर अवगत होता है कि वसुबंधु निश्चित रूप से चौथी शताब्दी ईसवी में हुए। पूरे अस्सी वर्ष की आयु बिताकर उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

जीवन के अंतिम दस वर्ष अपने बड़े भाई आर्य असंग की प्रेरणा एवं संसर्ग के कारण इन्होंने वैभाषिक मत का परित्याग करके महायान संप्रदाय के योगाचारमतावलंबी के रूप में विताये। आर्य असंग ने ही इन्हें योगाचार मत में दीक्षित किया। इसलिए इन्हें वैभाषिक संप्रदाय के अंतर्गत न रखकर योगाचार संप्रदाय के अन्तर्गत रखा गया है। हीनयान संप्रदाय के वैभाषिकमतविषयक ग्रन्थों का निर्माण इन्होंने लगभग ७० वर्ष की अवस्था तक किया, और तदुपरांत अंतिम दस वर्षों में योगाचार सम्प्रदाय के ग्रन्थों का प्रणयन किया।

चीनी और तिब्बतीय साहित्य में वसुबंधु नाम छः ग्रन्थकारों का उल्लेख मिलता है। चीनी भाषा के त्रिपिटक ग्रन्थ में आचार्य वसुबंधु को २६ ग्रंथों का रचयिता बताया गया है। किन्तु आचार्य वसुबंधु की प्रामाणिक कृतियाँ इतिहासकारों की दृष्टि में इस प्रकार हैं :

हीनयानसंप्रदायविषयक कृतियाँ : 'परमार्थसप्तति', 'तर्कशास्त्र', 'वादविधि', 'गाथासंग्रह' और 'अभिधर्मकोश'।

महायानसंप्रदायविषयक कृतियाँ : 'सद्धर्मपुंडरीक-टीका', 'महापरिनिर्वाण-सूत्र-टीका', 'वज्रछेदिकाप्रज्ञापारमिता-टीका', 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' (विंशिका, त्रिंशिका)।

तिब्बतीय विद्वान् बुस्तोन ने वसुबंधु के प्रमुख ग्रन्थों की सूची में इन ग्रन्थों को भी जोड़ा है : 'पंचस्कंधप्रकरण', 'व्याख्यायुक्ति', 'कर्मसिद्धिप्रकरण', 'महायानसूत्रालंकार-टीका', 'प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र-टीका' और 'मध्यान्त-विभागभाष्य'।

वसुबंधु ने अपने कोशग्रन्थ पर स्वयं एक भाष्य लिखा था। उनके इस 'अभिधर्म-कोश-भाष्य' की हस्तलिखित प्रति का पता महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत से लगाया। संभवतः प्रो० प्रह्लाद प्रधान ने इसका

संपादन जायसवाल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पटना के प्रकाशनार्थ किया है। इस भाष्य पर आचार्य यशोमित्र ने 'स्फुटार्था' व्याख्या लिखी।

बौद्ध न्याय का पिता : आचार्य दिङ्नाग

आचार्य दिङ्नाग की गणना बौद्ध-साहित्य के शीर्षस्थ विद्वानों की कोटि में की गई है। बौद्ध-न्याय के युगद्रष्टा होने के कारण दिङ्नाग का वर्चस्वी व्यक्तित्व भारतीय दर्शन के क्षेत्र में और विशेषतया, मध्यकालीन बौद्ध-दर्शन के निर्माताओं में अद्वितीय है। तिब्बतीय परंपराओं के अनुसार उनका जन्म तमिल प्रदेश के कांची (कंजीवरम्) के समीप सिंहवक्र नामक स्थान में हुआ था। तत्कालीन कांची नगरी विद्वानों की प्रसव-भूमि थी। स्थविरवादी संप्रदाय के आचार्य धम्मपाल, माध्यमिक संप्रदाय के आचार्य चंद्रकीर्ति और योगाचार संप्रदाय के आचार्य धर्मपाल जैसे सुप्रसिद्ध विद्वानों का जन्म इसी विद्वत्प्रसविनी भूमि में हुआ था। दिङ्नाग एक संभ्रान्त ब्राह्मण परिवार से संबद्ध थे।

दिङ्नाग के पहिले गुरु का नाम नागदत्त था, जिन्होंने इन्हें बौद्धधर्म में दीक्षित किया। कुछ दिन बाद सैद्धान्तिक मतभेद हो जाने के कारण गुरुमठ का परित्याग कर दिङ्नाग उत्तर भारत में चले आए। वहाँ उन दिनों वैभाषिक मत के धुरंधर आचार्य वसुबंधु के पाण्डित्य की प्रबल ख्याति हो रही थी। दिङ्नाग की असामान्य प्रतिभा से प्रभावित होकर वसुबंधु ने उन्हें अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। तिब्बतीय परंपरा का भी यह कहना है। अपने आचार्यपाद के समीप रहकर दिङ्नाग ने हीनयान और महायान, दोनों संप्रदायों के सिद्धान्तों का मौलिक ज्ञान अर्जित किया और गुरु की ख्याति के साथ-साथ विद्वत्-समाज में शिष्य का अद्भुत व्यक्तित्व भी प्रकाश में आया।

बौद्ध-साहित्य के स्वर्ण-युग गुप्तकाल में आचार्य दिङ्नाग का जन्म हुआ था। बौद्ध-साहित्य के संवर्द्धन और बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए गुप्त-राजाओं ने जो कार्य किये वे अमर हैं। आचार्य दिङ्नाग का इतिहास-सम्मत स्थितिकाल चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध या पाँचवीं शताब्दी का आरम्भ

है। उड़ीसा उनकी विश्रांतिभूमि थी और वहीं के अरण्यों में निर्वाण-पद प्राप्त कर वे जीवन्मुक्त हुए।

दिङ्नाग की शिष्य-परंपरा में धर्मकीर्ति, शांतरक्षित और कर्मशील के नाम उल्लेखनीय हैं। चीनी-परंपरा से विदित होता है कि शंकर स्वामी भी इन्हीं के शिष्य थे। मनोरथ ने धर्मकीर्तिकृत 'प्रमाण-वार्तिक-वृत्ति' की टिप्पणी करते हुए इस परंपरा का समर्थन किया है। डॉ० विद्याभूषण ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में आचार्य दिङ्नाग की जीवनी का विस्तार से परिचय दिया है।

दिङ्नाग ने न्यायदर्शन पर लगभग सौ पुस्तकें लिखीं थी, जिनमें से जो-जो चीनी और तिब्बतीय अनुवादों में सुरक्षित हैं, उनका विवरण बुनियु नंजियु ने अपने सूची-ग्रन्थ में दिया है। इत्सिंग ने लिखा है कि उनकी भारत-यात्रा के समय दिङ्नाग की पुस्तकों का अध्ययन पाठ्य-पुस्तकों की भाँति होता था। उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'प्रमाण-समुच्चय' है। यह संप्रति अपने मूलरूप संस्कृत में उपलब्ध न होकर, एक भारतीय पंडित हेमवर्मा द्वारा अनूदित तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है। उनके इस महान् ग्रन्थ का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि आजतक अधिकारी विद्वानों द्वारा उस पर दस प्रामाणिक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं।

'प्रमाण-समुच्चय-वृत्ति' उनका दूसरा ग्रन्थ है, जो कि उक्त ग्रंथ की व्याख्या है और जिसकी उपलब्धि भी तिब्बतीय अनुवाद के रूप में है। 'न्यायप्रवेश' उनका तीसरा ग्रन्थ है। कुछ समय पूर्व इसको शंकर स्वामी द्वारा विरचित बताया जाता था ; किन्तु आधुनिक खोजों ने पूर्णतया उसको दिङ्नाग की कृति प्रमाणित कर दिया है। सौभाग्य से यह ग्रंथ अपने मूलरूप में उपलब्ध है। उनके चौथे ग्रन्थ 'हेतुचक्र-निर्णय' को श्री दुर्गाचार्य चटर्जी ने तिब्बतीय अनुवाद के आधार पर संस्कृत में पुनर्मुद्रित किया है। इसका एक अंग्रेजी अनुवाद भी निकल चुका है। उनका पाँचवाँ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'प्रमाणशास्त्र न्याय-प्रवेश' तिब्बती और चीनी अनुवादों के रूप में सुरक्षित है। उनके दूसरे

प्रमुख ग्रन्थ 'आलम्बन-परीक्षा', 'आलंबनपरीक्षा-वृत्ति' 'त्रिकाल-परीक्षा' और 'मर्मप्रदीपवृत्ति' आदि भी तिब्बतीय अनुवादों के रूप में जीवित हैं।

दक्षिण भारतीय ग्रन्थमाला में प्रकाशित 'कुन्दमाला' नाटक को उसके संपादक श्री रामकृष्ण कवि ने दिङ्नाग कृत ठहराया है; किन्तु अब यह प्रामाणिक रूप से विदित हो गया है कि उक्त कृति का लेखक धीरनाग ११वीं शताब्दी के लगभग हुआ।

चंद्रगोमिन्

आचार्य चंद्रगोमिन् एक बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् हुए। उन्होंने बौद्ध-साहित्य को अनेक उच्चकोटि की कृतियाँ दीं। एक ओर तो उन्होंने व्याकरण जैसे नीरस विषय पर अधिकारपूर्वक ग्रन्थ रचना की और दूसरी ओर काव्य, नाटक जैसे हृदयग्राही विषयों पर भी पुस्तकें लिखीं।

संस्कृत-साहित्य में उन्हें एक काव्यकार या नाटककार की अपेक्षा एक वैयाकरण के रूप में ही माना जाता है। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि जैसे एकमेव वैयाकरणों के होते हुए भी चंद्रगोमिन् ने उक्त विषय पर कुछ नये रूप में कहने की आवश्यकता समझी। परंपरा के विरुद्ध उनका यह एक साहसपूर्ण कदम था। व्याकरण के क्षेत्र में इन्होंने जिन नये नियमों, नयी पद्धतियों, नये शब्द-रूपों और नये प्रयोगों का निर्माण किया, उसके कारण व्याकरण में 'चांद्र-व्याकरण' के नाम से एक नये संप्रदाय की नींव पड़ी। पाणिनि-व्याकरण में जो प्रयोग असिद्ध कहे गये थे, और कात्यायन तथा पतंजलि ने भी जिन पर कुछ कहने का साहस नहीं किया, चंद्रगोमिन् ने उनको भी सिद्ध करके रख दिया। पतंजलि के 'महाभाष्य' की त्रुटियाँ को दर्शाने के उद्देश्य से ही उन्होंने अपने व्याकरण-ग्रंथ की रचना की थी।

चंद्रगोमिन् के कृतित्व के संबंध में जितनी जानकारी उपलब्ध है, उनकी जीवनी के संबंध में, उसकी अपेक्षा बहुत कम बातें विदित हुई हैं। उनके संबंध में इतना ही ज्ञात है कि वे महायान की योगाचार-शाखा के वरिष्ठ विद्वान् आचार्य वसुबंधु के प्रशिष्य और आचार्य स्थिरमति के शिष्य थे।

ये बड़े घुमक्कड़ थे। डॉ० विद्याभूषण जी ने भ्रमवश इनका स्थितिकाल वामन और जयादित्य ७वीं शती ई० के बाद रखा है; किन्तु उनका विद्वत्संगत स्थितिकाल पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हैं।

वाक्यपदीकार भर्तृहरि का कथन है कि चंद्रगोमिन् ने ही दक्षिण भारत से प्राप्त 'महाभाष्य' की प्रति को उत्तर भारत में लाकर उसकी विलुप्त परंपरा को पुनरुज्जीवित किया। इस 'महाकाव्य' की पोथी को उन्होंने लंका से लौटते हुए दक्षिण में वररुचि नामक विद्वान् से प्राप्त किया था। यह वररुचि, वैयाकरण वररुचि कात्यायन से भिन्न था। 'राजतरंगिणी' में भी चंद्रगोमिन् को 'व्याकरण महाभाष्य' का पुनरुद्धारक कहा गया है। महायान-संप्रदाय माध्यमिक दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् नालंदा महाविहार के आचार्य चंद्रकीर्ति के साथ चंद्रगोमिन् का गहरा शास्त्रार्थ हुआ था।

इनके ग्रन्थों के नाम हैं: 'शिष्यलेख-धर्मकाव्य', 'आर्यसाधन-शतक' (काव्य), 'आर्य-तारान्तर-बलिविधि' (स्तुतिकाव्य), 'लोकानंद' (नाटक, केवल तिब्बती भाषा में उपलब्ध) और 'चांद्र व्याकरण'।

धर्मकीर्ति

दिङ्नाग जैसी अद्भुत प्रतिभा के एक दूसरे विद्वान् आचार्य धर्मकीर्ति हुए। चोल-देश के तिरूमलई नामक ग्राम में उनका जन्म सातवीं शताब्दी में हुआ। न्याय-दर्शन का अध्ययन पहले उन्होंने दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से किया और बाद में नालंदा जाकर तत्कालीन महास्थविर धर्मपाल के शिष्य हो गये।

कुछ दिन पूर्व राहुलजी ने तिब्बत से 'प्रमाण-वार्तिक' का पता लगाकर धर्मकीर्ति का पांडित्य पूर्णतः प्रकाशित कर दिया है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पर प्राज्ञकर ने 'प्रमाणवार्तिक-भाष्य' या 'वार्तिक अलंकार' नामक टीका लिखी है। धर्मकीर्ति के दूसरे ग्रंथों के नाम हैं: 'प्रमाण-विनिश्चय', 'न्यायबिन्दु' 'संबंध-परीक्षा', 'हेतुबिन्दु', 'वाद-न्याय' और 'समानान्तरसिद्धि'।

व्याकरणशास्त्र

व्याकरणशास्त्र

भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। भाषा और विचारों का क्षेत्र सदा एक जैसा नहीं रहा है। आज हमारे पास विचार है और उनको अभिव्यक्ति देने के लिए जोरदार भाषा भी; किन्तु आरम्भ में ऐसा नहीं था। भाषा और विचारों का क्षेत्र सदा ही विकासमान रहा है। भाषा और विचारों के तारतम्य के इतिहास को बाँधनेवाली विद्या व्याकरण है। व्याकरण एक शास्त्र है, जिसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और जो कि अपने आप में सर्वांगपूर्ण है।

संस्कृत भाषा के व्याकरण की अपनी अलग विधाएँ और चिन्तन के अपने स्वतन्त्र ध्येय हैं। इतने महान् ध्येय और महती विधाएँ संसार की किसी भी भाषा के व्याकरण में देखने को नहीं मिलती हैं। भारतीय वाङ्मय के अध्ययन-अनुशीलन से विदित होता है कि ब्रह्मा से लेकर इंद्रादि देवताओं और ज्ञानवंत ऋषि-महर्षियों के समय तक व्याकरणशास्त्र की विभिन्न वीथियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं। गार्ग्य, गालव, शाकटायन, शाकल्य आदि भाषाशास्त्रियों द्वारा प्रवर्तित होकर व्याकरणशास्त्र की यह महान् थाती पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के हाथों में आई। भाषा का जो बृहद् स्वरूप तत्कालीन भारत की कोटि-कोटि जनता के कंठ में समा चुका था, इस मुनित्रय ने उसको अपनी महान् कृतियों में बाँधा। उनके बाद संस्कृत के सैकड़ों वैयाकरणों ने वार्तिक, वृत्ति, व्याख्या और टीकाओं द्वारा व्याकरण-ज्ञान की इस परंपरा को आगे बढ़ाया।

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति के संबंध में ठीक-ठीक बताना दुष्कर है; किन्तु इतना निश्चित है कि उसका उदय और उसके विचार की विधियों का सूत्र-पात वैदिक युग में ही हो चुका था। चारों मंत्र-संहिताओं में व्याकरण की दृष्टि से अनेक पदों की व्युत्पत्तियाँ दर्शित हैं। वेदमंत्रों के इन प्रसंगों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि तब तक व्याकरणशास्त्र के प्रकृति-प्रत्यय, धातु-उपसर्ग और समासजनित पूर्वपद-उत्तरपद आदि विषयों का विभाग हो चुका था। 'रामायण' की रचना तक तो वैज्ञानिक ढंग से व्याकरण का अध्य-यन-अध्यापन स्थिर हो चुका था। शाकटायन और यास्क जैसे उद्‌भट भाषाशास्त्रियों द्वारा सुविचारित व्याकरण-विषयक अनेक नई बातें प्रकाश में आ चुकी थीं और तत्कालीन विद्वत्समाज उनके ग्रन्थों की ओर बड़ी उत्सुकता से बढ़ रहा था।

आज, इतनी सहस्राब्दियों की दूरी पर बैठ कर हम व्याकरणशास्त्र के जन्मदाता उन पुरातन महात्माओं के महत्त्व का और साथ ही व्याकरण के उन्नत ध्येयों का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकने में असमर्थ हैं। आज हमारी आस्थाओं और विचारों के तौर-तरीकों में बड़ा अन्तर आ गया है। कहा नहीं जा सकता है कि यह अंतर हमारी उन्नति के फलस्वरूप आया या उसका कोई दूसरा ही कारण था; किन्तु आज इतना अवश्य लगता है कि इतनी दूरी पर बढ़ कर भी पुरातन को पचा देने या उसके तत्त्व को ग्रहण करने की हमारी मेधाशक्ति में अवश्य ही क्षीणता आ गई है।

इस क्षीणता का एक बहुत बड़ा कारण आज की हमारी अध्ययन-अध्यापन प्रणाली है। विधिवत् संस्कृत का अध्ययन करने वाला कोई भी स्नातक आज इस बात को अस्वीकार न करेगा कि हमारी संस्कृत की पाठशालाओं में जिस ढंग से शिक्षा का आरंभ कराया जाता है, वह इतना अवैज्ञानिक है कि वर्षों के बाद भी विद्यार्थी यह नहीं जान पाता है कि उसने आज तक क्या किया।

व्याकरण के क्षेत्र में यह अवस्था और भी चिन्तनीय है, और यही कारण है कि व्याकरण का आरंभ करने से पूर्व ही विद्यार्थी बहुत डर-हिचक कर उसमें प्रवेश करता है। व्याकरणशास्त्र के लिए परंपरा से जो वैशिष्ट्य की

बात कही जाती रही है, अथवा दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा उसको जो अधिक संमान देने की पद्धति रही है, उसका अभिप्राय आज व्याकरण को अति जटिल, दुर्बोध और अगम्य के रूप में ग्रहण किया जाता है। यह आज की अवैज्ञानिक पठन-पाठन प्रणाली का परिणाम है।

मेधाशक्ति के स्वतंत्र विकास और चिंतन की परमोच्च स्थिति का निर्माण करने में व्याकरण का पहिला स्थान रहा है। वैयाकरणों के सम्बन्ध में परंपरा से यह अनुश्रुति कदाचित् तभी चली आ रही है कि आधी मात्रा भर कम कर देने से वह उतना ही हर्ष मनाता है, जितना कि पुत्रोत्सव के उपलक्ष्य में : 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'। व्याकरणशास्त्र का यही वास्तविक उद्देश्य है।

व्याकरण के महान् ज्ञान की यह थाती, जिस पर संस्कृत भाषा और भारत को गर्व है, सहस्राब्दियों की दूरी से होकर आज हम तक आई है ; और भाषाशास्त्र का जो अपरिमित स्वामित्व हमें मिला है, उसका एकमात्र कारण भी वही है। उसके इतिहास का विधिवत् अध्ययन करने पर ही हम उसके अतलदर्शी ज्ञान की थाह पा सकते हैं।

व्याकरणशास्त्र के आदिम स्रष्टा, वक्ता और प्रवक्ता

संस्कृत-साहित्य का यह सर्वसंमत सिद्धान्त है कि सभी विद्याओं एवं सारे शास्त्रों के आदिम वक्ता महाज्ञानी ब्रह्मा थे। यद्यपि यह 'ब्रह्मा' शब्द कर्तृत्व के कारण अनेक व्यक्तियों का अभिधानवाची रहा है; किन्तु यह प्रायः निश्चित-सा हो गया है कि सर्वविद्याविद् महामेधावी आदि में ब्रह्मा नाम से एक ही व्यक्ति था और वह ऐतिहासिक व्यक्ति था। बाद में यह नाम उपाधिसूचक हो गया। 'ऋक्तंत्र' में लिखा है कि इस व्याकरणशास्त्र के ज्ञान को ब्रह्मा ने बृहस्पति से कहा और वही ज्ञान-परंपरा क्रमशः बृहस्पति से इन्द्र, इन्द्र से भरद्वाज, भरद्वाज से ऋषियों एवं ऋषियों से ब्राह्मणों के पास आयी।

ब्रह्मा के बाद व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ता बृहस्पति हुए, ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिन्हें देवों का पुरोहित कहा गया है। वे अर्थशास्त्रकार थे और 'अगदतंत्र' का रचयिता भी उन्हें माना जाता है। व्याकरण के क्षेत्र में उनकी रचना का कहीं

भी उल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु 'ऋक्तंत्र' के अतिरिक्त 'महाभाष्य' के इस उद्धरण से कि, बृहस्पति ने इन्द्र के लिये प्रतिपद-पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था, यह बात सिद्ध होती है कि बृहस्पति अवश्यमेव व्याकरण के प्रवक्ता हुए।

इन्द्र भी व्याकरण का प्रवक्ता था। उसने बृहस्पति से प्रतिपद-पाठ द्वारा शब्दोपदेश का विशेष ज्ञान प्राप्त किया था; किन्तु उसके संबंध में एक विशेष बात यह है कि उसने पदों के प्रकृति-प्रत्यय आदि विभाग द्वारा शब्दोपदेश-प्रक्रिया की कल्पना द्वारा परंपरागत व्याकरण-ज्ञान का संस्कार भी किया। उसने पुरा-आगत अव्याकृत वाणी को प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कारयुक्त किया। व्याकरण के लिये इन्द्र की यह विशेष देन थी।

इस दृष्टि से, व्याकरण ज्ञान के आदिम वक्ता ब्रह्मा हुए और प्रवक्ता बृहस्पति, इन्द्र, भरद्वाज आदि ऋषि एवं ब्राह्मण। किन्तु 'ऋक्तंत्र' की अपेक्षा 'अष्टाध्यायी' में हमें प्राचीन वैयाकरणों का उल्लेख विस्तार से मिलता है।

यास्क कृत 'निरुक्त' के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने आठ शाब्दिक आचार्यों का उल्लेख किया है। वे आठ शाब्दिक संभवतः वोपदेव कृत 'कविकल्पद्रुम' में वर्णित इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर, जैनेंद्र आदि ही थे। इनके अतिरिक्त भोज-रचित 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की टीका, भास्कराचार्य की 'लीलावती' आदि में भी आठ वैयाकरणों का उल्लेख है। देवनन्दी ने सात वैयाकरण; किन्तु 'रामायण' और 'गीतासार' प्रभृति ग्रन्थों में नौ वैयाकरण गिनाये गए हैं। उधर 'काशिकावृत्ति' में केवल पाँच वैयाकरणों का ही संकेत है।

इन ग्रन्थों की समीक्षा करने पर प्रतीत होता है कि उनमें एक जैसी बातें नहीं लिखी हुई हैं। किस ग्रन्थ का क्रम या निर्देश सच्चा माना जाय, यह समस्या और भी जटिल है। ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त ग्रन्थों में आये नामों की जब हम संगति ढूढते हैं तो, वह भी हमें किसी एक क्रम में आबद्ध नहीं दिखाई देती है।

संस्कृत-व्याकरण के प्राणभूत आचार्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का अध्ययन करने पर एक नई ही बात सामने आती है। प्राचीन आचार्यों के

सम्बन्ध में ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थों में जो संख्याएँ या जैसे विवरण दिए गए हैं, पाणिनि उससे कुछ अलग ही कहते हैं। पाणिनि के शब्दानुशासन में आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन, ये दस नाम दिए गए हैं।

व्याकरण इतिहास के अध्ययन की सुगम विधि

संस्कृत व्याकरणशास्त्र के अध्ययन की प्राग्व्याप्ति ब्रह्मा तक और उसका उत्तरोत्तर विकास-विस्तार आज तक पहुँचता है। इस इतने असीमित विषय को छोटी-छोटी सीमाओं में बाँध कर पढ़ने से उसके सम्बन्ध की छोटी-बड़ी बातें सुगमता से ग्रहण की जा सकती हैं। इसलिए उसके आज तक के इतिहास को हमने कुछ भागों में विभक्त किया है।

व्याकरणशास्त्र की इस सुदीर्घ-परम्परा के ऐतिहासिक केंद्रबिंदु आचार्य पाणिनि हैं। पाणिनि के उदयकाल से ही ऐसा प्रतीत होता है, जैसे व्याकरण का सारा अस्तित्व और व्याकरण की सारी थाती 'अष्टाध्यायी' में सिमिट करके एकाकार हो गई। पाणिनि ने अपने पूर्व के सभी व्याकरण-सम्प्रदायों का मन्थन कर उन्हें वैज्ञानिक ढंग से 'अष्टाध्यायी' में बैठाया और पाणिनि के बाद व्याकरण की जितनी भी शाखाएँ पल्लवित हुईं, उन सब का मूल उद्गम पाणिनीय व्याकरण ही रहा।

इसलिए व्याकरणशास्त्र का ऐतिहासिक अध्ययन पाणिनि को केंद्र बनाकर प्रस्तुत किया गया है। प्राक्पाणिनि, पाणिनि और उत्तर पाणिनि, इस क्रम से व्याकरणशास्त्र की सारी आचार्य-परम्परा को रखकर व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में जो नई निष्पत्तियाँ और जो नये प्रयोग निर्मित हुए, उनकी संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है। पाणिनि से पहिले लगभग तेईस आचार्य हुए, जिनके नाम हैं : इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, वैयाघ्रपद, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनक, गौतम, व्याडि, आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन।

इन तेईस वैयाकरणों की भी दो श्रेणियाँ हैं। पहिली श्रेणी के वे वैयाकरण आचार्य हैं, जो पाणिनि से पहिले हुए, किन्तु जिनका नाम पाणिनि व्याकरण में नहीं मिलता है और दूसरी श्रेणी के वे आचार्य हैं, जिनका उल्लेख पाणिनि ने अपने व्याकरण में किया है। इस दृष्टि से व्याडि तक के तेरह आचार्य पहिली श्रेणी में और उसके बाद के दस आचार्य दूसरी श्रेणी में आते हैं। इनका कालक्रम आगे-पीछे हो सकता है; किन्तु उनका अध्ययन पाणिनि के निर्देशों पर ही किया गया है।

कालक्रम का आधार

इन आचार्यों के कालक्रम का दृष्टिकोण श्री युधिष्ठिर मीमांसक जी की पुस्तक के अनुसार दिया गया है। कुछ विद्वानों की दृष्टि से कालक्रम का यह आधार ठीक नहीं बैठता है। मैंने भी पाणिनि का स्थितिकाल आधुनिक विद्वानों की अधिक राय के आधार पर ही रखा है। कालक्रम के बारीक विचार भले ही विवादास्पद हो सकते हैं; किन्तु मोटे तौर पर उनके पूर्वापर की सीमाएँ सही हैं।

प्राक्पाणिनि

अष्टाध्यायी में अनुक्त आचार्य

इन्द्र का उल्लेख पहिले किया जा चुका है; ब्रह्मा और बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित व्याकरणशास्त्र का उन्होंने संस्कार किया था। उन्होंने शास्त्र-जिज्ञासु देवों की प्रार्थना करने पर उन्हें व्याकरण-ज्ञान में दीक्षित किया। इन्द्र के पिता का नाम कश्यप और माता का नाम अदिति था। दक्ष प्रजापति इनके नाना थे। बाहुदंती पुत्र के नाम से भी ग्रन्थकारों ने इनका उल्लेख किया है। वेदांत, मीमांसा दर्शन और शब्दशास्त्र का ज्ञान इन्होंने प्रजापति से प्राप्त किया था। भारद्वाज, धन्वंतरि, कश्यप, वाशिष्ठ, भृगु, अत्रि आदि इनके शिष्य थे। इन्होंने 'ऐंद्र व्याकरण' के अतिरिक्त आयुर्वेद-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, मीमांसा दर्शन, पुराण और गाथाओं पर भी ग्रंथ लिखे थे। इन्द्र बड़े

दीर्घजीवी थे। वे लगभग ५०० वर्ष जीवित रहे। उनका संभावित स्थिति-काल ८५०० वि० पूर्व में रखा जा सकता है।

वायु

वायु के संबंध में प्रकाश डालने वाली सामग्री कम उपलब्ध है। व्याकरण-शास्त्र का प्रतिपादन करते समय इंद्र ने वायु से सहायता प्राप्त की थी। अतः इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे इन्द्र के समकालीन ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इन्द्र और वायु ने ही सर्वप्रथम व्याकरणशास्त्र का संस्कार किया। वाणी को 'ऐंद्रावायवः' नाम देने का अभिप्राय भी यही था। वायु को शब्दशास्त्र का ज्ञाता भी कहा गया है। ब्रह्मा से वायु ने पुराणों की शिक्षा प्राप्त की। और वही पुराण-ज्ञान उन्होंने अपने शिष्य उशना कवि को दिया। 'वायुपुराण' के रचयिता वही मातरिश्वा वायु ही थे।

भरद्वाज

'ऋक्तंत्र' के पूर्वोक्त वाक्य में ब्रह्मा, बृहस्पति, इन्द्र के बाद भरद्वाज को चौथा व्याकरण-प्रवक्ता बताया गया है। वे बृहस्पति के पुत्र थे। 'काशिका-वृत्ति' में भरद्वाज की ११ संतानें बताई गई हैं। व्याकरण तथा आयुर्वेद का ज्ञान इन्होंने इंद्र से और पुराणों का ज्ञान तृणंजय से प्राप्त किया था। 'रामायण' के एक प्रसंग से प्रतीत होता है कि प्रयाग के गंगा-यमुना के संगम पर भरद्वाज का आश्रम था, जिसके चिह्न आज भी वहाँ सुरक्षित हैं। 'ऐतरेय आरण्यक' में उन्हें 'अनूचानतं' और 'दीर्घजीवितम्' लिखा है। 'रामायण' के कई स्थलों से विदित होता है कि वे राम के समकालीन थे। अतः उनका संभावित समय त्रेतायुग के अन्तिम चरण ७५०० वि० पूर्व रखा जा सकता है। उनकी कृतियाँ थीं : 'भरद्वाज व्याकरण', 'आयुर्वेद संहिता', 'धनुर्वेद', 'राजशास्त्र', 'अर्थशास्त्र', 'यंत्रसर्वस्व', 'पुराण' और 'शिक्षा'; जिनमें 'यंत्रसर्वस्व' और 'शिक्षा,' उनके दो ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं।

भागुरि

भगुर के पुत्र भागुरि हुए और संभवतया 'महाभाष्य' में उद्धृत लोकायत शास्त्र की प्रणेत्री भागुरी इनकी बहन थी। इनके गुरुपाद का नाम बृहद्गर्ग

था। इनकी कृतियों के नाम हैं: 'भागुरि-व्याकरण', 'सामवेदीय शाखा', 'ब्राह्मण', 'अलंकार ग्रन्थ', 'त्रिकांडकोश', 'सांख्यदर्शन भाष्य' और 'दैवतग्रन्थ'। इनका समय ३१०० वि० पूर्व दिया गया है।

पौष्करसादि

इस परंपरा में पौष्करसादि पाँचवें प्राचीन आचार्य हैं। इनके पिता का नाम संभवतः पुष्करसत् था। वे प्राग्देशीय थे और संभवतः अजमेर (राजस्थान) के समीप किसी पुष्कर नामक स्थान के निवासी रहे हों। ये पाणिनि के पूर्ववर्ती और संभवतः भारतयुद्ध के आसपास ३१०० वि० पूर्व हुये।

चारायण

चारायण का, 'महाभाष्य' में पाणिनि और रौढि के साथ स्मरण किया गया है। देवपाल ने भी अपनी टीका में इनके एक सूत्र को उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये प्राचीन वैयाकरण थे। चारायण कृष्ण यजुर्वेद की चारायणीय शाखा के प्रवक्ता (पं० भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास; भाग १, पृ० १९०-१९१) और काश्मीर से प्राप्त 'चारायणी शिक्षा' के रचयिता थे। इनका संभावित स्थितिकाल पौष्करसादि (३१०० वि० पूर्व) के ही लगभग था।

काशकृत्स्न

एक प्राचीन वैयाकरण के रूप में आचार्य काशकृत्स्न का उल्लेख 'महाभाष्य' और 'कविकल्पद्रुम' एवं उनके सूत्रों का उल्लेख 'महाभाष्यप्रदीप' तथा 'वाक्यपदीय' आदि अनेक ग्रंथों में हुआ, है जिससे व्याकरण की दिशा में उनके बहुज्ञ व्यक्तित्व का पता लगता है। उनका समय भी भारतयुद्ध के आसपास था। मीमांसक जी की पुस्तक में काशकृत्स्न की कृतियों के संबंध में गंभीर विश्लेषण करने के उपरान्त पता लगाया गया है कि उन्होंने एक त्रि-अध्यायी व्याकरण ग्रन्थ और चतुरध्यायी मीमांसाशास्त्र का प्रणयन किया था।

वैयाघ्रपद

वैयाघ्रपद (३१०० वि० पूर्व) को एक वरिष्ठ वैयाकरण के रूप में याद किया गया है। ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता है कि ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकग्रंथों में जिस वैयाघ्रपद का उल्लेख हुआ है, वह वैयाकरण वैयाघ्रपद ही था। वैयाघ्रपदीय व्याकरण को विद्वानों ने दश अध्याय परिमाण का बताया है। मीमांसकजी ने पं० गुरुपद हालदार द्वारा उल्लिखित इस विश्वास का खंडन किया है कि इस व्याकरण ग्रंथ का नाम 'वैयाघ्रपद' था और उसके रचनाकार का नाम व्याघ्रपाद।

माध्यन्दिनि

'काशिका' में उद्धृत एक कारिका से विदित होता है कि आचार्य माध्यंदिनि ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवर्तन किया था। माध्यंदिनि के पिता मध्यंदिन का उल्लेख पाणिनि ने किया है, 'वायुपुराण' में जिसको याज्ञवल्क्य का साक्षात् शिष्य बताया गया है। इन वचनों से प्रतीत होता है कि मध्यंदिन का पुत्र माध्यंदिनि, पाणिनि से प्राचीन लगभग ३००० वि० पूर्व में हुआ। इनकी रचनाओं के नाम हैं: 'शुक्लयजुःपादपाठ और 'माध्यंदिन-शिक्षा'।

रौढि

पाणिनि के प्राग्-भूत आचार्यों में रौढि का उल्लेख काशिकाकार ने आपिशलि, काशकृत्स्न और पाणिनि की परंपरा में किया है। इनके संबंध में इतना भर पता लगता है कि ये वैयाकरण थे। इनकी रचनाओं का कुछ पता नहीं लगता है।

शौनक

रौढि की ही भांति आचार्य शौनक के संबंध में भी अधिक ज्ञात नहीं होता है, मात्र इसके कि उन्होंने भी व्याकरणशास्त्र पर कुछ लिखा था, जिसका एक उद्धरण 'चरक संहिता' के टीकाकार जज्जट ने उद्धृत किया है।

गौतम

आचार्य गौतम को महाभाष्यकार ने आपिशलि पाणिनि और रौढि के साथ बैठाया है। गौतम शाखाकार भी थे और 'गौतमगृह्य' तथा 'गौतम धर्मशास्त्र' का रचयिता भी इन्हें ही माना जाता है, जिससे ये पाणिनि के पूर्ववर्ती ठहरते हैं। गौतम प्रोक्त 'गौतमी शिक्षा' काशी से प्रकाशित हो चुकी है।

रौढि, शौनक और गौतम का संभावित स्थितिकाल ३००० वि० पूर्व था।

व्याडि

आचार्य व्याडि इस परम्परा के १३वें वैयाकरण हैं, जो पाणिनि के पूर्ववर्ती थे; किन्तु पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में जिनका उल्लेख नहीं मिलता है। शौनक ऋषि के 'ऋक्प्रातिशाख्य' में इनके मत उद्धृत हैं। व्याडि का दूसरा नाम दाक्षायण था। वामन ने 'काशिका' में उसको दाक्षि के नाम से स्मरण किया है। इन्हें पाणिनि का ममेरा भाई माना जाता है; किन्तु वास्तव में वह पाणिनि का मामा था। उसने एक दश अष्टाध्यायी व्याकरण की रचना की थी।

आचार्य व्याडि का परिचय एक संग्रहकार के रूप में अधिक विश्रुत है। पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरण आचार्यों की परम्परा में व्याडि का स्थान बहुत ऊँचा है। उसकी असाधारण विद्वत्ता के परिचायक उसके ग्रन्थ हैं। उसका संग्रहग्रंथ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु 'वाक्यपदीय' के टीकाकार पुण्यराज की सहादत के अनुसार और नागेश की उद्धरणी को देखकर मालूम होता है कि उसका परिमाण एक लाख श्लोकों का था। उसने 'बालचरित' (महाकाव्य), 'अमरकोश-टीका','परिभाषापाठ', 'व्याडीय परिभाषा-वृत्ति', 'लिंगानुशासन', 'विकृतिवल्ली' और कोश आदि ग्रंथों की भी रचना की थी।

इन्द्र से लेकर व्याडि तक तेरह प्राचीनतम वैयाकरण आचार्यों का परिचय दिया गया है। 'महाभाष्य', 'काशिका' और 'कविकल्पद्रुम' प्रभृति

व्याकरण-ग्रंथों में व्याकरण के इन आदिम आचार्यों का संक्षेप में और विस्तार से उल्लेख किया गया है। इनकी जीवनी, सिद्धान्तों और कुछ उपलब्ध कृतियों के आधार पर यह निश्चित-सा हो चुका है कि, यद्यपि इनका उल्लेख पाणिनि ने नहीं किया है, तब भी ये पाणिनि के पूर्ववर्ती थे।

पाणिनि प्रोक्त दश वैयाकरण

पाणिनि के पूर्ववर्ती इन तेरह आचार्यों के अतिरिक्त दश आचार्य और हुए हैं। इन दश आचार्यों को पाणिनि से पहिले मानने का प्रामाणिक आधार यह है कि पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में उनका उल्लेख किया है। 'अष्टाध्यायी' में जिस क्रम से उनका उल्लेख हुआ है, उसी क्रम से यहाँ उनका परिचय प्रस्तुत किया जायगा। 'अष्टाध्यायी' में उनका क्रम है: आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन।

आपिशलि

आपिशलि व्याकरण के बहुत बड़े आचार्य थे। 'अष्टाध्यायी', 'महाभाष्य', 'न्यास' और 'महाभाष्यप्रदीप' आदि ग्रंथों में उनके बहुचर्चित व्यक्तित्व को देखकर सहज ही में उनकी महानता का पता लग जाता है। हालदारजी ने आपिशलि को याज्ञवल्क्य का श्वशुर लिखा है। उनकी यह बात गवेषणीय है। अनेक प्रमाणों को देकर मीमांसक जी ने यह सिद्ध किया है कि आपिशलि का स्थितिकाल विक्रम से कम-से-कम २९०० वर्ष पूर्व था। एक 'अष्टाध्यायी' व्याकरण-ग्रंथ के अतिरिक्त आपिशलि ने 'धातुपाठ', 'गणपाठ', 'उणादिसूत्र' और 'शिक्षा' नामक चार ग्रंथ और लिखे। उनके 'उणादिसूत्र' और 'शिक्षा' ग्रंथ उपलब्ध हैं।

काश्यप

आचार्य काश्यप का उल्लेख 'अष्टाध्यायी' में दो बार हुआ है, जिनको कि इससे पूर्व 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' में भी स्मरण किया गया है। ये भारतयुद्ध के समय हुए। इन्होंने व्याकरण, कल्प, छंदःशास्त्र, आयुर्वेद, पुराण

और दर्शन पर ग्रंथ लिखे; किन्तु निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता है कि इन ग्रन्थों का रचयिता इस नाम का एक ही व्यक्ति हुआ या एक ही नाम के भिन्न-भिन्न व्यक्ति हुए।

गार्ग्य

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में गार्ग्य का उल्लेख तीन स्थानों पर हुआ है। इनके मत के उद्धरण 'ऋक्प्रातिशाख्य' और 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' में भी उपलब्ध होते हैं। यदि इनका यह नाम गोत्रवाची है तो इनका मूलपुरुष गर्ग, वैयाकरण भारद्वाज का पुत्र था। यास्क के 'निरुक्त' में जिस गार्ग्य का उल्लेख हुआ है, मीमांसक जी के मतानुसार, वही यह वैयाकरण गार्ग्य था। इस दृष्टि से गार्ग्य का स्थितिकाल ५५०० वि० पूर्व था। गार्ग्य ने एक सर्वांगपूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ के अतिरिक्त 'निरुक्त', 'सामवेद पदपाठ', 'शाकल्यतंत्र', 'तत्त्वशास्त्र', 'देवर्षिचरित' और 'सामतंत्र', ये छह ग्रन्थ रचे। ये सभी ग्रन्थ वैयाकरण गार्ग्य ने ही लिखे, यह विचारणीय है।

गालव

इस परंपरा के चौथे वैयाकरण गालव का उल्लेख 'अष्टाध्यायी' में चार बार हुआ है। अन्यत्र भी इनकी चर्चा है। 'महाभारत' के शांतिपर्व में उद्धृत शिक्षा का प्रवक्ता पांचाल बाभ्रव्य गालव ही यदि वैयाकरण गालव था तो बाभ्रव्य उसका गोत्र और पञ्जाब उसका देश होना चाहिए। इस दृष्टि से वह भी गार्ग्य के ही आस-पास हुआ। एक व्याकरण-ग्रन्थ के अतिरिक्त गालव ने संहिता, ब्राह्मण, 'क्रमपाठ', 'शिक्षा', 'निरुक्त', 'दैवत ग्रन्थ', 'शाकल्य-तंत्र', और 'कामसूत्र' आदि विषयों तथा नामों से ग्रन्थ लिखे।

चाक्रवर्मण

चाक्रवर्मण को हालदार जी ने कश्यप का पौत्र लिखा है। 'अष्टाध्यायी' में इनका उल्लेख है। इनके सम्बन्ध में केवल इतना ही विदित है कि ये प्राचीन वैयाकरण थे।

भारद्वाज

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में भारद्वाज शब्द का दो बार उल्लेख हुआ है;

किन्तु उनमें पहिला नाम देशवाची है। इनका पूर्व पुरुष भरद्वाज संभवतः इंद्र का दीर्घजीवी शिष्य भरद्वाज ही था। सुकेशा भारद्वाज, गर्दभीविपीत भारद्वाज, कृष्ण भारद्वाज और द्रोण भारद्वाज आदि इन वैयाकरण भारद्वाज से भिन्न थे। उसका स्थितिकाल २८०० वि० पूर्व था। व्याकरणशास्त्र के अतिरिक्त उन्होने वार्तिक, आयुर्वेद और अर्थशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे थे।

शाकटायन

शाकटायन का तीन बार 'अष्टाध्यायी' में उल्लेख हुआ है और पतंजलि ने भी उसके व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता होने की बात लिखी है। 'निरुक्त' में भी वैयाकरण शाकटायन का मत उद्धृत है। पं० गोपीनाथ भट्ट ने दो शाकटायन नामक व्यक्तियों का उल्लेख किया है। एक वाध्र्यश्ववंश्य और दूसरा काण्ववंश्य। मीमांसक जी ने काण्ववंशीय शाकटायन को वैयाकरण शाकटायन माना है। उसका स्थितिकाल ३१०० वि० पूर्व था। शाकटायन ने व्याकरण पर अपूर्व ग्रन्थ लिखा था। वह बहुज्ञ था। उसने 'दैवत-ग्रन्थ', 'कोश', 'ऋक्तंत्र', 'लघुऋक्तंत्र', 'सामतंत्र', 'पंचपादी उणादिसूत्र' और 'श्राद्ध-कल्प' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे।

शाकल्य

आचार्य शाकल्य को पाणिनि ने चार बार उद्धृत किया है। अन्यत्र भी इनका उल्लेख हुआ है। संस्कृत साहित्य में चार शाकल्य नाम के व्यक्ति मिलते हैं : शाकल्य, स्थविर शाकल्य, विदग्ध शाकल्य और वेदमित्र (देवमित्र) शाकल्य। मीमांसक जी के मतानुसार पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में उद्धृत शाकल्य और ऋग्वेद का पदकार शाकल्य निश्चय ही एक व्यक्ति था और उसका समय २८०० वि० पूर्व था। शाकल्य के व्याकरण में लौकिक और वैदिक, उभयविध शब्दों का अन्वाख्यान था। उसने शाकलचरण और पदपाठ पर भी ग्रंथ लिखे।

सेनक

आचार्य सेनक का उल्लेख 'अष्टाध्यायी' के एक सूत्र में मिलता है। इसके अतिरिक्त उसके संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। वह २९०० वि० पूर्व में हुआ।

स्फोटायन

स्फोटायन 'अष्टाध्यायी' प्रोक्त अन्तिम वैयाकरण हुये। इनका वास्तविक नाम अज्ञात है। यह तो उनका कर्तृत्व नाम है। वैयाकरण-निकाय में 'स्फोटवाद' एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। स्फोट संभवतः उसके किसी पूर्वज का नाम था। हेमचंद्र के 'अभिधानचिन्तामणि' कोश में स्फोटायन का दूसरा नाम कक्षीवान् लिखा हुआ है। यही बात केशव ने भी लिखी है। उसका स्थितिकाल २८०० वि० पूर्व था।

इस प्रकार आपिशलि से लेकर स्फोटायन तक वर्णित दश आचार्य और उनसे पूर्व के तेरह आचार्य, कुल मिलाकर ये तेईस वैयाकरण आचार्य पाणिनि से पहिले हुये। इन तेईस आचार्यों को हम व्याकरणशास्त्र की प्राचीनतम परंपरा के प्रवर्तक या पिता कह सकते हैं। उनके व्यक्तित्व का परिचय हमें रचयिता की अपेक्षा स्रष्टा, वक्ता और प्रवक्ता के रूप में ही अधिक उपलब्ध होता है। उनमें प्रायः सबकी रचनाएँ विलुप्त हैं; किन्तु उन्होंने व्याकरणशास्त्र पर पर्याप्त आलोचन-विवेचन किया, जिनकी आलोचनाओं का गंभीर अध्ययन कर पाणिनि 'अष्टाध्यायी' जैसी महानतम कृति का निर्माण कर सके।

पाणिनि और उनकी अष्टाध्यायी

पाणिनि व्याकरणशास्त्र का एक सुपरिचित एवं सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त नाम है। उनके उत्तरवर्ती जितने भी व्याकरण-सम्प्रदायों का जन्म हुआ, उनमें पाणिनि को बड़े आदर से स्मरण किया गया। अनेक ग्रंथों में उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी चर्चाएँ बिखरी हुई मिलती हैं। पुरुषोत्तमदेव के 'त्रिकाण्डशेष' कोश में उनके पाणिन, पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालंकि, शालातुरीय और आहिक, ये छह, पर्यायवाची नाम दिए गए हैं।

महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शर्मा ने शालंकि शब्द को लेकर पाणिनि के पिता का नाम शालंक लिखा है। हरिदत्त की 'पणोऽस्यातीति पणी, तस्यापत्यं पाणिनः, पणिनस्यापत्यं पाणिनो युवा पाणिनिः' इस निरुक्ति के अनुसार पाणिनि के पिता का नाम पाणिन ठहरता है। पतंजलि ने पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा

है, जिससे प्रतीत होता है कि उनकी माता दक्ष कुल से उत्पन्न थी। संग्रहकार व्याडि का दाक्षायण नाम हम पहिले ले चुके हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि वे पाणिनि के मामा थे। छंदःशास्त्र के रचयिता पिंगल, पाणिनि के छोटे भाई थे।

पाणिनि के गुरु का नाम वर्ष था। माहेश्वर को भी पाणिनि का एक गुरु कहा गया है, जिसका कोई आधार नहीं मिलता है। पाणिनि के अनेक शिष्य भी थे। उनमें कौत्स का नाम ही लिखित रूप में उपलब्ध होता है।

शालातुरीय होने से पाणिनि को शालातुर ग्राम का निवासी बताया गया है, जो कि अटक के समीप लाहुर नामक स्थान के आस-पास है; किन्तु आधुनिक खोजों से यह निष्कर्ष निकला है कि शालातुर पाणिनि का जन्मस्थान न होकर उनके पूर्वजों का निवास-स्थान था। पाणिनि का जन्म वाहीक देश अथवा उसके समीप हुआ था।

पाणिनि के जन्मकाल और उनके जन्मस्थान के संबंध में बड़ा विवाद है। पाणिनि पर सैकड़ों लेख और अनेक बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गए हैं; किन्तु उनके संबंध में विद्वान् अब भी एकमत नहीं हैं। विद्वानों की कुछ समीक्षाओं पर विचार करने के अनंतर आगे पाणिनि के जन्म और निवास-स्थान पर प्रकाश डाला गया है।

पाणिनि को लौकिक संस्कृत का पहिला वैयाकरण माना जाता है, यद्यपि उन्होंने स्वयं अपने पूर्ववर्ती दो सूत्रकारों-पाराशर्य तथा शिलालि के नाम और क्रमशः उनके द्वारा विरचित 'भिक्षुसूत्र' एवं 'नटसूत्र' का उल्लेख किया है। इससे विदित होता है कि पाणिनि को उक्त सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध थे और इतने प्राचीन काल में व्याकरणशास्त्र के साथ-साथ नाट्यशास्त्र पर भी सूत्र ग्रंथों का निर्माण हो चुका था। पाणिनि का ग्रन्थ यद्यपि सर्वांगीण एवं प्रामाणिक कृति है, फिर भी उसको देखकर यह विश्वास होता है कि उसके मूल में अवश्य ही ऐसे कतिपय ग्रन्थ रहे होंगे, जिनके पथचिह्नों पर चलकर पाणिनि इतना महाग्रंथ तैयार कर सके। कुछ विद्वानों का इस सम्बन्ध में संकेत भी है कि 'किन्तु यह भली-भांति समझ लेना चाहिए कि 'अष्टाध्यायी' की पूर्णता केवल पाणिनि की व्यक्तिगत योग्यता को सिद्ध नहीं करती। वे एक ऐसा ग्रन्थ लिख सके, इसका अर्थ यह है कि अनेक पीढ़ियों से उस विषय के

अध्ययन का क्रम-विकास होता आता था।······पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' अनेक पीढ़ियों की क्रमिक और सामूहिक चेष्टा का परिणाम है; अनेक विद्वानों के प्रामाणिक प्रयत्नों के बाद पाणिनि अन्त में एक पूर्ण वस्तु तैयार कर सके।'

'अष्टाध्यायी' के प्राणभूत १४ सूत्रों का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि पाणिनि ने शिवोपासना करके उक्त १४ माहेश्वर सूत्रों (प्रत्याहार सूत्रों) की उपलब्धि कर अपने बृहद् व्याकरण का निर्माण किया था। गुरुज्ञान से संतुष्ट न होकर उसको शिवोपासना करनी पड़ी थी। भगवान् शंकर की आराधना कर व्याकरण-ज्ञान को प्राप्त करने का सम्बन्ध एक ऋषि से स्थापित करते हुए अलबेरूनी ने अपने ग्रन्थ में एक मनोरंजक चर्चा की है। व्याकरण की उत्पत्ति के संबंध में एक परंपरागत मौखिक कथा का हवाला देते हुए अलबेरूनी ने लिखा है कि 'एक दिन समलवाहन या संस्कृत रूप सातवाहन नामक एक राजा ने अपनी रानियों के साथ जल-विहार करते हुए एक रानी से कहा : 'मा उदकं-देहि !' अर्थात् मुझ पर पानी मत फेंको। रानी ने उसका अर्थ समझा 'मोदकं देहि' अर्थात् मिठाई दो। इसलिए मिठाई लाकर राजा के संमुख रख दी। इस बात से राजा-रानी में बड़ी तकरार हुई। फलतः अपनी रीति के अनुसार राजा सब कुछ त्यागकर एक कोने में छिपकर बैठ गया। इसी समय एक ऋषि ने आकर राजा को आश्वासित किया कि वह समाज से इस भाषा-सम्बन्धी विकार एवं द्विविधा को दूर कर देगा। ऋषि अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए महादेव के पास जाकर अपने अभीष्ट के लिए प्रार्थना करने लगे। फलतः महादेव ने ऋषि को कुछ व्याकरण के प्रयोग सिखा दिए, वैसे ही जैसे अबुल असवद दुएली ने अरबी भाषा के लिए प्रवचन किए थे। महादेव ने ऋषि को व्याकरणशास्त्र से परिपूर्ण करने का भी वचन दिया। ऋषि ने आकर राजा को व्याकरणशास्त्र में दीक्षित किया और इस प्रकार व्याकरण-शास्त्र की रचना हुई।'

अलबेरूनी ने कुछ प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों और उनके निर्माताओं की सूची इस प्रकार दी है :

१ ऐंद्र व्याकरण : देवश्रेष्ठ इंद्र रचित
२ चांद्र व्याकरण : बौद्धभिक्षु चंद्र विरचित

३	शाकट व्याकरण	:	शाकटायन-वंशीय शाकट रचित
४	पाणिनि व्याकरण	:	पाणिनि विरचित
५	कातंत्र व्याकरण	:	शर्वशर्मन् कृत
६	शशिदेववृत्ति	:	शशिदेवकृत
७	दुर्गविवृति	:	×
८	शिष्यहितावृत्ति	:	उग्रभूति रचित

'शिष्यहितावृत्ति' के रचयिता आचार्य उग्रभूति को अलबेरूनी ने अपने समकालीन शासक जयपाल के पुत्र शाह आनन्दपाल का शिक्षक एवं गुरु बताया है और उक्त व्याकरणग्रंथ के संबंध में एक मनोरंजक कथा इस प्रकार सुनाई है कि 'उक्त पुस्तक विद्वानों की संमति की मुहर लगाने के लिए जब कश्मीर भेजी गई तो वहाँ के विद्वत्समाज ने उस पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। उग्रभूति ने यह बात शाह आनन्दपाल से कही। शाह ने २,००,००० दिर्हम और इतने ही मूल्यपरिमाण के उपहार कश्मीर में उन लोगों को वितरित करने के लिए भेजे, जो 'शिष्यहितावृत्ति' का अध्ययन करते थे। इसके परिणामस्वरूप काश्मीर में उक्त पुस्तक का सर्वाधिक प्रचार हुआ।'

'महाभाष्य' के पुनरुद्धरण और 'चांद्र-व्याकरण' के संबंध में कल्हण का कहना है कि 'इंद्र के समान तेजस्वी अभिमन्यु राजा' (भगवान् बुद्ध के निर्वाण के डेढ़-सौ वर्ष पश्चात्) जिसने अपने नाम से एक नया नगर अभिमन्युपुर भी बसाया था, चंद्राचार्य प्रभृति महापंडितों ने उसकी आज्ञा से व्याकरण 'महाभाष्य' के विलुप्त प्रभाव का पुनः प्रचार किया और अपने नाम से 'चन्द्रव्याकरण' की भी रचना की'। यह चन्द्राचार्य अपने समसामयिक काश्यपगोत्रीय चन्द्रदेव से पृथक् व्यक्ति था।

पाणिनि-व्याकरण के इन कतिपय पूर्वापर-कृतियों के बावजूद भी जितना संमान 'अष्टाध्यायी' को मिला उतना किसी को भी नहीं। यद्यपि पाणिनि से भी पूर्व व्याकरण के क्षेत्र में प्रातिशाख्य ग्रन्थ ने इस मार्ग का निर्माण करना आरंभ कर दिया था, और ऐन्द्र, चांद्र आदि व्याकरणों की भी रचना हो चुकी थी; किन्तु प्रातिशाख्य-ग्रंथ केवल वैदिक पद्धतियों के ही निर्देष्टा थे

ऐन्द्र प्रभृति व्याकरण एक प्रकार से विद्वत्समाज की वस्तु न होकर आरंभिक विद्यार्थियों के उपयोग तक ही सीमित रहे। मध्य युग के बृहत्तर भारत में भाषाशास्त्र के क्षेत्र में 'कातन्त्र-व्याकरण' को यद्यपि पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई, तथापि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' ही एक ऐसी सर्वांगीण कृति सिद्ध हुई जिसके नियम, निर्देश और निष्पत्तियाँ आगामी सहस्रों वर्षों तक अन्तिम प्रमाण के साथ स्वीकार की जाती रहेंगी।

पाणिनि-व्याकरण ही अपने बृहद् नीति-नियमों के कारण इतनी व्यापक ख्याति को अर्जित कर सका, जिसके आधार पर कहा जाने लगा कि भारतीय व्याकरण में ही दुनियाँ में सबसे पहिले शब्दों का विवेचन हुआ; प्रकृति एवं प्रत्यय का अंतर पहिचाना गया; प्रत्ययों का कार्य-निर्धारण निश्चित किया गया; सर्वांगीण अति शुद्ध व्याकरण-पद्धति का निर्माण हुआ; इन सभी बातों की तुलना संसार के किसी भी देश के व्याकरण से नहीं की जा सकती है।

भारत की भाषागत परंपरा एवं साहित्य के क्षेत्र में पाणिनि व्याकरण ने एक सर्वथा नये युग का अनुवर्तन किया। यह युग लौकिक संस्कृत का युग कहा जाता है, जिसमें कि वैदिक युग की अपेक्षा कई बातों में साहित्य की अभिवृद्धि के लिए नये-नये कार्य हुए। सुप्रसिद्ध भाषाविद् सुनीति बाबू के शब्दों में 'जब ऋग्वेद की भाषा जरा पुरानी और साधारण लोगों के लिए आंशिक रूप से दुर्बोध होने लगी तब लगभग ईसा से पाँच-सौ वर्ष पहिले उत्तर-पश्चिमांचल और मध्यदेश में ब्राह्मणों के आगमों और विद्यायतनों में, इस भारतीय आर्य भाषा का एक अर्वाचीनतर रूप विशिष्ट साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। आधुनिक उत्तर-पश्चिम पंजाब के अधिवासी वैयाकरण ऋषि पाणिनि ने इस नवीन साहित्यिक भाषा के व्याकरण (अष्टाध्यायी) की रचना की और इसका 'लौकिक' भाषा के नाम से उल्लेख किया। पीछे इस लौकिक भाषा का संस्कृत नाम पड़ा। देव भाषा भी इसी को कहते हैं।'

संस्कृत व्याकरणशास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण इतिहासग्रंथ के लेखक श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनि की जीवनी और उनके कृतित्व के सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि यास्क, शौनक, पाणिनि

पिंगल और कौत्स प्रायः एक ही समय के लगभग हुए। इनका पौर्वापर्य बहुत ही स्वल्प है। इस दृष्टि से पाणिनि का काल भारतयुद्ध से लेकर अधिसीम कृष्ण के काल तक लगभग २५० वर्षों के मध्य में है। उसकी संभावित अवधि उन्होंने २८०० सौ विक्रम पूर्व में रखी है।

इसी प्रकार डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का पाणिनि पर लिखा हुआ प्रबन्ध ग्रन्थ बहुत ही पांडित्यपूर्ण है। पाणिनि के अतिरिक्त संस्कृत के व्याकरणशास्त्र के अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। अग्रवाल जी का दृष्टिकोण नितांत मौलिक और तत्कालीन कला, संस्कृति, विशेषतः 'अष्टाध्यायी' पर केंद्रित है। 'अष्टाध्यायी' का इतना सुंदर मंथन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। अपने इस महाग्रन्थ में डॉ० अग्रवाल ने पाणिनि को पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व के मध्य में, संभवतः ४८०-४१० ई० पूर्व में रखा है। अन्य विद्वानों के मतानुसार पाणिनि का स्थितिकाल इस प्रकार है :

पं० सत्यव्रत सामश्रमी	:	२४०० ई० पूर्व
रजवाड़े और वैद्य	:	९००–८०० ई० पूर्व
वेलबेलकर	:	७००-६०० ई० पूर्व
भंडारकार	:	७०० ई० पूर्व
उपाध्याय	:	५०० ई० पूर्व
मेक्डोनल	:	५०० ई० पूर्व
मैक्समूलर	:	३५० ई० पूर्व
कीथ	:	३०० ई० पूर्व

इस संबंध में और भी मत-मतांतर हैं और भविष्य में भी नई-नई मान्यताएँ देखने को मिलेंगी। इस दृष्टि से पाणिनि के स्थितिकाल के संबंध में एक निश्चित नई राय देना पाठकों का भार कम करने की अपेक्षा बढ़ाना ही कहा जायगा। अतः सुनीति बाबू के शब्दों में मेरा भी यही अभिमत है कि पाणिनि का जन्म गांधार में शालातुर (आधुनिक अटक नगर के समीप लाहौर या लाहोर) नामक गाँव में हुआ था, तथा उनकी शिक्षा तक्षशिला में संपन्न हुई। ये दोनों स्थान उदीच्य प्रदेश में हैं। उसका उदयकाल संभवतः ५वीं शताब्दी ई० पूर्व रहा होगा, क्योंकि वह पारसीकों तथा

पारसीकों के सेवक यवनों या ग्रीकों से सुपरिचित था। पाणिनि का शरीरांत संभवतः सिंह द्वारा हुआ था।

पाणिनिकृत ग्रन्थों के नाम हैं : 'पाणिनितंत्र', 'प्रत्याहारसूत्र', 'अष्टाध्यायी', 'अष्टाध्यायीवृत्ति', 'जाम्बवतीविजय' (पाताल-विजय) और 'द्विरूपकोश'।

पाणिनि के उत्तरवर्ती वैयाकरण

पाणिनि के बाद व्याकरण की अनेक शाखाएँ प्रकाश में आईं। पाणिनि के पहिले भी व्याकरण पर कुछ कम तादात में ग्रन्थ नहीं लिखे गये थे; किन्तु पाणिनि के बाद इस विषय पर जो कुछ लिखा गया वह अधिक वैज्ञानिक एवं तत्कालीन समाज के अधिक उपयोगी था। व्याकरण एक भाषाशास्त्र का विषय है। भाषाएँ नित्य ही परिष्कृत एवं विकसित होती गईं। अपने समय तक के सारे भाषा-विकास को पाणिनि ने अपनी पुस्तक में बैठा दिया था; और उसके बाद के वैयाकरणों ने भी यद्यपि उसी की विरासत को लेकर साहित्य की श्रीवृद्धि की; फिर भी पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा उसकी उत्तरवर्ती कृतियों में कुछ नवीनता के दर्शन अवश्य होते हैं। ऐसा संभवतः इसलिए हुआ था कि भाषा-विकास की संपूर्ण विधियों को आत्मसात् करने में पाणिनि थोड़ा चूक गया था। पाणिनि व्याकरण की इन कमियों को पूरा किया पाणिनि के उत्तरवर्ती 'अष्टाध्यायी' के वार्तिककारों, भाष्यकारों और कुछ मौलिक ग्रन्थकारों ने।

अष्टाध्यायी के वार्तिककार

'अष्टाध्यायी' पर अनेक वैयाकरणों ने वार्तिक लिखे। उनमें से कुछ के ही नाम उपलब्ध होते हैं, बाकी को 'अपरे' 'अन्ये' कहकर ही छोड़ दिया गया है। 'महाभाष्य' में सात वार्तिककारों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं : कात्य या कात्यायन, भारद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा, वाडव, व्याघ्रभूति और वैयाघ्रपद। अंतिम दो नाम 'महाभाष्य' की टीकाओं में लिखे मिलते हैं। इनका हम इसी क्रम से परिचय प्रस्तुत करेंगे।

कात्यायन

'महाभाष्य' में कात्यायन को एक वार्तिककार के रूप में स्मरण किया गया है। किन्तु कात्यायन का नाम व्याकरणशास्त्र के महान् प्रतिभाशाली आचार्य पाणिनि और महाभाष्यकार पतंजलि के साथ लिया जाता है। इस 'मुनित्रय' की व्याप्ति और ख्याति व्याकरणशास्त्र के ओर-छोर तक बिखरी हुई है। कात्यायन ने पाणिनि व्याकरण की पूर्ति के लिए वार्तिकों की रचना की थी। इन वार्तिकों का पाणिनि कृत सूत्रों जितनी ही मौलिकता और मान्यता है।

पुरुषोत्तमदेव के 'त्रिकाण्डशेष' कोश में इनके कात्य, कात्यायन, पुनर्वसु, मेधाजित् और वररुचि, ये पर्यायवाची नाम दिए गए हैं। महाभाष्यकार ने मेधाजित् को छोड़कर शेष चार नामों का उल्लेख किया है। श्रुतधर नाम से भी एक कात्यायन का उल्लेख मिलता है। किन्तु यह नाम वैयाकरण कात्यायन से भिन्न किसी दूसरे के लिए प्रयुक्त हुआ है।

उनके पितामह का नाम याज्ञवल्क्य पिता का नाम कात्यायन और उनका पूरा नाम वररुचि कात्यायन था। वही वररुचि कात्यायन 'अष्टाध्यायी' के यशस्वी वार्तिककार हैं। कात्यायन शाखा का अध्ययन महाराष्ट्र में प्रचलित है; अतएव कात्यायन दाक्षिणात्य थे। इनका स्थितिकाल मीमांसकजी ने २७०० वर्ष वि० पूर्व रखा है।

इन्होंने काव्य, नाटक, व्याकरण, धर्मशास्त्र एवं स्फुट रूप से कई विषयों पर ग्रंथ लिखे। इनके कुछ ग्रन्थों के नाम हैं: 'वार्तिकपाठ', 'स्वर्गारोहण-काव्य', 'भ्राजसंज्ञक श्लोक', 'स्मृति कात्यायन' और 'उभयसारिका भाण'। इनके नाम से अनेक ग्रन्थ हस्तलेखों के रूप में सुरक्षित हैं। उनके लिए आफेक्ट की सूची अवलोकनीय है।

भारद्वाज

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर रचे गए भारद्वाजकृत वार्तिकों का पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में अनेक बार उल्लेख किया है। एक भारद्वाज नामक वैयाकरण का उल्लेख पाणिनि से पहिले किया जा चुका है। बहुत संभव

है कि वार्तिककार भारद्वाज ने वैयाकरण भारद्वाज के ग्रन्थ पर ही वार्तिक लिखे हों; किन्तु यह निश्चित नहीं है, इनके संबंध में इससे अधिक कोई जानकारी नहीं है कि ये महाभाष्यकार पतंजलि से पहिले हुए। 'वार्तिकपाठ' इनकी रचना है।

सुनाग

सुनाग इस परम्परा के तीसरे वार्तिककार हैं। हालदार जी ने उसको नागवंशीय समझ कर उसे पाणिनि का पूर्वभावी माना है, जो कि भ्रमात्मक है। सुनाग ने 'अष्टाध्यायी' पर वार्तिक लिखे हैं। अतः वह पाणिनि के पहिले न होकर उनके बाद में हुआ। बल्कि कैयट ने तो यहाँ तक लिखा है कि सुनाग कात्यायन के बाद हुए। 'महाभाष्य' में उद्धृत सौनाग वार्तिकों के रचयिता हरिदत्त के उल्लेखानुसार यही सुनाग था। अतएव सुनाग का स्थितिकाल कात्यायन और पतंजलि के बीच होना चाहिए।

क्रोष्टा

वार्तिककार क्रोष्टा के संबंध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, इनके सम्बन्ध में इतना तो निश्चित है कि ये एक अच्छे वार्तिककार थे और इन्होंने भी अपने वार्तिक 'अष्टाध्यायी' पर लिखे। पतंजलि ने भी इनका उल्लेख केवल एक ही जगह पर किया है। इसलिए ये पतंजलि के पहिले, कदाचित्, सुनाग के ही समकालीन थे।

वाडव

क्रोष्टा की ही भांति वार्तिककार वाडव का नाम 'महाभाष्य' में केवल एक बार स्मरण किया गया है। वाडव नाम की 'महाभाष्य' में दो स्थानों पर अवश्य चर्चा हुई है; किन्तु निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि ये दोनों नाम अभिन्न थे या कि दो व्यक्तियों के थे।

व्याघ्रभूति

व्याघ्रभूति इस परम्परा के ऐसे वार्तिककार हुए, जिनके सम्बन्ध में काफी विवाद रहा। महाभाष्यकार ने अन्य वार्तिककारों का उल्लेख जहाँ किया है,

वहाँ इनका उल्लेख करना न जाने क्यों छोड़ दिया। हालदार जी ने इन्हें पाणिनि का शिष्य बताया है। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। 'महाभाष्य' में जो 'जग्धिर्विधिल्यपि' श्लोक-वार्तिक उद्धृत हुआ है, कैयट, त्रिलोचनदास और सुपद्ममकरन्द के मतानुसार उसका कर्ता व्याघ्रभूति ही ठहरता है। न्यासकार इस को आगमवचन मानता है।

वैयाघ्रपद

आचार्य वैयाघ्रपद का उल्लेख हम व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ता के रूप के पहिले भी कर चुके हैं। 'काशिका' में उद्धृत एक श्लोक को भट्टोजि दीक्षित ने वैयाघ्रपद विरचित वार्तिक लिखा है, जिससे यह भ्रम होता है कि वैयाघ्रपद के नाम के दो वैयाकरण थे: एक तो व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता पाणिनि का पूर्ववर्ती और दूसरा वार्तिककार, पाणिनि का उत्तरवर्ती।

वार्तिकों के भाष्यकार

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर अनेक विद्वानों ने वार्तिक लिखे। जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है; किन्तु इन वार्तिकों पर भी भाष्य लिखे गए। इन वार्तिक-भाष्यों का पता हमें 'महाभाष्य' के अध्ययन से विदित होता है। इतिहासकारों का ऐसा मंतव्य है कि अकेले 'कात्यायन' के 'वार्तिकपाठ' पर कम-से कम तीन व्याख्याएँ पतंजलि के 'महाभाष्य' से पहिले लिखी जा चुकी थीं और वे पतंजलि के समय तक वर्तमान थीं। इसी प्रकार भारद्वाज, सौनाग आदि के वार्तिक-पाठों पर भी अनेक भाष्य लिखे गए थे। किन्तु वास्तविकता यह है कि आज उनके संबंध में केवल धुंधली सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। 'महाभाष्य' के बाद लिखे गए वार्तिक-भाष्यों में से तीन वैयाकरणों का नाम उपलब्ध होता है। उनके नाम हैं: हेलाराज, राघवसू और राजरुद्र।

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

स्वयं पाणिनि ने अपने 'शब्दानुशासन' पर एक वृत्ति की रचना की थी,

इसके प्रमाण 'महाभाष्य', 'काशिका', 'महाभाष्यदीपिका' आदि अनेक ग्रन्थों में बिखरे हुए हैं।

कुणि

भर्तृहरि, कैयट और हरिदत्त प्रभृति वैयाकरणों ने आचार्य कुणि के नाम से एक 'अष्टाध्यायी वृत्ति' का उल्लेख किया है। 'ब्रह्मांडपुराण' में वर्णित वसिष्ठ के पुत्र कुणि से यह वैयाकरण कुणि भिन्न था। इसके संबंध में इतना ही विदित है कि यह पतंजलि से पहिले हुआ है।

माथुर

पतंजलि से पूर्व के एक दूसरे वृत्तिकार माथुर का और पता लगता है। माथुर इनका देशज नाम है। संभवतः ये मथुरा के थे।

श्वोभूति

आचार्य जिनेंद्रबुद्धि ने अपने न्यास-ग्रन्थ में श्वोभूति कृत 'अष्टाध्यायीवृत्ति' का उल्लेख किया है। 'महाभाष्य' के एक अज्ञातनाम 'श्लोकवार्तिक' के रचयिता ने भी श्वोभूति का हवाला दिया है, जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि श्वोभूति उस वार्तिककार का शिष्य था। कुछ विद्वान् इन्हें पाणिनि का शिष्य भी मानते हैं। ये पतंजलि से पहिले हुए।

वररुचि

आचार्य वररुचि ने भी 'अष्टाध्यायी' पर एक वृत्ति लिखी थी, जिसका उल्लेख हस्तलेखों की सूचियों में हुआ है। ये वररुचि वार्तिककार वररुचि से भिन्न एवं उनके उत्तरवर्ती थे। इनका दूसरा नाम श्रुति था और ये विक्रम संवत् के प्रवर्तक सम्राट् विक्रमादित्य के सभासद थे; संभवतः उनके धर्माधिकारी भी। इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे: 'अष्टाध्यायीवृत्ति', 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य-व्याख्या', 'निरुक्त समुच्चय', 'लिंगविशेषविधि', 'प्रयोगविधि', 'कातंत्र-उत्तरार्ध', 'प्राकृत-प्रकाश', 'कोश', 'उपसर्गसूत्र' और 'यंत्रकौमुदी'।

देवनंदी

देवनंदी ने भी 'अष्टाध्यायी' पर 'शब्दावतार-न्यास' नामक एक टीका लिखी थी, जो संप्रति अप्राप्त है। इनका दूसरा नाम पूज्यपाद भी था।

ये जैनाचार्य थे। जैनग्रन्थ में इन्हें जिनेन्द्रबुद्धि एवं पूज्यपाद से स्मरण किया गया है। चंदय्य कवि द्वारा कन्नाडी भाषा में उल्लिखित देवनंदी के जीवनचरित से प्रतीत होता है कि इनके पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। कर्नाटक के काले नामक गाँव में इनका जन्म हुआ। इनके पूर्वज वैदिक धर्मानुयायी थे; किन्तु इनके पिता जैन हो गए। गंगवंशीय राजा दुर्विनीत इनका शिष्य था। दुर्विनीत का राज्यकाल ५३९–५६९ वि० तक बना रहा। अतः इनका स्थितिकाल भी छठी शती में बैठता है। इनके रचे हुए ग्रन्थ हैं: 'अष्टाध्यायी शब्दावतारन्यास', 'जैनेन्द्र-व्याकरण', वैद्यक ग्रन्थ, 'तत्त्वार्थसूत्रटीका', 'धातुपाठ', 'गणपाठ' और 'लिंगानुशासन'।

दुर्विनीत

पूज्यपाद देवनन्दी के आश्रयदाता राजा दुर्विनीत के नाम से एक 'शब्दावतार' नामक ग्रंथ का उल्लेख हुआ है। महाराज पृथ्वीकोंकण के एक दानपत्र से इस बात की पुष्टि होती है कि महाराज दुर्विनीत ने शब्दावतार, बृहत्कथा और किरातार्जुनीय के पंद्रहवें सर्ग की टीका लिखी थी। मीमांसक जी का कथन है कि दुर्विनीत के गुरु आचार्य पूज्यपाद ने 'शब्दावतार' की रचना कर उसको अपने शिष्य के नाम से प्रसिद्ध किया था।

चुल्लिभट्ट

'काशिका' के प्रथमश्लोक की व्याख्या करते हुए न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने चुल्लिभट्ट की 'अष्टाध्यायीवृत्ति' का उल्लेख किया है। यदि यह सही हो तो चुल्लिभट्ट को न्यासकार (७०० वि०) से भी प्राचीन होना चाहिए।

निर्लूर

इसी प्रसंग में न्यासकार ने निर्लूर-कृत एक वृत्ति का भी उल्लेख किया है। 'काशिका' के दूसरे व्याख्याकार विद्यासागर ने भी ऐसा ही लिखा है। और 'कातंत्र परिशिष्ट' में श्रीदत्त ने भी निर्लूरकृत वृत्ति का अस्तित्व स्वीकार किया है।

जयादित्य : वामन

'काशिका' के संयुक्त लेखक जयादित्य और वामन ने 'अष्टाध्यायी' पर अलग-अलग वृत्तियाँ लिखीं। 'काशिका' के आदि पाँच अध्याय जयादित्य ने और शेष तीन अध्याय वामन ने लिखे। इत्संग ने अपने भारतयात्रा-विवरण में जयादित्य की मृत्यु का ७१८वीं वि० में उल्लेख किया है। जयादित्य का यह अन्तिम समय था। संस्कृत-साहित्य में वामन नाम के अनेक ग्रंथकार हुए। 'विश्रांतविद्याधर' नामक जैन व्याकरण का रचयिता, प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री और 'लिंगानुशासन' का रचयिता 'काशिका' का रचयिता चौथा ही वामन है। वामन के स्थितिकाल और जन्मस्थान के विषय में कहीं भी उल्लेख नहीं है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि 'काशिका' की रचना वाराणसी में हुई।

विमलमति

विमलमति ने 'अष्टाध्यायी' पर 'भागवृत्ति' लिखी थी, जो अप्राप्य है; किन्तु 'पद्मंजरी', 'भाषावृत्ति', 'दुर्घटवृत्ति', 'अमरटीका सर्वस्व', 'शब्दकौस्तुभ' और 'सिद्धांतकौमुदी' आदि अनेक ग्रन्थों में 'भागवृत्ति' के अस्तित्व के प्रमाण विद्यमान हैं। 'भागवृत्ति' के रचयिता के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। हालदार ने विमलमति को ही उसका रचयिता स्वीकार किया है। मीमांसक जी का कथन है कि भागवृत्तिकार का वास्तविक नाम विमलमति ही था और भर्तृहरि उसकी औपाधिक संज्ञा थी। विमलमति का स्थितिकाल ७वीं ८वीं शती था।

भर्तृश्वर : जयंत भट्ट : अभिनन्द

वर्धमान सूरि के 'गणरत्नमहोदधि' के एक उदाहरण से प्रतीत होता है कि भर्तृश्वर (८ वीं शती) ने भी 'अष्टाध्यायी' पर एक वृत्ति लिखी थी। ८वीं शती में वर्तमान नैयायिक जयंत भट्ट ने भी 'अष्टाध्यायी' पर एक वृत्ति लिखी थी, जिसका संकेत उन्होंने अपने 'अभिनवागमाडम्बर' नामक रूपक के आरंभ में किया है। जयंत भट्ट के पिता का नाम चन्द्र और पुत्र का नाम अभिनन्द था। अभिनंद भी पिता की ही भाँति बड़ा विद्वान् था। उसने अपने वंश का पूरा वृत्तांत 'कादम्बरी-कथासार' के आरंभ में दिया है। उसने 'न्यायमंजरी', 'नयकलिका' और 'पल्लव' नाम्नी टीका आदि ग्रन्थ लिखे।

केशव : इन्दुमित्र : मैत्रेयरक्षित : पुरुषोत्तमदेव : सृष्टिधर

१२वीं शती में वर्तमान केशव की वृत्ति का अनेक ग्रन्थों में हवाला लिखा हुआ मिलता है। इसी शती में लिखी हुई इंदुमित्र की 'इंदुमती वृत्ति' का अस्तित्व भी विट्ठल की 'प्रक्रियाकौमुदी' में देखने को मिलता है। १२वीं शती के ही एक तीसरे वैयाकरण मैत्रेयरक्षित की 'दुर्घटवृत्ति' का भी नामही सुनने को मिलता है। पुरुषोत्तम देव ने 'अष्टाध्यायी' पर जो लघुवृत्ति लिखी थी उसका नाम 'भाषावृत्ति' था। वंगदेशीय विद्वान् सृष्टिधर ने पुरुषोत्तमदेव की 'दुर्घटवृत्ति' पर 'भाषावृत्त्यर्थविवृति' लिखी थी।

शरणदेव ने भी १३वीं शती में 'अष्टाध्यायी' पर 'दुर्घटवृत्ति' का रचना की थी, वृत्तिकार के कहने से सर्वरक्षित ने जिसका संक्षेप करके प्रतिसंस्कार किया था। यह संप्रति उपलब्ध है और उसमें अनेक मौलिक बातें हैं।

भट्टोजि दीक्षित

व्याकरण के इतिहास में भट्टोजि दीक्षित का एक विशिष्ट स्थान है। व्याकरण पर उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। 'अष्टाध्यायी' पर लिखी हुई उनकी 'शब्दकौस्तुभ' नाम्नी बृहद् वृत्ति के संप्रति कुछ अंश उपलब्ध हैं। भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। उनकी वंशावली इस प्रकार है :
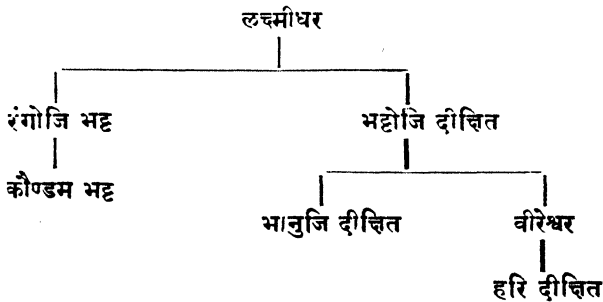
भट्टोजि दीक्षित ने नृसिंह के पुत्र शेषकृष्ण से व्याकरण का अध्ययन किया था। अप्पय दीक्षित भी उनके एक गुरु थे। ये १६वीं शती में हुए।

'शब्दकौस्तुभ', 'सिद्धांतकौमुदी' और 'प्रौढमनोरमा', उनकी श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। 'शब्दकौस्तुभ' पर लगभग सात टीकाएँ लिखी गईं; जिनके नाम हैं :

१ नागेश	:	विषमपदी
२ वैद्यनाथ पायगुण्डे	:	प्रभा
३ विद्यानाथ शुक्ल	:	उद्योत
४ राघवेंद्राचार्य	:	प्रभा
५ कृष्णमित्र	:	भावप्रदीप
६ भास्करदीक्षित	:	शब्दकौस्तुभदूषण
७ जगन्नाथ	:	शब्दकौस्तुभखंडन

अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित ने पाणिनीय सूत्रों पर 'सूत्रप्रकाश' नामक वृत्ति लिखी, जो हस्तलेख के रूप में सुरक्षित है। उसके पिता का नाम रंगराज अध्वरी, भाई का नाम अच्चा दीक्षित और भतीजे का नाम नीलकण्ठ दीक्षित था; वही नीलकंठ दीक्षित, जिसने 'शिवलीलार्णव' काव्य का प्रणयन किया था। इस काव्य ग्रन्थ से विदित होता है कि अप्पय दीक्षित ७२ वर्ष तक जीवित रहे और उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थों की रचना की। पोद्दार जी ने एक निर्णयपत्र के आधार पर अप्पय दीक्षित का समय १६५७ ई० (१७१४ वि०) पर्यंत रखा है; किन्तु मीमांसक जी के मतानुसार वह १५३०–१६०२ वि० के बीच हुआ।

अन्य वृत्तिकार

एक स्वरचित अष्टाध्यायी-वृत्ति का उल्लेख नीलकंठ वाजपेयी (सं० १६००–१६५०) ने अपनी 'परिभाषा-वृत्ति' में किया है; किन्तु वह संप्रति अप्राप्य है। अन्नंभट्ट (१७ वीं० शती) की 'पाणिनीय-मिताक्षरा' वृत्ति काशी से प्रकाशित हो चुकी है। काशीनिवासी ओरंभट्ट (१९ वीं० शती) ने भी एक 'व्याकरणदीपिका' वृत्ति लिखी थी, जो उपलब्ध है। सुप्रसिद्ध आर्य-समाजी विद्वान् दयानंद सरस्वती (१८८१–१९४० वि०) रचित 'अष्टाध्यायी-भाष्य' दो खंडों में वैदिक पुस्तकालय, अजमेर से प्रकाशित हो चुकी है।

जिन अज्ञातकालीन विद्वानों की वृत्तियाँ हस्तलेखों के रूप में उपलब्ध हैं

इनमें अप्पन नैनार्य कृत 'प्रक्रियादीपिका' नारायण सुधी कृत 'अष्टाध्यायी-प्रदीप', रुद्रधर कृत 'अष्टाध्यायी वृत्ति', उदयन कृत 'मितवृत्त्यर्थसंग्रह', आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

हस्तलेखों के रूप में बिखरे हुए कुछ ऐसे वृत्तिग्रंथों को मीमांसक जी ने उद्धृत किया जिनके रचयिता तथा रचना-काल का कुछ पता नहीं है। ये ग्रंथ उन्होंने राजकीय पुस्तकालय मद्रास के सूचीपत्र से खोज निकाले हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है:

ग्रन्थ	सूचीपत्र ग्रन्थांक
पाणिनीय सूत्रवृत्ति	११५७७
पाणिनीय सूत्रविवरण	११५७८
पाणिनीय सूत्रविवृति	११५७९
पाणिनीय सूत्रविवृति-लघुवृत्तिकारिका	११५८०
पाणिनीय सूत्रव्याख्यान	११५८१

इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ हस्तलिखित पोथियों के संग्रहों में अज्ञात दशा में विद्यमान हैं। इनकी खोज आवश्यक है।

व्याकरणशास्त्र में नये युग का निर्माण

पतंजलि

व्याकरणशास्त्र के इतिहास में नई उपलब्धियों के स्रष्टा एवं नये उपादानों का जन्मदाता पतंजलि एक ऐसा बहुज्ञ मेधावी वैयाकरण हुआ, जिसके कारण ब्रह्मा से लेकर पाणिनि तक की अति दीर्घ व्याकरण-परंपरा अनेक विचार-वीथियों में फैलकर अपनी चरमोन्नत अवस्था में पहुँची। पाणिनि और पतंजलि के बीच अनेक वैयाकरण आये और कात्यायन को छोड़ कर, कर्तव्य-निर्वाह का-सा साधारण दायित्व पूरा करके चलते बने, किन्तु पाणिनि की महान् थाती को, उसकी छोड़ी हुई उतनी भारी विरासत को पूरी सफलता के साथ आगे बढ़ाने का दुष्कर कार्य किया अकेले पतंजलि ने।

पतंजलि एक महान् विचारक मनस्वी था। व्याकरण के क्षेत्र में नये

युग का निर्माण कर अपनी असामान्य प्रतिभा की छाप वह आगे की पीढ़ियों के लिए छोड़ गया। उसको पाणिनीय व्याकरण का अद्वितीय व्याख्याता कहा जाता है; किन्तु उसकी ऊँची सूझ और उसके मौलिक विचार सर्वत्र ही उसको एक स्वतंत्र विचारक की कोटि में खड़ा करते हैं। पाणिनि का वह कटु आलोचक भी था, इस प्रकार की निर्भीकता और अवशंवद आचरण पांडित्य का ही एक अलंकरण या विशेषण है। पाणिनि के विवेक, व्यक्तित्व और विचारों ने पतंजलि को इतना ऊँचा उठाया, इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त है कि उसने पाणिनि को चमकाया।

इतने बहुश्रुत विद्वान् के लिए कोशकारों एवं प्राचीन ग्रन्थकारों के मुख से यदि हम गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृत्, चूर्णिकाकार या पदकार आदि अनेक नाम निकले हुए पाते हैं, तो इसमें अत्युक्ति ही क्या है। ऐसा तो होना ही चाहिए था, किन्तु ये सभी नाम वस्तुतः पतंजलि के ही हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। इनमें इतना तो स्वीकार्य ही है कि आदि के दो नामों को छोड़कर शेष पाँच नाम ग्रन्थकारों ने पतंजलि के पर्याय में ही प्रयुक्त किया है।

पतंजलि वैयाकरण तो था ही, इसके अतिरिक्त उतना ही अधिकार उसका सांख्य, योग, न्याय, आयुर्वेद, कोश, रसायन और यहाँ तक कि काव्य आदि विषयों पर भी था। उसके इस सर्वांगीण व्यक्तित्व का उल्लेख तद्विषयक ग्रन्थों में देखने को मिलता है।

मीमांसक जी ने अनेक बाह्य और आभ्यंतर प्रमाणों को उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि पतंजलि १२०० वि० पूर्व में हुए; किन्तु संप्रति यह मत मान्य नहीं है।[२] पहिले संकेत किया गया है कि पतंजलि अनेक विषयों का अधिकारी विद्वान् था। उसके नाम से विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में इन कृतियों का उल्लेख मिलता है: 'महानंदकाव्य', 'चरक-परिष्करणग्रन्थ', 'कोश ग्रन्थ', 'सांख्यशास्त्र', 'रसशास्त्र' और 'लौहशास्त्र'। इनके अतिरिक्त उसके रचे हुए तीन ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं: 'सामवेदीय निदानसूत्र', 'योगसूत्र' और 'महाभाष्य'। 'महाभाष्य' व्याकरणशास्त्र का विश्वकोश है।

महाभाष्य के टीकाकार

'महाभाष्य' का महत्त्व, उस पर लिखी गई अनेक टीकाओं को देखकर, सहज ही में हृदयंगम हो जाता है। उनमें से कुछ-टीकाएँ तो नष्ट हो चुकी हैं और जो बची भी हैं, उनमें से भी कुछ टीकाकारों का परिचय नहीं मिलता है। बहुत-सी टीकाएँ हस्तलिखित पोथियों के रूप में जीवित हैं, जिन पर अभी तक कोई प्रकाश नहीं डाला गया है।

भर्तृहरि

'महाभाष्य' की उपलब्ध टीकाओं में सर्वाधिक प्राचीन टीका भर्तृहरि की है। भर्तृहरि की टीका प्राचीन तो है, वरन्, उसका महत्त्व इसलिए भी है, कि वह प्रामाणिक भी है। व्याकरण-निकाय में भर्तृहरि ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनको पतंजलि के बाद स्थान दिया गया है।

भर्तृहरि ने अपने संबंध में कुछ भी नहीं लिखा है। पुण्यराज के कथनानुसार मालूम होता है कि भर्तृहरि के गुरु का नाम वसुरात था। चीनी यात्री इत्सिंग ने भ्रमवश भर्तृहरि को बौद्ध लिखा है, किन्तु वह बौद्ध न होकर कट्टर वैदिक धर्मानुयायी था। 'प्रबंध चिंतामणि' के प्रमाण से भर्तृहरि महाराज शूद्रक के भाई सिद्ध होते हैं, और महाराज समुद्रगुप्त शूद्रक को किसी विक्रम संवत् का प्रवर्तक मानते हैं। पं० भगवद्दत्त जी ने शूद्रक का स्थितिकाल ५०० वि० पूर्व दिया है। मीमांसक जी ने भी भर्तृहरि को ४५० वि० पूर्व में रखा है। भर्तृहरि के ग्रंथों के नाम हैं: 'महाभाष्यदीपिका' (महाभाष्य-व्याख्या), 'वाक्यपदीय' (स्वोपज्ञटीका), 'भट्टिकाव्य' 'भागवृत्ति' (अष्टाध्यायी वृत्ति), 'नीतिशतक', शृङ्गारशतक, 'वैराग्यशतक','मीमांसासूत्रवृत्ति','वेदांतसूत्रवृत्ति' (अनुपलब्ध) और 'शब्दधातु समीक्षा'।

मीमांसक जी ने भर्तृहरि का जो स्थितिकाल दिया है और उनके नाम से जो 'भट्टिकाव्य' का उल्लेख किया है वह सही नहीं है। 'भट्टिकाव्य' के सम्बन्ध में महाकाव्यों के प्रकरण में प्रकाश डाला गया है और भट्टि तथा भर्तृ के सम्बन्ध में जो भ्रम हुआ है उसका भी वहाँ स्पष्टीकरण किया गया है।

कैयट

'महाभाष्य' का दूसरा टीकाकार कैयट हुआ। इनके टीका ग्रन्थ 'महाभाष्यप्रदीप' के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति से पता चलता है कि इनके पिता का नाम जैयट उपाध्याय था। भीमसेन कृत 'सुधासागर' नामक टीका में कैयट और उब्बट को मम्मट का अनुज लिखा हुआ है; किन्तु यजुर्वेद भाष्य की पुष्पिका में उब्बट ने अपने पिता का नाम वज्रट लिखा है। अतः भीमसेन (१८ वीं श०) का कथन असत्य है। 'देवीशतक' के व्याख्याकार से वैयाकरण कैयट भिन्न हैं। क्योंकि उक्त व्याख्या ग्रन्थ की रचना १०३४ वि० में हुई, जब कि वैयाकरण कैयट ११०० वि० पूर्व में हुए। कैयट के एक शिष्य उद्योतकर का उल्लेख चन्द्रसागर सूरि ने एक वैयाकरण के रूप में किया है। नैयायिक उद्योतकर और वैयाकरण उद्योतकर भिन्न-भिन्न थे। कैयट के नाम से प्रतीत होता है कि वह काश्मीरी था। 'महाभाष्य प्रदीप' कैयट की उच्चकोटि की रचना है, जिस पर लिखी गई अनेक टीकाओं का उल्लेख आगे किया जायगा।

ज्येष्ठकलश : मैत्रेयरक्षित

श्रीकृष्णमाचार्य ने ज्येष्ठकलश को भी 'महाभाष्य' की एक नष्टंगत टीका का लेखक माना है; किन्तु दूसरे विद्वान् इस बात को नहीं मानते हैं। एक बौद्ध वैयाकरण मैत्रेयरक्षित (१२ वीं शती०) ने भी संभवतः 'महाभाष्य' पर एक टीका लिखी थी, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। इनके ग्रन्थों के नाम हैं: 'न्यासपरतंत्र प्रदीप टीका', 'धातुप्रदीप' और 'दुर्घटवृत्ति'।

पुरुषोत्तमदेव

पुरुषोत्तमदेव (१२ वीं शती वि०) एक प्रसिद्ध वैयाकरण और कोशकार हुए। इनकी 'प्राणपणित' नामक महाभाष्य-वृत्ति पर मणिकंठ ने एक व्याख्या लिखी थी। ये बंगाल के रहने वाले और बौद्धमतानुयायी थे, क्योंकि अपनी 'प्राणपणित' और 'भाषावृत्ति' टीकाओं के मंगल श्लोकों में इन्होंने बुद्ध को नमस्कार किया है। 'भाषावृत्ति' के व्याख्याकार सृष्टिधराचार्य का कहना है कि पुरुषोत्तमदेव ने राजा लक्ष्मणसेन की आज्ञा से 'भाषावृत्ति' की रचना

की थी। लक्ष्मणसेन का राज्यकाल १२ वीं शती ही इनका स्थितिकाल था। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनके नाम हैं : 'महाभाष्य-लघुवृत्ति', 'कुंडली-व्याख्यान', 'कारककारिका', 'भाषावृत्ति' (अष्टाध्यायी पर), 'दुर्घटवृत्ति', 'परिभाषा वृत्ति', 'ज्ञापक समुच्चय', 'उणादिवृत्ति', 'त्रिकांडशेषकोष', 'अमरकोशपरिशिष्ट', 'हारावली कोश' और 'वर्णदेशना'। इनकी 'महाभाष्य लघुवृत्ति' पर शंकर ने एक व्याख्या लिखी है।

धनेश्वर, प्रसिद्ध वैयाकरण वोपदेव के गुरु थे। धनेश भी इनका उपनाम था। वोपदेव का स्थितिकाल १३ वीं शताब्दी है। ये भी उसी समय हुए। इन्होने 'महाभाष्य' पर चिन्तामणि नामक टीका लिखी। इनके दूसरे ग्रन्थ का नाम 'प्रक्रियामणि' है।

शेषनारायण

'महाभाष्य' के टीकाकार शेषनारायण के सम्बन्ध में भ्रमवश आफ्रेक्ट ने लिखा है कि उसके पिता का नाम कृष्णसूरि था। इसी प्रकार कृष्णमाचार्य ने भी शेषनारायण को कृष्णसूरि का पुत्र और वीरेश्वर का भाई लिखने की भूल की है। पाणिनीय व्याकरण निकाय में शेषकृष्ण के वंश का विस्तार से परिचय उपलब्ध है। इस वंशावली से ज्ञात होता है कि शेषनारायण, शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर का समकालीन था। शेषकृष्ण का स्थितिकाल १६वीं श० वि० के आस-पास बैठता है। इनके ग्रन्थों के नाम हैं : 'सूक्तिरत्नाकर' (महाभाष्यटीका) और 'श्रौतसर्वस्व' (मीमांसा दर्शन)।

विष्णुमित्र

विष्णुमित्र ने 'महाभाष्य' पर 'क्षीरोदक' नामक एक टिप्पण लिखा, जिसका उल्लेख शिवरामेंद्र सरस्वती तथा भट्टोजिदीक्षित ने किया है। एक विष्णुमित्र 'ऋक्प्रातिशाख्य' के वृत्तिकार भी हुए। इनके पिता का नाम देवमित्र था। दोनों की भिन्नता-अभिन्नता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। ये भट्टोजिदीक्षित (१६वीं श०) के पहिले हुए। 'महाभाष्य-टिप्पण', इनका एक ही ग्रन्थ है।

नीलकण्ठ

नीलकंठ वाजपेयी के पितामह का नाम रामचंद्र और पिता का नाम बटेश्वर था। बटेश्वर के दीक्षागुरु, अप्पय दीक्षित के पुत्र, नीलकंठ के गुरु तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती थे। भट्टोजि दीक्षित को 'सिद्धांतकौमुदी' के तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती और अप्पय दीक्षित दोनों समकालीन थे। पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरुंभट्ट के गुरु भी यही ज्ञानेन्द्र थे। अतः नीलकण्ठ का स्थितिकाल भट्टोजि दीक्षित और पेरुंभट्ट के बीच लगभग १७वीं शती होना चाहिए। 'भाष्यतत्त्वविवेक' (महाभाष्य पर), 'सिद्धांतकौमुदी-सुबोधिनी', 'पाणिनीयदीपिका' और 'परिभाषावृत्ति' नामक उनकी चार कृतियाँ हैं।

शेषविष्णु

बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित ५७७४ संख्यक हस्तलेख 'महाभाष्य प्रकाशिका' के प्रथमाह्निक की अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है कि शेषविष्णु, पाणिनीय निकाय में निर्दिष्ट शेषवंश में पैदा हुए थे। इनके प्रपितामह का नाम शेषनारायण, पितामह का नाम कृष्णसूरि और पिता का नाम महादेवसूरि था। अतः शेषविष्णु का स्थितिकाल १७वीं शती होना चाहिए। इनकी 'महाभाष्य प्रकाशिका' के प्रारम्भिक दो आह्निक ही उपलब्ध हैं।

शिवरामेंद्र सरस्वती

शिवरामेंद्र सरस्वती कृत तीन हस्तलिखित कृतियों का अभी तक पता लगा है। इनकी 'महाभाष्य-रत्नाकर' नामक टीका को सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी में श्री मीमांसक जी ने स्वयं देखा है। उनकी दूसरी कृति 'णेरणाविति पाणिनीयसूत्रस्य व्याख्यानम्', रघुनाथमन्दिर के पुस्तकालय, जम्मू में सुरक्षित है। इस पुस्तकालय के सूचीपत्र के संपादक श्री स्टाइन ने इस ग्रन्थ के संबंध में लिखा है कि वह संपूर्ण है और उसका रचनाकाल १७०१ है। तीसरी कृति 'सिद्धान्तकौमुदी' की 'रत्नाकर' नाम्नी टीका का उल्लेख आफ्रेक्ट के सूचीपत्र में हुआ है। इस ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि शिवरामेंद्र सरस्वती, भट्टोजि दीक्षित के बाद, संभवतः १७ वीं शती में हुए।

अन्यान्य टीकाकार

'महाभाष्य' के कुछ अज्ञातकालीन टीकाकारों के नाम हैं : प्रयाग वेंकटाद्रि, तिरुमलयज्वा, कुमारतातय, राजनसिंह, नारायण, सर्वेश्वर दीक्षित और गोपालकृष्ण शास्त्री। इनकी कृतियाँ हस्तलिखित पोथियों के रूप में मद्रास, मैसूर के राजकीय पुस्तकालयों, आडियार पुस्तकालय, सरस्वती भवन पुस्तकालय के सूचीपत्रों में निर्दिष्ट हैं।

महाभाष्य में उद्धृत कुछ वैयाकरण

'महाभाष्य' में जिन प्राचीन वैयाकरणों के मत उद्धृत हैं उनमें गोनर्दीय का नाम प्रमुख है। उधर कैयट, राजशेखर और 'वैजयंती' कोशकार गोनर्दीय को पतंजलि का ही नामांतर मानते हैं। गोनर्दीय देशज नाम प्रतीत होता है। गोनर्द नाम से राजतरंगिणीकार ने काश्मीर के तीन राजाओं का उल्लेख किया है। उत्तर प्रदेश के गोंडा जिला को भी प्राचीन गोनर्द कहा गया है। यदि गोनर्द कोई वैयाकरण हुए हों तो उन्हें पतंजलि का पूर्ववर्ती ही मानना चाहिए।

'महाभाष्य' और 'कामसूत्र' में गोणिकापुत्र नाम से एक वैयाकरण का उल्लेख है। ये भी पतंजलि के पहिले हुए। पतंजलि ने सौर्य भगवान् नामक एक वैयाकरण का मत उद्धृत किया है। कैयट ने लिखा है कि यह वैयाकरण किसी सौर्य नामक नगर का निवासी था। 'काशिका' में भी सौर्य नगर का नाम उल्लिखित है। इनके मत को पतंजलि ने बड़े आदर से उद्धृत किया है। इनके अतिरिक्त कुरणवाड और भगवंत इन दो प्राचीन वैयाकरणों के मत भी 'महाभाष्य' में देखने को मिलते हैं।

महाभाष्यप्रदीप के व्याख्याकार

प्रदीपकार कैयट का उल्लेख 'महाभाष्य' के टीकाकारों के प्रसंग में हो चुका है। पूर्वोक्त प्रकरण के अध्ययन से यह जानकारी हो जाती है कि 'महाभाष्य' पर अनेकों टीकाएँ लिखी गई। उन सभी टीकाओं में कैयट के

'महाभाष्यप्रदीप' को ही भावी वैयाकरणों ने सर्वाधिक संमान दिया है। उस पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गईं।

चिंतामणि

कैयटप्रदीप का पहिला व्याख्याता चिंतामणि हुआ। चिंतामणि के नाम से दो कृतियों का हस्तलिखित पोथियों के रूप में श्री मीमांसक जी ने उल्लेख किया है: 'महाभाष्यकैयटप्रकाश' और 'प्रक्रियाकौमुदीटीका'। पहिली अपूर्ण पोथी अनूप संस्कृत पुस्तकालय, वीकानेर में है और दूसरी भंडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना में। पूना वाली पोथी का लिपिकाल १५१४ वि० है। अतः चिंतामणि को निश्चित ही १५ वीं शती से पहिले का होना चाहिए। एक चिंतामणि शेषवंशीय भी थे। इनके संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहने योग्य सामग्री उपलब्ध नहीं है।

नागनाथ

नागनाथ, कैयटकृत 'प्रदीप' का दूसरा व्याख्याकार है। उसकी व्याख्या का नाम, 'महाभाष्य-प्रदीपोद्योतन' है। उसकी एक हस्तलिखित प्रति के आरंभिक अंश से ज्ञात हुआ है कि नागनाथ शेषवंशीय थे, क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वयं को शेष वीरेश्वर का शिष्य एवं अनुज लिखा है। इसके अतिरिक्त विट्ठल कृत 'प्रक्रियाकौमुदी' की टीका में भी नागनाथ को वीरेश्वर का अनुज लिखा हुआ है। अतएव स्पष्ट है कि 'महाभाष्य-प्रदीपोद्योतन' का कर्ता नागनाथ, वीरेश्वर के समकालीन सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ।

रामचन्द्र

रामचंद्र सरस्वती की 'महाभाष्यप्रदीप' पर लिखी हुई 'विवरण' नामक लघु व्याख्या का हस्तलेखों के रूप में दो सूचीग्रन्थों में उल्लेख हुआ है। आफ्रेक्ट ने रामचन्द्र का दूसरा नाम सत्यानन्द लिखा है। इस आधार पर मीमांसक जी ने रामचन्द्र सरस्वती को ईश्वरानंद सरस्वती का गुरु माना है। ईश्वरानंद सरस्वतीकृत 'बृहद्-महाभाष्य-प्रदीप-विवरण' रघुनाथ पुस्तकालय,

जम्मू के हस्तलेख-संग्रह में हैं, जिसका लिपिकाल १६०३ है। इस दृष्टि से रामचन्द्र १६ वीं १७ वीं शती में हुए।

ईश्वरानंद

ईश्वरानंद सरस्वती कृत जिस 'महाभाष्य-प्रदीप-विवरण' का संकेत किया गया है। उसकी दूसरी हस्तलिखित प्रति राजकीय पुस्तकालय, मद्रास में भी सुरक्षित है। ये भी रामचंद्र के ही समकालीन थे।

अन्नभट्ट

अन्नंभट्ट कृत 'महाभाष्य-प्रदीपोद्योतन' के प्रत्येक आह्निक के अंतिमांशों से विदित होता है कि वे अद्वैतवादी विद्वान् राघव सोमयाजी के वंशज तथा तैलंगदेशीय दाक्षिणात्य थे। उनके पिता का नाम तिरुमलाचार्य था। काशी में उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। कृष्णमाचार्य के कथनानुसार अन्नंभट्ट के गुरु का नाम शेषवीरेश्वर था। इस दृष्टि से अन्नंभट्ट का स्थितिकाल १६ वीं १७ वीं शती में निश्चित होता है। इन्होंने कई ग्रंथ लिखे, जिनके नाम हैं: 'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन', 'राणकोज्जीवनी टीका', 'ब्रह्मसूत्र-व्याख्या', 'अष्टाध्यायी मिताक्षरावृत्ति' और 'तर्कसंग्रह'।

नारायण शास्त्री

नारायण शास्त्री कृत 'महाभाष्यप्रदीप-व्याख्या' के अनुसार इनके गुरु का नाम म० म० धर्मराज यज्वा था। ये धर्मराज यज्वा कौंडिन्यगोत्रीय नल्ला दीक्षित और नारायण दीक्षित के भाई थे। नारायण शास्त्री का स्थितिकाल १८ वीं शती बैठता है।

नागेश भट्ट

नागेश भट्ट का नाम व्याकरण के इतिहास में शीर्षस्थानीय विद्वानों की श्रेणी में आता है। अपने युग के ये विख्यात विद्वान् थे। व्याकरण के अतिरिक्त दर्शन, धर्म और ज्योतिष के क्षेत्र में भी इनकी ख्याति थी। इनके पिता का नाम शिवभट्ट और माता का नाम सती देवी था। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनका उपनाम नागोजि भट्ट था। भट्टोजि दीक्षित के पुत्र हरिदत्त

दीक्षित इनके व्याकरण गुरु और वैद्यनाथ पायगुंडे इनके शिष्य थे। ये श्रृंगवेरपुर के राजा रामसिंह के सभा-पंडित थे। भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर लिखी हुई नागेश के टीका-ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति इंडिया आफिस के सूचीपत्र में उद्धृत है, जिसका लेखनकाल १७६९ वि० है। अतः नागेश इससे पूर्व हुए। 'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन' के अतिरिक्त इनके लिखे हुए ग्रन्थ हैं : 'लघु-शब्देंदुशेखर', 'बृहद् शब्देंदुशेखर', 'परिभाषेंदुशेखर', 'लघुमंजूषा', 'स्फोटवाद' और 'महाभाष्य प्रत्याख्यानसंग्रह'।

वैद्यनाथ पायगुंडे

नागेश के शिष्य वैद्यनाथ पायगुंडे ने 'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन' पर 'छाया' नाम्नी व्याख्या लिखी, जिसका कुछ भाग पं० शिवदत्त शर्मा ने निर्णय सागर प्रेस, बंबई से प्रकाशित किया है। इनके गुरु नागेश का पुत्र बाल शर्मा इनका शिष्य था। बाल शर्मा ने अपने सहाध्यायी मन्नुदेव के सहयोग से एवं संस्कृतप्रेमी विद्वान् हेनरी टामस कोलब्रुक के आग्रह पर 'धर्मशास्त्र-संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था। अतः इनका समय १८वीं शती है।

मल्लयज्वा : रामसेवक

सुप्रसिद्ध वैयाकरण 'महाभाष्यप्रदीप' का व्याख्याकार तिरुमल्लयज्वा, मल्लयज्वा का पुत्र था। तिरुमल्लयज्वा कृत 'दर्शपौर्णमासमंत्र-भाष्य' के आरंभिक अंश से प्रकट होता है कि उसके पिता मल्लयज्वा ने कैयट के 'महाभाष्यप्रदीप' पर एक टिप्पण ग्रन्थ लिखा था। कैयट ग्रन्थ के एक व्याख्याकार रामसेवक (१८वीं श०) हुए। 'शब्दकौस्तुभ-भावप्रदीप' और 'सिद्धांतकौमुदी-रत्नार्णव' का लेखक कृष्णमित्र इनका पुत्र था।

प्रवर्तकोपाध्याय

प्रवर्तकोपाध्याय नामक एक अज्ञातकालीन विद्वान् का लिखा हुआ 'महाभाष्यप्रदीपप्रकाशिका' या 'महाभाष्यप्रदीपप्रकाश' ग्रंथ का उल्लेख दक्षिण भारत के पुस्तकालयों—मद्रास, आडियार, मैसूर और त्रिवेंद्रम् आदि के सूचीग्रन्थों—में मिलता है। संभवतः ये दाक्षिणात्य थे।

अन्यान्य व्याख्याकार

इनके अतिरिक्त आदेन्न कृत 'महाभाष्यप्रदीपस्फूर्ति', नारायण कृत 'महाभाष्य-प्रदीप-विवरण', सर्वेश्वर सोमयाजी कृत 'महाभाष्य-प्रदीपस्फूर्ति' और हरिराम कृत 'महाभाष्य-प्रदीप-व्याख्या' आदि कतिपय व्याख्या-ग्रन्थों का उल्लेख विभिन्न हस्तलेख-संग्रहों के सूचीपत्रों में देखने को मिलता है। निष्कर्ष यह है कि लगभग १९वीं शती तक कैयट के ग्रंथ पर व्याख्याएँ लिखी गईं।

काशिका के व्याख्याकार

'काशिका' के संयुक्त लेखक जयादित्य और वामन का उल्लेख अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों के प्रकरण में हो चुका है। व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में 'काशिका' का मौलिक महत्त्व है, और सम्भवतः यही कारण था कि अनेक वैयाकरणों ने उस पर व्याख्याएँ लिखकर उसकी उपयोगिता एवं लोकप्रियता को सिद्ध किया।

जिनेन्द्रबुद्धि

'काशिका' की उपलब्ध होने वाली व्याख्याओं में जिनेन्द्रबुद्धि रचित 'काशिकाविवरण-पंजिका' सर्वाधिक प्राचीन है, जिसकी प्रसिद्धि 'न्यास' नाम से है। जिनेन्द्रबुद्धि बौद्ध था और उसका स्थितिकाल आठवीं शती था। यह 'न्यास' व्याख्या भी इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि उस पर मैत्रेयरक्षित (१२वीं शती) ने 'तंत्रप्रदीप', मल्लिनाथ (१४वीं शती) ने 'न्यासोद्योत', महामिश्र (१५वीं शती) ने 'व्याकरण-प्रकाश', और रत्नमति आदि ने व्याख्या ग्रन्थ लिखे।

अन्यान्य व्याख्याकार

जिनेन्द्रबुद्धि के बाद 'काशिका' पर इन्दुमित्र (१२वीं शती से पूर्व) ने 'अनुन्यास', एक अज्ञातनामा विद्वान् ने (१२वीं शती से पूर्व) 'महान्यास', विद्यासागर मुनि (१२वीं शती से पूर्व) ने 'प्रक्रिया-मंजरी', धर्मसूत्रों के व्याख्याता हरिदत्तमिश्र (१२वीं शती) ने 'पदमंजरी' लिखी, रंगनाथ यज्वा

(१८वीं शती) ने जिस पर 'मंजरी मकरन्द' तथा शिवभट्ट ने 'कुंकुमविलास' नामक व्याख्याएँ लिखीं। रामदेव मिश्र १२वीं शती में हुए। उन्होंने भी 'काशिका' पर 'वृत्तिप्रदीप' टीका लिखी। इनके अतिरिक्त त्रिवेन्द्रम् और आफ्रेक्ट के सूचीपत्रों में 'काशिका' की दो व्याख्याएँ : 'वृत्तिरत्न' एवं 'चिकित्सा' का नाम मिलता है।

व्याकरणशास्त्र के विकाश की संक्षिप्त रूपरेखा

पाणिनीय व्याकरण से प्रभावित व्याकरण की जिन विभिन्न शाखाओं का उल्लेख इस प्रकरण में किया गया है उसके विकास की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है :

पाणिनीय व्याकरण की अत्यधिक लोकप्रसिद्धि को देखकर विभिन्न वैयाकरणों ने समय-समय पर ऐसे ग्रन्थों को लिखने का यत्न किया, जिनमें उन्होंने धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, एवं लिंगानुशासन की विधियों को निरे-निरे ढंग पर क्रमबद्ध रूप में वर्गीकृत किया ; किन्तु वैयाकरणों की ये विभिन्न शाखाएँ धर्मसापेक्ष्य और अपाणिनीय रीतियों की अनुयायिनी होने के नाते अधिकांशतया न तो लोकप्रसिद्धि प्राप्त कर सकी और नहीं अधिक समय तक जीवित रह सकीं।

एक बौद्ध विद्वान् चंद्रगोमिन् ने ५०० ई० के लगभग 'चान्द्र-व्याकरण' लिखकर 'चान्द्र-व्याकरण' संप्रदाय की स्थापना की। लंका में यह व्याकरण अधिक प्रचलित हुआ और १३ वीं शताब्दी में एक बौद्धाचार्य काश्यप ने 'बालावबोध' लिखकर 'चांद्र-व्याकरण' का परिष्कार एवं नवीनीकरण किया। इस शाखा के लगभग दस ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बतीय भाषा में भी हुआ।

जैन-संप्रदाय में व्याकरणशास्त्र की परम्परा के प्रवर्तक जिन महावीर को माना जाता है। जिन महावीर ने देवश्रेष्ठ इंद्र से व्याकरण-विषयक जिन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर पाया था, उन्हीं से जिन और इन्द्र के नाम से 'जिनेंद्र' शाखा का प्रवर्तन हुआ। जिनेंद्र-व्याकरण के एक ग्रन्थ में सात सौ सूत्र और दूसरे ग्रंथ में तीन-सौ सूत्र संकलित हैं। इन सूत्रों की निष्पन्न

विधियाँ पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा कहीं अधिक दुस्तर हैं। 'पूज्यपाद' देवनन्दि या जिनेन्द्र ने इन सूत्रों का प्रणयन किया। इन सूत्रों पर पहिली टीका अभयनन्दी (८ वीं शताब्दी ई०) ने और दूसरी सोमदेव (११ वीं शताब्दी ई०) ने की है। दिगम्बर संप्रदाय के अनुयायी किसी अज्ञात-नामा लेखक ने 'पंचवस्तु' नाम से जिनेंद्र-व्याकरण का एक संस्करण तैयार किया।

नवम शताब्दी में एक श्वेताम्बरीय जैन विद्वान् शाकटायन ने 'शब्दानु-शासन' की रचना और उसपर स्वयं ही 'अमोघवृत्ति' नामक टीका लिख कर शाकटायन-व्याकरण की परंपरा का प्रवर्तन किया। यह ग्रन्थ पाणिनि, चान्द्र और जैनेंद्र-व्याकरणों के आधार पर लिखा गया। इसकी पद्धति 'सिद्धान्तकौमुदी' से मिलती है। ११ वीं शताब्दी में दयापाल नामक एक वैयाकरण ने 'रूपसिद्धि' नामक ग्रन्थ लिखकर शाकटायन व्याकरण का नवीनीकरण किया और इसका पुनः एक संस्करण १४ वीं शताब्दी में अभयचंद ने 'प्रक्रिया-संग्रह' ग्रंथ लिख कर किया।

जैनाचार्य हेमचंद्र (१०८८–११७२ ई०) ने 'शब्दानुशासन' ग्रन्थ और उस पर स्वयं ही 'बृहद्वृत्ति' नामक टीका लिखकर एक नये संप्रदाय का प्रवर्तन किया, जिस पर पुनः मेघविजय (१७वीं श०) ने 'शब्दचन्द्रिका' नामक टीका लिखी। इसी प्रकार देवेन्द्रसूरि ने 'बृहद्वृत्ति' या 'हेमलघुन्यास' नामक उपटीका लिखी

शर्ववर्मा या शरवर्मा ने एक नई 'कातंत्रशाखा' का प्रवर्तन किया। कहा जाता है कि वह सुप्रसिद्ध 'बृहत्कथा' के रचयिता गुणाढ्य का प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् था। उसने राजा सातवाहन को छह मास में व्याकरण की शिक्षा के लिए की गई प्रतिज्ञा को, भगवान् सुब्रह्मण्य की उपासना करके एक नये व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर, पूरा किया था। यही व्याकरण 'कातंत्र', 'कलाप' या 'कौमार' के नाम से प्रचलित हुआ। इस व्याकरण की रचना ई० पू० प्रथम शताब्दी में हो चुकी थी। आठवीं शताब्दी में इस पर दुर्गसिंह ने टीका लिखी। काश्मीर के जयधर भट्ट ने कातंत्र-व्याकरण की परंपरा में

एक नया ग्रन्थ 'बालबोधिनी' लिखा, जिस पर कि उग्रभूति ने 'न्यास' नामक टीका लिखी।

१३वीं शताब्दी के मध्य में नरेंद्र नामक एक विद्वान् ने 'सारस्वत' व्याकरण की रचना की, जिसके सूत्रों को अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने क्रमबद्ध कर, उन पर 'सारस्वत-प्रक्रिया' नामक एक विद्वत्तापूर्ण टीका १३वीं शताब्दी के अंत में लिखी। अनुभूतिस्वरूपाचार्य की यह 'प्रक्रिया' टीका इतनी विद्वत्प्रिय एवं जनप्रिय साबित हुई कि भट्टोजि दीक्षित के समय तक उस पर लगभग १८ टीकाएँ लिखी गईं, जिनका उल्लेख मीमांसक जी ने किया है।

१३वीं शताब्दी में ही बोपदेव ने 'मुग्धबोध' लिखकर एक नई पद्धति को सामने रखा। बोपदेव ने ही 'कविकल्पद्रुम' भी लिखा, जिसमें उन्होंने अन्त्याक्षर क्रम से धातुओं को व्यवस्थित किया और स्वयं ही उस पर 'कामधेनु' नामक टीका भी लिखी। रामतर्कवागीश ने 'मुग्धबोध' पर एक टीका-ग्रंथ लिखा।

'अष्टाध्यायी' के अनुकरण पर धारानरेश भोज (१००५–१०५४ ई०) ने 'सरस्वतीकंठाभरण' और इसी शताब्दी में जैयट के पुत्र कैयट ने 'महाभाष्य' पर 'प्रदीप' टीका लिखी। इस टीका पर नागेशभट्ट और अन्नंभट्ट ने १७ वीं शताब्दी में क्रमशः 'उद्योत' और 'उद्योतन' उपटीकाएँ लिखीं।

१२ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लंका के एक बौद्ध भिक्षु धर्मकीर्ति ने आरंभिक विद्यार्थियों के लिए 'रूपावतार' नामक एक व्याकरण-ग्रन्थ लिखा। तदनंतर शरणदेव ने एक 'दुर्घटवृत्ति' ग्रन्थ (११७३ ई०) और १४ वीं शताब्दी में विमल सरस्वती ने 'रूपमाला' ग्रन्थ लिखे।

१४ वीं शताब्दी में विजयनगर के माधव के भाई सुप्रसिद्ध वेदभाष्यकार सायण ने अपने भाई के नाम पर 'माधवीयधातुवृत्ति' नामक ग्रन्थ लिखा।

१३ वीं १४ वीं शताब्दी के बीच क्रमदीश्वर नामक एक विद्वान् ने पाणिनीय व्याकरण का संक्षिप्त रूप 'संक्षिप्तसार' लिखकर 'जौमर' शाखा का प्रवर्तन किया। बाद में जूमरनंदी ने 'संक्षिप्तसागर' पर 'रसवती'

नामक पांडित्यपूर्ण टीका लिख कर इस संप्रदाय के सिद्धान्तों का सर्वथा नवीनीकरण किया, जिसके कारण कि इन्हीं विद्वान् के नाम से इस शाखा की प्रसिद्धि हुई। क्रमदीश्वर के ग्रंथ पर एक टीका गोपीचन्द्र ने 'गोपीचन्द्रिका' नाम से लिखी।

१४ वीं शताब्दी में पद्मनाभ भट्ट ने पाणिनीय व्याकरण पर 'सौपद्म' व्याकरण लिखकर उसका नवीनीकरण किया और स्वयं ही उस पर 'सुपद्म-पंजिका' नामक टीका भी लिखी।

चैतन्य स्वामी के शिष्य रूपगोस्वामी ने भी 'हरिनामामृत' से एक व्याकरण लिखा, जिसकी परंपरा को जीवगोस्वामी ने 'हरिनामामृत', दूसरे अज्ञातनामा लेखक ने 'चैतन्यामृत' और बालराम पंचानन ने 'प्रबोधचन्द्रिका' लिख कर आगे बढ़ाया।

संस्कृत-व्याकरण के आरंभिक विद्यार्थियों के हेतु रामचन्द्र (१५ वीं श०) ने पाणिनि-सूत्रों को वैज्ञानिक ढंग से क्रमबद्ध कर 'प्रक्रियाकौमुदी' ग्रन्थ लिखा। इसी परंपरा में नारायण भट्ट (१६ वीं श०) ने 'प्रक्रियासर्वस्व' और अप्पय दीक्षित (१६ वीं श०) ने 'पाणिनिवादनक्षत्रमाला' ग्रंथ लिखे।

तदनंतर १७ वीं शताब्दी में व्याकरणशास्त्र का एक अद्भुत आचार्य भट्टोजि दीक्षित ने रामचन्द्र कृत 'प्रक्रिया-कौमुदी' के अनुकरण पर 'सिद्धान्त-कौमुदी' लिखी। यह ग्रन्थ व्याकरण के क्षेत्र में 'अष्टाध्यायी' जितनी मौलिकता एवं उपयोगिता रखता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह अप्पय दीक्षित का शिष्य था। अपने इस अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ पर भट्टोजि दीक्षित ने एक प्रौढ टीका 'प्रौढ़मनोरमा' नाम से लिखी। 'शब्दकौस्तुभ', 'लिंगानुशासनवृत्ति' और 'वैयाकरणमतोन्मज्जन', इन तीन व्याकरण ग्रन्थों का भी भट्टोजि दीक्षित ने निर्माण किया।

भट्टोजि दीक्षित के शिष्य वरदराज (१७ वीं श०) ने 'सिद्धान्तकौमुदी' के संक्षिप्त संस्करणों के रूप में 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' और 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' लिखे। इसी समय के लगभग भट्टोजि दीक्षित के भतीजे कौण्डभट्ट ने 'वैयाकरण-मतोन्मज्जन' के टीकास्वरूप 'वैयाकरणभूषणसार' ग्रंथ लिखा।

भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हरि दीक्षित के शिष्य नागेश भट्ट १७वीं शताब्दी का सुप्रसिद्ध वैयाकरण, योगदर्शनविद्, धर्मशास्त्री और काव्यशास्त्री हुआ। उसने जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' की टीका और सिद्धान्तकौमुदी' पर 'बृहत् शब्देन्दुशेखर' एवं 'लघुशब्देन्दुशेखर' नामक दो विद्वत्तापूर्ण टीका-ग्रन्थ लिखे। उसने कैयटकृत 'महाभाष्यप्रदीप' पर 'महाभाष्यप्रदीपोद्योत' नामक उपटीका लिखी। उसने व्याकरणशास्त्र का दार्शनिक दृष्टि से 'मंजूषा', 'लघुमंजूषा' और 'परमलघुमंजूषा' नामक तीन ग्रन्थों में वैयाकरणों के स्फोटवाद का विवेचन किया। उसने 'परिभाषेन्दुशेखर' में व्याकरण की परिभाषाओं की विस्तार से व्याख्या की। इनका उल्लेख पहिले भी किया जा चुका है।

१८वीं शताब्दी में नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने व्याकरण पर अनेक मौलिक और टीका ग्रन्थों का निर्माण किया। इसी प्रकार जिनेन्द्र-सरस्वती ने एक विद्वत्तापूर्ण आलोचनात्मक टीका 'तत्त्वबोधिनी', वासुदेव दीक्षित ने 'बालमनोरमा-टीका' ग्रंथ भी १७वीं शताब्दी में लिखे।

इन ग्रंथों एवं टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त पाणिनि, वररुचि, शबरस्वामी, हर्षवर्धन, शान्तनवाचार्य और शन्तनु आदि वैयाकरणों ने 'लिंगानुशासन', 'गणपाठ', 'उणादिसूत्र', 'फिट्सूत्र' और 'धातुपाठ' आदि विभिन्न ग्रन्थों को लिखकर व्याकरणशास्त्र का सर्वांगीण निर्माण किया।

व्याकरणशास्त्र पर विशेषतया भाष्य, व्याख्या, टीका और गौणतया मूल ग्रन्थों को लिखने की यह परंपरा निरंतर प्रगति पर रही और उसके फलस्वरूप विभिन्न हस्तलेख-संग्रहों में सैकड़ों कृतियाँ आज भी ऐसी देखने को मिलती हैं, जिनका किसी भी इतिहास में उल्लेख नहीं हुआ है।

व्याकरणशास्त्र का सर्वेक्षण करने पर हमें यह प्रतीत होता है कि सृष्टि के जन्म से लेकर आजतक उसकी महान् परम्परा में कोई व्यतिक्रम नहीं आया है। संसार के किसी भी साहित्य में भाषाशास्त्र पर इतना गम्भीर विचार नहीं हुआ।

प्राकृत व्याकरण

प्राकृत का सबसे पहिला व्याकरण वररुचि (५०० ई० पूर्व) का 'प्राकृत-प्रकाश' है। कात्यायन के प्रसंग में वररुचि के संबंध में बताया जा चुका है। सातवीं शताब्दी में सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य भामह ने उक्त ग्रंथ के अंतिम अध्याय को छोड़कर शेष आठ अध्यायों पर 'मनोरमा' नाम की टीका लिखी। दशवीं शताब्दी में वररुचि व्याकरण पर एक विद्वत्तापूर्ण टीका, रामपाणिपाद ने 'प्राकृतप्रकाशवृत्ति' के नाम से लिखी। कृष्णलीलांशुक (१२वीं श०) ने भी एक काव्य ग्रन्थ 'श्रीचिह्नप्रकाश' लिखकर उसमें वररुचि-व्याकरण के उदाहरणों को स्पष्ट किया है।

प्राकृत भाषा का सबसे पहिला व्याकरण 'प्राकृतसूत्र' है। इसका रचयिता रामायणकार महर्षि बाल्मीकि को बताया जाता है। इसीलिए इस सूत्र-ग्रन्थ का दूसरा नाम 'वाल्मीकिसूत्र' भी कहते हैं; किन्तु जिस रूप में आज वह उपलब्ध है उसका विश्लेषण करने पर विद्वानों ने उस सूत्रग्रंथ को बहुत बाद का लिखा हुआ बताया है। इस सूत्र-ग्रन्थ पर १४वीं शताब्दी में त्रिविक्रम पण्डित ने 'प्राकृतसूत्रवृत्ति' नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी। इन्हीं टीकाकार को इस सूत्र-ग्रंथ का वास्तविक रचयिता माना जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने व्याकरण ग्रन्थ के आठवें अध्याय में प्राकृत-व्याकरण पर भी प्रकाश डाला है। त्रिविक्रम ने 'प्राकृतशब्दानुशासन' ग्रन्थ भी लिखा है। इसी शताब्दी में सिंहराज ने 'प्राकृतरूपावतार' ग्रन्थ लिखा। इनके अतिरिक्त जैनाचार्य श्रुतसागर (१६वीं श०) ने सटीक 'औदार्यचिंतामणि', इसी समय दूसरे जैनाचार्य शुभचन्द्र ने 'चिन्तामणि', लक्ष्मीधर ने 'षड्भाषाचन्द्रिका', चंद्र पण्डित ने 'प्राकृतलक्षण', शेषनाग ने 'प्राकृत-व्याकरणसूत्र' और उस पर लंकेश्वर ने 'प्राकृतकामधेनु' टीका, रामतर्क वागीश (१७वीं शताब्दी) ने 'प्राकृत कल्पतरु' और मार्कण्डेय (१७वीं श०) ने 'प्राकृतसर्वस्व' लिखकर व्याकरण-शास्त्र की परंपरा को समृद्ध किया।

ज्योतिषशास्त्र

ज्योतिषशास्त्र

षड्वेदांगों के परिचय में ज्योतिषशास्त्र का संकेत पहिले किया जा चुका है; किन्तु एक बृहद् सर्वांगपूर्ण शास्त्र होने के नाते, वर्तमान युग के लिए अति उपयोगी विषय होने के सबब से और संस्कृत-साहित्य के मान को दुनिया के हर हिस्से में प्रतिष्ठित करने के कारण ज्योतिषशास्त्र का बड़ा महत्त्व है, जिसका बृहद् परिचय पाने के लिए एक स्वतंत्र अध्याय की आवश्यकता है।

ज्योतिषशास्त्र के अस्तित्व को हम वेदों और वैदिक साहित्य में सर्वत्र पाते हैं। वेदों में सूर्य, चन्द्रमा और दूसरे कतिपय नक्षत्रों के लिए देवत्व रूप में स्तुतिपरक ऋचाएँ गाई गई हैं। इन मंत्रों में नक्षत्रों के प्रति वैदिक ऋषियों की रहस्यपूर्ण उत्सुकता का भाव विद्यमान है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में ग्रह-नक्षत्रों के प्रति वैदिक ऋचाओं जैसी रहस्यात्मकता की जगह उनका रूप-रंग, गुण और प्रभाव आदि पर विचार किया जाने लगा था। वैदिक यज्ञों की विधियाँ संपन्न करने के लिए ऋतु, अयन, दिनमान और लग्न आदि के शुभाशुभ के लिए ब्राह्मण-युग में ज्योतिष का ज्ञान अनिवार्य समझा जाने लगा और ज्योतिष की इसी अनिवार्य आवश्यकता के कारण पीछे चलकर षड्वेदांगों में उसको स्वतंत्र स्थान मिला।

ज्योतिषशास्त्र को पहिले-पहल गणित और फलित, इन दो रूपों में स्वीकार किया गया। बाद में वह स्कंध-त्रय के नाम से कहा जाने लगा, जिसको सिद्धान्त, संहिता और होरा, इन तीन विभागों में विभाजित किया गया और संप्रति उसका पंचरूपात्मक होरा, गणित, संहिता, प्रश्न और निमित्त में विकास हुआ। आज ज्योतिष का क्षेत्र इतना बढ़ गया है कि मनोविज्ञान,

जीवविज्ञान, पदार्थविज्ञान, रसायनविज्ञान और चिकित्साशास्त्र आदि अनेक विषयों तक उसका प्रवेश है।

होरा, ज्योतिष का एक अंग है, जिसका नाम जातक भी है। जन्मकुंडली में द्वादश भावों के फलाफल का विवेचन करना ही होराशास्त्र का विषय है। वराहमिहिर, नारचन्द्र, सिद्धसेन, ढुंढिराज, केशव, श्रीपति और श्रीधर प्रभृति ज्योतिर्विद् होरा-ज्योतिष के प्रतिनिधि आचार्य हुए। गणित ज्योतिष में कालगणना, सौर-चान्द्र मानों का प्रतिपादन, ग्रहगतियों का निरूपण, प्रश्नोत्तर विवेचन और अक्षक्षेत्र-संबंधी अक्षज्या, लंबज्या, द्युज्या, कुज्या, तद्धृति, समशंक आदि का निरूपण वर्णित हैं। गणित-ज्योतिष का वर्तमान विकास उसके सिद्धान्त, तंत्र और करण, इन तीन भेदों में प्रतिपादित है।

संहिता ज्योतिष के अन्तर्गत भू-शोधन, दिक्शोधन, शल्योद्धार, मेलापक, आयाद्यानयन, गृहोपकरण, इष्टिकाद्वार, गेहारंभ, गृहप्रवेश, मुहूर्तगणना, उल्कापात, अतिवृष्टि, ग्रहों के उदय-अस्त का विचार और ग्रहण-फल आदि विषयों का विवेचन है। प्रश्न ज्योतिष में प्रश्नाक्षर, प्रश्न-लग्न और स्वरज्ञान की विधियाँ वर्णित हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक विषय भी है, जिसमें प्रश्नकर्ता के हाव, भाव, विचार और चेष्टाओं के माध्यम से भी विचार किया जाता है। केरलज्योतिष प्रश्नशास्त्र के लिए प्रसिद्ध है। शकुन-ज्योतिष का एक नाम निमित्तिशास्त्र भी है। इसमें शुभाशुभ फलों का वर्णन है।

ज्योतिषशास्त्र की प्राचीनता

ज्योतिषशास्त्र अपने मूलरूप में बहुत प्राचीन है। उसकी व्यापकता और प्रभाव वेद-मंत्रों तक विस्तारित है। ज्योतिष का अस्तित्व वेदों जितना पुराना है। वेद-मंत्रों और वैदिक साहित्य में हमें उसके सूत्र बिखरे हुए मिलते हैं। इन सूत्रों की व्याख्या और उन पर किए गए आगे के विचारकों द्वारा अनुसंधान के ही फलस्वरूप इतने बृहद् शास्त्र का निर्माण हुआ। ऋग्वेद-संहिता के एक मंत्र में द्वादश राशियों की गणना से वर्ष के ३६० दिन गिने गए हैं। ऋग्वेद की यह राशि-चक्र-गणना ज्योतिष की अति प्राचीन स्थिति पर एक प्रामाणिक प्रकाश डालती है।

मंत्रसंहिताओं में

वैदिक संहिताओं में नक्षत्रपुञ्ज, देवतापुञ्ज, नीहारिका आदि विषयों के नाम, रूप और आकृति का वर्णन मिलता है। आकाश-मंडल में ग्रहों की गति का अध्ययन और भूमंडल पर उनके प्रभाव का वर्णन, सभी की वैज्ञानिक व्याख्या वेद-मंत्रों में वर्णित है।

डॉ० शामशास्त्री ने ज्योतिषशास्त्रविषयक प्राचीन ग्रन्थों का अनुशीलन कर उसके प्राचीनस्वरूप पर एक प्रामाणिक प्रकाश डाला है और यह सिद्ध किया है कि अयन, मलमास, क्षयमास, नक्षत्रभेद, सौरमास, चान्द्रमास आदि ज्योतिष-विषयक चर्चाओं का मूल लगभग वेदों जितना प्राचीन है।

तैत्तिरीय संहिता में हमें द्वादश मासों का नाम क्रमशः मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहस्, सहस्य, तपस् और तपस्य लिखा हुआ मिलता है। इसी संहिताग्रन्थ में इन बारह मासों को छह ऋतुओं में विभाजित किया गया है, जिनके नाम हैं : मधु-माधव : वसंत, शुक्र-शुचि : ग्रीष्म, नभस्-नभस्य : वर्षा, इष-ऊर्ज : शरद्, सहस्-सहस्य : हेमंत और तपस्-तपस्य : शिशिर। इस संहिता में ऋतु को एक ऐसे पात्र का प्रतीक माना गया है, जो द्विमुखी होता है और जिसके इन मुखों का ज्ञान करना कठिन है।

ऋग्वेद संहिता में हमें समय-ज्ञान की परिधि के लिए 'युग' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसकी व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने सतयुग और त्रेतादि का उल्लेख किया है। तैत्तिरीय संहिता में पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यो, सूर्य और चंद्र आदि ग्रहों पर विचार करते हुए कहा गया है कि सूर्य आकाश-मंडल की परिक्रमा करता है; चंद्रमा नक्षत्र-मण्डल की और वायु अंतरिक्ष लोक की। वहाँ अग्नि को पृथ्वीस्थानीय बताया गया है।

विद्वानों के मतानुसार वैदिक युग में कृत्तिका नक्षत्र से गणना की जाती थी और कृत्तिका का प्रथम चरण ही संपातबिंदु समझा जाता था। अथर्ववेद में हमें अट्ठाईस नक्षत्रों के नाम और उनकी गणना का क्रम भी मालूम

होता है। नक्षत्र-निर्देश के अतिरिक्त ऋग्वेद में राशियों की संख्या बारह ही स्वीकार की गई है।

वेदों की कुछ ऋचाओं में नक्षत्र शब्द सभी ताराओं के लिए प्रयुक्त हुआ है; जैसे : सर्वशक्तिमान् सूर्य के आगमन से नक्षत्र (तारे) और रात चोर की तरह भागते हैं। किन्तु कुछ ऋचाओं में नक्षत्र शब्द विशेषरूप से उन ताराओं के लिए प्रयुक्त होने लगा था जो चंद्रमार्ग में पड़ते हैं; यथा : चंद्रमा ताराओं के बीच रहता है। तैत्तिरीय संहिता के एक अनुवादक में सब नक्षत्रों के नाम गिनाये गए हैं। यहाँ भी नक्षत्र शब्द चन्द्रमार्ग में पड़नेवाले तारा-पुञ्जों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद संहिता के एक लंबे प्रसंग से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि नक्षत्रों का अर्थ तारा-समूह ही लिया जाता था। वैदिक संहिताओं में 'ग्रह' शब्द के व्यापक उल्लेख को देखकर वेबर साहब का कथन है कि भारत में ही ग्रहों का आविष्कार हुआ होगा, क्योंकि उनके नाम विशेष रूप से भारतीय हैं।

वैदिक साहित्य में

मंत्र संहिताओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य और विशेषतया ब्राह्मण-ग्रन्थों में ज्योतिषज्ञान-विषयक पर्याप्त सामग्री बिखरी हुई है। 'शतपथ ब्राह्मण' में सप्तर्षिमंडल को 'ऋक्ष' के नाम से कहा गया है; ऋक् संहिता में इन्हीं ऋक्षों के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये जो ऋक्ष हैं, जो ऊपर आकाश में स्थित हैं और रात में दिखाई पड़ते हैं, दिन को कहाँ चले जाते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में ग्रह-मंडल के विषय में विस्तार से चर्चाएँ मिलती हैं। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में कहा गया है कि बृहस्पति जब पहिले प्रकट हुआ था तब वह तिष्य (पुष्य) नक्षत्र के पास था। 'शतपथ ब्राह्मण' में शुक्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शुक्र वही है जो चमकता है। वह चमकता है, इसीलिए उसको शुक्र कहा गया है।

वैदिक संहिताओं से बढ़कर उनके व्याख्या रूप ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रंथों में हमें ज्योतिष के विभिन्न अंगों पर विस्तृत चर्चाएँ मिलती हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में एक नई बात हमें यह दिखाई पड़ती है कि ऋग्वेद में जहाँ ऋतुओं की

संख्या छः दी गई है, वहाँ इस ब्राह्मण-ग्रन्थ में हेमन्त और शिशिर को एक ही ऋतु मानकर कुल पाँच ऋतुओं की गणना की गई है। और वसंत को वर्ष का शिर, ग्रीष्म को दहिना पंख, शरद् को बाँया पंख, वर्षा को पूँछ और हेमन्त को मध्य भाग कहा गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' में ऋतुओं की उत्पत्ति और ऋतु-व्यवस्था के लिए समय नियत किया है। तथा उत्तरायण और दक्षिणायन का विभाजन द्वादश मास को दृष्टि में रखकर किया गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि ऋतुएँ जिसमें वास करती हैं उसे वर्ष या संवत्सर कहते हैं : 'ऋतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुम्।' एक ब्राह्मण ग्रंथ में अनन्त लोकों की अविनश्वर सत्ता का वर्णन करने के उपरांत कुछ लोकों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

ब्राह्मण-ग्रंथों में नक्षत्रों के स्वरूप का बड़ा ही सुंदर वर्णन मिलता है। एक स्थान पर प्रजापति को नक्षत्र का प्रतीक बनाकर चित्रा, हस्त, स्वाति आदि नक्षत्र उसके विभिन्न अंग माने गये हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन के सम्बन्ध में कहा गया है कि संवत्सरस्वरूप पक्षी का विषुवान् तो शिर है और उसके पूर्वापर छः-छः मास उसके दो पंख हैं।

'छान्दोग्य' उपनिषद् की एक कथा के अनुसार नारद जी ने सनत्कुमार ऋषि के पास जाकर ब्रह्मविद्या पढ़ने की इच्छा प्रकट की थी। ऋषि सनत्कुमार के यह पूछे जाने पर कि वे (नारद जी) कौन-कौन सी विद्याएँ अब तक पढ़ चुके हैं, नारद जी ने अपनी अधीत विद्याओं में नक्षत्रविद्या (ज्योतिष) और राशिविद्या (अंकगणित) का नाम लिया। 'मुण्डकोपनिषद्' के एक दूसरे प्रसंग से हमें यह भी विदित होता है कि गणित और ज्योतिष आदि लौकिक ज्ञान से संबद्ध विषय भी आध्यात्मिक ज्ञान के सहायक समझे जाते थे और इसलिए प्रत्येक ब्रह्मज्ञान-जिज्ञासु इनका अध्ययन करना आवश्यक समझता था।

महाभारत में

'महाभारत' के युग तक ज्योतिष का कितना विस्तार हो चुका था, इसकी सविस्तर चर्चाएँ हमें उसमें देखने को मिलती हैं। पांडवों के बनवास

की अवधि का परिसीमन करने के लिए जब दुर्योधन ने यह प्रश्न भीष्म के सम्मुख रखा तो भीष्म ने कहा था '……समय के बढ़ने तथा नक्षत्रों के हटने से प्रति पाँचवें वर्ष दो अधिमास (मलमास) होते हैं। मेरी समझ में तो वन गए हुए इन पांडवों को तेरह वर्ष से पाँच मास और बारह दिन अधिक हो गए हैं।

वेदांग ज्योतिष के समय में उत्तरायण का आरंभ धनिष्ठा नक्षत्र से होता था ; किन्तु अयन के अन्तर के कारण (महाभारत) में यह स्थिति श्रवण नक्षत्र से आरम्भ हुई। 'महाभारत' के एक श्लोक से 'ऐसा कहा जाता है कि 'पहिले दिन, फिर रात, तदनंतर शुक्ल इत्यादि पक्ष, मास, श्रवण इत्यादि नक्षत्र, और तब शिशिर आदि ऋतुएँ उत्पन्न हुईं,' स्पष्टतया यह विदित होता है कि नक्षत्र-गणना तब श्रवण से होती थी। महाभारत-युग में दिनाङ्क-गणना चन्द्रतिथि और सूर्यतिथि दोनों के अनुसार चलती थी।

'महाभारत' में पाण्डवों के बनवासकाल में अपर्व पर ही सूर्यग्रहण की बात लिखी है। महाभारत-युद्ध के समय एक ग्रहण के १३ दिन बाद ही दूसरे ग्रहण का योग पड़ा था, जिसको कि महा अनिष्ट का सूचक बताया गया है। इतिहासकारों का मत है कि इतने सन्निकट दो ग्रहणों का योग बताना कवि की कल्पना है। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि उस समय ग्रहण योग के सम्बन्ध में विचार होने लग गया था। इसी प्रकार ग्रहों की भी बारीक चर्चाएँ 'महाभारत' में देखने को मिलती हैं।

कल्पसूत्रों में

कल्पसूत्रों में भी ज्योतिष-विषयक चर्चाएँ विस्तार से लिखी हुई मिलती हैं। 'गृह्यसूत्र' में मासों के नक्षत्र-प्रयुक्त नाम आये हैं। 'श्रौतसूत्र' में तो मधु-माधव मासनाम के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। 'श्रौतसूत्र' में वसंत से मासारंभ माना गया है। 'गृह्यसूत्र' के अनेक स्थलों पर तिथिवाचक शब्दों का उल्लेख हुआ है। नक्षत्रों के नाम भी उनमें बहुलता से लिखे हुए मिलते हैं। 'गृह्यसूत्र' में ध्रुव, अरुन्धती और सप्तर्षि आदि ताराओं के नाम आये हैं। 'गृह्यसूत्र' में अग्न्याधान के लिए नक्षत्र बताये गए हैं और कहा गया

है कि उत्तरप्रोष्ठपद, फाल्गुनी और रोहिणी नक्षत्रों में खेत जोतना चाहिए। इसी प्रकार 'पारस्करसूत्र' में भी विवाह के संबंध में, खेत जोतने के संबंध में और नक्षत्रों के शुभाशुभ फल के विषय में अनेकविध चर्चाएँ देखने को मिलती हैं।

निरुक्त और अष्टाध्यायी में

'निरुक्त' में मुहूर्त और क्षण नामक काल-परिमाणों के प्रसंग में ज्योतिष-विषयक अनेक बातें प्रकाश में आती हैं। सप्तर्षियों का भी उसमें उल्लेख है। दिन, रात्रि शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन की भी उसमें चर्चाएँ हैं। इस संबंध की सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो 'निरुक्त' में ब्रह्मा के अहोरात्र का परिमाण बताये जाने वाले प्रसंग में मिलती है।

पाणिनि व्याकरण में हमें ज्योतिष-विषयक अनेक नई बातों का पता लगता है। उसमें संवत्सर के अर्थ में प्रयुक्त वर्षनाम, हायन, मासों के नक्षत्रप्रयुक्त चैत्रादि नाम, कालवाचक नाड़ी शब्द, नक्षत्रनाम, ग्रह शब्द का प्रयोग आदि अनेक ज्योतिष-विषयक बातें देखने को मिलती हैं।

जैन साहित्य में

जैनियों का धार्मिक साहित्य चार अनुयोगों से विभाजित है, जिनमें से एक का नाम गणितानुयोग है। जैनाचार्यों ने संख्यान (अंकविद्या एवं ज्योतिष) का ज्ञान आवश्यक बताया है। इसी संख्यानशास्त्र की महत्ता को महावीराचार्य अपने 'गणितसार-संग्रह' के आरंभ में इस प्रकार प्रकट करते हैं: "कृतार्थ, पूज्य और जगत् के स्वामी तीर्थंकरों की शिष्य-प्रशिष्य परंपरा से उपलब्ध संख्यानरूपी समुद्र में से कुछ सार निकाल कर मैं इस 'गणितसार-संग्रह' ग्रंथ को अपनी मति-शक्ति के अनुसार कहता हूँ, जो लघु होते हुए भी अनल्पार्थक है।"

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय ज्योतिष की समय-सीमाओं का ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत ही उसके प्राचीन अस्तित्व का पता लगाया जा सकता है। ज्योतिषशास्त्र प्रकृति के तत्त्वों पर आधारित मानव-ज्ञान-अभिलाषा का अति-

प्राचीन माध्यम रहा है। इतिहासकारों ने ज्योतिष का आविर्भाव मानवजाति के आविर्भाव के साथ-साथ स्वीकार किया है और इसी दृष्टि से उसको इन छह विभिन्न युगों में विभाजित किया है :

ज्योतिषशास्त्र का काल विभाजन

१. अन्धयुग	:	आदिकाल से १००००	ई० पू० तक
२. उदयकाल	:	१००००–५००	ई० पू० तक
३. आदिकाल	:	५००	ई० पू० से ५०० ई० तक
४. पूर्व मध्यकाल	:	५००–१०००	ई० तक
५. उत्तर मध्यकाल	:	१०००–१६००	ई० तक
६. आधुनिक काल	:	१६००	ई० से अब तक

अन्धकार युग

दुनियाँ के प्रायः सभी देशों के इतिहास का आरंभ 'अन्धकार-युग' से होता है। इस अन्धकार-युग की सारी घटनाएँ, सारे क्रिया-कलाप यद्यपि आदि-अन्तहीन होते हैं, तथापि इतिहासकारों ने उनका अस्तित्व दूसरे साक्षात्कृत-युगों से किसी भी अंश में कम नहीं माना है। इसीलिए 'अन्धकार-युग' का महत्त्व इतिहास के लिए बहुत बड़ा रहा है।

भारतीय ज्योतिष की विकास-परम्पराओं को आधार मानकर इतिहासकारों ने उसका एक बहुत बड़ा अंश 'अन्धकार-युग' की देन के रूप में अलग रखा है। इस अंश का आधार आनुमानिक होते हुए भी असत्य नहीं हैं; ठीक उसी प्रकार, जैसे कि हम एक विशाल वट-वृक्ष की शाखाओं को सामने देखकर उसकी दीर्घायु का सारा दारोमदार अप्रत्यक्ष, धरती के अन्दर छिपे हुए, उसके मूल का अनुमान लगा लेते हैं।

आदि मानव की अनन्त जिज्ञासाओं में एक जिज्ञासा काल-ज्ञान, स्थिति-ज्ञान और दिशा-ज्ञान की भी थी, इसीलिए कि बिना इस जिज्ञासा का समाधान पाये उसके बहुत से दूसरे कार्य पूरे नहीं हो सकते थे। इसी

जिज्ञासा के समाधान हेतु मनुष्य ने जब एकनिष्ठ होकर प्रयत्न किया तभी से ज्योतिष का उदय हुआ। मानव-जिज्ञासा के इसी सूत्ररूप की व्याख्या; भाष्य और वृत्ति में ही उत्तरोत्तर ज्योतिष का विकास होता गया। दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष और अयन आदि दैनिक जानकारी के विषयों का ज्ञान मनुष्य को बिना प्रयास ही उपलब्ध होता गया।

संसार के सभी देशों में ज्ञान के विभिन्न रूप वहाँ की प्रकृति के अनुरूप अंकुरित हुए हैं। भारत की मूल प्रकृति अध्यात्मवादी रही है। अतएव उसके समग्र शास्त्रों का मूल उसी अध्यात्म-भावना में समाविष्ट है। भारतीय ज्ञान के साक्षात् स्वरूप वहाँ के ऋषिगण ही ज्योतिषशास्त्र के पहले निर्माता भी हैं। अंधकार-युग का संपूर्ण ज्योतिषज्ञान अध्यात्मप्रिय ऋषियों की चिन्तनपूर्ण विचारधारा में मिला-जुला है। इस युग में ज्योतिषशास्त्र एक अस्पष्ट, अप्रधान और अस्वतंत्रावस्था में धर्म और दर्शन के साथ एकाकार था।

उदयकाल

ज्योतिषशास्त्र के इस उदय-युग की सीमा लगभग वैदिक संहिताओं के व्याख्यास्वरूप रचा गया वैदिक-साहित्य के निर्माण के आस-पास बैठती है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् प्रभृति वैदिक साहित्य के प्रधान विषयों में मास, ऋतु, वर्ष, अयन, युग, ग्रह, ग्रहण, नक्षत्र, विषुव, मान, दिन और रात संबंधी चर्चायें ही ज्योतिषशास्त्र के उदय की समर्थ सामग्री है। यहाँ से ज्योतिष एक स्वतन्त्र विषय के रूप में अपने मौलिक अस्तित्व की प्रतिष्ठा करते हुए प्रतीत होता है। जैनधर्म के द्वादशांग-साहित्य में ज्योतिषशास्त्र के विकासमान सिद्धान्तों का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक साहित्य की अंत्येष्टि के बाद षड्-वेदांगों के निर्माण का क्रम आता है। षड्वेदांगों के निर्माण का समय ७००–१०० ई० पू० के भीतर आ जाता है। षड्वेदांगों में ज्योतिष को एक स्वतन्त्र स्थान प्राप्त है। ५०० ई० पू० तक हमें कोई भी ऐसी कृति उपलब्ध नहीं होती है, जिसके आधार पर हम ज्योतिषशास्त्र की एक प्रामाणिक परम्परा को जोड़ सकें; किन्तु इतना निश्चित है कि इस समय तक ज्योतिष को भी दूसरे वेदांगों

की भांति मान्यता मिल चुकी थी, जिसका प्रामाणिक इतिहास हम ५०० ई० पूर्व के बाद पाते हैं।

किन्तु इस पांचवीं शती ई० पूर्व से पहिले रचे गए साहित्य में और पांचवीं शती तथा उसके कुछ बाद ही निर्मित ज्योतिष-विषयक कुछ ग्रंथों के आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन ज्ञान-मना साहित्यिकों के समक्ष ज्योतिष की मान्यता एवं उसकी उपयोगिता स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई थी। यद्यपि इस समय की हमें कोई भी कृति नहीं मिलती है; फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि तब भी ज्योतिष पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की जाने लगी थी।

वेदचक्षूरूप सिद्धान्त, होरा और संहिता, इस त्रिस्कंधात्मक ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक अठारह महर्षियों का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम हैं: सूर्य, पितामह, व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पौलिश, च्यवन, यवन, भृगु, और शौनक। यह नामावली 'कश्यपसंहिता' में दी गई है, किन्तु 'पराशर संहिता' में 'पुलस्त्य' नाम से एक दूसरे ही प्राचीन महर्षि का उल्लेख मिलता है।

'पराशरसंहिता' के अनुसार ज्योतिर्विद्या का यह महान् ज्ञान शिष्य-परंपरा द्वारा आगे विश्रुत हुआ। सूर्य से मायारुण, ब्रह्मा से नारद, व्यास से वैशंपायन आदि शिष्य, वशिष्ठ से माण्डव्य एवं वामदेव, पराशर से मैत्रेय और इसी प्रकार पुलस्त्य, गर्ग तथा अत्रि आदि से उनके शिष्यों ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया।

इस ऋषि-महर्षि-परंपरा द्वारा प्रवर्तित ज्योतिर्विद्या-संबंधी ज्ञान जिन कृतियों के माध्यम से सुरक्षित होता हुआ आगे की पीढ़ियों तक पहुँचा, उन सभी कृतियों का आज अभाव है। उनमें से जो कुछ आज सुलभ भी हैं, वे भी मूल कृतियाँ न होकर उनका संस्करण मात्र हैं।

विमानविद्या पर 'पाराशर्यकल्प' नामक एक ग्रंथ संप्रति उपलब्ध है। उसके संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है वह पराशर की ही मूल कृति है; किन्तु इतना निश्चित है कि उनके वंशज किसी व्यास ने ही उसको लिखा है।

पराशर के एक शिष्य मैत्रेय का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उनका एक शिष्य कौशिक भी था, जिसके ज्योतिषशास्त्र में कुछ प्रश्न लिखे मिलते हैं।

'कश्यपसंहिता' और 'पराशरसंहिता' के उक्त प्रसंग में गर्ग को ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों में गिना गया है। ज्योतिष का ही एक अंग वायसशास्त्र भी है। इस विषय पर 'वायसरुत' नामक गर्ग ऋषि कृत एक ग्रंथ उपलब्ध है। ज्योतिष से ही संबद्ध वारिशास्त्र-विषयक एक आठ पत्रों का दूसरा ग्रंथ राजकीय पुस्तकालय नेपाल के हस्तलेख-संग्रह में सुरक्षित है। गर्ग को 'देवर्षिचरित' का लेखक भी कहा गया है।

महर्षि भरद्वाज ने 'यंत्रसर्वस्व' नामक एक कला-कौशल-विषयक विज्ञान-ग्रंथ लिखा था। उसका कुछ भाग बड़ौदा के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। इस ग्रन्थ के विमान-विषयक एक अंश को श्री प्रियरत्न जी (स्वामी ब्रह्ममुनि जी) ने 'विमानशास्त्र' के नाम से प्रकाशित किया है। इसी प्रकार तंजोर के हस्तलेख-संग्रह में भी अगस्त्य कृत एक फलित-विषयक प्राचीन ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।

ये ग्रन्थ आज जिस रूप में उपलब्ध हैं उस दृष्टि से उनकी प्रामाणिकता के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है; किन्तु इतना निश्चित है कि ज्योतिषविद्या पर पुरातन समय में ही विचार होने लग गया था, और पुरातन विद्या-निकेतनों में ही ज्योतिर्विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन भी होने लग गया था।

पाणिनि के उक्थादिगण में एक गणसूत्र का उल्लेख हुआ है: 'द्विपदी ज्योतिषि', जिससे ज्योतिषशास्त्र-सम्बन्धी किसी प्राचीन 'द्विपदी' (दो पदवाली) पुस्तिका का आभास मिलता है। इसके अतिरिक्त ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित उत्पात, संवत्सर और मुहूर्त विषय पर लिखे गए कुछ प्राचीन ग्रन्थों का निर्देश भी 'गणपाठ' में मिलता है। नक्षत्रों का वर्णन पाणिनि ने तीन प्रकरणों में किया है, जिससे विश्वास होता है कि पाणिनि के समय तक नक्षत्र-सम्बन्धी ज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर था।

आदिकाल

ज्योतिष को एक स्वतंत्र विषय के रूप में अग्रसर होने का सुअवसर इसी युग में मिला। पूर्ववर्ती दो युगों का दाय ग्रहण कर ज्योतिष के बीजरूप में बिखरे तत्त्वों को अंकुरित होने और विकसित होने का अवकाश भी इसी युग में प्राप्त हुआ। पहिले-पहल ज्योतिष की आवश्यकता वैदिक यज्ञों की संपन्नता तक ही सीमित थी; बाद में धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयों की व्यवस्थाओं के लिए भी ज्योतिष को एक उपयोगी शास्त्र माना जाने लगा। वेदांग के रूप में ज्योतिष को मान्य स्थान इससे पूर्व ही प्राप्त हो चुका था; किन्तु उसकी सर्वाङ्गीण प्रगति इसी समय हुई।

यों तो षड्-वेदांगों की रचना के लिए विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत दिए हैं; किन्तु सामान्यतः ७००–६०० ई० पू० से उसका आरम्भ इतिहास की दृष्टि से उपयुक्त बैठता है। ज्योतिषवेदांग की रचना को मैक्समूलर ने ३०० ई० पूर्व, वेबर ने ५०० ई० पूर्व, व्हिटनी ने १३३८ ई० पूर्व और कोलब्रुक ने १४१० ई० पूर्व माना है। यद्यपि तत्कालीन नक्षत्र-गणना और संपात की गति का अनुसंधान करने पर वेदांगज्योतिष का निर्माणकाल १४०८ ई० पूर्व बैठता है; फिर भी उसका मूर्त रूप लगभग ५०० ई० पूर्व के आस-पास ही दृष्टिगोचर होता है।

ऋग्-यजु-अथर्व, इन तीनों संहिताओं से संबद्ध ज्योतिष ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद से संबंधित ज्योतिषवेदांग के संग्रहकर्ता लगध नामक ऋषि को माना गया है। इस वेदांगज्योतिष में ३६ कारिकाएँ हैं। यजुर्वेदज्योतिष में ४९ कारिकाएँ हैं, जिनमें पूरी ३० कारिकाएँ ऋग्वेदज्योतिष की और शेष नवीन हैं। अथर्व-ज्योतिष में १६२ श्लोक संकलित हैं, जो कि फलादेश की दृष्टि से बहुत महत्त्व-पूर्ण और पूर्ववर्ती कारिका-संग्रहों से बृहद् हैं।

इस युग में विरचित ज्योतिष की कुछ उच्चतम कृतियों में ऋग्-ज्योतिष यजुः-ज्योतिष और अथर्व-ज्योतिष उल्लेखनीय हैं। जैन-ज्योतिष की प्राकृत भाषा में उल्लिखित 'सूर्यप्रज्ञप्ति' है, जिस पर आचार्य मलयगिरि सूरि ने एक संस्कृत टीका लिखी है। प्राचीन जैन-ज्योतिष के मौलिक ग्रन्थों में 'चंद्रप्रज्ञप्ति' और

'ज्योतिषकरण्डक' का नाम भी उल्लेखनीय है। 'ज्योतिषकरण्डक' का रचना काल ४००-३०० ई० पूर्व बताया जाता है, जो संदिग्ध है।

पितामह सिद्धांत का परिवर्द्धित एवं परिवर्तित रूप 'लघुवाशिष्ठसिद्धांत' ९४ श्लोकों की एक कृति संप्रति उपलब्ध है, जिसको कि डॉ० थीबो ने विष्णुचंद्र नामक किसी विद्वान् द्वारा संपादित बताया है। 'रोमक सिद्धांत' के व्याख्याकार आचार्य लाटदेव हुए, जिसका रचनाकाल १००-२०० ई० के आसपास माना जाता है। 'पौलिशसिद्धांत' और 'सूर्यसिद्धांत' भी इसी युग की कृतियाँ हैं।

ज्योतिष के पुरातन आचार्यों में ऋषिपुत्र का नाम मिलता है, जिनके सिद्धांतों का उल्लेख 'बृहत्संहिता' की टीका में भट्टोत्पल ने किया है, और जिसके उदाहरणों से ज्ञात होता है कि आचार्य वराहमिहिर, ऋषिपुत्र के ज्योतिष-विषयक विलुप्त ग्रंथ से सुपरिचित थे। इन्हें गर्ग मुनि का पुत्र बताया जाता है। इनके अतिरिक्त आर्यभट्ट प्रथम (४७६ ई० जन्म) का 'आर्यभट्टीय' और 'तंत्रग्रंथ', मध्यदेश के राजा वयरसिंह के पुत्र कालकाचार्य (३०० ई०) कृत फुटकर रूप में उपलब्ध होने वाले, विलुप्त संहिता-ग्रन्थ के ज्योतिष-विषयक सिद्धांत, द्वितीय आर्यभट्ट (भास्कर के पूर्ववर्ती) का 'महाआर्यभट्ट सिद्धांत', विक्रमभट्ट के पुत्र लल्लाचार्य (४२१ ई०) का 'धीवृद्धिदतंत्र' नामक ग्रहगणितग्रन्थ और 'रत्नकोश' नामक मुहूर्तग्रन्थ, इस युग की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

काँचीनरेश सिंहवर्मा के २२ वें संवत्सर (३८० ई० श० सं०) में मुनि सर्वनंदि कृत किसी पुरातन प्राकृत ग्रन्थ के आधार पर सिंहसूरि का 'लोक विभाग' नामक संस्कृत ग्रंथ २२३० श्लोकपरिमाण का है। इसी प्रकार दूसरे जैनाचार्य यतिवृषभ का गणित संबंधी दूसरा ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति' ४०० वि० की रचना है।

पूर्व मध्यकाल

ज्योतिषशास्त्र के अर्जन-वर्द्धन और उसकी सर्वांगीण प्रगति के लिए ये पांच शतक बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। सिद्धान्त, संहिता और होरा जैसे

ज्योतिष के विभिन्न भेदों का निर्माण और उनकी बारीकियों पर सूक्ष्म विचार होना इसी युग से आरंभ हो गया था। अंकगणित, बीजगणित और रेखा-गणित विषयक आश्चर्यकारी सिद्धान्तों के निर्माण का एकमात्र समय यही था। फलित ज्योतिष इस युग की प्रमुख देन है।

आचार्य वराहमिहिर इस युग के प्रवर्तक और प्रथम कोटि के विद्वान् हुए, जिनका स्थितिकाल लगभग पांचवीं शताब्दी के दो-चार वर्ष इधर-उधर बैठता है। यशस्वी सम्राट् विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से वराहमिहिर भी एक रत्न गिने जाते हैं। 'बृहज्जातक' बराहमिहिर के अगाध पांडित्य और अद्‌भुत ज्ञान का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यवन-होराशास्त्र के संकलन रूप में विरचित 'सारावली' नामक जातक-ग्रंथ के रचयिता आचार्य कल्याण वर्मा का समय ५७७ ई० के आस-पास है। यह ग्रन्थ ढाई हजार श्लोकों का बताया जाता है। आचार्य वराहमिहिर के पुत्र (छठीं शताब्दी) पृथुयशा ने फलित ज्योतिष पर 'षट्पञ्चाशिका' ग्रंथ लिखा, जिस पर भट्टोत्पल ने एक टीका लिखी।

इस युग के प्रमुख आचार्य ब्रह्मगुप्त ५९८ ई० में हुए[४], जिन्होंने तीस वर्ष की अल्पायु में ही 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' नामक एक अद्‌भुत ग्रन्थ की रचना कर अपनी असाधारण ख्याति को अर्जित किया। ६७ वर्ष की आयु में एक दूसरे 'खण्डखाद्यक' नामक करण-ग्रन्थ की भी इन्होंने रचना की, जिसके नामकरण के साथ, श्रुति-परम्परा के अनुसार, ब्राह्मणधर्म और बौद्ध-जैन धर्मों के पारस्परिक धार्मिक द्रोह का अतीत युग याद आ जाता है। ब्रह्मगुप्त की उक्त कृतियाँ अरब में क्रमशः 'असिन्द हिन्द' और 'अलअर्कन्द' नामों से विख्यात हुईं।

'लघुमानस' नामक करण-ग्रन्थ के रचयिता आचार्य मुंजाल और 'ज्योतिष पटल' तथा 'गणितसारसंग्रह' के कर्ता जैनाचार्य महावीर इसी समय हुए। इस युग के अद्‌भुत टीकाकार विद्वान् भट्टोत्पल का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। ये प्रधानतः आचार्य वराहमिहिर के टीकाकार थे और यह सत्य है कि वराहमिहिर के व्यक्तित्व को असामान्य ख्याति तक पहुँचाने के लिए भट्टोत्पल की टीका का नाम उल्लेखनीय है। 'प्रश्नज्ञान' नामक एक

स्वतंत्र ग्रन्थ भी इन्होंने लिखा था। भट्टोत्पल ८८८ ई० में हुए। इसी प्रकार चन्द्रसेन नामक एक दाक्षिणात्य ज्योतिर्विद् ने लगभग चार हजार श्लोकों का एक 'केवल-ज्ञान-होरा' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसका दक्षिण में अच्छा प्रचार है।

श्रीपति नामक एक ज्योतिर्विद् हुए, जिन्होंने लगभग इस युग के सभी ग्रंथकारों में से सर्वाधिक ग्रन्थ लिखे। इनका स्थितिकाल लगभग दशम शताब्दी के उत्तरार्ध था। गणित ज्योतिष-विषयक इनके ग्रन्थों के नाम हैं : 'पाटीगणित', 'बीजगणित' तथा 'सिद्धान्तशेखर'; और फलित-विषयक ग्रन्थों के नाम हैं : 'श्रीपतिपद्धति', 'रत्नावली', 'रत्नसार' एवं रत्नमाला। सिंहतिलक नामक एक जैनाचार्य ने इनके प्रथम ग्रन्थ पर 'तिलक' नामक टीका लिखी। कर्नाटकवासी दाक्षिणात्य विद्वान् श्रीधराचार्य लगभग आचार्य श्रीपति के ही समकालीन हुए। इन्होंने 'गणितसार', 'ज्योतिर्ज्ञान' ग्रन्थों के अतिरिक्त एक ग्रन्थ 'जातकतिलक' कन्नड़ भाषा में भी लिखा।

इन ज्योतिर्विद् आचार्यों के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के ज्योतिष ग्रंथ 'आय-ज्ञानतिलक' के लेखक आचार्य भट्टवोसरि हुए। जैनाचार्य पद्मनंदि (१०वीं ई०) का 'जम्बुदीपपण्णत्ति' नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना भी इसी समय हुई।

उत्तर मध्यकाल (व्याख्या युग)

ज्योतिषशास्त्र का यह युग व्याख्या या आलोचना का युग था। वैसे मौलिक ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गए; किन्तु प्रधानता व्याख्याग्रंथों की ही रही। इसी युग के महान् आविष्कारों में गोल-गणित का आविर्भाव और केंद्राभिकर्षिणी तथा केंद्रापसारिणी क्रियात्मक शक्तियों का अनुसंधान प्रमुख है। इस युग के ज्योतिर्विदों ने पृथिवी को स्थिर और सूर्य को गतिशील सिद्ध किया। ग्रह-गणित-विषयक लम्बन, यति, आयनवलन, आक्षवलन, आयनदृक्कर्म, आक्षदृक्कर्म, भूमाबिंबसाधन प्रभृति विभिन्न तरीकों द्वारा आकाश-मंडलीय ग्रहों की युक्ति का मिलान किया गया। यंत्रों का निर्माण और उनके द्वारा ग्रहवेधनिरीक्षण के तरीकों पर भी पहिले-पहिल प्रकाश इसी युग में डाला गया।

गणित ज्योतिष के अतिरिक्त फलित ज्योतिष के विभिन्न अंगों का निर्माण

भी इस युग में हुआ। जातक, मुहूर्त, सामुद्रिक, ताजिक, रमल और प्रश्न जैसे फलित ज्योतिष के अंग पहिले-पहल इसी युग में निर्मित हुए। यवन-संस्कृति के संपर्क से ताजिक और रमल, इन दो विषयों की विशेष उन्नति हुई।

ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में भास्कराचार्य का नाम शीर्षस्थानीय ज्योतिर्विद् आचार्यों की कोटि में लिया जाता है। वस्तुतः वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के बाद भास्कराचार्य ही एक ऐसे अद्भुत विद्वान् हुए हैं, जिनके कारण भारतीय ज्योतिष को विश्वव्यापी ख्याति और विपुल यश उपलब्ध हुआ है। इनका स्थितिकाल १११४ ई० है। 'सिद्धान्तशिरोमणि' इनका प्रमुख ग्रन्थ है, जिसका आधार ब्रह्मगुप्त और पृथूदकस्वामी के सिद्धान्त हैं। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों आर्यभट्ट, लल्ल और ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्तों की इन्होंने आलोचना की है। 'मुहूर्तचिन्तामणि' की 'पीयूषधारा' टीका में उद्धृत इनके एक फलित-विषयक ग्रन्थ का भी पता चलता है, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। भास्कराचार्य सिद्धहस्त कवि भी थे।

जैनाचार्य दुर्गदेव का स्थितिकाल १०३२ ई० के लगभग था। इन्होंने 'अर्घकांड' और 'रिट्ठसमुच्चय' ग्रन्थ लिखे। एक दूसरे जैनाचार्य अभय प्रभुदेव ने १०२० ई० के लगभग 'आरंभसिद्धि' (व्यवहारचर्या) ग्रन्थ लिखा, जिस पर कि सोलहवीं शताब्दी के आस-पास हंसगणि ने टीका लिखी। मल्लिषेण एक तीसरे जैनाचार्य का समय १०४३ ई० है। इन्होंने 'आर्यसद्भाव' ग्रन्थ लिखा।

दाक्षिणात्य विद्वान् राजादित्य, नरपति विष्णुवर्धन के राज-पंडित ११२० ई० में हुए, जिनको कि 'कर्णाटक-कविचरित' नामक ग्रन्थ में कन्नड़देशीय गणित-विषयक प्रथम ग्रन्थ का रचयिता बताया गया है। इनके कन्नड़ भाषा में लिखे हुए ज्योतिष-विषयक ग्रन्थ हैं: 'व्यवहार-गणित', 'क्षेत्र गणित', 'व्यवहाररत्न', 'जैनगणितसूत्र-टीका, 'चित्रह सुगे' और 'लीलावती'; और जो सभी उपलब्ध हैं।

मिथिला-नरेश लक्ष्मणसेन के पुत्र बल्लालसेन ने राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद ११६८ ई० में 'अद्भुतसागर' ग्रन्थ की रचना की। यह एक संग्रह-ग्रंथ है, जिसमें पूर्ववर्ती सभी ज्योतिर्विदों के सिद्धान्त संगृहीत हैं और जिसकी श्लोकसंख्या लगभग आठ हजार है।

श्रीपति के ग्रंथ के टीकाकार पद्मप्रभु सूरि ने १२९४ ई० में 'भुवन-दीपक' नामक एक महत्त्वपूर्ण लघु ग्रन्थ लिखा। इनके अतिरिक्त नरचन्द्र उपाध्याय (१३२४ ई०) के 'बेड़ाजातक-वृत्ति', 'प्रश्नशतक', 'प्रश्नचतुर्विंशतिका', 'जन्मसमुद्र', 'लग्नविचार', 'ज्योतिषप्रकाश'; अट्टकवि (१३०० ई०) का 'अट्टमत'; फीरोजशाह तुगलुक के प्रमुख सभापंडित महेंद्रसूरि कृत 'यंत्रराज' (१२९२ ई०); केशव (१४५६ ई०) के 'ग्रहकौतुक', 'वर्षग्रहसिद्धि', 'तिथिसिद्धि', 'जातकपद्धति', 'जातकपद्धतिविवृति', 'ताजिकपद्धति', 'सिद्धान्तवासनापाठ', 'मुहूर्ततत्त्व', 'गणितदीपिका' आदि, ग्रंथों का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य केशव के पुत्र आचार्य गणेश दैवज्ञ (१५१७ ई०) एक बहुश्रुत विद्वान् हुए, जिन्होंने १३ वर्ष की अल्पायु में ही 'ग्रहलाघव' जैसे कठिनतम ग्रंथ की रचना कर अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। 'लघुतिथि-चिन्तामणि', 'बृहत्तिथि-चिन्तामणि', 'सिद्धान्त-शिरोमणि-टीका', 'लीलावती-टीका', 'विवाह-वृन्दावन-टीका', 'मुहूर्ततत्त्व-टीका', 'श्राद्धादिनिर्णय', 'छन्दार्णवटीका', 'सुधीरञ्जनी-तर्जनी-यंत्र', 'कृष्णजन्माष्टमी-निर्णय', 'होलिकानिर्णय' आदि अनेक ग्रंथों की आचार्य गणेश दैवज्ञ ने रचना की।

नृसिंह दैवज्ञ के पुत्र ढुण्ढिराज (१५४१ ई०) का 'जातकाभरण' जिस प्रकार अपने कलेवर में बृहद् है, उसी प्रकार अपने विषय का भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। तदनंतर आनंद दैवज्ञ के पुत्र नीलकंठ दैवज्ञ ने अरबी-फारसी भाषा के ज्योतिषग्रन्थों के आधार पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'ताजिक नीलकंठी' का निर्माण किया। आचार्य नीलकंठ के अनुज राम दैवज्ञ (१५२२ ई०) ने भी 'मुहूर्त-चिन्तामणि' नामक एक अच्छे ग्रंथ को रचा, जो अधिक विख्यात है। श्रीपति की 'रत्नमाला' का इस ग्रंथ पर प्रभाव है। श्रुतिपरंपरा है कि इन्होंने अकबर की आज्ञा से 'रामविनोद' और टोडरमल की प्रसन्नता के लिए 'टोडरानंद' नामक ज्योतिषविषयक दो ग्रंथों का निर्माण किया था, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है।

'ग्रहलाघव' के टीकाकार मल्लारि, पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में हुए। 'मुहूर्तमार्तण्ड' के रचयिता एक नारायण पंडित का स्थितिकाल १५७१ ई० था और 'केशवपद्धति' के टीकाकार दूसरे नारायण पंडित १५८८ ई० के आस-पास

हुए। 'सूर्यसिद्धान्त' की एक विद्वत्तापूर्ण टीका 'गूढार्थप्रकाशिका' के रचयिता रंगनाथ का समय १५७५ ई० है।

इस परम्परा के दूसरे टीकाकारों में गोविन्द दैवज्ञ और नृसिंह दैवज्ञ का नाम भी उल्लेखनीय है। गोविन्द दैवज्ञ ने 'मुहूर्तचिन्तामणि' पर एक 'पीयूषधारा' टीका लिखी, जो कि मौलिक ग्रंथ की भाँति अपना स्वतंत्र महत्त्व रखती है। नृसिंह दैवज्ञ ने 'सूर्यसिद्धान्त' और 'सिद्धान्तशिरोमणि' पर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं।

इन ग्रंथकारों एवं टीकाकारों के अतिरिक्त इस युग के शतानंद, केशवार्क, कालिदास, महादेव, गंगाधर, भक्तिलाभ, हेमतिलक, लक्ष्मीदास, ज्ञानराज, अनन्तदैवज्ञ, दुर्लभराज, हरिभद्रसूरि, विष्णुदैवज्ञ, सूर्यदैवज्ञ, जगदेव, कृष्णदैवज्ञ, रघुनाथशर्मा, गोविन्ददैवज्ञ, विश्वनाथ, विट्ठलदीक्षित, शिवदैवज्ञ, समन्तभद्र, बलभद्रमिश्र और सोमदैवज्ञ का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपने मौलिक ग्रंथों और टीका-ग्रन्थों के द्वारा इस युग का मान बढ़ाया।

आधुनिक काल

भारतीय ज्योतिष की पूर्वागत प्रगति मध्ययुग में आकर अवरुद्ध हो गई थी। उसका कारण यवन-साम्राज्य की प्रतिकूल परिस्थितियाँ थीं, जिनके आघात और आक्रमणों से भारतीय ज्योतिषियों की सारी कामनाएँ एवं सारे उत्साह जाते रहे। यवन-संस्कृति के संपर्क से भारतीय ज्योतिष को पहिले-पहल तो अवश्य ही एक नई दिशा में बढ़ने का मौका मिला, जिसके फल-स्वरूप कि यवन-हिन्दू ज्योतिषियों ने मिलकर सर्वथा नवीन सिद्धांतों की प्रतिष्ठा की; किन्तु यह स्थिति अल्पकालीन ही रही।

इधर पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क में अवश्य ही भारतीय ज्योतिष में नई प्रणालियों का सूत्रपात हुआ; किन्तु उसकी जो पुरानी परंपरा थी वह आगे बढ़ने के वजाय प्रायः विलुप्त सी होती गई। इस बीच भारतीय ज्योतिष में अनुवादों के माध्यम से नई पद्धतियों की स्थापना हुई। यह अनुवाद अंग्रेजी से किया गया है। रेखागणित, बीजगणित और त्रिकोणज्यामिति विषयक आधुनिक ग्रंथों का मूल आधार अंग्रेजी ही है। ग्रह-मण्डलीय सम्बन्धी नये शोधकार्य अंग्रेजी-ज्योतिष के ही माध्यम से हिन्दी में आए। पाश्चात्य ज्योतिषियों

के वैज्ञानिक विवेचनों के आधार पर भारतीय विद्वानों ने सौर-जगत् पर भी प्रकाश डाला।

आधुनिक युग, पाश्चात्य ज्योतिष के माध्यम से, भारतीय ज्योतिष के सिद्धांतों के वैज्ञानिक विवेचन का युग है, जिसे हम भारतीय ज्योतिष का नवीनीकरण युग कह सकते हैं। इस युग में एक ओर तो ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी गईं, और दूसरी ओर पाश्चात्य विज्ञान के संपर्क से नये प्रयोग किये गये।

यद्यपि इस युग के कुछ ग्रन्थकारों का उल्लेख हम पीछे भी कर चुके हैं तथापि भारतीय ज्योतिष के आधुनिक युग का आरंभ हम ज्ञानराज से निर्धारित करते हैं। ज्ञानराज ऐसे विद्वत्कुल से प्रसूत हैं, जिनकी वंशपरम्परा आजतक पूर्ववत् बनी हुई है। इनके पिता का नाम नागनाथ और पूर्व पुरुष का नाम राम था। इनका मूल घराना देवगिरि (दौलताबाद) का था। स्व० श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने इनके वर्तमान वंशज श्री काशीनाथ शास्त्री से उनके कुल के विषय में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करके अपनी पुस्तक में उसका पूरा विवरण दिया है। ज्ञानराज शक संवत् १४२५ में हुए।

इनकी प्रमुख रचना 'सिद्धान्तसुन्दर' है, जिस पर कि उनके पुत्र चिंतामणि ने एक टीका लिखी है। इनके नाम से जातक, साहित्य और संगीत विषयक एक-एक ग्रन्थ लिखे जाने का भी उल्लेख मिलता है। श्री काशीनाथ शास्त्री भी न्याय-व्याकरण और ज्योतिष के बड़े भारी विद्वान् हैं।

ज्ञानराज के दो पुत्र थे। उनके प्रथम पुत्र चिन्तामणि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरे पुत्र का नाम सूर्य था। इनका स्थितिकाल शक संवत् पंद्रहवीं शताब्दी का मध्य है। इन्होंने भास्कराचार्य के बीजगणित पर भाष्य लिखा, जिसमें इन्होंने स्वयं को सूर्यदास और अपने भाष्य-ग्रन्थ को 'सूर्यप्रकाश' कहा है। इन्होंने 'लीलावती' पर 'गणितामृत-कूपिका' टीका १४६० शक० में लिखी, जब कि इनकी आयु लगभग ३०-३१ वर्ष की थी। इनके बनाये ग्रन्थ हैं : 'बीज-टीका', 'लीलावती-टीका', 'श्रीपतिपद्धतिगणित', 'बीजगणित', ताजिकग्रन्थ, काव्यद्वय और 'बोध-सुधाकर' (वेदांतग्रन्थ)। कोलब्रुक ने इनके तीन ग्रंथों का उल्लेख और किया है, जिनके नाम है : 'गणितमालती', 'सिद्धांतशिरोमणि' और 'सिद्धान्तसंहिता-सारसमुच्चय'।

श्रीकांत के पुत्र अनंत ने शक १४४७ में 'सुधारस' नामक एक पचांग-ग्रन्थ का निर्माण किया। पं० सुधाकर द्विवेदी ने इनको 'मुहूर्तमार्तण्ड' के रचनाकार नारायण का पिता बताया है; किन्तु श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने इसमें संदेह प्रकट किया है। अनन्त के उक्त ग्रन्थ पर ढुंढिराज की 'सुधारसकरण-चषक' टीका है। ढुण्ढिराज का नाम एक टीकाकार के अतिरिक्त अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखने में प्रसिद्ध है। उन्होंने 'जातकाभरण' 'ग्रहलाघवोदाहरण', 'ग्रहफलोपपत्ति', 'पंचांगफल' और 'कुण्डलकल्पलता' आदि ग्रन्थ लिखे। पूर्वोक्त विद्वान् ज्ञानराज इनके गुरु थे। इनका संभावित स्थिति-काल शक० १५०० से कुछ पूर्व, कदाचित् ज्ञानराज के पुत्र सूर्य के लगभग था। ये देवगिरि (दौलताबाद) के निवासी थे।

'ताजिक नीलकंठी' के रचयिता नीलकंठ का समय १६वीं शताब्दी है। अपने इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने शक १५०९ (१५८७ ई०) में की थी। ये शाहंशाह अकबर के दरबारी थे। सुधाकर द्विवेदी के कथनानुसार मिथिला में प्रचलित 'जातकपद्धति' के लेखक भी नीलकंठ ही थे। इन्होंने शक १४८० में 'मध्यमग्रहसिद्धि' ग्रंथ का निर्माण किया।

अनंत (द्वितीय) पण्डित ने बोपदेव के पुत्र महादेव कृत 'कामधेनु' (शक १२७९) पर एक टीका लिखी। इस टीका का समय लगभग शक १४८० है। अनंत ने एक ग्रंथ और भी लिखा 'जातकपद्धति'। राम इनके पुत्र थे। राम दैवज्ञ ने अपनी 'मुहूर्तचिन्तामणि' में अपना वंशक्रम इस प्रकार दिया है।
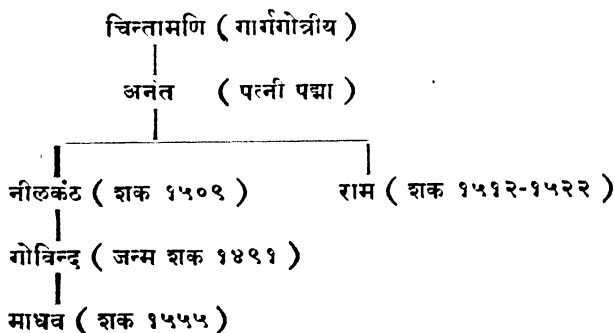
नीलकण्ठ और राम के ग्रंथों से प्रतीत होता है कि उनके पितामह चिंतामणि बड़े विद्वान् थे। राम दैवज्ञ ने १५२२ शक में 'मुहूर्तचिंतामणि' की रचना की, जिसकी प्रसिद्धि और लोकप्रियता आज भी बनी है। नीलकण्ठ के पुत्र गोविन्द ने 'मुहूर्तचिन्तामणि' पर शक १५२५ में 'पीयूषधारा' नामक एक सुन्दर टीका लिखी है। यह पण्डितवंश विदर्भ (बरार) का निवासी था। गोविंद के पुत्र माधव ने भी काशी में रहकर 'नीलकंठी' पर 'शिशुबोधिनीसमाविवेकविवृति' नामक टीका १५५५ शक में लिखी। ये बादशाह जहाँगीर के कृपाभाजन थे। ये ज्योतिष, व्याकरण, काव्य, साहित्य आदि अनेक विषयों में निपुण थे। १४७१ शक में ये पैदा हुए।

'सुबोधमंजरी' नामक एक करणग्रन्थ के रचयिता रघुनाथ शक १४८४ में हुए। इसी नाम के एक दूसरे विद्वान् का स्थितिकाल शक १४८७ है, जिन्होंने 'मणिप्रदीप' नामक करणग्रन्थ लिखा। इसके पिता का नाम सोमभट्ट था। लगभग १४२० शक में कृपाराम ने दो-तीन टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वास्तु-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ लिखा। दिनकर द्वारा शक १५०० के आसपास रचित 'खेटकासिद्धि' और 'चन्द्रार्की' नामक दो ग्रन्थों का पता दीक्षित जी ने लगाया है। 'मुहूर्तमार्तण्ड' के रचयिता नारायण के पुत्र गंगाधर ने शक १५०८ में 'ग्रहलाघव' की 'मनोरमा' नामक टीका लिखी है। इनका वंशक्रम है : अनंत-कृष्ण-हरि-अनंत-नारायण-गंगाधर। रामभट्ट ने शक १५१२ में 'रामविनोद' नामक करणग्रन्थ की रचना, अकबर के प्रधान महाराज रामदास के आज्ञा-नुसार की। डॉ० भांडारकर की रिपोर्ट में इसका निर्माणकाल अशुद्ध दिया है। श्रीनाथ पंडित ने १५१२ शक में 'ग्रहचिन्तामणि' नामक करणग्रन्थ लिखा।

विदर्भ के गोलग्राम निवासी विष्णु पंडित ने 'सौरपक्षीय' ग्रन्थ १५३० शक में लिखा, जिस पर इनके भाई विश्वनाथ ने टीका लिखी। विष्णु पण्डित प्रसिद्ध विद्वद्वंश के थे। 'सिद्धांततत्त्वविवेक' के रचियता कमलाकर भी इसी वंश में हुए। उन्होंने अपना वंशवृत्तांत इस प्रकार दिया है :
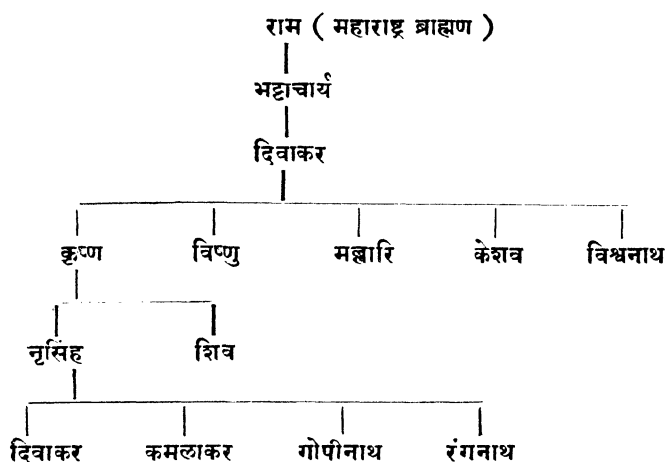
विष्णु के छोटे भाई मल्लारि ने 'ग्रहलाघव' पर एक सुन्दर टीका लिखी है। इन्हीं के अनुज विश्वनाथ विख्यात टीकाकार हुए। इनकी लिखी हुई 'ताजिक नीलकंठी' पर 'समातंत्र प्रसादिका' (१५५१ शक) बड़ी प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'सूर्यसिद्धान्त' पर 'गहनार्थप्रकाशिका', 'सिद्धान्तशिरोमणि-टीका', 'करणकुतूहल-टीका', 'मकरंद-टीका', 'ग्रहलाघव-टीका', 'पातसारणी-टीका', 'अनंतसुधारस-टीका', 'रामविनोदकरण-टीका', 'सौरपक्षीय टीका', 'केशवी-जातक-पद्धति-टीका', आदि ग्रंथ लिखे। आफ्रेक्ट की सूची में इनके नाम से कुछ टीका-ग्रन्थों का उल्लेख है। वे हैं : 'सोमसिद्धान्त-टीका', 'तिथिचिंतामणि-टीका', 'चन्द्रमानतंत्र-टीका', 'बृहज्जातक-टीका', 'श्रीपतिपद्धति-टीका', 'वशिष्ठ-संहिता-टीका' और 'बृहत्संहिता-टीका'। ये सभी ग्रंथ इन्होंने काशी में लिखे। ज्योतिष के इतिहास में इन्हें भट्टोत्पल जैसे प्रख्यात टीकाकार का समकक्षी विद्वान् माना जाता है।

कृष्ण के ज्येष्ठ पुत्र नृसिंह ने 'सूर्यसिद्धान्त' पर (१५३३ शक में 'सौर-भाष्य' नामक टीका और 'सिद्धान्तशिरोमणि' पर 'वासना-वार्तिक' नामक टीका १५४३ शक में लिखी। इनका जन्म १५०८ शक में हुआ। ये अच्छे मीमांसक भी थे। इनके छोटे भाई शिव ने 'अनंतसुधारस' नामक एक टीका लिखी।

एक मुहूर्तग्रंथ 'मुहूर्तचूडामणि' की भी इन्होंने रचना की। 'जन्मचिंतामणि' के रचयिता राम दैवज्ञ के पुत्र शिव से ये भिन्न थे।

नृसिंह के प्रथम पुत्र दिवाकर का जन्मकाल शक १५२८ है। १९ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'जातकमार्गपद्म' (पद्मजातक) नामक ग्रंथ बनाया। इन्होंने 'केशवीजातकपद्धति' पर 'प्रौढमनोरमा' टीका (१५४८ शक में) और 'मकरंदसारिणी' पर 'मकरंदविवरण' (१५४९ शक) लिखा। कमलाकर इनके छोटे भाई थे। ये ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान् हुए। इनका जन्म शक १५३० (१६०८ ई०) हुआ। 'सिद्धांततत्वविवेक' इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। 'सिद्धांत-सार्वभौम' के रचयिता मुनीश्वर से इनका बड़ा विरोध रहा। ये दोनों समकालीन थे। मुनीश्वर की 'भंगी' का कमलाकर के कनिष्ठ बंधु रंगनाथ ने 'भंगी-विभंगी' नाम से खंडन किया और मुनीश्वर ने उसका प्रति-खंडन किया। 'सिद्धान्ततत्वविवेक' पर पं० गंगाधर मिश्र की टीका है।

विदर्भ के दधिग्राम में एक दूसरा विख्यात, विद्वद्वंश हुआ, जिसका हवाला दीक्षित जी ने इस प्रकार दिया है :
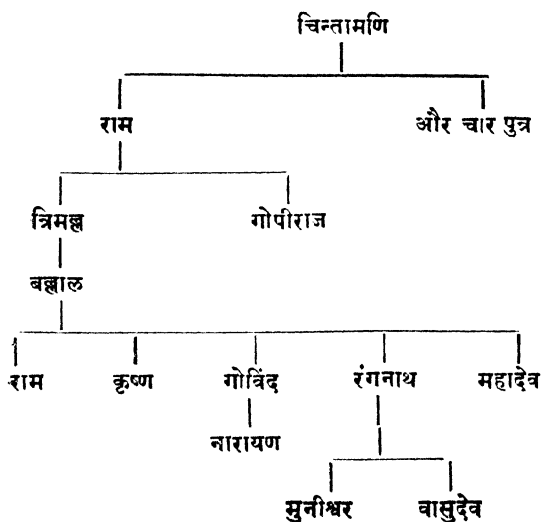
कृष्ण और मुनीश्वर ने लिखा है कि चिन्तामणि के पुत्र राम को इतना अच्छा भविष्य-ज्ञान था कि विदर्भ देश के तत्सामयिक राजा उनके आज्ञानुसार चलते थे। इनका समय लगभग शक १४४० था। वल्लाल काशी चले आये थे। और उसके बाद उनके वंशज यहीं रहे। रंगनाथ ने 'सूर्य-सिद्धान्त' की टीका में लिखा है कि वल्लाल के ज्येष्ठ पुत्र राम ने 'अनंतसुधारस' की उपपत्ति लिखी। राम का स्थितिकाल शक १५५७ था। वल्लाल के दूसरे पुत्र कृष्ण इस वंश के सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त विद्वान् हुए। इन्होंने भास्कराचार्य के 'बीजगणित' पर 'बीजनवांकुर' नाम्नी टीका लिखी। इनके टीकाग्रन्थ का समय लगभग शक १५००-१५३० है। सुधाकर द्विवेदी ने इनके 'छादकनिर्णय' नामक ग्रंथ को प्रकाशित किया है।

गोविन्द के पुत्र नारायण ने 'केशवी-जातक-पद्धति' की टीका लिखी। इन्हीं के वंशज रंगनाथ ने 'सूर्यसिद्धांत' पर 'गूढार्थप्रकाशिका' टीका लिखी। इनके पुत्र मुनीश्वर के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं : 'लीलावतीविवृति', 'सिद्धान्तशिरोमणि-मरीचि' और 'सिद्धान्तसार्वभौम'। इनका दूसरा नाम विश्वरूप भी था। इनका जन्मकाल शक १५२५ था। ये शाहजहाँ के आश्रित थे।

कुरुक्षेत्र के निकट के निवासी नित्यानंद पण्डित ने विक्रमी सम्वत् १६९६ (१६३९ ई०) 'सर्वसिद्धांतराज' नामक ग्रंथ की रचना की। तदनंतर शक १५७५ में महादेव के पुत्र कृष्ण ने 'करणकौस्तुभ' लिखा। शक १५८० में काश्मीरवासी शंकर के पुत्र रत्नकण्ठ ने 'पंचांगकौस्तुभ' की रचना की। 'वार्षिकतन्त्र' नामक एक ज्योतिष ग्रंथ को दीक्षित जी ने शोलापुर से प्राप्त किया था। वह विद्वगण की कृति है। इस ग्रंथ की रचना शक १६०० से पहिले की है। इसी प्रकार जटाधर ने शक १६२६ में 'फत्तेहप्रकाश' और एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण दादाभट्ट ने १६४१ शक में 'सूर्यसिद्धांत-किरणावली' लिखी। दादाभट्ट के पुत्र नारायण हुए। उन्होंने 'होरासारसुधानिधि', 'नरजातकव्याख्या', 'गणकप्रिया', 'स्वरसागर' और 'ताजकसुधानिधि' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। इनका रचनाकाल शक १६६० था।

जे० बर्जेस के मतानुसार यूरोपियन लोगों को हिन्दू ज्योतिष का ज्ञान स्याम से उपलब्ध एक ज्योतिष ग्रंथ के द्वारा हुआ। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध

के जो हवाले दिए गए हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका आधार 'सूर्यसिद्धान्त' अथवा आर्यभट का अनुपलब्ध करणग्रन्थ था। इसी प्रसंग में बर्जेस साहब ने भारतीय ज्योतिष-विषयक कुछ नये ग्रन्थों की सूचनाएँ दी हैं। उनमें डल्लुमुडयन (११६५ शक०) कृत करणग्रन्थ, वररुचि (१४१३ शक०) कृत 'वाक्यकरण', अज्ञातनामा लेखकों के (१४१३ शक) 'पंचांगशिरोमणि', 'ग्रहतरंगिणी' (१६१८ शक), 'सिद्धांतमंजरी' (१६१९ शक), मल्लिकार्जुन (११०० शक) कृत करणग्रंथ, बालादित्य कल्लू (१३७८ शक) का करणग्रंथ, अज्ञात लेखकों के 'ब्रह्मसिद्धांत', 'विष्णुसिद्धान्त'; केशव (१५०० ई०) कृत 'सिद्धांतलघुखमाणिक', राघव (१६१३ शक) कृत 'सूर्य-सिद्धांतरहस्य', शत्रुजित राजा के ज्योतिषी मथुरानाथ (१५३१ शक) कृत 'सूर्यसिद्धांतमंजरी' और किसी अज्ञात लेखक की 'ग्रहमंजरी' आदि के नाम दिये गए हैं।

भारतीय ज्योतिष के वैज्ञानिक अध्ययन का आरंभ

भारतीय ज्योतिष के क्षेत्र में महाराज सवाई जयसिंह का नाम आदर के साथ स्मरण किया जाता है। जयसिंह का जन्म १६८६ ई० में हुआ और १६९९ ई० के लगभग तेरह वर्ष ही वे गद्दी पर बैठे। उनके प्रोत्साहन से भारतीय ज्योतिष में अन्वेषण की नवीन दिशाएँ प्रकाश में आईं। उन्होंने भारतीय ज्योतिष और तद्विषयक विदेशी ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन किया। उन्होंने अनेक भाषाओं और अनेक देशों के ज्योतिर्विदों से नई सारणियों का निर्माण करवाया। 'जिज मुहम्मदशाही' नामक सारणी जयसिंह के आदेशानुसार ही निर्मित हुई थी। इसकी एक अपूर्ण प्रति जयपुर में, एक संपूर्ण फारसी अनुवाद ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन में सुरक्षित है। इसकी मूल रचना अरबी में हुई थी। इसका रचनाकाल ११४१ हिजरी (शक १६५०) है। दूसरा संस्कृत ग्रंथ 'सिद्धान्तसम्राट्' भी इन्होंने १६५३ शक (१७३१ ई०) में पंडितराज जगन्नाथ से लिखवाया। कोल्हापुर के राजज्योतिषियों की अपूर्ण पोथी से प्रतिलिपि की गई एक प्रति को श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने आनंदाश्रम, पूना में देखा था।

जयसिंह के वंश को और उनके ज्योतिषप्रेम को अमर बनाए रखने वाली उनकी वेधशालाएँ हैं। ये वेधशालाएँ उन्होंने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, वाराणसी और मथुरा में निर्मित करवाई थीं। वेध पर जयसिंह ने एक छोटा-सा ग्रंथ भी लिखा था। 'सिद्धान्तसम्राट्' के कुछ अंशों का निर्माण उसने स्वयं भी किया, जो कि सावजूसयूस कृत यूनानी (ग्रीक) भाषा के ग्रंथ पर आधारित था। उसका एक अरबी संस्करण भी निकला।

शक १६८८ में शंकर ने 'वैष्णवकरण', शक १६९६ (१७७४ ई०) में मणिराम ने 'ग्रहगणितचिंतामणि', नारायण के पुत्र भुला ने १७०३ शक में 'ब्रह्मसिद्धान्तसार', काशी के प्रसिद्ध व्यक्ति राजा शिवप्रसाद के पितामह दालचंद के आश्रय में रहकर मथुरानाथ ने शक १७०४ में 'यंत्रराजघटना' और यूरोपियन ग्रंथों के अध्ययन पर आधारित 'ज्योतिषसिद्धांतसार' की रचना की थी। सतारा के चिंतामणि दीक्षित ने 'सूर्यसिद्धान्त' की सारिणी एवं १७१३ शक में 'गोलानन्द' की रचना की। दक्षिण खानदेशवासी राघव पंडित ने शकाब्द १७४० के आस-पास 'खेटकृति', 'पंचांगार्क' (सटीक) और 'पद्धति-चन्द्रिका' नामक तीन ग्रन्थ लिखे। इनका उपनाम खांडेकर था। महादेव के पुत्र शिव ने शकाब्द १७३७ में 'तिथिपारिजात', पूना निवासी अनन्त के पुत्र दिनकर ने 'ग्रहविज्ञानसारिणी', 'मासप्रवेशसारिणी', 'लग्नसारणी', 'क्रांतिसारणी, 'चन्द्रोदयांकजाल', 'दृक्कर्मसारणी', 'ग्रहणांकजाल', 'पातसारणीटीका' और 'यंत्र-चिंतामणि-टीका' आदि अनेक ग्रंथों का निर्माण किया। ये उत्तम कोटि के गणितज्ञ थे।

सदाशिव के पुत्र यज्ञेश्वर अथवा बाबा जोशी रोडे महाराष्ट्रीय थे। इतिहास-कारों ने इनके पांडित्य की बड़ी प्रशंसा की है। इन्होंने १७६४ शक में 'यंत्र-राजवासना-टीका', 'गोलानंद-अनुक्रमणिका', 'मणिकांति-टीका' आदि ग्रंथ लिखे। अहमद नगर जिले के मूल निवासी नृसिंह अथवा बापूदेव शास्त्री का जन्म १७४३ शक में हुआ। ये काशी में चले आए थे। भारतीय और यूरोपीय ज्योतिष के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ग्रंथ लिखने वाले विद्वानों में इनका प्रमुख स्थान है। इन्होंने अध्यापन भी किया। ये सी० आई० ई० तथा महामहोपाध्याय की पदवियों से संमानित हुए। संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में इन्होंने ज्योतिष-ग्रंथ लिखे। इनके प्रकाशित संस्कृत ग्रंथों के नाम

हैं : 'रेखागणित' (प्रथमाध्याय), 'त्रिकोणमिति', 'सायनवाद', 'प्राचीन ज्योतिषाचार्याशवर्णन', 'अष्टादशविचित्रप्रश्नसंग्रह', 'तत्त्वविवेकपरीक्षा', 'मानमंदिरस्थ यंत्रवर्णन' और 'अंकगणित'। इनके अतिरिक्त कुछ ग्रंथ अप्रकाशित भी हैं। इनके हिन्दी में प्रकाशित ग्रन्थों के नाम हैं : 'अंकगणित', 'बीजगणित', 'फलितविचार' और 'सायनवादानुवाद'। 'सिद्धांतशिरोमणि' के गोलाध्याय का अंग्रेजी अनुवाद इन्होंने विल्किसन साहब के सहयोग से किया। 'सूर्यसिद्धांत' का भी इन्होंने अंग्रेजी अनुवाद किया। ये दोनों ग्रन्थ १८६१-६२ ई० में प्रकाशित हुए। 'लीलावती' का भी इन्होंने १८०५ शक में एक संस्करण प्रकाशित किया। ये पंचागकर्ता भी थे। १८१२ शक में इनका देहांत हुआ।

मैथिल ब्राह्मण नीलाम्बर शर्मा का जन्म १७४५ शक (१८२३ ई०) में हुआ। इन्होंने यूरोपीय पद्धति पर 'गोलप्रकाश' को संस्कृत में लिखा, जिसको पं० बापूदेव शास्त्री ने प्रकाशित किया। महाराष्ट्र के ख्यातिप्राप्त विद्वान् विनायक (उपनाम केरो लक्ष्मण छत्रे) का जन्म शकाब्द १७४६ (१८२४ ई०) में हुआ। कई स्कूल-कालेजों में ये गणित के अध्यापक रहे। १८७७ ई० में इन्हें आंग्ल सरकार ने रायबहादुर की उच्च पदवी से सम्मानित किया। इन्होंने फ्रांसीसी और अंग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर मराठी में 'ग्रहसाधनकोष्ठक' ग्रंथ की रचना की, जो १८६० ई० में प्रकाशित हुआ। इन्होंने 'तिथिचिन्तामणि' की भी रचना की। ६० वर्ष की अवस्था में ये परलोक सिधारे। एक दूसरे महाराष्ट्र ब्राह्मण विसाजी रघुनाथ लेले का जन्म १८२७ ई० (१७४९ शक) में हुआ। ये सुंदर लिपिकार भी थे। इन्होंने स्फुट लेख लिखकर ज्योतिष पर और विशेषतः पंचांग विषय पर नया प्रकाश डाला। ६९ वर्ष की अवस्था में इनका स्वर्गवास हुआ।[1] इसी प्रकार तामिलवासी आचार्य चिंतामणि रघुनाथ का जन्म १७५० शक (१८२८ ई०) में हुआ। मद्रास की वेधशाला में ये कई वर्ष तक कार्य करते रहे। इन्होंने तामिल भाषा में 'ज्योतिषचिंतामणि' नामक ग्रंथ की रचना की। कृष्ण शास्त्री गोडवोल का जन्म शकाब्द १७५३ (१८३१ ई०) में बम्बई प्रांत में हुआ। कुछ वर्षों अध्यापन कार्य के अतिरिक्त बम्बई की वेधशाला में भी वे रहे। शकाब्द १७७८ में इन्होंने वामनशास्त्री जोशी गर्दे के सहयोग से

'ग्रहलाघव' का मराठी भाषान्तर किया जो विश्वनाथ की टीका का अनुवाद है। मराठी में इन्होंने 'ग्रहलाघव' की उपपत्ति भी लिखी है। एक छोटा-सा ज्योतिषशास्त्र-विषयक इतिहास भी इन्होंने लिखा। इनका देहावसान १८८६ ई० में हुआ।

चन्द्रशेखरसिंह सामन्त का जन्म शकाब्द १७५७ (१८३५ ई०) में खण्डपारा गाँव (कटक) के एक राजवंश में हुआ। बाल्यकाल से ही इनमें ज्योतिष के प्रति गहरी रुचि थी। ये बड़े अध्ययनशील भी थे। इन्होंने अपने स्वतन्त्र अध्ययन के आधार पर 'सिद्धांतदर्पण' नामक एक पुस्तक की रचना की थी। उड़ीसा में इनके बनाये हुए पंचांगों का बड़ा प्रचार रहा। इनके उक्त ग्रन्थ को अंग्रेजी भूमिका सहित श्री योगेशचन्द्र राय ने १८२१ ई० में प्रकाशित किया।

भारतीय ज्योतिष के इतिहास में विशेषतया मराठी साहित्य के इतिहास में और समग्र भारतीय इतिहास में आधुनिक युग के जिन थोड़े-से महापुरुषों का नाम लिया जाता है उनमें श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित का नाम उल्लेखनीय है। दीक्षित जी का जन्म शकाब्द १७७५ (१८५३ ई०) महाराष्ट्र स्थित रत्नागिरी के मुरुट गाँव में हुआ। उनकी शिक्षा यद्यपि बहुत कम हुई थी; किन्तु अपने अध्ययनशील स्वभाव के कारण उन्होंने अथाह ज्ञान संचित कर लिया था। मराठी में उन्होंने 'बुद्धिवर्द्धिनी', 'सृष्टिचमत्कार', 'ज्योतिर्विलास', 'धर्ममीमांसा' और डब्ल्यू० एम० सिवेल के सहयोग से 'इंडियन कैलेंडर' नामक ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा। किन्तु उनके पांडित्य को प्रकाशित करने और उनकी कीर्ति को अमर बनाये रखने वाला उनका ग्रन्थ है 'भारतीय ज्योतिषशास्त्र च्या त्रोटक इतिहास'। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने १८८७ ई० में की थी। इस मराठी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद श्री शिवनाथ झारखंडी ने किया है। उत्तर प्रदेश सरकार ने इसको प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य के संवर्द्धन के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह उल्लेखनीय है कि इधर कुछ वर्षों के भीतर उत्तर प्रदेश सरकार ने हिन्दी में अपूर्व ग्रन्थों को प्रकाशित किया है।

'भारतीय ज्योतिष' जैसे बृहद् ग्रन्थ को लिखकर दीक्षित जी ने भावी पीढियों को अन्वेषण-अनुसंधान की नई दिशाओं में अग्रसर होने का मार्ग

प्रदर्शित किया है। भारतीय ज्योतिष और भारतीय इतिहास के गंभीर अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है।

महाराष्ट्रीय विद्वान् वेंकटेश बापूजी केतकर का जन्म १८५४ ई० (१७७५ शक) में हुआ। इन्होंने 'ज्योतिर्गणित' नामक संस्कृत ग्रंथ शकाब्द १८१२ के लगभग लिखा। इनके दूसरे ग्रन्थों के नाम हैं : 'केतकी ग्रहगणित', 'वैजयन्ती', 'केतकी परिशिष्ट', 'सौरार्यब्रह्मपक्षीय तिथिगणितम्', 'केतकीवासनाभाष्यम्', 'शास्त्रशुद्धपंचांगअयनांशनिर्णय', 'भूमंडलीय सूर्यग्रहगणित' और मराठी में 'नक्षत्र विज्ञान', 'ग्रहगणितम्', 'गोलद्वय प्रश्न', तथा 'भूमंडलीय गणित'।

भारतीय साहित्य और भारतीय जन-मन पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ने वाले महापुरुषों में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का नाम अमर है। वे देशनायक और साहित्यस्रष्टा दोनों थे। उनका जन्म शकाब्द १७७८ (१८५६ ई०) में हुआ। भारत में ही नहीं, विदेशों में भी आज उनके व्यक्तित्व की ख्याति बनी हुई है। वे वेद, वेदांग, दर्शन, ज्योतिष, इतिहास और संस्कृति के गंभीर विद्वान् थे। विख्यात अंग्रेजी पत्र 'केशरी' और 'मराठा' का उन्होंने वर्षों संपादन किया। उनके लिखे हुए तीन ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध हैं। वे ग्रन्थ हैं 'ओरायन', 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' और 'गीता-रहस्य'। 'ओरायन' उनका ज्योतिष-विषयक ग्रन्थ है। लोकमान्य १९२१ ई० में परलोकवासी हुए।

विनायक पांडुरंग खानापुरकर का जन्म महाराष्ट्र में शकाब्द १७८० में हुआ। इनके बनाये ग्रन्थों में 'वैनायकीय द्वादशाध्यायी', 'कुण्डसार', 'अर्घकाण्ड' और 'सिद्धांतसार' का नाम उल्लेखनीय है। मराठी में इन्होंने लिखे : 'भास्करीय लीलावती', 'बीजगणित' और 'गोलाध्याय'।

इनके बाद म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी का नाम आता है। द्विवेदी जी का जन्म शकाब्द १७८२ (१८६० ई०) में काशी के निकट खजुरी ग्राम में हुआ। द्विवेदी जी की गणना दीक्षित जी और लोकमान्य की कोटि में की जाती है। द्विवेदी जी उन विद्वानों में से एक थे, जिन्होंने विज्ञान की आधुनिक शाखा-प्रशाखाओं का गंभीर विश्लेषण करके भारतीय ज्योतिष के साथ उनका तारतम्य स्थापित किया। भारतीय ज्योतिष की वैज्ञानिक विधियों को प्रकाश

में लाने और उनके अध्ययन की नई परिपाटियाँ भी उन्होंने सुझाई। उन्होंने ज्योतिष पर मौलिक, भाष्य, टीकाएँ और इतिहास आदि अनेक विषयों के लगभग २०-२२ ग्रन्थ लिखे।

भारतीय ज्योतिष के आधुनिक विद्वानों में श्री एल० डी० स्वामी कन्नू पिल्लई, श्री छोटेलाल, श्री दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, श्री दीनानाथ शास्त्री चुटैल, श्री गोविन्द सदाशिव आप्टे का उल्लेख और उनके ग्रन्थों की समीक्षा डॉ० गोरखप्रसाद ने अपनी पुस्तक 'भारतीय ज्योतिष का इतिहास' में की है। डॉ० गोरखप्रसाद स्वयमेव भारतीय ज्योतिष के प्रकांड विद्वान् और अनेक ग्रन्थों के लेखक हैं। उनके उक्त इतिहास ग्रन्थ में, पूर्ववर्ती ग्रन्थों की अपेक्षा, बहुत कुछ मौलिक एवं शोधपूर्ण सामग्री दी गई है। हिन्दी में इस प्रकार के ग्रंथों का भरपूर स्वागत होना चाहिए।

भारतीय ज्योतिष का, पाश्चात्य विज्ञान की चरमोन्नत पद्धतियों को दृष्टि में रखकर, आधुनिकतम अध्ययन प्रस्तुत करने वाले भारतीय विद्वानों में डॉ० मेघनाथ साहा, डॉ० विभूतिभूषण दत्त, प्रो० एस० चन्द्रशेखर, डॉ० चन्द्रिकाप्रसाद, डॉ० हरिकेशवसेन, डॉ० रामसिंह कुशवाहा, श्री निर्मलचन्द्र लाहिरी, डॉ० दफ्तरी और डॉ० अवधेशनारायण सिंह का नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार भारतीय ज्योतिष की परंपरा वैदिक युग से लेकर आज तक अक्षुण्ण रूप में बनी हुई है। आज भी भारत के सभी अंचलों में बड़े-बड़े पंडित-परिवार वर्तमान हैं, जहाँ कि नित्य ही ज्योतिष का अध्ययन-अध्यापन और उसकी नई पद्धतियों पर विचार किया जा रहा है। उन सभी विद्वानों का उल्लेख यहाँ नहीं हो सका है; किन्तु उनके एकांत अध्यवसाय और उनकी मौन सेवा से हमारे साहित्य का जो उपकार हो रहा है, उसका मूल्य किसी भी प्रकार कम नहीं है।

भारतीय ज्योतिष का प्रचार प्रसार

अरब में

भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता और संसार के विभिन्न देशों में उसके महान् सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार के संबंध में अनेक विद्वानों के उदाहरण आज

भी हमारे सामने विद्यमान हैं। अलबेरुनी का दसवीं शताब्दी में, 'सिंदहिंद' नाम से किया गया अनुवाद-ग्रन्थ इस बात का प्रबल प्रमाण है कि अरब-वासियों ने भारतीयों से ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त किया था। इतना ही नहीं, बल्कि खलीफा हारूं रशीद और अलमामू आदि ने भारतीय ज्योतिर्विदों को सादर आमंत्रित कर भारतीय ज्योतिष के प्रमुख उपादानों का अरबी भाषा में अनुवाद करवाया। अरब में आर्यभट्ट के सिद्धांतों का एक महत्त्वपूर्ण अनूदित संग्रह 'अर्जबह' नाम से प्रचलित था। अलबेरूनी ने भी अपने उक्त ग्रन्थ में लिखा है कि आर्यभट्ट का एक अरबी-रूपांतर 'अर्जबह' से प्रकाश में आ चुका था, बाद में जिसका नाम विगड़ कर 'आज्जभर' हो गया। उसका इस प्रसंग में यह भी कहना है कि 'सिंदहिंद' नाम की अरबी पुस्तक को लोग 'सिद्धांत' कहते थे।

कोलब्रुक साहब का यह कथन है कि "भारतीय ज्योतिष में यवनाचार्य और रोमक सिद्धांत का उल्लेख होने के कारण यदि कोई कल्पना करे कि भारतीयों ने ग्रीक लोगों से ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त कर अपने मूल अपूर्ण ज्ञान को बढ़ाया, तो मेरे विचार की दिशा के यह विरुद्ध नहीं है"। अथवा उसका यह मंतव्य कि हिन्दुओं में प्रचलित क्रांतिवृत्त की द्वादश-विभाग वाली पद्धति को अरबों ने कुछ हेर-फेर करके ग्रहण किया; तथा यह विभाग-पद्धति हिन्दुओं को ग्रीक-पद्धति के अनुसार सूझी; या कि हिन्दुओं के नक्षत्र-विभाग, उनकी गोलयंत्र की सूझ-बूझ और उनकी द्रेष्काण-पद्धति आदि का मूल आधार अरबीय ज्योतिष रहा है; इस प्रकार की उसकी सभी आधाररहित संभावनाएँ अब सर्वथा असत्य साबित हो चुकी है। इस पर भी कोलब्रुक की साहित्य-सेवाएँ और उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति को भुलाया नहीं जा सकता है।

कोलब्रुक के मंतव्य से सर्वथा विपरीत रोम के प्रो० सी० ए० नलिनो का कथन है कि ७७१ ई० में भारत से जो विद्वन्मंडली बागदाद गई थी, उन्हीं में से एक विद्वान् ने ब्रह्मगुप्त के 'स्फुट-सिद्धांत' (६२८ ई०) का सर्वप्रथम वहाँ के लोगों से परिचय कराया, जिसके आधार पर बाद में इब्राहीम इब्न हबीब-अल-फजारी और याकूल इब्न तारीक ने मुसलमानी चांद्र-वर्ष के अनुसार सारणियाँ तैयार कीं। कदाचित् इसी समय ब्रह्मगुप्तकृत

'खण्डखाद्यक' (६६५ ई०) का 'अलअर्कन्द' नाम से अरबी में अनुवाद हुआ। लगभग ११ वीं शती के अन्त तक अरबवासी भारतीय ज्योतिष से पूर्णतया प्रभावित हो चुके थे। इन अरबीय ज्योतिषियों में हबश, अननैरीजा, इब्न अस्संभ, मुहम्मद इब्न इसहाक अस सरहसी, अबुलबफा, अलबेरूनी और अलहजीनी का नाम उद्धृत किया जा सकता है। निष्कर्ष यह कि भारतीय ज्योतिषियों ने ही सर्वप्रथम वैज्ञानिक रीति से अंकों का निर्माण किया और उसके बाद अरबीय ज्योतिषियों ने ऋण रूप में उसको अपनाया।

यूरोप और अमेरिका में

भारतीय अंकगणित और बीजगणित, दोनों अरब के माध्यम से यूरोप भर में प्रचारित हुए। अंग्रेजी में जो दशगुणोत्तर अंकक्रम-पद्धति है, उसकी उत्पत्ति भारतीय ज्योतिष से हुई। एक भारतीय राजदूत के द्वारा ७७३ ई० में कुछ ख-गोल-विषयक सारिणियों के साथ यह भारतीय अंकक्रम अरब में गया और ९ वीं शती के आरम्भ में अबुजफर मुहम्मद अल् खारिज्मी द्वारा वह सम्पूर्ण अरब में फैला। यूरोप में यह अंकक्रम लगभग १२ वीं शती में अरब से ही लिया गया।

इसके अतिरिक्त अलबेरूनी का कथन है कि जिन-जिन जातियों से उसका संपर्क रहा है, उन-उन जातियों के संख्यासूचक अंकों का अध्ययन करने के बाद उसने अपनी अकाट्य धारणा प्रकट की कि संसार की कोई भी जाति प्राचीन समय में हजार से अधिक संख्या नहीं जानती थी; यहाँ तक कि अरबवासी भी सहस्राधिक संख्या से परिचित नहीं थे। लेकिन हजार से भी कहीं अधिक क्रम-संख्या बतानेवाले अंक केवल भारतीय ज्योतिष में ही थे। इस विषय में हिन्दू सब जातियों के अग्रणी थे।

अंकगणित की बात तो यह हुई। बीजगणित का प्रथम आविष्कार भी भारत में ही हुआ और उसी भाँति अरब के माध्यम से संपूर्ण यूरोप के देशों में उसका प्रवेश हुआ। अरब में इस प्रचार-कार्य के प्रमुख नेता मूसा और याकूब नामक विद्वान् थे। बीजगणित, ज्यामिति और ख-गोल संबंधी पहिले प्रयोग के कर्त्ता भी भारतीय ज्योतिषी थे। भारतीय ज्योतिषियों का ग्रहमंडल

सम्बन्धी ज्ञान बहुत ही प्रौढ़ और प्राचीन था। वे स्थितिशास्त्र (Statics) और गतिशास्त्र (Dynamics) संबंधी सिद्धान्तों से भी सुपरिचित थे।

ईसा की लगभग १७वीं शती के अन्त में यूरोप और अमेरिका में भारतीय ज्योतिष के प्रति उत्सुकता बढ़ी। इस क्षेत्र में लाप्लास बेली, प्लेफेयर, डीलाम्बर, सर विलियम जोंस, जान बेंटली आदि विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है। फ्रांसीसी विद्वान् जियोवनी डोमिनिको कैसीनो ने ला० लूवियर द्वारा असम से ले जाये गए कुछ ज्योतिष-सम्बन्धी नियमों का १६९१ ई० में प्रकाशन हुआ, जिसके कुछ दिन बाद ही टी० एस० बेयर ने 'हिस्टोरिया रेग्नी ग्रीकोरम बैक्ट्रीयानी' नामक पुस्तक के परिशिष्ट में भारतीय ज्योतिष की चर्चा की। १७६९ ई० ली वेंटिल पांडीचेरी आया और १७७२ ई० में उसने 'त्रिवेलोर' सारणी और हिन्दू ज्योतिष पर एक खोजपूर्ण लेख लिखा, जिसका सुप्रभाव यह हुआ कि नेशनल एसेंबली के सभापति एवं पेरिश के प्रथम मेयर सिलवेन बेली ने १७८७ ई० में भारतीय ज्योतिष पर 'ट्रेड डी ला एस्ट्रानोमी इंडियन एट ओरिएंटल' नामक पांडित्यपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक ने लाप्लास और प्लेफेयर को बहुत प्रभावित किया, जिसके कारण प्लेफेयर को १७९२ ई० में एशियाटिक सोसाइटी के एक व्याख्यान में यह कहने को मजबूर होना पड़ा कि हिन्दू गणित का वैज्ञानिक अध्ययन होना आवश्यक है।

इसी बीच १७८९ ई० में एस० डेविस ने 'सूर्यसिद्धान्त' का विश्लेषण कर अपना अभिमत प्रकाशित किया कि उक्त ग्रंथ में रविमार्ग की परम क्रांति २४ अंश है, जिसका अवलोकन २०५० ई० पूर्व किया गया होगा। सर विलियम जोंस ने इस बात का समर्थन किया और बल देकर कहा कि भारतीय नक्षत्र-चक्र न तो अरब की देन है और न यूनान की ही।

अठारहवीं शती के अन्त में बेंटली, कोलब्रुक, डीलांबर आदि में सूर्य-सिद्धान्त के निर्माण के सम्बन्ध में बड़ा वाद-विवाद हुआ। भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता के सम्बन्ध में विद्वानों का यह वाद-विवाद लगभग १८२५ ई० तक बना रहा। इस बीच सर डब्ल्यू० बार्कर, प्लेफेयर और हण्टर आदि ने काशी और उज्जैन की वेधशालाओं पर नये ढङ्ग का प्रकाश डाला।

भारतीय ज्योतिष का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में वेबर (१८६०), व्हिटनी (१८५८) और थीबो (१८७७) का नाम उल्लेखनीय है। वेबर ने 'वेदांग ज्योतिष', व्हिटनी ने 'सूर्य-सिद्धांत' और थीबो ने 'पंच-सिद्धांतिका' पर अच्छा प्रकाश डाला।

किन्तु व्हिटनी साहब ने इस प्रसंग में कुछ पक्षपातपूर्ण बातें भी कहीं। उन्होंने अपने अनुमानों से यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि ईसवी सन् के आरंभ में रोम के व्यापार के बंदर अलेक्जेंड्रिया से हिन्दुस्तान के पश्चिम किनारे का व्यापार चलता था। इस व्यापार के कारण ज्योतिषशास्त्र हिन्दुस्तान में आया और उज्जयिनी उसका केंद्र बना। उनका यह भी कथन था कि टालमी और हिपार्कस की ज्या की कल्पना से ही हिन्दुओं को ज्यार्धों की कल्पना सूझी। व्हिटनी साहब की इन आधाररहित कल्पनाओं का खंडन शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने इतिहास ग्रन्थ में विस्तार से किया है। दीक्षित जी ने अपने ग्रन्थ में थीबो के मत की भी विस्तार से समीक्षा की है।

दीक्षित जी से पूर्व व्हिटनी के अनुमानों का खंडन बर्जेस साहब कर चुके थे। उनका कथन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है : "व्हिटनी ने अपनी टिप्पणियों में जो मत दिए हैं उनसे मेरे मत भिन्न हैं। इसलिए संक्षेप में मैं अपना मत देता हूँ। व्हिटनी का कहना है कि हिन्दुओं ने अपने ज्योतिष गणित और जातक मूलरूप में ग्रीकों से लिए और उनका कुछ अंश अबेरियन, खाल्डियन एवं चीनियों से लिया। मेरी समझ में वह हिन्दुओं के साथ न्याय नहीं कर रहा है और यह उचित मात्रा से अधिक ग्रीक लोगों को मान दे रहा है। यह सच है कि ग्रीक लोगों ने इस शास्त्र में आगे जाकर बहुत कुछ सुधार किए थे, तथापि इसके मूल तत्त्व और उसमें के बहुत से सुधार हिन्दुओं के थे, और उन्ही से ग्रीकों ने यह शास्त्र लिया, यह बात मुझे स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।"

भारतीय ज्योतिष पर एक पांडित्यपूर्ण ग्रंथ, दो भागों में, डब्ल्यू ब्रेनैंड ने सन् १८९६ ई० में लिखा, जिसमें उन्होंने हिन्दू ज्योतिष का यूनान, मिस्र, चीन और अरब के ज्योतिष के साथ तुलनात्मक विवेचन किया और उसके समर्थ निष्कर्षों के आधार पर जोर देकर कहा कि यूरोप वालों ने हिन्दुओं

को उनके साहित्य और गणित-संबंधी विज्ञान के लिए उतना भी श्रेय नहीं दिया, जितने के वे वास्तविक अधिकारी हैं। एक ग्रंथ जी० आर० के महोदय ने 'हिन्दू-ऐस्टॉनोमी' के नाम से लिखा। उसमें उन्होंने भारतीय ज्योतिष के संबंध में कुछ विवादपूर्ण बातें लिखीं है, जिनका समुचित उत्तर नलिनबिहारी मित्र, डॉ० विभूतिभूषणदत्त और प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त प्रभृति विद्वान् दे चुके हैं।

शब्दांकों का प्रयोग : भारतीय ज्योतिष की मौलिक देन

भारत में शब्दांकों के प्रयोग का प्रचलन वैदिक युग में ही वर्तमान था। ऋग्वेद में वर्ष का 'द्वादश' और अथर्ववेद में सात वस्तुओं के समूह के अर्थ में 'सप्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। वेदों के बाद ब्राह्मण-ग्रंथों में बहुलता से शब्दांकों का प्रयोग हुआ है। इसी भाँति कल्पसूत्रों में भी हमें इस प्रकार की पद्धति का पर्याप्त प्रचलन दिखाई देता है। लगभग २०० ई० पूर्व में वर्तमान आचार्य पिंगल ने शून्य के लिए एक सांकेतिक चिह्न का प्रयोग किया है। इन विवरणों का सूक्ष्म विवेचन करने के पश्चात् इतिहासकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत में शब्दांक-पद्धति का प्रचलन २०० ई० पूर्व से ३०० ई० के भीतर पूर्णतया हो चुका था।

शब्दांकों का आधुनिक ढंग से प्रयोग 'अग्निपुराण' में प्रचुरता से मिलता है। भट्टोत्पल ने 'बृहत्संहिता-विवृति' में शब्दांकों द्वारा एक बृहत् संख्या को सूचित किया है। शब्दांकों के प्रयोग की यह पद्धति भारतीय ज्योतिष में इतनी अपनाये जाने लगी कि प्राचीन और नवीन सभी युगों के ग्रन्थों में उसका भरपूर प्रभाव लक्षित होता है। ऐसे ज्योतिष-ग्रंथों में 'पंचसिद्धांतिका' 'महाभास्करीय' एवं 'लघुभास्करीय', 'ब्रह्मस्फुटसिद्धांत', 'त्रिशतिका' और 'गणितसारसंग्रह' ग्रंथों के विवरण अवलोकनीय हैं।

सातवीं शताब्दी में लिखे हुए कंबोडिया से प्राप्त संस्कृत के दो अभिलेखों में भी शब्दांकों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार एक तीसरा, आठवीं शताब्दी का लिखा हुआ, अभिलेख जावा से मिला है। भारत में उपलब्ध तीन अभिलेखों में भी इस प्रकार के शब्दांकों का प्रयोग हुआ है। पहिला अभिलेख

८१३ ई० दूसरा ८४२ ई० और तीसरा ९४३ ई० का है । दशवीं शताब्दी और उसके बाद के अभिलेखों में भी इस प्रकार के प्रयोग बहुलता से मिलते हैं ।

अक्षरसंकेतों का प्रयोग

अंकों की संख्या को सूचित करने के लिए शब्द-संकेतों के अतिरिक्त अक्षर-संकेतों या वर्ण-संकेतों का भी प्रचलन भारतीय ज्योतिष में सर्वत्र मिलता है । शब्द-संकेतों की पद्धति कुछ जटिल, विस्तृत और दुःसाध्य होने के कारण ही संभवतः अक्षर-संकेतों का प्रयोग हुआ । अङ्क-संख्या के सूचनार्थ, शब्दों की जगह, वर्णों को उपयोग में लाने की यह संक्षिप्त पद्धति अधिक वैज्ञानिक लगती है ।

इस पद्धति का प्रवर्तक कौन था, या इसके आविर्भाव का ठीक समय क्या था, इसका इतिहास नहीं मिलता है । व्याकरण के प्राणभूत आचार्य पाणिनि (५०० ई० पूर्व) ने कुछ स्वर-वर्णों का संख्या के अर्थ में प्रयोग किया है । पाणिनि के एक सूत्र पर कात्यायन (४०० ई० पूर्व) के कथन को मान्यता देते हुए भाष्यकार पतंजलि (२०० ई० पूर्व) का कहना है कि पाणिनि ने कहीं-कहीं स्वरों के अङ्क-सूचक चिह्नों का प्रयोग किया है । किन्तु विद्वानों के अनुसार पाँचवीं शताब्दी से पूर्व में इस पद्धति का विशेष प्रचलन नहीं था । पाँचवीं शताब्दी में ही इस पद्धति पर विभिन्न शैलियाँ रची गईं, जो विद्वानों तक ही सीमित रहीं और जिन पर यूनानी तथा अरबी पद्धतियों का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं था ।

आयुर्वेदशास्त्र

आयुर्वेद : उद्भव और उद्देश्य

आयुर्वेद के महान् ज्ञान का इतिहास बहुत लम्बा है। देवलोक और मनुष्यलोक, दोनों में उसके प्रभाव, उपयोगिता और महत्त्व को एक जैसे पूजाभाव से स्वीकार किया गया है। आयुर्वेदशास्त्र के पहिले उपदेष्टा सृष्टिकर्ता ब्रह्मा हुए। बहुत समय तक यह उपयोगी ज्ञान देवलोक तक ही सीमित रहा। बाद में इन्द्रादि देवों से उपकारी ऋषियों ने इस विद्या की दीक्षा प्राप्त कर उसे मर्त्यलोक में फैलाया। इस विद्या को मर्त्यलोक में लाने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई इस सम्बन्ध में एक रोचक कथा है।

'चरकसंहिता' में लिखा है कि धर्मार्थकाममोक्ष आदि की सिद्धि में, शरीर-शक्तियों के दुर्बल हो जाने के कारण, जब बाधा उत्पन्न हुई तो परम ज्ञानी दयालु ऋषि-मंडली इस बाधा को दूर करने के लिए पवित्र धाम हिमालय पर एकत्र हुई। उन्होंने ध्यान एवं चिन्तन द्वारा जाना कि परम आयुर्वेदज्ञ देवराज इन्द्र ही मर्त्यलोक के इस रोगशमन का सर्वांगपूर्ण उपाय बता सकते हैं। हिमालय पर एकत्र इन कल्याणकामी ऋषियों की संख्या ५२ थी।

तदर्थ ऋषि-मंडली ने इन्द्र की ओर प्रस्थान किया। इन्द्र के पास पहिले कौन जाय, यह स्थिति सामने आई। इस समस्या को दूर किया परमर्षि भरद्वाज ने। बात यह थी कि भरद्वाज के पिता बृहस्पति देवों के गुरु थे। वैसे भी भरद्वाज की इन्द्र से अच्छी मैत्री थी। भरद्वाज इन्द्र के पास गया और सहज ही में इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर उस त्रिस्कंधात्मक ज्ञान को मर्त्यलोक के लिए लाया।

किन्तु आयुर्वेद का यह महाज्ञान कुछ इतना जटिल सिद्ध हुआ कि मर्त्यलोकवासियों की मेधाशक्ति उसको ग्रहण न कर सकी। फलतः ब्रह्मा ने ऋषियों के आग्रह पर युग के क्रम से, मनुष्य की बुद्धि एवं आयु के ह्रास को दृष्टि में रखकर, उस लक्षश्लोकात्मक आयुर्वेद आगम को आठ अंगों में विभाजित किया। इन आठ अंगों (तंत्रों) का नाम हुआ : शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायन और वाजीकरण। आयुर्वेद के ग्रंथों में ये नाम कुछ हेर-फेर एवं परिवर्तन से लिखे मिलते हैं।

कालान्तर में आयु और बुद्धि की यह स्थिति भी बदल गई। अतः तब आवश्यकता इस बात की हुई कि अष्टांगविभागात्मक उस आयुर्वेद आगम को अधिक संक्षिप्त एवं व्याख्यात्मक होना चाहिए, यतः वह बुद्धिगम्य हो सके। यह कार्य ऋषिजनों ने किया।

वाग्भट ने लिखा है कि युगक्रम के अनुपात से बुद्धिविवेक को दृष्टि में रखकर बाद में इंद्र से भरद्वाज, धन्वंतरि आदि ने जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह अष्टांगपूर्ण होता हुआ भी किसी एक अंग पर अधिक केंद्रित था। उदाहरण के लिए धन्वंतरि ने भिषक्क्रिया पर अधिक बल दिया, तो पुनर्वसु ने कायचिकित्सा पर और कश्यप ने केवल कौमारभृत्य पर।

भरद्वाज द्वारा लाये हुए उस अष्टांगविभाजित ज्ञान के एक शल्यचिकित्सा विषयक अंग को धन्वंतरि ने सीखा और तदनु उसका उपदेश दिया। कायचिकित्सा के ज्ञान का प्रथम विचारक आत्रेय पुनर्वसु हुआ। ये दोनों शीर्षस्थ विद्वान् एक ही महाज्ञानी भरद्वाज के शिष्य थे। यदि आयुर्वेदशास्त्र से धन्वंतरि और पुनर्वसु की प्रतिभा को अलग किया जाय तो आज की वैज्ञानिक पद्धतियों के समक्ष सारा भारतीय आयुर्वेद बहुत ही पिछड़ा प्रतीत होगा। इस दृष्टि से इन दोनों सहाध्यायी विद्वानों का आयुर्वेद के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। भिषग्विद्या के क्षेत्र में पुनर्वसु आत्रेय को संसार के सर्वोच्च वैज्ञानिकों की कोटि में गिना जाता है।

पुराणग्रंथों में तो धन्वंतरि को ही आदि आयुर्वेद-आगम को आठ अंगों में विभक्त करने वाला बताया गया है। उनमें लिखा है कि प्रथम द्वापर के अंत में काशिराज शौनहोत्र के यहाँ धन्वंतरि जन्मा। उसने भरद्वाज से आयुर्वेद का

और विशेषतया भिषक्क्रिया का ज्ञान प्राप्त कर पुनः उसको आठ अंगों में अलग किया और तद्नु उसे अपने सुयोग्य शिष्यों को समझाया।

लोकप्रियता : प्रभाव : प्राचीनता

एक जीवनोपयोगी शास्त्र होने के नाते आयुर्वेद ने यथेष्ट लोकप्रियता और प्रसिद्धि प्राप्त की। उसने अपना स्वतंत्र सर्वांगीण विकास किया, और दूसरे शास्त्रों का प्रपूरक होने के कारण बड़ी मान्यता प्राप्त की। स्मृतियों और पुराणों की विधियों में शरीरशास्त्र की पर्याप्त चर्चाएँ मिलती हैं। सांख्य एवं योग प्रभृति दर्शन के संप्रदायों से आयुर्वेद-विषय का बौद्धिक पक्ष प्रभावित है। इसी प्रकार वेदांत दर्शन ने उसको अध्यात्म बल दिया।

एक जीवनोपयोगी विषय के रूप में आयुर्वेद अति प्राचीन काल से ही संमान पाता रहा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के क्रमशः चार उपवेद कहे गए हैं : आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद और अर्थवेद (अर्थशास्त्र)। पारलौकिक जीवन की सर्वार्थ सिद्धि तो वेदों में और ऐहिक जीवन की पूर्णता के समग्र साधन उपवेदों में वर्णित है।

आयुर्वेद में यद्यपि शरीरविज्ञान की विधियाँ बताई गई हैं, तथापि उसकी आयु सहस्रों वर्ष प्राचीन है। ऋग्वेद में आयुर्वेद के जन्मदाता दिवोदास, भरद्वाज और अश्विनीकुमार आदि आचार्यों एवं परमर्षियों का उल्लेख मिलता है। 'काश्यपसंहिता' में आयुर्वेद का उद्भव 'अथर्व-उपनिषद्' के रूप में कहा गया है। अथर्वाण मंत्रों के संबंध में कुछ विद्वानों का कहना है कि उनमें प्राचीन वैद्यकशास्त्र की विधियाँ वर्णित हैं। उनमें राक्षसों को रोग उत्पन्न करनेवाला और मंत्रों द्वारा रोग-निवृत्ति के तरीके भी बताये गए हैं। इसी प्रकार 'महाभारत' और बौद्धों के 'विनयपिटक' में शल्यविद्या-विशारद अनेक वैद्यों का उल्लेख हुआ है।

सर प्रफुल्लचंद्र दे महोदय ने आयुर्वेद के इतिहास का काल-विभाजन करते हुए कुछ नई मान्यताएँ रखी हैं, जिनका निष्कर्ष यह है कि वैदिक युग की हिन्दू चिकित्सा-पद्धति में अनेक न्यूनताएँ थीं। चरक से पूर्व चिकित्सा-पद्धति का प्रायः सर्वथा अभाव था। उसका सारा क्रम अनाधारित और उसमें आयुर्वेद की वैज्ञानिक परिभाषाएँ न थीं।

दे महोदय का यह अभिमत पाश्चात्य विद्वानों और विशेषतः मैक्समूलर की स्थापनाओं पर आधारित है। इस संबंध में अब नई गवेषणाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं और इन नई गवेषणाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि आयुर्वेद शास्त्र की परंपरा की पूर्ण प्रतिष्ठा ब्रह्मा ने की थी; और यद्यपि उसमें आयु-बुद्धि तथा युग के ह्रास-क्रम से कुछ परिवर्तन होते गए, तथापि उसमें शिथिलता, अक्रम, न्यूनता, और व्यतिक्रम किसी भी युग में न हुआ। उसकी वैज्ञानिक विधियाँ आदि से लेकर अंत तक बनी रहीं।

आयुर्वेद के उपयोगी ज्ञान से संस्कृत के सभी प्रमुख ग्रंथकारों की कृतियाँ प्रभावित हैं। इस विषय पर एक पुस्तक श्री अत्रिदेव विद्यालंकार ने लिखी है, जिसका नाम है: 'संस्कृत-साहित्य में आयुर्वेद'। पाणिनि, भास, अश्वघोष, कालिदास, विष्णुशर्मा, हाल, भारवि, शूद्रक, विशाखदत्त, दण्डी, बाणभट्ट, भवभूति, माघ, त्रिविक्रम भट्ट, श्रीहर्ष और पंडितराज जगन्नाथ के ग्रंथों में आयुर्वेदविषयक जितनी चर्चाएँ हैं उनका निर्देश उक्त पुस्तक में किया गया है। इस पुस्तक में यह भी बताया गया है कि संस्कृत के ग्रंथकारों ने अपनी कृतियों में किन-किन वनस्पतियों का उल्लेख किया है, अथ च आयुर्वेद के ग्रंथों में काव्योत्कर्ष-विषयक गुण और कवित्व को प्रभावित करने वाली सामग्री किस सुन्दरता से सजाई गई है।

इन सभी विवरणों को देखकर आयुर्वेदशास्त्र के स्वतंत्र अस्तित्व का विकास और उसके अतिशय प्रभाव का पता सहज ही में लग जाता है। प्रायः सभी युगों में सभी श्रेणी के ग्रन्थकारों में उसकी कितनी लोकप्रियता रही है, इसका परिचय भी हमें उक्त विवरणों से भली भाँति विदित हो जाती है।

इन्द्र : भास्कर और उनकी शिष्य परंपरा

इन्द्र, बहुश्रुत विद्वान् और ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनकी बहुश्रुत विद्वत्ता और उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ऋग्वेद तथा 'शतपथ ब्राह्मण' जैसे प्राचीनतम ग्रंथों में विस्तार से चर्चाएँ लिखी हुई मिलती हैं। इंद्र के कई

शिष्य हुए, जिनमें भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि प्रमुख हैं। इन सभी महर्षियों ने दूसरी विद्याओं के साथ-साथ इंद्र से आयुर्वेद का भी अध्ययन किया।

आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रंथ 'चरकसंहिता' से विदित होता है कि इन्द्र ने अपने भ्रातृपुत्र अश्विद्वय से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था। इस बात को इंद्र ने स्वयं भी स्वीकार किया है कि आत्मीयों तथा प्रजाजनों के उपकारार्थ अश्वियों ने आयुर्वेद का ज्ञान उन्हें दिया। इसी बात का समर्थन 'सुश्रुत संहिता' में भी है। कविराज जी का कथन है कि आयुर्वेद का प्रदाता इंद्र अति प्राचीन काल में हुआ। उस समय, अर्थात् आज से लगभग १२००० वर्ष पूर्व, आयुर्वेद का पुनीत ज्ञान संसार में विद्यमान था।

वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' की टीका में उत्पलभट्ट ने शाकुनशास्त्र पर पुरातन आचार्य ऋषिपुत्र का एक वचन उद्धृत किया है। उसके अन्त में लिखा है : 'इत्याह भगवान् इंद्रः' भगवान् इन्द्र ने यह कहा। इससे विदित होता है कि शाकुनशास्त्र पर इन्द्र ने एक ग्रन्थ लिखा था, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है।

नंदि, भगवान् का प्रिय शिष्य था। वह भी बहुश्रुत था। उसके सम्बन्ध में लिखा है कि उसने 'नाभियंत्र' नामक एक ग्रंथ लिखा था।

भृगु प्रथम प्रजापति थे। भारतीय इतिहास में २१ प्रजापति हुए हैं। भृगु, ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। 'शतपथ ब्राह्मण' की एक कथा में वरुण को भृगु प्रजापति का पुत्र बताया गया है : महर्षि भृगु की दो पत्नियाँ थीं : एक हिरण्यकशिपु की कन्या दिव्या और दूसरी पुलोम की पुत्री पौलोमी। परशुराम, बाल्मीकि, बृहज्जीवक, शौनक आदि, इसी कुल में पैदा हुए थे।

महर्षि भृगु ने एक आयुर्वेद-संहिता की रचना की थी। 'अष्टांगहृदय' की हेमाद्रिकृत टीका में भृगु द्वारा उपदिष्ट रसायन का उल्लेख है। भृगु को चिकित्साशास्त्रज्ञ होने का विवरण वाग्भट-सुत तीसट ने 'चिकित्साकलिका' में दिया है और वहाँ उसने हारीत, भृगु और चरक प्रभृति पुरातन आचार्यों के मतानुसार अपने सिद्धांतों की पुष्टि की है। भृगु के नाम से जुड़ी हुई 'भृगुसंहिता' किस भृगु की है, कहा नहीं जा सकता है।

कविराज सूरमचन्द्र जी ने भृगु, अंगिरा और मरीचि आदि आठ महर्षियों के सम्बन्ध में कही गई कल्पित धारणा का खंडन कर यह बताया है कि प्रजापति अंगिरा, ब्रह्मा का मानसपुत्र एवं देव-ब्राह्मण था, जिसका वंश-वृक्ष इस प्रकार है :
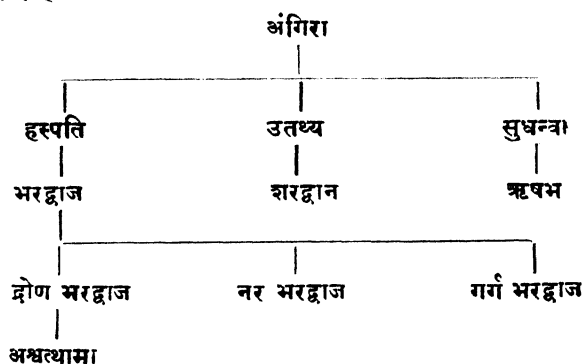
महर्षि अत्रि, ब्रह्मा के मानसपुत्र थे। सप्तर्षियों में उनकी गणना है। कविराज जी ने अत्रिवंश का वृत्त इस प्रकार दिया है : अत्रि-प्रजापति-चंद्र-(सोमा)-बुध-पुरूरवा-ऐल। अत्रि का ऋग्वेद से विशेष सम्बन्ध था। ऋग्वेद के पाँचवें मंडल के द्रष्टा भी यही थें। इन्हें ऋषियों का होता कहा गया है। अत्रि दीर्घायु थे। उनका पहिला आश्रम हिमालय पर था। वे 'रामायण' के समय तक जीवित रहे। चित्रकूट में भी उनका एक आश्रम था। उनके नाम से एक ३२०० श्लोकात्मक 'आत्रेयसंहिता' का उल्लेख मिलता है।

प्रजापति वसिष्ठ भी ब्रह्मा के मानसपुत्रों और सप्तर्षियों में से एक थे। उत्तरकाल में ये मैत्रावरुणि वसिष्ठ के नाम से विख्यात हुए। इनके पुत्र का नाम शक्ति और पौत्र का नाम पराशर था। रघुकुल के पुरोहित भी यही वसिष्ठ थे। इनकी पत्नी का नाम अरुंधती था। बाद में वसिष्ठ एक उपाधि का सूचक हो गया। इन्होंने भी इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन कर आयुर्वेद पर एक संहिताग्रंथ का निर्माण किया था।

ब्रह्मा के मानसपुत्रों में मरीचि भी एक थे। मरीचि के मानसपुत्र कश्यप हुए। आयुर्वेद की 'काश्यसंहिता' में कश्यप को मारीच प्रजापति और

'महाभारत' में मारीच कश्यप का एक नाम अरिष्टनेमि भी दिया हुआ है। शौनक का भी यही कहना है कि प्रजापति ब्रह्मा का पुत्र मरीचि और उसका पुत्र मारीच कश्यप हुआ। कश्यप बहुशास्त्रविद् था। वह एक दीर्घजीवी ऋषि भी प्रतीत होता है।

'रामायण' के एक प्रसंग से प्रतीत होता है कि महर्षि अगस्त्य का एक छोटा भाई था, जिसका आश्रम दक्षिण में कहीं पर था। 'बृहद्देवता' के कुछ उल्लेखों से मालूम होता है कि अगस्त्य तथा वशिष्ठ मैत्रावरुणि सहोदर थे। अगस्त्य की पत्नी का नाम लोपामुद्रा था। 'बृहद्देवता' से यह भी विदित होता है कि अगस्त्य की बहिन का नाम अदिति था। अगस्त्य दीर्घायु, अथच मृत्युंजय थे। उनकी पत्नी भी उन्हीं की भांति दीर्घायु थी। अगस्त्य का आश्रम दक्षिण में था। अगस्त्य ने आयुर्वेद का ज्ञान इन्द्र और भास्कर से प्राप्त किया था। 'महाभारत' के आदिपर्व में द्रोणाचार्य के बचनों से ज्ञात होता है कि अगस्त्य के शिष्य अग्निवेश हुए और अग्नि-वेश से द्रोणाचार्य ने धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया।

'ब्रह्मवैवर्त' से पता चलता है कि भास्कर के शिष्यों ने आयुर्वेद पर पृथक्-पृथक् संहिताओं का निर्माण किया था। अगस्त्य के ग्रंथ का नाम 'द्वैधनिर्णयतंत्र' था, जो उपलब्ध नहीं है। 'चरकसंहिता' के टीकाकार चक्रपाणि ने अगस्त्य का एक श्लोक भी उद्धृत किया है।

आयुर्वेद के प्रथम प्रवर्तक महर्षियों में वामदेव का नाम उल्लेखनीय है। 'मत्स्यपुराण' से ज्ञात होता है कि वामदेव ने तप के प्रभाव से ऋषि पद प्राप्त किया था। वे अंगिरा के कुल से संबद्ध थे। 'रामायण' में लिखा है कि ऋषिश्रेष्ठ, वेद-वेदांग-पारंगत वशिष्ठ तथा वामदेव, दशरथ के मंत्री एवं ऋत्विक् थे। 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' में वामदेव की वंश-परंपरा : अंगिरा-रहूगण-गोतम-वामदेव-बृहदुक्थ, इस प्रकार से उल्लिखित है। वामदेव ने भी एक 'आयुर्वेद-संहिता' का निर्माण किया था, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है।

इसी परंपरा में असित भी हुए। पुराण-ग्रंथों में असित की वंशावली व्यवस्थित ढंग से लिखी हुई मिलती है। 'वायुपुराण' में लिखा है कि कश्यप ऋषि ने वंशकामना के लिये तप करके वत्सर निध्रुव तथा रैभ्य नामक दो पुत्र

उत्पन्न किए। उनके ये दोनों पुत्र ब्रह्मवादी थे। असित की पत्नी का नाम एकपर्णा था, जो कि बड़ी ही साध्वी और दृढव्रता थी। हिमालय ने असित को परम योगी और बड़ा बुद्धिमान जानकर एकपर्णा को उन्हें दे दिया था। उससे ब्रह्मनिष्ठ देवल का जन्म हुआ।

कुछ पुराण-ग्रन्थों में देवल के पिता का नाम प्रत्यूष लिखा मिलता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि असित काश्यप का एक नाम प्रत्यूष भी था; किन्तु 'वायुपुराण' में प्रत्यूष की गणना आठ वसुओं में होने के कारण उसको कश्यप ऋषि से भिन्न मानना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस दूसरे असित के पुत्र का नाम भी देवल ही था। असित देवल का उल्लेख 'तांड्य ब्राह्मण' में भी मिलता है।

अतएव असित देवल और असित कश्यप, दोनों का एक नाम यद्यपि प्रत्यूष भी था ; किन्तु थे दोनों अलग-अलग ही।

गौतम ऋषि को आयुर्वेद के पुरातन निर्माताओं के रूप में स्मरण किया गया है। 'चरकसंहिता' के एक विवरण से प्रतीत होता है कि एक बार जब आयुर्वेदज्ञ मुनियों में आयुर्वेद-सम्बन्धी कुछ मतैक्य न हो सका तो वे निर्णय के लिए आत्रेय के पास गए। इन मुनियों में गौतम भी एक थे। 'अष्टांगहृदय' में गौतम के ज्वरविषयक मत को उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार 'माधवनिदान' के प्रसिद्ध व्याख्याकार विजयरक्षित ने 'यदाह गौतमः' कहकर गौतम के मत को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। गौतम न्याय, धर्मशास्त्र और व्याकरण का भी प्रकांड विद्वान् था।

'ब्रह्मपुराण' के उल्लेखानुसार माता सुरभि और पिता प्रजापति कश्यप से जिन एकादश रुद्रों की उत्पत्ति हुई थी, शिव उनमें अत्यन्त तेजस्वी एवं बड़ा मेधावी निकला, जिस कारण कि उसको पार्वती ने बरा। वह दीर्घजीवी था। भगवान् शिव की सर्वज्ञता का वर्णन 'महाभारत' में मिलता है। उसमें लिखा है कि शिव सांख्ययोग के प्रवर्तक, गीत-वादित्र के तत्त्वज्ञ, उच्चकोटि के शिल्पी और अनेक शिल्पों के प्रवर्तक थे। 'महाभारत' के एक प्रसंग में यह भी कहा गया है कि रुद्र (शिव), विष्णु, इंद्र, बृहस्पति, शुक्र तथा परम

धर्मज्ञ स्वायंभुव मनु 'वेद-पारंगत' थे। चारों वेदों को संक्षिप्त करने वाले वेद-वादों में निपुण ही वेद-पारंगत कहे जाते थे। शिव वैसे ही थे।

शिव-प्रोक्त आयुर्वेद-ग्रन्थों में : 'आयुर्ग्रन्थ', 'आयुर्वेद', 'वैद्यराजतंत्र', 'शैव-सिद्धांत', 'रुद्रयामलतंत्र', 'पारदकल्प', 'धातुकल्प', 'हरितालकल्प', 'धातुक्रिया', 'कैलाशकारक' और 'रसार्णवतंत्र' आदि का उल्लेख इतिहास-ग्रन्थों में मिलता है।

भास्कर के पिता का नाम कश्यप और माता का नाम अदिति था। भास्कर का अपर नाम विवस्वान् भी था। अश्विद्वय इन्हीं के पुत्र थे, जिससे इनकी अति प्राचीनता सिद्ध होती है। प्रजापति ब्रह्मा, भास्कर के आयुर्वेद गुरु थे। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में लिखा है कि प्रजापति ब्रह्मा ने चारो वेदों का दोहन कर पंचम वेद के रूप में आयुर्वेद को जन्म दिया था। उसमें उन्होंने भास्कर को दीक्षित किया और भास्कर ने उसके आधार पर एक संहिता का निर्माण किया।

वरुण का पुत्र भृगु और भृगु का पुत्र उशना' हुआ। उशना कवि के बारे में व्यापकता से उल्लेख हुआ है। इनके अनेक नाम थे : उशना कवि, काव्य, शुक्र और भार्गव। भृगुपुत्र होने से उन्हें भार्गव, मंत्रद्रष्टा होने से कवि और क्योंकि उसका पिता भृगु स्वयं कवि था, इसलिए उसका तीसरा नाम काव्य (कविपुत्र) भी कहा गया। 'जैमिनीय ब्राह्मण' में कहा गया है कि भार्गव उशना कवि थे। 'ब्रह्माण्ड पुराण' में कहा गया है कि शुक्र का ही एक नाम उशना तथा काव्य है। 'तैत्तिरीय संहिता' से ज्ञात होता है कि वह उशना असुरों का पुरोहित था। वह गान्धर्वदेश का राजा भी था। उशना को ब्रह्मवादी ब्राह्मण और राजशास्त्र का प्रणेता कहा गया हैं। उशना कवि भी आयुर्वेदशास्त्र के प्रवर्तकों में से थे।

बृहस्पति, अंगिरा का पुत्र था। इसलिए उसे आंगिरस भी कहा गया है। प्रजापति की कन्या उषा उनकी पत्नी थी। 'जैमिनीय ब्राह्मण' और 'ताण्ड्य ब्राह्मण' के अनुसार बृहस्पति देवों के पुरोहित ठहरते हैं। वह वेद-वेदांगवित् भी था। 'महाभारत' में लिखा है कि महाकल्प के व्यतीत होने पर आंगिरस, देवपुरोहित, महागुणी विद्वान् बृहस्पति पैदा हुआ। उसका शिष्य राजा

उपरिचर वसु था। उस राजा ने बृहस्पति से चित्रशिखण्डिशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था। बृहस्पति भी आयुर्वेद का कर्ता था :

सनत्कुमार आयुर्वेद का अद्वितीय आचार्य था। 'महाभारत', 'हरिवंश' तथा 'वायुपुराण' में सनत्कुमार को ब्रह्मा का मानसपुत्र कहा गया है। 'हरिवंशपुराण' के एक प्रसंग में सनत्कुमार के मुख से कहलाया गया है "जैसा उत्पन्न हुआ, वैसा ही हूं मैं। मुझे कुमार जानो। इसी कारण मेरा सनत् = सदा कुमार, इति सनत्कुमार नाम रखा गया"। हेमचंद्र के 'अभिधानचिंतामणि' में उसके पर्यायवाची नाम हैं : स्कंद, स्वामी, महासेन, सेनानी, षाण्मातुर, कार्तिकेय, कुमार, गुह और विशाख। अनेक ग्रंथों में उसको इन औपाधिक एवं उपनामों से स्मरण किया गया है।

सनत्कुमार बड़ा दीर्घजीवी था। मुखोपाध्याय जी ने भ्रमवश कार्तिकेय और सनत्कुमार को दो व्यक्ति समझ लिया था। सनत्कुमार के आयुर्वेद-विषयक तीन हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं 'सनत्कुमार-संहिता', 'वाहटग्रन्थ' और 'अनुभोगकल्प'।

ब्रह्मा के मानस पुत्रों में अन्यतम एवं अतिदीर्घजीवी नारद का भी उल्लेख है। 'अभिधानचिंतामणि' में नारद के तीन नाम हैं : देवब्रह्मा, पिशुन और कलिकारक। 'रामायण' में उन्हें त्रिलोकज्ञ कहा गया है। नारद ने सनत्कुमार से अध्यात्मज्ञान, शिव से अर्शोहरयोग (आयुर्वेद), वशिष्ट से आत्मज्ञान और ब्रह्मा से ज्योतिर्विद्या सीखी।

हेमाद्रि विरचित 'लक्षणप्रकाश' में उद्धृत शालिहोत्र ऋषि के वचनों से विदित होता है कि नारद सर्वलोक-चिकित्सक तथा आयुर्वेद के कर्ता थे। इण्डिया आफिस के सूचीपत्र में नारद का आयुर्वेदविषयक 'धातुलक्षण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

धन्वंतरि प्रथम का बहुमुखी व्यक्तित्व एवं उसकी असामान्य प्रतिभा का परिचय 'रामायण', 'महाभारत' और 'वायुपुराण' आदि ग्रन्थों में एक जैसी ऊँचाई तथा एक जैसे आदर के साथ लिखा गया है। 'सुश्रुत' के टीकाकार डल्हण की व्युत्पत्ति है कि शल्यशास्त्र-पारंगत व्यक्ति धन्वंतरि कहा जाता

है। धन्वंतरि : आदिदेव, अमरवर, अमृतयोनि और अब्ज आदि अनेक नामों से विश्रुत है। चिकित्साज्ञान धन्वंतरि ने भास्कर से और आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञान इन्द्र से प्राप्त किया था।

धन्वंतरि प्रथम ने अपने गुरु भास्कर की 'आयुर्वेद-संहिता' के आधार पर 'चिकित्सारसायनतंत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

चंद्रवंश का मूल प्रवर्तक महाराज सोम, अत्रि ऋषि का पुत्र था। सोम का पुत्र बुध हुआ। बुध की माता का नाम तारा था। प्रसिद्ध चंद्रवंशी सम्राट् एवं मंत्रद्रष्टा विद्वान् पुरूरवा, बुध का पुत्र था। 'मत्स्यपुराण' में लिखा है कि बुध का अपर नाम राजपुत्र था। इसी प्रसंग में उसको हस्तिशास्त्र का प्रवर्तक कहा गया है। बुध ने चिकित्सा पर कोई ग्रन्थ लिखा था। उसका भी गुरु भास्कर ही था।

चंद्रवंश के चक्रवर्ती राजा भरत का पुत्र महाराज भुमन्यु और उसका पुत्र गर्ग हुआ। गर्ग का वंशवृत्त इस प्रकार है :
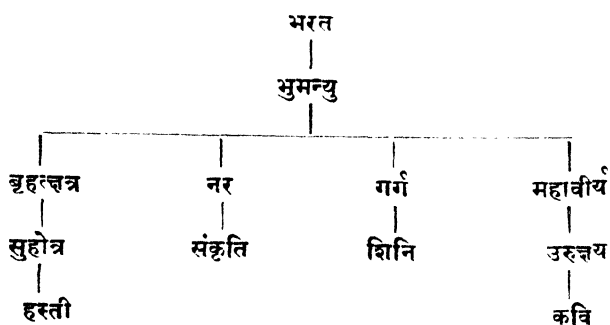
गर्ग, पाणिनि से पहिले हुआ, 'अष्टाध्यायी' का एक सूत्र इसका प्रमाण है। इस दृष्टि से श्री तारापद भट्टाचार्य का यह मंतव्य कि गर्ग का समय २०० ई० पूर्व से प्रथम शती के बीच था, असत्य जान पड़ता है। गर्ग ने आचार्य शालिहोत्र से अश्ववैद्यक का ज्ञान प्राप्त किया था और गर्ग से अत्रि ऋषि ने वास्तुशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था। गर्ग वास्तुविद्या का भी प्रकांड विद्वान् था। अष्टादश वास्तुशास्त्रोपदेशकों में गर्ग का नाम मिलता है।

ऋषि गर्ग ने अश्व-आयुर्वेद पर कोई ग्रंथ अवश्य लिखा था। इस संबंध में विद्वानों ने अनेक सूत्र खोज निकाले हैं।

च्यवन ऋषि, भृगु महर्षि का पुत्र था। रसायन के सेवन से वह दीर्घकाल तक जीवित रहा। लगभग द्वापर युग तक वह वर्तमान था। च्यवन आयुर्वेद का प्रकांड विद्वान् था। उसने 'जीवदान' नाम चिकित्साग्रंथ की रचना की थी। अक्षिरोगचिकित्सा पर भी उसने कोई ग्रंथ लिखा था।

कुशिक का पुत्र गाधि और उसका पुत्र विश्वामित्र हुआ। किन्तु 'रामायण' में : कुशिक-कुशनाभ-गाधि और विश्वामित्र, इस प्रकार की वंशपरंपरा मिलती है। भारतीय इतिहास की प्रसिद्ध चरित्र-नायिका कण्व ऋषि की पोषिता कन्या इन्हीं विश्वामित्र की पुत्री थी। अश्विरसायन का उपदेश विश्वामित्र ने अश्विद्वय से प्राप्त किया था। विश्वामित्र के आयुर्वेद-ग्रन्थ के अनेक वचन आज भी उद्धरणों के रूप में विभिन्न ग्रन्थों में बिखरे हुए मिलते हैं।

जमदग्नि भृगुवंशीय था। च्यवन का प्रपौत्र ऋचीक इनका पिता और गाधि की कन्या सत्यवती इनकी माता थी। भारत के पश्चिम भाग में नर्मदा नदी के समीप जमदग्नि ने बहुत समय बिताया। मही और नर्मदा नदी के बीच में स्थित माहेय देश के राजाओं के ये पुरोहित थे। 'चरकसंहिता' में लिखा है कि रसायन का सेवन कर जमदग्नि दीर्घकाल तक जीवित रहा। वह आयुर्वेद का कर्ता और सर्वलोक-चिकित्सक था।

वरुण कश्यपवंशीय था। इन्द्र, विष्णु आदि प्रमुख बारह देवों में से वरुण भी एक है। शालिहोत्र के वचनानुसार वह भी आयुर्वेद का कर्ता था। इसी कश्यपवंश में ऋषि काश्यप हुआ। वह भी आयुर्वेद का प्रवर्तक था। 'निबन्ध-संग्रह' में उसके तंत्र-ग्रन्थों का हवाला मिलता है। काश्यप के वचन अनेक आयुर्वेदग्रंथों में उद्धृत हैं। काश्यप ने आयुर्वेद पर तीन ग्रंथ लिखे थे, जिनके नाम हैं : 'स्त्रीचिकित्सासूत्र', 'काश्यपसंहिता' और 'रोगनिदान'। काश्यप की 'आयुर्वेदसंहिता' १९९५ वि० में प्रकाशित हुई है। उसके उद्धार का श्रेय वैद्य श्री यादवजी त्रिकमजि तथा नेपाल के राजगुरु पं० हेमराज शर्मा को है। उन्होंने बड़े श्रम से ताड़पत्र की एक खंडित पोथी के आधार पर इस ग्रन्थ का संपादन किया है।

'चरक' में लिखा है कि इन्द्र ने भरद्वाज को आयुर्वेद पढ़ाया था और तदनु भरद्वाज ने एक 'अगदतंत्र' की रचना की थी। इंद्र ने भरद्वाज को श्रोणतंत्र पढ़ाया था या केवल कायतंत्र ही, यह अज्ञात है। 'वायुपुराण' में लिखा है कि भरद्वाज ने एक 'आयुर्वेदसंहिता' की रचना की थी और तदनंतर उसके आठ विभाग कर उसे अपने शिष्यों को पढ़ाया था। इससे यह विदित होता है कि संभवतः इंद्र ने भरद्वाज को आयुर्वेद के आठों तंत्रों में दीक्षित किया था। भरद्वाज के आयुर्वेदज्ञ होने के प्रबल प्रमाण 'चरक' में देखने को मिलते हैं। उसमें लिखा है कि भरद्वाज ने आत्रेय पुनर्वसु आदि शिष्यों को कायचिकित्सा का ज्ञान दिया था।

देवयोनि प्रथम धन्वंतरि ने ही उसी नाम से मर्त्यलोक में पुनर्जन्म लिया, ऐसा विश्वास किया जाता है। इस धन्वंतरि द्वितीय की पुराणों में सुरक्षित वंशावलि के अनुसार पता चलता है कि उसका जन्म किसी चंद्रवंशीय राजकुल में हुआ था। 'हरिवंश', 'ब्रह्माण्ड' और 'वायु' आदि पुराणों में उल्लिखित धन्वंतरि द्वितीय की वंशावलि से यही विदित होता है कि उसके पूर्व पुरुष का नाम सुहोत्र और अंतिम पुरुष का नाम प्रतर्दन था।

धन्वंतरि द्वितीय मर्त्यलोक में आयुर्वेद के प्रथम प्रवर्तकों में से हुआ। उसने बार्हस्पत्य भारद्वाज से भिषक्क्रिया सहित आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था और उसके बाद उस आयुर्वेदविद्या को आठ अंगों में विभाजित कर उसने अपने शिष्यों को दिया। विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत का गुरु भी धन्वंतरि ही था; किन्तु उसका मूलनाम दिवोदास था, जो धन्वंतरि द्वितीय की तीसरी पीढ़ी में हुआ और इसलिए जिसको धन्वंतरि तृतीय के नाम से याद किया जाता है। दिवोदास उसका औपचारिक नाम था। उसके पांडित्य और उसकी प्रतिभा का यशोगान अनेक ग्रन्थों में विस्तार से देखने को मिलता है।

धन्वंतरि द्वितीय के आयुर्वेदविषयक ग्रन्थ का नाम है: 'धातुकल्प'। इसके अतिरिक्त श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने धन्वंतरि के पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है 'अजीर्णामृतमंजरी', 'रोगनिदान', 'वैद्यचिन्तामणि', 'विद्याप्रकाश-चिकित्सा' और 'धन्वंतरीय निघण्टु'। धन्वंतरि के नाम से 'वैद्यक स्वरोदय' 'चिकित्सासारसंग्रह' नामक दो ग्रंथ और उपलब्ध हैं। इस संबंध

में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि ये सभी ग्रंथ एक ही धन्वंतरि के हैं या अनेक व्यक्तियों के। उसके 'निघंटु' ग्रंथ के हस्तलेख बीकानेर, इंडिया आफिस, आक्सफोर्ड, मद्रास और बड़ौदा आदि के ग्रन्थ-संग्रहों में सुरक्षित हैं।

भिषग्विद्या का प्रवर्तन

आत्रेय पुनर्वसु और धन्वंतरि दोनों सहाध्यायी थे। परमर्षि भरद्वाज दोनों के शिष्य थे। भिषग्विद्या की दिशा में इन दोनों आचार्यों को संसार के सर्वोच्च कहे जाने वाले वैज्ञानिकों की श्रेणी में रखा गया है। ब्रह्मा के मानस-पुत्र अत्रि का उल्लेख पहिले हो चुका है। आत्रेय पुनर्वसु उन्हीं के पुत्र थे। अत्रि और आत्रेय के संबंध में बौद्ध महाकवि एवं परम दार्शनिक अश्वघोष का कथन है कि जो चिकित्साशास्त्र अत्रि न लिख सके थे उसका अत्रिपुत्र ऋषि आत्रेय ने उपदेश किया।

उनकी माता का नाम चन्द्रभागा था इसीलिए उनका एक नाम चान्द्रभागि भी लिखा मिलता है। कृष्ण आत्रेय भी उनका अपर नाम था। आत्रेय के इन अपर नामों के संबंध में विद्वानों का बड़ा विवाद रहा है। आत्रेय के छह शिष्य थे: अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षीरपाणि। इन सभी ने अलग-अलग तंत्रों की रचना की।

आत्रेय पुनर्वसु आयुर्वेदशास्त्र के एक असामान्य आचार्य हुए हैं। आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थों में उनके पांडित्य और उनके कृतित्व का यश सर्वत्र देखने को मिलता है।

'अष्टांगसंग्रह' में लिखा है कि पुनर्वसु आदि ने देवराज इंद्र से अष्टांग-आम्नाय का ज्ञान प्राप्त कर लोकप्रिय तंत्र-ग्रन्थों की रचना की थी। 'काश्यप संहिता' से भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि पुनर्वसु आत्रेय ने अपने पिता अत्रि से आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी। आत्रेयकृत 'आयुर्वेदसंहिता' के संबंध में विद्वानों ने विस्तार से सूचनाएँ दी हैं। 'आत्रेय संहिता' के अनेक हस्तलेख, विभिन्न हस्तलेख-संग्रहों में आज भी सुरक्षित हैं।

इसके अतिरिक्त कविराज महोदय ने 'चरकसंहिता' में से आत्रेय के नाम

के दो नये योग खोज निकाले हैं, जिनमें प्रथम बल तैल का उल्लेख 'चरक' चि० २८।१४८–१५६ और दूसरा अमृताद्य तैल 'चरक' चि० २८।१५७–१६४ में उल्लिखित है। अब तक आत्रेय के लगभग तीस योगों का पता लगा है।

कायचिकित्सा का विकास

कायचिकित्सा के आचार्यों की परम्परा में अग्निवेश का नाम बड़े महत्त्व का है। 'भागवत' में अग्निवेश को देवदत्त का पुत्र तथा अग्नि का अवतार कहा गया है। 'मत्स्यपुराण' में अंगिरा गोत्र के अंतर्गत अग्निवेश्य नाम आया है। 'चरकसंहिता' में इनका एक जगह तो वह्निवेश और दूसरी जगह हुताशवेश दो पर्यायवाची नाम दिए गए हैं। इतिहासकारों ने इन्हें अग्नि का पुत्र माना है। पुनर्वसु आत्रेय से इन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। 'महाभारत' में लिखा है कि अग्निवेश ने ऋषि भरद्वाज से आग्नेयास्त्र प्राप्त किया था। धनुर्वेदाचार्य द्रोण इन्हीं का शिष्य था। 'अग्निवेशतंत्र' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'नाडीपरीक्षा' नामक ग्रंथ भी इनके नाम से पाया जाता है।

भेल, अग्निवेश का ही समकालीन था। आयुर्वेद की दो बृहत् परिषदों में इनके सम्मिलित होने का उल्लेख मिलता है। एक बार तो वह गार्ग्य, माठर, आत्रेय पुनर्वसु, पाराशर्य तथा कश्यप आदि विद्वानों की परिषद् में सम्मिलित हुआ था और दूसरी बार उसका नाम बडिश, शौनक, खण्डकाप्य, पराशर, भरद्वाज एवं कश्यप के साथ मिलता है। पुनर्वसु या कृष्ण आत्रेय उसका गुरु था। कायचिकित्सा पर इन्होंने एक तंत्रग्रन्थ की रचना की थी। 'भेलसंहिता' इनका प्रमुख ग्रन्थ है, जिसके अनेक हस्तलेख उपलब्ध हैं। इसकी तेलगु लिपि में १६५० ई० की लिखी हुई एक प्रति राजकीय पुस्तकालय तंजौर में है। इस संबंध में अब अधिक सामग्री उपलब्ध है, जिसके आधार पर इस संहिता-ग्रन्थ का संस्कार होकर अधिक प्रामाणिक संस्करण निकाला जा सकता है।

पराशर का संकेत भेल के प्रसंग में ऊपर किया जा चुका है। पराशर के सम्बन्ध में इतिहासकार बहुत समय तक बड़ी द्विविधा में रहे। श्री प्रफुल्लचंद्र दे, डॉ० हार्नलि, श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय आदि

विद्वानों को यह भ्रांति हुई कि सुश्रुत तथा वृद्धसुश्रुत, वाग्भट तथा वृद्ध वाग्भट और पराशर तथा वृद्धपराशर दो-दो व्यक्ति थे। मुखोपाध्याय जी ने दो पराशर लिखे हैं: एक कृष्णद्वैपायन का पिता और दूसरा पुनर्वसु का शिष्य। किन्तु सारे भारतीय वाङ्मय में केवल एक ही पराशर हुआ: पुनर्वसु का शिष्य, कृष्णद्वैपायन का पिता और शक्ति का पुत्र। उसका वंशक्रम इस प्रकार है:
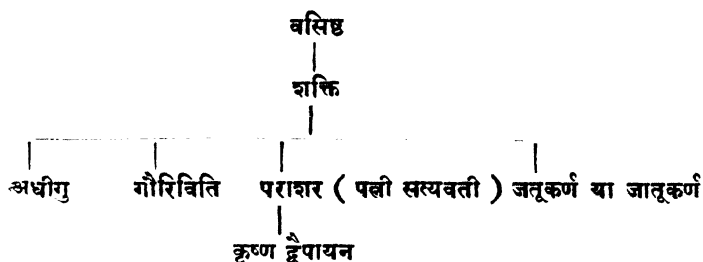
पराशर के बृहत्पाठ को ही 'वृद्धपराशर' कहते हैं। इसी प्रकार एक 'वृद्ध अमरकोश' भी था। आयुर्वेदीय 'पराशरतंत्र' और 'भेलतंत्र' एक ही समय की रचनाएँ हैं, जिसमें 'पराशरतंत्र' श्रेष्ठ था। 'हस्ति आयुर्वेद', 'गोलक्षण' और 'वृक्षायुर्वेद' नामक पराशर के आयुर्वेदविषयक तीन ग्रंथों का और उल्लेख हुआ है।

जतूकर्ण इसी परंपरा के आचार्य हुए। 'वायुपुराण' के (१।१०) एक उल्लेख के आधार पर श्री रामचन्द्र दीक्षित ने जतूकर्ण को वशिष्ठ का पौत्र माना है। इस दृष्टि से वह शक्ति का पुत्र एवं पराशर का अनुज ठहरता है। वह अग्निवेश, भेल और शालिहोत्र का समकालीन था। पुनर्वसु आत्रेय, पराशर और वाष्कल उसके गुरु थे। जतूकर्ण की 'आयुर्वेदीय संहिता' काय-चिकित्सा पर थी, जो उपलब्ध नहीं है। उसके उद्धरण ही विद्वानों को मिले हैं।

हारीत ऋषि, चक्रवर्ती सम्राट् मांधाता की चौथी पीढ़ी में हुआ। आत्रेय पुनर्वसु और भिक्षु पंचशिख उसके गुरु थे। शालिहोत्र के वचनानुसार हारीत सर्वलोक-चिकित्सक था। उसकी 'आयुर्वेदीय संहिता' भी कायचिकित्सा पर थी। उसके कुछ उद्धरण ही आज मिलते हैं। कलकत्ता से मुद्रित 'हारीत-संहिता' इनकी नहीं है। श्री गिरीन्द्रनाथ जी ने 'हारीतसंहिता' के पाँच हस्तलेखों का हवाला दिया है।

क्षारपाणि, आत्रेय पुनर्वसु का छठा शिष्य था। उसने कायचिकित्सा पर 'क्षारपाणितंत्र' की रचना की थी। उसके अनेक उद्धृत अंशों का पता लगा है।

मर्त्यलोक को शालाक्यतंत्र का प्रथम ज्ञान निमि ने दिया, यतः उसे आद्यभिषक् कहा गया। निमि का वंश अनेक ग्रन्थों में लिखा मिलता है। तदनुसार निमि का पुत्र मिथि और मिथि का पुत्र जनक हुआ। जनक के बाद इस वंश में 'जनक' की उपाधि वाले अनेक राजा हुए। निमि ने एक तंत्रग्रन्थ की रचना की थी। वह शालाक्यतंत्र पर था।

कराल, विदेहों का वंशज था। भ्रमवश मुखोपाध्याय जी ने कराल के लिए कराल भट्ट कहा है, जो वस्तुतः भद्रशौनक होना चाहिए था। भद्रशौनक का परिचय आगे दिया जायगा। निमि, कराल का गुरु था। उसने भी एक शालाक्तंत्र की रचना की थी। इसी प्रकार भद्रशौनक ने भी एक तंत्रग्रंथ लिखा था। इसके अतिरिक्त उसने लगभग छह ग्रन्थ और लिखे।

आचार्य कांकायन बाह्लीक देश का था, जिसकी गणना वहाँ के तत्सामयिक उच्चकोटि के भिषकों में की जाती थी। अपने समय का वह बड़ा प्रभावशाली विद्वान् था। उसके अनेक शिष्य थे। शालाक्य विषय पर लिखे उसके तन्त्र-ग्रन्थ के तीन वचन श्री गिरीन्द्रनाथ जी ने उद्धृत किए हैं; और उनके अतिरिक्त चौथा वचन श्री कविराज जी ने। वह मंत्रद्रष्टा एवं सूत्रकार भी था। उसकी गणना प्रमुख शालाक्यतंत्रकारों में की गई है।

गार्ग्य भी शालाक्यतंत्रकार था। गार्ग्य नाम से अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है : दृप्त बालाकि गार्ग्य, शौशिरायण गार्ग्य, शौर्यमणि गार्ग्य और ऊर्ध्ववेणीकृत गार्ग्य। एक गार्ग्य 'चरक' के सूत्रस्थान में भी स्मृत है। 'सुश्रुत' के प्रामाणिक टीकाकार डल्हण के मतानुसार गार्ग्य, धन्वंतरि का शिष्य था। वह अंगिरा और कांकायन का समकालीन था। यदि वैद्य, वैयाकरण और निरुक्तकार गार्ग्य एक ही था तो उसको पाणिनि, बल्कि यास्क से भी पहिले का होना चाहिए। गार्ग्य के शालाक्यतंत्र के कुछ उद्धरण मिलते हैं, जिनसे उसके ग्रन्थ की सत्यता का पता लगता है।

व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता, बाभ्रव्यगोत्रीय एवं पांचालदेशीय गालव 'सुश्रुत' के टीकाकार डल्हण के मतानुसार धन्वंतरि का शिष्य था। हिमालय के निकट आयोजित ऋषि-सम्मेलन में गालव भी उपस्थित था। उसको सर्वलोकचिकित्सक के रूप में भी स्मरण किया गया है। वह अनेक ग्रंथों का रचयिता था। डल्हण ने उक्त प्रसंग में बताया है कि गालव बाभ्रव्य ने एक 'शालाक्यतंत्र' की रचना की थी। आधुनिक विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं।

सात्यकि वृष्णिवंशीय एवं श्रीकृष्ण का भाई था। उसको कवि, सेनापति और आयुर्वेदज्ञ बताया गया है। वह धनुर्विद्या में भी निपुण था। अर्जुन से उसे धनुर्विद्या का ज्ञान प्राप्त हुआ था। 'चरकसंहिता-व्याख्या' और 'सुश्रुत-संहिता-व्याख्या' में सात्यकि के शालाक्यतंत्रविषयक वचनों का उल्लेख हुआ है। इनके ११ वचन गिरीन्द्रनाथ जी ने भी एकत्र किए हैं।

शल्यचिकित्सा

शल्यचिकित्सा का पहिला उपदेशक दिवोदास धन्वंतरि हुआ। उसने अपने सात सुयोग्य शिष्यों को इस उपयोगी ज्ञान में दीक्षित किया और उन शिष्यों द्वारा, आयुर्वेद की शल्यचिकित्सा-पद्धति लोक में विश्रुत हुई। धन्वंतरि के उन लोकहितकारी सात शिष्यों में सुश्रुत ही एक ऐसा है, जिसका तंत्र आज उपलब्ध है।

आचार्य सुश्रुत, महर्षि विश्वामित्र का पुत्र था। महाराज गाधि उसके पितामह थे। सुश्रुत ऋषिस्थानीय माना गया है। राजगुरु हेमराज और श्री प्रफुल्लचन्द्र रे को इसमें संदेह था कि विश्वामित्र, सुश्रुत का पिता था; बल्कि राजगुरु का तो यहाँ तक कहना है कि सुश्रुत, ऋषि शालिहोत्र का पुत्र था। ऋषि सुश्रुत एवं उनकी संतति का उल्लेख वाग्भट, कात्यायन, और पाणिनि आदि ने किया है। अतः वह इनसे पहिले हुआ। कविराज दिवोदास धन्वंतरि, सुश्रुत का गुरु था। धन्वंतरि से प्राप्त शल्यमूलक आयुर्वेद-ज्ञान को सुश्रुत ने तंत्ररूप में उपनिबद्ध किया। वह तंत्र, 'सुश्रुतसंहिता' के नाम से संप्रति उपलब्ध है।

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि 'सुश्रुतसंहिता' के उत्तरतंत्र का रचयिता कोई दूसरा ही व्यक्ति था। किन्तु यह धारणा असत्य है। हाँ, यह बात सत्य है कि 'सुश्रुतसंहिता' का प्रतिसंस्कार हुआ था। 'सुश्रुतसंहिता' के प्रारंभ में डल्हण का कथन है कि नागार्जुन ने उसका प्रतिसंस्कार किया। यही बात 'सुश्रुतसंहिता' और उसकी गणदास-विरचित 'न्यायचंद्रिका-व्याख्या' में भी लिखी हुई मिलती है।

हार्नलि तथा गिरीन्द्रनाथ जी ने सुश्रुत और वृद्धसुश्रुत नाम से दो व्यक्तियों की होने की संभावना की है और वृद्धसुश्रुत को 'संहिता' के उत्तरतंत्र का रचयिता ठहराया है; किन्तु वृद्धसुश्रुत व्यक्ति का नाम न होकर 'संहिता' का ही नाम था।

सुश्रुत के ही समकालीन औपधेनव नामक एक आचार्य और हुए हैं। वे धन्वंतरि के शिष्य और सुश्रुत के सहाध्यायी थे। शल्यचिकित्सा पर उन्होंने 'औपधेनव' नामक एक तन्त्र-ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका उल्लेख 'सुश्रुतसंहिता' में मिलता है। सुश्रुत और औपधेनव के सहतीर्थ, एवं धन्वंतरि के शिष्यों में उरभ्र पौष्कलावत, करवीर्य, वैतरण आदि ने भी शल्यचिकित्सा पर तंत्र-ग्रंथों की रचना की थी। औरभ्र और पौष्कलावत को प्रसिद्ध तंत्रकारों के रूप में 'सुश्रुतसंहिता' के उक्त प्रसंग में स्मरण किया गया है। 'अष्टांग-संग्रह' की 'इंदुटीका' में आचार्य उरभ्र के नाम से १० श्लोक उद्धृत किए गए हैं। पुष्कलावत का एक वचन 'अष्टांगसंग्रह' में और पाँच वचन श्री गिरीन्द्रनाथ जी की पुस्तक में उद्धृत हैं। इसी प्रकार करवीर्य के सम्बन्ध में भी टीकाकार डल्हण ने एक शल्यतंत्र का उल्लेख किया है। गिरीन्द्रनाथ जी की पुस्तक में भी उसके तंत्रग्रंथ का एक वचन उद्धृत है। वैतरणतंत्र के तीन वचन भी गिरीन्द्रनाथ जी की पुस्तक में संकलित हैं। उसके कुछ वचनों को कविराज जी ने भी उद्धृत किया है।

शल्यचिकित्सा के प्राचीन आचार्यों में भोज का नाम भी उल्लेखनीय है। इनका यह वास्तविक नाम न होकर जातीय नाम है, क्योंकि यादवों की ही एक जाति का नाम भोज था। भोज और उनके शल्यतंत्र का इतिहास बतानेवाले

पहिले विद्वान् कविराज हैं। भोज का ही समकालीन भालुकि था। उसके तंत्रग्रंथ के वचन अनेक ग्रंथों में उद्धृत एवं संकलित हैं।

श्रीकृष्ण का परममित्र तथा सात्यकि का सहयोगी महाभारतकालीन आचार्य दारुक ने शल्यचिकित्सा पर 'आयुर्वेदावतार' ग्रंथ लिखा। 'चरकसंहिता' के अन्तिमांशों का संस्कर्ता दृढबल था। उसके पिता कपिबल ने भी इस विषय पर कोई ग्रन्थ लिखा था। हार्नलि साहब ने इनका समय सातवीं-नौवीं शती के बीच रखा था; किन्तु भगवद्दत्त जी ने सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि कपिबल 'चरकसंहिता' के प्रसिद्ध टीकाकार भट्टारक हरिश्चंद्र के पूर्ववर्ती थे।

कौमारभृत्यचिकित्सा

आयुर्वेद के इस अंग के सम्बन्ध में अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध की पुरातन सूचना इतनी भर मिलती है कि आचार्य जीवक ने प्रजापति कश्यप से इस तंत्र का ज्ञान प्राप्त कर उसका विकास किया।

च्यवन, वाल्मीकि च्यवन के वंशज ऋचीक ऋषि का पुत्र था। इस सम्बन्ध में इतना और जान लेना चाहिए कि भार्गव जीवक, महाराज बिम्बिसार का पुत्र प्रसिद्ध बौद्ध वैद्य जीवक से भिन्न था। जीवक के सम्बन्ध में 'काश्यपसंहिता' एक मनोरंजक विवरण प्रस्तुत करती है। उसमें लिखा है कि 'महर्षि कश्यप ने पितामह ब्रह्मा की आज्ञा से ज्ञानचक्षु द्वारा देख कर, तपोबल से अपने 'कुमारतंत्र' की रचना की; उसी ने इसका संक्षेप भी किया। परन्तु बालक द्वारा उपदिष्ट समझ कर, मुनियों ने इस तंत्र का स्वागत नहीं किया। पाँच वर्ष के जीवक को ऋषियों की यह प्रवृत्ति समझ में आई। उसने सब ऋषियों के सामने कनखल (हरिद्वार के निकट) के गंगाह्रद में अपने को निमग्न कर दिया। क्षण भर में ही वह दाढ़ी-मोछ एवं फूले हुए बालों को धारण कर प्रकट हुआ। यह देख ऋषिमंडली विस्मित हुई। तभी से उसका नाम वृद्धजीवक पड़ा'।

संप्रति उपलब्ध 'काश्यपसंहिता' अथवा 'वृद्धजीवकतंत्र' प्रजापति

काश्यप के उपदेशस्वरूप जीवक को प्राप्त हुआ था। वात्स्य ने उसका प्रतिसंस्कार किया।

कौमारभृत्यचिकित्सा पर तंत्रग्रन्थकारों की परम्परा में जीवक के बाद पार्वतक, बंधक और रावण का नाम उल्लेखनीय है। पार्वतक और बंधक का कोई इतिहास विदित नहीं है। 'कुमारतंत्र' के कर्ता रावण को गिरीन्द्रनाथ जी ने प्रसिद्ध लंकेश्वर माना है। वैदिक ग्रंथों पर लिखा 'रावण-भाष्य' संप्रति उपलब्ध है। यह भाष्यकार लंकेश्वर रावण ही वैद्य रावण था, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कविराज जी ने वैद्य रावण को लंकेश्वर रावण से अर्वाचीन बताया है। रावण के नाम से 'बाल-तंत्र', 'बालचिकित्सा', 'नाडीपरीक्षा', 'अर्कप्रकाश' और 'उड्डीशतंत्र' आदि वैद्यक ग्रंथ उपलब्ध हैं।

अगदतंत्र

विविध विषों के शांति का उपाय बताने वाला तंत्र अगदतंत्र कहलाता है। अगदतंत्र के पहिले आचार्य काश्यप, उशना और बृहस्पति हुए हैं, जिनके जीवन एवं कृतित्व पर पहिले प्रकाश डाला जा चुका है।

आलम्बायन इस परंपरा के चौथे आचार्य हुए। यजुर्वेद के चरक-चरण का शाखाकार आलम्बि का पुत्र ही आलम्बायन था। 'महाभारत' में भी इसका नाम आया है। अतएव वह भारत-युद्ध से पहिले, अथ च, महाभारतकालीन व्यक्ति था।

डल्हण के 'निबन्धसंग्रह' में 'आलंबायनतंत्र' के कई वचन उद्धृत हैं। आलम्बायन के चार वचनों का उद्धरण गिरीन्द्रनाथ जी ने भी दिया है। अगदतंत्र के आचार्य दारुवाह का जन्म गांधार के राजवंश में हुआ। उसका दूसरा नाम नाग्नजित् भी था। वह निमि का समकालीन था और आत्रेय पुनर्वसु और प्रजापति कश्यप से उसने इस विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था। उसके तंत्र-ग्रन्थ के उद्धरण कई ग्रन्थों में मिलते हैं।

'महाभारत' के आदिपर्व में वर्णित जरत्कारु एवं मनसा देवी का पुत्र आस्तीक नागवंशीय था। उसने भी अगदविद्या पर एक तंत्रग्रंथ का निर्माण

किया था, जिसके आज उद्धरण ही मिलते हैं। इस परंपरा में अज्ञात नाम लेखकों की कृतियों में 'तार्क्ष्यतंत्र', 'विषतंत्र', 'अगदराजतंत्र' आदि के नाम मिलते हैं।

रसायनतंत्र

दीर्घायु जीवन की विधियाँ बताने वाला आयुर्वेद का एक अंग रसायन तंत्र के नाम से कहा जाता है। भारतीय इतिहास में योगबल या रसायन-विद्या से लम्बी आयु बिताने वाले ऋषि-मुनियों का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। रसतंत्र के कर्ता शिव, भृगु, अगस्त्य और वशिष्ठ आदि पुरातन आचार्यों का परिचय पहिले दिया जा चुका है। उनके अनन्तर इस परंपरा में आचार्य माण्डव्य का नाम उल्लेखनीय है। माण्डव्य के व्यक्तित्व का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में देखने को मिलता है। कहा नहीं जा सकता है कि यह उल्लेख एक ही माण्डव्य का है अथवा उस नाम के दूसरे व्यक्तियों का। किन्तु इतना निश्चित है कि वह दीर्घायु था। वसिष्ठ उसका गुरु था। नागार्जुन के 'रस-रत्नाकर' में माण्डव्य को रसतंत्रकार कहा गया है। उसका कोई भी तंत्र-विषयक ग्रन्थ अथवा वचन नहीं मिलता है।

आचार्य व्याडि भी रसतंत्रकार थे। संग्रहकार के रूप में व्याडि का व्यक्तित्व व्याकरण के क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। वह पाणिनि का मामा था। वाग्भट के 'रसरत्नसमुच्चय' के आदि में जिन शीर्षस्थ २७ रसाचार्यों का उल्लेख किया गया है उनमें व्याडि भी एक है। रसाचार्य के रूप में इसके अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं विदित होता है।

वैयाकरण पतंजलि का पूरा परिचय व्याकरणशास्त्र के प्रकरण में दिया जा चुका है। चक्रपाणि तथा भोजदेव के उल्लेखों का जिक्र करते हुए हम यह बता चुके हैं कि पतंजलि का एक नाम चरक भी था। उसी ने 'चरकसंहिता' का प्रतिसंस्कार किया। वाग्भट के 'रसरत्नसमुच्चय' नामक जिस ग्रन्थ की चर्चा हमने ऊपर व्याडि के प्रसंग में की है, उसमें गिनाए गए रसाचार्यों में पतंजलि भी एक है। महाभाष्यकार, योगसूत्रकार और चरक का संस्कर्ता एक ही व्यक्ति था।

सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य नागार्जुन रसायनतंत्र की निर्मातृ आचार्य-परंपरा में प्रमुख हैं। उसकी जीवनी और कृतित्व के संबंध में कविराज जी ने, दूसरे विद्वानों की भूलों का संस्कार करते हुए, विस्तार से प्रकाश डाला है। नागार्जुन के आयुर्वेदसंबंधी ग्रन्थों के नाम हैं: 'लौहशास्त्र', 'रसरत्नाकर', 'कक्षपुट', 'आरोग्यमंजरी', 'योगसार', 'रसेंद्रमंगल', 'रतिशास्त्र', 'रसकच्छपुट' और 'सिद्धनागार्जुन'। इनमें अधिकांश ग्रन्थ हस्तलेखों के रूप में हैं।

आयुर्वेदशास्त्र के विकास की रूपरेखा

आत्रेय पुनर्वसु आयुर्वेदशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य थे, जो कि वैद्यकशास्त्र के दूसरे आचार्यों: कृष्णात्रेय तथा भिक्षु आत्रेय के समकालीन तक्षशिला विद्यापीठ के गौरवशाली युग में हुए, और बौद्ध आलेखों के अनुसार जो तथागत के पूर्ववर्ती सम्भवतया ६०० ई० पूर्व से भी पहिले हुए। आयुर्वेद-शास्त्र के प्राचीन एवं संमान्य आचार्य अग्निवेश इन्हीं के शिष्य थे। आचार्य आत्रेय ने अपने शिष्य आचार्य अग्निवेश को आयुर्वेद का ज्ञान प्रदान किया; और अग्निवेश से चरक ने आयुर्वेद की ज्ञान-विरासत को प्राप्त कर उसको ग्रन्थ रूप में निबद्ध किया, जिसका नाम कि 'चरकसंहिता' है। आचार्य चरक का यह ग्रन्थ आचार्य अग्निवेश के वैद्यक ग्रन्थ का ही प्रतिसंस्करण था। आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थों में 'चरकसंहिता' ही सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। 'चरकसंहिता' का एक अनुवाद अरबी में ८०० ई० के लगभग हुआ था और इससे भी पूर्व उसका एक अनुवाद फारसी में हो चुका था। आचार्य चरक गांधारवासी (पश्चिमी सीमाप्रांत के) थे और उनका समय प्रथम शताब्दी ईसवी के आस-पास था। वैदिक युग में भी एक संप्रदाय 'चरक' के नाम से विख्यात था। वैद्य चरक सम्भवतः उसी सम्प्रदाय-परम्परा में से एक थे। वे सम्राट् कनिष्क के समय में हुए।

एक प्राचीन आचार्य दृढबल नाम के हुए, जिनका पूरा नाम दृढबल वाग्भट था। इन्होंने चरक के उक्त ग्रंथ में आचार्य सुश्रुत के वैद्यक ग्रंथ का कुछ हिस्सा मिलाकर उसका पुनः संस्करण किया। दृढबल आचार्य का समय पाँचवीं-छठी शताब्दी था। आयुर्वेद का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सुश्रुतसंहिता'

है, जिसका ठीक समय निश्चित नहीं है ; किन्तु आठवीं-नवीं शताब्दी तक जिसकी ख्याति विदेशों तक पहुँच चुकी थी। सुश्रुत, आचार्य धन्वन्तरि के शिष्य और आचार्य चरक के परवर्ती थे। 'सुश्रुतसंहिता' का पहिला संस्करण नागार्जुन (शून्यवादी नागार्जुन से भिन्न) ने और दूसरा वाग्भट ने किया। संप्रति जो 'चरकसंहिता' हमें उपलब्ध है, वह वाग्भट कृत पुनः संस्करण ही है। दृढबल वाग्भट का एक नाम दृढबल पांचनद भी था। इस 'पांचनद' शब्द के आधार पर श्री विद्यालंकार जी ने वाग्भट को पंजाब की नदियों के अंतिम संगम पर स्थित एक बस्ती का रहने वाला बताया है। इसी प्रकार के प्राचीन ग्रन्थों में 'काश्यपसंहिता', 'नावनीतक' और वृद्धजीवक का 'वृद्धजीवकीय' उल्लेखनीय हैं।

सिंहगुप्त के पुत्र आचार्य वाग्भट (६ ठी शता०) ने 'अष्टांगहृदय' एवं 'अष्टांगसंग्रह' दो ग्रन्थ लिखे। 'योगसार' और 'योगशास्त्र' दोनों ग्रंथों का लेखक रासायनिक नागार्जुन माना जाता है। कुछ विद्वान् बौद्ध नैयायिक नागार्जुन, रासायनिक नागार्जुन को एक ही व्यक्ति मानते हैं ; किन्तु अब इस बात के यथेष्ट प्रमाण मिल चुके हैं कि दोनों व्यक्ति अलग-अलग थे। इसी परंपरा में इन्दुकर के पुत्र आचार्य माधवकर (८वीं श०) ने 'रुग्विनिश्चय' (माधवनिदान), एक अज्ञातकालीन लेखक वृन्द ने 'वृन्दमाधव', वंगदेशीय विद्वान् चक्रपाणिदत्त (११वीं श०) ने तथा वंगसेन (११वीं श०) दोनों ने एक ही नाम के दो 'चिकित्सासार' ग्रंथ लिखे। चक्रपाणिदत्त ने 'सुश्रुत' और 'चरक' पर टीकाएँ भी लिखीं। एक आयुर्वेद ग्रन्थ 'शार्ङ्गधरसंहिता' भी है, जिसका लेखक ग्रंथ के ही नाम से शार्ङ्गधर स्पष्ट है और जिसका स्थितिकाल १२वीं शताब्दी था। मिल्हण (१३वीं श०) ने 'चिकित्सामृत' ; वैयाकरण बोपदेव (१३वीं श०) ने 'शार्ङ्गधरसंहिता-टीका' एवं 'शतश्लोकी', तिसट (१४वीं श०) ने 'चिकित्सा-कलिका', भावमिश्र (१६वीं श०) ने 'भावप्रकाश' और लोलम्बराज (१७वीं श०) ने 'वैद्यजीवन' लिखकर आयुर्वेदशास्त्र की परम्परा को प्रशस्त किया।

आयुर्वेद में रासायनिक विषय पर लिखे गए ग्रन्थों का अपना अलग स्थान है। इस विषय पर पहिला ग्रंथ नागार्जुन का 'रसरत्नाकर' और उसके

बाद के ग्रन्थों में वाग्भट का 'रसरत्नसमुच्चय' और नित्यनाथकृत 'रसरत्नाकर' आदि का नाम उल्लेखनीय है।

इसी प्रकार अश्व-चिकित्सा पर गण के 'अश्वलक्षण', 'हयलीलावती', 'अश्वायुर्वेद' (सिद्धयोगसंग्रह), जयदत्त एवं दीपंकर का संयुक्त ग्रंथ 'अश्ववैद्यक', वर्धमानकृत 'योगमंजरी', नकुलकृत अश्वचिकित्सा पर 'शालिहोत्र', धारानरेश भोज का 'शालिहोत्र' और सुखानन्द या चित्सुखाचार्य का 'अश्वशास्त्र' प्रमुख है। पालकाप्यकृत 'गजचिकित्सा', 'गजायुर्वेद', 'गजदर्पण', 'गजपरीक्षा' और बृहस्पति कृत 'गजलक्षण' तथा 'गो-वैद्यशास्त्र' भी इसी परम्परा के ग्रन्थ हैं।

वैद्यकशास्त्र के कोश-ग्रंथों की भी समृद्ध परम्परा रही है। इस कोटि के कोशग्रन्थों में 'धन्वन्तरीय निघण्टु' (अज्ञातकालीन), सुरेश्वर (११वीं श०) कृत 'शब्दप्रदीप', नरहरि (१३वीं श०) का 'राजनिघण्टु', मदनपाल (१४वीं श०) का 'मदनविनोद-निघण्टु' और एक अज्ञात लेखक का 'पथ्यापथ्यनिघण्टु' का नाम उल्लेखनीय है।

इसी परम्परा में लिखा हुआ पण्डित हंसदेव का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'मृगपक्षिशास्त्र' है। इस विलक्षण ग्रन्थ में शेरों के विभिन्न भेदों का बड़ी बारीकी से वर्णन किया गया है और साथ ही व्याघ्र, भालू, हाथी आदि वन्य प्राणियों तथा गरुड़, हंस, बाज आदि नभचारी पक्षियों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन दिया गया है। प्रस्तुत पुस्तक की प्राप्ति का श्रेय तिरुपतिवास्तव्य (मद्रास) पुरातत्त्वज्ञ विद्वान् पण्डित वी० विजयराघवाचार्य को है।

धर्मशास्त्र

स्मृतियों का निर्माण

स्मृतियों का निर्माण हिन्दू-धर्म की चरमोन्नति का सूचक है। 'श्रुति' और 'स्मृति' ये दोनों शब्द व्यापक अर्थ के पर्यायवाची शब्द हैं। श्रुति से जिस प्रकार वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रन्थों का बोध होता है, जिनका वर्णन हम विस्तार से वैदिक साहित्य के प्रसंग में कर आए हैं, ठीक उसी भाँति, स्मृति शब्द के अन्तर्गत षड्वेदांग, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र, इतने सभी विषयों का अन्तर्भाव हो जाता है। श्रुति और स्मृति का यही व्यापक अर्थबोध है। विशिष्ट रूप से स्मृति शब्द को, बाद के ग्रंथकारों ने धर्मशास्त्र का पर्यायवाची मान लिया; किन्तु 'श्रुति' के साथ जहाँ भी 'स्मृति' शब्द को संयुक्त करके कहा जाता है, वहाँ उसका अर्थ धर्मशास्त्र तक ही सीमित न रह कर वह व्यापक अर्थ का बोध कराता है। धर्मशास्त्र उस शास्त्र को कहते हैं; जिसमें राजा-प्रजा के अधिकार, कर्तव्य, सामाजिक आचार-विचार, व्यवस्था, वर्णाश्रमधर्म, नीति, सदाचार और शासन-संबंधी नियमों की व्यवस्था का वर्णन होता है।

पुराणों और उपपुराणों की संख्या की भांति स्मृतियाँ भी अनेक थीं; किन्तु अष्टादश महापुराणों की तरह प्रमुख स्मृतियों की संख्या अठारह मानी जाती है। इन अठारह स्मृतियों के निर्माता हुए : १. मनु, २. याज्ञवल्क्य, ३. अत्रि, ४. विष्णु, ५. हारीत, ६. उशनस्, ७. अंगिरा, ८. यम, ९. कात्यायन, १०. बृहस्पति, ११. पराशर, १२. व्यास, १३. दक्ष, १४. गौतम, १५. वशिष्ठ, १६. नारद, १७. भृगु और १८. अंगिरा।

इन स्मृतिकारों के स्मृतिग्रंथ आज अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं हैं। मानव 'धर्मशास्त्र' इस विषय का सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ था। मनु को मानव-जाति के आदि पुरुष के रूप में संहिता और ब्राह्मण आदि ग्रंथों में स्मरण किया जाता है। इस दृष्टि से मनु के व्यक्तित्व की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। 'मानव धर्मशास्त्र' के कुछ अंश प्राचीनतम ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। संप्रति 'मनु-स्मृति' के नाम से जो स्मृति-ग्रंथ उपलब्ध है, उससे 'मानव-धर्मशास्त्र' के प्राप्तांश बिल्कुल भी मेल नहीं खाते हैं। इस दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि बहुत संभव है कि वर्तमान 'मनुस्मृति' की रचना 'मानव-धर्मशास्त्र' के सूत्रों के आधार पर की गई हो।

'मनुस्मृति' अपने मूलरूप में 'मानव-धर्मशास्त्र' की प्रामाणिकता को बताने में भले ही असमर्थ हो; किन्तु आज जितने भी स्मृति-ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें उसको अन्तिम प्रमाण माना गया है। बहुत-सी स्मृतियाँ केवल उसी के निर्देशों को हेर-फेर कर लिखी गई मानी जाती हैं।

स्मृतियों की प्राचीनतम परम्परा

'मनुस्मृति' में जिन सामाजिक विषयों की व्याख्या वर्णित है, उन्हीं से मिलते-जुलते कुछ विषयों पर 'महाभारत' भी प्रकाश डालता है। 'महाभारत' के शांतिपर्व में देवश्रेष्ठ ब्रह्मा द्वारा एक ऐसे 'नीतिशास्त्र' की रचना का उल्लेख है, जिसमें एक लाख अध्याय थे। ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त इस 'नीतिशास्त्र' में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों की विस्तृत व्याख्या वर्णित थी। महा-भारतकार का कथन है कि युग-परिवर्तन एवं आयुःक्षय के हिसाब से भगवान् शंकर ने उक्त 'नीतिशास्त्र' को दस हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया और महाव्रती इन्द्र ने उस दस हजार अध्यायों वाले 'वैशालाक्ष' नीतिशास्त्र को पुन: पाँच हजार अध्यायों में संक्षिप्त कर उसका नाम 'बाहुदन्तकशास्त्र' रखा। यही शास्त्र आगे चलकर 'बार्हस्पत्यशास्त्र' के नाम से अभिहित हुआ। उसी को अद्भुत प्रतिभाशाली विद्वत्श्रेष्ठ शुक्राचार्य ने एक हजार अध्यायों में नियमित किया और तदनंतर विभिन्न ऋषि-मुनियों ने मनुष्यों की अल्पायु के अनुसार शुक्राचार्य के शास्त्र को युग के हिसाब से और भी संक्षिप्त किया।

'महाभारत' के इस विवरण से विदित होता है कि सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा द्वारा विहित एक लाख अध्यायों वाला 'दण्डनीति' ग्रंथ माहेश्वर को ही विदित रहा होगा। शंकर ने जिस दस हजार वाले 'वैशालाक्ष' ग्रंथ की रचना की उसकी जानकारी देव-गण को रही होगी। देवश्रेष्ठ इन्द्र द्वारा विहित 'बाहुदन्तक' ग्रंथ ही भीष्मपितामह के युग में 'बार्हस्पत्यशास्त्र' से प्रसिद्ध हुआ। इसी के आधार पर शुक्र ने एक हजार अध्यायों वाले 'औशनसी-नीति' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया, संभवतः 'शुक्रनीति' ही जिसका संस्करण रहा हो।

इधर मनु, वशिष्ठ और विष्णु प्रभृति ऋषिप्रवरों के सूत्र-ग्रंथ पितामह ब्रह्मा की 'दण्डनीति' पर आधारित रहे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं है। 'महाभारत' में जो सूची दी गई है, वह इतनी सर्वव्यापी है कि उसमें धर्मशास्त्र के अन्तर्गत अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, शिल्पशास्त्र और रसायनशास्त्र आदि विषयों तक का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

स्मृतियों के संबंध में अलबेरूनी का कथन है कि वे वेदों से उद्भूत हैं। उनको ब्रह्मा के बीस पुत्रों ने रचा, जिनके नाम हैं : १. आपस्तंब, २. पराशर, ३. शतपथ (शातातप ?), ४. सामवर्त, ५. दक्ष, ६. वसिष्ठ, ७. अंगिरस्, ८. यम, ९. विष्णु, १०. मनु, ११. याज्ञवल्क्य, १२. अत्रि, १३. हारीत, १४. लिखित, १५. शंख, १६. गौतम, १७. बृहस्पति, १८. कात्यायन, १९. व्यास और २०. उशनस्। देवल, शुक्र, भार्गव, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य, और मनु इनको अलबेरूनी ने व्यास के छह स्मृतिकार शिष्य कहा है।

अलबेरूनी का यह गणनाक्रम भले ही इतिहास-संमत न हो; किन्तु इतना निश्चित है कि स्मृतियों की मूल बातों पर पुरातन ऋषि-संप्रदायों में ही विचार-विमर्श होने लग गया था। ये विचार धर्मसूत्रों के रूप में प्रकट हुए और इन्हीं धर्मसूत्रों के आधार पर स्मृतियों की रचना हुई।

वसिष्ठकृत जो 'धर्मसूत्र' संप्रति उपलब्ध है, उसकी रचना 'महाभारत' युग में हुई। इस दृष्टि से कहा नहीं जा सकता है कि यह किस वसिष्ठ की रचना है। प्रजापति कश्यप ने भी संभवतः धर्मशास्त्र पर एक सूत्रग्रंथ लिखा था। इन सूत्रों के कुछ अंश विश्वरूप आदि की प्राचीन टीकाओं में

उद्धृत हुए मिलते हैं। 'बौधायन धर्मसूत्र' में भी काश्यपीय धर्मसूत्रों के वचन उद्धृत हैं। आचार्य हेमाद्रि कृत 'दानखंड' (पृ० २६१) में अगस्त्य के दानविषयक श्लोक उद्धृत हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि उन्होंने धर्मशास्त्र पर भी एक ग्रंथ लिखा था।

देवगुरु बृहस्पति ने धर्मशास्त्र पर एक बृहद् ग्रंथ की रचना की थी। धर्मशास्त्र-विषयक ग्रंथों में बिखरे हुए बार्हस्पत्य धर्मशास्त्र के २३०० लगभग श्लोकों का एक संग्रह बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। इसका संपादन एवं संकलन श्री रंगास्वामी ने किया है। इस संबंध में उनका कहना है कि 'बृहस्पति स्मृति' के अधिकांश उपलब्ध वचन ईसापूर्व दूसरी शती के हैं। काणे महोदय ने धर्मशास्त्रकार बृहस्पति और अर्थशास्त्रकार बृहस्पति दो को भिन्न माना है और साथ ही स्मृतिकार बृहस्पति का समय २००–४०० ई० के बीच माना है; किन्तु इस संबंध में काणे जी ने जो प्रमाण दिए हैं, उनसे दूसरे विद्वान् असहमत हैं। कविराज जी का कथन है कि "ये दोनों लेखक भारतीय इतिहास के यथार्थ ज्ञान से शून्य हैं। बृहस्पति का धर्मशास्त्र विक्रम के ३००० वर्ष से पूर्व का है। विक्रम से १८०० वर्ष पूर्व का विद्वान् मुनि कात्यायन 'बृहस्पतिस्मृति' से परिचित था"। किन्तु कविराज जी की स्थापना भी अति-रंजित है। इसी प्रसंग में कविराज जी का यह भी कथन है कि श्री रंगास्वामी द्वारा संकलित संग्रह में बृहस्पति का एक वचन मल्लिनाथकृत 'रघुवंश' की टीका ११।२१ का नहीं दिया गया है।

'महाभारत' के शांतिपर्व से प्रतीत होता है कि मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ, इन चित्रशिखंडी सात ऋषीश्वरों ने एक 'चित्रशिखंडिशास्त्र' की रचना की थी। यह शास्त्र उन्होंने एक लाख श्लोकों में रचा था, जिसमें संपूर्ण लोकतंत्र को धर्म में प्रवृत्त करने का उपदेश था। यह शास्त्र एक प्रकार से धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ था।

'नारदस्मृति' आज दो भिन्न पाठों में उपलब्ध है। उस पर लिखा हुआ असहाय, अपरनाम विष्णुगुप्त चाणक्य के भाष्य का कुछ भाग अब भी उपलब्ध है। अतः मूल ग्रंथ निश्चित ही प्राचीन होना चाहिए। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का पुरातन टीकाकार विश्वरूप वृद्ध याज्ञवल्क्य के नाम से विश्वमित्र को उद्धृत

करता है । अनेक हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रहों में उनके धर्मशास्त्र-विषयक ग्रंथों के हस्तलेख देखने को मिलते हैं ।

सांख्यदर्शनकार कपिल के अतिरिक्त एक कपिल और हुआ, जो 'कपिलस्मृति' का रचयिता था । कहा जाता है कि उसने दस अध्यायों में यह स्मृतिग्रंथ लिखा था, जिसके प्रत्येक अध्याय में एक-एक सौ श्लोक थे । इस ग्रंथ में श्राद्ध, विवाह, प्रायश्चित्त और दत्तकपुत्र आदि विषयों का प्रतिपादन था । 'संस्कारमयूख' में एक 'कपिलसंहिता' का भी उल्लेख मिलता है । यह संहिताकार कपिल और स्मृतिकार कपिल, दोनों एक ही था, इस सम्बन्ध में निश्चय नहीं है ।

'पराशरस्मृति' सम्प्रति उपलब्ध है, यद्यपि उसमें पर्याप्त हेर-फेर है । 'महाभारत' में जनक-पराशर के संवाद से और वृद्ध भीम को पराशर के धर्मकथन-प्रसङ्ग से पराशर के स्मृतिमर्मज्ञ होने का प्रबल प्रमाण है । ऐसा प्रतीत होता है कि स्मृति की रचना पराशर ने अपने अन्तिम दिनों में की थी ।

अपरार्ककृत टीका में जातूकर्ण्य का एक श्लोक (पृ० ४२३ पर) उद्धृत है । उसमें कन्याराशि का उल्लेख है । जातूकर्ण्य के धर्मशास्त्र-विषयक वचन प्राचीन टीका-ग्रंथों में भी उद्धृत हैं । इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि श्लोकात्मिका स्मृतियाँ ईसा की तीसरी-चौथी शती में रची जाने लगी थीं ।

हारीत का एक पूर्णांग कल्पसूत्र था । उसके श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्रों के वचन अनेक ग्रंथों में बिखरे हुए मिलते हैं । उसके धर्मसूत्र के दो हस्तलेख भी उपलब्ध हो चुके हैं । प्राचीन स्मृतियों की परम्परा में 'कात्यायनस्मृति' का भी स्थान है । षड्गुरुशिष्य ने 'कात्यायनस्मृति' और भ्राजसंज्ञक श्लोकों का रचयिता वार्तिककार वररुचि कात्यायन को माना है । जो 'कात्यायन-स्मृति' आज उपलब्ध है, वह संभवतः पीछे की रचना है ।

स्मृतियों का विषय

भारतीय जनजीवन में आचार-विचार-सम्बन्धी संस्कारों की परम्परा बहुत प्राचीन है । वैदिक संहिताओं का एक बहुत बड़ा भाग इन्हीं धर्म-कर्म और आचार-विचार-विषयक बातों का ही प्रतिपादन करता है । सारा वैदिक

युग धर्मप्रधान एवं आचारप्रधान रहा है। वैदिक संहिताओं के बाद ब्राह्मण-ग्रंथों के निर्माण का प्रायः समग्र युग इन्हीं धर्म-कर्म-सम्बन्धी बारीकियों के अनुशीलन-परिशीलन करते हुए बीता है। आगे चलकर कल्पसूत्रों ने भी अपने प्रामाणिक तर्कों और परिशुद्ध विधानों द्वारा उक्त ब्राह्मण-युगीन मान्यताओं का ही समर्थन कर उन्हीं पर जोर दिया है।

हिन्दू-समाज की रचना जिस प्रकार आर्य और आर्येतर अनेक जातियों के समन्वय से पूरी हुई, उसी प्रकार उसका धर्म और उसकी संस्कृति के उद्गम स्थल भी अनेक रहे हैं। हिन्दू-धर्म अनेक धर्मों के तत्त्वों का निचोड़ है। हिन्दू-धर्म की इस समन्वयप्रधान प्रवृत्ति के कारण ही उसका निर्माण हम न तो एक ही व्यक्ति द्वारा बता सकते और न ही उसकी व्याख्या करनेवाले हम किसी एक ग्रंथ को ही उद्धृत कर सकते हैं।

असल में हजरत ईसा ने जैसे ईसाइयत का और हजरत मुहम्मद ने जैसे इस्लाम को जन्म दिया, हिन्दू-धर्म ठीक उसी प्रकार, किसी एक पुरुष की रचना नहीं है। यही कारण है कि अगर आप किसी हिन्दू से यह पूछें कि तुम्हारा धर्म-ग्रन्थ कौन-सा है, तो वह सहसा कोई एक नाम नहीं बता सकेगा। इसी प्रकार यदि आप उससे यह प्रश्न करें कि तुम्हारा अवतार, मुख्य धार्मिक नेता, नवी या पैगम्बर कौन है; तब भी किसी एक अवतार या महात्मा का नाम उससे लेते नहीं बनेगा। और यही ठीक भी है। क्योंकि हमारा धर्म न तो किसी एक महात्मा से आया और न किसी एक संप्रदाय से।

हमारी पवित्र स्मृतियाँ इसी लंबी परम्परा का जीवन्त रूप हैं। भारतीय जीवन के सुदीर्घकालीन नियमों को क्रमबद्ध रूप में संकलन करने का कार्य स्मृतियों ने किया। सैकड़ों वर्षों के कठिन अन्वेषणों के परिणामस्वरूप समाज की सुव्यवस्था के लिए जो नियम निर्वाहित होते हुए चले आ रहे थे, उनपर स्मृतियों ने अपनी मुहर लगाकर अन्तिम रूप से प्रमाणित कर दिया। भारत के धार्मिक इतिहास में सामाजिक एकता के लिए भारतीय स्मृतियों ने जिन महान् आचार-प्रणालियों और उच्च नियमों की रूपरेखा तैयार की, दुनियाँ के इतिहास में इतने प्राचीन काल में ऐसे नियम नहीं बने।

स्मृतियों की रचना सूत्रग्रंथों के बाद हुई। धर्मसूत्र, सूत्रशैली में लिखे गए और 'विष्णुस्मृति' को छोड़ कर शेष स्मृतियों की रचना श्लोकों में हुई है। इन स्मृतियों में तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों पर समर्थ प्रकाश डाला गया है। बृहद् भारत की शासन-व्यवस्था के संबंध में इन स्मृतियों में बहुत बारीकी से विचार किया गया है। स्मृतियों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन भारत का संविधान बड़े अध्यवसाय और परीक्षण के बाद तैयार किया गया था। तत्कालीन ब्राह्मण-संस्कृति की व्यापकता के परिचायक इन स्मृति-ग्रंथों में मनुष्यमात्र के हितों की रक्षा, उसके कल्याण की योजना और उसके आत्माभ्युदय की स्वतंत्रता का विधान सर्वत्र वर्णित है। स्मृतियों में 'मनुस्मृति', 'विष्णुस्मृति', 'याज्ञवल्क्यस्मृति' और 'नारदस्मृति' प्रमुख हैं।

यद्यपि आचार-विचार, कर्म-अनुष्ठान आदि की प्रवर्तन-परंपरा ब्राह्मण-ग्रंथों, सूत्रग्रंथों और उसके बाद स्मृतिग्रंथों तक में आई; किन्तु ब्राह्मणग्रंथों और सूत्रग्रंथों की अपेक्षा स्मृतिग्रंथों की विधानशैली सर्वथा अलग है। ब्राह्मणग्रन्थ वैदिक संप्रदाय तक ही सीमित हैं। सूत्रकारों ने वर्णाश्रम-धर्म के कर्तव्याकर्तव्य का प्रतिपादन भर करके अपने विधानों की इति कर दी; उधर स्मृतियों ने वर्णाश्रम-धर्म की कर्तव्याकर्तव्य-पद्धतियों पर अपनी विस्तृत राय तो दी ही, साथ ही ब्राह्मणग्रन्थ और सूत्रग्रन्थ जिस राजधर्म की विस्तृत मीमांसा, उसकी व्यवस्था के सम्बन्ध में जो मौन साधे आ रहे थे, स्मृतिग्रन्थों ने उस पर भी भरपूर प्रकाश डाला। संक्षेप में मानव धर्मशास्त्र से पूर्व धर्मऔर अर्थ को जो विभिन्नता से देखने की परंपरा बनी हुई थी, 'मनुस्मृति' में पहले-पहल हम देखते हैं कि जो राजधर्म एवं व्यवहार अर्थशास्त्र के जिम्मे होता हुआ चला आ रहा था, उसको धर्म की सीमाओं में कस कर धर्मशास्त्र का उपजीवी बना दिया। मनुस्मृतिकार का यह सर्वथा नया कार्य था।

'मनुस्मृति' की यह धर्म और अर्थ को एक दृष्टि से देखने की समन्वित भावना का निर्वाह आगे चलकर 'वशिष्ठधर्मसूत्र' (संस्कृत रूप), 'विष्णुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में होता गया। सातवाहन युग के बाद गुप्तकाल में विरचित 'बृहस्पतिस्मृति' और 'कात्यायनस्मृति' में हम राजधर्म (अर्थशास्त्र)

की न्यूनता और धर्म की अधिकता पाते हैं, यद्यपि जायसवाल जी के मतानुसार ये उत्तरवर्ती स्मृतिग्रन्थ भी 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के प्रभाव से अपने को सर्वथा मुक्त न कर सके थे।

स्मृतिग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित विधानों के संबंध में विद्वान् इतिहासकारों ने जिज्ञासायें की हैं कि स्मृतिग्रन्थों के जो विधान, या कानून हैं क्या वे आज के विधिग्रन्थों की भांति उस समय राजकीय कानून के रूप में व्यवहृत होते रहे अथवा ग्रन्थकारों की तत्सामयिक विधानों के अनुसार यह अपनी संमतियाँ मात्र थीं। कुछ विद्वानों ने स्मृतिग्रंथों को तत्कालीन विधान के आलोचना-ग्रन्थ माना है, विधि-ग्रंथ नहीं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों की राय है कि वे स्मृतिग्रन्थ अपने युग के विधि-ग्रन्थ थे और उन पर राजकीय स्वीकृति की मुहर थी।

स्मृतियों का रचनाकाल

व्यापक हिन्दू-धर्म के प्रतिपादक धर्मशास्त्र के ग्रन्थ लगभग ६०० ई० पू० से लेकर १८ वीं शताब्दी तक निरन्तर निर्मित होते गए। इतिहासकारों ने स्मृति-ग्रन्थों के निर्माण की इन सुदीर्घ चौबीस शताब्दियों को तीन विभिन्न युगों में विभक्त किया है :

पहिला युग : ६००–१०० ई० पू० तक
दूसरा युग : १००–८०० ई० तक
तीसरा युग : ९००–१८०० ई० तक

पहिला युग धर्मसूत्रों के निर्माण का युग है। धर्मसूत्र स्मृतियों के मूल उद्गम हैं। दूसरा युग धर्मसूत्रों की व्याख्या का युग है। इस युग में धर्मसूत्रों की दुर्गम एवं संकेतमयी रचनाशैली को बोधगम्य बनाने के लिए उनके व्याख्या रूप स्मृतियों की रचना हुई। ये स्मृतियाँ श्लोकों में निर्मित हैं। वस्तुतः स्मृतियों की रचना इस दूसरे युग से भी पूर्व की है। लगभग शुंग-युग को निश्चित रूप से हम स्मृतियों के निर्माण का युग और प्रथम शताब्दी ईसवी से उनके विकास का युग मान सकते हैं।

धर्म-ग्रन्थों के निर्माण का तीसरा युग बड़े महत्त्व एवं विशेष ख्याति का युग रहा है। इस युग का समारंभ भी लगभग गुप्त-युग से निर्धारित किया जा सकता है और उसके विकास की सीमा अठारहवीं शताब्दी तक पहुँचती है। इस युग में दो महत्त्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में हुए। पहिला कार्य तो मध्यकाल में रचे गए स्मृतिग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण भाष्यों और अनेक टीकाओं के निर्माण का है और दूसरा कार्य यह हुआ कि एक नई विवेचनात्मक तर्क शैली का आश्रय लेकर विद्वानों ने अपनी-अपनी सैद्धांतिक स्थापनाओं के लिए अनेक नई स्मृतियों का निर्माणकर इस परंपरा को परिपुष्ट किया। धर्मशास्त्र के संवर्धन और विकास के लिए इस तीसरे युग का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है।

'मनुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' दो ऐसी महान् कृतियाँ हैं, जिनमें धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की सारी पूर्व-परंपरा समन्वित है, और संभवतः जिनके निर्माण का श्रेय सातवाहन युग को दिया जा सकता है। इन दो ग्रन्थों की प्रामाणिकता और उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में कुछ दिन पूर्व बड़ा विवाद रहा है। विदेशी विद्वानों में डॉ० जॉलि पहिले विद्वान् थे, जिन्होंने १८८३ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की व्याख्यानमाला में यह प्रकट किया था कि 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का रचनाकाल ईसवी सन् की पहिली शताब्दी से पूर्व का कदाचित् नहीं है। डॉ० बूलर ने भी 'मनुस्मृति' का रचनाकाल २०० ई० पूर्व से १०० ई० के बीच निर्धारित किया। 'मनुस्मृति' और 'महाभारत' के कुछ एक-समान श्लोकों की एक फेहरिस्त भी उन्होंने अपने अंग्रेजी अनुवाद के साथ जोड़ी है। डॉ० जायसवाल ने भी 'मनुस्मृति' का रचनाकाल १५०—१२० ई० पूर्व के बीच रखा है और डॉ० जॉलि प्रभृति विद्वानों द्वारा प्रचारित कुछ बातों का युक्तिपूर्वक उत्तर भी दिया है।

कुछ विद्वान् 'मनुस्मृति' की रचना के लिए बहुत ही पुरानी परिस्थितियों को प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए श्री युधिष्ठिर मीमांसक का कथन है कि प्रक्षिप्तांशों को छोड़कर वर्तमान 'मनुस्मृति' निश्चय ही महाभारत-युद्ध-काल के बहुत पहिले की है। जो लोग इसे विक्रम की द्वितीय शताब्दी की रचना मानते हैं, उन्हों ने इस पर सर्वांग रूप से विचार नहीं किया है।

'मनुस्मृति' की रचना की उत्तर सीमा के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि उसकी रचना खिष्टीय संवत् के पूर्व हो चुकी थी। दूसरे विद्वानों के मतानुसार 'मनुस्मृति' का संभावित रचनाकाल शुंगकाल अर्थात् लगभग द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व है। 'विष्णुस्मृति' का आधार 'मनुस्मृति' ही है। इसलिए निश्चित रूप से उसका रचना-काल 'मनुस्मृति' के बाद का है। 'विष्णुस्मृति' की लेखन-शैली सूत्र-ग्रन्थों की प्रणाली पर होने के कारण कुछ विद्वान् उसको धर्मसूत्रों का समकालीन सिद्ध करते हैं; किन्तु यह भ्रम है।

'याज्ञवल्क्यस्मृति' के रचनाकाल के संबंध में कुछ विद्वानों का अभिमत है कि उसकी रचना लगभग चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी के बीच में हुई और उसका रचना-स्थान मिथिला बताया। 'नारदस्मृति' भी लगभग पाँचवीं शताब्दी ईसवी में रची गई। बाद में भी कुछ स्मृतिग्रन्थ रचे गए; किन्तु उनकी इतनी ख्याति नहीं हुई। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर लिखी गई 'मिताक्षरा' टीका बहुत ही पांडित्यपूर्ण और उत्तम शैली की है। उसका अस्तित्व स्वतंत्र ग्रंथ जितना है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर मित्र मिश्र की एक अप्रकाशित टीका का और वाराणसी के स्व० श्री गोविन्ददास के यहाँ से दूसरी अप्रकाशित टीका 'वीरमित्रोदय' का उल्लेख श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने किया है।

दूसरे विषयों की भांति धर्मशास्त्र-विषयक ग्रन्थों के निर्माण में गुप्त-युग के ग्रन्थकारों का प्रमुख योग रहा है। धर्मसूत्रों को बोधगम्य बनाने के लिए जो अनेक श्लोकबद्ध स्मृतियाँ रची गईं उन पर महत्त्वपूर्ण भाष्य और प्रामाणिक टीकायें गुप्तकाल में ही लिखी गईं। ब्राह्मणधर्म के अनेक ग्रंथों का संवर्धन संशोधन और पुनरुद्धार भी इसी युग में हुआ। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का निर्माण कतिपय विद्वान् इसी युग में बताते हैं; किन्तु उसकी रचना इससे पूर्व संभवतः ईसवी की प्रथम शताब्दी से भी पूर्व हो चुकी थी। जर्मन विद्वान् डॉ० जॉली के मतानुसार उसका निर्माण ४०० ई० में और काणे महोदय के मतानुसार १००—३०० ई० के बीच हुआ।

आज 'मनुस्मृति' का जो स्वरूप विद्यमान है, उसको गुप्तकाल में ही संबद्ध किया गया। इसी युग में 'पराशरस्मृति', 'नारदस्मृति', 'कात्यायन-

स्मृति' आदि ग्रंथों में पर्याप्त संशोधन हुआ। 'बृहस्पतिस्मृति' का रचनाकाल काणे महोदय के मतानुसार २००–४०० ई० के बीच है।

स्मृति-ग्रन्थों के संबंध में आधुनिकतम स्थापनाएँ स्व० डॉ० काशीप्रसाद जी जायसवाल की हैं। उन्होंने इस संबंध में जो मान्यताएँ स्थापित की थीं, वही संप्रति प्रामाणिक मानी जाती हैं। जायसवाल जी ने अपने पूर्ववर्ती विदेशी विद्वानों द्वारा स्मृतियों के संबंध में फैलाए गए भ्रमों का भी साथ-साथ निराकरण किया है।

स्व० जायसवाल जी के प्रमाणों का निष्कर्ष इस प्रकार है :

१. प्रायः सुनिर्णीत है कि अश्वघोष, कनिष्क का समकालीन था। उसने 'वज्रच्छेदिका' में अपने पक्ष के समर्थन में मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है अतएव 'मानवधर्मशास्त्र' की रचना प्रथम शताब्दी ई० से पूर्व की है।

२. पुष्यमित्र के समकालीन पतंजलि कृत 'महाभाष्य', 'मानवधर्मशास्त्र' की पूर्वसीमा है।

३. 'मनुस्मृति' के प्रत्येक अध्याय के अंत में उसके कर्ता या प्रवक्ता का नाम भृगु लिखा हुआ है, जो कि भार्गव या भृगुवंशीय ब्राह्मण से अभिप्रेत है। 'नारदस्मृति' (४०० ई०) में स्पष्टरूप से 'मनुस्मृति' को इस दृष्टि से भार्गव की कृति से उल्लेख किया है।

४. मैक्समूलर, बूलर और जॉली की ये स्थापनायें पंडित-समाज में बहुत दिनों तक मान्य समझी गईं कि 'मानवधर्मशास्त्र' वैदिक संप्रदाय के किसी 'धर्मसूत्र' पर आधारित है; किन्तु बाद में इन विद्वानों की समझ में यह बात स्पष्ट रूप से समा गई कि धर्मसूत्रों से 'मानवधर्मशास्त्र' का कोई संबंध नहीं है। साथ ही बूलर और जॉली बाद में यह भी समझ गए कि 'विष्णुस्मृति' और 'मनुस्मृति' एक समय की रचना न होकर 'विष्णुस्मृति', 'मनुस्मृति' के बाद में रची गई।

५. 'महाभारत', कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' और कामंदक के 'नीतिसार' में जिस मानव-संप्रदाय या मनु के नाम से 'मनुस्मृति' का उल्लेख है, वह एक

दूसरा ही संप्रदाय था और वे हमारे अभिप्रेत मनु न होकर राजशास्त्र (अर्थशास्त्र) के रचयिता प्राचेतस मनु थे।

६. 'मनुस्मृति' के निर्माता मनु और 'राजशास्त्र' के निर्माता प्राचेतस मनु की पृथकृता भास के 'प्रतिमा नाटक' से भी स्पष्ट हो जाती है, जिसमें 'श्राद्धकल्प' नामक एक वैदिक कृति को मनु के नाम से बताया गया है, जो कि मनुस्मृतिकार की नहीं है।

७. बूलर ने दूसरी शताब्दी ई० के आरंभ में संपन्न 'मनुस्मृति' के जिस वर्तमान स्वरूप की बात कही है, उससे यह संभव हो सकता है कि १००–१५० ई० के बीच उसका संस्करण हुआ हो; किन्तु वह उसका रचनाकाल कदापि नहीं है।

स्मृतियों के निर्माण का क्रमबद्ध इतिहास

धर्मशास्त्र-विषयक स्मृतिग्रन्थों के निर्माण का आधार कल्पसूत्र हैं। कल्पसूत्रों के अतिरिक्त स्मृतियों का निर्माण करते समय हमारे स्मृतिकारों ने जिन दूसरे ग्रन्थों से दाय ग्रहण किया, उनमें 'रामायण', 'महाभारत', पुराण, लोकाचार और नीतिविषयक ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। स्मृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट-सी हो जाती है कि उनकी कुछ बातें प्रत्यक्षदृष्ट, अनुभूत एवं कुछ-कुछ बातें अदृष्ट एवं अनुमानगम्य और कुछ पूर्ववर्ती ग्रन्थों में परम्परा से चली आतीं तथा लोकमत से प्रमाणित होतीं, सभी का समावेश है।

स्मृतिग्रन्थों के प्रमुख चार अंग या विषय हैं। उनमें एक अंग आचार-विषयक है; दूसरा व्यवहारसंबंधी, तीसरा प्रायश्चित्तीय और चौथा कर्मफल से सम्बन्धित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारो वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चार आश्रमों के समुचित निर्वाह की विधियों का विशद विश्लेषण करना भी स्मृतियों का ही विषय है।

धर्मशास्त्रविषयक प्राचीनतम ग्रंथ धर्मसूत्र हैं। इन धर्मसूत्रों का निर्माण एक समय में न होकर विभिन्न समयों में हुआ। लगभग सातवीं या छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व या प्रथम शताब्दी

ईस्वी के बीच समय-समय पर धर्मसूत्रों का निर्माण हुआ। प्राचीनतम धर्मसूत्र-ग्रन्थों में गौतम (६००–४०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र', आपस्तम्ब (६००–३०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र', बौधायन (५००–२०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र', वसिष्ठ (३००–१०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र' विष्णु (३००–१०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र', हारीत (३००–१०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र', शंख (३००–१०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र' और वैखानस 'धर्मसूत्र', पैथीनसी 'धर्मसूत्र', उशनस् 'धर्मसूत्र', काश्यप 'धर्मसूत्र' और बृहस्पति 'धर्मसूत्र' का नाम उल्लेखनीय है। ये धर्मसूत्र संप्रति अधिकांशतया अनुपलब्ध हैं।

इसी कोटि का एक प्राचीन सूत्रग्रंथ 'मानवधर्मसूत्र' था। यह ग्रंथ संप्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु वर्मा, स्याम, जावा प्रभृति द्वीपों की वैधानिक व्यवस्था का निर्माण करने में इस सूत्रग्रंथ का बड़ा भाग रहा है।

भृगु महर्षि ने मानव धर्मशास्त्र का संहिता रूप में संक्षेप किया था। भृगु के सम्बन्ध में 'जैमिनीय ब्राह्मण' में लिखा है कि वे ऋषि और अनूचान थे। कोशकार अमरसिंह ने अपने 'नामलिंगानुशासन' में उसको अनूचान संज्ञा दी है, जिसने विधिपूर्वक वेदों का सांगोपांग अध्ययन गुरु के पास बैठकर किया हो।

भृगु महर्षि द्वारा संहिता रूप में संबद्ध 'मानवधर्मशास्त्र' का पुनः संस्करण भार्गव प्रमति ने किया था। आजकल की 'मनुस्मृति' में यद्यपि अनेक प्रक्षेप हैं तथापि वह भार्गव प्रमति का ही संस्करण है। सुदा पैजवन आदि उत्तरकालीन राजाओं से सम्बद्ध प्रसङ्ग ही 'मनुस्मृति' के प्रक्षेपों के उदाहरण हैं।

भृगु प्रोक्त संहिता आज मूल रूप में उपलब्ध नहीं होती है; किन्तु विश्वरूप प्रभृति प्राचीन टीकाकारों के ग्रंथों में उदाहरण रूप में उसके कुछ अंश मिलते हैं। इन उदाहरणों का मिलान वर्तमान 'मनुस्मृति' के श्लोकों से न होने का कारण भी यही है कि भृगु प्रोक्त संस्करण संप्रति सर्वथा विनष्ट हो चुका है।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री पाण्डुरंग वामन काणे ने अपने अंग्रेजी इतिहास-ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' में 'महाभारत' तथा 'नारदस्मृति'

में उल्लिखित मूल 'मानवधर्मशास्त्र' के संक्षिप्त वृत्त को अप्रमाणिक मानकर वर्तमान 'मनुस्मृति' का रचनाकाल ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से दूसरी शताब्दी ईसवी के बीच निर्धारित किया है, और उसको भृगु महर्षि की सम्भावित रचना बताया है।

काणे साहब की उक्त स्थापना की आलोचना करते हुए कविराज सूरमचंद्र ने अपने इतिहास-ग्रंथ में लिखा है कि काणे साहब को भृगु का समय निश्चित करने में भ्रम हुआ है। कविराज, भृगु का उक्त समय नहीं मानते हैं। भृगु का समय उन्होंने ईसा से सत्रह-सौ वर्ष पहिले स्थिर किया है। उन्होंने यह भी अभिमत प्रकट किया है कि ब्राह्मण-ग्रंथों में जिस भृगु का उल्लेख मिलता है, वह निश्चित ही ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना से पहिले हुआ। "-'मनुस्मृति' के टीकाकार भागुरि, भर्तृयज्ञ, देवस्वामी और असहाय ईसा पूर्व २०० से सैकड़ों वर्ष पूर्व हो चुके थे। काणे जी को इन विवरणकारों के काल का यथार्थ ज्ञान नहीं था।"

धर्मशास्त्र की एकमात्र प्रतिनिधि कृति 'मनुस्मृति' आज जिस रूप में हमें उपलब्ध होती है, उसका संपूर्ण कलेवर 'मानवधर्मसूत्र' के ध्वंसावशेषों पर ही निर्मित हुआ है। कहा जाता है कि भृगु मुनि ने मनु के सूत्ररूप में प्रोक्त वक्तव्यों को श्लोकरूप में निबद्ध कर 'मनुस्मृति' के रूप में प्रकाशित किया। वैधानिक व्यवस्थाओं के अद्‌भुत ज्ञानी के रूप में मनु के व्यक्तित्व की ख्याति ब्राह्मण-ग्रंथों से लेकर 'निरुक्त', 'महाभारत' और पुराण-ग्रंथों में सर्वत्र विकीर्णित है। फिर भी निश्चित रूप से उनके समय का निर्धारण नहीं किया जा सकता है।

'मनुस्मृति' के विषय-विवेचन में वैदिक पद्धति और दार्शनिक विचार-धाराओं का समावेश है। इसलिए वह एक प्रौढ़ पांडित्य का परिचायक ग्रंथ है। उस पर दो प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक टीकाएँ हैं। पहिली टीका मेधातिथि (८२५–९०० ई०) की और दूसरी कुल्लूक भट्ट (१२ वीं शताब्दी ई०) की है।

धर्मशास्त्र के क्षेत्र में 'मनुस्मृति' के बाद 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का स्थान आता है, जिसकी निर्माण-अवधि १०० ई० पूर्व से ३०० ई० तक के बीच

विद्वानों द्वारा निर्धारित हुई है। इस पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें तीन टीकाएँ प्रमुख हैं। पहिली टीका विश्वरूप (८००-८२५ ई०) की 'बालक्रीडा', दूसरी कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ट के निरीक्षण ११२० ई० में विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा' और तीसरी अपरार्क की (१२ वीं श० ई०) 'अपरार्क याज्ञवल्कीय धर्मशास्त्र निबन्ध' है।

इन तीनों टीकाओं में 'मिताक्षरा' प्रमुख एवं प्रचलित है। वह एक मौलिक ग्रन्थ जैसा महत्त्व रखती है। इस पर नागेशभट्ट के शिष्य वैयाकरण वैद्यनाथ पायगुण्डे (१८ वीं० श०) के पुत्र बालभट्ट या बालकृष्ण भट्ट ने 'लक्ष्मी-व्याख्यान' या 'बालभट्टी' नाम से एक उपटीका लिखी।

इनके अतिरिक्त मूल स्मृतियों के रूप में 'नारदस्मृति' (१००-३०० ई०) लघु और बृहद्, दो संस्करणों में उपलब्ध होती है। 'पराशरस्मृति' का भी एक लघु संस्करण उपलब्ध है, जिस पर विजयनगर के माधवाचार्य (१२६७-१३८६ ई०) ने टीका लिखी। 'पराशरस्मृति' के मूल ग्रंथ का निर्माणकाल १००-५०० ई० के बीच था। 'बृहस्पतिस्मृति' (२००-४०० ई०) संप्रति अपूर्ण रूप में उपलब्ध है। इसका आधार 'मनुस्मृति' है। स्मृतियों की संख्या लगभग १५२ मानी जाती है।

स्मृति-ग्रन्थों के निर्माण की परम्परा या उन पर लिखी गई टीकाओं का समय लगभग १७वीं शताब्दी तक है। इस प्रकार का एक 'धर्मरत्न' नामक ग्रंथ जीभूतवाहन ने १२वीं शताब्दी में लिखा। इसी शताब्दी में लक्ष्मीधर ने 'स्मृतिकल्पतरु' और हलायुध ने बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के लिए 'ब्राह्मणसर्वस्व' लिखा।

तेरहवीं शताब्दी में रेवण्णभट्ट ने 'स्मृतिचन्द्रिका', वरदराज ने 'स्मृति-संग्रह' और हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' ग्रन्थ लिखा। चौदहवीं शताब्दी में विश्वेश्वर ने 'मदनपारिजात', चण्डेश्वर ने 'स्मृतिरत्नाकर' और माधव ने 'कालमाधवीय', लिखा। इसी प्रकार पंद्रहवीं शताब्दी में वाचस्पति ने 'चिन्तामणि', सोलहवीं शताब्दी में प्रताप रुद्रदेव ने 'सरस्वतीविलास', रघुनन्दन ने 'अग्निपरीक्षा', वैद्यनाथ दीक्षित ने 'स्मृतिमुक्ताफल', और

सत्रहवीं शताब्दी में भट्टोजि दीक्षित ने 'तिथि-निर्णय', कमलाकर भट्ट ने 'निर्णयसिन्धु', नीलकण्ठ ने 'भागवन्तभास्कर' और मित्र मिश्र ने 'वीरमित्रोदय' प्रभृति स्मृति-ग्रंथों को लिखकर धर्मशास्त्र के सर्वांगीण निर्माण को पूरा किया।

धर्मशास्त्र-विषयक ग्रंथों के निर्माण की यह परम्परा आगे की दो-एक शताब्दियों तक और बनी रही; किन्तु उसको पिष्टपेषण मात्र ही कहा जा सकता है। 'मनुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' हमारे समक्ष दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनकी मान्यता भारत के कोने-कोने में एक समान बनी हुई है। सामाजिक व्यवस्था, राजधर्म और शासन-सम्बन्धी नियमों पर जिस बारीकी से जितने प्राचीन समय में, इन दो ग्रन्थों में विचार किया गया है, वह अद्भुत है। संसार के संविधानों की तुलना में भारतीय संविधान के इतने बृहद् रूप के निर्माण का आधार यही स्मृतियाँ रही हैं।

संगीतशास्त्र

भारतीय संगीत का विकास

वैदिकयुगीन संगीत

वैदिक युग में संगीत की सारी थाती पुरोहितों के हाथ में रही। उन्हीं के द्वारा संगीतविद्या का प्रचार-प्रसार भी हुआ। उस युग में गायक, वादक और नर्तक, तीन प्रकार के कलाकार थे। ये तीनों ही उन्नति पर थे। वीणा, इस युग का प्रमुख वाद्य रहा। इस युग में संगीत के बड़े-बड़े आयोजन भी हुआ करते थे, जिसमें नर्तकियाँ खुलकर भाग लेती थीं। तत्कालीन समाज में गायकों, वादकों और नर्तकों को संमान की दृष्टि से देखा जाता था।

ऋग्वेदकालीन 'समन' नामक उत्सव अपना ऐतिहासिक महत्व रखता था। यह रात्रिकालीन उत्सव था। इसमें कुमारियाँ इच्छानुसार अपने वर का चुनाव करती थीं। इसमें युवक भी उत्साह से भाग लेते थे। इस प्रकार के उत्सवों में घुड़दौड़ और यज्ञ-यागादि भी हुआ करते थे। इस उत्सव में कुमारियों की संगीत-विषयक परीक्षा भी होती थी। यही 'समन' आगे चलकर 'समज्जा' के नाम से प्रयुक्त हुआ।

वैदिक काल में गायन-वादन के साथ-साथ नृत्यकला का भी प्रचलन था। नर्तकियाँ पैरों में घुंघुरू बाँधकर अपना नृत्य-प्रदर्शन किया करती थीं। उस समय नृत्यों के प्रदर्शन के लिये छोटे-छोटे रंगमंचों की भी व्यवस्था थी। नर और नारियाँ सोमरस का पान कर सामूहिक रूप से नृत्य में भाग लिया करते थे। उस युग के नृत्यों में रज्जुनृत्य, सलिलनृत्य, अरुणनृत्य, प्रकृतिनृत्य, पुष्पनृत्य और वसंतनृत्य प्रमुख थे। उस युग में गायक, वादक और नर्तक तीनों का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था। कला की साधना और कला का संवर्धन ही तत्कालीन कलाकारों का प्रमुख उद्देश्य था। तत्कालीन कलाकारों

के उच्चचारित्र्य का एक कारण यह भी था कि उस समय कला का पोषण धर्म की कोख में हो रहा था। वैदिक युग का संगीत अधिकांशतया यज्ञों का अंगभूत रूप में बना रहा।

वैदिकयुगीन स्वरविधान

वेद और वैदिक साहित्य में स्वर-विधानसंबंधी पुष्कल सामग्री सुरक्षित है। पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, ग्रामगेयगान, आरण्यगेयगान, स्तोव, स्तोम आदि पारिभाषिक शब्दावली से तत्कालीन संगीत की समृद्धि का पता लगता है। सामवेद में जो गेय छंद हैं, उनको विशेष स्वर-विधान के साथ गाने के नियम भी उसमें दिए गए हैं। सामवेद की इन ऋचाओं को सछन्द और सस्वर गाया जाता था। उस समय स्वर के तीन प्रकार थे: उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। शिक्षा, प्रातिशाख्य और स्वर-वैदिकी आदि वैदिक छंदों से संबद्ध ग्रन्थों में इन तीन स्वर-संस्थानों की विस्तार से विधियाँ प्रतिपादित हैं। इन्हीं तीन स्वर-संस्थानों से ही बाद में षड्ज आदि सप्त स्वरों की सृष्टि हुई। उदात्त से निषाद और गांधार, अनुदात्त से ऋषभ और धैवत एवं स्वरित से षड्ज, मध्यम तथा पंचम का जन्म हुआ। उदात्त का एक नाम तार भी है; इसी प्रकार अनुदात्त को उच्च, मन्द अथवा खाद भी कहते हैं और स्वरित को मध्य, समतारत्तक स्वर। तार, मन्द और मध्य, इन तीन मूलस्वरों से षड्ज आदि सात स्वरों का विकास किस प्रकार हुआ, इसका विवरण, 'ऋक्प्रातिशाख्य' में भी दिया गया है।

सामवेद की ऋचाएँ पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक, इन दो भागों में विभक्त है। उत्तरार्चिक ऋचाएँ भी ऊह और उह्य, इन दो श्रेणियों में हैं। ऊह और उह्य वह रहस्यमय ज्ञान है, जिसको सब नहीं गा सकते हैं। वह साधकों के अधिकारक्षेत्र की वस्तु थी। ग्रामगेय, ग्रामप्रांतरों में वास करने वाले साधारण समाज के लिए थे, और इसी प्रकार आरण्यगेय निर्जन वन-प्रदेशों में वास करने वाले वानप्रस्थी समाज के लिए थे। वैदिक सामगान में प्रयुक्त सात स्वरों के नाम हैं: क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद और गतिस्वार्य। वैदिक साहित्य में यह नामावली, अभिनिहित, प्राश्लिष्ट, जात्य, क्षेत्र, पादवृत्त, तेरवंजन और तेरविराम के रूप में पाई जाती है।

वैदिक संगीत प्रस्त्वा, हुंकार, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधान और प्रणाव इन सात भागों में विभक्त है। उस युग के वाद्यों में वीणा, वेणु, दुन्दुभि का नाम प्रमुख है।

पुराणों का संगीतसंबंधी मंतव्य

वैदिक युग की अपेक्षा पौराणिक युग में संगीतसंबंधी विधानों, उनकी पद्धतियों, नीति-नियमों और प्रकारों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। पुराण-ग्रन्थों में वर्णित संगीत-संबंधी दृष्टिकोण अधिक प्रगतिशील जान पड़ता है। 'हरिवंशपुराण' से गांधार राग की प्राचीनता का पता चलता है। उसमें सप्त स्वरों के लीलायित होने, विभिन्न रागनियों, मंद, मध्यम, तार, इन तीन स्थानों और मूर्च्छना, नृत्य, नाट्य, वाद्य आदि का भी विस्तार से परिचय मिलता है, 'हरिवंशपुराण' में उर्वशी, हेमा, रम्भा, मेनका, मिश्रकेशी, तिलोत्तमा आदि तत्कालीन नर्तकियों, उनके विभिन्न वाद्ययंत्रों और उनकी नृत्य-संबंधी रीतियों का उल्लेख मिलता है। 'मार्कण्डेय पुराण' में षड्जादि सात स्वरों, पंचविध ग्रामरागों, पंचविध गीतों, मूर्च्छनाओं के इक्यावन प्रकार की तानों, तीन ग्रामों और चार पदों का परिचय मिलता है। 'वायुपुराण' में भी सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनाओं और चार तालों का उल्लेख है। वैदिक युग के वाद्यों की अपेक्षा पुराणयुग के वाद्यों में कुछ परिवर्त्तन दिखाई देता है। पुराण युग में वीणा, दुर्दुर, पर्णव, पुष्कर, मृदंग और देवदुन्दुभि आदि वाद्यों को उपयोग में लाया जाता था।

रामायण और महाभारत के युग का संगीत

'रामायण' और 'महाभारत' के समय में हमें एक विशेष बात यह जानने को मिलती है कि, पूर्वापेक्षया, अब संगीत एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित न होकर संपूर्ण लोकरुचि का विषय बन चुका था। तत्कालीन समाज में सर्वत्र संगीत की लोकप्रियता व्याप्त हो गई थी। इन दोनों ग्रन्थों के प्रसंग में हमने बताया है कि राम-रावण तथा कौरव-पांडवों की पुरातन कथा को मौखिक रूप में सुरक्षित रखने और उसको समाज में प्रचलित करने का कार्य तत्कालीन कुशीलवों (नट, नर्तक, गायकों) ने किया था।

उसी युग का प्रचंड ज्ञानी और महापंडित रावण स्वयमेव संगीत का भी पारंगत विद्वान् था। उसके संबंध में कहा जाता है कि सस्वर वेदपाठ की प्रणाली का प्रचलन सर्वप्रथम रावण ने ही किया था। नर्मदा के तट पर भगवान् शंकर की स्तुति में गाये हुए उसके सामवेदमंत्र, उसकी संगीत-पटुता के परिचायक हैं। रावण का स्वरज्ञान अद्भुत था। रावण की पत्नी मंदोदरी संगीत की बड़ी विदुषी थी। रावण की राजसभा में अनेक गायनाचार्य एवं प्रवीण नर्तकियाँ थीं। रावण के संगीतकक्ष में भेरी, मृदंग, शंख, मुरज (पखावज) तथा पर्णव आदि अनेक वाद्य थे। रावण के नाम से जो 'रावणीयम्' नाम संगीत-विषयक ग्रन्थ उपलब्ध है, वह काफी बाद की रचना है। संभवतः यह ग्रंथ रावण द्वारा रचित किसी संगीत-शास्त्रसंबंधी ग्रंथ के अंश का संस्करण हो।

रामायणी कथा की रचना किए जाने के बाद महामुनि वाल्मीकि ने उसको, लव-कुश द्वारा स्वरबद्ध रूप में गवाया था। महामुनि स्वयं भी संगीत के पारंगत विद्वान् थे। 'रामायण' के अनेक स्थलों पर हमें महामुनि की संगीतप्रियता का पता चलता है। प्राचीन ललितकलाओं की दृष्टि से 'रामायण' एक उपयोगी ग्रंथ है।

इसी प्रकार 'महाभारत' के युग में संगीत का पर्याप्त प्रचार-प्रसार दिखाई देता है। 'महाभारत' के पात्र श्रीकृष्ण तो संगीत के अपूर्व पंडित थे। श्रीकृष्ण का वेणु-वादन और व्रजभूमि में रची गई गोपबालाओं के साथ उनकी रासलीलाएँ प्रसिद्ध हैं। नृत्य और गीत, दोनों कलाओं में गोपियाँ पूर्ण निपुण थीं।

यह युग भक्तिप्रधान युग था। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं की पूजा-अर्चना के अवसर पर नृत्य, गायन और वादन का प्रचलन सामान्य सामाज में भी प्रचलित था। अर्जुन के संबंध में प्रसिद्ध है कि एक वर्ष के अज्ञात वास के समय विराट् राजा के दरबार में रहकर छद्म नाम से उसने विराट् राजा की पुत्री उत्तरा को संगीत की शिक्षा दी थी। वह वीणा-वादन में सिद्धहस्त था। कहा जाता है कि जिस प्रकार वेणु-वादन में श्रीकृष्ण अद्वितीय थे, उसी प्रकार वीणा-वादन में अर्जुन अनन्य थे।

वैदिक काल में हमने जिस 'समन' उत्सव का उल्लेख किया है, महाभारत काल में उसकी परिचिति 'समज्जा' नाम से विश्रुत थी। यह उत्सव अनुरूप वर-वधू के चुनाव उद्देश्य से आयोजित होता था, वरन् नवयुवक-युवतियों के दल घूम-घूम कर देश में संगीत का प्रचार भी करते थे।

साहित्य में सगीत का योग

प्राचीन भारत के कुरु, पांचाल, चेदि, योधेय, मद्र, शिवि, कौशल, वत्स, मगध और अवंती आदि जनपदों के आश्रय में संगीत और संगीतकारों का बड़ा संमान रहा है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी', कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और भास के नाटकों से हमें तत्कालीन संगीत की लोकप्रियता का आभास मिलता है। पुष्पावचय, उद्यानक्रीडा और जलक्रीडा आदि तत्कालीन उत्सवों द्वारा भी ललितकलाओं के प्रचार-प्रोत्साहन की अनेक बातों का पता लगता है। जनमेजय का प्रपौत्र वत्सराज उदयन और उज्जैन के राजा चंडमहासेन की रूपवती पुत्री वासवदत्ता की प्रणयकथा को भास ने 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक में निबद्ध किया है। उदयन और वासवदत्ता की सारी प्रणयलीला संगीत पर ही आधारित थी।

मौर्य चंद्रगुप्त का समय शास्त्रीय संगीत की उन्नति का एकमात्र युग रहा है। कौटिल्य उसी का महामंत्री एवं संमान्य विद्वान् था। मेगस्थनीज भी उसी समय भारत आया था। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' और मेगस्थनीज की अनुपलब्ध कृति 'इंडिका' के कुछ उद्धरणों से तत्कालीन नाट्यशालाओं और संगीत-गृहों के अस्तित्व पर प्रकाश पड़ता है।

कनिष्क का युग भारतीय संगीत का प्रगतिशील युग (The dawn of Indian Music) कहा जाता है। इस युग में भारतीय संगीत की नवीन विधियाँ प्रकाश में आईं और उनका प्रचार विदेशों तक में हुआ। उस युग के बौद्ध महाकवि एवं प्रचण्ड दार्शनिक अश्वघोष के महाकाव्य 'बुद्धचरित' में संगीत के संबंध में अनेक बातों का पता चलता है। बौद्ध नैयायिक नागार्जुन ने 'शून्य' के प्रतिपादन और वैद्य चरक ने चिकित्सा के लिए संगीत के माध्यम से नये परीक्षण किए।

ईसवी पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दी में मथुरा, मालव और राजस्थान में नागों की विलुप्त वंश-परंपरा पुनः प्रकाश में आ चुकी थी। भारतीय संगीत को व्याप्ति और विकास देने में नागजाति का प्रमुख हाथ रहा है। संगीत नागजाति का प्राण था। नाग कन्याओं की संगीतप्रियता इतिहासप्रसिद्ध है। वे अनुपम सुंदरियाँ और निष्णात नर्तकियाँ हुआ करती थीं। संगीत और नृत्य उनकी जन्मसिद्ध थाती थी।

महामुनि भरत के 'नाट्यशास्त्र' की रचना का भी यही युग था। भरत का यह ग्रंथ यद्यपि शताब्दियों के संशोधन, परिवर्धन का फल है; फिर भी नाट्य और संगीत पर अधिकारपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करने वाला वह पहिला ग्रंथ है।

गुप्त-युग शास्त्रीय संगीत का उन्नतिशील युग रहा है। समुद्रगुप्त की संगीतप्रियता इतिहासप्रसिद्ध है। उसके स्वर्णिम सिक्कों पर उत्कीर्णित वीणाकृति से उसके अतिशय संगीत-प्रेम का परिचय मिलता है। उसकी प्रयाग-प्रशस्ति में उसको तुम्बुरु और नारद जैसे उच्चकोटि के संगीताचार्यों से भी बढ़कर बताया गया है। इस युग की संगीत-उन्नति का चित्रण महाकवि कालिदास के नाटकों में सुरक्षित है। कालिदास का 'मेघदूत' गीतिकाव्य का उत्कृष्ट ग्रंथ है। भारतीय संगीत और नृत्य की चरमोन्नति के दर्शन संस्कृत के नाटकों में होता है। भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, भवभूति और हर्ष के नाटकों में तथा बाणभट्ट, माघ और जयदेव के काव्यों में उसी परंपरा का प्रशस्त रूप देखने को मिलता है। संस्कृत के संदेशकाव्य और स्तोत्र-ग्रन्थ गीतिकाव्यों के उच्च आदर्श हैं।

हिन्दू युग में संगीत की अवस्था

राजपूतों के यहाँ संगीत की अपेक्षा चित्रकला को अधिक प्रोत्साहन मिला। यह समय हिन्दू चित्रकला के उत्कर्ष का युग रहा है। भक्तिप्रधान युग होने के नाते इस समय संगीत का अस्तित्व बना रहा। सौराष्ट्र के सोमनाथ मन्दिर में चौलादेवी नर्तकी उस समय की प्रसिद्ध वीणावादिका थी। पृथ्वीराज चौहान स्वयं वीणा बजाने में सिद्धहस्त था।

हिन्दूकालीन संगीत का इतिहास हमें उस समय की कलाकृतियों में देखने को मिलता है। शिल्प और स्थापत्य की अपेक्षा चित्रकला में हमें संगीत का तत्कालीन रूप दिखाई देता है। अजंता, एलिफेंटा, एलोरा, आदि के भित्तिचित्रों में इस प्रकार की वेषभूषा और कलात्मक मुद्राएँ हमें यह बताती हैं कि उस समय भी संगीत के प्रति कलाकारों और जन सामान्य का अनुराग कम नहीं हुआ था।

इसके विपरीत शिल्प और स्थापत्य में संगीत की सर्वथा उपेक्षा की गई। बल्कि यों कहा जाय कि शिल्प और स्थापत्य ने संगीत कला को पराभूत कर दिया था, तो अनुचित न होगा। पाटलिपुत्र, तक्षशिला के भग्नावशेषों से प्राप्त सामग्री में, कोशाम्बी की खुदाई से प्राप्त सामग्री में और अनेक मन्दिरों की उपलब्ध मूर्तियों में संगीत की अपेक्षा शिल्प और स्थापत्य की प्रचुरता है।

मुगल सल्तनत की प्रतिष्ठा हो जाने पर भारतीय संगीत के विधि-विधानों में कुछ परिवर्तन होना आरंभ हुआ; किन्तु अकबर जैसे समन्वयवादी विचारधारा के शाहंशाह के समय में भारतीय संगीत को ईरानी संगीत जितना स्थान प्राप्त रहा। अबुल फजल की 'आइ-ने-अकबरी' में अनेक भारतीय वाद्यों पर विस्तार से चर्चाएँ की गई हैं। इसराज, सारंगी, मयूरी वीणा और दिलरुबा का इस समय अधिक प्रचार रहा।

आँग्ल शासन की प्रतिष्ठा हो जाने पर भारतीय संगीत की पद्धतियाँ पश्चिमीय प्रभावों से अभिभूत दिखाई देती हैं; किन्तु इस समय भी भारतीय संगीत की पुरातन प्रणाली पूर्ववत् बनी रही। इधर भारत सरकार की ओर से संगीत नाटक अकादमी की स्थापना हो जाने और कलाकारों को पुरस्कृत एवं संमानित करने के कारण भारतीय संगीत तथा भारतीय नाट्य की दिशा में विकास हो रहा है।

भारतीय संगीत में वीणा के अस्तित्व का विवेचन

भारतीय संगीतशास्त्र में वीणा की बड़ी उपयोगिता बताई गई है। यही कारण है कि वीणा के अस्तित्व का गुणगान साहित्य में सर्वत्र पाया जाता

है। वीणा, वेदकालीन वाद्य है। सभी तन्तुवाद्यों की अधिष्ठात्री भी वही है। जैसे वस्तु के अभाव में विषय बोधगम्य नहीं हो पाता उसी प्रकार वीणा के बिना नाद का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय साहित्य में वीणा के स्वरूप की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई मिलती है।

सामवेद, भारतीय संगीत का उत्स है। यज्ञ के अवसर पर अध्वर्यु सामगान वीणा के साथ करते थे। इसलिए अध्वर्यु को 'वीणावद' और 'वीणागायिन्' भी कहा गया है। वैदिक युग में चार प्रकार के वाद्य थे। उस समय 'काण्डवीणा' बजाई जाती थी, जिसका उल्लेख 'ऋग्वेद' और 'काठक संहिता' में मिलता है। पहले वीणा को बाण कहा जाता था। भाष्यकार सायण ने अपनी व्याख्या में 'वाण' को 'मरुद्वीणा' कहा है। 'वाजसनेय संहिता' में (३०।१९।२०) नरमेध यज्ञ के अवसर पर वीणासहगान का उल्लेख है। इस प्रसंग में दूसरे वाद्यों का भी वर्णन यहाँ मिलता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में वीणा के संबंध में विस्तार एवं बारीकी से सूचनाएँ लिखी मिलती हैं। उत्तर वैदिक युग में संगीत अधिक उन्नतावस्था को पहुँच चुका था। इस युग में वीणा का प्रयोग गायन और नृत्य के साथ किया जाने लगा था। 'शतपथ ब्राह्मण' में लिखा है कि उस समय वीणा के तंतु उत्तर-मंद्रा में मिलाये जाते थे। उत्तरमंद्रा, षड्ज ग्राम की प्रथम मूर्छना का नाम है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में वीणा को नृत्य के साथ बजाये जाने का उल्लेख है। वीणा का एक नाम वहाँ 'वाण' भी दिया गया था, जो शततंतुयुक्त होती थी। वेद में 'वाण' सात धातुओं से निर्मित बताया गया है और ब्राह्मण ग्रन्थों में उसको शततंतुयुक्त कहा गया है।

'ऐतरेय आरण्यक' में दैवी वीणा का उल्लेख है। उसकी बनावट का भी स्वतन्त्र ढंग वर्णित है। जिसे आज हम 'मिजराव' कहते हैं, 'ऐतरेय आरण्यक' में उसे 'नखी' कहा गया है; अर्थात् जिसको नाखून में धारण किया जाता है। आरण्यक ग्रन्थों की ही भाँति उपनिषदों में भी वीणा के संबंध में चर्चाएँ मिलती हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में वीणा, वीणावादन और वीणावादक के संबंध में विस्तार से वर्णन देखने को मिलता है। 'छांदोग्य उपनिषद्' के आठवें खंड में वीणा के नये रूपों की जानकारी दी गई है।

सूत्रग्रन्थों में वीणा के संबंध में विस्तार से सूचनाएँ देखने को मिलती है। 'शांखायन श्रौतसूत्र' में 'शततंत्री' वीणा का उल्लेख है। संभवतः ब्राह्मण-ग्रंथों में जिसको शततंतुयुक्त 'वाण' नामक वीणा कहा गया है, सूत्रग्रन्थों में उसीको 'शततंत्री' कहा गया। 'लाट्यायन श्रौतसूत्र' में 'अलाबु वीणा' और 'शीलवीणा' का उल्लेख तथा उनके द्वारा सामगान की विधियों को बताया गया है। आजकल जिसे हम 'हार्य' या स्वर-मण्डल भी कहते हैं, 'कात्यायन श्रौतसूत्र' में उसीको कात्यायन वीणा या शततन्त्री वीणा कहा गया है।

'रामायण' में लव तथा कुश को वीणा के साथ गायन करते दर्शाया गया है; किन्तु उस प्रसंग में किसी वीणा का नाम नहीं दिया गया है। संभवतः वहाँ 'तन्त्री' को ही वीणा कहा गया है। सुंदरकांड में विपंची वीणा और किष्किन्धा कांड में किन्नरी वीणा का नाम मिलता है।

महाभारत काल में संगीत का प्रचार अधिक दिखाई देता है। 'महाभारत' में शंखों के अनेक प्रकार हैं, जो कि वादन के ही माध्यम माने जाते थे। 'हरिवंश' में महामुनि नारद की वीणा का नाम 'वल्लकी' दिया हुआ है। उसमें यह भी लिखा है कि 'वल्लकी' वीणा में से सात स्वर मूर्छना से निकलते थे। 'ब्रह्मपुराण' में दक्ष ने महादेव की स्तुति में 'तुंबिवीणा' का उपयोग किया था। 'मार्कण्डेय पुराण' में लिखा है कि कंबल और अश्वतर, दोनों नागपुत्रों ने वीणा-वादन से शंकर भगवान् की आराधना की थी। यहाँ वीणा का नाम वीणा ही दिया गया है। 'भागवत' के एक प्रसंग में कहा गया है कि महामुनि नारद, स्वर-वर्ण से अलंकृत वीणा बजाकर हरिगान किया करते थे। इसी प्रकार 'देवीपुराण' के ४५वें अध्याय में वीणा-वादन द्वारा नीलकंठ की स्तुति का वर्णन है। 'बृहद्धर्म पुराण' में लिखा है कि नारद मुनि अंगुलियों से वीणा के तार छेड़कर गान किया करते थे। इसी प्रसंग में राग-रागिनियों के परिवार का भी वर्णन है। 'नारद पंचरात्र' में नारद को वीणा की मधुर ध्वनि द्वारा श्रीकृष्ण का गुणगान करते हुए दर्शाया गया है।

आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र संगीत, नृत्य और काव्यशास्त्र का ऐसा पहिला ग्रन्थ है, जिसमें इन विषयों पर विस्तार से विचार किया गया है।

काव्यशास्त्र और संगीत की अपेक्षा नाट्य के विधि-विधानों पर ही उसमें विशेषरूप से कहा गया है; किन्तु नृत्य, क्योंकि संगीत का ही एक अंग है, इसलिए प्रासंगिक रूप से संगीत पर भी उसमें काफी सामग्री देखने को मिलती है। 'नाट्यशास्त्र' में चर्मवाद्यों के नाम अधिकता से मिलते हैं। वीणाओं में 'चित्रा' और 'विपंची' का नाम दिया गया है और चित्रा वीणा सात तारोंयुक्त बताई गई है।

'नारदशिक्षा' इस विषय का ऐसा पहिला ग्रन्थ है, जिसमें सामगान की विधियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। नारद के नाम से संगीत-विषयक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जैसे 'नारदशिक्षा', 'चत्वारिंशद्राग-निरूपण' और 'संगीत-मकरंद'। इन संगीत ग्रन्थों का निर्माता ऋषि स्थानीय नारद से भिन्न है। अथवा ऐसा हो सकता है कि नारदमुनि ने पुरातन काल में संगीत पर जो ग्रन्थ लिखे थे, ये ग्रन्थ उन्हीं के संस्करण हों। इन ग्रन्थों की रचना १०वीं ११वीं शताब्दी के बाद में हुई है। 'नारदशिक्षा' में 'दारवी' और 'गात्रवीणा' का वर्णन मिलता है। 'गात्रवीणा' के सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। 'पाणिनीय शिक्षा' में भी 'अलाबु' वीणा का उल्लेख मिलता है। 'संगीत-मकरंद' में संगीत की विधियों का बारीकी से विश्लेषण किया गया है। उसमें इन १९ वीणाओं के नाम दिए हैं: १ कच्छपी, २ कुब्जिका, ३ चित्रा, ४ वहन्ती, ५ परिवादिनी, ६ जया, ७ घोषवत्ती, ८ ज्येष्ठा, ९ नकुली, १० महती, ११ वैष्णवी, १२ ब्राह्मी, १३ रौद्री, १४ कूर्मी, १५ रावणी, १६ सरस्वती, १७ किन्नरी, १८ सैरंध्री और १९ घोषका।

'संगीत-मकरन्द' के बाद इस सम्बन्ध में बहुत-सी नई बातें संगीत के सम्बन्ध में जानने को मिलती है। पार्श्वदेव (११वीं १२वीं) के 'संगीत समयसार' में वीणा के चार सर्वथा नये नाम दिए गए हैं: अलावणी, किन्नरी, लघुकिन्नरी और बृहत्किन्नरी। उनमें किन्नरी वीणा के भी तीन उपभेद गिनाए गए हैं। साथ ही यह भी लिखा हुआ है कि बृहत्किन्नरी में तीन तुम्बाओं और लघुकिन्नरी में दो तुम्बाओं का उपयोग होता था। इस ग्रन्थ में सबसे महत्त्व की बात यह दी गई है कि वीणाएँ कैसे बनाई जाती हैं।

'संगीतरत्नाकर' इस विषय का बड़ा ही सर्वांगीण ग्रन्थ उपलब्ध है।

उसकी रचना पं० शार्ङ्गदेव ने १३वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में की थी। उस पर दो टीकाएँ भी लिखी गई हैं। इस ग्रन्थ के तीसरे प्रकरण में कुपित विन्यास के वर्णन प्रसंग में अठारह वीणाओं के नाम गिनाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं : १. घोषवती, २. चित्रा, ३. विपंची, ४. परिवादिनी, ५. वल्लकी, ६. कुब्जिका, ७. जेष्ठा, ८. नकुली, ९. किन्नरी, १०. जया, ११. कूर्मी, १२. पिनाकी, १३. हस्तिका, १४. शततंत्री, १५. औदुम्बरी, १६. रावणहस्तका, १७. शार्ङ्गी और १८. आलापिनी। इनके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ के वाद्याध्याय में १. एकतन्त्री, २. नकुली, २. त्रितन्त्री, २. चित्रा, ३. विपंची, ४. मत्तकोकिला, ५. दिनी, ६. किन्नरी, ७. पिनाकी, ८. लघुकिन्नरी, ९. बृहत्किन्नरी नाम से ९ वीणाओं की नामावली और दी गई है। दोनों अध्यायों में उद्धृत कुछ वीणाओं की पुनरावृत्ति को हटाकर देखा जाय तो 'संगीतरत्नाकर' में कुल २३ वीणाओं की नामावली दी गई है। 'संगीतमकरंद' और 'संगीतसमयसार' में निर्दिष्ट कुछ वीणाओं को शार्ङ्गदेव ने भी गिनाया है। उन वीणाओं के अतिरिक्त पिनाकी, औदुम्बरी, एकतंत्री, त्रितंत्री और मत्तकोकिला, ये पाँच वीणाएँ शार्ङ्गदेव द्वारा नई निर्दिष्ट हैं।

'संगीतरत्नाकर' से प्रभावित 'वीणाप्रपाठक' नामक एक संगीतविषयक ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति बड़ौदा के ग्रन्थ-संग्रह में है। इस ग्रन्थ में शार्ङ्गधर द्वारा निर्दिष्ट वीणाओं की नामावली इस प्रकार है : १. एकतन्त्री, २. नकुली, ३. त्रितन्त्री, ४. चित्रा, ५. विपंची, ६. मत्तकोकिला, ७. आलापिनी, ८. किन्नरी, ९. पिनाकी, १०. परिवादिनी, १२. श्रुतिवीणा, १२. स्वरवीणा, १३. महावीणा, १४. काण्डवीणा और १५. अलाबुवीणा आदि।

१७ वीं शताब्दी ई० के आरम्भ में राजा रामजस के लिए रामामात्य ने 'स्वरमेल-कलानिधि' नामक ग्रन्थ लिखा। उसमें एक वीणा-प्रकरण है, जिसमें वीणा की वंदना करने के उपरांत १. शुद्धमेलवीणा, २. मध्यमेलवीणा और ३. अच्युतराजेन्द्रमेलवीणा, नामक तीन वीणाओं के संबंध में चर्चा की है गई है।

मुगल सम्राट् कलाप्रेमी थे। यह कलाप्रेम उन्हें वंश-परंपरा से मिला था। ललितकलाओं के लिए उनके हृदय में अतिशय अनुराग था। इस दृष्टि से

संगीत की भी इस युग में अच्छी उन्नति हुई। इस दृष्टि से अकबर का नाम विशेष महत्त्व का है। मुगल युग में बहुप्रचारित 'बीन' ही 'वीणा' का रूप था।

पं० सोमनाथ के 'रागविबोध' में रुद्रवीणा, शुद्धमेलवीणा और मध्यमेल-वीणा के संबंध में संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पं० सोमनाथ १६२५ ई० में हुए। दामोदर पंडित (१६२५ ई०) के 'संगीतदर्पण' में केवल रागों की चर्चा है। अहोबल पंडित १७ वीं श० के 'संगीत-पारिजात' में वीणा पर स्वर-साधना के तरीके बड़े अच्छे ढंग से वर्णित हैं।

मेवाड़ के महाराणा कुंभा (१८ वीं श०) के 'वाद्यरत्नकोश' में १. एकतंत्री, २. नकुली, ३. त्रितंत्रिका, ४. विपंची ५. आलापिनी, ६. मत्तकोकिला, ७. पिनाकी, ८. किन्नरी, ९. निःशंका, १०. शततंत्री, ११. औदुम्बरी, १२. कूर्मी, १३. घोष-वती, १४. शार्ङ्गी, १५. वल्कली, १६. रावणहस्ता, १७. श्रुतिवीणा, १८. पद्म-वीणा, १९. स्वरमंडल और वंशवीणा का उल्लेख मिलता है। शार्ङ्गदेव के मत के विरुद्ध कुंभनदेव ने एक बात यह कही है कि मत्तकोकिला वीणा पर इक्कीस तार न होकर सौ तार होते थे।

श्रीकंठ पंडित की 'रसकौमुदी' के दूसरे अध्याय में घोषवती, नकुली, चित्रा, विपंची, मत्तकोकिला, शुद्धमेलवीणा और मध्यमेलवीणा का उल्लेख है। इसी प्रकार राजा राधाकांतदेव के 'शब्दकल्पद्रुम' ग्रंथ में ३० वीणाओं के नाम इस प्रकार हैं: १. अलावणी, २. ब्रह्मवीणा, ३. किन्नरी, ४. लघुकिन्नरी, ५. विपंची, ६. वल्लकी, ७. ज्येष्ठा, ८. नकुली, ९. चित्रा, १०. घोषवती, ११. जया, १२. हस्तिका, १३. कुब्जिका, १४. कूर्मी, १५. शार्ङ्गी, १६. पारि-वादिनी, १७. त्रिशती, १८. शततंत्री, १९. ढंसवी, २०. औदुम्बरी, २१. पिनाकी, २२. निवेद्य, २३. शुष्कल, २४. रावणहस्त, २५. रुद्र, २६. स्वरमंडल २७. कपिलासी, २८. मधुस्पंदी, २९. कच्छपी और ३०. महती।

राधाकांतदेव के ही समकालीन पं० श्रीकृष्णानंद व्यास (१९ वीं श०) के 'रागकल्पद्रुम' के वाद्य-विभाग में वीणाओं की नामावली इस प्रकार है: १. अलावणी, २. ब्रह्मवीणा, ३. किन्नरी, ४. विपंची, ५. वल्लकी, ६. ज्येष्ठा, ७. चित्रा, ८. घोषवती, ९. जया, १०. हस्तिका, ११. कुब्जिका, १२. कूर्मी,

१३. सारंगी, १४. परिवादिनी, १५. त्रिशती, १६. शततंत्री, १७. नकुली, १८. बंसरी, १९. औदुम्बरी, २०. पिनाकी, २१. निवेद्य और २२. पुण्डल।

१९ वीं शताब्दी के बाद भी संस्कृत में कुछ संगीतविषयक ग्रन्थ रचे गए। उनमें वीणाविषयक नवीन सूचनाओं का अभाव सा है। इस प्रकार के ग्रन्थ अनेक हस्तलिखित पोथी-संग्रहों में देखने को मिल सकते हैं।

मार्गी और देशी संगीत

आरंभ में संगीत को ईश्वर की आराधना का माध्यम माना जाता था। भगवद्भक्ति का वह एक प्रमुख साधन था। इसी अर्थ भारतीय संगीत में 'नादब्रह्म' की महिमा वर्णित है। 'संगीत-रत्नाकर' के प्रथम अध्याय में उसके व्याख्याकार मल्लिनाथ ने नादब्रह्म की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है :

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानंदमद्वितीयमुपास्महे॥

प्रत्युत उसका उद्देश्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की उपलब्धि भी है :

तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम्॥

'वाक्यपदीय' में भी ठीक यही बात लिखी है :

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।

दामोदर पण्डित ने अपने 'संगीतदर्पण' में मार्गी संगीत का जनक ब्रह्मा जी को बताया है। भरत मुनि उसकी परम्परा के प्रवर्तक थे। उक्त ग्रन्थ में कहा गया है कि ब्रह्मा जी ने जिस संगीत को जन्म दिया था, वह संगीत मुक्ति को देनेवाला था। वही मार्गी संगीत कहलाया। भरत मुनि से किन्नर, अप्सर और गंधर्वों ने इसका विकास किया। गंधर्वों ने मार्गी संगीत में इतनी पटुता प्राप्त कर ली थी कि बाद में मार्गी संगीत गांधर्व संगीत के नाम से कहा जाने लगा। ब्रह्मा द्वारा मार्गित (दर्शित) होने के कारण उसका नाम मार्गी हुआ।

इसी हेतु मार्गी संगीत की परिभाषा यों दी गई है :

अनादिः संप्रदायो यद् गंधर्वैः संप्रयुज्यते ।
नियतश्रेयसो हेतुस्तद् गांधर्वं जगुर्बुधाः ॥

अर्थात् जो अनादि सम्प्रदाय है, गंधर्वों द्वारा ही जिसका प्रयोग होता है, जो नियत श्रेयस् का हेतु है, उसे ही गांधर्व गान अथवा मार्गी संगीत कहा गया है ।

मार्गी संगीत के सर्वथा विरुद्ध देशी संगीत का जन्म हुआ । उसमें जनरुचि थी ; देश-देश के लोगों की जो हृदय-रञ्जनकारी रुचि थी, वह वादन, गायन और नृत्य युग 'देशी' संगीत के नाम से कही गई :

देशे-देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम् ।
गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते ॥

मार्गी संगीत में जहाँ स्मृतियों का पूर्वाग्रह है, देशी संगीत में वहाँ विकास के वैज्ञानिक ढंग हैं । उसी के द्वारा ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, ठप्पा, भजन और गीत आदि का जन्म हुआ । मार्गी संगीत अपौरुषेय ; किन्तु देशी संगीत पौरुषेय है । मार्गी संगीत में केवल देवाराधन की रुचि का सन्निवेश है ; उसकी अपेक्षा देशी संगीत में देवाराधन और जनाराधन, दोनों की भावनाओं का समावेश है । यही कारण है मार्गी संगीत जड़ बनकर एक ही स्थान पर जम गया और देशी संगीत निरन्तर अपना विकास करता हुआ युग के अनुसार ढलता गया ।

रागों का वर्गीकरण

भारतीय संगीत के पहिले आचार्य भरत हुए । भरत के 'नाट्यशास्त्र' में जातियों का जो विवरण दिया गया है, प्रकारांतर से वह राग-रागिनियों का सूचक है । फिर भी हम देखते हैं कि 'नाट्यशास्त्र' में राग-रागिनियों के वर्गीकरण पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है । राग-रागिनियों की चर्चा हम सर्व प्रथम नारदकृत 'संगीत-मकरन्द' में देखते हैं । यह ग्रंथ नारद के किसी संगीतविषयक ग्रन्थ का संस्करण है । इस ग्रन्थ में पुरुष-रागों और स्त्री-रागों

का अलग-अलग विभाग किया गया है। इसी समय शिवमत, कृष्णमत, भरतमत और हनुमन्मत का आविर्भाव हुआ, रागों के वर्गीकरण के लिए जिनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आंजनेयमत या हनुमन्मत के होने से, प्राचीन मूर्छना प्रणाली का ह्रास और देशी संगीत का विकास हुआ।

हनुमन्मत, भरतमत और रत्नाकर के बाद शार्ङ्गदेव का 'संगीत-रत्नाकर' इस दिशा का उल्लेखनीय ग्रंथ है। उसकी रचना तक मूर्छनाओं के प्रपंच का लगभग अन्त हो चुका था। शार्ङ्गदेव ने देशी रागों के जो लक्षण प्राचीन मूर्छना प्रणाली पर दिए हैं, वह केवल परम्परा के निर्वाह की दृष्टि से। तदनंतर दामोदर और अहोवल पण्डित ने रागों का अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया।

राग : रस : रागस्वरूप

भरतनाट्य के अभिमत को स्वीकार करते हुए शार्ङ्गदेव ने राग, रस और रागस्वरूप का विवेचन इस प्रकार किया है :

राग	रस	रागस्वरूप
षड्ज	वीर	गौर
ऋषभ	रौद्र, अद्भुत	लाल, पीला
गांधार	करुण	स्लेटी
मध्यम	हास्य	श्वेत
पंचम	श्रृंगार	श्यामल
धैवत	बीभत्स, भयानक	नीला, काला
निषाद	करुण	स्लेटी

शार्ङ्गदेव की रागपद्धति

आचार्य शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर', संगीत के लंबे इतिहास में अपना प्रमुख स्थान रखता है। पुरातन संगीत को शास्त्र की भूमिका प्रदान करने का श्रेय शार्ङ्गदेव को ही है। 'लक्ष्य' तथा 'लक्षण' के भेद को मिटाकर उन्होंने मार्गी और देशी संगीत में सामंजस्य की स्थिति पैदा की। उनके समय तक जितने भी राग प्रकाश में आ चुके थे, उन सबों को वैज्ञानिक विधि तथा व्यवस्थित ढंग से बाँधने का कार्य भी शार्ङ्गदेव ने ही किया। उन्होंने पुरातन

'राग-रागिनी' वर्गीकरण-सिद्धान्त को भी अमान्य कहा। भरत के पश्चात् मार्गी संगीत का प्रायः लोप हो चुका था। उसकी अनेक जातियाँ अवश्य ही प्रकाश में आ चुकी थीं। देशी संगीत के उदय के साथ ही रागों की संख्या अनगिनत हो गई थी। इन सभी रागप्रकारों का वर्गीकरण 'संगीतरत्नाकर' में देखने को मिलता है। प्रचलित रागों को शार्ङ्गदेव ने दस भागों में विभाजित किया, जिसके नाम हैं: १. ग्रामराग, २. उपराग, ३. राग, ४. भाषा, ५.विभाषा, ६. अन्तर भाषा, ७. रागांग, ८. भाषांग, ९. क्रियांग और १०. उपांग।

इनमें से प्रथम तीन रागों का संबंध प्राचीन राग-लक्षणों से है। षड्ज, मध्यम और ग्राम, जो ग्रन्थकार के समय में प्रचलित थे, विभिन्न गतियों से ही इन रागों का जन्म हुआ। ये तीनों राग मार्गी संगीत की विलुप्त परंपरा के स्मारक हैं। उनके बाद के तीन राग भाषा, विभाषा और अन्तर भाषा, देशी संगीत की स्थानीय शैलियों के रूप हैं। इनके द्वारा ही मार्गी और देशी संगीत के बीच सेतु का कार्य होता है। जातियों से उद्भूत होने पर भी उनमें देशी संगीत जैसा उन्मुक्त प्रवाह है। अन्तिम चार राग देशी संगीत की प्रादेशिक शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनमें ग्रामरागों तथा भाषाओं के अङ्ग रूपों का ध्वनन होता है।

श्रुति स्वरविभाजन की दृष्टि से भारतीय संगीत के तीन युग

श्रुति स्वर-विभाजन की दृष्टि से भारतीय संगीत के सारे इतिहास को तीन विभिन्न युगों में वर्गीकृत किया जा सकता है: पुरातन, मध्ययुगीन और आधुनिक। पुरातन युग की काल-सीमा अनादि युग से तेरहवीं शताब्दी ई० तक, मध्ययुग की सीमा चौदहवीं से अठारहवीं श० तक और आधुनिक काल की अवधि उन्नीसवीं शताब्दी से अब तक रखी जा सकती है।

पुरातन युग

इस युग में अनेकों ग्रन्थ रचे गए; किन्तु श्रुतिस्वर की दृष्टि से भरत का 'नाट्यशास्त्र' और शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' ही विवेच्य ग्रंथ हैं। भरत और शार्ङ्गदेव, दोनों ने ही एक स्थान (सप्तम) के अन्तर्गत बाईस श्रुतियाँ मानी हैं। उन दोनों की स्वर-विभाजन-प्रणाली भी एक जैसी है। भरत ने सात-सात

तारों की और शार्ङ्गधर ने बाईस-बाईस तारों की दो-दो वीणायें लेकर सप्तस्वरों की स्थापना की है।

मध्य युग

इस युग में श्रुति की दृष्टि से लिखी गई पहिली पुस्तक लोचन कविकृत 'रागतरंगिणी' है, जिसकी रचना १५वीं श० के आरम्भ में की गई। इस पुस्तक में जयदेव और विद्यापति का भी उल्लेख मिलता है। यह पुस्तक बड़े महत्त्व की है। यही प्रथम पुस्तक दिखाई देती है, जिसमें राग-रागिनी या मूर्छनाओं के वर्गीकरण के स्थान पर मेल या थाट की दृष्टि से वर्गीकरण किया गया है। इस युग की दूसरी पुस्तक अहोबल पण्डित की 'संगीत-पारिजात' है। इस ग्रन्थ में उन्होंने १९ स्वरों का नाम दिया है, जब कि केवल १२ स्वरों का ही प्रयोग किया है। श्रुतियों के आधार पर उन्होंने पाँच विकृति और सात शुद्ध स्वरों की स्थापना की; किन्तु उनकी यह स्थापना अधिक वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती है। इसी समय के लगभग हृदय-नारायण देव ने दो पुस्तकों की रचना की, जिनके नाम है, 'हृदयकौतुक' और 'हृदयप्रकाश'। इन पुस्तकों में भी अहोबल की स्थापना की पुनरावृत्ति दिखाई देती है।

१८ वीं शताब्दी में रचित श्रीनिवासकृत 'राग-तत्व-विबोध' में भी अहोबल के मतानुसार वीणा के तार पर बारह स्वरों की स्थापना की गई है; किन्तु श्रीनिवास ने उसका विवेचन विस्तार से किया है। उसकी दृष्टियाँ पूर्वापेक्षया अधिक वैज्ञानिक दिखाई देती हैं।

आधुनिक युग

आधुनिक युग में अतिस्वर पर प्रथम प्रकाश डालने वाली कृति पं० विष्णु नारायण भारतखंड की 'अभिनवमंजरी' है। उनका 'लक्ष्यसंगीत' भी इसी कोटि का ग्रंथ है। इन ग्रंथो में एक नई बात यह दिखाई देती है कि उनमें काफी थाट के स्थान पर बिलावल थाट को शुद्ध थाट माना गया है। इसका कारण बिलावल थाट की प्रसिद्धि है, जिसका कारण लोकगीत थे। भातखंडे जी ने प्रत्येक स्वर को, श्रीनिवास के मत के विपरीत, प्रथम श्रुति पर

रखा। उन्होंने तीन और चार श्रुतियों के अन्तर वाले स्वरों को शुद्ध स्वर माना और दो श्रुतियों के अन्तर वाले स्वर को कोमल।

भारतीय संगीत में श्रुति-स्वर-विभाजन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ यही रही हैं। इन्हीं के अनुकरण या आधार पर गौणतया दूसरे संगीतकारों ने भी अपना श्रुतिस्वर-दृष्टिकोण स्थिर किया।

संगीतविषयक ग्रंथों के निर्माण की परम्परा

भारतीय साहित्य में संगीतशास्त्र का भी अपना स्थान है। वैदिक युग से लेकर आज तक भारत के जनमन को प्रभावित करने में संगीतशास्त्र का सतत योग रहा है। काव्य, महाकाव्य, नाटक, काव्यशास्त्र, पुराण आदि जितने भी विषय हैं, उन सभी में संगीत की चर्चाएँ बिखरी हुई हैं। इसलिए लोकप्रियता तथा साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से संगीत का स्थान बहुत ऊँचा रहा है।

साहित्य और समाज में संगीत का सम्मान तो होता ही गया, वरन्, साहित्य के एक स्वतन्त्र अंग के रूप में भी संगीत ने अपना स्थान बनाया। चार उपवेदों में गन्धर्व वेद का भी एक नाम है। 'महाभारत' (शां० २१२।३३) में कहा गया है कि महामुनि नारद गंधर्वविद्या के प्रथम पारंगत विद्वान् हुए, जिनको इस उपयोगी विद्या का ज्ञान ब्रह्मा से मिला था। नारद के नाम से संगीतविषयक अनेक ग्रंथ आज उपलब्ध हैं; जैसे 'नारदीय शिक्षा', 'चत्वारिंशद् रागनिरूपण' और 'संगीतमकरंद'; किन्तु इन ग्रन्थों के वास्तविक रचयिता महर्षि नारद ही थे, इस सम्बन्ध में सन्देह है। विद्वानों का ऐसा अभिमत है है कि ये ग्रन्थ, पुरातनकाल में नारदमुनि द्वारा संगीत पर लिखित ग्रन्थों के संस्करण मात्र हैं और इनकी रचना १०वीं ११वीं शताब्दी से पहिले की कथमपि नहीं हो सकती है।

इसलिए इस दिशा का पहिला ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। इस ग्रन्थ के नाम से जैसा प्रकट है कि वह नाट्यशास्त्र पर लिखा गया है; किन्तु उसके २८, २९ और ३० वें अध्यायों में संगीत-सम्बन्धी बातों पर

भी विचार किया गया है। 'नाट्यशास्त्र' के इन प्रसंगों से विदित होता है कि तब तक ३ ग्रामों, २१ मूर्छनाओं, ७ स्वरों और २२ श्रुतियों का निर्माण हो चुका था। नाट्यशास्त्रकार ने लगभग २३ श्लोकों में स्वर के वादी, संवादी अनुवादी और विवादी प्रभृति अनेक स्थानों की विवेचना की है। 'नाट्यशास्त्र' की रचना ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में हुई थी।

विष्णुशर्मा का जो 'पंचतंत्र' संप्रति उपलब्ध है वह पाँचवीं शताब्दी की रचना है। उसकी एक कथा में संगीतविषयक एक महत्त्वपूर्ण श्लोक दिया गया है, जिसमें सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छना, उंचास तान, तीन मात्रा, तीन स्थान, नौ रस, छत्तीस राग और चालीस भाषाओं का उल्लेख मिलता है। संगीत के विकास की दृष्टि से 'पंचतंत्र' का यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस प्रसंग में आचार्य मातंगकृत 'बृहद्देशीय' नामक एक संगीत-ग्रन्थ की चर्चा विचारणीय है। इस ग्रन्थ को छठी शताब्दी में रचा गया मानते हैं। बहुत संभव है यह ग्रन्थ इतना प्राचीन न हो; किन्तु उसमें जो संगीत-विषयक विवरण दिए गए हैं, वे निश्चित ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ में ग्राम और मूर्छना पर विस्तार से विचार किया गया है। मातंग ने सात मुख्य राग गिनाये हैं और उनकी उत्पत्ति जातियों से बताई है। उन सात रागों के नाम हैं: टकी, सावीरा, मालव पंचम, षंडव, वट्टराग, हिंदोलक, और टक्क कौशिका।

पार्श्वदेव के 'संगीतसमयसार' में भोजराज और सोमेश्वर का उल्लेख है। भोजराज का समय १०५३ ई० और सोमेश्वर का समय ११८३ ई० है। इसी समय ११वीं, १२वीं शताब्दी के आसपास पार्श्वदेव हुए, क्योंकि सोमनाथ के 'रागविबोध' में 'संगीतसमयसार' का उल्लेख मिलता है। 'रागविबोध' की रचना शार्ङ्गदेव (१२१० ई०) से पहिले हो चुकी थी। इन दोनों ग्रन्थों में राग-रागिनियों और स्वरसम्बन्धी बातों की विस्तार से चर्चा की गई है।

नान्यदेव का 'सरस्वतीहृदयालंकार' १०९६-११३७ ई० के बीच लिखा गया। इस ग्रंथ में दाक्षिणात्य, सौराष्ट्री, गुर्जरी, बंगाली और सैंधवी आदि

अनेक देशी रागों का उल्लेख मिलता है। आचार्य शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' इस दिशा का प्रामाणिक एवं प्रौढ ग्रन्थ है, जिसकी रचना १२१०–१२४७ ई० के बीच हुई। उस पर पं० मल्लिनाथ ने १४५६-१४७१ ई० के बीच, विजयनगर के राजा प्रतापदेव की इच्छा से एक विशद टीका लिखी थी। मल्लिनाथ के पिता का नाम लक्ष्मीधर था। गुजरात के नांदोद सिंहभूपाल नामक एक दूसरे विद्वान् ने भी 'संगीतरत्नाकर' पर एक टिप्पणी लिखी। 'संगीतरत्नाकर' के अतिरिक्त शार्ङ्गदेव ने 'संगीतसमरसार' नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था। वे देवगिरि (दौलताबाद) के यादववंशीय राजा, संभवतः सिंघन के दरबारी थे।

संगीत-विषयक एक ग्रन्थ 'वीणाप्रपाठक' की हस्तलिखित प्रति बड़ौदा के प्राच्यविद्या मन्दिर में सुरक्षित है। उसको देखकर श्री रसिक लाल माणिक लाल पांड्या का कथन है (देखिए—संगीत, मासिक, अप्रैल, १९५५, पृ० १९) कि उसमें न तो ग्रन्थकर्त्ता का नाम है और न उसका लिपिकाल-रचनाकाल ही दिया गया है, किन्तु ग्रन्थ का एक-तिहाई भाग 'संगीतरत्नाकर' के 'वाद्याध्याय' से प्रभावित है। उसका उल्था मात्र कर दिया गया है। अतः इस ग्रन्थ का समय 'संगीतरत्नाकर' के बाद होना चाहिए; किन्तु उसके बाद वह कब रचा गया, इस संबंध में ठीक तरह से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

तदनन्तर संगीत पर अच्छे ग्रन्थ लिखे गए। दक्षिण में श्रीरङ्ग के राजा रामराज की आज्ञा से टोडरमल तिरुमामात्य के पुत्र रामामात्य ने 'स्वर-कलानिधि' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। उसका समय, शक सं० १५३१ (१६१० ई०) आश्विन सुदी तृतीया, उसकी पुष्पिका से निर्णीत है।

अकबर का समकालीन एक कर्नाटकी पण्डित पुंडरीक विट्ठल हुआ, जिसका समय १५९९ ई० है। पुंडरीक विट्ठल फारुकी-वंशीय अहमद खाँ के पौत्र, ताज खाँ के लड़के बुरहाम खाँ के यहाँ रहा करते थे। पुंडरीक एक महान् संगीतज्ञ होने के साथ-साथ महान् कवि भी था। पुंडरीक ने लोक प्रसिद्ध और परम्परागत पद्धति के अनुसार भारतीय रागों का, राग, रागिनी और पुत्र रागों में वर्गीकरण किया है। उनका वर्गीकरण अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण

एवं वैज्ञानिक है। पुंडरीक का उत्तर भारत के संगीत पर पूर्ण अधिकार था, और उसने उत्तरीय संगीत को, परिष्कार एवं व्यवस्था की दृष्टि से, बड़ा योग दिया। उसने संगीत पर चार ग्रन्थ लिखे, जिनके नाम हैं : 'सद्रागचंद्रोदय', 'रागमाला', 'रागमंजरी' और 'नर्तननिर्णय'। इन ग्रन्थों में वाद्य, राग और नृत्य, संगीत की इन तीन धाराओं पर नवीन पद्धति के अनुसार विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

मुगलकाल के संगीतज्ञ ग्रन्थकारों में पण्डित सोमनाथ का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'रागविबोध' नामक ग्रन्थ की रचना १५३१ ई० (१६१० शक, आश्विन तृतीया) में की। इस ग्रंथ में उन्होंने रागों की विभिन्न रीति-विधियों की विवेचना प्रस्तुत की और वीणाओं पर भी अच्छा प्रकाश डाला। सोमनाथ यद्यपि दाक्षिणात्य थे; किन्तु उत्तर भारत के संगीत से वे प्रभावित रहे। उन्होंने उत्तर और दक्षिण की दोनों पद्धतियों को अपनाया। अपने ग्रन्थ में उन्होंने हनुमान, मातङ्ग, निःशङ्क और मल्लिनाथ प्रभृति पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों का भी उल्लेख किया है।

भारतीय संगीत के क्षेत्र में प्रकांड विद्वान् दामोदर पण्डित का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका समय १६२५ ई० है। उनका 'संगीतदर्पण' ग्रन्थ भारतीय संगीत के सर्वोच्च ग्रंथों में गिना जाता है। इस ग्रंथ का १८वीं शताब्दी में एक फारसी अनुवाद हो चुका था। हिन्दी, गुजराती और बँगला में भी उसके अनुवाद हो चुके हैं। इसी से ग्रंथ की लोकप्रियता को आँका जा सकता है। इसका 'रागाध्याय' प्रकरण, शार्ङ्गदेव के ग्रंथ की नकल है।

औरंगजेब के शासनकाल में अहोवल नामक पण्डित ने १७५०-१७५७ ई० के बीच 'संगीतपारिजात' नामक एक सुंदर ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ का एक फारसी अनुवाद श्री दीनानाथ ने १७७४ ई० में किया। सोमनाथ की भांति इन्होंने भी उत्तर और दक्षिण की स्वर-विधियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इन दोनों ग्रंथकारों ने उस समय दक्षिण और उत्तर की पद्धतियों में सांगीतिक सम्पर्कों की स्थापना के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए।

'संगीतपारिजात' के पश्चात् पण्डित हृदयनारायणदेव ने 'हृदयकौतुक' और 'रागतरंगिणी' नामक दो ग्रंथ लिखे, जिनकी हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर

के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। संगीत की दिशा में पण्डित भावभट्ट का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने १६७४-१७०९ ई० के बीच संगीत पर तीन ग्रन्थ लिखे : 'अनूपविलास', 'अनूपांकुश' और 'अनूपसंगीतरत्नाकर'। उनके इस अन्तिम ग्रन्थ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम जनार्दन भट्ट था, जिन्होंने शाहंशाह शाहजहाँ के दरबार में रहकर नाम कमाया। भावभट्ट, कर्णसिंह के पुत्र बीकानेर के राजा अनूपसिंह के दरबारी थे। उनका मूल परिवार दक्षिण से सम्बद्ध था और बाद में वे उत्तर भारत में आकर बस गये थे।

उनके 'अनूपसंगीतरत्नाकर' में 'संगीतरत्नाकर', 'संगीतदर्पण', 'स्वरमेलकलानिधि', 'रागविबोध', 'संगीतकल्पवृक्ष', 'रागतत्त्वविबोध', 'रागकौतुक', 'संगीतोपनिषद्', 'नृत्यनिर्णय', 'सद्रागचन्द्रोदय', 'रागमंजरी', 'संगीतपारिजात', 'हृदयप्रकाश' और 'रागमाला' आदि अनेक ग्रन्थों की नामावली दी गई है। ये सभी ग्रन्थ अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में सुरक्षित हैं।

इसी समय व्यंकटमुखी नामक एक दाक्षिणात्य विद्वान् ने 'चतुर्दण्डप्रकाशिका' की रचना की, जिसमें ७२ थाट तथा ५५ रागों की चर्चा की गई है।

तदनन्तर मेवाड़ के महाराणा कुंभनदेव ने १७४८ ई० में 'वाद्यरत्नकोश' नाम का एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें विभिन्न वाद्यों के सम्बन्ध में अच्छा परिचय दिया गया है। नावानगर (सौराष्ट्र) के महाराजा जाम साहब के आश्रित विद्वान् श्रीकण्ठ पंडित ने १८वीं श० में 'रसकौमुदी' नाम से संगीत पर एक अच्छा ग्रन्थ लिखा।

भारतीय संगीत के उन्नयन एवं उत्थान में दाक्षिणात्य विद्वानों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। मधुरवाणी नाम्नी एक दाक्षिणात्य संगीतज्ञा का रचा हुआ एक ग्रंथ बंगलोर में उपलब्ध हुआ है। यह ग्रंथ ताड़पत्र पर एवं तैलंग लिपि में है। यह विदुषी तंजोर के रघुनाथ नामक राजा के दरबार में रहा करती थी। इसका शासनकाल १६२४–१६३२ ई० था। वह स्वयमेव कलाकार, विद्वान् और कलाकारों एवं विद्वानों का आश्रयदाता था। यह ग्रन्थ रामायणी कथा पर है, जिसमें १४ सर्ग और १५०० श्लोक हैं।

ग्रंथ की पुष्पिका में अपना परिचय देते हुए मधुरवाणी ने लिखा है कि वह वीणा बजाने में अत्यंत प्रवीण थी। संस्कृत और तैलंग भाषा की कविता करने में भी वह पटु थी। वह आशुकवयित्री भी थी, जो कि आधी घड़ी में १०० श्लोकों की रचना कर लेती थी।

राजा राधाकांतदेव का 'शब्दकल्पद्रुम' भी अच्छा ग्रंथ है। राधाकांतदेव का जन्म मौद्गल्य गोत्र में गोपीदेव के परिवार में हुआ। वह कृष्णानंद व्यास का समकालीन था। मेवाड़ के महाराणा द्वारा प्रदत्त 'रागसागर' की उपाधिवाले पं० कृष्णानंद व्यास ने 'रागकल्पद्रुम' ग्रन्थ १८४३ ई० में लिखा। यह ग्रंथ कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है। नकल होते हुए भी यह ग्रंथ रागों पर अच्छा विवेचन प्रस्तुत करता है। इसी कोटि का दूसरा ग्रंथ 'गीतसूत्रसार' कृष्ण बनर्जी ने १८५० ई० में लिखा।

इनके अतिरिक्त दक्षिण भारत के संगीतज्ञ विद्वानों में महात्मा त्यागराज, शामशास्त्री और सुब्बाराव दीक्षित का नाम उल्लेखनीय है।

भारतीय संगीत की सुदीर्घ परंपरा में अंतिम नाम श्री विष्णुनारायण भातखंडे का है, जिन्होंने संगीत विषय पर संस्कृत भाषा के ग्रन्थ-निर्माण की परंपरा को अमर बनाये रखा। उनका जन्म बम्बई के बालकेश्वर नामक स्थान में एक उच्च ब्राह्मण परिवार में १० अगस्त, १८६० ई० को हुआ। १९ वीं शती के भारतीय संगीतज्ञों में भातखंडे जी का सर्वोच्च स्थान है। भारतीय संगीत के इतिहास में उन्हें अपने विषय का एकमेव विद्वान् माना जाता है। भारतीय संगीताकाश का यह प्रकाशमान नक्षत्र यद्यपि १९ अगस्त १९३६ ई० को सर्वदा के लिए अस्त हो गया; किन्तु अपने ग्रन्थों के रूप में जिस ज्ञानालोक को वह छोड़ गया वह अमर है।

अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी और संस्कृत, इतनी भाषाओं पर भातखंडे जी का पूर्ण अधिकार था। उनके ग्रंथ हैं: 'स्वरमालिका' (गुजराती), 'गीतकालिका' (पत्रिका), 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' ४ भाग, 'अभिनवरागमंजरी' (संस्कृत) और 'लक्ष्यसंगीत' (संस्कृत)।

शब्दकोश

शब्दकोश

विलुप्तप्राय प्राचीन कोश

कोशग्रंथों की लेखन-परम्परा बहुत प्राचीन है। लगभग वैदिक युग में ही कोश विषय पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे थे। वेदमन्त्रों के द्रष्टा ऋषि-महर्षि ही कोशकार भी थे। इन कोश-ग्रन्थों के जो उद्धरण आज देखने को मिलते हैं, उनसे विदित होता है कि वे परवर्ती कोशों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न थे। प्राचीन समय में व्याकरण और कोश का विषय लगभग एक ही श्रेणी में गिना जाता था। यही कारण था कि जिन पुरातन आचार्यों ने व्याकरण की रचना की, वही प्रायः कोशकार भी थे। व्याकरण और कोश, दोनों एक ही शब्दशास्त्र के अंग थे।

ये प्राचीन कोश प्रायः सभी विलुप्त हैं। उनमें से कुछ के नाम तथा उद्धरण मिलते हैं; किन्तु उनके अतिरिक्त भी बहुत से ग्रन्थ सर्वथा अज्ञात हैं, जिनके सम्बन्ध में कुछ भी जानने को नहीं मिलता है।

इस प्रकार के विलुप्त कोश-ग्रंथों में भागुरिकृत कोश का नाम पहिले आता है। 'अमरकोश' की टीकाओं में भागुरिकृत एक प्राचीन कोश के उद्धरण लिखे मिलते हैं। हैम 'अभिधानचिंतामणि' की स्वोपज्ञ टीका में भी भागुरि के कोशग्रंथ के उद्धरण देखने को मिलते हैं। सायणाचार्य की 'धातुवृत्ति' में भागुरि के कोश का एक पूरा श्लोक उद्धृत है। यही श्लोक 'अमरटीका-सर्वस्व' में भी दिया गया है। पुरुषोत्तमदेव की 'भाषावृत्ति', सृष्टिधर की 'भाषावृत्तिटीका', तथा 'प्रभावृत्ति', से विदित होता है कि भागुरि के उस कोशग्रंथ का नाम 'त्रिकाण्ड' था। इन प्रमाणों के अतिरिक्त 'अमरकोश' की

सर्वानन्दविरचित 'टीकासर्वस्व' में भी भागुरिकृत 'त्रिकाण्ड' के अनेक वचन उद्धृत हैं। व्याकरणशास्त्र के प्रकरण में पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों की परम्परा में भागुरि का परिचय दिया गया है।

गृहपति शौनक ने 'बृहद्देवता' में आचार्य भागुरि का मत अनेक प्रसंगों में उद्धृत किया है, जिससे विदित होता है उन्होंने 'त्रिकाण्ड' के अतिरिक्त कोई अनुक्रमणिकाविषयक दैवत-ग्रंथ भी लिखा था।

भानुजी दीक्षित ने अपनी 'अमरकोशटीका' में आचार्य आपिशलि का एक वचन उद्धृत किया है, जिसको देखने से यह विश्वास होता है कि उन्होंने भी कोई कोशग्रंथ अवश्य लिखा था। 'उणादिसूत्र' के वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त द्वारा उद्धृत एक वचन से आपिशलि द्वारा विरचित कोशग्रन्थ-विषयक संभावना की पुष्टि होती है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में उद्धृत वैयाकरणों में आपिशलि भी एक थे।

केशव ने अपने 'नानार्थार्णवसंक्षेप' में शाकटायन के कोशविषयक अनेक वचन उद्धृत किए हैं, जिनको देखकर शाकटायन द्वारा विरचित किसी प्रौढ़ कोशग्रन्थ के वर्तमान होने की संभावना होती है। यह शाकटायन भी प्रकांड शब्दशास्त्रज्ञ था।

इसी प्रकार व्याडिकृत किसी विलुप्त कोश के अनेक उद्धरण कोशग्रन्थों की विभिन्न टीकाओं में देखने को मिलते हैं। हेमचन्द्र के निर्देशानुसार व्याडि के कोश में २४ बौद्ध जातकों के नाम उल्लिखित थे। इस दृष्टि से कोशकार व्याडि बुद्ध के उत्तरवर्ती अथवा उनके समसामयिक प्रतीत हाते हैं। इसलिए निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता है कि सुप्रसिद्ध वैयाकरण, अथ च संग्रह-कार व्याडि और कोशकार व्याडि एक ही थे या दो व्यक्ति हुए। मीमांसक जी ने कोशकार व्याडि को विक्रम का समकालीन माना है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि के शेष, वासुकि, भोगींद्र, फणिपति, अहिपति, और नागनाथ आदि अनेक पर्यायवाची नाम मिलते हैं। पतञ्जलि के इन नामों को एक कोशकार के रूप में भी उद्धृत किया गया है; वैसे तो पतञ्जलि के व्यक्तित्व की ख्याति एक वैयाकरण के रूप में विश्रुत है।

वैदिक शब्दकोश

निघंटु और निरुक्त, प्राचीन वैदिक शब्दकोशों के सम्बन्ध में यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है। निघंटु और निरुक्त का एक संस्करण डॉ० लक्ष्मण स्वरूप ने लाहौर से प्रकाशित कराया था। 'वेदार्थशब्दकोश' नाम से भी चमूपति ने एक सुन्दर शब्दकोश तीन भागों में लाहौर से प्रकाशित करवाया था। श्री विश्वबंधु शास्त्री ने इस क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है। उन्होंने 'वैदिकशब्दार्थपारिजात' (प्रथमखण्ड) 'ए कम्पलीट एटीमोलॉजिकल डिक्शनरी आफ दि वैदिक लैंग्वेज' और सात भागों में 'वैदिक पदानुक्रम कोश' आदि महत्त्वपूर्ण कोशग्रन्थों का निर्माण कर वेदार्थ ज्ञान के अभीप्सु अनुसंधायकों के लिए सुगम रास्ता तैयार कर दिया। इसी प्रकार श्री मधुसूदन शर्मा का 'वैदिककोश', श्री हंसराज का 'वैदिककोश', श्री केवलानन्द सरस्वती का 'ऐतरेय-ब्राह्मण-आरण्यक कोश', श्री गयानन्द शंभू साधले का 'उपनिषद् वाक्य महाकोश', श्री लक्ष्मणशास्त्री के 'धर्मकोश' के व्यवहार काण्ड, ३ भाग तथा उपनिषद् काण्ड ४ भाग, श्री भीमाचार्य झलकीकर का 'न्यायकोश' इस क्षेत्र के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

आधुनिक ढंग पर लिखे गए रॉथ, बोटलिंग, स्मिथ, मोनियर विलियम्स, विल्सन, बेनफे, मैक्डानल, पिशल, गेलनर, हिलेब्राँत, ग्रासमन, फोर्शगन और नीसेर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के वैदिक शब्दकोशों का हवाला वैदिक प्रकरण में दिया जा चुका है।

लौकिक संस्कृत के शब्दकोश

लौकिक संस्कृत में कोशग्रन्थों के निर्माण का आरम्भ, वैदिक शब्दकोश निघंटु के ही आधार पर एवं उसी की शैली के अनुसार हुआ। लौकिक संस्कृत के शब्दकोश एक ही प्रकार के नहीं हैं। कुछ कोशों में तो संज्ञाशब्दों एवं धातुशब्दों का ही संग्रह है और कुछ शब्दकोश संज्ञाशब्दों तथा अव्ययों को ही लेकर रचे गए। ऐसे शब्दकोशों का क्रम अकारादि वर्णों से न होकर पद्यबद्ध रूप में हुआ है। इन कोशों में समानार्थक और नानार्थक, दो प्रकार के शब्दों पर विचार किया गया है।

लौकिक संस्कृत के कुछ शब्दकोश आज नहीं मिलते हैं। ऐसे शब्दकोशों में कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दकोश', विक्रमादित्य का 'शब्दकोश' तथा 'संसारावर्त' और व्याडिकृत 'उत्पलिनी' आदि का नाम उल्लेखनीय है, जिनका निर्देश पहिले भी किया जा चुका है।

संप्रति उपलब्ध होनेवाला सर्वाधिक प्राचीन एवं सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त कोश अमरसिंह का 'अमरकोश' है। अमरसिंह बौद्ध था और उसकी गणना विक्रमादित्य के नवरत्नों में होने के कारण उसका संभावित समय चौथी से छठी शताब्दी के बीच बैठता है। 'अमरकोश' का निर्माण मैक्समूलर साहब के मतानुसार ईसा की छठी शताब्दी से पहिले ही हो चुका था, क्योंकि छठी शताब्दी में उसका एक अनुवाद चीनी भाषा में हो चुका था। डॉ० होरनेल उसका रचनाकाल ६२५-९४० ई० के बीच और. ओक ४०० ई० में मानते हैं। होरनेल महोदय का अभिमत ठीक नहीं है। ओक साहब और मैक्समूलर का मन्तव्य युक्तिसंगत है।

'अमरकोश' का दूसरा नाम 'नामलिंगानुशासन' भी है। यह कोश बड़ी ही वैज्ञानिक विधि से तयार किया गया है। इसकी उपयोगिता का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि इस पर लगभग पचास टीकाएँ लिखी गईं। इसकी प्रामाणिक एवं प्रचलित टीकाओं में प्रभा, माहेश्वरी, सुधा, रामाश्रमी और नामचन्द्रिका का नाम उल्लेखनीय है। इनमें भी क्षीरस्वामी भट्ट की १०५० ई० में लिखी गई टीका सर्वाधिक लोकप्रिय है। अमरसिंह के ही समय के आसपास शाश्वत नामक एक विद्वान् ने 'अनेकार्थसमुच्चय' की रचना की।

पुरुषोत्तमदेव (७वीं शती ई०) ने 'त्रिकाण्डकोश' (विश्वकोश) के नाम से 'अमरकोश' का एक परिशिष्ट लिखा, जिसमें पालि और प्राकृत के शब्दों का भी समावेश है। इन्होंने ही 'हारावली' नामक एक स्वतन्त्र कोशग्रन्थ भी लिखा, जिसमें ऐसे नवीन शब्दों पर भी प्रकाश डाला गया, जिनका उल्लेख पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं हुआ था। वररुचि (७वीं शती) कृत कोश का एक सटीक हस्तलेख राजकीय पुस्तकालय मद्रास में सुरक्षित है। १०वीं शताब्दी में हलायुध ने 'अभिधानरत्नमाला' नाम से एक कोश लिखा,

जिसमें ९०० श्लोक हैं। ११वीं शती में विशिष्टाद्वैतवादी दाक्षिणात्य आचार्य यादवप्रकाश ने एक वैज्ञानिक ढंग का कोश 'वैजयन्ती' नाम से लिखा। उसमें शब्दों और वर्णों का क्रम अकारादि से दिया गया है।

कोशग्रन्थों के निर्माण में जैन आचार्यों का प्रमुख भाग रहा है। महाकवि धनंजय (८वीं ९वीं श०) का 'धनंजयनिघण्टु' या 'नाममाला' एक छोटा सा, दो सौ पद्यों का बड़ा सुन्दर कोश है। इसके साथ ४६ श्लोकों की एक 'अनेकार्थनाममाला' भी संलग्न है, जो भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से, अमरकीर्ति के भाष्यसहित प्रकाशित है। उपलब्ध जैन कथाकोशों में हरिषेण का बृहत् कथाकोश सबसे प्राचीन है। इसका रचनाकाल ८५३ श० (सं० ९८९ वि०) है और इसकी श्लोक-संख्या साढ़े बारह हजार है। दिगम्बर सम्प्रदाय में 'आराधना-कथाकोश' के नाम से दो संस्कृत ग्रन्थ हैं: एक प्रभाचन्द्र का गद्यबद्ध और दूसरा मल्लभूषण के शिष्य नेमिदत्त का पद्यबद्ध। ११वीं शताब्दी का लिखा हुआ प्रभाचन्द्र का गद्यबद्ध 'आराधना-कथाकोश' और 'तिलकमंजरी' के रचयिता धनपाल का 'पाइअलच्छी नाममाला' नामक प्राकृत कोश, उल्लेखनीय हैं।

१२वीं शताब्दी में केशवस्वामी ने 'नानार्थार्णवसंक्षेप' एवं 'शब्दकल्पद्रुम', महेश्वर ने 'विश्वप्रकाश', अभयपाल ने 'नानार्थरत्नमाला', हेमचन्द्र ने एक बड़े पैमाने का 'अभिधानचिन्तामणि कोश' तथा 'अनेकार्थसंग्रह', 'देशी नाममाला', मंख कवि ने 'अनेकार्थकोश' और इसी शताब्दी के अन्त में मल्ल भट्ट ने 'आख्यातचन्द्रिका' नामक कोश लिखा।

सम्पूर्ण १३वीं शती का लिखा हुआ कोई कोशग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। १४वीं शताब्दी के अन्त में हरिहर द्वितीय के मन्त्री इरुगपद दण्डधिनाथ ने 'नानार्थरत्नमाला' नामक एक कोश लिखा। १५वीं शताब्दी के आदि में वामन भट्ट वाण ने 'शब्दचन्द्रिका' एवं 'शब्दरत्नाकर' और मेदनीकर ने 'अनेकार्थ-शब्दकोश' लिखा। १६वीं शताब्दी में श्रुतसागर का 'व्रतकथाकोश' और पद्म सुन्दर का 'सुन्दरप्रकाश शब्दार्णव' उल्लेखनीय है। यह दूसरा कोश नाहटा जी के संग्रह में है। १७वीं शताब्दी में केशव दैवज्ञ ने 'कल्पद्रुम' और अप्पय दीक्षित ने 'नामसंग्रहमाला' नामक दो कोश लिखे। ज्योतिष फलित तथा

गणित दोनों विषयों के शब्दों को लेकर वेदांग राघव (१७वीं श०) ने 'पारसी-प्रकाश' कोश लिखा ।

इनके अतिरिक्त महिप का 'अनेकार्थतिलक', श्रीमल्ल भट्ट का 'आख्यात-चिन्तामणि नाम क्रियाकोश', महादेव वेदांतिन् का 'अनादिकोश', सौरभी की 'एकार्थनाममाला-द्व्यक्षरनाममाला', राघव कवि का 'कोशावतंस' भोज की 'नाममाला', त्र्यंबक मिश्र का 'विशेषामृत', सहाजी का 'शब्दरत्नसमुच्चय', कर्णपूर का 'संस्कृत-पारसीक प्रकाश', हर्षकीर्ति की 'शारदीयाख्या नाममाला', जिसको कि श्री पाटंकर ने सम्पादित किया है और शिवदत्त का 'विश्वकोश' जिसको कि श्रीहर्ष ने सम्पादित किया है, लौकिक संस्कृत के कोशग्रंथों की उज्ज्वल परम्परा के परिचायक ग्रन्थ हैं ।

इनके अतिरिक्त भी एकाक्षर-द्विरूपाख्य कोश, गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष और वैद्यक आदि विषयों पर भी स्वतन्त्र कोश लिखे गए । कुछ प्राकृत भाषा के कोश-ग्रन्थों का उल्लेख मध्ययुगीन प्राकृत-साहित्य के अन्तर्गत किया जा चुका है । इसी प्रकार पालि के कोशग्रन्थों की सूचना पालि-साहित्य के प्रसङ्ग में दे दी गई है ।

आधुनिक कोश

कोशग्रंथों का निर्माण कार्य आज भी उत्कर्ष पर है । आधुनिक कोशग्रन्थों में तारानाथ तर्कवाचस्पति का 'वाचस्पत्य', राधाकांतदेव का 'शब्दकल्पद्रुम', विजयराजेन्द्रसूरि का 'अभिधान-राजेन्द्रकोश' (सात भागों में), सुखानंद नाथ का 'शब्दार्थचिन्तामणि' (चार भागों में) आदि विश्वकोश के स्तर के बृहद् ग्रन्थ हैं ।

हरगोविन्ददास का 'पाइअ-सद्द-महण्णव' (चार भागों में), प्राकृत-हिन्दीकोश, और ज्ञानचन्द्र स्वामी की 'अभिधानप्रदीपिका' भी विशेष महत्त्व के कोश हैं । आधुनिक कोशग्रंथों की परम्परा में ग्रेब्ज हागुन की 'डिक्शरी ऑफ बंगाली ऐंड संस्कृत', बेनफे की 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी', रामजसन की 'संस्कृत ऐण्ड इंग्लिश डिक्शनरी', आनन्दोराम बरुआ की 'प्रेक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी', मोनियर विलियम्स की 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्श-

नरी', जीवराम उपाध्याय का 'सरस्वतीकोश', द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी का 'संस्कृत-हिन्दी कोश', रत्नचन्द्र जैनमुनि द्वारा ए० सी० वुल्नर की डिक्शनरी का अनुवाद 'सचित्र अर्धमागधी कोश' (५ भागों में), वामन शिवराम आप्टे की 'प्रेक्टिकल संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' तथा 'स्टुडेन्ट्स इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी', विश्वम्भरनाथ शर्मा का 'संस्कृत-हिन्दी कोश', मेक्डानल की 'प्रेक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी', गणेशदत्त शास्त्री का 'पद्मचन्द्रकोश', कैप्पेलर की 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी', गिरिजाशङ्कर मायाशङ्कर मेहता का 'संस्कृत-गुजराती शब्दादर्श', विद्याधर वामन भिडे की 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी', रूपलाल वैश्य का 'रूपनिघण्टु', पी० वी० पाठक का 'अर्धमागधी-इंग्लिश, इंग्लिश-अर्धमागधी कोश', टी० डब्ल्यू० रेज डेविट तथा विलियम स्टीड की 'पालि-इंग्लिश डिक्शनरी' (आठ भागों में), फ्रैंकलिन एगर्टन की 'बुद्धिस्ट हैब्रिड संस्कृत ग्रामर ऐण्ड डिक्शनरी', ऋषीश्वर भट्ट का 'आधुनिक संस्कृत-हिन्दी कोश', द्वारिका प्रसाद शर्मा तथा तारिणीश झा का 'संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ', सिद्धसरहपाद के 'दोहाकोश' का राहुल जी द्वारा हिन्दी रूपान्तर, रामस्वरूप शास्त्री का 'आदर्श हिन्दी-संस्कृत कोश', जीवानन्द विद्यासागर का 'शब्दसागर', दत्ते कर्वे का 'शास्त्रीय परिभाषाकोश', शतीशचन्द्र विद्याभूषण का 'अमरकोश' का संस्कृत-तिब्बती संस्करण और मोनियर विलियम्स की उक्त डिक्शनरी के दिल्ली तथा लखनऊ से प्रकाशित दो हिन्दी संस्करण उल्लेखनीय कार्य हैं।

शब्दकोशों का निर्माणकार्य आज बड़ी उन्नति पर है। सरकार का शिक्षा-विभाग अलग-अलग विषयों पर हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली प्रस्तुत करा रहा है, और फलस्वरूप इस विषय के छोटे-छोटे कई कोश प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त कोशग्रंथों के निर्माण का कार्य सरकार ने तत्सम्बन्धी कई संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों को सौंपा है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निरीक्षण में हिन्दी विश्वकोश की योजना इस दिशा की, एवं सरकार के कोशनिर्माण कार्य की सर्वोत्तम योजना है। राज्य सरकारें भी स्वतन्त्र रूप से कोशों का निर्माण करवा रही हैं।

नाटक

उद्भव : अभ्युत्थान : विकास

नाट्यकला की प्राचीनता

उद्भव

संस्कृत-साहित्य में नाटकों की अपनी एक विशिष्ट परम्परा रही है। भारतीय साहित्य की विभिन्न विचार-वीथियों में लोकप्रियता की दृष्टि से नाटकों का पहिला स्थान है। वैदिक युग में नाट्यकला के अस्तित्व के सम्बन्ध में हमें पर्याप्त सामग्री बिखरी हुई मिलती है। ऋग्वेद के निर्माण तक, जो कि वैदिक साहित्य का प्राचीनतम भाग और विश्व-साहित्य के क्षेत्र में पहिला ज्ञान-संग्रह है, नृत्यकला पर्याप्त प्रकाश में आ चुकी प्रतीत होती है। उषा के वर्णन-प्रसङ्ग में उसकी उपमा एक नर्तकी से दी गई है। पुरूरवा-उर्वशी, यम-यमी, इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि, सरमा-पाणिस आदि ऋग्वेदोक्त संवाद-प्रसंगों में नाट्यकला के बीज यथेष्ट रूप में बिखरे हुए मिलते हैं। 'कात्यायन श्रौतसूत्र' में तो सोमपान के अवसर पर एक लघु अभिनय का भी प्रसंग आता है। सोमयाग नामक यज्ञक्रिया की योजना सोमरसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी किया करते थे। सोमविक्रेता वनवासियों के यजमान और अध्वर्यु के संवाद भी नाट्यकला की प्राचीनता का द्योतन करते हैं।

मैक्समूलर, लेवी और ओल्डेनवर्ग प्रभृति विद्वानों ने वेदों में प्रयुक्त इस प्रकार के संवादात्मक सूक्तों को आधार मान कर भारतीय नाट्यकला की उत्पत्ति वैदिक युग में सिद्ध की है। इन विद्वानों के अनुसन्धानों का परीक्षण कर और वेदमन्त्रों में बिखरे हुए तत्संबंधी सूक्तों का बारीकी से अध्ययन कर

डॉ० दासगुप्ता भी इस अभिमत से सहमत हैं कि वेदमन्त्रों में नाटकीय तत्त्व प्रचुर रूप में विद्यमान हैं, और तत्कालीन जन-जीवन के धार्मिक अवसरों, संगीत-समारोहों तथा नृत्योत्सवों से नाटक का घनिष्ठ संबंध था।

संस्कृत के नाटकों की अति प्राचीनता के संबंध में ऋग्वेद के बाद यजुर्वेद में भी कुछ विस्तार से चर्चा की गयी है। यजुर्वेद की 'वाजसनेयसंहिता' के एक प्रसंग से अवगत होता है कि वैदिक युग में एक शैलूष नामक जाति के लोग व्यावसायिक रूप से नाटकों का आयोजन कर जीविकोपार्जन किया करते थे। इस प्रसंग में बताया गया है कि यज्ञ के अवसरों पर नृत्य-गीतादि के लिए सूत और शैलूष लोगों की नियुक्ति की जाती थी, जो कि नृत्य एवं संगीत द्वारा नाट्याभिनय करते थे। इन प्रसंगों के संबंध में डॉ० दासगुप्ता का कथन है कि यद्यपि वैदिक युग में नाटकीय तत्त्व प्रचुर रूप में प्रचलित थे, तथापि इनका अनुशीलन कर यह नहीं कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज के या उक्त प्रसंगों में उद्धृत सूत और शैलूष लोग नाटक-नियमों से पूर्णतया अभिज्ञ थे। हमें वेदमन्त्रों के किसी भी प्रसंग में पात्रों का वर्णन और नाटक-संबंधी पारिभाषिक शब्दावली के कहीं भी दर्शन नहीं होते हैं। फिर भी कदाचित् यह संभव है कि तत्कालीन धार्मिक अवसरों से नाट्यकला का गर्भस्थ शिशु की भांति संबंध रहा हो, जिसका कि पूर्ण विकास नहीं हो सका था।

उत्तरवर्ती सहित्य में हमें नाटकों एवं नाट्यकला की शिल्पविधियों का पूरा इतिहास दिखाई देता है। 'अष्टाध्यायी', 'रामायण', 'अर्थशास्त्र', 'बौद्धजातक' और महाकाव्यों आदि में हमें नाट्यकला के विभिन्न अंगों, उसके पात्रों और साथ ही पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। रामायण-काल की अयोध्या नगरी में नाटक-मण्डलियाँ प्रभूत ख्याति अर्जित कर चुकी थीं। कुशीलव (नट-नर्तक) लोगों का उस समय काफी प्रचार हो चुका था। 'रामायण' के एक प्रसंग में कहा गया है कि नटों, नर्तकों और गायकों की मण्डलियों की कर्ण-सुखद वाणियों को जनता पूरी तन्मयता से सुनती थी। महामुनि वाल्मीकि का कथन है कि शासकहीन जनपद में 'नट' और 'नर्तक' प्रसन्न नहीं दिखाई देते।

महावैयाकरण पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में हमें भिक्षुसूत्रों और नटसूत्रों के प्रणेता पाराशर्य शिलालि तथा कृशाश्व नामक दो प्राचीन आचार्यों का केवल नाम ही देखने को मिलता है। इनके नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की उपलब्धि संभव हुई होती तो नाट्यकलासंबंधी बहुत सी बातों की सूचनाएँ विदित हो गई होतीं।

'रामायण' और 'अष्टाध्यायी' के उपरांत 'महाभारत' में नाटकों के शिल्प-संबंधी विधानों का अधिक स्पष्टीकरण मिलता है। 'हरिवंश' के, जो 'महाभारत' का ही एक अंश है, प्रद्युम्न-विवाह के प्रसंग में निर्देश किया गया है कि वसुदेव जी के अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर भद्र नामक एक नट ने अपने आकर्षक नाट्य-प्रदर्शन से उपस्थित ऋषि-महर्षियों को प्रसन्न किया था, जिसके फलस्वरूप कि उसने आकाश में विचरण करने तथा स्वेच्छया रूप-धारण करने का वरदान प्राप्त किया था। 'महाभारत' में 'रामायण नाटक' और 'कौबेर-रंभाभिसार' नामक दो नाटकों का भी नाम मिलता है। 'महाभारत' में नट, नर्तक, गायक, सूत्रधार आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

मौर्य-साम्राज्य की कीर्तिकथा को धरती भर में फैला देने वाले अद्भुत विद्वान् कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अध्ययन से पता चलता है कि अन्य कलाओं के अतिरिक्त जितनी भी ललित कलाएँ थीं, उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए उस समय राज्य की ओर से पूरा प्रबंध था। अर्थशास्त्रकार ने एक सुगठित राज्य-व्यवस्था के लिए विधान दिया है कि उसमें गणिका, दासी, अभिनेत्री, गायिका आदि के लिए चित्रकारी, वीणावादन, वेणुवादन, मृदंगवादन, गंध-निर्माण और शरीर-शृङ्गारादि की जितनी भी चौसठ प्रकार की कलाएँ हैं, उनके शिक्षण के लिए राज्य की ओर से सुयोग्य आचार्यों का प्रबंध होना चाहिए। 'अर्थशास्त्र' से ही हमें यह भी जानने को मिलता है कि उस समय नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर खेल दिखाने वाले), सौमित्र (ऐंद्रजालिक) और चारण आदि की विभिन्न मंडलियाँ गा, बजा और नाटक करके जीविकोपार्जन किया करती थीं। इन मंडलियों को राज्य में प्रविष्ट होने से पूर्व निर्धारित राजकर (Entertanment) भी अदा करना पड़ता था, जो कि प्रत्येक खेल के लिए पाँच पण नियुक्त था।

ईसवी पूर्व की शताब्दियों में रचे गए आरंभिक बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि उस समय नाट्यकला का भारतव्यापी प्रचार हो चुका था। 'विनयपिटक' के 'चुल्लवग्ग' की एक कथा में बताया गया है कि अश्वजित् और पुनर्वसु नामक दो भिक्षु एक बार जब कीटागिरी की रङ्गशाला में अभिनय देखने के बाद एक नर्तकी के साथ प्रेमालाप करते हुए पकड़े गए तो विहार के महास्थविर ने उन्हें तत्काल विहार से निष्कासित कर दिया था।

इसी प्रकार वैयाकरण पतंजलि के 'महाभाष्य' में हमें दो नाटक कृतियों का निर्देश मिलता है, जिनके नाम हैं 'कंसवध' और 'बालिवध'। डॉ० कीथ का कथन है कि पतंजलि के समय तक नट केवल नर्तक भर ही नहीं रह गए थे, वरन्, वे संगीतज्ञ भी थे और संगीत तथा अभिनय द्वारा नाटकों का सफल प्रदर्शन भी करने लग गए थे। कीथ के मतानुसार संस्कृत के नाटकों की प्राचीनता ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी के लगभग बैठती है।

कामशास्त्र के विख्यात आचार्य वात्स्यायन का कथन है कि तत्कालीन कलापूर्ण सरस्वती-भवनों में पक्ष या मास के प्रसिद्ध पर्वों पर राजा की ओर से नियुक्त नटों द्वारा अभिनय होता था। इस उत्सव को तब 'समाज' कहा जाता था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अभिमत है कि धार्मिक उत्सवों के अवसर पर देवालयों में और पुत्रजन्मोत्सव या विवाहोत्सव पर घरों में प्राचीनकाल में ही रंगशालाओं का निर्माण हो चुका था और नाट्यकला का खूब प्रचार हो चुका था।

इसलिए यह निर्विवाद सत्य है कि संस्कृत-साहित्य में नाटकों के निर्माण की परंपरा बहुत पुरानी है और आदिकाल से ही भारतीय जन-जीवन के मनोरंजन के लिए इन नाटकों को श्रेष्ठ माध्यम के रूप में अपनाया जाता रहा है। साहित्य विद्या के विभिन्न अङ्गों में आचार्य वामन ने नाटक को पहिला स्थान दिया है; क्योंकि कथा, आख्यायिका, महाकाव्य, काव्य आदि के पठन-पाठन से वास्तविक आनंद की अनुभूति तभी संभव है, जब उसमें नाटकत्व का भी समावेश हो; जब पाठक के समक्ष कथा, आख्यायिका

आदि के पात्र नाटक के सजीव पात्रों की भांति अभिनय करते हुए दृष्टिगत होते हैं, तभी काव्यरस की वास्तविक उपलब्धि संभव है। आचार्य अभिनव गुप्त का भी कथन है कि अभिनेय काव्य (नाटक) ही एक ऐसा काव्यांग है, जिससे रङ्गमञ्च के वातावरण, पात्रों के आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय एवं क्रिया-व्यापार के द्वारा हृदयहीन सामाजिक भी सहृदय सामाजिक की भांति अलौकिक आनन्द का रस प्राप्त कर लेता है। समग्र काव्य-साहित्य में नाटक की उपयोगिता का यही रहस्य है।

संस्कृत के नाटकों की उपयोगिता का एक कारण यह भी है कि उनमें जनभावना की प्रधानता है। अधिक से अधिक ख्याति अर्जित करने के लिए संस्कृत-नाटकों में इस जनरुचि को स्थान दिया गया। संस्कृत के नाटककारों ने अपने नाटकों की कथावस्तु धर्मग्रन्थों, पुराणों या काव्यों से उधार लेकर उसको जनता की रुचि में ढालकर देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार जन-रंजन की दृष्टि से ऐसे नाटकों की योजना की, जो विद्वत्समाज तथा जन-सामान्य के लिए एक जैसी उपयोगिता अर्जित कर सकते थे। इस दृष्टि से एक काव्यकार की अपेक्षा एक नाटककार अधिक दायित्व अनुभव करता है। काव्यकार और नाटककार दोनों कवि हैं; किन्तु जहाँ कवि की वर्तमान समाज के प्रति उतनी निष्ठा नहीं रहती, जितनी भविष्य के प्रति, वहाँ नाटककार के समक्ष भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का तकाजा अधिक बलवान् होता है। कवि और नाटककार में यही मौलिक अंतर है।

भारतीय नाटकों के जन्मदाता रास और स्वांग तत्कालीन जनरुचि के अधिक अनुकूल थे। उनमें गद्यात्मक संवादों की अपेक्षा संगीतात्मकता अधिक थी। भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं के इतिहास में इन रास और स्वांग को लोकनाट्य का प्रभावोत्पादक माध्यम माना गया है। इस प्रकार के नाटक 'ड्रामेटिक पोएट्री' (नाट्यकाव्य) के नाम से कहे गए; जिनकी रचना कवितात्मक थी, पात्रों के प्रवेश एवं प्रस्थान का, अंक-विभाजन दृश्य-परिवर्तन आदि का कोई विचार नहीं था; और जिनमें गति-निर्देश के लिए छन्दों का सहारा लिया गया था, तथा लेखक अपने स्थलों पर

स्वयं ही पात्र बनकर कथानक के प्रवाह को आगे बढ़ाता था। इस प्रकार के नाटक प्राचीनता और उपयोगिता, दोनों दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

आचार्य भरत का मत

आचार्य भरत भारतीय नाट्यशास्त्र के आदि निर्माता हैं, जिनके सम्बन्ध में काव्यशास्त्र की आलोचना करते हुए यथास्थान पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। भरत के मतानुसार नाट्य नामक पंचम वेद तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है। इसी प्रसङ्ग की व्याख्या में उन्होंने बताया है कि नाट्यवेद के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम, शान्ति, युद्ध, क्रीडा, हास्य आदि सभी बातों का समावेश रहता है। निष्कर्ष यह है कि नाट्यवेद में न केवल धर्मात्मा या ज्ञानियों की ही चर्चा रहती है, या उसका निर्माण न केवल किसी विशिष्ट वर्ग के लिए किया गया है, वरन्, कामुकों के लिए कामसेवन, दुर्विनीतों के लिए निग्रह की सामग्री, क्लीबों के क्लीबत्व तथा शूर-वीरों के उत्साह की भी इसमें व्यवस्था रहती है; उसमें मूर्खों की मूर्खता, विद्वानों की विद्वत्ता, धनिकों के विलास, दुःखार्तों के लिये आश्वासन, अर्थलिप्सुओं को अर्थोपलब्धि के उपाय, आर्तजनों के लिये त्राण आदि ऐसे विभिन्न विषयों का समावेश एक साथ रहता है, जिसमें असमान प्रकृति के लोग अपने-अपने भावों तथा अपनी-अपनी रुचियों, समस्याओं एवं अवस्थाओं का पूरा चित्र अपनी आँखों से देख सकें।

आचार्य भरत के मतानुसार सभी प्रकार के मनुष्यों का अनुकरण होने के कारण नाटक में सभी प्रकार का ज्ञान, शिल्प, विद्याएँ, कलाएँ और शास्त्र समन्वित रहते हैं। वह वेदविद्या है, इतिहास है और उसमें श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा सब को विनोद प्रदान करने के साधन भी विद्यमान रहते हैं।

'नाट्यशास्त्र' के अध्ययन से विदित होता है कि आत्रेय आदि विभिन्न तपःपूत मनस्वियों एवं मुनियों द्वारा, महामुनि भरत से यह पूछे जाने पर कि उन्होंने नाटक का निर्माण क्यों किया और उसमें क्या-क्या नवीनताएँ

भरपूर हैं, महामुनि ने कहा : 'स्वायंभुव मनु के सत्ययुग के बीत जाने पर वैवश्वत मनु के त्रेतायुग में जब समस्त जन-समाज काम-क्रोधादि दुर्व्यसनों से लिप्त हो रहा था, तब समग्र देवगण ने पितामह ब्रह्मा के पास जाकर इस दुरवस्था का हाल कह सुनाया और उनसे आग्रह किया कि जम्बूद्वीप के समस्त प्रजाजनों का दुःखमय एवं दुर्व्यसनपूर्ण जीवन जिस युक्ति से सुखमय तथा सदाचरणशील बन सके एवं जिससे सभी वर्णाश्रमों के लोग समानरूप से एक स्थान पर बैठ आनंद प्राप्त कर सकें, हे प्रभो, वैसा उपाय निकालिए।

'देवताओं की अभीष्टपूर्ति का संकल्प कर पितामह ने उन्हें वापिस किया। तदनंतर उन्होंने चारों वेदों का स्मरण किया और तब उन्हें एक ऐसे 'वेद' की रचना करने की प्रेरणा सूझी, जिससे देवगण एवं मनुष्यगण सभी को धर्म, अर्थ और यश की उपलब्धि हो सके; ऐसी उपलब्धि कि जिसमें उपदेश भरे हों, जिसमें साथ-साथ इतिहास भी हो। ऐसा सर्वांगीण शास्त्र नाट्यवेद होगा; जिसकी रचना सभी शास्त्रों के तत्त्वों को मिलाकर की जायगी; उसी से सुगमतापूर्वक सभी शिल्प प्रदर्शित किए जा सकेंगे—यह जानकर प्रजापति मन-ही-मन आनंद-विभोर हो उठे'।

सर्वशक्तिमान् जगत्पिता ब्रह्मा ने इस प्रकार की चिंतना कर नाटक नामक पंचमवेद की रचना की और उसके अभिनय का पूरा भार महामुनि भरत को सौंप दिया। स्त्री-पात्रों के लिए अनिंद्य सुंदरी अप्सराओं की रचना की गई; रंगशाला की साज-सज्जा का सारा दायित्व कलागुरु विश्वकर्मा ने स्वीकार किया। उसमें सर्वप्रथम 'असुरपराजय' फिर क्रमशः 'अमृतमंथन' और 'त्रिपुरदाह' आदि नाटक अभिनीत हुए।

'नाट्यशास्त्र' के इन उल्लेखों से पता चलता है कि भरत मुनि के समय में ही (१) नट, (२) नटी, (३) नृत्य, (४) वाद्य, (५) संगीत, (६) संवाद, (७) कथावस्तु और (८) रंगमंच आदि का भी निर्माण हो चुका था।

नाटक की उत्पत्ति के संबंध में पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों की एक जैसी धारणाएँ, एक जैसे अनुसंधान हैं। भरत मुनि ने नाटक का प्रयोजन

जिन दुःखार्त, श्रमार्त एवं शोकार्त जनों की संतुष्टि के लिए बताया है, उसी बात को यूनान के युगद्रष्टा विद्वान् अरस्तू ने भी कहा है।

अनुकृति, नाटक की प्रेरणा का प्रधान उद्देश्य है। विद्वानों का अभिमत है कि जिस दिन किसी बालक ने खेल-ही-खेल में अपने किसी बड़े व्यक्ति के अनुकरण की कल्पना की, उसी दिन नाटक का जन्म हुआ और तब से यह उत्तम कला निरंतर विकास को प्राप्त होती गई।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अभिमत

डॉ० रिजवे नाटक की उत्पत्ति का मूल कारण वीरपूजा को मानते हैं। उनका कहना है कि दिवंगत वीर पुरुषों की स्मृति में समय-समय पर जो सामूहिक संमान प्रदर्शित किया जाता था उसी से नाटक का जन्म हुआ। ग्रीक और भारत में लगभग मृतवीरों के प्रति पूजाभाव प्रदर्शित करने के तरीके एक जैसे थे। भारत में रामलीला और कृष्णलीला इस प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

डॉ० रिजवे के विपरीत डॉ० कीथ का अभिमत है कि प्राकृतिक परिवर्तनों को जनसाधारण के समक्ष मूर्तरूप में प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति ने ही नाटकों को जन्म दिया। 'महाभारत' में निर्दिष्ट 'कंसवध' नाटक के संबंध में डॉ० कीथ का कहना है कि इस नाटक का मुख्य उद्देश्य वसंत ऋतु पर हेमन्त ऋतु की विजय दिखाना था, और कृष्ण का विजय-प्रसंग उद्भिज् जगत् के भीतर चेष्टा दिखलाने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीक मात्र था।

तीसरे जर्मन विद्वान् डॉ० पिशेल पुत्तलिका-नृत्य से नाटक की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं। डॉ० पिशेल के मतानुसार इस नृत्य का जन्मदाता भारत था और वहीं से विश्व भर में इसका प्रचार-प्रसार हुआ।

डॉ कोनो छाया नाटकों से नाटकों का आरंभ मानते हैं। किन्तु संपूर्ण संस्कृत-साहित्य के सुभट कवि का एकमात्र छाया नाटक 'दूतांगद' ही उपलब्ध होता है। अतः भारत के संबंध में यह मत अप्रासंगिक प्रतीत होता है।

'मे-पोल' नृत्यों के आधार पर भी कुछ विद्वान् नाटकों का उदय मानते हैं। यह नृत्य पश्चिमी देशों में मई मास में बड़ी धूम-धाम से संपन्न होता है। भारत में इन्द्रध्वजोत्सव से जिसकी बहुत समानता बैठती है।

अभ्युत्थान

(१) भास

जीवनी

संस्कृत-साहित्य में नाटकों की उपलब्ध परम्परा का प्रवर्तन भास से आरम्भ होता है। भास का अभी तक कोई प्रामाणिक जीवनवृत्त नहीं मिला है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वे उज्जयिनी के थे। इसीलिए उन्होंने अपने नाटकों के लिए राजा उदयन की कथा को चुना था। स्टेन कोनो का कथन है कि भास, क्षत्रप राजा रुद्रसिंह प्रथम (२०० ई०) के राज्यकाल में हुए। अपने नाटकों की पुष्पिका के भरतवाक्य में उन्होंने जिस 'राजसिंह' पद का उल्लेख किया है उसका संकेत इन्हीं रुद्रसिंह प्रथम से था। किन्तु भरतवाक्य में उल्लिखित 'राजसिंह' व्यक्तिवाचक न होकर किसी ऐसे सम्राट् के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसका हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तथा समुद्रपर्यन्त एकाधिपत्य था। इतने बड़े साम्राज्य का स्वामी क्षत्रप राजा रुद्रसिंह प्रथम नहीं था। इसलिए स्टेन कोनो की यह खोज कल्पनामात्र है।

भास के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती यह भी है कि वे जाति से धोबी थे; किन्तु इसमें भी कोई सच्चाई नहीं है। भास निश्चित रूप से दाक्षिणात्य थे और सम्भवतः त्रावणकोरनिवासी। भास के नाटकों में जिस संस्कृति और जिन आचार-विचारों का समावेश हुआ है उनका सम्बन्ध दक्षिण से अधिक है।

भास के नाटकों को प्राप्त कर उनको प्रकाश में लाने तथा भास के सम्बन्ध में सर्वथा नई सूचना देने का श्रेय महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री को है। त्रावणकोर में हस्तलिखित पोथियों की खोज करते समय उन्हें १९०९ ई० में भास के १३ नाटकों का पता लगा था, जिनको उन्होंने १९१२–१३ ई० के बीच त्रिवेन्द्रम् से 'त्रयोदश त्रिवेन्द्रं नाटकानि' नाम से प्रकाशित किया। स्व० शास्त्री जी ने भास तथा उनकी नाटकीय निपुणता पर विस्तृत समीक्षा लिखकर यह सिद्ध किया कि ये सभी नाटक प्रामाणिक

रूप से भास कृत हैं और भास का स्थितिकाल कालिदास से पहले है। किन्तु भास के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में शास्त्री जी ने भी कुछ नहीं लिखा।

फिर भी, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कि प्राचीन संस्कृतज्ञ विद्वानों के बीच भास का श्रेष्ठ स्थान रहा है और विभिन्न कृतियों में उनका नामोल्लेख तथा उनके ग्रन्थों के उद्धरण दिए गये हैं, इससे यह प्रमाणित होता है कि भास ने संस्कृत के क्षेत्र में ऐसा कार्य किया, जैसा कि उससे पूर्व नहीं हुआ था।

भास की प्रशस्ति

यद्यपि भास और उनके कृतित्व को प्रकाश में आये अभी कुछ ही समय हुआ है; किन्तु एक महान् नाटककार होने के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थकारों द्वारा की गई उनकी प्रशस्ति से संस्कृत-जगत् बहुत पहले ही से परिचित हो चुका था। महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में भास के यशस्वी एवं प्रतिष्ठित व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखा है :

'प्रथितयशसां भास-सौमिल्ल-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमन्यमानः ?'

अर्थात् भास, सौमिल्ल तथा कविपुत्र आदि विश्रुत, यशस्वी और लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थकारों के प्रबन्धों का अतिक्रमण कर यह कैसे सम्भव है कि इस वर्तमान कवि कालिदास की रचनायें सराहनीय स्थान प्राप्त कर सकें ?

कालिदास जैसे युग-प्रवर्तक महाकवि का ऐसा कहना इस बात का प्रमाण है कि उनके समय तक भास, सौमिल्ल तथा कविपुत्र आदि प्रबन्धकारों की कृतियाँ समाज में अपना विशिष्ट स्थान बना चुकी थीं; और स्वयं कालिदास को भी जिनकी श्रेष्ठता शिरोधार्य थी।

सौमिल्ल और कविपुत्र के सम्बन्ध में कुछ जानने के लिए आज भी कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं; किन्तु भास के बारे में अब वैसी बात नहीं रही है। भास के नाटकों की लोकविश्रुति और उनकी नाटकीय विशेषताओं के सम्बन्ध में बाणभट्ट (६५० ई०) ने अपने 'हर्षचरित' की एक श्लेषोक्ति में कहा है :

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

अर्थात् भास ने, सूत्रधार (निर्देशक तथा स्थपति) द्वारा आरम्भित, भूमिका (पार्ट तथा प्रांगण) युक्त और पताका (अन्तःकथा तथा ध्वजा) से सुशोभित मन्दिरों के समान अपने नाटकों में अच्छा यश अर्जित किया है।

आचार्य दण्डी (७०० ई०) ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में भास के नाटकों की शास्त्रीय दृष्टि से परीक्षा करते हुए लिखा है :

सुविभक्तमुखाद्यंकैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः ।
परतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः ॥

प्राकृत भाषा के महाकाव्य 'गउडवहो' के रचयिता वाक्पतिराज (७५० ई०) ने अन्य कवियों के साथ भास के आनन्ददायी प्रबन्ध का उल्लेख इस आर्या में किया है :

भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारियन्दे अ आणन्दो ॥

राजशेखर (९०० ई०) ने अपनी 'सूक्तिमुक्तावली' में भास कृत नाटक 'स्वप्नवासवदत्त' का उल्लेख करते हुए लिखा है कि आलोचकों द्वारा भास के नाटकों की अग्नि-परीक्षा करने पर भी वे इस नाटक को अग्निसात् न कर सके ; अर्थात् आलोचकों द्वारा परीक्षित होने पर भी वह सर्वथा निर्दोष सिद्ध हुआ। श्लोक है :

भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

इसी प्रकार 'प्रसन्नराघव' नाटक के रचयिता जयदेव (१२०० ई०) ने संस्कृत के संमान्य ग्रन्थकारों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि जिस कविता-कामिनी के भास जैसा हास और कालिदास जैसा विलास हो वह भला, किसको अपनी ओर आकर्षित न कर लेगी। श्लोक है :

× × × ×
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।
× × × ×
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ? ॥

भास की नाटकीयता और उसके नाटकों की श्रेष्ठता का उल्लेख करने के

अतिरिक्त दण्डी, भामह, वामन और अभिनवगुप्त आदि काव्य-शास्त्रियों ने अपने लक्षण-ग्रन्थों में भास के नाटकों के अनेक श्लोक उदाहरण रूप में उद्धृत किए हैं। भास के व्यक्तित्व को संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थकारों ने बड़ी श्रद्धा से स्वीकार किया है और नाटकों के क्षेत्र में उनको सर्वाग्रणी विद्वान् के रूप में स्मरण किया है।

भास के नाटकों के सम्बन्ध में विवाद

भास के नाटकों के प्रकाश में आने के बाद अनेक विद्वानों द्वारा एक लम्बी अवधि तक यह विवाद चलता रहा कि वे भासकृत नहीं हैं। ऐसा मानने वाले विद्वानों की भी दो श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी के विद्वानों का कहना है कि भास के नाम से इन नाटकों को जोड़ना सर्वथा कल्पना है। इस मत के विद्वानों में महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा, डॉ० बार्नेट, कारपेन्टियर, पी० वी० काणे, डॉ० कुन्हन राजा, सिल्वाँ लेवी, कुप्पूस्वामी शास्त्री, स्टेन कोनो, थोम्स और प्रो० सी० आर० देवधर का नाम प्रमुख है। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने भास के नाम से कुछ नाटकों को तो स्वीकार किया है; किन्तु कुछ को मानने के पक्ष में सन्देह प्रकट किया है। इस श्रेणी के विद्वानों में विंटरनित्स, सुखथनकर तथा डॉ० डे आदि हैं।

इन विद्वानों ने अपने पक्ष में जो तर्क दिए हैं उनका निष्कर्ष इस प्रकार है :

(१) राजशेखर (९०० ई०) की 'सूक्तिमुक्तावली' में भास के नाटक-चक्र तथा भासकृत 'स्वप्नवासवदत्त' की आलोचकों द्वारा परीक्षा किए जाने का उल्लेख अन्यत्र किया गया है। इस सम्बन्ध में इन आलोचकों का कथन है कि राजशेखर के अतिरिक्त किसी भी दूसरे ग्रन्थकार ने भास को 'स्वप्न-वासवदत्त' का रचयिता नहीं कहा है। अतः राजशेखर की यह बात पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है।

(२) रामचन्द्र और गुणचन्द्र (१२वीं श०) ने 'स्वप्नवासवदत्त' को भास-कृत बताकर उसका एक श्लोक अपने 'नाट्य-दर्पण' में उद्धृत किया है। 'नाट्य-दर्पण' में कहा गया है :

'यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिका-शिलातलमवलोक्य वत्सराजः :

पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम् ।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता ॥

प्रो० सिल्वां लेवी का कथन है कि उक्त श्लोक 'स्वप्नवासवदत्त' के संप्रति उपलब्ध संस्करण में नहीं पाया जाता, जिससे यह सिद्ध होता है कि 'स्वप्नवासवदत्त' भास की कृति नहीं है।

(३) अभिनवगुप्त (१००० ई०) ने 'ध्वन्यालोक' की टीका में, कवियों द्वारा रस की उपेक्षा किए जाने के उदाहरणस्वरूप, 'स्वप्नवासवदत्त' की इस आर्या को उद्धृत किया है :

सञ्चितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपतडनेन ।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा ॥

यह आर्या भी 'स्वप्नवासवदत्त' के उपलब्ध संस्करण में उल्लिखित नहीं मिलती है। अतः भास के आलोचकों का मत है कि 'स्वप्नवासवदत्त' का रचयिता भास नहीं है; अपितु, वह किसी दूसरे ग्रन्थकार के नाटक का परिवर्तित संस्करण है।

(४) पल्लवराजा महेन्द्रविक्रमादित्य (६२० ई०) ने 'मत्तविलास' नामक एक प्रहसन की रचना की, जिसमें उद्धृत इस श्लोक को :

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः ।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः ॥

कथाकार सोमदेव (९५९ ई०) ने भास-रचित बताया है; किन्तु जो भास के किसी भी नाटक में नहीं मिलता है।

साथ ही

भास के तेरह नाटकों में और 'मत्तविलास' प्रहसन में, संस्कृत के अन्य सभी नाटकों के विपरीत, मंगलाचरणश्लोक के पहले 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस वाक्य का प्रयोग हुआ है। अर्थात् शास्त्रीय विधान के

विपरीत मंगलाचरण किए बिना ही नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश बताया गया है।

इन दोनों बातों को देखकर भास-विरोधी मत के विद्वानों का अभिमत है कि 'मत्तविलास' के समान ही इन तेरह नाटकों का रचयिता भी कोई केरल-निवासी कवि था।

(५) इस सम्बन्ध में मध्यमार्ग को अपनाते हुए, महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा का कथन है कि इन नाटकों की आंशिक रचना तो भास ने की है; किन्तु उनकी पूर्ति किसी केरलवासी कवि द्वारा संपन्न हुई। संभवतया यही कारण था कि ये नाटक केरल में ही प्राप्त हुए और वहीं के नटों (चाक्यारों) द्वारा अभिनीत होकर आज भी वे जनता के मनोरंजन का विषय बने हुए हैं। चाक्यार लोगों में यह प्रचलन रहा है कि किसी उत्सव पर वे बड़े-बड़े नाटकों को संक्षिप्त कर उनको अभिनययोग्य बना दिया करते थे। इसलिए बहुत संभव है कि भास के बृहद्-नाटकों को उन्होंने अभिनय के लिए संक्षिप्त किया हो; और इस दृष्टि से बहुत संभव है कि उनके वर्तमान संस्करणों में चाक्यारों के कौशल का भी अंश सम्मिलित हो।

इसके विरुद्ध जिन विद्वानों ने भास के पक्ष में तथा उसके नाटकों की प्रामाणिकता में अपनी राय दी है उनके तर्कों का आशय इस प्रकार है :

१. यह कहना कि भास के नाम से 'स्वप्नवासवदत्त' का उल्लेख, राजशेखर के अतिरिक्त किसी दूसरे ग्रन्थकार ने नहीं किया है, अनुचित है। अभिनवगुप्त (१००० ई०), भोजदेव (११०० ई०), सर्वानन्द (११५९ ई०) रामचंद्र-गुणभद्र (१२०० ई०), और शारदातनय (१२०० ई०) आदि अनेक ग्रन्थकारों ने भास के 'स्वप्नवासवदत्त' का उल्लेखमात्र ही नहीं किया है, वरन्, उसकी विशेषताओं और विशिष्ट घटनाओं पर भी प्रकाश डाला है।

२. रामचन्द्र और गुणभद्र की संयुक्त कृति 'नाट्यदर्पण' में भास के 'स्वप्नवासवदत्त' के जिस श्लोक को उद्धृत किया गया है, बहुत संभव है, प्रतिलिपिकारों ने उसको छोड़ दिया, जिससे कि वह बाद के संस्करणों में नहीं आ सका। यह श्लोक चौथे अंक के प्रथम दृश्य के बाद का प्रतीत होता है,

जो कि, पद्मावती के सहसा चले जाने के कारण, राजा उदयन ने अपने विदूषक से कहा है। काले द्वारा संपादित 'स्वप्नवासवदत्त' के संस्करण में यह श्लोक उपयुक्त स्थान पर रखा गया है।

३. आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा 'ध्वन्यालोक' की टीका में उद्धृत आर्या के संबंध में गणपति शास्त्री का कथन है कि संभवतया किसी टीकाकार ने 'स्वप्नवासवदत्त' की कथावस्तु के लिए अनावश्यक समझ कर, उसको मूलग्रंथ के साथ योजित करने में भूल कर दी है। विंटरनित्स ने इस आर्या का उपयुक्त स्थान ५वें अंक के ९वें तथा १०वें श्लोक के बीच में बताया है। उनका कथन है कि रसविरोधी अलंकारशास्त्रियों के विरोध के कारण बाद के संस्करणों में इस आर्या को स्थान नहीं दिया गया।

४. 'मत्तविलास' प्रहसन को भास के तेरह नाटकों के साथ, केरल के किसी कवि की रचना मानने का कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता है; क्योंकि पहली बात तो यह है कि भास के नाटकों और 'मत्तविलास' की भाषा, शैली तथा उसके भरतवाक्य में बड़ा अन्तर है, और दूसरे में 'मत्तविलास' की प्रस्तावना में उसके रचयिता महेंद्र विक्रमादित्य के नाम का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस वाक्य की समानता के आधार पर भास के नाटकों के सम्बन्ध में सन्देह करने का कोई प्रबल कारण नहीं दिखाई देता है।

५. भास के नाटकों में केरल के चाक्यारों के द्वारा संशोधन या संक्षिप्ती-करण किए जाने का तर्क भी भ्रान्त मात्र प्रतीत होता है; क्योंकि उनमें जो गतिशीलता, एकता और शैली, संविधान, संगति आदि नाट्यशास्त्रीय गुण विद्यमान हैं उनको देखते हुए यह विश्वास करना एक कल्पना मात्र लगती है कि चाक्यारे जैसे एक साधारण श्रेणी के नटों द्वारा इतनी श्रेष्ठ कृतियों में कोई हेर-फेर हुआ होगा। स्पष्ट है कि ऐसा करना उनकी योग्यता और उनके अधिकार की बात नहीं थी।

भास के नाटकों की विशेषताएँ

भास के नाटकों में आकृति, विचार और भाषा की एकता के अतिरिक्त

कुछ ऐसी विशेषतायें भी हैं, जो संस्कृत के दूसरे नाटकों में नहीं मिलती है, और इसलिए, इन सभी बातों का अध्ययन करने के उपरान्त, यह सिद्ध होता है कि वे एक ही हाथ की रचनाएँ हैं, उनमें किसी प्रकार का संशोधन, संपादन या संक्षिप्तीकरण नहीं हुआ है एवं उनका रचयिता भास ही था। वे विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

१. संस्कृत-नाटकों की परम्परा में सर्वत्र ही यह देखने को मिलता है कि प्रत्येक नाटक की प्रस्तावना में ग्रन्थ का तथा उसके रचयिता का नाम दिया गया है। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से ऐसा उल्लेख होना आवश्यक बताया गया है। किन्तु इसके विपरीत भास के तेरहों नाटकों में कहीं भी नाटककार तथा नाटकों का उल्लेख नहीं किया गया है। इसका आशय विद्वानों ने यह लगाया है कि ये नाटक 'नाट्यशास्त्र' की रचना से पूर्व लिखे गए थे।

२. इन नाटकों में 'प्रस्तावना' के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग हुआ है।

३. संस्कृत के समस्त नाटकों की कथावस्तु मंगलाचरण से आरम्भ होती है ; किन्तु इन नाटकों का आरम्भ "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" इस वाक्य से होता है। भास के नाटकों की इसी विशेषता को लक्ष्य में रखकर बाण ने उनके सम्बन्ध में 'हर्षचरित' में लिखा है कि १. उनका आरम्भ सूत्रधार से होता है ; २. उनमें अनेक भाँति के बहुसंख्यक पात्र हैं ; और ३. उनकी कथावस्तु में उपकथाओं (पताका) का समावेश पाया जाता है। बाण की यह समीक्षा भास के नाटकों पर पूरी तरह चरितार्थ होती है। इसीलिए डॉ० कीथ ने भी उन्हें भास की प्रामाणिक कृति माना है।

४. सभी नाटकों में समान संघटना पाई जाती है और 'स्वप्नवासवदत्त' तथा 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' आदि कुछ नाटकों में मुद्रालंकार द्वारा पात्रों का अभिधान किया गया है।

५. प्रत्येक नाटक का भरतवाक्य प्रायः "इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः" इस श्लोक से या इसी भाव के किसी अन्य पद्य से समाप्त होता है।

६. इन नाटकों में बहुधा अपाणिनीय शब्दों का प्रयोग हुआ है और उनकी प्राकृत, कालिदास के नाटकों की प्राकृत से पुरानी है।

७. भरत के 'नाट्यशास्त्र' में जिन दृश्यों को रंगमंच पर दिखाना वर्जित किया गया है, उनका निर्वाह इन नाटकों में नहीं हुआ है।

८. इन नाटकों में अनेक शब्द, वाक्य और श्लोक एक जैसे प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए "एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि। अये, किन्तु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते; भवतु पश्यामि" यह वाक्य 'स्वप्नवासवदत्त', 'दूतघटोत्कच', 'दूतवाक्य', 'ऊरुभंग', 'बालचरित', 'अभिषेक' और 'पंचरात्र' आदि नाटकों में मिलता है।

९. विचारों की पुनरुक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो 'मध्यमव्यायोग' में भीम और उसके पुत्र घटोत्कच का मिलन 'पंचरात्र' के अर्जुन-अभिमन्यु के मिलन से मिलता-जुलता है। इसी प्रकार 'अविमारक', 'मध्यमव्यायोग' और 'स्वप्नवासवदत्त' तीनों में कन्दुक-क्रीडा का एक जैसा रोचक वर्णन देखने को मिलता है।

इसलिये सभी नाटक प्रामाणिक हैं; इन सबका एक ही रचयिता भास हुआ।

भास का स्थितिकाल

भास के अस्तित्व और उनके द्वारा रचे गए तेरह नाटकों के सम्बन्ध में अब किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहा है; किन्तु उनके स्थितिकाल के संबंध में आज भी विवाद है। आधुनिक इतिहासकारों का एक वर्ग भास को आज भी तीसरी शताब्दी ई० में रखने का पक्षपाती है। इतिहासकारों का एक वर्ग उन्हें ६०० से ४०० ई० पूर्व के लगभग मानता है। प्रमुख मतों का विश्लेषण इस प्रकार है:

१. डॉ० बार्नेट, भास को एक कल्पित व्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं और महेन्द्रवीर विक्रम (७०० ई०) द्वारा रचित 'मत्तविलास' प्रहसन की भाषा से उसकी तुलना करते हुए नाटकचक्र को, सातवीं शताब्दी के किसी केरलदेशीय कवि का रचा हुआ बताते हैं। उनके मत से भरतवाक्य में

उद्धृत 'राजसिंह' केरल देश का राजा था, जो कि सातवीं शताब्दी में हुआ। डॉ० बार्नेट के इस मंतव्य में अब कोई दम नहीं रहा।

२. इसी प्रकार स्टेन कोनो द्वारा प्रचलित इस मत को भी अब अमान्य समझा जाने लगा है कि इन नाटकों का रचयिता भास किसी क्षत्रप राजा रुद्रसिंह (२०० ई०) प्रथम के राज्यकाल में हुआ; क्योंकि इन नाटकों के भरतवाक्य में उल्लिखित 'राजसिंह' से क्षत्रप राजा रुद्रसिंह प्रथम का साम्य बैठना कल्पनामात्र है।

३. कीथ का कथन है कि भास दूसरी शताब्दी में हुआ। भास के 'प्रतिमानाटक' का एक श्लोक (५।१८) अश्वघोष के 'बुद्धचरित' (१३।६०) से मिलता है। इसलिए भास को अश्वघोष के बाद होना चाहिए। अश्वघोष सम्राट् कनिष्क (७८–१२० ई०) के राजगुरु थे। किन्तु कीथ के इस निर्बल आधार पर भास का समय अश्वघोष के बाद रखना उचित प्रतीत नहीं होता है।

४. यदि हम भास के नाटकों की बहिरंग परीक्षा करके भास के स्थितिकाल के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि रामचन्द्र गुणभद्र (१२०० ई०), जयदेव (१२०० ई०), अभिनवगुप्त (१००० ई०), सोमदेव (९५९ ई०), राजेशेखर (९०० ई०), वामन (८०० ई०), वाक्पतिराज (७५० ई०), वाणभट्ट (६५० ई०) और दण्डी (६०० ई०) आदि अनेक विषय के ग्रन्थकारों ने भास के नाटकों की प्रशंसा की है और उस के नाटकों के श्लोक अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं। इसलिए भास छठी शताब्दी से पूर्व हुए।

५. स्व० गणपति शास्त्री द्वारा भास के नाटकों के प्रकाश में आने से पूर्व जब इतिहासकार भास के नाम से अपरिचित थे, तब शूद्रक का 'मृच्छकटिक' संस्कृत का पहला नाटक माना जाता था और शूद्रक का स्थितिकाल २२०–१९७ ई० पूर्व निर्धारित किया जाता था। किन्तु भास के नाटकों के प्रकाश में आ जाने के बाद अब यह सिद्ध हो गया है कि शूद्रक का 'मृच्छकटिक' भास के 'चारुदत्त' से प्रभावित है। शूद्रक का स्थितिकाल अब तीसरी या चौथी शताब्दी माना जाने लगा है। अतः भास को इससे पूर्व का होना चाहिए।

६. कालिदास के समय तक भास के नाटकों का समाज में पर्याप्त प्रचलन हो गया था और कालिदास जैसे असामान्य महाकवि ने भी भास के नाटकों की मुक्तकंठ से सराहना की है। इससे स्पष्ट है कि भास, कालिदास से पहिले हुए।

७. श्री अनन्तप्रसाद बैनर्जी के मतानुसार भास का स्थितिकाल कामसूत्रकार वात्स्यायन (३०० ई०) और नाट्यशास्त्रकार भरत (१०० ई० पूर्व) से पहले बैठता है, क्योंकि भरत ने जिन शास्त्रीय विधानों का उल्लेख किया है, भास के नाटकों में उनका निर्वाह नहीं किया गया है। इससे यह विदित होता है कि भास के नाटकों की रचना 'नाट्यशास्त्र' से पहले हो चुकी थी।

८. लोकमान्य तिलक के मतानुसार भास, कालिदास का पूर्ववर्ती था और उसका स्थितिकाल दूसरे या तीसरे शतक के बाद का कदापि नहीं हो सकता है। 'भगवद्गीता' के आदि में 'गीताध्यान' नाम से नौ श्लोकों की चर्चा करते हुए लोकमान्य का यह भी कथन है कि इन नौ श्लोकों में जो 'भीष्म-द्रोणतटा जयद्रथजला' श्लोक उद्धृत है वह भास कवि के 'ऊरुभंग' का आदि श्लोक है।

९. आचार्य कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' (१०।३) में भास के 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' का यह श्लोक उद्धृत किया है :

'नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥'

इससे यह प्रतीत होता है कि भास, कौटिल्य के समय तक एक प्रामाणिक ग्रन्थकार के रूप में विश्रुत हो चुके थे। यह बात इसलिए भी प्रमाणित होती है कि भास ने अपने 'प्रतिमा' नाटक में आचार्य बृहस्पति के 'अर्थशास्त्र' का तो उल्लेख किया है; किन्तु कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का कहीं उल्लेख नहीं किया, जिससे यह प्रतीत होता है कि भास के समय तक कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का निर्माण नहीं हुआ था। आचार्य कौटिल्य का स्थितिकाल ४०० ई० पूर्व के उत्तरार्द्ध में सुनिश्चित है। अतः भास को इससे पूर्व का होना चाहिए।

१०. भास के नाटकों में जो सामाजिक चित्रण और आचार-विचारों एवं संस्कृतियों का उल्लेख हुआ है वह चौथी शताब्दी से पहले का है। उसके

नाटकों की भाषा सरल है। यह भाषा उस युग की है, जब संस्कृत का समाज में पर्याप्त प्रचलन था। उसके नाटकों के भरतवाक्यों में जिस महान् पृथ्वीपति राजा का उल्लेख हुआ है उसका संकेत किसी नंदवंशीय राजा से है। इन बातों के अतिरिक्त भास के नाटकों में जो पाणिनि (५०० ई० पूर्व) की 'अष्टाध्यायी' के नियमों का पालन नहीं किया गया है उसका संभवतः यही कारण है कि या तो तब तक 'अष्टाध्यायी' की रचना न हुई थी अथवा उसका पूर्णतया प्रचलन नहीं हो पाया था। इन बातों को ध्यान में रखकर श्री गणपतिशास्त्री का कथन है कि भास का समय ४०० ई० पूर्व के पश्चात् नहीं हो सकता है।

इस दृष्टि से भास का स्थितिकाल ४००–५०० ई० पूर्व के बीच निश्चित होता है।

कृतित्व

भास के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने तीस से अधिक ग्रंथों की रचना की थी; किन्तु अब तक उनके नाम से केवल तेरह नाटक (रूपक) ही उपलब्ध हो सके हैं। इनमें कुछ तो नाटक हैं और कुछ एकांकी। 'स्वप्नवासवदत्त', 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'बालचरित', 'पंचरात्र', 'प्रतिमा', 'अभिषेक', 'अविमारक' और 'दरिद्रचारुदत्त'—इनकी गणना नाटकों में है, जिनमें क्रमशः ६, ४, ५, ३, ७, ६, ६ तथा ४ अंक पाये जाते हैं। इसी प्रकार 'मध्यम व्यायोग' 'दूतवाक्य', 'दूतघटोत्कच', 'कर्णभार' और 'ऊरुभंग'—ये एकांकी हैं।

कथानक की दृष्टि से इन रूपकों को चार वर्गों में अलग किया जा सकता है :

१. रामायण पर आधारित : प्रतिमा, अभिषेक

२. महाभारत पर आधारित : दूतवाक्य, कर्णभार, दूतघटोत्कच, ऊरुभंग, मध्यमव्यायोग, पंचरात्र और बालचरित

३. उदयन-कथा पर आधारित : प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्त

४. कल्पना पर आधारित : अविमारक, चारुदत्त

श्री ए० डी० पुसलकर ने अपनी पुस्तक 'भास : ए स्टडी' में भास के नाटकों की विस्तृत समीक्षा करने के उपरान्त रचना-क्रम की दृष्टि से उनका

क्रम इस प्रकार रखा है : 'दूतवाक्य', 'कर्णभार', 'दूतघटोत्कच', 'ऊरुभंग', 'मध्यमव्यायोग', 'पंचरात्र', 'अभिषेक', 'बालचरित', 'अविमारक', 'प्रतिमा', 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'स्वप्नवासवदत्त' और 'चारुदत्त'। इसी क्रम से हम यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

१. दूतवाक्य

पांडव, श्रीकृष्ण को दूत बनाकर उनके हाथ कौरवों के लिए सन्धि का प्रस्ताव भेजते हैं। उधर कौरवों की सभा में द्रौपदी का जो अपमान हुआ, दुर्योधन उससे बड़ी प्रसन्नता प्रकट करता है। जब श्रीकृष्ण ने कौरवों के समक्ष, पांडवों के लिए आधा राज्य देने का प्रस्ताव किया तो दुर्योधन ने उसको ठुकरा दिया, जिससे दूत बन कर गये श्रीकृष्ण अपने मनोरथ को पूरा किए बिना ही लौट आये। यह एकांकी 'व्यायोग' है।

२. कर्णभार

यह एकांकी 'उत्सृष्टिकांक' है। इसमें नाट्यशास्त्र के अनुसार समय और स्थान की अन्विति (Unity) का पूर्णतया पालन किया गया है। इसमें दिखाया गया है कि एक बार कर्ण ने परशुराम से दिव्य कवच-कुंडल प्राप्त किए थे; परन्तु परशुराम जी ने कर्ण को यह भी चेतावनी दे दी थी कि समय आने पर वह कवच-कुण्डल उसकी सहायता न करेंगे। अर्जुन जिस समय कर्ण के निकट युद्ध के लिए जाते हैं, ठीक उसी समय शल्य ब्राह्मण का रूप धारण कर इन्द्र उस कवच-कुण्डल की याचना करता है। कर्ण उसको इन्द्र के हाथ सौंप देता है और इस प्रकार अपने लिए स्वयं ही महान् अनिष्ट कर बैठता है।

३. दूतघटोत्कच

यह एकांकी भी 'उत्सृष्टिकांक' है। जयद्रथ द्वारा अभिमन्यु का वध होने के पश्चात् अर्जुन, जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा करता है। श्रीकृष्ण, हिडिम्बा-पुत्र घटोत्कच को दूत बना कर, उसके हाथ कौरवों के लिए उनके सन्निकट विनाश की सूचना भेजते हैं। इससे धृतराष्ट्र और दुर्योधन आदि कौरवपक्षीय वीर

और भड़क उठते हैं और वे घटोत्कच का अपमान कर बैठते हैं। फलतः दोनों पक्षों में भयङ्कर युद्ध होता है। इस एकांकी में नाटककार की स्वतन्त्र कल्पना का पर्याप्त समावेश है।

४. उरुभङ्ग

यह एकांकी भी 'उत्सृष्टिकांक' है। 'कर्णभार' की भाँति इसमें भी समय और स्थान की अन्विति का पूर्ण पालन किया गया है। इसमें भीम और दुर्योधन का भयङ्कर गदायुद्ध वर्णित है। कथानक के अन्त में दुर्योधन की जंघाओं (ऊरुओं) को भङ्ग करना दिखाया गया है। अन्त में दुर्योधन के पुत्र तथा उसकी पत्नियों का विलाप वर्णित है। इस एकांकी की विशेषता यह है कि समग्र संस्कृत-साहित्य एवं नाट्यशास्त्र के नियमों के विरुद्ध, इसको दुःखान्त बनाया गया है।

५. मध्यम व्यायोग

इस एकांकी रूपक में, मध्यम पाण्डव भीम द्वारा एक ब्राह्मणपुत्र की रक्षा का वर्णन है। घटोत्कच अपनी माता हिडिम्बा की आज्ञा से एक ब्राह्मणपुत्र को मार कर माता के पास ले जाना चाहता है। भीम उस ब्राह्मण की रक्षा करता है और उसके स्थान पर स्वयं हिडम्बा राक्षसी के समीप जाता है।

६. पञ्चरात्र

यह तीन अङ्कों की 'समवकार' रचना है। इस रूपक का कथानक 'महाभारत' के कथानक से सर्वथा भिन्न एवं अनैतिहासिक है। दुर्योधन ने यज्ञ के अवसर पर द्रोणाचार्य को दानस्वरूप कुछ देने की प्रतिज्ञा की थी। इस पर द्रोणाचार्य ने पाण्डवोंको आधा राज्य दे देने के लिए कहा था। दुर्योधन ने उत्तर में कहा कि यदि पाँच रातों के भीतर पाण्डव (जो अज्ञातवास में थे) उसे मिल जाँय तो वह उन्हें आधा राज्य दे देगा। द्रोणाचार्य के यत्न से पाण्डवों का विराटनगर से पता चल जाता है; इस प्रकार दुर्योधन उनको आधा राज्य देकर अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करता है। यही इसका कथानक है।

७. अभिषेक

इस नाटक में ६ अङ्क हैं। इसका कथानक किष्किन्धा, सुन्दर और युद्ध, इन तीनों काण्डों से संबद्ध है। इसमें बालि-वध, अनुमान का लङ्का में पहुँच कर सीता को आश्वस्त करना तथा रावण को फटकारना; रावण का लक्ष्मण तथा राम के कटे मस्तकों को बता कर उसे छलना; और अंत में रावण का वध तथा राम का राज्याभिषेक वर्णित है।

८. बालचरित

इसमें ७ अङ्क हैं। इसमें कृष्णजन्म से लेकर कंस-वध तक की कथा वर्णित है; किन्तु जो कवि-कल्पना से कुछ विचित्रता लिये है। कृष्णजन्म के बाद वासुदव उन्ह यमुना पार वृन्दावन में ले जाते हैं और उस स्थान पर नन्द की पुत्री को रख कर वहीं कंस को समर्पित कर देते हैं, जिसको कि क्रूर कंस पत्थर की शिला पर पटक कर मार डालता है। कुछ दिन बाद वास्तविकता का पता लग जाने पर श्रीकृष्ण के साथ कंस का युद्ध होता है और कंस का वध कर श्रीकृष्ण अपने नाना उग्रसेन को राज्यभार सौंप देते हैं।

९. अविमारक

यह ६ अंकों का नाटक है। इसमें महाराज कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी और महाराज सौवीर के अविमारक नामक राजकुमार की प्रेमकथा वर्णित है। अविमारक एक हाथी से कुरंगी की रक्षा करता है और इसके फलस्वरूप वह अविमारक पर आसक्त हो जाती है। एक बार अविमारक कुन्तिभोज के यहाँ पकड़ा जाता है और उसे प्राणदण्ड की आज्ञा होती है। इसी समय नारद जी प्रकट होकर वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं और दोनों का विवाह हो जाता है। यह लोककथा पर आधारित रूपक जान पड़ता है।

१०. प्रतिमा

यह ७ अंकों का सर्वांगपूर्ण नाटक है। इसमें राम-वनवास से लेकर रावण-वध तक की घटना वर्णित हैं। ननिहाल से लौटते हुए भरत जब

मार्ग में अयोध्या के समीप प्रतिमा-मन्दिर में अपने दिवंगत पूर्वजों के साथ महाराज दशरथ की भी प्रतिमा देखते हैं तब उन्हें पिता की मृत्यु का पता चलता है। ठीक इसी समय राम-रावण के युद्ध का उन्हें संदेश मिलता है और वे राम की मदद के लिए सेना भेजते हैं। मृत-पिता की प्रथम सूचना प्रतिमा के द्वारा मिलने की घटना होने के कारण इस नाटक का ऐसा नामकरण किया गया।

११. प्रतिज्ञायौगन्धरायण

इसमें ६ अंक हैं, जिनमें वत्सराज उदयन और अवन्तिकुमारी वासवदत्ता के विवाह की रहस्यमय कथा वर्णित है। एक बार कौशाम्बिराज उदयन मृगयाछल से अवन्तिराज महासेन द्वारा कैद कर लिया जाता है। एक निपुण संगीतज्ञ होने के कारण उदयन को, कुछ दिन बाद राजकुमारी वासवदत्ता का संगीतशिक्षक नियत किया जाता है। इसमें दोनों का प्रेम हो जाता है और एक दिन मंत्री यौगन्धरायण की सहायता से दोनों वहाँ से निकल पड़ते हैं।

१२. स्वप्नवासवदत्त

यह ७ अंकों का नाटक है। इसको 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण का उत्तरार्ध कहा जा सकता है। इसमें राजा उदयन के मंत्री यौगन्धरायण की दूरदर्शिता से यह दिखाया जाता है कि उदयन की प्रेयसी वासवदत्ता के लावणक नामक वन में जल जाने की झूठी खबर फैला दी जाती है। वासवदत्ता को मृत जानकर उदयन, मगधराज दर्शक की बहिन पद्मावती से विवाह कर लेते हैं। एक बार निद्रावस्था में उदयन, वासवदत्ता को स्वप्न में देखता है; किन्तु जब उसकी आँखें खुलती हैं तो सचमुच ही वह वासवदत्ता को अपना शिर दबाते हुए पाता है। वास्तविक बात यह है कि ज्योतिषियों ने, राज्यकल्याण के लिए, पद्मावती के साथ उदयन का विवाह आवश्यक बताया था; किन्तु अपनी हृदयेश्वरी वासवदत्ता के अतिरिक्त उदयन दूसरे विवाह के लिए प्रस्तुत नहीं था। अतः ऐसा प्रपंच किया गया। इससे भास की नाट्यकला पूर्णता को पहुँची है।

१३. चारुदत्त

यह चार अंक का 'प्रकरण' है। इस 'प्रकरण' की रचना उज्जयिनी के सार्थवाह ब्राह्मण चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना के विशुद्ध प्रेम को लेकर की गई है। यह भी कल्पित लोककथा है। वसन्तसेना का एक प्रेमी राजा का साला शकार भी है, जिसको वसन्तसेना नहीं चाहती है। निर्धन ब्राह्मण चारुदत्त के साथ वसन्तसेना का यह उदात्त प्रणय बड़ी ही मार्मिकता से दिखाया गया है। ऐसा कहा जाता है कि इस 'प्रकरण' को पूरा करने के ही पूर्व भास का देहान्त हो गया था। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' इसी लोकप्रिय कथा को लेकर रचा गया।

भास के नाम से दूसरी कृतियों का उल्लेख

पहले संकेत किया जा चुका है कि भास को लगभग तीस ग्रन्थों का रचयिता बताया जाता है। 'वीणावासवदत्ता' नामक एक चार अंकों की अपूर्ण उपलब्ध नाटक कृति से भास के नाटकों का मिलान करने पर डॉ० कुन्हन राजा ने अपने एक लेख में यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि वह भास-कृत है; किन्तु दूसरे अनेक विद्वान् इस बात को नहीं मानते हैं। एक दूसरी नाटककृति 'यज्ञफलम्' को श्री कालिदास शास्त्री ने १९१४ ई० में खोज कर प्रकाशित किया और उसे भास-कृत बताया; किन्तु अब वह ११वीं-१२वीं की रचना सिद्ध हो चुकी है।

इसी प्रकार सुभाषित-ग्रन्थों में भास के नाम से अनेक स्फुट रचनाओं का उल्लेख किया हुआ मिलता है; किन्तु जिनका संबंध या जिनकी समानता भास के किसी भी उपलब्ध नाटक के अंशों से नहीं मिलती है। अतः इन स्फुट रचनाओं के संबंध में अभी पर्याप्त अनुशीलन की आवश्यकता है।

भास का नाटकीय संविधान

भास के नाटकों की समीक्षा करते हुए हमारा ध्यान जब तत्कालीन परिस्थितियों पर केन्द्रित होता है तो हमें प्रतीत होता है कि एक आदि नाटक-

कार होने की दृष्टि से भास ने संस्कृत-साहित्य को जो कुछ दिया उसका बड़ा महत्त्व है। नाटक और काव्य, दोनों सर्वथा अलग-अलग विषय हैं। काव्य लिखने में कवि का दायित्व केवल विज्ञ पाठकवर्ग तक ही सीमित रहता है; किन्तु नाटककार का दायित्व सामान्य जन-समाज और विज्ञ विद्वद्वर्ग, दोनों के प्रति समानरूप से रहता है। एक नाटककार में स्वभावतः काव्यानुभूतियाँ विद्यमान रहती हैं; किन्तु एक काव्यकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह नाटकीय संविधानों से पूर्णतया परिचित हो ही। इस दृष्टि से भास ने पहले-पहल जिन परिस्थितियों में रहकर एक निपुण नाटककार होने का यश प्राप्त किया है वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

भास के नाटकों के संबंध में, जैसा कि हम देख चुके हैं, हमें लगता है कि वे एक बहुमुखी प्रतिभा की देन हैं। उनमें घटना की एकता, कथावस्तु की सोद्देश्यता, घटनाओं का उत्थान-पतन, कवित्व की रोचकता, चरित्र-चित्रण की योग्यता और स्वाभाविक गति आदि वे सभी गुण समाविष्ट हैं, जो कि नाट्यशास्त्र की दृष्टि से एक सफल नाटककृति के लिए आवश्यक बताये गये हैं।

जैसा कि संकेत किया जा चुका है, भास के कुछ नाटक 'रामायण' पर आधारित हैं, कुछ 'महाभारत' पर, कुछ उदयन कथा पर और कुछ कल्पना-प्रसूत। 'रामायण' पर आधारित नाटकों में नाटकीय गुणों की कमी है। बाद में रामकथा पर जैसे नाटक संस्कृत में लिखे गए उनकी तुलना में भास के ये रामकथाविषयक नाटक बहुत ही हीन ठहरते हैं। यही बात उनके कल्पनाप्रसूत नाटकों के सम्बन्ध में भी प्रतीत होती है। इसके विपरीत 'महाभारत' पर आधारित नाटक सभी दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। इसका कारण संभवतः यह था कि 'महाभारत' की अवान्तर कथायें संवादात्मक और साथ ही नाटकों के लिए अधिक उपयुक्त थी। उनके उदयन-कथा से संबद्ध दोनों नाटक अपनी परम्परा में सर्वोत्कृष्ट हैं। इन नाटकों को भास ने अपनी अनूठी कल्पनाशक्ति से अत्यन्त ही रोचक बना दिया।

भास को संस्कृत का पहला नाटककार ही नहीं माना जाता वरन, सर्वप्रथम एकांकी नाटक में भी संस्कृत को उन्होंने ही दिए। कुछ नाटकों नाट्यशास्त्र के

नियमों की अवहेलना करने पर भी भास के प्रायः सभी नाटक रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त हैं। आज, जब कि संस्कृत में तथा अन्य भाषाओं में सैकड़ों सुन्दर नाटकों का निर्माण हो चुका है, दक्षिण में भास के नाटक अपनी लोकप्रियता को पूर्ववत् कायम किए हुए हैं। दक्षिण के चाक्यारों द्वारा सैकड़ों वर्षों पूर्व से भास के नाटकों का अभिनय होता रहा है और सर्वदा ही वे दर्शनों के द्वारा प्रशंशित होते आये हैं। भास के नाटकों की सर्वोच्च विशेषता उनकी इसी अभिनेयता में है। उनमें समय और स्थान की अन्विति (यूनिटी ऑफ टाइम ऐण्ड प्लेस) का सफल निर्वाह हुआ है। उनके नाटकों में न तो कहीं वर्णनों का अनावश्यक विस्तार है और न कहीं भी कथावस्तु की तथा घटनाओं की अव्यवस्था ही। उनके संवाद तो बड़े ही नपे-तुले, रोचक, व्यवस्थित और प्रभावोत्पादक हैं। उनके संवादों की योजना बड़ी ही अनूठी है। सरल, सुगम और सुबोध भाषा में कहे गये उनके ये संवाद उस युग की सामान्य जनता को दृष्टि में रखकर लिखे गए प्रतीत होते हैं।

भास के नाटकचक्र में 'दूतवाक्य' उनकी प्रथम कृति मानी गई है। उसमें श्रीकृष्ण और दुर्योधन, इन दो विरोधी नायकों के चरित्रों को भास ने बड़ी ही निपुणता से सँजोया है। दुर्योधन के निर्बल तर्कों का जो युक्तियुक्त उत्तर श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया उसमें न्यायोचित लोकदृष्टि है। नाटकीय संविधान की दृष्टि से ये संवाद बड़े ही स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक हैं। इस एकांकी 'व्यायोग' में श्रीकृष्ण के सुदर्शन को एक मूर्तिमान मानव के रूप में उपस्थित करना निश्चित ही एक ऐसी कल्पना है, जिसको अधिक नहीं सराहा जा सकता है। कौमोदकी और शार्ङ्ग आदि के प्रसंग भी ऐसे ही निर्बल हैं।

'कर्णभार' नामक एकांकी 'उत्सृष्टिकांक' में कर्ण की दानशीलता को बड़े ही कवित्वमय ढंग से चित्रित किया गया है। कपटवेषधारी इन्द्र को, कर्ण द्वारा अपने कवच-कुण्डल दिए जाना निश्चित ही अविवेकपूर्ण है; किन्तु कर्ण जैसे दानी के लिए आत्मरक्षा की अपेक्षा आत्मधर्म कहीं ऊँचा ठहरता है। इसलिए कर्ण का ऐसा करना उसकी महानता में चार चाँद लगा देता है। इस एकांकी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें नाट्यशास्त्र की दृष्टि से समय और स्थान की अन्विति का पूरा निर्वाह किया गया है।

'दूतघटोत्कच' नामक एकांकी 'उत्सृष्टिकांक' के कथानक की ऐतिहासिक परीक्षा करने पर प्रतीत होता है कि उसका आधार 'महाभारत' से लेकर भी उसको नाटककार ने अपनी स्वतन्त्र कल्पना से सँजोया है। इसमें कहे गये दुर्योधन और घटोत्कच के संवाद बड़े ही तीखे और उचित स्थान पर आघात करने वाले हैं। ये संवाद वीररसपूर्ण होने से और भी प्रभावशाली हो गये हैं।

'ऊरुभंग' 'उत्सृष्टिकांक' में भीम और दुर्योधन का भयंकर गदायुद्ध वर्णित है। इसमें दुर्योधन के क्षत्रियोचित चरित्र को दर्शित करने में भास ने अद्भुत निपुणता दिखाई है। गदायुद्ध में भीम द्वारा अनीति का आश्रय लिए जाने पर बलराम का उखड़ जाना भी न्यायोचित है। अन्त में अश्वत्थामा के प्रचण्ड चरित्र को उपस्थित कर भास ने नाटक को अधिक रोचक बना दिया है। इस एकांकी में भी समय और स्थान की अन्विति का पूर्ण पालन किया गया है। समग्र संस्कृत के नाटकों में 'ऊरुभंग' ही एक ऐसा एकांकी है, जिसमें शास्त्रीय नियमों की अवहेलना कर रंगमंच पर दुर्योधन की मृत्यु दिखाई गई है और इस प्रकार नाटक को दुःखान्त बना कर छोड़ दिया है। किन्तु इस प्रकार परम्परा, लोकदृष्टि और शास्त्रनिषेध के बावजूद भी नाटक को दुःखान्त बना कर रख देना भास के भारी साहस का परिचायक है।

'मध्यम-व्यायोग' एकांकी के कथानक में भी नाटककार की कल्पना का निरालापन है। इसमें भीम और घटोत्कच का द्वन्द्वयुद्ध, संवादश्रेष्ठता की दृष्टि से, बड़ा रुचिकर है। घटोत्कच से एक ब्राह्मणपुत्र की रक्षा कर भीम ने क्षत्रियोचित धर्म का निर्वाह करने में अपने चरित्र का उदात्त शौर्य प्रदर्शित करके निश्चित ही प्रशंसा का कार्य किया है।

'पंचरात्र' ३ अंकों की 'समवकार' रचना है। रचनाक्रम की दृष्टि से इसका छठा स्थान है। अनैतिहासिक होने पर भी इसके कथा-निर्वाह में नाटककार ने बड़ी मौलिक दृष्टि से सफलता प्राप्त की है। दुर्योधन द्वारा द्रोणाचार्य को दानस्वरूप आधा राज्य दिए जाने की प्रतिज्ञा, पाँच रात में विराट नगर से पाण्डवों को खोज लाने की घटना और उन्हें आधा राज्य सौंप देने की बात, ये सभी घटनाएँ कल्पित होने पर भी कौतूहलपूर्ण हैं।

'अभिषेक' भास की परिपक्वावस्था का नाटक है। इसका कथानक 'रामायण' से लिया गया है; किन्तु भास ने अपनी स्वतंत्र कल्पना से 'रामायण' के नीरस कथानक को नाटक के रूप में निबद्ध कर सरस, हृदयग्राही और अभिनय के सर्वथा उपयुक्त बना दिया है। 'रामायण' की कथा के विपरीत, राम द्वारा अकारण ही बाली का वध करा देना, भास की एक ऐसी कल्पना है, जो राम के चरित्र में दोष पैदा कर देती है; और इसीलिए रामकथा पर लिखे गए बाद के नाटकों में इस प्रसंग को दूसरे ही रूप में दिखाया गया है। यद्यपि नाटक की समाप्ति राम के राज्याभिषेक में समाप्त की गई है, तथापि मंच पर बाली की हत्या को दिखाकर भास ने इस नाटक में भी नाट्यशास्त्र के निर्देशों के विरुद्ध एक नई दुर्घटना का समावेश किया है। कलात्मक संयोजन की दृष्टि से भी नाटक को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है।

'बालचरित' भास का पूर्ण प्रौढ़ नाटक है। इस नाटक में वर्णित कृष्ण-जन्म से लेकर कंसवध तक की कथा में नाटककार की स्वतंत्र कल्पना का समावेश पाया जाता है। यहाँ भी कृष्ण के आयुध का मानव रूप में दिखाना तथा अरिष्टनेमि बैल का मंच पर मानवोचित पात्र के रूप में व्यवहार करना, ये दोनों प्रसंग अयुक्तिसंगत और अदूरदर्शितापूर्ण हैं। यद्यपि इस नाटक को भास ने बड़ी विदग्ध रीति से निबद्ध किया है; फिर भी नाट्यकला की दृष्टि से उसमें व्यापारान्विति (यूनिटी ऑफ ऐक्शन) का अभाव है।

'अविमारक' की कथावस्तु सर्वथा कल्पित है। इसका आधार कोई प्रचलित लोककथा जान पड़ती है। अविमारक और कुरंगी की प्रेमकथा पर निर्मित यह नाटक बड़ा ही श्रेष्ठ उतर पाता, यदि उसमें भावुकता और अपरिपक्वता से सम्बन्धित प्रसंगों को संयम से निबद्ध किया गया होता। बार-बार आत्महत्या का प्रयत्न भी अरुचिकर है।

'प्रतिमा' नाटक का आधार भी यद्यपि 'रामायण' है; फिर भी उसमें नाटककार की कुछ स्वतंत्र उद्भावनायें हैं, जैसे : भरत को सीताहरण की सूचना मिलना, राम का नन्दिग्राम में ही राज्यभार सँभाल लेना और भरत के द्वारा अयोध्या के निकट प्रतिमा-मन्दिर में अपने दिवंगत पूर्वजों के साथ महाराज दशरथ की प्रतिमा को देखना। देवकुलों (मन्दिरों) में

दिवंगत सम्बन्धियों की प्रतिमायें स्थापित करना उस युग की एक ऐतिहासिक घटना है। उसको कल्पना नहीं कहा जा सकता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है।

'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' का स्थान भास के उत्कृष्ट नाटकों में रखा जा सकता है। उदयन और वासवदत्ता की कथा ऐतिहासिक है; किन्तु उस ऐतिहासिक कथा को अपने सुन्दर शिल्प और अपनी कवित्वमय कल्पना के आधार पर भास ने इस नाटक की कथावस्तु में एक अनूठा आकर्षण भर दिया है। आचार्य भामह ने, इस नाटक के कृत्रिम हाथी के छल से उदयन को पकड़े जाने की कल्पना को और महासेन द्वारा उदयन को अकारण ही शृंखलाबद्ध किए जाने वाले, इन दो प्रसंगों को त्रुटिपूर्ण बताया है; किन्तु वस्तुतः प्रचलित लोककथाओं के आधार पर किया गया इन घटनाओं का समावेश दोषपूर्ण न होकर विनोदपूर्ण है। यद्यपि इस नाटक में उदयन-वासवदत्ता की प्रणय-कथा को निबद्ध किया गया है; किन्तु उसे सार्थक बनाने में मंत्री यौगन्धरायण की नीतिमत्ता ही सब कुछ है। इसलिए यौगन्धरायण ही नाटक का प्रमुख पात्र है। वस्तु, संविधान और चरित्रचित्रण, सभी दृष्टियों से नाटक श्रेष्ठ है।

'स्वप्नवासवदत्त' को 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। इसकी सारी कथावस्तु लोककथा पर आधारित है। राजशेखर ने इसी नाटक के लिए कहा है कि आलोचकों द्वारा परीक्षित होने पर वह सर्वथा निर्दोष सिद्ध हुआ। इस नाटक के संबंध में आज भी यही धारणा चरितार्थ होती है। इसमें वासवदत्ता, पद्मावती, उदयन और यौगन्धरायण, इन चार प्रमुख पात्रों के चरित्रों का जैसा विकास दिखाया गया है और उनमें जिन उदात्त मानवीय गुणों का स्फुरण दिखाया गया है, वे नाटक की श्रेष्ठता को प्रत्येक दर्शक या पाठक के हृदय में पक्की तरह जमा देते हैं। यद्यपि सामाजिकों को नाटककार यह सूचित कर देता है कि वासवदत्ता वस्तुतः जली नहीं, बल्कि पद्मावती के साथ उदयन का संबंध बनाने के लिए ऐसी अफवाह उड़ा दी गई है, तथापि उदयन की दृष्टि से तो वह सचमुच ही मर चुकी होती है। फिर भी वह वासवदत्ता को नहीं भूलता है। अपने पति की हितचिन्ता के

लिए वासवदत्ता का अपूर्व त्याग सचमुच ही सराहनीय है। वह पद्मावती के पास रह कर उसको उदयन से विवाह करने के लिए उत्साहित करती है और स्वयं को उदयन के समक्ष प्रकट होने के लिए बचाती हैं। मन्त्री यौगन्धरायण की स्वामिभक्ति का भी कम महत्त्व नहीं है, जो उदयन की राज्य-समृद्धि के लिए इतना भारी प्रपंच रचता है।

इस नाटक में यद्यपि भास की नाट्यकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची है; फिर भी नाटककार यदि वासवदत्ता के जल कर मर जाने की घटना को सामाजिकों के समक्ष प्रकट न कर उसको गोपित ही रखता और अन्त में उसका भेद खोलता तो अपने नाटक को वह अन्त तक कुतूहलपूर्ण बनाये रखता और अन्त में वासवदत्ता को प्रकट कर सामाजिकों के मन में ऐसा आश्चर्य पैदा करके छोड़ देता, जो मिटाये न मिटता।

'चारुदत्त' भास का अन्तिम नाटक है। इसी कथा को आधार बनाकर शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' की रचना कर जितना यश कमाया, 'चारुदत्त' उसकी अपेक्षा में न्यून ही ठहरता है, फिर भी यह एक बड़े ही आश्चर्य की बात समझनी चाहिए कि एक परिवारयुक्त ब्राह्मण के साथ एक गणिका का विवाह दिखा कर भास ने उस युग में सामाजिक दृष्टि से कितने महत्त्व का कार्य किया। ऐसी कृतियाँ उस युग के लिए भारी क्रान्ति का कारण सिद्ध हो सकती हैं। उस युग में संस्कृत का एक लेखक अपने नाटक में इतने महान् सामाजिक प्रश्न को उठाकर जीवित रह सके या ऐसी कृतियाँ उस युग के हाथों से बची रह सकें—इन बातों पर विचार करने से आश्चर्य होता है।

भास की शैली

भास का व्यक्तित्व एक सफल नाटककार के रूप में हमारे सामने प्रकट हो चुका है। वे सिद्धहस्त कवि भी थे; और इस दृष्टि से जब हम उनके नाटकों का विश्लेषण करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि कविता के लिए, काव्यशास्त्र की दृष्टि से जिन गुणों का होना आवश्यक है उन सबका सूत्ररूप हमें भास के नाटकों में स्थल-स्थल पर देखने को मिलता है। नाटक के बँधे नियमों के अनुसार भास की कवित्व-अभीप्सा व्यापक रूप से प्रकट नहीं हो

पाती है। संस्कृत के अधिकतर नाटककारों में, यहाँ तक की विख्यात नाटककार भवभूति तक भी, यह भावना देखने को मिलती है कि कहीं-कहीं वे कवित्व-प्रवाह में बह कर यह भूल जाते हैं कि वे नाटक लिख रहे हैं, न कि किसी प्रबन्ध की रचना करने जा रहे हैं। यह संयम हमें भास में दिखाई देता है।

भास के कवित्व में पहली विशेषता उसके सरल भावों में है। क्या भाषा, क्या संवाद, क्या घटनायें और क्या भाव-शैली, सभी में इस एक ही सुबोध गुण ने उनके नाटकों में प्रभावोत्पादकता को शिखर पर पहुँचा दिया है। उनकी सरल लेखन-शैली का एक उदाहरण 'प्रतिमा' नाटक का इस प्रकार है :

'सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता॥'

इस श्लोक में सरलता के साथ-साथ उपमा अलंकार का सुन्दर निदर्शन किया गया है। यहाँ भास ने सभी उपादान प्रकृति से चुने हैं। इसी प्रकार 'स्वप्नवासवदत्त' में उन्होंने बिना वातावरण एवं अप्रस्तुत की योजना करके सीधे-सादे ढंग में उपमा का प्रयोग किया है :

'कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
एवं लोकस्तुल्यधर्मा वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च॥'

'मृत्यु के समय कौन किसकी रक्षा कर सकता है? रस्सी टूट जाने पर घड़े को गिरने से कौन सँभाल सकता है? यह संसार अरण्य के समान है। जिस प्रकार अरण्य में पेड़ काटे जाते हैं और वे फिर उग आते हैं उसी प्रकार इस संसार में मनुष्य मरता है और फिर पैदा होता है।'

इस श्लोक में उपमा अलंकार के आडम्बरहीन प्रयोग के अतिरिक्त लोकोक्तियों का भी मार्मिक प्रयोग किया गया है। भास ने अपने नाटकों में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि सरल एवं प्रचलित अलंकारों का ही अधिकतर प्रयोग किया है। किन्तु उनकी इस अलंकार-योजना में सर्वत्र ही स्वाभाविकता एवं सरलता है।

भास के नाटकों में पदे-पदे सुन्दर लोकोक्तियों का समावेश देखने को मिलता है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' के प्रथम अंक में एक स्थान पर उन्होंने

बड़ी सुन्दर लोकोक्ति का वर्णन करते हुए लिखा है : 'काष्ठ के मन्थन से अग्नि पैदा होती है। पृथ्वी खोदी जाने पर ही जल देती है। उत्साही व्यक्तियों के लिए कोई भी वस्तु असाध्य नहीं होती है। कार्य को आरम्भ करने पर ही उसके सारे लक्ष्य सफल हो जाते हैं' :

'काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद् भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति॥'

यही बात उनके प्रकृति-वर्णन में भी दिखाई देती है। 'स्वप्नवासवदत्त' के प्रथम अङ्क में उन्होंने लिखा है : 'सायंकाल हो रहा है। पक्षी अपने घोंसलों की ओर चले गये हैं। मुनिजन जलाशयों में स्नान कर रहे हैं। सायंकालीन अग्निहोत्र के लिए प्रज्वलित अग्नि शोभायमान हो रही है और उसका धुआँ सारे तपोवन में फैल गया है। सूर्य भी अपनी किरणों को समेट कर रथ से उतर आया है और धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर गमन कर रहा है' :

'खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥'

भास के नाटकों में प्रायः सभी रसों का न्यूनाधिक्य रूप से समावेश पाया जाता है; किन्तु वीर और श्रृङ्गार, इन दोनों रसों का सुन्दर परिपाक वहाँ देखने को मिलता है। भिन्न-भिन्न रसों के प्रयोग में उनकी भाषा का रूप भी परिवर्तित हो जाता है। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से यद्यपि भास का सर्वत्र ही एक ही ढंग से परिचय मिलता है, फिर भी वीर रस के प्रसंगों में उन्होंने कुछ ओजस्वी भाषा का प्रयोग किया है। 'उरुभंग' में बलराम के क्रोधित रूप का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है :

'चलविलुलितमौलिः क्रोधताम्रायताक्षो
भ्रमरमुखविदष्टां किञ्चिदुत्कृष्य मालाम्।
असिततनुविलम्बिस्रस्तवस्त्रानुकर्षी
क्षितितलमवतीर्णः पारिवेषीव चन्द्रः॥'

'क्रोध के कारण बलराम की विशाल आँखें लाल हो गई है। उनका मस्तक तेजी से हिल रहा है। उनके गले में पड़ी माला की सुगन्ध से भँवरे उनके आस-पास मँडरा कर उन्हें काट रहे हैं और उन भ्रमरों को भगाने के लिए उन्होंने माला को कुछ टेढी कर दिया है, वे जमीन पर लटकते हुए अपने वस्त्र को समेटते आ रहे हैं और ऐसे दिखाई दे रहे हैं जैसे मण्डल (परिवेष) से युक्त चन्द्रमा ही पृथ्वीतल पर अवतीर्ण हो रहा हो।'

इस वीररसपूर्ण वर्णन में भास ने समासयुक्त शैली का प्रयोग किया है। उनकी भाषा भी इसमें परिवर्तित है। किन्तु उनके भावों में यहाँ भी कोमलता का समावेश है। बलराम के क्रोधित रूप की मण्डलयुक्त चन्द्रमा से तुलना करके उन्होंने कठोर एवं उत्तेजक वातावरण की सृष्टि करने के बजाय सौम्य भावों की व्यञ्जना की है।

उनके वीररस-वर्णन की भाँति ही उनका श्रृङ्गाररस-वर्णन भी संयमित, शिष्ट और मधुर है। 'स्वप्नवासदत्त' के चौथे अंक में उन्होंने लिखा है :

'कामेनोज्जयिनीं गते मयि तदा कामप्यवस्थां गते
दृष्ट्वा स्वैरमवन्तिराजतनयां पञ्चेषवः पातिताः।
तैरद्यापि सशल्यमेव हृदयं भूयश्च विद्धा वयं
पञ्चेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः॥'

'जब मैं उज्जयिनी में था तो अवन्तिराजपुत्री वासवदत्ता को देखकर मेरी अवस्था कुछ और ही हो गई थी। कामदेव ने मुझे एक साथ पाँच बाणों से बेध दिया था। उन बाणों का घाव आज भी हृदय में बना हुआ है। संप्रति वासवदत्ता के वियोगरूपी बाण ने मुझे पुनः वेध दिया है। कामदेव के पास जो पाँच बाण थे उनको तो वह पहले ही मुझ पर प्रयुक्त कर चुका था, जो आज भी हृदय को बेधे हैं; फिर यह छठा बाण उसने कहाँ से मारा ?'

इस प्रकार भास के कवित्व की समीक्षा करते हुए उनकी भारती में हमें जिन विशिष्ट गुणों का एक साथ समन्वय देखने को मिलता है वे हैं प्रसादगुण का समावेश, माधुर्य, स्वाभाविक पदविन्यास और सरल, सुगम भाषा का प्रयोग।

(२) कालिदास

नाटकों की निर्माण-परम्परा में भास के बाद कालिदास का क्रम आता है। कुछ विद्वानों ने कालिदास से पूर्व 'मृच्छकटिक' के निर्माता शूद्रक का उल्लेख किया है; किन्तु हमारे मत से कालिदास, शूद्रक से पहले हुए। इसके कारणों का विश्लेषण हम शूद्रक के प्रसंग में चलकर करेंगे।

कालिदास के स्थितिकाल और कवित्व के संबंध में महाकाव्यों के प्रसंग में विस्तार से कहा गया है। कालिदास पहला नाटककार है, जिसके नाटकों में नाट्यशास्त्र की दृष्टि से संपूर्ण नाटकीय तत्वों का उचित निर्वाह हुआ है। उनके काव्यों में जैसी सरसता एवं अनूठी कल्पनाशक्ति विद्यमान है, उनके नाटकों में भी वैसी ही सांसारिक अनुभूतियों की व्यापकता, अनुपम रचना-कौशल और लोकव्यवहारों की निपुणता समाविष्ट है। वे महाकवि हैं, सर्वोच्च नाटककार के रूप में विश्रुत हैं; और उतनी ही विदग्धता उनके गद्य में भी पाई जाती है।

संस्कृत-साहित्य के उपवन में कालिदास का समागम एक वसन्तदूत के समान कहा गया है, जिसके कारण उस उपवन का कोना-कोना पुष्पित हो उठा। उसने संस्कृत भाषा को वाणी दी; नई साज-सज्जायें, नये भाव, नई दिशायें, नये विचार और नई-नई पद्धतियाँ दीं। वह संस्कृत का सबसे बड़ा कवि और सबसे बड़ा नाटककार हुआ। कालिदास के सम्बन्ध में महाकवि गेटे के भावों को विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है : "स्वर्ग और मर्त्य का जो यह मिलन है, उसे कालिदास ने सहज ही संपादित कर लिया है। उन्होंने फूल को इस सहज भाव से फल में परिणत कर लिया है, मर्त्य की सीमा को उन्होंने इस प्रकार स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि बीच का व्यवहार किसी को मालूम ही नहीं होने पाता।"

ऑंग्ल-साहित्य में शेक्सपियर को सर्वोच्च कवि और नाटककार का स्थान प्राप्त है। जिस प्रकार शेक्सपियर के नाटकों में महारानी एलजाबिथ के समय की साहित्य-समृद्धि भरपूर है, ठीक उसी प्रकार कालिदास के नाटकों में भी तत्कालीन भारत के जन-जीवन की अनुभूतियाँ साकार हुई हैं। शेक्सपियर से भी पूर्व यद्यपि 'मोरेलिटी' और 'मिरेकिल' जैसे रूपक विद्यमान थे; किन्तु

जैसे शेक्सपियर ने ही सर्वप्रथम नाटकीय संविधानों को दृष्टि में रखकर नाटकों का निर्माण किया, ठीक वैसे ही, भास के १३ नाटकों के रचे जाने और सौमिल्ल, कविपुत्र आदि अच्छे नाटककार की कृतियाँ कालिदास के समक्ष होने पर भी कालिदास ने ही सर्वप्रथम ऐसे नाटकों की रचना की, जिन्हें सर्वथा अपूर्व कहा जा सकता है। इस दृष्टि से शेक्सपियर और कालिदास, दोनों ऐसे महान् नाटककार एवं कवि हुए, जिनके असाधारण कृतित्व को आज काव्यप्रेमी संसार बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण करता है।

जहाँ तक शेक्सपियर और कालिदास के काव्यकौशल की तुलना का प्रश्न है, दोनों की कृतियाँ आज विश्व की निधि के रूप में माने जानी लगी हैं; फिर भी दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। विश्व की इन दो विभूतियों के सम्बन्ध में जो सूक्ष्म अन्तर है उसको रवीन्द्र बाबू के शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है:

"कालिदास ने भी अपने नाटकों में दुरन्त प्रवृत्ति के दावानल को अनुतप्त हृदय के अश्रुवर्षण से शान्त किया है; किन्तु उन्होंने प्रवृत्ति की व्याधि को लेकर वर्णन का बाजार गर्म नहीं किया, केवल उसका आभास मात्र दे दिया है और उस पर एक परदा डाल दिया है।

"जहाँ प्रवृत्तियों की प्रबलता का प्रकाशावसर मिला है, वहाँ यूरोपियन कवि अपनी सीमा से बाहर हो जाते हैं।......शकुन्तला के समान ऐसा प्रशान्त, गंभीर और ऐसा संयत-संपूर्ण नाटक शेक्सपियर की नाटकावली में एक भी नहीं दीख पड़ता।......जहाँ अन्य कवि अपनी लेखनी को सरपट दौड़ाने का अवसर ढूँढा करते हैं, वहाँ कालिदास ने अपनी लेखनी को रोक लिया है।

"मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस समय दुष्यन्त को धीवर के द्वारा अँगूठी मिली थी और वे अपना भ्रम समझ कर पश्चात्ताप के गहरे गर्त में गिरे हुए थे, उसी समय यूरोप के कवि शकुन्तला नाटक का पटाक्षेप कर देते।

"टेम्पेस्ट में भी शक्ति है और शकुन्तला में भी। 'टेम्पेस्ट' में बल के द्वारा विजय है और 'शाकुन्तल' में मंगल द्वारा सिद्धि। 'टेम्पेस्ट' की समाप्ति अपूर्णता में है और 'शाकुन्तल' की समाप्ति संपूर्णता में। 'टेम्पेस्ट' में मिरांडा

सरलता तथा मधुरता की मूर्ति है; पर उस सरलता की प्रतिष्ठा अज्ञता और अनभिज्ञता के ऊपर है। शकुन्तला की सरलता अपराध में, दुःख में, अज्ञानता में, धैर्य में और क्षमा में परिपक्क है; वह गंभीर है और स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुकरण करके फिर भी हम कहते हैं शकुन्तला के आरंभिक तरुण सौन्दर्य ने एक मंगलमय परम परिणति में सफलता लाभ करके मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित कर दिया है।"

कालिदास के नाटक

कालिदास ने तीन नाटक लिखे: 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञानशाकुन्तल'। 'मालविकाग्निमित्र' कालिदास की प्रथम कृति है। इसलिए ही उसकी प्रस्तावना में कालिदास को स्वयं यह प्रमाण देने की आवश्यकता हुई कि 'न तो प्राचीन होने से कोई काव्य उत्कृष्ट कहा जा सकता और न नवीन होने से उसकी उपेक्षा की जा सकती है।' नाटक की अपरिपक्कावस्था को देखकर भी उसके पहले रचे जाने की बात सिद्ध होती है। 'विक्रमोर्वशीय' में कालिदास की प्रतिभा का पूर्वापेक्षया अधिक विकास हुआ है। इसलिए वह दूसरी कृति है। 'शाकुन्तल' में कालिदास का प्रौढ़ कवि-कर्म प्रस्फुटित हुआ है। इसलिये वह अन्तिम रचना है।

कालिदास के इन तीन नाटकों के अतिरिक्त दो खण्डकाव्यों एवं दो महाकाव्यों का उल्लेख महाकाव्यों के प्रसंग में किया गया है। कालिदास की कवित्व-प्रतिभा के सम्बन्ध में भी वहीं प्रकाश डाला गया है। इस दृष्टि से कालिदास के विशेष अध्ययन के लिए उनके काव्यों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

१. मालविकाग्निमित्र

इस नाटक में ५ अंक हैं। नान्दी पाठ में भगवान शंकर की वन्दना करने के उपरान्त प्रस्तावना में सूत्रधार का कथन है कि न तो प्रत्येक पुरानी कविता को उच्चकोटि का कहा जा सकता है और न तो प्रत्येक नई कविता निकृष्ट कोटि की होती है। सूत्रधार के मुँह से कालिदास की यह उक्ति तब कही गई जब इससे पहले परिपार्श्विक के मुँह से यह कहलाया गया था: 'जब कि भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे लब्धप्रतिष्ठ प्राचीन नाटककारों

की कृतियाँ हमारे समक्ष विद्यमान हैं तो फिर एक नवोदित कवि कालिदास की कृति का प्रदर्शन क्या समाज को रुचिकर लगेगा ?'

वस्तुतः यह प्रश्न कालिदास का नहीं था; बल्कि उस समाज का था, जो कि इस नये नाटककार की पुस्तक को खोलने से पहले अपने मन से यह पूछना चाहता था कि 'जब भास आदि विश्रुत नाटककारों की कृतियाँ सुलभ हैं तब कालिदास जैसे नवोदित नाटककार की कृति को पढ़ने में अपना समय क्यों बर्बाद किया जाय।' इसी बात के समाधान के लिए कालिदास को सूत्रधार के मुँह से प्रकारान्तर से ऐसा कहलाना पड़ा, जिसका सीधा आशय है कि 'केवल पुरानी होने से ही भास आदि की कृतियाँ ग्राह्य नहीं हैं; और न ही केवल नई होने से दूसरी कृतियाँ त्याज्य होती हैं। न तो पुरानी कविता सर्वथा निर्दोष होती है और न नई कविता ही सर्वथा सदोष होती है। विज्ञ लोग सदा ही अच्छी वस्तु की कद्र करते हैं और उसकी स्वयं परीक्षा करते हैं, जब कि मूर्ख लोग परबुद्धि के होते हैं।'

इस दृष्टि से सूत्रधार का प्रस्तावना में कथन है कि 'आज कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' का प्रदर्शन किया जायगा'; और वह देवी धारिणी को उसकी दो सेविकाओं के साथ मंच पर उतार कर स्वयं अदृश्य हो जाता है।

देवी धारिणी और उसकी सेविकाएँ बकुलावलिका तथा कौमुदिका के वार्तालाप से नाटक का 'विष्कम्भ' आरम्भ होता है। नाटक के इस विष्कंभ में हमें ज्ञात होता है कि महादेवी धारिणी, राजपुत्री मालविका को महाराज अग्निमित्र की दृष्टि से इसलिए छिपाती रहती हैं कि कहीं उस सुन्दरी को देखते ही राजा उस पर अनुरक्त न हो जाये। संयोगवश एक दिन राजकुमारी वसुलक्ष्मी से राजा को विदित हो ही जाता है कि जिसको छिपाने की इतनी कोशिश की जा रही है उसका नाम मालविका है और उसका चित्र राजा देख भी चुका है। इसके बाद नाट्यशाला के आचार्य गणदास के प्रवेश करने पर मालविका के संबंध में हमें यह भी सूचना मिल जाती है कि मालविका को संगीत तथा नृत्य की शिक्षा देने का कार्य आचार्य गणदास को सौंपा हुआ है और मालविका बड़ी उत्सुकता से अपनी शिक्षा में लगी हुई

है। विष्कंभ के समाप्त हो जाने पर नाटक के कथानक का इस प्रकार आरंभ होता है :

नाटक के पहले अंक में राजा अग्निमित्र, विदूषक की चिन्ता में व्याकुल दिखाई देते हैं। थोड़ी देर में ही विदूषक गौतम का प्रवेश होता है और उसके द्वारा राजा को यह सूचना मिलती है कि उसने एक ऐसी युक्ति खोज निकाली है, जिससे वह मालविका को राजा के समक्ष उपस्थित कर सकने में समर्थ हो सकेगा। ठीक इसी युक्ति के प्रतिक्रियास्वरूप राजा की रंगशाला के आचार्य गणदास तथा हरदत्त का झगड़ते हुए प्रवेश होता है। वे दोनों राजा के पास इस निर्णय के लिए आये हैं कि उन दोनों में कौन श्रेष्ठ है। क्योंकि आचार्य हरदत्त, राजा के विश्वासपात्र और आचार्य गणदास महारानी धारिणी के विश्वासपात्र हैं, इसलिये दोनों आचार्यों के निर्णय में पक्षपात हो जाने के भय से भगवती कौशिकी नामक एक संन्यासिनी को न्यायाधीश (प्राश्निक) के लिए स्वीकार किया जाता है। कौशिकी अपना निर्णय देती है कि दोनों नाट्याचार्यों की श्रेष्ठता की परीक्षा उनके शिष्यों के कला-प्रदर्शन पर निर्धारित की जायगी। महारानी धारिणी इस बात को नहीं चाहती थी किसी भी रूप में मालविका राजा के समक्ष आये, पर अब क्या हो सकता था !

दूसरे अङ्क का आरम्भ सुसज्जित रंगशाला के दृश्य से होता है। मालविका का नृत्य-प्रदर्शन श्रेष्ठ घोषित होकर निर्णय गणदास के पक्ष में होता है। इस नृत्य आयोजन के समय उधर महारानी धारिणी इस चिन्ता में हैं कि जल्दी-से-जल्दी मालविका राजा के सामने से अलग हो और इधर राजा तथा मालविका का अन्तर्मन एक-दूसरे के प्रति अपना अनुराग ले-दे रहा है।

तीसरे अंक में मधुरिका तथा समाहितिका के द्वारा हमें यह सूचना मिलती है कि मालविका अत्यधिक उदासीन एवं खोई-खोई-सी रहने लगी है और अग्निमित्र भी उसके लिए व्याकुल है। इसके बाद मालविका को उद्यान में पुष्पमाला गूंथते हुए दिखाया जाता है। ठीक इसी समय विदूषक को साथ लेकर राजा अपनी छोटी रानी इरावती की प्रतीक्षा करते हुए उद्यान में प्रविष्ट होते हैं। इरावती यहीं छिपी हुई है। अग्निमित्र ज्यों ही मालाविका

से मिलने के लिए आगे बढते हैं कि इरावती उन्हें रोकती है। इसी बीच एक दिन अशोक के दोहदपूरण के अवसर पर रानी धारिणी के पैर में चोट आ जाने से वह मालविका को वहाँ भेज देती है और इस प्रकार वे दोनों कुछ देर मिलने की खुशी प्रकट कर ही रहे होते हैं कि इरावती तीर की तरह खिंची हुई आकर राजा को कटु वचन सुना कर वहाँ से चली जाती है।

चौथे अंक में महारानी धारिणी को जब यह पता चलता है कि मालविका का राजा से मिलन कराने के लिए मालविका और बकुलावलिका प्रयत्नशील रहीं तो उन्हें वह तहखाने में बन्द करवा देती है। इस बार विदूषक अपनी कूटनीति को काम में लाता है। वह सर्पदंश का बहाना बना कर महारानी-धारिणी की विषविनाशक अँगूठी को प्राप्त कर उसके द्वारा दोनों सखियों को तहखाने से मुक्ति दिलाता है।

पाँचवें अंक में हमें ज्ञात होता है कि विदर्भ से भेंट स्वरूप आई दो सेविकाओं को यह पता चल जाता है कि मालविका, विदर्भराज माधवसेन की बहिन और कौशिकी उनके मंत्री की बहिन है। यह बात अभी तक गुप्त रखी गई थी। इसके प्रकाश में आते ही महारानी धारिणी की स्वीकृति से मालविका और अग्निमित्र का विवाह हो जाता है।

२. विक्रमोर्वशीय

नाटक के प्रथम अङ्क में भगवान् शंकर की अर्चना करके उर्वशी कैलाश-पर्वत से इन्द्रलोक की ओर लौट रही है कि रास्ते में केशी नामक भयानक दैत्य के द्वारा सताये जाने पर उसका करुण रुदन राजा पुरूरवा के कानों में पड़ता है। पुरूरवा संयोगवश उसी रास्ते जा रहे हैं। राजा, दानवों से युद्ध करके उर्वशी की रक्षा करते हैं। इसी प्रसंग में दोनों एक दूसरे के प्रति अनुरक्त हो जाते हैं।

दूसरे अङ्क में राजा अपने अनुराग का सारा वृत्तान्त अपने विदूषक को सुनाता है। इसी समय उर्वशी और उसकी सखी चित्रलेखा छिपकर राजा और विदूषक का वार्तालाप सुन लेती हैं। उर्वशी पत्ते पर अपना प्रेम-संदेश लिखकर राजा की ओर फेंक देती है। विदूषक की असावधानी से वह पत्ता उड़ कर

देवी औशीनरी के पैरों से जा लगता है। वह पत्र को देखती है और पुरूरवा पर बहुत बिगड़ती है; किन्तु पुरूरवा अनुनय-विनय कर उसको शांतकर लेता है।

तीसरे अङ्क में भरतमुनि द्वारा निर्देशित लक्ष्मी-प्रणय का एक नाटक अभिनीत होता है। उर्वशी उसकी नायिका है। वह लक्ष्मी का अभिनय करते समय अन्यमनस्कावस्था में 'पुरुषोत्तम' की जगह 'पुरूरवा' का नाम ले लेती है, जिससे क्रुद्ध होकर महामुनि उसको मर्त्यलोक में जाने का शाप दे डालते हैं; किन्तु इन्द्र के आग्रह पर इस शाप की यह अवधि निश्चित की जाती है कि वह उस समय तक मर्त्यलोक में रहे, जब तक कि पुरूरवा को पुत्र-दर्शन की प्राप्ति न हो जाय। फलतः उर्वशी, पुरूरवा के पास आती है और देवी औशीनरी की अनुमति से दोनों प्रेमसूत्र में बँध कर साथ रहने लगते हैं।

चौथे अङ्क में प्रवेशक के द्वारा हमें यह सूचना मिलती है कि उर्वशी गंधमादन वन में जाकर एक लता के रूप में परिणत हो गई है। यह दुर्घटना ऐसी हुई कि एक दिन मन्दाकिनी के तट पर किसी विद्याधर कुमारी के प्रति पुरूरवा आकर्षित हो गया, जिससे रुष्ट होकर उर्वशी कार्तिकेय के गंधमादन वन में चली गई। कार्तिकेय की यह आज्ञा थी कि जो भी स्त्री उसके गंधमादन वन में प्रविष्ट होगी वह लता के रूप में परिवर्तित हो जायगी। इससे पुरूरवा बहुत ही दुखित हुआ। एक दिन आकाशवाणी होती है कि वह संगमनीय मणि को साथ लेकर उर्वशीरूपी लता का आलिंगन करे। इस उपाय से वह उर्वशी को पुनः प्राप्त करने में सफल हो जाता है। राजधानी में आकर उनका विवाह हो जाता है।

पाँचवें अङ्क में एक गिद्ध द्वारा वह संगमनीय मणि चुरा ली जाती है; किन्तु अकस्मात् ही एक बाण आकर गिद्ध पर लगता है और वह लुढ़कता हुआ नीचे आ गिरता है। वह बाण जब राजा के पास लाया गया तो उस पर लिखा हुआ मिला 'पुरूरवा का पुत्र आयुष्'। राजा को अब तक यह पता न था कि उसका पुत्र हो चुका है; क्योंकि शाप की अवधि को टालने के लिए उर्वशी ने अपने बालक को च्यवन ऋषि के आश्रम में छिपा दिया था। उर्वशी को जब इस घटना का पता चला तो वह बहुत दुखी हुई। ठीक इसी स्थिति में इन्द्रलोक से नारदमुनि आते हैं। वे पुरूरवा को देव-दानव-युद्ध

की सूचना देते हैं और देवों की सहायता के लिए इन्द्र द्वारा भेजा हुआ संदेश पुरूरवा से कहते हैं। इस दुःखदायी संदेश के साथ ही नारदमुनि पुरूरवा को इन्द्र का यह शुभ समाचार भी सुनाते हैं कि इस सहायता-कार्य के पुरस्कार में यावज्जीवन उर्वशी को पुरूरवा के लिए दे दिया जाता है।

३. अभिज्ञानशाकुन्तल

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के प्रथम अंक में हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त मृगया करते हुए संयोगवश कण्व मुनि के आश्रम में पहुँच जाते हैं। वहाँ वे दो सखियों के सहित शकुन्तला को देखते हैं। इसी बीच कहीं से एक भौंरा उड़ कर आता है और वह शकुन्तला के निकट आकर घूमने लगता है। भौंरे से भयभीत होकर ज्यों ही तीनों मुनि-कन्यायें सुरक्षा के हेतु चिल्लाने लगती हैं कि इतने ही में पेड़ों की ओट में छिपा हुआ दुष्यन्त प्रकट होकर उनकी रक्षा करता है। दुष्यन्त को देखते ही शकुन्तला के हृदय में प्रेम का अंकुर उग आता है। उनसे वह अपना वास्तविक नाम छिपाकर स्वयं को दुष्यन्त का सामन्त बताता है। राजा को भी सखियों से पता चलता है कि उनकी सखी अनिंद्य सुन्दरी शकुन्तला, विश्वामित्र और मेनका की पुत्री है। यह सुनकर दुष्यन्त को, शकुन्तला के प्राप्त होने का मन-ही-मन विश्वास हो जाता है।

दूसरे अंक में राजा दुष्यन्त अपने मित्र माधव्य को अपने मन का सारा प्रेम-व्यापार विस्तार से बता देता है। इसी समय राजा के समक्ष दो समस्यायें उपस्थित होती हैं। एक ओर तो आश्रमवासी लोगों का आग्रह है कि कुछ दिनों वहीं ठहर कर दुष्यन्त, विघ्नकारी राक्षसों से उनकी रक्षा करें और इधर इंद्रप्रस्थ से रानी वसुमती का यह संदेश पहुँचता है कि उपवास-पारायण पर दुष्यन्त अवश्य उत्सव में शामिल हो। दुष्यन्त स्वयं तो न गया; किन्तु उसने माधव्य को वहाँ भेज दिया और उससे कह दिया कि शकुन्तला के प्रेम-व्यापार की जो बातें उसने कही थीं वे सर्वथा असत्य थीं। भला यह कभी संभव हो सकता है कि एक चक्रवर्ती राजा किसी सामान्य लड़की के प्रेम में फँस सके। यह एक विनोद की बात थी। दुष्यन्त ने माधव्य को इसलिए ऐसा पक्का किया कि वह जाकर देवी वसुमती से या अन्य लोगों से इस रहस्य को प्रकट न कर दे।

तीसरे अङ्क में राजा अपने प्रति शकुन्तला की प्रेमासक्ति का छिप कर पता लगाता है। शकुन्तला विरह में उत्तप्त होकर दुष्यन्त को पत्र लिखती है कि ऐसे ही मौके पर वह प्रकट हो जाता है। दोनों ही गान्धर्व विधि से प्रणय-सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। प्रणयसूत्र में आबद्ध हो जाने के बाद दुष्यन्त, शकुन्तला का अधरपान करना चाहता है; किन्तु इसी समय गौतमी आकर शकुन्लता को अलग कर ले जाती है। दुष्यन्त भी मन मार कर वहाँ से चल देता है।

चौथे अङ्क में हमें यह ज्ञात होता है कि किसी कार्यवश राजा अपनी राजधानी लौट आया है और विरह-व्यथित शकुन्तला को स्मृतिस्वरूप अपनी अँगूठी देकर यह आश्वासन दे आया है कि 'जितने अक्षर मेरे नाम के हैं उतने ही दिनों में मैं तुम्हें अपने पास बुला लूँगा।' किन्तु राजा ने ऐसा न किया। इसी बीच मुनिराज दुर्वासा आते हैं और दुष्यन्त की याद में तन्मय शकुन्तला उनका आतिथ्य नहीं कर पाती, जिससे कि अपमानवश क्रुद्ध मुनि यह शाप दे बैठता है कि 'जिसकी चिन्ता में तल्लीन होकर तूने एक अतिथि का अपमान किया है, वह तुझे सदा के लिए भूल बैठेगा।' इस अनिष्टकर प्रसंग का पता ज्यों ही सखियों को लगा कि वे दौड़कर मुनिराज से क्षमा-याचना करने लगीं। मुनि ने इतना कहकर कि 'अभिज्ञान को देखकर राजा शकुन्तला को पहचान लेगा' आगे बढ़ गये। उधर मुनिश्रेष्ठ कण्व ने तीर्थयात्रा से आकर जब शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह की बात सुनी तो वे उसे दुष्यन्त के निकट भेजने का प्रबन्ध करने लगते हैं।

चौथा अंक बड़ा मार्मिक है। आश्रम से शकुन्तला विदा होती है। सारा तपोवन शकुन्तला के वियोग में रो पड़ता है। यहाँ तक कि कण्व जैसे वृद्ध तपस्वी का भी मन भर आता है। शकुन्तला भी अपने चिर सहचरों को छोड़ कर मन में वियोग का भारी उफान लिये आश्रम को छोड़ देती है।

पाँचवें अंक में दिखाया जाता है कि शकुन्तला को लेकर गौतमी, शार्ङ्गरव और शारद्वत, दुष्यन्त की राजधानी की ओर चले आते हैं; किन्तु दुर्भाग्य कि इसी बीच रास्ते में, स्मृतिस्वरूप दुष्यन्त की मुद्रिका खो जाती है। दरबार में उपस्थित होने के बाद दुष्यन्त, शकुन्तला को ग्रहण करना अस्वीकार

कर देता है। मुद्रिका के लिए शकुन्तला जब अपनी उँगली टटोलती है, तो उसे मुद्रिका के गुम हो जाने पर मूर्छा आ जाती है। तदनन्तर अनादृत शकुन्तला को वहीं छोड़ कर तीनों आश्रमवासी सहचर वापिस चले जाते हैं और बाद में पता चलता है कि कोई दैवी शक्ति शकुन्तला को उठाकर आकाश की ओर ले गई है।

छठे अंक में एक मछुआ राज-नामांकित मुद्रा को बेचते हुए पकड़ा जाता है। उसको राजा के पास लाया जाता है। मुद्रा ज्यों ही राजा के हाथ में जाती है त्योंही अतीत का सारा घटना-चक्र उसकी आँखों में तैर जाता है। शकुन्तला पर किए गए अपने निर्मम अत्याचारों से वह इतना पीड़ित हो उठता है कि सब कुछ छोड़ कर उसी में खो जाता है। वह स्वयं को बहुत धिक्कारता है।

सप्तम अंक में राजा इन्द्रलोक से कालनेमि दानवों पर विजय करके लौटता है। वह रास्ते में गन्धमादन पर्वत पर भगवान् मरीचि का दर्शन करने के लिए आश्रम में प्रवेश करता है। वहाँ उसका अपने पुत्र भरत और प्रिय पत्नी शकुन्तला से साक्षात्कार होता है। अन्त में भगवान् मरीच का आशीर्वाद पाकर दुष्यन्त सपत्नी-पुत्र अपनी राजधानी को लौट आते हैं।

कथावस्तु का आधार

ऐसा कहा जाता है कि कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'महाभारत' के शकुन्तलोपाख्यान पर आधारित है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि 'पद्मपुराण' के शकुन्तलोपाख्यान का भी कालिदास की इस कृति पर प्रभाव है। किन्तु 'पद्मपुराण' का जहाँ तक संबंध है, यह निश्चित है कि उसकी रचना कालिदास के बाद हुई। इसलिए यह संभावना करना भी अयुक्त है कि कालिदास पर 'पद्मपुराण' का प्रभाव रहा है; बल्कि अधिक सही यह जान पड़ता है कि 'पद्मपुराण' के रचयिता या संस्कर्ता ने 'शाकुन्तल' के अनेक स्थलों को ज्यों-का-त्यों उठा कर उसमें जोड़ दिया।

जहाँ तक 'महाभारत' के शकुन्तलोपाख्यान का संबंध है, वह कालिदास के पूर्व का अवश्य है और कुछ असंभव नहीं कि कालिदास ने उससे प्रेरणा

प्राप्त की हो; किन्तु दोनों के कथानकों की तुलना करने पर यह निश्चित हो जाता है कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में जो बातें हैं, 'महाभारत' में उनका पता तक नहीं है। उदाहरण के लिए (१) 'महाभारत' में जब शकुन्तला का पुत्र छह वर्ष का हो जाता है तब शकुन्तला को पतिगृह भेजा गया है। इसके विपरीत कालिदास ने, प्रसव के पूर्व ही शकुन्तला को पतिगृह भेज दिया है। (२) 'महाभारत' का दुष्यन्त कामुक, भीरु और स्वार्थी है। इसके विपरीत कालिदास का दुष्यन्त कामुक होते हुए भी भीरु और स्वार्थी नहीं है। वह धीरोदत्त नायक है। (३) महाभारत में दुष्यन्त लोकापवाद के भय से शकुन्तला के साथ गांधर्व विवाह करना अस्वीकार कर देता है और जब आकाशवाणी द्वारा उसको आश्वासन मिलता है तब वह इस बात को स्वीकार करता है। किन्तु कालिदास ने इसके विपरीत दोनों का गांधर्व-विवाह कराया है।

इसके अतिरिक्त अनेक ऐसी बातें हैं, जैसे शाप और अँगूठी की कल्पना, जो कालिदास की प्रतिभा की देन हैं, जिनके कारण उनकी यह कृति संसार-व्यापी ख्याति अर्जित कर सकी। 'महाभारत' के शकुन्तलोपाख्यान और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कितनी समानता और असमानता है, इसके लिए शकुन्तलोपाख्यान को पढ़ लेना आवश्यक है।

महाभारत में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान

मुनि विश्वामित्र और अप्सरा मेनका अपनी पुत्री शकुन्तला को वन में छोड़ कर चले गये। महर्षि कण्व ने उसका पालन किया। जब शकुन्तला युवती हो चुकी थी उसी समय दुष्यन्त नामक एक राजा मृगया करते हुए संयोग से कण्व के आश्रम में पहुँचे। वहाँ शकुन्तला के सौन्दर्य पर मोहित होकर राजा ने शकुन्तला के साथ गांधर्व विवाह किया और बाद में एकाकी ही वे अपनी राजधानी को लौट गये।

कण्व जब आश्रम में आये तो उन्होंने अपने योगबल से सारी परिस्थिति को भांप लिया। उन्होंने दुष्यन्त-शकुन्तला के क्षत्रियोचित गांधर्व विवाह का समर्थन किया। बाद में कण्व के आश्रम में ही शकुन्तला ने एक पुत्र को जन्म दिया। महर्षि ने उसको पुत्र सहित राजा के पास भेज दिया।

शकुन्तला, पुत्र को लेकर जब राजा के सामने उपस्थित हुई तो राजा ने उसको नहीं पहचाना और उसको अस्वीकार कर दिया। तदनन्तर आकाश-वाणी हुई और राजा ने शकुन्तला को पत्नी रूप में ग्रहण कर लिया। राजा को अपने गांधर्व विवाह की बात स्मरण थी; किन्तु लोकभय से उसने शकुन्तला को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। यही सार है।

'महाभारत' के आदिपर्व में वर्णित उक्त शकुन्तलोपाख्यान लगभग ३०० श्लोकों में है। शकुन्तला की इस कहानी में न तो कोई विचित्रता है और न रचना-कौशल ही। इस सीधे-साधे आख्यान में इतना प्रभावकारी आकर्षण कैसे पैदा किया जा सकता है, जिसकी सम्पूर्ण मानव-समाज एक स्वर से प्रशंसा करेगा, यह रहस्य कालिदास को ही विदित था।

'महाभारत' की उक्त कहानी से कालिदास की कहानी में भिन्नता है, इसका प्रथम आभास 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के नामकरण से ही विदित हो जाता है। 'अभिज्ञायते येन तदभिज्ञानम् (अंगुरीयकम्), तेन शकुन्तलां अधिकृत्य कृतं पुस्तकं अभिज्ञानशाकुन्तलम्।' अभिज्ञान का आशय अंगुरीय (अँगूठी) से है, अँगूठी को देखकर शकुन्तला का पुनः स्मरण हो जाना ही इस नाटक की मुख्य घटना है। इसलिए इस घटना को उद्देश्य मानकर लिखे गये इस नाटक का नाम 'अभिज्ञानशाकुन्तल' रखा गया।

इस प्रकार नाटक के नामकरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महाभारत' के शकुन्तलोपाख्यान की अपेक्षा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भिन्नता है। इस भिन्नता के आधार पर यदि हम शकुन्तला-विषयक इन दोनों कवियों की समीक्षा करते हैं तो उनमें हमें पर्याप्त असमानता दिखाई देती है।

दोनों की तुलना को पढकर दोनों की विशेषतायें स्वयमेव स्पष्ट हो जाती हैं। 'महाभारत' के शकुन्तलोपाख्यान की अपेक्षा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की कहानी में जो विशेषता है उसमें दुर्वासा का शाप और मुद्रिका की कल्पना, ये दो बातें बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। ये दोनों महत्त्व की बातें कालिदास को कहाँ से सूझीं, इस सम्बन्ध में भी अनेक धारणायें हैं। संभवतः रावण की लङ्का में बैठी हुई सीता को, अपना परिचय देने तथा स्वयं पर उसका विश्वास पैदा करने के लिए हनूमान द्वारा राम की मुद्रिका को साथ ले जाने की यह

घटना कालिदास को मालूम थी। इस घटना ने उसके कविमन को इतना आन्दोलित किया हुआ था कि उसकी प्रतिभा इसी आधार पर किसी श्रेष्ठ कृति को जन्म देमे के लिए बेचैन थी। उसने 'मालविकाग्निमित्र' में भी मुद्रिका का प्रसंग पहचान के लिए रखा है; किन्तु अपने मनचाहे ढंग से वह उसको वहाँ नहीं बैठा पाया था।

कुछ लोगों का कथन है कि मछली के पेट से धीवर द्वारा अँगूठी प्राप्त करने की घटना को कालिदास ने एक ग्रीक इतिहासकार हिरोटोडस से ग्रहण किया। यह इतिहासकार क्राइस्ट से ५०० वर्ष पूर्व हो चुका था। उसने एक प्रसंग में लिखा है कि 'पालिक्रेटस नामक एक ग्रीक राजा ने भाग्य-परीक्षा के लिए अपनी रत्नजटित मूल्यवान् अँगूठी को समुद्र में डाल दिया था, जो कि पाँच-छह दिन बाद धीवर के द्वारा लाई गई एक मछली के पेट से पुनः प्राप्त हुई।'

किन्तु इस घटना को कालिदास की कल्पना के साथ जोड़ना उचित नहीं जान पड़ता है। शाप और मुद्रिका, ये दोनों सूझें कालिदास की स्वयं कल्पना से प्रस्तूत है।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का कथन है कि कालिदास ने अनेक घटनाओं को भास के 'स्वप्नवासवदत्त', 'प्रतिमा' तथा 'अविमारक' आदि नाटकों से ली है। किन्तु इस संबंध में भी यही बात लागू होती है, जो 'महाभारत' के निर्जीव कथन के बारे में ऊपर कही गई है।

नाटकीय संविधान

मालविकाग्निमित्र

'मालविकाग्निमित्र' कालिदास की प्रथम नाटक कृति है। उसका नायक अग्निमित्र ऐतिहासिक व्यक्ति है। इतिहास में उसको मौर्य राजा बृहद्रथ का सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र कहा गया है, जिसने अपने स्वामी को मारकर १८३ ई० पूर्व में मौर्य-साम्राज्य की जगह शुंग राजवंश की स्थापना की थी।

नाटकीय दृष्टि से यदि 'मालविकाग्निमित्र' की समीक्षा की जाय तो प्रतीत होता है कि उसमें घटना-ऐक्य है और उसकी कथावस्तु का, प्रत्येक

परिस्थिति तथा प्रत्येक अवस्था में, अग्निमित्र की प्रेम-सिद्धि के लिए प्रयत्न है। उसमें अवान्तर तथा प्रतिकूल घटनाओं का भी समावेश है; किन्तु वे सभी घटनाएँ मुख्य कथा की सहायक हैं। उसमें पात्रों का पूर्ण विकास नहीं हुआ है किन्तु संवादों की सरसता है।

विक्रमोर्वशीय

'विक्रमोर्वशीय' कालिदास का पाँच अङ्कों का त्रोटक है। त्रोटक की गणना उपरूपकों के प्रभेदों में की गई है। इसके नायक-नायिका (पुरूरवा और उर्वशी) की चर्चा वेद, पुराण आदि प्राचीनतम ग्रन्थों में देखने को मिलती है। पुरूरवा और उर्वशी का आख्यान 'ऋग्वेद', 'महाभारत', 'विष्णुपुराण', 'पद्मपुराण', 'मत्स्यपुराण', 'भागवत' और 'कथासरित्सागर' आदि अनेक ग्रन्थों में व्याप्त है। किन्तु भाव, भाषा, शैली, रसयोजना और नाटकीय प्रक्रिया आदि की दृष्टि से कालिदास ने उसको सर्वथा नवीन रूप में उपस्थित किया है। 'विक्रमोर्वशीय' के प्रभावशाली स्थल : भरतमुनि का शाप, कार्तिकेय का नियम, उर्वशी का लतारूप में परिणत होना और पुरूरवा का प्रलाप आदि कालिदास की स्वतंत्र कल्पना से प्रसूत हैं। इन्हीं कल्पित स्थलों के कारण ही नाटक की कथावस्तु में प्रभावोत्पादकता आई है।

नाटक में शृङ्गार के संभोग और विप्रलंभ दोनों पक्षों का सुन्दर चित्रण हुआ है। पात्र कम हैं और उनका अच्छा विकास हुआ है। यद्यपि उसकी भाषा उतनी सबल नहीं है; फिर भी उसमें सौष्ठव है। उसमें छोटे-छोटे छन्दों ने उसको सुरुचिपूर्ण बना दिया है।

यद्यपि कालिदास ने इसमें विशिष्ट वर्णनचातुरी दर्शित की है; फिर भी नाटकीय संविधानों की दृष्टि से वह उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती है। उसमें कवित्व-कल्पना अवश्य ही ऊँची है; किन्तु उसकी नाटकीय क्रियाशीलता में शिथिलता है।

पुरूरवा उसका धीरोदात्त नायक है। वह वीर, विख्यात, सहृदय और क्षमावान् है। एक दृष्टि से वह 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के दुष्यन्त से भी ऊँचा ठहरता है। वह है उसका उर्वशी पर अटूट प्रेम। दुष्यन्त जहाँ राजा होने के बाद प्रेमी था और उसके लिए राजकार्य प्रथम तथा प्रेम-सम्बन्ध का

प्रेम संबध का निर्वाह बाद की वस्तु थी, वहाँ पुरूरवा प्रेमी पहले था उसके बाद राजा। इसीलिए तो वह वर्षों राजधानी से अलग रह सकता था।

उर्वशी इसकी नायिका है। वह रूपवती भी है और गुणवती भी। उसमें दैवी और मानुषी प्रवृत्तियों का संमिश्रण है। राजा के उपकार के बाद वह उसके प्रेम में आसक्त हो जाती है। राजा के प्रति उसका प्रेम बड़ा ही निर्दोष और ईर्ष्यारहित था। राजा के प्रति इसी उत्कट एवं एकान्त प्रेम के कारण वह नवजात पुत्र को दूर रख आती है। वह सर्वथा उच्च कुलवधू के रूप में हमारे सामने प्रकट हुई है।

इन दोनों के अतिरिक्त औशीनरी, कञ्चुकी, निपुणिका और विदूषक आदि अन्य चरित्रों का चित्रण कवि ने किया है। किन्तु वह उतना सबल एवं प्रभावशाली नहीं है। विदूषक का चरित्र अधूरा और अरुचिकर है।

अभिज्ञानशाकुन्तल

नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने नाटक-निर्माण के लिए जिन विशिष्ट विधानों का निर्देश किया है उनसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की परीक्षा करने पर विदित होता है कि वह सर्वांगपूर्ण रचना है।

कालिदास के इस नाटक का उद्देश्य दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम चित्रित करने का है। हम देखते हैं कि नाटक की कथावस्तु का अंकुर, वृद्धि और परिणाम प्रेम में ही फलित हुये हैं। इस प्रेम-मूलक नाटक की रचना का आदि से अन्त तक एक ही विषय रहा है। अतः उसमें घटना-ऐक्य है।

इस प्रधान प्रेमकथा को रोकने और आगे बढ़ाने के लिए जिन अवान्तर चरितों तथा अवान्तर घटनाओं का संबंध जोड़ा गया है वे भी साभिप्राय हैं। गांधर्व-विवाह, शाप, अँगूठी का गिर जाना, ये घटनाएँ प्रतिकूल और विवाह, मुद्राप्राप्ति तथा राजा को निमंत्रण, ये घटनायें अनुकूल हैं। ये सभी घटनाएँ नाटक की विषयवस्तु के लिए सहायक होने के कारण सार्थक हैं।

घटनाओं के घात-प्रतिघात की दृष्टि से विचार किया जाय तो गुप्तरूप से विवाह करना, कण्व के भय से आश्रम छोड़कर दुष्यन्त का भाग जाना और दुर्वासा का शाप, ये सभी प्रसंग कथावस्तु की गति में तीव्र गतिरोध पैदा करते हैं।

शकुन्तला के साथ दुष्यन्त का गुप्तरूप से गान्धर्व विवाह दोनों के मन में अनेक प्रकार के सन्देहों और भयमिश्रित विचारों को जन्म देता है; किन्तु यह सामान्य अन्तर्विरोध है। यह अन्तर्विरोध उस समय अपनी सीमा पर पहुँचता है जब शकुन्तला को दुष्यन्त के राजदरबार में खड़ा किया जाता है और राजा के मुकर जाने पर गौतमी, शकुन्तला का घूँघट खोल कर राजा की भर्त्सना कर बैठती है। इस प्रसंग में दुष्यन्त के मन की द्विविधा देखने योग्य है। धर्मभय और लोकभय के कारण वह यद्यपि शकुन्तला को ग्रहण करने से अस्वीकार कर देता है; किंतु उसकी आन्तरिक स्थिति बड़ी ही दयनीय दिखाई देती है। शकुन्तला भी उसको बुरी तरह धिक्कारती है और अन्त में असहाय होकर रोने लगती है। गौतमी, शार्ङ्गरव और शारद्वत, तीन साक्षी उसके प्रणय-संबंध को प्रमाणित कर रहे हैं। ये सभी बातें दुष्यन्त अनुभव करता है। उसके अन्तःकरण में तुमुल युद्ध मचा हुआ होता है।

नाटक की ये सभी बातें, नाट्यशास्त्र की दृष्टि से खरी उतरती हैं। उसके पात्रों का चरित्र-चित्रण और उसमें समाहित काव्य-भावना का विवेचन अलग से किया गया है।

इसलिए नाट्यशास्त्रीय संविधानों की दृष्टि से 'अभिज्ञानशाकुन्तल' श्रेष्ठ कृति ठहरती है।

चरित्र-चित्रण

नाटक के प्रमुख पात्रों में दुष्यन्त, शकुन्तला, कण्व, अनसूया और प्रियंवदा का नाम लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त भरत, विदूषक (माधव्य), शार्ङ्गरव, शारद्वत और गौतमी आदि भी अनेक चरित्र प्रस्तुत नाटक में देखने को मिलते हैं।

दुष्यन्त इसका नायक है। वह चन्द्रवंशीय क्षत्रिय है और उसमें धीरोदात्त नायक के सभी गुण वर्तमान हैं। नाटक के आरंभ में दुष्यन्त से हमारा एक बहुकांक्षी युवक के रूप में परिचय होता है। वह वीर है और राक्षसों से तपोवन की रक्षा करना वह अपना कर्तव्य समझता है। वह विनीत और प्रियभाषी भी है। उसकी एक से अधिक रानियाँ हैं। वह कर्तव्यपरायण, क्षमावान्, प्रजावत्सल और निर्लोभी है। वह अविकत्थन (आत्मप्रशंसारहित)

स्वभाव का भी है। शकुन्तला के प्रति आकर्षित होने पर उसे अपने क्षात्रधर्म का स्मरण हो आता है और अपने विशुद्ध मन को ही एकमात्र निर्णायक स्वीकार करता हुआ वह स्वयं ही विचार करता है 'निःसंदेह ही यह (शकुन्तला) क्षत्रिय के ग्रहण करने योग्य है; क्योंकि मेरा साधु मन इसको चाहता है। किसी संदिग्ध वस्तु के ग्रहण करने या न करने में सत्पुरुषों की अन्तःप्रवृत्तियाँ ही प्रमाण हुआ करती हैं।'

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥'

स्वयं पर यह कितनी बड़ी भारी आस्था और आत्मविश्वास है। किन्तु आगे चलकर एकाएक ही वह शकुन्तला को भुला बैठता है। यह उसका दोष नहीं है; बल्कि शाप के कारण ऐसा हुआ है। उसका मन यह भी सोचता है कि कहीं मैं गलती पर तो नहीं हूँ; किन्तु क्योंकि वह स्वतंत्र नहीं है, इसलिए व्यक्तिगत रूप से इतने बड़े दायित्व को स्वीकार करना भी उसके बस की बात नहीं है। प्रथम अंक में जवान लड़कियों को छिपकर देखना उसका काम नहीं था। यहाँ पर अवश्य हो उसका चरित्र कुछ गिर गया है; किन्तु यह उसका दोष नहीं, अवस्था का दोष था।

शकुन्तला, आश्रम में पली हुई एक वन-कन्या के रूप में हमारे सामने आती है। बाद में हमें विदित होता है कि वह अप्सरा मेनका और ऋषि विश्वामित्र की सन्तान है। इसलिए वह महर्षि कण्व की पोष्य पुत्री है; किन्तु उसके प्रति कण्व के हृदय में उतनी ही ममता है, जितनी कि अपनी कन्या के लिए किसी सहृदय पिता की होती है।

उसके आंगिक सौन्दर्य का और उसकी चेष्टाओं का जैसा वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वह पूर्ण युवती है। प्रथम अङ्क में प्रियंवदा का हँसी में उसको यह कहना कि 'यहाँ तो तुम्हें अपने स्तनों के परिपुष्ट हो जाने के कारण अपने यौवनारंभ को कोसना चाहिए था; मुझे क्यों उलाहना दे रही हो (अत्र तावत् पयोधरविस्तारहेतुकं आत्मनो यौवना-रम्भमुपालभस्व; मां किमुपालभसे?) यह उसके अप्रतिम सौन्दर्य और यौवन की सभी आकांक्षाओं से संयुक्त होने का प्रमाण है। इस नाटक की वह

मुग्धा कन्यका नायिका है और विवाहोपरान्त स्वीया तथा मध्या नायिका का स्थान ग्रहण करती है।

तपोनवासिनी होने के कारण वहां की शाखाओं, लताओं, वृक्षों और वहाँ के पशु-पक्षियों के लिये उसमें प्रकृत ममता है। उसमें संयम और मर्यादा है। वह राजा से भी इसी भाव की आकांक्षा रखती है (पौरव, रक्ष-रक्ष विनयम्)। भारतीय रमणियों की भाँति वह भी पतिपरायणा है। गांधर्व-विवाह करके वह दुष्यन्त के प्रति मन-वचन-कर्म से आकृष्टहो जाती है। उसके चले जाने पर और बाद में उसकी खबर न लेने के कारण वह इतनी आत्मविस्मृत है कि ऋषि दुर्वासा कब आये और उसे भयङ्कर शाप देकर चले गये, इसका उसे कुछ ज्ञान ही नहीं है।

इसके अतिरिक्त उसमें नारी के आत्माभिमान और सच्चरित्रता की अहम्मन्यता भी है। राजा के सर्वथा मुकर जाने पर उसका नारी हृदय जब उत्तेजित हो जाता है तो वह राजा को खरी-खोटी सुनाने से भी नहीं चूकती।

महर्षि कण्व शान्ति, सन्तोष, धैर्य और सरलता के साकार रूप हैं। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी से कुलपति बने हैं। कर्म और अनुष्ठान उनके जीवन का सर्वस्व है। वे यद्यपि सांसारिक मोह-माया से अलग होकर तपस्वी का जीवन बिता रहे हैं; फिर भी शकुन्तला को वे अपनी पुत्री से किसी प्रकार कम नहीं समझते हैं। वस्तुतः शकुन्तला ने उनके जीवन में आकर उनको अनेक उत्तरदायित्वों को वहन करनेवाला गृहस्थ बना दिया है। उनके चरित्र की यही सबसे बड़ी विशेषता है। इस सम्पूर्ण नाटक में कण्व का चरित्र ही एकमात्र ऐसा चरित्र है, जिसकी तुलना नहीं की जा सकती है। बाण ने अपने 'हर्षचरित' में एक स्थान पर 'गृहमुनि' का प्रयोग किया है। अर्थात् मुनि होते हुए भी गृहस्थ जैसे। कण्व भी गृहमुनि हैं। शकुन्तला की विदाई पर उन्होंने जो उद्‌गार प्रकट किये हैं, वे समग्र संस्कृत कविता के प्राण हैं; और उन्हीं के इन उद्‌गारों से 'अभिज्ञानशाकुन्तल' को संसार की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में स्थान मिला है।

उनको अकस्मात् ही, अपनी अनुपस्थिति में, शकुन्तला-दुष्यन्त के प्रणय-संबंध का पता लगता है। किन्तु इस बात को सुनकर वे उग्र होने की

जगह शान्तिपूर्वक उसको स्वीकार करते हैं। यह उनकी अत्यन्त व्यवहार-कुशलता है।

शकुन्तला की विदाई पर उसे वे पतिगृह के लोगों से यथोचित व्यवहार करने और गार्हस्थ्य जीवन के सारे संबंधों के बारे में उपदेश देते हैं। उनकी दूरदर्शी बुद्धि का यह कितना बड़ा प्रमाण है कि वे शकुन्तला के साथ प्रियंवदा तथा अनसूया को न भेज कर गौतमी, शार्ङ्गरव आदि को भेजते हैं, क्योंकि वे अविवाहिता हैं। शकुन्तला के यह कहने पर कि अब वह पिता को कब देखेगी, कण्व उसको पुत्रवती होकर अपने पति के साथ पुनः आश्रम में आने का आशीर्वाद देकर लौट आते हैं; और पराई रेहन की भाँति कन्या धन को उसके वास्तविक स्वामी को सौंप कर अपनी कुटिया में बैठकर परम शान्ति का अनुभव करते हैं।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के अन्य चरित्रों में शकुन्तला और दुष्यन्त का पुत्र भरत है, जिसकी हस्तरेखायें बताती हैं कि वह चक्रवर्ती सम्राट् होगा। उसमें जो शौर्य और उसकी जो प्रवृत्तियाँ दिखाई गई हैं वे उसके भावी जीवन की शुभ सूचनायें हैं।

विदूषक माधव्य जाति का ब्राह्मण है। उसमें कालिदास ने हास्य के सभी साधन भरे हैं। उसका टेढ़ा डण्डा लेकर चलना, उसका पेटूपन, उसकी कायरता, राक्षसों के भय से शकुन्तला को देखने न जाना और राजा के रथ की संरक्षकता स्वीकार करने पर भी जिम्मेदारी से मुकर जाना आदि बातें उसके विनोदी चरित्र की विशेषतायें हैं। राजा का वह लंगोटिया मित्र है। वह समय आने पर बड़ा चतुर भी है।

अनसूया और प्रियंवदा, शकुन्तला की सखियाँ हैं। वे तीनों यद्यपि समानवय तथा समानरूपरमणीय हैं; फिर भी शकुन्तला उनमें कुछ बड़ी है। ये तीनों यद्यपि सहचरी हैं; किन्तु उनका परस्पर सहोदरी जैसा संबंध है और वे सदा ही एक-दूसरी की कल्याण-कामना करती हैं। प्रियंवदा की अपेक्षा अनसूया कुछ गम्भीर है और हँसी-मजाक को पसन्द नहीं करती है। प्रियंवदा बड़ी शोख, चञ्चल, हँसोड़ और मजाकिया है। इस प्रकृति के कारण वह शकुन्तला को और कभी-कभी राजा को भी चकित कर देती है।

शार्ङ्गरव और शारद्वत, दोनों ऋषि कण्व के विनम्र शिष्य हैं। वे प्रौढ युवक लगते हैं। उनके विवेक की परीक्षा तब होती है जब वे शकुन्तला को लेकर राजा दुष्यन्त के यहाँ पहुँचते हैं। वे राज-व्यवहार से अपरिचित होते हुए भी वहाँ के आचारों को बड़ी कुशलता से निबाहते हैं। वे एकान्तवासी हैं। शहर के कोलाहलमय जीवन से वे अशान्त हो जाते हैं। उन्हें सांसारिक सुख में डूबे हुए लोगों को देखकर उन पर दया आती है। शारद्वत की अपेक्षा शार्ङ्गरव का चरित्र अधिक निखरा है।

भास और कालिदास

कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना से यह स्पष्ट है कि कालिदास के समय तक भास के नाटकों का अच्छा प्रचार हो चुका था; और भास के नाटकों के प्रसंग में कहा जा चुका है कि दक्षिण में चाक्यारों द्वारा अभिनीत होकर वे सामान्य जनता तक पहुँच चुके थे। इस दृष्टि से भास के नाटकों का बड़ा महत्त्व है।

भास के अधिकांश नाटक रंग-मंच के उपयुक्त हैं; किन्तु उनमें रचना-कौशल का अभाव है। इसके विपरीत कालिदास के नाटकों में रचनाकौशल तो है; किन्तु 'शाकुन्तल' को छोड़कर वे रंगमंच के उपयुक्त नहीं हैं। भास ने अपने अधिकांश नाटकों के लिए 'रामायण', 'महाभारत' तथा 'बृहत्कथा' से कथावस्तु ली है। किन्तु उस मूल कथानक में जैसी विशिष्टता एवं जैसा वैचित्र्य होना चाहिये था, भास ने नहीं किया। इसके विपरीत कालिदास के काव्यों एवं नाटकों में कविबुद्धि का जो चमत्कार, शास्त्रीय विधियों का जो निर्वाह और कलात्मकता का जैसा समावेश पाया जाता है वह अपूर्व है। भास ने 'अभिषेक', 'बालचरित' और 'दूतवाक्य' आदि नाटकों में मूल कथा को व्यवस्थित ढंग से नहीं पिरोया है।

भाषा-प्रयोग की दृष्टि से भास के नाटकों में बड़ी त्रुटियाँ हैं। वस्तुतः उन्होंने मूल कथा की त्रुटियों को सुधारने में विशेष यत्न किया ही नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से भास के नाटकों में इस प्रकार की त्रुटियाँ हैं; जैसे 'स्वप्नवासवदत्त' में 'स्मराम्यवन्त्याधिपतेः सुतायाः' तथा 'बालचरित' में 'ज्ञायतां कस्य पुत्रेति'—यह संधिदोष; 'पंचरात्र' में 'स्त्रीगतां पृच्छसे कथाम्'

तथा 'प्रतिमा' में 'आपृच्छ पुत्रकृतकान्'—इस प्रकार के क्रियापदों का व्यवहार; और 'दूतवाक्य' में 'रुदन्तीम्', 'दूतघटोत्कच' में 'गृह्य' तथा 'अभिषेक' में 'समाश्वासितुम्' जैसे कृदन्त रूप की अशुद्धियाँ भरी हैं। इस दृष्टि से कालिदास की कृतियाँ निर्दोष हैं।

भास में कवित्व और शास्त्रीय दृष्टि तो है; किन्तु विवेचनशक्ति का अभाव है। भाषा की दृष्टि से कालिदास की अपेक्षा, भास के नाटक सरल हैं। कहीं-कहीं उनमें अर्थ की गंभीरता भी है। उन्होंने अपने नाटकों में स्थान-स्थान पर उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, यथासंख्य आदि अलंकारों का अच्छा प्रयोग किया है। ऐसे अलंकारयुक्त स्थल बड़े स्वाभाविक और प्रभावकारी हैं।

नाटक में अभिनेयता और गीति का समावेश होना आवश्यक है। तभी उसमें नाद-माधुर्य का समावेश हो सकता है। इस नाद-सौन्दर्य को कालिदास ने बड़ी सफलता से अपने नाटकों में उतारा है। शाब्दिक प्रयोग में पटु कवि ही नाद-सौन्दर्य की 'टेकनीक' को जानता है। कालिदास ने यद्यपि अनेक बातों को भास से लिया है; फिर भी अपने शब्द-सौन्दर्य के द्वारा उन्होंने उन बातों को ऐसा मंडित किया है कि वे उन्हीं की वस्तुएँ बन गईं। भास जिन गलतियों को कर चुके थे, कालिदास ने अपने को उनसे बचाया और अपनी प्रतिभा का जादू डालकर भास से उधार लिए हुए भावों एवं प्रसंगों को सुंदर शब्द-योजना में सँवार-सुधार कर अपने ग्रन्थों में रखा है।

इन दोनों कवियों में जहाँ-जहाँ शब्दसाम्य पाया जाता है; वहाँ-वहाँ तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि भास की अपेक्षा कालिदास ने वाक्यों तथा शब्दों की योजना पर विशेष ध्यान दिया। उदाहरण के लिए:

भास—(प्रतिमा)

'अथवा सर्वमलंकारो भवति सुरूपाणाम्'

(सुन्दर रूप वालों को सब कुछ शोभा देता है)

कालिदास—(शाकुन्तल)

'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'

(सुंदर आकृति वालों को कौन-सी वस्तु मंडन करने वाली नहीं होती है ?)

भास—(प्रतिमा)

'वाचानुवृत्तिः खलु अतिथिसत्कारः'

(अच्छे वचन बोलने से ही अतिथि-सत्कार हो गया)

कालिदास—शाकुन्तल

'भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्'

(आप लोगों के मधुर भाषण से ही हम लोगों का आतिथ्य हो गया)

भास—(प्रतिमा)

'अल्पं तुल्यशीलानि द्वन्द्वानि सृज्यन्ते,

(बहुत कम ऐसा देखा जाता है कि समान शील वाले जोड़ों की सृष्टि हो)

कालिदास—(शाकुन्तल)

'समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ।'

(यह वधू-वर का जोड़ा समान गुणयुक्त बनाने से प्रजापति को अब कोई दोष न देगा ।)

इन उद्धरणों को पढ़ कर यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि भास की अपेक्षा कालिदास की शब्द-योजना सुगठित, सुमधुर और नादमय है ।

भास की अपेक्षा कालिदास की कृतियों में एक विशिष्टता यह देखने को मिलती है कि उन्होंने दैवत्वगुणविशिष्ट चरितों को मानवीय धरातल पर लाकर पाठक, श्रोता या दर्शक के मन से उस भावना को दूर कर दिया, जिससे देवत्व और मानवत्व का भेद होता है । अपने ढंग से चरित्रनिर्माण का उनका यह कौशल वाल्मीकि तथा व्यास से भी बढ़कर है । कालिदास की विशेषता इसी में है ; और इसलिए उनको सबसे बड़ा लोककवि कहा जाना चाहिए । भास के नाटकों में चरित्रों की स्पष्टता की ओर कम ध्यान दिया गया है ; किन्तु कालिदास ने इस बात को पूरी तरह निभाया है । उनकी कृतियों में जिन प्रमुख पात्रों का समावेश है उनके अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व हैं

और ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं वे व्यक्तित्व अधिक निखरते हुए हम को प्रभावित हैं।

भास और कालिदास के कवित्व में यही अन्तर है।

(३) अश्वघोष

कालिदास के बाद अश्वघोष का नाम उल्लेखनीय है। डॉ० लूडर्स (Luders) ने मध्य एशिया के तूरफान नामक स्थान से अश्वघोष के नाटक 'शारिपुत्रप्रकरण' की जिस हस्तलिखित प्रति को १९१० ई० में खोज निकाला था, उससे जुड़े 'प्रबोधचन्द्रोदय' के समान और 'मृच्छकटिक' की शैली पर लिखा गया दूसरा मगधवती नामक वेश्या के जीवन से संबन्धित दो नाटक और उपलब्ध हुये थे, जिनमें न तो नाटक का नाम निर्दिष्ट था और न ही ग्रंथकार का। 'शारिपुत्रप्रकरण' या 'शरद्वतीपुत्रप्रकरण' में नाटकीय नियमों का पूर्णतया पालन किया गया है। अश्वघोष का विवेचन महाकाव्य के प्रसंग में किया गया है।

(४) शूद्रक

जीवनी

'मृच्छकटिक' प्रकरण संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में अपने ढंग की अनुपम कृति है। उसकी इस अनुपमेयता का सबसे बड़ा कारण है उसकी यथार्थ-वादिता। उसमें अपने युग की सामाजिकता के विभिन्न पहलुओं का अविकल चित्रण हुआ है। उन विभिन्न पहलुओं में भी 'मृच्छकटिक' की कथावस्तु का प्रधान पहलू तत्कालीन जन-जीवन के एक ऐसे पक्ष को लेकर निर्मित किया गया है, जो कि बहुत ही साहसमय तथा प्रगतिशील है और उस युग के धर्म-अर्थ-समाज-तंत्र के लिए एक महान् चुनौती है।

किन्तु प्रकरण के इस गौरवशाली परिचय के साथ ही हमारा ध्यान जब उसके रचयिता पर केन्द्रित होता है तो हमें ज्ञात होता है कि उसका व्यक्तित्व आज भी बड़ी ही संदिग्धावस्था में है। इस सन्देह का बीजारोपण होता है 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में उल्लिखित कुछ स्थलों से।

नान्दी के बाद, संमाननीय सामाजिकों, दर्शकों को सम्बोधित करके सूत्रधार कहता है '......हम 'मृच्छकटिक' नामक प्रकरण का अभिनय करने के लिए उद्यत हैं। इसके रचयिता मतंग के समान गतिवाले, चकोर के समान नेत्रधारी, पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर, स्वस्थ शरीर वाले और अतुलित बलशाली क्षत्रियश्रेष्ठ सुप्रसिद्ध कवि शूद्रक थे, 'तदिदं वयं मृच्छकटिकं नाम प्रकरणं प्रयोक्तुं व्यवस्थिताः। एतत्कवि किल :

'द्विरदेन्दुगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः ॥'

आगे उसने कहा है :

'ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां कौशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥'

'ऋग्वेद, सामवेद, गणित, कला-कौशल, वाणिज्य, और हस्तिशास्त्र का ज्ञाता, भगवान् शंकर के अनुग्रह से ज्ञान चक्षुओं को प्राप्त कर उस द्विजश्रेष्ठ शूद्रक ने अश्वमेध यज्ञ के बाद सारा राज्यभार अपने योग्य पुत्र को सौंप कर और १०० वर्ष तथा १० दिन की आयु बिता कर अग्नि में प्रवेश किया।' इसी प्रसंग को आगे तीसरे श्लोक में कहा गया है :

'वह शूद्रक राजा युद्धप्रिय, आलस्यरहित, वेदज्ञों में श्रेष्ठ, तपस्वी, शत्रुओं को परास्त करने वाला और बाहुयुद्ध का प्रेमी था :'

'समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥'

उस शूद्रक राजा द्वारा 'मृच्छकटिक' की रचना होने का उल्लेख इसी प्रसंग में आगे इस प्रकार किया गया है :

'अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः।
गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥
तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नयप्रचारं व्यवहारदुष्टताम्।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः ॥'

'उज्जयिनी नाम की नगरी में चारुदत्त नाम का एक द्विजश्रेष्ठ रहा करता था। वह बड़ा धनी था; किन्तु अब दरिद्र हो गया था। उसी नगरी में उस चारुदत्त के गुणों पर मुग्ध होने वाली, वसन्त की शोभा के समान, वसन्तसेना नाम की एक गणिका भी रहा करती थी। उन्हीं दोनों के पवित्र प्रणय-सम्बन्धों, उनके प्रति न्याय तथा न्यायाधिकारियों के दुर्व्यवहारों, कुछ दुष्ट लोगों की दुष्टप्रवृत्तियों और उनके कर्मों में विधि का जो विधान था—उस सबको अपने इस प्रकरण में राजा शूद्रक ने निबद्ध किया।'

'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना के इस अंश को देखकर स्वभावतः ही यह सन्देह होता है कि इसका रचयिता यदि शूद्रक था तो उसने अपनी मृत्यु के संबंध में इस प्रकार कैसे लिखा। 'शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः' के समाधान में कुछ लोगों ने लिखा है कि (१) गणितज्ञ होने के कारण शूद्रक ने अपने अग्निप्रवेश के संबंध में पहले ही से गणना करके रख ली थी। (२) शूद्रक ने सर्वस्वार यज्ञ किया था, जिसमें 'अग्निप्रवेश' शास्त्र-संमत है। उसकी समाप्ति का दिन शूद्रक ने पहले ही से जोड़ कर रख लिया था। (३) 'अग्नि' का अर्थ यहाँ ज्ञानाग्नि है। शूद्रक ने ज्ञानाग्नि में प्रवेश किया अर्थात् ब्रह्मानन्द की अनुभूति प्राप्त की। 'गीता' में भी इसी ज्ञानाग्नि का उल्लेख किया गया है:

'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।'

किन्तु ये समाधान इतने प्रबल नहीं हैं, जिन पर पूरा विश्वास किया जा सके। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि प्रस्तावना का उक्त अंश ही प्रक्षिप्त है। यदि इस अंश को हम प्रक्षिप्त मानते हैं तो हमारे सामने यह समस्या आती है कि इस प्रकरण का रचयिता कौन था।

शूद्रक की ऐतिहासिकता का जहाँ तक सवाल है, 'स्कन्दपुराण', 'वेताल-पंचविंशति', 'राजतरंगिणी', 'कथासरित्सागर', 'हर्षचरित', 'कादम्बरी' और 'दशकुमारचरित' आदि अनेक ग्रन्थों में शूद्रक की चर्चायें देखने को मिलती हैं। इन उल्लेखों से भी हमें शूद्रक के संबंध में एक निश्चित बात जानने को नहीं मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उदयन की ही भाँति शूद्रक को भी बाद में अनेक लोककथाओं का नायक बना दिया गया था और उसके साथ कई अवान्तर कथायें जोड़ कर उसके वास्तविक व्यक्तित्व को

घुला-मिला दिया था। फिर भी यहाँ कुछ विद्वानों के मतों का हवाला देना आवश्यक है।

(१) डॉ० वेंसेंट स्मिथ के कथनानुसार शूद्रक, आंध्रवंश के राजा सिमुक सातवाहन से अभिन्न व्यक्ति था, जिसका समय २४० ई० पूर्व था।

(२) प्रो० स्टेन कोनो का कथन है कि आभीरवंश के राजा शिवदत्त (२४८ ई०) का ही अपर नाम शूद्रक था।

(३) डॉ० पिशेल, दण्डी को 'मृच्छकटिक' का रचयिता मानते हैं। उनका कथन है कि दण्डी के संबंध में जो कहा गया है कि 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च' (दण्डी ने तीन प्रबन्धों की रचना की थी) उसमें 'दशकुमारचरित' और 'काव्यादर्श' के अतिरिक्त इनकी तीसरी कृति 'मृच्छकटिक' है।

(४) डॉ० सिलविन लेवी का कथन है कि 'मृच्छकटिक' को इसलिए शूद्रक के नाम से जोड़ा गया कि प्राचीन समझ कर उसका लोक में अधिक संमान हो। वस्तुतः वह किसी अज्ञातनामा लेखक की कृति है।

(५) डॉ० कीथ का मत है कि कोई भी व्यक्ति अपनी मृत्यु की सूचना अपनी जीवितावस्था में ही इस प्रकार नहीं दे सकता है। इसलिए यह ग्रन्थ किसी दूसरे ही कवि का बनाया हुआ है। शूद्रक एक काल्पनिक व्यक्ति है। उसका कुछ भी ऐतिहासिक अस्तित्व नहीं है।

(६) एक जनश्रुति के अनुसार रामिल्ल और सौमिल्ल ने संयुक्त रूप में 'शूद्रक-कथा' नाम का एक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें कि शिव की वन्दना की गई थी। इसलिए बहुत संभव है कि 'मृच्छकटिक' की रचना उन अज्ञात-कर्तृत्व कवियों कविपुत्र तथा सौमिल्ल ने की हो, जिनका उल्लेख कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में किया गया है।

(७) इस संबंध में अन्तिम मत आचार्य चन्द्रबली पांडे का है। उन्होंने शूद्रक पर एक पुस्तक लिखी है। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने विभिन्न शिलालेखों, दानपत्रों, प्रशस्तियों आदि पुरातात्त्विक सामग्री के अतिरिक्त दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरीकथा', बाण का 'हर्षचरित', क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा-मंजरी', सोमदेव का 'कथासारित्सागर', कल्हण की 'राजतरंगिणी' और 'मृच्छ-कटिक' आदि ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि वासिष्ठीपुत्र

सातवाहन राजा पुलमावि का ही अपर नाम राजा शूद्रक था और उसी के शासन में 'कामसूत्र' का भी प्रणयन हुआ। उसी ने 'मृच्छकटिक' की रचना की और वही 'पद्मप्राभृतक' भाण का भी रचयिता था।

'मृच्छकटिक' के संबंध में उन्होंने एक बड़े महत्त्व की यह बात कही है कि "उसमें तीन संस्करण हुए और तीसरा संस्करण ही आज हमारे संमुख है। पहला रूप तो कहा जा सकता है कि 'चारुदत्त' (भासकृत) के रूप में प्रकट हो गया है और तीसरा रूप वर्तमान 'मृच्छकटिक' ही है। इसका दूसरा रूप क्या रहा ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता पर परिस्थिति के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वह आर्यक को लेकर बना होगा और इस प्रकार के अति विस्तार से अलग रहा होगा।"

आचार्य चन्द्रबली पांडे की यह संस्करणों वाली धारणा डॉ० कीथ के अभिमत से मिलती-जुलती है; किन्तु कीथ, शूद्रक का कोई अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते हैं। आचार्य पांडे ने 'मृच्छकटिक' के जिन तीन संस्करणों का उल्लेख ऊपर किया है, वह सही जान पड़ता है। किन्तु राजा शूद्रक के संबंध में उनकी स्थापनायें भी संदेहास्पद हैं।

शूद्रक के इतिवृत्त और उसके अस्तित्व के संबंध में जैसी संदेहास्पद बातें हम पढ़ चुके हैं, आधुनिक खोजों ने उनको निरर्थक कर दिया है। आधुनिक विद्वान् शूद्रक को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। आचार्य वामन (८०० ई०) ने तो अपनी 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में 'मृच्छकटिक' के दो पद्यों (१।९ ; २।६) को उद्धृत कर शूद्रक को ही उसका रयिचता स्वीकार किया है। किन्तु आधुनिक मान्यतायें 'मृच्छकटिक' को शूद्रक की कृति नहीं स्वीकार करती हैं।

जैसा कि कीथ ने कहा है कि 'मृच्छकटिक' का रचयिता कोई दूसरा ही कवि था और भास के 'चारुदत्त' को आधार बना कर उसमें अपनी प्रतिभा का समावेश कर उस अज्ञातनामा कवि ने आर्यक के विद्रोह को 'मृच्छकटिक' में विस्तार से दर्शाया है—यह बात असंभव नहीं जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन प्रचलित लोककथाओं और गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के कुछ अंशों को भी इस प्रकरण में जोड़ा गया, जिससे कि वह अधिक सुरुचिपूर्ण और लोकप्रिय सिद्ध हो सके।

हमारे समक्ष अब प्रश्न यह उठता है कि उस कवि ने अपना नाम क्यों नहीं दिया और जिन पद्यों में शूद्रक का नाम जुड़ा हुआ है उनका सम्बन्ध नाटक से क्या था। क्यों उसने शूद्रक के नाम से अपनी इस कृति को प्रसिद्ध करना चाहा। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि 'मृच्छकटिक' के वास्तविक निर्माता ने अपनी इस कृति के साथ अपना नाम इसलिए नहीं जोड़ा कि उसका आधार भास का 'चारुदत्त' था। वस्तुतः उसका सारा कलेवर 'चारुदत्त' के ही आधार पर निर्मित हुआ था। अतः कवि को इसे अपनी रचना मानने में कुछ तो सन्देह था और कुछ लोकभय। इस नाटक के साथ कवि के अपना नाम न देने का दूसरा कारण यह था कि उसमें तत्कालीन पौराणिक धर्म के विरुद्ध जिस सामाजिक साहस, प्रगतिशीलता और क्रान्ति की आवाज लगाई गई थी वह उस युग के लिए भारी आश्चर्यकारी बात थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों में जो कलुष प्रवेश कर गया था और समाज में चोरीपन, जुआरी, धूर्तता, पाखण्ड, अत्याचार और अन्याय की जो भयङ्करता व्याप्त थी उस पर इस नाटक में सीधे चोट की गई है। राजा के चरित्र को भी बहुत गिरा हुआ दिखाया गया है। राजा की स्वेच्छाचारिता का प्रदर्शन किया गया है। ये सभी बातें ऐसी थीं जो समाज की उन्नति के लिए बाधक और उस समाज में रहने वाले स्वतंत्र विचारकों के लिए असह्य थीं। वेश्या-गमन और व्यभिचार तो वहाँ मान्य था; किन्तु ऊँच-नीच का ऊपरी भेदभाव वैसा ही बना था। 'मृच्छकटिक' के लेखक ने इस कृत्रिमता और ऐसे कदाचारों का बहिष्कार किया—एक विशुद्ध ब्राह्मण का एक निकृष्ट वारवनिता के साथ विवाह संबंध स्थापित करके।

ऐसी स्थिति में कुछ असंभव नहीं कि इस प्रकार के सुधारवादी एवं निस्वार्थी लेखक ने अपनी कृति के साथ अपना नाम न जोड़ कर तटस्थ रूप में उस पर समाज की प्रतिक्रिया तथा परिवर्तनों का अध्ययन करना अधिक उपयुक्त समझा हो। ऐसी स्थिति में यह भी संभव हो सकता है इस प्रकार की क्रांतिकारी कृति के साथ उसके वास्तविक लेखक ने अपना नाम राजदण्ड के कारण न जोड़ा हो।

उसके कुछ पद्यों में जो शूद्रक नाम जुड़ा हुआ है वे पद्य निश्चित ही

प्रक्षिप्त हैं। शूद्रक यद्यपि ऐतिहासिक नाम है; किन्तु नाटक का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए 'मृच्छकटिक' किसी अज्ञातनामा नाटककार की कृति है।

'मृच्छकटिक' में जो शैवों और शाक्तों का उत्थान दिखाया गया है उससे यह ज्ञात होता है कि उसका रचयिता स्वयं शैव था। 'मृच्छकटिक' में प्रयुक्त भाषाओं, रीतियों और कुछ विशिष्ट नामों का अध्ययन करने पर स्पष्ट है कि उसका रचयिता दाक्षिणात्य था। वसन्तसेना के हाथी का 'खुण्डमोदक' नाम दाक्षिणात्य है। इसी प्रकार पैसे के लिए प्रयुक्त 'नाणक' नाम भी दक्षिण का है।

'मृच्छकटिक' का वह अज्ञातनामा कवि संस्कृत और प्राकृत का प्रकाण्ड पण्डित था। उसमें संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी तथा मागधी प्राकृतों के साथ-साथ चाण्डाली, ढक्की, शकारी और प्राच्या आदि प्राकृत की विभाषाओं का प्रयोग हुआ है।

मृच्छकटिक का रचनाकाल

'मृच्छकटिक' और उसके लेखक के सम्बन्ध में जो विवाद है उसका उल्लेख किया जा चुका है। ऐसा ही विवाद उसके रचनाकाल के संबंध में भी है। कुछ विद्वानों की राय है कि 'मृच्छकटिक' की रचना कालिदास से पहले और भास के बाद में हुई। इस सिद्धान्त के मानने वाले विद्वानों के तर्क हैं कि (१) कालिदास के नाटकों पर 'मृच्छकटिक' का प्रभाव है। (२) 'मृच्छकटिक' में 'राष्ट्रीय' शब्द 'पुलिस अधिकारी' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, जब कि परवर्ती साहित्य में और यहाँ तक कि कालिदास के ग्रंथों तक में उसको 'राजा का साला' के अर्थ में ग्रहण किया गया है। (३) 'मृच्छकटिक' में प्रयुक्त सात प्रकार की प्राकृतें व्याकरण-नियमों के प्रतिकूल अपने विकास की पूर्वावस्था को सूचित करती है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'मृच्छकटिक' की रचना कालिदास के पहले हो चुकी थी।

वह भास के बाद रचा गया; क्योंकि 'मृच्छकटिक' भास के 'चारुदत्त' का परिवर्द्धित रूप दिखाई देता है।

इन स्थापनाओं के आधार पर उक्त विद्वानों का कथन है कि 'मृच्छकटिक'

की रचना कालिदास (१०० ई० पूर्व) से पूर्व और भास (४०० ई० पूर्व) के बाद ३००–२०० ई० पूर्व में हुई।

किन्तु आज 'मृच्छकटिक' जिस रूप में हमारे सामने है उसको देखते हुए यह संभव प्रतीत नहीं होता कि उसकी रचना कालिदास से पूर्व हो चुकी थी। उसके अन्त और बाह्य साक्ष्यों का विश्लेषण करने पर और विशेष रूप से उसमें जिन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण किया गया है उनका विवेचन करने पर स्पष्ट होता है कि उसकी रचना बहुत बाद में हुई। उसकी वस्तु-सामग्री में जिन परिस्थितियों का उल्लेख मिलता उनके आधार पर यदि उसके निर्माणकाल पर विचार किया जाय तो नीचे लिखे निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) 'मृच्छकटिक' की रचना कालिदास के बाद में हुई, क्योंकि उसमें कालिदास के ग्रंथों में प्रयुक्त प्राकृत रूपों की अपेक्षा, अनेक प्रकार की प्राकृतों का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त जहाँ कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि नाटककारों का उल्लेख किया है, वहाँ 'मृच्छकटिक' के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं किया है। 'मृच्छकटिक' में प्रयुक्त उसकी सरल शैली भी उसको कालिदास के बाद का ही सिद्ध करती है।

(२) जिस युग में 'मृच्छकटिक' रचा गया था उस युग का राजनीतिक उत्कर्ष क्षीण पड़ चुका था। देश में सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। राजाओं का चारित्रिक अधःपतन हो चुका था। राजा इतने विलासरत थे कि राज-महिषियों के अतिरिक्त रखलें रखकर वे अपनी कामतृप्ति कर रहे थे। 'मृच्छकटिक' का पालक राजा ऐसा ही था, जो शकार की बहिन को सुन्दरी जान कर अपनी रखैल के रूप में रखे हुए था।

(३) उस युग में निरंकुश राज्य व्यवस्था थी। राजा के अनेक गुप्तचर विभाग होते थे और वहाँ का संचालन विभागीय अध्यक्षों के द्वारा होता था। इन विभागीय अध्यक्षों की देख-रेख मंत्रियों द्वारा होती थी। मंत्रियों के भी अनेक गुप्तचर एवं सेवक होते थे, जिनकी सहायता से वे प्रत्येक विभाग के छिद्रों का पता लगाते थे। तत्कालीन राज्य-व्यवस्था का परिचय हमें, न्यायालय में कहे गये, चारुदत्त के इस कथन से प्राप्त होता है :

'चिन्तासक्तनिमग्नमंत्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम् ।
नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥'

'यह राजमण्डल हिंसक जन्तुओं से घिरे हुए समुद्र के समान है। इसके चिन्तित मंत्री लोग जल की भाँति हैं; इधर-उधर जाने वाले दूतों की अवस्था लहरों से लाये गये शंखों जैसी है। राज्य के चारों ओर अवस्थित गुप्तचर विभागों के अधिकारी मगरों के समान हैं। इसी प्रकार समुद्र और राजमण्डल दोनों में नागों तथा अश्वहिंसक जानवरों का आश्रय होता है। राज्य के ये सभी अधिकारी उन्हीं हिंसक जन्तुओं के समान हैं। कायस्थ लोग ही नाग हैं। यह राजमण्डल, समुद्र के हिंसक जन्तुओं के समान भयावह शक्तियों से घिरा हुआ है।'

इस श्लोक में अन्य बातों के अतिरिक्त कायस्थ को साँप बताना, तत्कालीन सामाजिक जीवन में उनकी स्थिति को स्पष्ट करना ही हो सकता है।

उस समय शासन-व्यवस्था का यह हाल था कि राजा ही न्याय का एकमात्र अधिष्ठाता था। न्याय की दशा इतनी गिर चुकी थी कि राजा के संबंधी, न्यायाधीशों को अपदस्थ कर सकते थे या उनसे स्वेच्छया न्याय करा सकते थे। राजा और प्रजा के बीच बड़ी खाई हो गई थी। राज्य में किसी भी समय आक्रमण हो सकता था; या जनता द्वारा विद्रोह किया जा सकता था।

(४) राज्य की इस भयप्रद स्थिति का परिचय उस समय की दण्ड-व्यवस्था को देखकर मिलता है। उस समय प्राणदण्ड की प्रथा प्रचलित थी, जिससे कि प्रजा भयभीत रहती थी। किन्तु इतना अवश्य दिखाई देता है कि न्याय पर राजा का अंकुश होते हुए भी, वह बड़ा निष्पक्ष था। अभियोक्ता (वादी) की इच्छा पर अभियुक्त (प्रतिवादी) को रिहा भी किया जा सकता था, जैसा कि मृत्युदण्ड पाये हुए शकार को चारुदत्त ने क्षमा कर दिया।

यह भी विदित होता है कि उस समय ब्राह्मणों का बड़ा संमान था, जैसे कि चारुदत्त के न्यायालय में उपस्थित होने पर न्यायाधीश ने उसके

प्रति संमान प्रकट किया था। किन्तु न्याय की दृष्टि से सभी को एक जैसी सजा देने का विधान था। उस समय अग्नि, जल और तुला आदि को साक्षी बनाकर न्याय-व्यवस्था देने का प्रचलन था, क्योंकि जब चारुदत्त पर अभियोग लगाया गया था तो उसने न्यायाधीश से कहा था: 'हे न्यायाधीश, यदि आपने विष, जल, तुला और अग्नि की साक्षी से मेरा न्याय किया है तो निश्चित ही मेरे शरीर पर आज ही आरा चलाया जाना चाहिए; और यदि शत्रु-वचनों से प्रभावित होकर आपने मुझ जैसे ब्राह्मण को दण्ड दिया है तो आप अपने सम्पूर्ण पुत्र-पौत्रादि सहित नरक में जायेंगे।'

'विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे
क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य।
अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मणं मा निहंसि
पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः॥'

उस समय अपराधियों के लिए अनेक प्रकार के दण्ड निर्धारित थे। उनमें शरीर पर आरा चलाना सबसे कठिन दण्ड था। शकार के सम्बन्ध में शर्विलक, चारुदत्त से कहता है 'हे चारुदत्त, इस दुष्ट शकार का क्या करना चाहिए? इसे बाँध कर घसीटा जाय, या कुत्तों से नुचवाया जाय या शूली पर चढ़ाया जाय अथवा इसके शरीर को आरे से चिराया जाय?'

'आकर्षन्तु सुबद्ध्वैनं श्वभिः संखाद्यतामथ।
शूले वा तिष्ठतामेष पाट्यतां क्रकचेन वा॥'

(५) वह ऐसा युग था, जब समाज में चोरों, लफंगों, जुआरियों, धूर्तों, लम्पटों आदि का प्रभुत्व था। भले घर की बहू-बेटियों को शाम के बाद घर से बाहर निकलने का साहस ही नहीं होता था। रात होते ही मुख्य मार्गों पर वेश्याओं, लफङ्गों और जुआरियों का गमनागमन होने लगता था।

(६) उस युग का समाज बड़ा ही प्रगतिशील था। विवाह-संबंधों की स्थिति इस कदर ऊँची उठ गई थी कि ब्राह्मण और गणिका में विवाह होने लग गया था। 'मृच्छकटिक' में इस प्रकार के ब्राह्मण-गणिका-विवाह, चारुदत्त-वसन्तसेना और शर्विलक-मदनिका का दिखाया गया है। चौथे अंक में यद्यपि आवेशवश शर्विलक ने मदनिका तथा वसन्तसेना को डाँटते हुए

'वेश्या को श्मशान-पुष्प की भाँति परित्याज्य बताया है'; फिर भी ऐसा ज्ञात होता है कि वेश्या और गणिका में अन्तर था। वसन्तसेना गणिका थी, वेश्या नहीं। गणिकाएँ, वेश्या से ऊँची होती थीं। गणिकाओं के कार्य नृत्य, गीत तथा संगीत आदि ललित कलाओं का ज्ञान प्राप्त करना था और वेश्याओं का सौन्दर्य, रूप, एवं यौवन का व्यापार करना था। गणिकायें अपना पेशा छोड़ कर कुलवधुएँ बन सकती थीं; किन्तु वेश्याओं के लिए यह विधान नहीं था।

(७) उस समय दासप्रथा का भी प्रचलन था। रुपया चुकाने पर, निश्चित अवधि के पूरा हो जाने पर दासत्व से छुटकारा पाया जा सकता था; अथवा स्वामी अपनी इच्छा से भी दास को मुक्त कर सकता था। मदनिका और स्थावरक चेट इसके उदाहरण हैं।

(८) उस समय राज्य की ओर से जुआ खेलने की पूरी छूट थी; किन्तु इसके लिए कुछ विधान भी थे। बेईमानी या कपट साबित होने पर न्यायालय में जाया जा सकता था। द्यूतालयों में राज्य की ओर से मुखिया नियुक्त होता था, जिसे 'सभिक' कहा जाता था।

(९) उस युग में ब्राह्मणधर्म ही देश का मुख्य धर्म था। वही राजधर्म भी था। उस समय शैवों और शाक्तों की भी अच्छी स्थिति थी; किन्तु बौद्धों को हीन दृष्टि से देखा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धधर्म पतनावस्था में था। यहाँ तक कि रास्ते में बौद्धभिक्षु का मिल जाना अपशकुन समझा जाता था और यात्राकाल में उस मार्ग का परित्याग कर दिया जाता था। सातवें अंक में आर्यक और चारुदत्त ने ऐसा ही किया है।

(१०) 'मृच्छकटिक' में जिन शौरसेनी तथा मागधी प्राकृतों और चाण्डाली, शकारी, ढक्की, आवन्तिका एवं प्राच्या आदि उनकी विभाषाओं के प्रयोग मिलते हैं उनसे भी यही ज्ञात होता है कि वह स्थिति पाँचवीं-छठी शताब्दी की थी।

(११) उस युग में उधार देना तथा गिरोह रखना भी होता था। दूसरे अंक में संवाहक और माथुर इसके उदाहरण हैं।

(१२) उस समय व्यापार की दशा में पर्याप्त विकास हो चुका था। चौथे अङ्क में मैत्रेय और चेटी के कथोपकथन से यह विदित होता है कि जहाजों के द्वारा समुद्री मार्ग से विदेशों को सामान भेजा जाता था।

'मृच्छकटिक' की इन सभी स्थितियों का विश्लेषण करके यह सिद्ध होता है कि उसकी रचना पाँचवीं-छठी शताब्दी के लगभग हुई थी। दण्डी के 'दशकुमारचरित' में जो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दशायें दिखाई गई हैं। 'मृच्छकटिक' की उक्त स्थितियाँ उनसे अविकल रूप से मेल खाती हैं। इसलिए यह निश्चित है कि 'मृच्छकटिक' की रचना दण्डी (लगभग ६०० ई०) के स्थितिकाल के आस-पास हुई। 'मृच्छकटिक' की जिन स्थितियों को ऊपर दिखाया गया है। भारत में वे तब उत्पन्न हुईं जब उज्जयिनी में गुप्तों का अस्तित्व अस्तोन्मुख था और हूणों के आक्रमणों से तथा छोटे-बड़े देशी राज्यों में परस्पर द्वेष की भावना बढ़ जाने से सारे राष्ट्र में आतंक, अव्यवस्था, तथा निर्भीकता आदि अनेक परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का तीव्रता से विकास हो रहा था।

मृच्छकटिक का कथानक

'मृच्छकटिक' १० अङ्कों की 'प्रकरण' रचना है। यह भास के नाटक 'चारुदत्त' पर आधारित है, यद्यपि इसमें उन अनेक रोचक प्रसंगों का भी वर्णन है, जो 'चारुदत्त' में नहीं मिलते हैं।

नाटक के प्रथम अङ्क के आरंभ में हमारा परिचय विदूषक से होता है, जो अँधेरी रात में चारुदत्त के मित्र चूर्णवृद्ध द्वारा भेजा हुआ शाल लेकर उपस्थित हुआ है। चारुदत्त, विदूषक को रदनिका के साथ मातृबलि अर्पण करने के लिए चौराहे पर भेजता है। इतने ही में वसन्तसेना का पीछा करते हुए शकार, विट, तथा चेट दिखाई देते हैं। इनसे बचने के लिए वसन्तसेना चुपके से चारुदत्त के घर में घुस जाती है। वहीं वह अपने आभूषण रख लेती है। इसी बीच अँधेरे में शकार, वसन्तसेना के भ्रम में रदनिका को पकड़ लेता है, जिससे मैत्रेय उसको बुरी तरह से डाँटता है। बाद में चारुदत्त, वसन्तसेना को उसके घर सुरक्षित पहुँचा देता है। इसी अङ्क को हमें यह भी जानने को मिलता है कि चारुदत्त के प्रति वसन्तसेना का अनुराग तभी से हो गया था जब उसने चारुदत्त को कामदेवायतनोद्यान में देखा था।

दूसरे अङ्क में हमें एक बदकिस्मत व्यक्ति संवाहक के दर्शन होते हैं। एक दिन वह पाटलिपुत्र का सम्मानित नागरिक था; किन्तु उसके दुर्भाग्य ने उसे

उज्जयिनी में लाकर ब्राह्मण चारुदत्त के यहाँ सेवक के स्थान पर पटक दिया है। बाद में चारुदत्त के दरिद्र बन जाने पर वह भी जुआरी हो जाता है। जुआ में हार कर वह आत्मरक्षा के निमित्त अकस्मात् ही वसन्तसेना के घर में घुस जाता है। वसन्तसेना सोने का गहना देकर उसके पीछे लगे जुआरियों से उसका पीछा छुड़ा देती है। इससे संवाहक को बड़ी आत्मग्लानि होती है और वह बौद्धभिक्षु बन जाता है।

तीसरे अङ्क में, वसन्तसेना की दासी मदनिका को मुक्त कराने के लिए उसका प्रेमी शर्विलक, चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर वसन्तसेना के धरोहर आभूषणों को चुरा लेता है।

चौथे अङ्क में शर्विलक उन आभूषणों को लेकर वसन्तसेना के घर पहुँचता है; किन्तु मदनिका और शर्विलक के एकान्त वार्तालाप से उसे सारी स्थिति का ज्ञान हो जाता है। वह मदनिका को उसे दे देती है। उधर चारुदत्त, वसन्तसेना की धरोहर के चोरी हो जाने पर बड़े सङ्कट में पड़ा होता है। वह तत्काल ही, यह कह कर कि वसन्तसेना के आभूषणों को स्वयं ही जुए में हार गया है, इस संदेश के साथ अपनी पत्नी की बहुमूल्य रत्नावली को मैत्रेय के हाथ वसन्तसेना के यहाँ भेजता है। जब चारुदत्त का पुत्र रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी लेकर वसन्तसेना के घर जाता है तो वसन्तसेना अपने उन आभूषणों से उसकी मिट्टी की गाड़ी भर देती है और उससे दूसरी सोने की गाड़ी खरीदने के लिए कहती है 'मृच्छकटिक' (= मिट्टी की गाड़ी) नाम संभवतः इसी घटना के आधार पर हुआ।

पाँचवें अङ्क में वसन्तसेना, विट को साथ लेकर एक सुहावनी वर्षावेला में चारुदत्त के घर जाती है। वह पानी से भीगी हुई वहाँ पहुँचती है। चारुदत्त उसको अपनी प्रतीक्षा करते हुए मिलता है। उस रात वह वहीं रह जाती है।

छठे अङ्क में चारुदत्त पुष्पकरण्डक उद्यान में चला जाता है और वसन्तसेना को वहीं मिलने के लिए कहला जाता है। वसन्तसेना जब उद्यान की ओर जाती है तो अपने लिए भेजी गई गाड़ी में न चढ़कर भ्रमवश वह पास ही में खड़ी दूसरी शकार की गाड़ी में चढ़ जाती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की इस भविष्यवाणी पर विश्वास करके कि 'उसके बाद गोपाल का पुत्र आर्यक राजा बनेगा' आर्यक को कैद में डाल देता है। किसी प्रकार कैद से

भागकर आर्यक, चारुदत्त की भेजी हुई गाड़ी में बैठ जाता है। गाड़ीवान, लौहशृंखला की आवाज को आभूषणों की आवाज समझ कर, गाड़ी हाँक देता है। रास्ते में चंदन और वीरक नामक पुलिस के सिपाही मिलते हैं।

सातवें अङ्क में आर्यक, पुलिस के सिपाही वीरक से जान बचाकर उद्यान में प्रवेश करता है और वहाँ चारुदत्त से जा मिलता है। इस संपूर्ण अङ्क में आर्यक और चारुदत्त का वार्तालाप है।

अष्टम अङ्क में उधर वहाँ जब वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँचती है तो उसे वहाँ चारुदत्त की जगह शकार दिखाई पड़ता है। वह वसन्तसेना से प्रणय-याचना करता है; किन्तु वह उसकी इस कुत्सा को ठुकरा देती है। शकार क्रुद्ध होकर वसन्तसेना का गला घोंट देता है और उसे मृतप्राय अवस्था में छोड़ कर भाग जाता है। तदनन्तर संवाहक नामक बौद्धभिक्षु आकर वसन्त-सेना का उपचार करता है और उसे होश में लाकर बिहार में ले जाता है।

नवम अङ्क में शकार न्यायालय में जाकर चारुदत्त पर यह अभियोग लगाता है कि उसने वसन्तसेना को मार डाला है। चारुदत्त को फाँसी का हुक्म होता है।

दसवें अङ्क में चाण्डाल, चारुदत्त को जब फाँसी देने ले जा रहा है तो इसी बीच एक घटना तो यह होती है कि बौद्ध भिक्षु संवाहक, वसन्तसेना को लेकर आ पहुँचता है और उधर चारुदत्त का मित्र आर्यक, राजा पालक को मार कर स्वयं राजा बन जाता है। इस प्रकार सारा ही वातावरण उलट जाता है। राजा आर्यक चारुदत्त को मुक्त कर देता है और मिथ्याभियोग के कारण शकार को फाँसी की सजा सुनाता है; किन्तु चारुदत्त उसे क्षमा करवा देता है। अन्त में वसन्तसेना और चारुदत्त का विवाह हो जाता है।

नामकरण का आधार

'मृच्छकटिक' का जैसा कथानक और वस्तु-संविधान है, उस दृष्टि से उसका नाम 'चारुदत्त' या 'दरिद्र चारुदत्त' होना चाहिए था। फिर यह 'मृच्छकटिक' नामकरण उसके रचयिता को क्यों सूझा, इसका उत्तर हमें उसके छठे अङ्क की बालक्रीडा के प्रसंग को देखने से मिलता है, जब कि चारुदत्त की चेटी रदनिका उसके पुत्र रहोसेन को टहलाने के लिए निकलती है। वह

कहती है 'इधर आओ लल्ला, देखो, हम इस गाड़ी से खेलें (एहि वत्स ! शकटिकया क्रीडावः)। इस पर बालक रोते हुए उत्तर देता है 'रदनिके, इस मिट्टी की गाड़ी से क्या खेलें ! मुझे तो वही सोने की गाड़ी ला दो।' (किमेतया मृत्तिकाशकटया ? तामेव सौवर्णशकटिकां देहि)। इस पर रदनिका बड़े उदास भाव से बच्चे को समझाती हुई कहती है 'भैया, सुवर्ण से अब हमारा कहाँ सम्बन्ध रहा ? पिता जी के पुनः समृद्ध हो जाने पर तब सोने की गाड़ी से खेलोगे !' (जात, कुतोऽस्माकं सुवर्णव्यवहारः ? तातस्य पुनरपि ऋद्धया सुवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि)।

बालक का मन जब किसी तरह न लगा तो रदनिका उसे बहलाने के लिए वसन्तसेना के घर की ओर ले गई। बालक को देखते ही वसन्तसेना का मन एकाएक उछल पड़ा और उसने रदनिका से पूछा 'यह बालक किसका है, बिना आभूषणों के ही जिसका चाँद-सा मुखड़ा मेरे हृदय को आनन्दित कर रहा है ?' (कस्य पुनरयं दारकः ? अनलंकृतोऽपि चन्द्रमुख इव आनन्दयति मम हृदयम्)। इस पर रदनिका उत्तर देती है 'यह, आर्य चारुदत्त का पुत्र रोहसेन है' (एष खल्वार्यचारुदत्तस्य पुत्रो रोहसेन नाम)।

रदनिका का ऐसा कहना था कि वसन्तसेना को अपनी आशंका अन्वर्थ जान पड़ी। उसने दारक में पिता को देखा और उससेकहा 'मेरे पास आओ बेटा और मेरा आलिंगन करो !' (एहि मे पुत्रक, आलिंग !) रोहसेन के उसकी गोद में बैठ जाने के बाद फिर वसन्तसेना ने रदनिका से पूछा 'तो फिर क्यों यह रो रहा है ? (अथ किं निमित्तमेष रोदिति ?)। इसका कारण मालूम हो जाने पर गणिका ने बालक को प्यार करते हुए उससे कहा 'बेटा, रोओ नहीं; तुम सोने की गाड़ी से खेलोगे ? (जात, मा रुदिहि; सौवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि ?)

अपने प्रति उस ममतामयी की ऐसी स्नेहपूर्ण वाणी को सुनकर बालक का मन कुछ आशान्वित हुआ और रदनिका से वह पूछ बैठा 'रदनिके, बता यह कौन है ?' (रदनिके, कैषा ?)। इस पर रदनिका की जगह वसन्तसेना ने ही उसको समझाया 'यह मैं तुम्हारे पिता के गुणों से जीवित उन्हीं की दासी हूँ।' (पितुस्ते गुणनिर्जिता दासी)। वसन्तसेना की यह बात उसकी बालबुद्धि में न समा सकी। वह रदनिका की ओर उत्कंठाभरी आँखों से

ताकने लगा। तब रदनिका ने ही उसको समझाया 'चाँद, यह तो तुम्हारी माता जी होती हैं' (जात, आर्या ते जननी भवति)। किन्तु रदनिका की इस बात की संगति उसे वसन्तसेना में नहीं दिखाई दी। वह तो उस जननी को जानता था, जिसके तन पर गहने नहीं हैं। इसलिए उसने अपनी भोली वाणी में कहा 'अरी रदनिके, तुम झूठ बोल रही हो। यदि यह मेरी माता जी हैं तो फिर यह इतने गहनों से सुसज्जित कैसे है ?' (रदनिके, अलीकं त्वं भणसि। यद्यस्माकं आर्या जननी तत्किमर्थमलंकृता ?)।

बच्चे के भोले अन्तःकरण से निकली हुई यह बात, माता का दंभ भरने वाली वसन्तसेना को चुभ गई। उसका ममतामय हृदय पिघल गया। उसने बच्चे को बड़े प्यार से कहा 'अरे नटखट, इस मुग्धकारी मुख से यह इतनी करुणापूर्ण बातें बोल रहे हो। (जात, मुग्धेन मुखेन अतिकरुणं मंत्रयसि); और तुरत ही अपने सभी आभूषणों को उतार कर उसने कहा 'देख, अब तो मैं तेरी माँ हो गयी न ! ले, इन सब आभूषणों को भी तू ही ले ले और जाकर अपने लिये सोने की गाड़ी बनवा ला' (एषेदानीं ते जननी संवृता ! तद् गृहाणैतमलंकारम्। सौवर्णशकटिकां कारय !)।

इस दृष्टि से 'मृच्छकटिक' का नामकरण तो होना चाहिए था 'सुवर्णशकटिका', क्योंकि यह सुवर्ण ही तो सारे प्रकरण में ऐसा छाया हुआ है कि जिसके द्वारा वसन्तसेना, चारुदत्त से मिलना चाहती है; शर्वलिक इसी सोने के द्वारा अपनी प्रेमिका मदनिका का उद्धार करता है; शकार इसी सुवर्ण के अभाव में चारुदत्त का हत्यारा सिद्ध होता है; और चारुदत्त इसी के कारण तो शूली पर चढ़ने को जाता है।

अपने प्रकरण में सुवर्ण की इतनी महिमा दिखाते हुए भी उसके रचयिता का ध्यान आर्य चारुदत्त की दीनता पर और रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी पर है, न कि वसन्तसेना की समृद्धि पर और न ही उसकी सुवर्णशकटिका पर। यदि यह नाटक सुवर्ण पर आधारित होता तो उसकी परिणति शील में न दिखाई गई होती। यही शील चारुदत्त की दरिद्रता का प्रतीक और उसके पुत्र रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी में छिपा है। इसलिए इस प्रकरण का उपयुक्त नामकरण 'सोने की गाड़ी' (सुवर्णशकटिका) न होकर 'मिट्टी की गाड़ी'

(मृच्छकटिक) किया गया। प्रकारान्तर से उसमें वसन्तसेना के वैभव को न दिखाकर चारुदत्त की दरिद्रता को ही दिखाया गया है।

मृच्छकटिक की परम्परा

'मृच्छकटिक' अपनी श्रेणी का एक ऐसा प्रकरण है, जिसकी तुलना या टक्कर का प्रकरण संस्कृत-साहित्य में दूसरा नहीं मिलता है। बाद में भवभूति ने 'मालतीमाधव' में यह यत्न किया भी; किन्तु अपने स्वभाव के अनुसार अपनी इस कृति को वे 'मृच्छकटिक' की भाँति धूर्तसंकुल और हास्यरसप्रधान न बना सके। भवभूति की हू-ब-हू नकल उतारते हुए और 'मृच्छकटिक' की विधाओं को बैठाने की चाह में उद्दण्ड कवि (१७वीं श०) ने 'मल्लिकामारुत' में कुछ यत्न किया; किन्तु उसमें भी 'मृच्छकटिक' की कोई स्वाभाविकता न आ पाई। १२वीं शताब्दी के बाद हेमचन्द्र के शिष्य, तथा 'नाट्यदर्पण' के रचयिता रामचन्द्र ने 'कौमुदीमित्रानन्द'; रामचन्द्र मुनि ने 'प्रबुद्धरौहिणेय' और यशश्चन्द्र ने 'मुकुलितकुमुदचन्द्र', ये तीन प्रकरण इस परम्परा में लिखे; किन्तु उनको भी 'मृच्छकटिक' जैसी लोकप्रियता नहीं मिली। 'मृच्छकटिक' के आंशिक रूप को भाण रचनाओं और प्रहसनों में उतारा गया; किन्तु उनमें भी वैसा संयम और शिष्टाचार न रहा।

चारुदत्त और मृच्छकटिक का अन्तर

'मृच्छकटिक' भास के 'चारुदत्त' पर आधारित है। इन दोनों प्रकरणों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उनकी रचना में, उनके प्राकृत-प्रयोगों में और उनकी काव्यात्मकता में पर्याप्त अन्तर है। भास के 'चारुदत्त' में रचनाविधान की दृष्टि से अनेक बातें नहीं हैं, जब कि 'मृच्छकटिक' में उनका उल्लेख मिलता है। 'चारुदत्त' की प्राकृत, 'मृच्छकटिक' की प्राकृत से प्राचीन है। इसी प्रकार 'चारुदत्त' के छन्दबन्ध, माधुर्य, अलंकार और व्याकरण आदि के प्रयोगों की अपेक्षा 'मृच्छकटिक' में सुन्दरता, परिष्कार और प्रांजलता है। इस दृष्टि से दोनों प्रकरणों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है और साथ ही यह भी प्रमाणित हो जाता है कि 'मृच्छकटिक' की अपेक्षा 'चारुदत्त' प्राचीन है। इन दोनों के अन्तर को प्रकट करने वाले कुछ तथ्य इस प्रकार हैं :

रचना में अन्तर

चारुदत्त	मृच्छकटिक
नान्दी नहीं है	नान्दी है
नाटककार का नाम-निर्देश नहीं है	नाटककार का नाम-निर्देश है
अपूर्ण है	पूर्ण है
नायक का नाम-निर्देश नहीं है	नायक चारुदत्त का नाम है
तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग	देशज शब्दों का प्रयोग

प्राकृत में अन्तर

गेहं गच्छिअ जाणामि	गेहं गदुअ जाणामि
कप्रम् (संवयम्)	अम्हे
तुअम् (सं० त्वम्)	तमम्
तव गेहं पविट्ठा	तुह गेहं पविष्टा
इद तस्स गेहं	वामदो तस्स चलम्

काव्यात्मकता में अन्तर

यथान्धकारादिव दीप-दर्शनम्	घनान्धकारेष्विव दीप-दर्शनम्
यो याति दशां दरिद्रताम्	यो याति नरो दरिद्रताम्
क्लिन्नखर्जूरपाण्डुः	कामिनीगण्डपाण्डुः
शौर्यं न कार्कश्यता	चौर्यं न शौर्यं हि तत
विषाणकोटीव निमज्जमाना	तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम्

प्राकृत भाषा का प्रयोग

'मृच्छकटिक' में अनेक तरह की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। इस नाटक के टीकाकार पृथ्वीधर के कथनानुसार इसमें शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की, इन सात प्रकार की प्राकृतों के नमूने प्रयुक्त हुए हैं। पृथ्वीधर के मतानुसार शौरसेनी, मागधी, प्राच्या तथा

चारुदत्त और मृच्छकटिक का अन्तर

अवन्तिका, प्राकृत भाषायें हैं और शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की उनकी विभाषायें। इन सातों प्राकृतों में शौरसेनी और मागधी का ही सुन्दर प्रयोग 'मृच्छकटिक' में हुआ है। अन्य प्राकृत-प्रयोगों को देखकर यह अनुमान होता है कि उस समय तक प्राकृतों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था। जिन पात्रों के मुँह से जो प्राकृत कहलाई गई है उसका निर्देश इस प्रकार है :

शौरसेनी : सूत्रधार, नटी, वसन्तसेना, मदनिका, धूता, कर्णपूरक, रदनिका, शोधनक, श्रेष्ठी

अवन्तिका : वीटक, चन्दनक

प्राच्या : विदूषक

मागधी : संवाहक, स्थावरक, कुम्भीलक, वर्धमानक, रोहसेन, भिक्षु

शकारी : शकार

चाण्डाली : चाण्डाल

ढक्की : सभिक (द्यूतकार), माथुर

टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार अवन्तिका और प्राच्या, दोनों में बहुत कम अन्तर है और वे दोनों शौरसेनी का ही अवान्तर रूप हैं। इसी प्रकार शकारी और चाण्डाली, दोनों मागधी की विभाषायें हैं। ढक्की का प्रयोग माथुर ने भी किया है। ढक्की का उल्लेख भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का अभिमत है कि वह उस काल की जनभाषा थी, जिसका आधार संभवतः शौरसेनी अपभ्रंश का आदिम रूप था और उसके प्रयोक्ता माथुर की भाषा को हम वैसा ही कह सकते हैं जैसा कि बंगालियों द्वारा बोली गई हिन्दी।

नाटकीय संविधान

'मृच्छकटिक' की यदि नाटकीय संविधान की दृष्टि से विवेचना की जाय तो उसकी अनेक बातें स्पष्ट हो जाती हैं। संस्कृत में वह अपने ढंग का एकमेव प्रकरण है कथावस्तु की दृष्टि से, अपने वर्णन-प्राचुर्य के कारण से भी और चरित्रचित्रण की दृष्टि से भी। उसका कथानक प्रणयप्रधान है; किन्तु अपने कुशल शिल्पी रचयिता के हाथों वह प्रेमकथा राजनीतिक घटनाओं के साथ संबद्ध होकर अन्त में पूरी सफलता और स्वाभाविकता के साथ

निखर कर सामने आती है। समाज के सभी क्षेत्रों के पात्रों का सम्बन्ध होने के कारण उसकी कथावस्तु में रोचकता के साथ-साथ घटनाओं का घात-प्रतिघात और नाट्यनियमों के निर्वाह के साथ-साथ क्रमिक विकास परिलक्षित होता है। उसमें पाखण्ड, धूर्तता और अन्याय के प्रति सदाचार, शील और न्याय का संघर्ष है।

उसमें वर्णनचुप्रचरता है; और वह भी बड़े ही प्रभावशाली ढंग की है; किन्तु भवभूति के 'मालतीमाधव' की भाँति, उसके कारण नाटकीय संविधानों की स्वाभाविक गतिशीलता में व्यतिक्रम पैदा हो गया है। यह वर्णनप्रचुरता जो कि एक नाटक की अपेक्षा, एक काव्य के लिए अधिक उपयुक्त है, इस प्रकरण में क्यों अपनाई गई, इसका एक ही कारण देखने को मिलता है, और वह है उसके रचयिता के कविहृदय का प्रभाव। पाँचवें अङ्क का वर्षा-वर्णन इसका प्रमाण है। यह वर्षा-वर्णन यदि किसी काव्य में दिया गया होता तो निश्चित ही वह काव्य में चार चाँद लगा देता; किन्तु नाटक में तो उससे अवरोध पैदा हो गया है। उसमें दृश्यों की विविधता के अतिरिक्त कुछ अनावश्यक विस्तार भी है। इसका कारण भी उसका वर्णनप्राचुर्य एवं वर्णन-विस्तार ही है। इस दृष्टि से रंगमंच पर अभिनय करने के लिए 'मृच्छ-कटिक' पूरी तरह सफल नहीं हो सकता है।

'मृच्छकटिक' के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह ग्रीक नाटकों के संविधान से प्रभावित है। उसका शकार और उसकी बहिन, राजा पालक की रखेल, दोनों ही यूनानी पात्र हैं। इन पात्रों का चयन करते समय प्रस्तुत प्रकरण के रचयिता का ध्यान अवश्य ही यूनानी नाटकों पर रहा होगा। इसलिए यह अस्वाभाविक या असंभव नहीं है कि 'मृच्छकटिक' की शिल्प और सज्जा में ग्रीक-मंच के दृष्टिकोणों को अपनाया गया हो। इसके अतिरिक्त 'मृच्छकटिक' में कार्यान्विति और व्यापारान्विति का सफल निर्वाह है।

'मृच्छकटिक' शृङ्गाररसप्रधान प्रकरण है। उसमें संयोग और विप्रलम्भ दोनों का अच्छा निदर्शन हुआ है। शृङ्गाररसप्रधान होने से उसमें कौशिकी वृत्ति है। चारुदत्त उसका धीरप्रशान्त नायक है। इसके संविधान की अलग विशेषता है कि वह नायकप्रधान न होकर नायिकाप्रधान प्रकरण है।

चरित्र चित्रण

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'मृच्छकटिक' का बड़ा महत्त्व है। यथार्थवादी नाटक होने से उसके प्रत्येक पात्र में जीवनी-शक्ति दिखाई देती है। वे सभी पात्र हमारी संभावनाओं एवं बुद्धि की सीमाओं के अन्तर्गत हैं। इसलिए उनके चरित्रों में स्वभावतः हमारा विश्वास, हमारी उत्सुकता और हमारी निष्ठा है। चारुदत्त, वसन्तसेना, शकार, शर्विलक, मैत्रेय (विदूषक), वीरक, चन्दनक, दर्दुरक, मदनिका, रदनिका, विट, चेट और चाण्डाल आदि अनेक पात्र हैं। उसमें राजा को कोई स्थान प्राप्त नहीं है; किन्तु, राजा की स्थितियों को बताने वाले प्रसङ्गों का अभाव नहीं है। ये पात्र समाज के सभी क्षेत्रों से एकत्र होकर हमारे सामने, अपने कार्यों के द्वारा, आदर्शों और वितृष्णाओं को उपस्थित कर अलग हो जाते हैं। ब्राह्मण, रंक, धूर्त, वेश्या, कुट्टिनी, लम्पट, चोर, जुआरी, पुलिस के अधिकारी आदि अनेक भाँति के पात्र इस प्रकरण में तत्कालीन सामाजिक अवस्था का जीवित चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

चारुदत्त

चारुदत्त ब्राह्मण युवक है; किन्तु कर्म से श्रेष्ठी। उसके व्यक्तित्व में उदारता, सहृदयता, धार्मिकता, सौहार्द, आदर्शवादिता और प्रेम आदि अनेक बातों का एक साथ समन्वय देखने को मिलता है। वह सद्‌गृहस्थ और आचारनिष्ठ व्यक्ति भी है। 'मृच्छकटिक' के प्रथम अङ्क में विट के मुख से कहलाये गये इस श्लोक में चारुदत्त के चरित्र की प्रायः सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं:

> दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जानानां कुटुम्बी
> आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
> सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
> ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥

'वह चारुदत्त दीनों का कल्पतरु, गुणों से विनम्र, सज्जनों का स्वजन, शिक्षितों का आदर्श, सच्चरितों की कसौटी, शीलरूप समुद्र का वेलास्वरूप, सबका आदर करने वाला, पुरुषगुणों से समायुक्त, कुशल और उदार एक

मात्र चारुदत्त ही श्लाघनीय है। अपने गुणों के उत्कर्ष पर सच्चे अर्थों में वही जीवित है; दूसरे लोग तो केवल साँस ले रहे हैं।'

चारुदत्त ब्राह्मण था। वह एक समय उज्जयिनी का श्रेष्ठ धनी था; किन्तु बाद में दरिद्र हो गया था :

'अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः।'

वह युवक था। अपनी इस युवावस्था में अपने दरिद्र जीवन के कष्ट को वह किसी प्रकार बिता रहा था कि एक दिन उसने कामदेवायतनोद्यान में वसन्त की शोभा जैसी वसन्तसेना को देखा; जो कि उसके गुणों पर मुग्ध थी:

'गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना।'

उसको देखते ही चारुदत्त का अभावग्रस्त मन बेचैन हो उठा। उस दिन से उसका प्रदोष जागते-जागते बीतने लगा और रातें लम्बी आहें भर कर :

'सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः
सदा च मे निश्वसतो गता निशा।'

वसन्तसेना ने उसके जीवन में आकर तूफान मचा दिया और इस कारण उसको जितनी विपत्तियों एवं जितने कष्टों का सामना करना पड़ा, उनसे उसके चरित्र की सभी विशेषतायें प्रकाश में आ गईं।

उसके चरित्र में शील और संकोच कूट-कूट कर भरा हुआ है। उसके भीतर बड़ी पवित्रता और ब्राह्मणजनोचित सभी गुण सहज रूप में वर्तमान हैं। उसका कुल भी बड़ा ऊँचा था, जैसा कि उसने स्वयं ही कहा है कि 'मेरा जन्म निष्पाप कुल में हुआ। मुझमें पाप का लेशमात्र भी नहीं है। इस पर भी यदि मुझमें पाप की शंका की जाती है तो स्वयं को मेरा निष्पाप सिद्ध करना व्यर्थ है' :

'अपापानां कुले जाते मयि पापं न विद्यते।
यदि संभाव्यते पापमपापेन च किं मया?'

वह निष्कलुष व्यक्ति है और उसको स्वयं पर विश्वास है। अकारण ही उस पर वसन्तसेना की मृत्यु का कलंक लगा दिया जाता है; किन्तु वह जानता है कि हत्या उसने नहीं की है। इसलिए वह चुनौती देता हुआ कहता है कि वह मरने से नहीं डरता है; किन्तु डर रहा है कलंक से। वह सर्वथा

पवित्र है। फिर भी यदि उसको मृत्युदण्ड दिया जाता है तो वह उसको पुत्र-जन्म की भाँति सहर्ष स्वीकार करने को प्रस्तुत है।

कृतवैर शकार और अकृतवैर चारुदत्त के चरित्र का बड़ा ही सुन्दर संघर्ष दिखाया गया है। शकार में जितनी ही क्रूरता है, चारुदत्त में उतनी ही उदारता। उसका ध्येय है कि शरणागत शत्रु को शस्त्र से नहीं, उपकार से आहत करना चाहिए :

'शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः।
शस्त्रेण न हन्तव्यः उपकारहरस्तु कर्तव्यः॥'

वह दयालु था। शरण में आये हुए को क्षमा करना उसकी उदारता की पराकाष्ठा है। वह उदारमना भी था; किन्तु जनापवाद को सहन नहीं कर सकता था। दरिद्र होकर भी वह गुणों का आगार था। अपनी दरिद्रावस्था में उसके उदार मन और उसके मैत्रीभाव से भरपूर हृदय का परिचय उसी के शब्दों में दिया जाता है। प्रथम अंक में विदूषक जब चारुदत्त को उसकी निर्धनता के सम्बन्ध में आश्वस्त करता हुआ कहता है : 'मित्र चारुदत्त, संतप्त न हो। मित्रों को अपना धन बाँट देने वाली तुम्हारी यह दरिद्रता भी, देवताओं के रसपान से बचे हुए प्रतिपदा के चाँद की भाँति, सुन्दर लगती है'; इस पर चारुदत्त कहता है, 'मित्र, मुझे धन के लिए दुःख नहीं है। मुझे दुःख है तो इस बात का कि आज मेरे मित्रों ने मेरी दरिद्रता के कारण मेरे घर आना छोड़ दिया है।' वह आगे कहता है 'मुझे धन के नष्ट हो जाने की कोई चिन्ता नहीं है। धन का तो आना-जाना लगा ही रहता है। किन्तु मुझे दुःख तो इस बात का है कि पहले जो मेरे घनिष्ठ मित्र थे आज वे मुझ दरिद्र से बात तक नहीं करते।'

मानवीय गुणों से पूरित चारुदत्त के ऐसे चरित्र का उदाहरण मिलना असंभव है।

वह इतना सरलहृदय और पवित्र आत्मा है कि उसको इस बात का बड़ा दुःख है कि चोर ने उसके घर में सेंध लगाई और वहाँ उसे कुछ न मिला। किन्तु ज्यों ही विदूषक के द्वारा उसको पता लगा कि अमानत रखी वस्तु चली गई तो उसको मूर्च्छा आ गई। अन्त में चोर ने चारुदत्त के

समक्ष प्रकट होकर अपने पापों के प्रायश्चित्त के लिए जब क्षमा माँगी तो चारुदत्त ने उस पर कहा 'मित्र, ऐसा मत कहो ! तुमने तो यह प्रेमवश किया है' (सखे, मैवम् ! त्वयासौ प्रणयः कृतः) ।

वसन्तसेना

वसन्तसेना के चरित्र को संक्षेप में कहा जाय तो वह स्वभाव से सरल, सेवकों पर सदय, सहृदय, सुभाषिणी, सज्जनों का आदर करने वाली, गुणों से अभिष्टित, शरणागतवत्सल, वेश्या होते हुए भी आदर्शप्रेमिका एवं सद्गृहिणी है ।

वसन्तसेना से जैसा कि हमारा परिचय होता है, वह उज्जयिनी की प्रसिद्ध गणिका के रूप में प्रकट होती है । किन्तु उसके सम्बन्ध में जब हम आगे के कथानक को देखते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि गणिका वह जन्ममात्र से ही थी, कर्म से और आचरण से वह कुछ और ही थी । उसके सम्बन्ध में पाँचवें अंक में विट ने कहा है 'वह साक्षात् श्री है । अन्तर इतना ही है कि इसका जन्म कमल से नहीं हुआ है ।'

'अपद्मा श्रीरेषा'

उसके जन्म और कर्म की यह भिन्नता तब स्पष्ट होती है, जब हम देखते हैं कि उसके भीतर गणिकाओं से भी बलवान् कुलस्त्रियों का शील तथा सदाचार छिपा हुआ है । जन्मतः ही उसमें अच्छी नारी के सभी गुण विद्यमान हैं । उसमें जन्मतः ही माता का वात्सल्य था । इसीलिए उसने बालक रोहसेन की इच्छा को पूरा करने के लिए अपने शरीर के मूल्यवान् आभूषण उतार दिए । यही नहीं, बल्कि वह उसकी माता भी बन गई । रोहसेन की माता वह पहले बनी और चारुदत्त की पत्नी बाद में । उसके चरित्र की यह एक ही महानता उसको बहुत ऊँचा उठा देती है ।

उसके अन्तःकरण में गणिका रहने की नहीं, चारुदत्त की कुलवधू बनने की अभिलाषा है । उसकी यह परम अभिलाषा थी कि किसी प्रकार वह गणिका की कोटि से मुक्ति पा कर कुलवधू की कोटि में पहुँच जाय । उसकी दासी गणिका मदनिका ने इसीलिए कहा था 'सांप्रतं त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता । तद्गच्छ आरोह प्रवहणम् !' और उसकी यह साध पूरी भी हुई । उसकी इस

सफलता। पर शर्विलक के हाथ राजा ने यह कहला भेजा था (आर्ये वसन्तसेने, परितुष्टो राजा भवन्तीं वधूशब्देनानुगृह्णाति)।

वसन्तसेना के सम्बन्ध में जहाँ तक यह प्रश्न है कि वह कहाँ तक सदाचारिणी थी, वहाँ यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उसको गणिका के रूप में दिखाया गया है; किन्तु वह अक्षतयौवना थी और उसका प्रथम समागम चारुदत्त के ही साथ हुआ था। उसमें गणिकाओं जैसी चारित्रिक भ्रष्टता न होकर अच्छी नारियों जैसी लज्जा थी। जब उसको श्यामलक ने राजमार्ग पर जाते देखा तो वह हरिणी के समान भाग निकली थी, जब कि उस समय अधिक रात नहीं हुई थी और लोग तफरी के लिए आ-जा रहे थे। इसलिए यदि उसने काम-सम्बन्धी अनुभवों को प्राप्त किया होता तो गणिका होने पर उसको घबराकर भागने की आवश्यकता न हुई होती। उसके शुद्ध चरित्र का प्रमाण इससे भी मिलता है कि राजा के श्यालक संस्थानक (शकार) से उसका सम्बन्ध तय किए जाने पर भी वह, उसके अनाचरणों के कारण अपनी माँ का यह प्रस्ताव अस्वीकार कर देती है। वह अपनी चेटी के हाथ अपनी माँ को यह सन्देश भेजती है कि 'मेरी माता से जाकर तुम कहना कि यदि वह मुझे जीवित देखना चाहती है तो इस प्रसंग को फिर न उठाये' (एवं विज्ञापयितव्या—यदि मां जीवितामिच्छसि तदेवं न पुनरहं मात्राज्ञापयितव्या)। वसन्तसेना और उसकी माता में बड़ा अन्तर है। माता धन की भूखी है; किन्तु वसन्तसेना शील और गुणों पर मोहित है। इसने, स्वयं को पैसे के प्रलोभन में प्रेमलीला रचने वाली पणस्त्रियों से, अपने प्रणय की भिन्नता प्रकट कर दी। आठवें अङ्क में वह शकार से कहती है 'ऐ दुष्ट, नीच, पापी; मुझे धन से क्या लुभाता है? भौरों का यह प्रकृत स्वभाव है कि वे पवित्र कमल को कभी नहीं छोड़ते। क्या मैं तेरे धन के लोभ से कमलसदृश प्रियतम चारुदत्त को छोड़ सकती हूँ! मैं तो समझती हूँ कि कुल-शील-समन्वित दरिद्र पुरुष का ही सेवन करना उचित है।' इसलिए वसन्तसेना कुलस्त्री है; पणस्त्री नहीं।

उसमें चारुदत्त के प्रति स्वाभाविक प्रणय है। उसके प्रणय को दबाया नहीं जा सकता, हटाया नहीं जा सकता और धन से खरीदा नहीं जा सकता

है। चारुदत्त के प्रति उसके उत्कट प्रेमी हृदय का तब पता लगता है, जब वह रात्रि के घनांधकार में मूसलधार वर्षा में भीगती हुई चारुदत्त के घर जाती है। उसके अनुनय-विनय करने पर भी जब वर्षा नहीं रुकती तो इन्द्र को वह अपने दृढ़ निश्चय की चुनौती देती हुई कहती है 'हे इन्द्र, चाहे तू गरज या बरस अथवा वज्रपात ही क्यों न कर दे; किन्तु अपने प्रेमी के पास जाने को उद्यत स्त्रियों को रोक नहीं सकता है':

'गर्ज वा वर्ष वा शक्र मुञ्च वा शतशोऽशनिम्।
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति॥'

शर्विलक

शर्विलक उज्जयिनी में इसलिए आया था कि आर्यक राजा होगा और उसके साधन के लिए वह कार्य करेगा; किन्तु यहाँ उसकी आँखें एक गणिका पर लग जाती हैं। गणिका भी ऐसी कि जो अपने अभाग्य से क्रीतदासी थी। इसलिए उसके प्रेम को तभी स्वच्छन्दतापूर्वक भुगता जा सतका था, जब कि उसका दासता से छुटकारा किया जाय। उसके उद्धार के लिए वह अपने सारे कला-कौशल लगा देता है।

शर्विलक के चरित्र में जो सबसे बड़ी बात दिखाई देती है वह है साहस। उसका एक यही ध्येय है कि साहस में ही श्री का निवास है (साहसे श्रीः प्रतिवसति)। वह अपनी हर बात को हरेक परिस्थिति में पूरी दृढ़ता और पूरे आवेश में प्रकट करने का आदी है। स्पष्टवादी वह इतना है कि अपनी प्रेमिका मदनिका द्वारा जब उसे सारी परिस्थिति का पता लग जाता है तो भागता हुआ वह चारुदत्त की शरण में आता है और अपने अपराध को इन शब्दों में स्वीकार करता है:

'येन ते भवनं भित्त्वा न्यासापहरणं कृतम्।
सोऽहं कृतमहापापस्त्वामेव शरणं गतः॥'

उसके चरित्र में स्वाधीन बने रहने की उद्दाम कामना दिखाई देती है। अपनी स्वाधीनता को बरकरार बनाये रखने के लिए वह कुछ भी कर सकता है! यहाँ तक कि चोरी भी। पराधीनता और चाकरी उसके वश की बात है ही नहीं:

'स्वाधीनता वचनीयतामपि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः ।'

उसके कर्ममार्ग का पहला ध्येय है कि पाप भले ही करना पड़े ; किन्तु कौशल हाथ से न जाने पावे। वह अर्थ से प्रेरित होकर चोरी करता है ; किन्तु साथ ही यह भी विवेक रखता है कि जिस घर में वह सेंध लगा रहा है वहाँ स्त्री का दर्शन तो न होगा :

'कस्मिन्स्त्रीजनदर्शनं च न भवेत्स्यादर्थसिद्धिश्च मे ।'

स्त्रीजन का दर्शन न होने से निश्चित ही उसको अर्थसिद्धि है और स्त्रीजन का दर्शन उसके अनर्थ का कारण है।

किन्तु इस प्रकार 'नारीनाथगृह' पर उसकी अकारण कृपा का क्या कारण है ? उसका कारण वस्तुतः यह है कि वह मन, वचन और कर्म, तीनों से अपनी प्रेमिका मदनिका का भक्त है। स्त्रियों के घर में जाने मात्र से ही वह अपनी इस भक्ति में पाप की आशंका करता है। इसीलिए वह चोरी करने से पूर्व भली भाँति यह जान लेता है कि उस घर में स्त्री तो नहीं है ?

वह कर्म से या जन्म से चोर नहीं है। चोरी करने का उसका एकमात्र उद्देश्य है अपनी प्रेमिका को दासता से छुड़ाकर उसके साथ सुखपूर्वक रहने का। वह चोरी करना पाप समझता है ; किन्तु मदनिका की मुक्ति के लिए उसके सामने दूसरा रास्ता है भी नहीं। वह अपने चौर्यकर्म का कारण स्वयं ही प्रकट करता है :

'गणिकामदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि ।'

श्यामलक (संस्थानक)

राजश्यालक शकार का चरित्र आत्माभिमान, अहंकार, मदोन्मत्तता, मूर्खता, प्रतिस्पर्धा, अस्तव्यस्तता और आत्मश्लाघा आदि अनेक दुर्गुणों का संगम है। उसमें बेवकूफी, हठवादिता, कायरपन, क्रूरता और विलासिता भी भरी हुई है। इस पर भी लोगों के सामने वह अपनी योग्यता, शूर-वीरता और बड़प्पन की डींग हाँका करता है। अपने आचरणों से वह अपनी स्थिति हास्यास्पद बनाये रहता है। विट और चेट तक उसकी अवहेलना करते हैं।

उसकी मूर्खता और उसके उन्मादी स्वभाव का परिचय तब मिलता है, जब वह बलात्कार करने पर तुल जाता है। वसन्तसेना के साथ बलात्कार करने में जब वह असफल हो जाता है तो उसकी माता को धन का प्रलोभन दिला कर अपने वश में करने का यत्न करता है। वसन्तसेना की हत्या के अनन्तर उसको बड़ी आत्मग्लानि होती है और तब वह प्रमाद का अनुभव करता है। वह स्वयं को ही कहने लगता है 'चित्रो विचित्रोऽहं राजश्यालः'। उसके कथन क्रमहीन, अव्यवस्थित, लोकविरुद्ध, न्यायविरुद्ध और व्यर्थ होते हैं :

'अपार्थमक्रमं व्यर्थं पुनरुक्तं हतोपमम्।
लोकन्यायविरुद्धं च शकारवचनं विदुः॥'

उसके चरित्र का सारा चित्र उसी के द्वारा कहे गये इस संवाद से प्रकट हो जाता है। अपने आत्माभिमान पर गर्व करता हुआ वह कह बैठता है 'अरे क्या मेरा व्यवहार न देखा जायगा ? यदि नहीं देखा जाता तो मैं अपने जीजा राजा पालक, अपनी बहिन तथा माता से कर इस न्यायाधीश को हटाकर इसकी जगह दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त कर दूँगा' (आः, किं न दृश्यते मम व्यवहारः ? यदि न दृश्यते तदावुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं, मातरं च विज्ञाप्यैतमधिकरणिकं दूरीकृत्यात्रान्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि)।

इस प्रकार वह राजा से अपना संबंध कायम कर कुछ-का-कुछ करा देने की धमकी देता है। इसलिए उसके चरित्र में ये दुर्गुण आ गये, क्योंकि वह नीचकुलोत्पन्न है। उसके बाप तक का कोई पता नहीं है। उसको इस बात का अभिमान हर घड़ी बना रहता है कि राजा पालक उसका जीजा है : बल्कि यह कहना चाहिये कि उसकी बहिन राजा पालक की रखेल है।

नाटक में कहीं भी उसके वर्ण, वंश और उसकी जाति का उल्लेख नहीं किया गया है। कहा जाता है कि वह शक जाति का था और उसका चरित्र उस युग की याद दिलाता है जब कि भारतीय राजा शक देश की स्त्रियों को अपनी विवाहिता पत्नी बना कर या रखेल के रूप में राजमहलों में रखा करते थे।

नाटककार ने उसकी शकारबहुला भाषा का प्रयोग कर उसको विदेशी व्यक्ति सिद्ध करने का यत्न किया है। इस प्रकार के विदेशी पात्र का समावेश एकमात्र 'मृच्छकटिक' में ही देखने को मिलता है। इसी हेतु शकार के चरित्र पर आलोचकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित रहा है।

किन्तु कभी-कभी संकट के उपस्थित हो जाने पर वह विवेक से काम लेने वाला भी दिखाई देता है। चेट और विट से आँख बचा कर उसने वसन्तसेना की हत्या कर डाली और अन्त तक उसका भेद न बताया।

संक्षेप में शकार का चरित्र बड़ी ही कुत्साओं, कुप्रवृत्तियों से भरा है और उसके कार्य हमेशा ही निकृष्टता के सूचक रहे हैं। नाटककार ने उसके चरित्र का पूरा विकास किया है।

अन्य पात्र

प्रकरण के अन्य पात्रों में चारुदत्त की धर्मपत्नी धूता भारतीय नारी का साक्षात् स्वरूप है। वह सच्चरित्र, वन्दनीय स्वभाव से युक्त, स्नेहमयी, अपने पति की सहायता एवं कल्याणकामना में प्रवृत्त दिखाई देती है। उदारता उसमें इतनी है कि चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रेम-सम्बन्ध को भी वह सहर्ष स्वीकार कर लेती है। उसके सहवास से चारुदत्त अपनी दरिद्रावस्था में भी स्वयं को बड़ा भाग्यशाली समझता है।

मैत्रेय का चरित्र विदूषक के रूप में बड़ा ही सफल उतरा है। वह ब्राह्मण है और बड़ा पेटू। चारुदत्त का वह परममित्र है। अपने मित्र चारुदत्त की सम्पन्नावस्था में वह खूब खाता-पीता और चौराहे के बैल की तरह जुगाली किया करता था; किन्तु अब तो वह किसी प्रकार अपने भोजन का बन्दोबस्त करके रात को उसी प्रकार चारुदत्त के घर सोने के लिए आ जाता था, जैसे रात होने पर कबूतर अपने घोंसले की ओर आता है। बैल और कबूतर से उसकी तुलना उसके स्वभाव के सर्वथा अनुकूल बैठती है। उसका परिहास बड़ा ही शिष्ट और वास्तविक चित्रित हुआ है। वह हँसोड़ होते हुए भी सुख-दुःख में स्थिर रहने वाला व्यक्ति है।

इनके अतिरिक्त चारुदत्त का पुत्र रोहसेन होनहार लक्षणों से युक्त तथा पिता के प्रति अतिशय प्रेम करने वाला है। विट उदात्तचरित और स्पष्टवक्ता

है। मदनिका गणिका और दासी होते हुए भी अपनी स्वामिनी वसन्तसेना के सद्गुणों से युक्त है। रदनिका भी अपने स्वामी चारुदत्त के प्रति निष्ठाभाव रखनेवाली युवती है।

कवित्व

'मृच्छकटिक' एक यथार्थवादी रचना है। इसलिए उसमें कल्पना और कवित्व के लिए यदि उसके रचयिता को कम ही अवकाश प्राप्त हुआ होता तब भी उसकी श्रेष्ठता में कोई अन्तर नहीं आ सकता था; किन्तु स्थिति इसके विपरीत है। सामाजिक अभीप्साओं और नाटकीय संविधानों का ज्ञाता उसका रचयिता रससिद्ध कवि भी था। उसके परिपूर्ण कविहृदय की छाप उसकी इस यथार्थ रचना में सर्वत्र देखने को मिलती है।

'मृच्छकटिक' में प्रकृति का उद्दीपन और आलम्बन, दोनों रूपों में बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। वर्षाऋतु के मेघाच्छन्न गगन का वर्णन 'मृच्छकटिक' के पाँचवें अङ्क में विस्तार से किया गया है। आकाश से जलधारायें पृथ्वी पर गिरती हुई कैसी दिखाई दे रही हैं, इसका चित्रण इस श्लोक में देखने को मिलता है:

> 'तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रूक्षं सलिलेषु चण्डम्।
> संगीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः॥'

'ये जलधारायें तालवृक्षों पर उच्चस्वर से, वृक्षों पर गंभीर स्वर से, शिलाओं पर बड़ी रुखाई से और पानी में प्रचण्ड स्वर से, संगीत-वीणा की भाँति लय के अनुसार गिर रही है। अर्थात् जिस प्रकार वीणा को, मन्द्र, रूक्ष और चण्ड आदि अनेक स्वरों एवं लय के अनुसार बजाया जाता है उसी प्रकार वर्षा के इस धारानिपात में भी संगीतमय गति है।'

इस श्लोक में कवि के अनुभूत जलवृष्टि की विभिन्न स्थितियों के दृश्य के अतिरिक्त उसकी संगीतज्ञता भी प्रकट होती है। पूर्णोपमा का ऐसा भव्य एवं कोमल रूप कालिदास की ही कविता में देखने को मिल सकता है।

इसी वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए आगे लिखा गया है 'जिस प्रकार कमल-सूचियाँ कीचड़ को फोड़ कर बाहर निकल आती हैं वैसे ही ये जल-धारायें मेघ को फोड़ कर बाहर निकल आई हैं। ऐसा प्रतीत होता है मेघों

के द्वारा चन्द्रमा के ढक जाने की विपत्ति के कारण यह आकाश जल के बहाने आँसू बहा रहा है' :

'अमूर्हि भित्त्वा जलदान्तराणि पङ्कांतराणीव मृणालसूच्यः ।
पतन्ति चन्द्रव्यसनाद्विमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इव वारिधाराः ॥'

इस श्लोक में प्रकृति से ही उपमान लेकर कवि ने अपनी सुंदर सूझ एवं अपने अच्छे काव्य-कौशल का परिचय दिया है । इसके अतिरिक्त इस श्लोक में चारुदत्त की भावी विपदा की भी सूचना दी गई हैं और जलधारा को अश्रुधारा कह कर वसन्तसेना के भावी रुदन का भी आभास दिया गया है । इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति आदि अलंकारों का भव्य प्रयोग और प्रकृति के आलम्बन स्वरूप का सुन्दर चित्रण हुआ है ।

इसी प्रकार वर्षाऋतु के वर्णन के साथ ही अभिसारका का वसन्तसेना का यह वर्णन कितना कवित्वमय है :

'एषा फुल्लकदम्बनीपसुरभौ काले घनोद्भासिते
कान्तस्यालयमागता समदना हृष्टा जलार्द्रालिका ।
विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकांक्षिणी
पादौ नूपुरलग्नकर्दमधरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥'

'विकसित कदम्ब, नीप से सुगन्धित, उमड़े हुए मेघों के वर्षाजल से भींगे अलकों वाली, प्रसन्न एवं कामर्ता यह वसन्तसेना या वर्षाऋतु अपने प्रियतम के घर आई है । बिजली की कड़क और बादलों की गड़गड़ाहट से चकित तुम्हारे दर्शनों की अभिलाषिणी, कीचड़ से सने हुए अपने नूपुरयुक्त पैरों को धोती हुई वह बाहर खड़ी है ।'

इसके अतिरिक्त अंधकार के लिए अंजन की वर्षा (१।३४) की उपमा, चन्द्रास्त का वर्णन (३।६), नभ-मध्यगत सूर्य का वर्णन (८।१०) और भयङ्कर गर्मी के कारण वृक्षों की छाया में आराम करते हुए गो-समूह का वर्णन (८।११), 'मृच्छकटिक' के रचयिता के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का परिचय देते हैं ।

'मृच्छकटिक' प्रणयप्रधान प्रकरण है । इस दृष्टि से उसमें शृङ्गार-रस का बहुत ही सुंदर चित्रण हुआ है । वसन्तसेना स्वयमेव सौन्दर्य की मूर्तिमती

देवी है। उसके अंग-अंग में श्री का निवास है। वह जब फहराते हुए रक्तवर्ण उत्तरीय को धारण कर, कोमल कदली के समान शरीर से चलती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि शुभ्र राजमार्ग पर अपने पैरों की कुंकुमश्री बिखेरती जा रही है। पाँचवें अंक में इसी रूपसी वसन्तसेना को प्राप्त करने वाले भाग्यशाली चारुदत्त के प्रति कहा गया है :

'धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम् ।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणी गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥'

'उन भाग्यशाली प्रेमियों का जीवन धन्य है, जो घर पर आई हुई प्रेयसियों के वर्षा के पानी से भींगे हुए शरीर को अपने शरीर से चिपका कर आलिंगन करते हैं।'

इस प्रकरण में चारुदत्त के प्रति वसन्तसेना के प्रणय का बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया गया है। दूसरे अङ्क में वसन्तसेना तथा मदनिका के वार्तालाप में चारुदत्त की दरिद्रता की ओर संकेत करती हुई मदनिका कहती है कि किसी ऐसे व्यक्ति को अपना प्रेमी चुनो, जो संपन्न हो। उसके साथ सम्बन्ध होने से ही तुम सुखी रह सकती हो। इसी बात को वह वसन्तसेना से कहती है 'आर्ये, क्या पुष्पहीन रसालवृक्षों को कभी मधु-मक्खियाँ (मधुकरियाँ) सेवन करती हैं ?' (आर्ये, किं हीनकुसुमं सहकारपादपं मधुकर्यः पुनः सेव्यन्ते ?) इस पर वसन्तसेना जो उत्तर देती है वह बहुत ही मार्मिक है और प्रस्तुत प्रकरण के रचयिता के रससिद्ध कवीश्वर होने का परिचय देता है। वसन्तसेना कहती है 'इसीलिए तो वे मधुकरी कहलाती हैं' (अतएव ता मधुकर्यः उच्यन्ते)। वसन्तसेना के मुख से 'मधुकरी' का प्रयोग बहुत ही भावपूर्ण है। वसन्तसेना के कथन का वास्तविक आशय यह है कि 'मधुकरी तो केवल मधु के लोभ से ही रसाल का सेवन करती हैं, वे स्वार्थी हैं। उनका यह वास्तविक प्रेम नहीं है। किन्तु मेरा प्रेम मधुकरी की भाँति न तो स्वार्थपूर्ण है और न अवास्तविक ही। मैं तो इसीलिए चारुदत्त को चाहती हूँ क्योंकि वह हीनकुसुम सहकारपादप की भाँति है। उसकी यही दरिद्रता तो मेरे लिये मधुकरी का मधु है।'

चारुदत्त की यह दरिद्रता सारे प्रकरण की कथा का प्राण है और उसका सफल निर्वाह भी हुआ है। प्रथम अङ्क में चारुदत्त की दरिद्रता का बड़ा ही

कारुणिक चित्रण देखने को मिलता है। अपनी इस दरिद्रता का वर्णन जब स्वयं चारुदत्त अपने मुँह से करता है तो वह अधिक स्वाभाविक और बड़ा प्रभावकारी भी प्रतीत होता है। दरिद्र व्यक्ति की समाज में क्या स्थिति है, इस पर भुक्तभोगी चारुदत्त कहता है :

'दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।
सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते॥'

'निर्धनता के कारण कुटुम्बी लोग भी उसके वचनों का आदर नहीं करते। उसके प्रिय-से-प्रिय मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। उसकी विपत्तियाँ सतत बढ़ती ही रहती हैं। उसका तेज क्षीण पड़ जाता है। उसके शीलरूपी चन्दन की कान्ति मलिन पड़ जाती है। दूसरों के द्वारा किया गया कुकर्म दरिद्र पुरुष के ही मत्थे मढ़ दिया जाता है।'

(५) हर्षवर्धन

जीवनी

हर्षवर्धन की जीवन-संबंधी जानकारी प्राप्त करने के लिए बाण के 'हर्ष-चरित' और चीनी यात्री ह्वेनत्सांग के यात्रा-विवरण में प्रामाणिक तथा पर्याप्त सामग्री सुरक्षित है। इस सामग्री का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि हर्ष के बड़े भाई का नाम राज्यवर्धन था, जो कि कान्यकुब्जेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज के विरुद से प्रख्यात था और जिसको गौड़ शशांक ने विश्वासघात करके युवावस्था में ही मार दिया था। राज्यवर्धन परम सौगत (बौद्ध) था। स्थाण्वीश्वर महाराज प्रभाकरवर्धन उनका पिता था और यशोमती उनकी माता थी। हर्ष की बहिन का नाम राज्यश्री था, जिसका विवाह मौखरी कुल में हुआ था और जिसके सम्बन्ध में बाण ने 'हर्षचरित' के चौथे उच्छ्वास में पर्याप्त प्रकाश डाला है।

'शीलादित्य' (सदाचार का सूर्य) हर्षवर्धन का विरुद था। उसका कुल वैश्य क्षत्रियों का कुल था, जो कि आंध्र सातवाहनों के वंश से सम्बन्धित

था। जब दक्षिण में सातवाहन राज्य ध्वस्त हो गया था तो उस वंश के कुछ लोग गोदावरी के तीर पर स्थित प्रतिष्ठानपुर (पैठन) को छोड़ कर थानेश्वर में चले आये थे। हर्ष की राजमहिषी पारसीक वंश की थी, जिसके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की राय है कि बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में महाश्वेता के नाम से जिस परम रूपवती नारी का वर्णन किया गया है वह हर्ष की ही पारसीक रानी थी। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि 'कादम्बरी' में जिस अद्वितीय सुंदरी कादम्बरी का वर्णन देखने को मिलता है वह वस्तुतः हर्ष की ही एक रानी थी, जो कि सौराष्ट्र से लाई गई थी।

हर्षवर्धन परम माहेश्वर (शैव) था; किन्तु शैव होते हुए भी उसके मन में सुगत (बुद्ध) के प्रति परम निष्ठा थी। प्रजा की प्रसन्नता के लिए वह अपने राज्य में प्रायः सभी धर्मों का समान रूप से आदर करता था। उसके स्वभाव की यह महानता उसके सदाचार (शील) के कारण थी। उसका विश्वास तथा सिद्धान्त था कि सारी प्रजा अपने-अपने धर्मों पर चलकर सुखी रहे और संसार में शान्ति स्थापित करने के लिए यत्नशील बनी रहे। दानी और धार्मिक वह इतना था कि प्रत्येक पाँचवें वर्ष अपने कोष के अर्जित धन को प्रयाग के त्रिवेणी तट पर आकर ब्राह्मणों को वितरित कर दिया करता था। उसने अशोक और चन्द्रगुप्त की भाँति दिग्विजय के लिए भी यात्रा की थी; किन्तु दक्षिणापथ के राजा पुलकेशी ने उसकी इस उच्चाभिलाषा को धूल में मिला दिया था। बाण के 'हर्षचरित' के तीसरे और चौथे उच्छ्वास में हर्ष की इस दिग्विजय यात्रा का विस्तार से वर्णन देखने को मिलता है।

हर्ष न्याय का परम पक्षपाती था। कामरूप (असम) से लेकर सौराष्ट्र (काठियावाड़) और विन्ध्य से लेकर हिमालय तक विस्तृत उसके राज्य में सर्वत्र उसकी न्यायपरायणता की प्रशंसा की जाती थी। राज्याधिकारियों द्वारा प्रजा पर किसी भी प्रकार का अन्याय न होने पावे, इसके लिए वह स्वयं भी राज्य का भ्रमण करता और प्रजा के कष्टों का निवारण करता था।

राजसत्ता के प्रति उसकी कतई अभिरुचि नहीं थी। अपने भाई के गौड़ाधिप द्वारा मारे जाने के कारण उसको राजगद्दी सँभालनी पड़ी थी। संभवतः अपने भाई के प्रतिशोध की भारी तपन उसके क्षत्रियोचित मन को

अशान्त किए थी। इसी उद्देश्य से उसने राज्य का भार स्वीकार किया था। उसके ज्ञानप्रवण हृदय में विद्या के प्रति परम अनुराग और विद्वानों के लिए गहरी निष्ठा थी। गुप्तों के समय से चले आते विश्वविख्यात नालन्दा के महान् विद्या-निकेतन में उसके समय दस हजार विद्यार्थियों के निवास और अध्ययन की पूरी सुविधा थी। वहाँ सिंहल, सुवर्णद्वीप, यवद्वीप, कम्बोजद्वीप, चम्पाद्वीप, चीन, तुषार और पारस आदि अनेक देशों से विद्यार्थी शिक्षा-लाभ करके ज्ञान की महान् थाती को साथ ले जाते थे। बड़े-बड़े राजा और पराक्रमी सामन्त उसके वशंवद थे। इसी प्रकार उसकी राजसभा में अनेक पंडितों, कवियों और बौद्ध-जैन ब्राह्मण-विद्वानों का समान आदर होता था। बाण, मयूर, दिवाकर और ईशान प्रभृति संस्कृत एवं लोकभाषा के कवियों तथा लेखकों के कारण उसकी राजसभा ज्ञान का केन्द्र समझी जाती थी। राजशेखर, पद्मगुप्त, पीयूषवर्ष जयदेव, सोड्ढलक और दामोदरगुप्त प्रभृति अनेक ग्रंथकारों ने बाण, मयूर तथा दिवाकर आदि हर्ष के सभा-पंडितों की तरह-तरह से प्रशंसा की है। वह वीर और विजेता होने के साथ-साथ विद्वान् भी था और इसीलिए अपने राजकवियों की काव्य-चर्चाओं में सक्रिय भाग लिया करता था।

चीन का विद्वान् भिक्षु ह्वेनत्सांग हर्ष के ही शासन-काल में भारत आया था और पन्द्रह वर्ष (६३० ई० से ६४५ ई० तक) यहाँ रहा। वह हर्ष की राजधानी में भी गया था, जहाँ कि उसका बड़ा राजकीय संमान हुआ। नालन्दा के तत्कालीन तार्किकश्रेष्ठ आचार्य धर्मकीर्ति से हर्ष का साक्षात्कार हुआ था। आचार्य धर्मकीर्ति के सहयोग से हर्ष ने बौद्धधर्म तथा बौद्धदर्शन का ज्ञान प्राप्त किया था। उसके जीवन में कठोर सत्यवादिता का समावेश धर्मकीर्ति के ही सत्संग से हुआ था।

स्थितिकाल

क्योंकि 'हर्षचरित' और ह्वेनत्सांग तथा ईत्सिंग के यात्रा-विवरणों में हर्ष की प्रामाणिक जीवनी सुरक्षित है। अतः उसके स्थितिकाल के संबंध में भी कोई मतभेद नहीं है। वह छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और ६०६–६४८ ई० लगभग ४२ वर्ष उसने राज्य किया।

हर्ष की कृतियाँ

'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' और 'नागानन्द', हर्ष के नाम से इन तीन कृतियों का उल्लेख मिलता है। इनमें 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' तो नाटिकायें हैं और 'नागानन्द' नाटक। ईसा की सातवीं शताब्दी में, 'भागवत' में वर्णित रासक्रीड़ा के आधार पर, एक नई नाटक शैली का उल्लेख चीनी यात्री ईत्सिंग ने किया है। उसने अपने यात्रा-विवरण में हर्ष को 'नागानन्द' नाटक का रचयिता कहा है। उसके कथन से यह भी विदित होता है कि महाराज हर्ष (शीलादित्य) ने बोधिसत्व जीमूत-वाहन के आत्मबलिदान की कथा को संगीतबद्ध करके, नृत्य-संगीत-कलाविद् अभिनेताओं के द्वारा उसका अभिनय कराया था। महाराज हर्ष ने जीमूतवाहन के आत्मबलिदान की कथा को लेकर इस अभिप्राय से 'नागानन्द' की रचना की थी जिससे कि जनसाधारण में जीमूतवाहन की कथा के प्रचार के साथ-साथ नाटक भी लोकविश्रुत हो सके। इसी प्रकार दामोदर गुप्त ने अपने 'कुट्टिनीमत' में 'रत्नावली' का निर्माता राजा हर्ष को बताया है और उसकी काव्य-चातुरी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बाण के 'हर्षचरित' में भी हर्ष के काव्य-कौशल का विस्तार से वर्णन देखने को मिलता है।

हर्ष के कृतित्व के सम्बन्ध में मतभेद

हर्ष के विद्वत्सेवी और स्वयमेव एक अच्छा विद्वान् होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है; किन्तु उसके नाम से जिन तीन रूपकों का उल्लेख किया गया है उसके सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद रहा है। कीथ ने तो इन तीनों रूपकों की समीक्षा करके यह सिद्ध किया है कि इनमें कहीं भी हर्ष के राज्यकाल में घटित किसी भी घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। कीथ के मतानुसार ये कृतियाँ हर्ष की न होकर बाण की थीं। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि हर्ष के किसी अज्ञात राजकवि ने इन रूपकों को लिखकर हर्ष के नाम से प्रचारित किया।

हर्ष के कृतित्व के सम्बन्ध में इस प्रकार के भ्रम का बीजारोपण आचार्य मम्मट की इस उक्ति से हुआ है, जिसमें उन्होंने काव्य के प्रयोजनों में अर्थ-

प्राप्ति को भी एक प्रयोजन मानते हुए लिखा है कि 'हजारों महाकवि, कविता देवी की पूजा करके लक्ष्मी के कृपापात्र बन गये ; जैसे धावकादि कवियों ने हर्ष से असंख्य धन प्राप्त कर यह सिद्ध कर दिया।' मम्मट की इस उक्ति का कुछ टीकाकारों ने यह अर्थ किया है कि धावक कवि ने हर्षवर्धन के नाम से 'रत्नावली' की रचना करके विपुल संपत्ति पाई थी ! 'काव्यप्रकाश' की कुछ काश्मीरी हस्तलिखित प्रतियों में धावक के स्थान पर बाण का नाम दिया गया है, जिसके आधार पर यह भी कहा जाता है कि बाण ने ही 'रत्नावली' की रचना की थी।

किन्तु मम्मट की उक्ति का यह अर्थ लगाना उचित नहीं जान पड़ता है। उसका केवल इतना ही आशय है कि काव्यरचना से कवियों को अर्थलाभ भी होता है। इसके साथ दूसरी बातों को जोड़ना उचित नहीं है। जहाँ तक हर्ष द्वारा धावक को दान देने का सम्बन्ध है, यह कोई नई बात नहीं है। हर्ष वस्तुतः ऐसा ही अद्भुत दानी था। न्यायपरायणता और दानशीलता उसके स्वभाव में दो ऐसे गुण थे, जिनके सम्बन्ध में न तो सन्देह किया जा सकता है और जिनको ऐसा कह कर लांछित नहीं किया जा सकता है। वह लक्ष्मीश्वर होने के साथ-साथ 'श्रीहर्ष' और 'गीहर्ष' भी था।

इसलिए इन कृतियों को हर्षकृत न मानने के लिए कोई कारण नहीं दिखाई देता। इन कृतियों को धावक या बाण पर आरोपित करना भी उचित नहीं जान पड़ता है।

प्रियदर्शिका

'प्रियदर्शिका' चार अङ्कों की नाटिका है। इसका कथानक गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से उद्धृत है और इसकी रचनाशैली पर कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' का प्रभाव है। इसमें वत्स के सम्राट् उदयन और महाराज दृढवर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका की रोचक प्रणयकथा वर्णित है। इस नाटिका का नामकरण उसकी नायिका के नाम से हुआ है।

नाटिका के प्रथम अङ्क में विनयवसु और दृढवर्मा का प्रवेश होता है। राजा दृढवर्मा के राज्य पर कलिंग का अधिपति सहसा ही आक्रमण कर देता है। दोनों राजाओं के बीच का यह संघर्ष बढ़ता जाता है। इसी बीच दृढवर्मा

की पुत्री प्रियदर्शिका को वत्स देश का सेनापति विजयसेन, उदयन के दरबार में ले आता है। राजा उदयन उसको वासवदत्ता को सौंप देता है और वह उसकी शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध कर देती है।

द्वितीय अङ्क में, वासवदत्ता के लिए पुष्पचयन करती हुई प्रियदर्शिका से उदयन की भेंट होती है। प्रियदर्शिका को कमलों पर लगे भ्रमर त्रस्त करते हैं। वह रक्षा हेतु चिल्लाने लगती है। इतने ही में पास के लताकुंज से प्रकट होकर उदयन उसकी रक्षा करता है; और इसी प्रथम भेंट में दोनों में प्रेमराग पैदा हो जाता है। प्रियदर्शिका की सखी दोनों को एकाकी छोड़ कर चली जाती है। इस प्रकार उन दोनों को पारस्परिक वार्तालाप का समय मिल जाता है।

तृतीय अङ्क में लोक के मनोरञ्जनार्थ राजदरबार में वासवदत्ता तथा उदयन की कथा पर एक रूपक का अभिनय किया जाता है। नाटक में अपना पार्ट स्वयं वत्सराज उदयन अभिनीत करते हैं; किन्तु वासवदत्ता की जगह प्रियदर्शिका को (आरण्यका) नियुक्त किया जाता है। यह अभिनय दर्शकों के मनोरञ्जन मात्र तक सीमित न रह कर वास्तविक हो जाता है। अर्थात् उन दोनों का प्रेम प्रत्यक्ष होकर सर्वाविदित हो जाता है। यह देख कर वासवदत्ता का क्रोधानल भड़क उठता है। वह राजा से भी रुष्ट हो जाती है।

चतुर्थ अङ्क में वासवदत्ता के आदेश पर प्रियदर्शिका को वन्दी बनाकर कारावास में डाल दिया जाता है। ठीक इसी समय वत्सराज उदयन की सहायता से दृढवर्मा के कलिंग-विजय की सूचना मिलती है। इसी बीच दृढवर्मा का कंचुकी आता है और उसके द्वारा वासवदत्ता को प्रियदर्शिका के वास्तविक परिचय का पता लगता है। वासवदत्ता, उदयन के साथ उसका विवाह करा देती है।

रत्नावली

इस नाटिका में भी चार अङ्क हैं और उसका विषय सिंहल देश की राजकुमारी रत्नावली तथा महाराज उदयन की प्रेम कथा है। नाटिका के पहले अङ्क में दिखाया जाता है कि उदयन के मंत्री यौगन्धरायण का ज्योतिषियों की

वाणी पर यह विश्वास है कि राज्य की उन्नति के लिए रत्नावली के साथ उदयन का विवाह हो जाना परमावश्यक है। इस कार्य को संपन्न करने के लिए उदयन की राजमहिषी वासवदत्ता के सम्बन्ध में यह अफवाह फैला दी जाती है कि वह अग्नि में जलकर दिवंगत हो गई है। सिंहलनरेश अपनी पुत्री रत्नावली (सागरिका) को मंत्री वसुमति तथा कंचुकी के साथ उदयन के निकट भेज देता है। अकस्मात् ही समुद्र में जहाज के टूट जाने से रत्नावली, कौशाम्बी नामक एक व्यापारी की सहायता से, वासवदत्ता की शरण में आश्रय पा लेती है। वहाँ उसको परिचारिका का कार्य सौंप दिया जाता है और सागरिका नाम से उसका नया नामकरण होता है। परम रूपसी होने के कारण उसको वासवदत्ता, महाराज से छिपा कर रखती है। किन्तु मदन-महोत्सव के एक सुहावने अवसर पर उदयन और सागरिका का साक्षात्कार हो जाता है। दोनों एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हो जाते हैं; किन्तु उचित अवसर न मिलने के कारण दोनों में कुछ बात नहीं हो पाती है।

दूसरे अंक में सागरिका अपनी सखी सुसंगता से उदयन के प्रति अपनी प्रेमासक्ति को प्रकट करती है कि इसी बीच सागरिका के संरक्षण में राजकीय कपिशाला का एक बन्दर और एक तोता भाग जाता है। दोनों सखियों के कोलाहल को सुनकर राजा और विदूषक घटनास्थल पर आ पहुँचते हैं। सुसंगिता वहाँ से खिसक जाती है। दोनों की कुछ बातें हो ही रही थीं कि वासवदत्ता भी वहाँ आ धमकती है और बिना कुछ कहे ही आवेश में वहाँ से चली जाती है।

तीसरे अंक में दोनों प्रेमी-प्रेमिका के मिलन के लिए विदूषक यह षड्यंत्र रचता है कि सागरिका, वासवदत्ता के और सुसंगिता, सागरिका के वस्त्र धारण कर महाराज से मिलें। इस षड्यन्त्र को वासवदत्ता सुन लेती है और महाराज की इस कुत्सित परस्त्री-कामना से उसको बड़ा क्रोध आता है। सागरिका उसी वेश में उदयन से मिलती है। इतने ही में वासवदत्ता भी जा पहुँचती है और यह देखकर उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठती है।

चौथे अंक में सागरिका को कारावास में डाल दिया जाता है; किन्तु प्रकट रूप में यह फैला दिया जाता है कि उसको उज्जयिनी भेज दिया गया

है। इतने ही में एक ऐन्द्रजालिक (जादूगर) राजा को जादू दिखाने आता है। जब वह खेल दिखाता रहता है उसी समय अन्तःपुर में आग की लपटें दिखाई देती हैं। वासवदत्ता को भय होता है कि कहीं सागरिका आग में भस्म न हो जाय। इसलिए उसकी रक्षा के लिए वह राजा से याचना करती है। राजा आग में कूदकर उसको बचा लेता है। इसी समय सिंहल नरेश के मंत्री वसुभूति का प्रवेश होता है और वह सागरिका का वास्तविक परिचय देता है। बाद में मन्त्री यौगन्धरायण आता है और इतने बड़े षड्यन्त्र का रहस्य प्रकट करता है। वासवदत्ता खुश होकर रत्नावली को अपना लेती है और उसका उचित आदर करती है।

नागानन्द

'नागानन्द' में पाँच अंक हैं। वह नाटक श्रेणी का ग्रन्थ है। उसका कथानक बौद्ध-कथा पर आधारित है, जिसका मूल 'बृहत्कथा' और 'वैतालपंचविंशति' की कथाओं में पाया जाता है। इसके पूर्वार्द्ध में विद्याधर कुमार जीमूतवाहन तथा सिद्धकन्या मलयवती का प्रेम-वर्णन और उत्तरार्द्ध में जीमूतवाहन द्वारा गरुड़ के सर्प भक्षण-त्याग की रोचक कथा वर्णित है।

इस नाटक के पहले अंक में विद्याधरराज जीमूतकेतु की यह अभिलाषा है कि वे अपने पुत्र जीमूतवाहन को राज्याभिषिक्त करके स्वयं वानप्रस्थ जीवन ग्रहण कर लें; किन्तु परम पितृभक्त जीमूतवाहन राज्य को छोड़कर पिता की परिचर्या के लिए अपने मित्र आत्रेय के साथ वन को चल पड़ता है। पिता के लिए उपयुक्त स्थान की तलाश करता हुआ वह वह मलयपर्वत पर जाता है और वहाँ देवी गौरी के मन्दिर में उपासना करती हुई सिद्धराजपुत्री मलयवती से उसकी भेंट होती है। यहीं पर जीमूतवाहन को यह भी ज्ञात होता है कि देवी गौरी ने स्वप्न में मलयवती को यह वरदान दिया है कि कोई विद्याधरराज उसको पतिरूप में प्राप्त होगा। इस बात को उसने झाड़ी की ओट में छिपकर अपनी सखी से बोलती हुई मलयवती के मुँह से सुन लिया था। विदूषक दोनों के मिलने की व्यवस्था करता है; किन्तु बीच ही में एक संन्यासी के आ जाने से उनकी बात अधूरी ही छूट जाती है। इसी भेंट में दोनों में गहरा प्रेम-संबंध स्थापित हो जाता है।

दूसरे अंक में मलयवती के प्रेमातुर दृश्य का चित्रण किया गया है। यही अवस्था जीमूतवाहन की भी दिखाई गई है। इसी बीच मलयवती के भाई मित्रावसु का आगमन होता है। उसको जब बहिन की स्थिति का पता चलता है तो वह जाकर जीमूतवाहन के समक्ष अपनी बहिन के पाणि-ग्रहण का प्रस्ताव रखता है। संयोगवश मित्रावसु और जीमूतवाहन घनिष्ठ मित्र थे। किन्तु जीमूतवाहन को यह पता नहीं था कि मलयवती, मित्रावसु की बहिन है। इसलिए इस संबंध को वह अस्वीकार कर देता है। इसे सुन कर मलयवती आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है; किन्तु जीमूतवाहन उसको अपने दृढ़ प्रणय का आश्वासन देकर उसे ऐसा करने से रोकता है।

तीसरे अंक में जाकर सारी परिस्थिति का स्पष्टीकरण होता है और यहीं पर दोनों का विवाह हो जाता है।

चौथे अंक में जीमूतवाहन और मित्रावसु एक साथ भ्रमण करने के लिए समुद्रतट पर जाते हैं। मार्ग में उन्होंने तत्काल वध किए गए कुछ सर्पों की हड्डियों का ढेर देखा। वहाँ पर शंखचूड नामक नाग की माता विलाप कर रही थी। उससे उन्हें विदित हुआ कि प्रतिदिन गरुड़ के लिए एक सर्प की भेंट चढ़ाई जाती है और आज उसके इकलौते पुत्र शंखचूड की बारी है। जीमूतवाहन यह प्रतिज्ञा करके बलिदान स्थान पर बैठ गया कि आज शंखचूड की जगह गरुड़राज उसी का आहार करेगा। गरुड़ आता है और जीमूतवाहन को अपनी चंचु से उठाकर मलयपर्वत पर ले जाता है।

पाँचवें अंक में जीमूतकेतु और विश्वावसु इस चिन्ता में व्याकुल दिखाई देते हैं कि अब तक जीमूतवाहन वापस नहीं आया है। इतने ही में रक्त-मांस से सनी हुई जीमूतवाहन की चूड़ामणि भूमि पर आ गिरती है। वे सभी उसको खोजने के लिए निकल पड़ते हैं। रास्ते में उनकी भेंट शंखचूड नाग से होती है और तब उन्हें सारी दुर्घटना का पता चलता है। शीघ्र ही वे मलयपर्वत की ओर चल पड़ते हैं। वहाँ पहुँच कर शंखचूड नाग गरुड़राज को एक निरपराधी दयावान् व्यक्ति का आहार करने की बात सुनाता है। गरुड़ को अपनी गलती पर बड़ा पश्चात्ताप होता है। इधर जीमूतकेतु आदि भी आत्महत्या के लिए प्रस्तुत है। इतने ही में देवी गौरी आकर प्रकट होती हैं

और जीमूतवाहन में प्राणसंचार करती हैं। दूसरे सर्पों को वह भी पुनरुज्जीवित करती हैं। गौरी प्रसन्न होकर जीमूतवाहन को विद्याधरों का चक्रवर्ती बना देती हैं; और इस प्रकार गरुड़राज की भविष्य में किसी सर्प का वध न करने की प्रतिज्ञा के साथ भरतवाक्य से नाटक को समाप्त किया गया है।

नाटकीय संविधान

हर्ष के युग तक नाटककारों का ध्यान भरत के नाट्यशास्त्रीय विधानों की ओर अधिकता से आकर्षित होने लगा था। इससे पूर्व यद्यपि संस्कृत में नाटकों की विकसनशील परम्परा का अच्छा उदाहरण भास, कालिदास और 'मृच्छकटिक' के रचयिता प्रस्तुत कर चुके थे; किन्तु उनके नाटकों में भरत के शास्त्रीय संविधानों का अनुकरण मात्र नहीं है। हर्ष में हमें यह बात नहीं दिखाई देती है। उसकी नाटिका 'रत्नावली' में दृश्यकाव्य के शास्त्रीय संविधान का पूरी तरह पालन किया गया है। 'रत्नावली' संस्कृत-साहित्य की पहली सफल नाटिका है, जिसमें शास्त्रीय सिद्धान्तों का पूरी तरह से पालन किया गया है। उसमें रंगमंच पर अभिनय करने योग्य सभी विशेषतायें हैं। शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से यद्यपि भट्ट नारायण का 'वेणीसंहार' भी उत्तम नाटक है; किन्तु कलात्मक संयोजन की दृष्टि से 'रत्नावली' की अपेक्षा वह न्यून हीं ठहरता है।

हर्ष की नाटिकाओं पर कालिदास के कृतित्व का बड़ा प्रभाव दिखाई देता है। 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' दोनों पर 'मालविकाग्निमित्र' का पर्याप्त प्रभाव है। उदयन और अग्निमित्र, दोनों का अन्तःपुर की सुन्दरियों से प्रेम करना 'मालविकाग्निमित्र' के अन्तःपुर-प्रणय का अनुकरण है। 'मालविकाग्निमित्र' में पाँच अंक होने के कारण उसको नाटकों की कोटि में रखा गया है। नाटकों की कोटि में रखने के लिए यही एकमात्र गुण उसमें विद्यमान है। अन्यथा उसका सारा रचना-विधान नाटिका के उपयुक्त है; और इस दृष्टि से हर्ष की 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' से उसकी पूरी समता है। इसलिए हर्ष की ये दोनों नाटिकायें 'मालविकाग्निमित्र' की पद्धति पर रची गयी हैं।

भास के 'स्वप्नवासवदत्त' का प्रभाव भी हर्ष की नाटिकाओं पर लक्षित होता है। 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' दोनों नाटिकाओं का नायक वत्सराज

उदयन दशरूपककार धनंजय के मतानुसार धीरललित है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' की लावाणकदाह वाली घटना का संकेत 'रत्नावली' में देखने को मिलता है।

'प्रियदर्शिका' में हर्ष के रचना-नैपुण्य तथा कल्पना-चातुरी का पूर्ण परिपाक हुआ है। यद्यपि उसने इस नाटिका के कथानक को 'बृहद्कथा' के परिवर्तित संस्करणों 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' से लिया है; फिर भी अपनी उदात्त कल्पना के द्वारा उसने इस कृति को अधिक चमका दिया है। वत्सराज उदयन की कथा महाकवि कालिदास से भी पहले लोककथाओं के रूप में प्रचलित हो चुकी थी। इसी लोकप्रिय कथानक को 'प्रियदर्शिका' में निबद्ध किया गया है।

'प्रियदर्शिका' में कुछ कमियाँ भी हैं। एक बात तो यह है कि उसका कथानक बड़ी ही शिथिल गति से आगे बढ़ता है। दूसरी बात यह कि नाटिका के प्रथम अंक में नायक-नायिका के पूर्वराग का बीज दर्शित नहीं किया गया। 'प्रियदर्शिका' के तीसरे अंक में गर्भांक की सुयोजना कवि के नाट्य-कौशल का अच्छा उदाहरण है। हर्ष को यह प्रेरणा संभवतः 'मालविकाग्निमित्र' के नृत्य वाले दृश्य से मिली है, यद्यपि दोनों प्रसंगों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर स्पष्ट है कि हर्ष ने उसमें पर्याप्त परिमार्जन किया है। दूसरे अंक में प्रियदर्शिका को भौंरों से त्रस्त दिखाना भी 'अभिज्ञानशकुन्तल' का प्रभाव है।

नाटकीय संविधानों की दृष्टि से जो कृतियाँ 'प्रियदर्शिका' में दृष्टिगत होती हैं, 'रत्नावली' में उनका परिमार्जन किया गया है। उसके प्रथम अंक में कामदेवपूजा के अवसर पर नायक-नायिका का पूर्वराग दिखाना वह नहीं भूला है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटक के शास्त्रीय संविधानों में अपनी पूर्ण जानकारी दर्शित करने के लिए हर्ष ने 'रत्नावली' की रचना की है। फिर भी एक लोकप्रिय कथानक को लेकर अपनी कविप्रतिभा के द्वारा उसको हर्ष ने इतना चमकाया कि उसकी यह कृति न केवल काव्यशास्त्रीय आचार्यों के लिए उद्धरणीय वस्तु के रूप में सीमित होकर रह गई, बल्कि काव्य-रसिकों के लिए भी उसने एक उत्कृष्ट वस्तु प्रदान की। उसमें पाँच सन्धियों का पूर्ण परिपाक हुआ है। वह अभिनय की दृष्टि से भी सफल कृति है।

इन दोनों नाटिकाओं की तुलना करने पर विदित होता है कि 'प्रिय-

दर्शिका' की अपेक्षा 'रत्नावली' का नाटकीय संविधान और कथात्मकता; दोनों में प्रौढता है। यद्यपि इस प्रकार एक ही कथावस्तु को लेकर दो नाटिकाओं की रचना करना कीथ की दृष्टि से दोषपूर्ण है; किन्तु 'प्रियदर्शिका' की त्रुटियों को दूर करने के लिए 'रत्नावली' करके हर्ष ने इस दोष का परिमार्जन कर दिया है।

'नागानन्द' की स्थिति उक्त दोनों नाटिकाओं की अपेक्षा भिन्न है। नाटक के मंगलाचरण और भरतवाक्य में यद्यपि बौद्ध प्रभाव का संकेत है; फिर भी उसकी प्रमुख कथावस्तु में गौणता है। कथावस्तु की दृष्टि से यह नाटक दो भागों में विभक्त है। प्रथम तीन अंकों में प्रणयकथा है और इसलिए अन्य दो नाटिकाओं की भाँति 'नागानन्द' का यह अंश प्रणयप्रधान है। उत्तरार्द्ध के दो अंकों की वस्तु दयावीरत्व की द्योतक है। इस प्रकार व्यापारान्विति की दृष्टि से 'नागानन्द' एक सफल कृति नहीं है। नाटकीय दृष्टि से भी यह त्रुटिपूर्ण है।

(६) भवभूति

जीवनी

संस्कृत-साहित्य में कालिदास की ही भाँति भवभूति का भी एक प्रतिष्ठित स्थान माना गया है। जहाँ तक उनके जीवनवृत्त का सम्बन्ध है, उनके बारे में भी अपर्याप्त जानकारी उपलब्ध है। उनके नाटकों की प्रस्तावना से उनके जीवनवृत्त-सम्बन्धी जो सूत्र उपलब्ध हैं उनके अनुसार वे आधुनिक बम्बई राज्य के अन्तर्गत विदर्भ (बरार) अंचल में स्थित पद्मपुर के निवासी थे। वे विशुद्ध वैदिक वंश के ब्राह्मण थे। वे कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी काश्यपगोत्रीय उदुम्बर ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम नीलकण्ठ, माता का नाम जतुकर्णी और पितामह का नाम गोपालभट्ट था। उनका पाँचवाँ पूर्वज महाकवि नामक व्यक्ति याज्ञिक विद्वान् था। डॉ० भांडारकर ने लिखा है कि पद्मपुर के निकट महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों का एक कुल आज भी विद्यमान है, जो कि भवभूति की वंश-परंपरा में-से है। उन्होंने अपने गुरु का नाम 'ज्ञाननिधि' बताया है। आधुनिक खोजों के

अनुसार प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट को ही भवभूति ने 'ज्ञाननिधि' नाम से स्मरण किया है।

भवभूति का पितृप्रदत्त नाम श्री कण्ठभट्ट था, जैसा कि उन्होंने अपने नाटकों की प्रस्तावना में 'भट्टश्रीकण्ठपदलांछनो भवभूतिर्नाम' यह लिखकर सूचित किया है। भवभूति उनका नामकरण लोक में कैसे प्रचलित हुआ, इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि देवी पार्वती की वन्दना करते हुए श्रीकण्ठभट्ट ने :

'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः'

अथवा

'गिरिजायाः स्तनौ वन्दे भवभूतिसिताननौ'

इन पद्यों में 'भवभूति' शब्द का बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है। 'भवभूति' शब्द के इस उपयुक्त प्रयोग से प्रभावित होकर काव्यरसिक पंडितों ने श्रीकंठ भट्ट को 'भवभूति' के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त समझा।

भवभूति और उम्बेक

भवभूति का एक नाम उम्बेक भी बताया जाता है। कुछ विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं और कुछ नहीं भी करते हैं। जो विद्वान् भवभूति और उम्बेक को एक ही व्यक्ति मानते हैं उनकी स्थापनायें इस प्रकार हैं :

१. कुछ दिन पूर्व श्री शंकर पाण्डुरंग को 'मालतीमाधव' की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई थी। उसके तीसरे अंक की पुष्पिका में लिपिकार ने उसका रचयिता 'कुमारिल के प्रभाव से वाग्वैभव प्राप्त करने वाला उम्बेकाचार्य' लिखा है। कुमारिल भट्ट और उम्बेकाचार्य का सम्बन्ध स्पष्ट है। उम्बेक ने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' पर प्रसिद्ध टीका लिखी है; और उस पांडित्यपूर्ण टीका के कारण मीमांसादर्शन के क्षेत्र में उम्बेक को कुमारिल जितनी ख्याति प्राप्त है।

२. प्रत्यग्रूप भगवान् (१३००–१४०० ई०) ने चित्सुखाचार्य की 'तत्त्व-प्रदीपिका' पर 'नयनप्रसादिनी' नामक टीका लिखी है। इस टीका में उन्होंने उम्बेक का कई बार उल्लेख किया है और एक स्थान पर (चित्सुखी-टीका,

पृ० २६५ ; इण्डिया आफिस, लन्दन में सुरक्षित) उनको भवभूति से अभिन्न बताया है।

३. श्री हर्ष (११०० ई०) के प्रसिद्ध वेदान्त ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' पर आनन्दपूर्ण ने 'विद्यासागरी' टीका लिखी है। अपनी इस टीका में उन्होंने 'श्लोकवार्तिक' के दो श्लोकों को उद्धृत किया है और इसी प्रसंग में उम्बेक को भी स्मरण किया है।

४. बोधघनाचार्य ने अपनी पुस्तक 'तत्त्वशुद्धि' में उम्बेक के मत को उपेक्षा की दृष्टि से याद किया है।

५. हरिभद्र (११०० ई०) के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'षट्दर्शनसमुच्चय' पर गुणरत्न नामक एक विद्वान् ने १४०९ ई० में टीका लिखी है। अपनी इस टीका के एक श्लोक में गुणरत्न ने प्रभाकर, वामन और रेवण आदि मीमांसकों के साथ उम्बेक को 'कारिका' (श्लोकवार्तिक) का अच्छा ज्ञाता बताया है।

६. मण्डन मिश्र के 'भावनाविवेक' पर उम्बेक की व्याख्या प्रकाशित हो चुकी है। शंकराचार्य द्वारा दीक्षित होने पर मण्डन मिश्र की सुरेश्वराचार्य नाम से प्रसिद्ध हुई थी। 'शंकरदिग्विजय' में मण्डनमिश्र का एक नाम विश्वरूपाचार्य भी उल्लिखित है। इन्हीं विश्वरूपाचार्य ने 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर 'बालक्रीडा' नामक टीका और उसी पर यतीश्वर वेदान्तिन् ने 'विभावना' नाम से एक उपटीका लिखी थी। इस उपटीका के आरंभिक मंगलाचरण श्लोक में भवभूति को सुरेश्वर और विश्वरूप, इन दो उपनामों के साथ, प्रणाम किया गया है।

इसलिए इस मत के मानने वाले विद्वानों का कथन है कि नाटककार भवभूति ही मीमांसा दर्शन के क्षेत्र में उम्बेक नाम से प्रसिद्ध हुआ और वही बाद में शांकर दर्शन में दीक्षित होने के कारण सुरेश्वराचार्य नाम से प्रकाश में आया।

इस मत के विपरीत जो विद्वान् भवभूति और उम्बेक को दो व्यक्ति मानते हैं उनका कथन है कि भवभूति के नाटकों की प्रस्तावना में उद्धृत उनके पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ तथा वेद, उपनिषद् और काव्यशास्त्र के ज्ञाता होने के

कारण उक्त विद्वानों ने उम्बेक तथा सुरेश्वर से उनकी अभिन्नता स्थापित की है। वास्तविकता यह नहीं है।

भवभूति के सम्बन्ध में यह प्रश्न आज भी विवादास्पद है और इसका पूरा समाधान न होने तक निश्चयात्मक रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि भवभूति बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् थे। वेद, उपनिषद्, दर्शन, व्याकरण, काव्यशास्त्र और काव्य-नाटक आदि अनेक विषयों में उनका समान प्रवेश था।

भवभूति, शिव के उपासक थे और उनके तीनों नाटकों की प्रस्तावना में हमें यह संकेत मिलता है कि अपनी इसी शिव-भक्ति की प्रेरणा से उन्होंने अपने नाटकों को उज्जयिनी के भगवान् कालप्रियनाथ के समक्ष अभिनीत होने के लिए लिखा था।

भवभूति के नाटकों का अनुशीलन करने पर ऐसा विदित होता है कि आरंभ में उन्होंने बड़े कष्टपूर्ण दिनों का सामना किया। समाज में उनके नाटकों का संमान नहीं हुआ; बल्कि कुछ लोगों ने उनकी खिल्ली तक उड़ाई। 'उत्तर-रामचरित' में इसीलिए उन्हें लिखना पड़ा कि 'लोगों की बदनामी से बचा नहीं जा सकता है। कुछ संकुचित प्रवृत्ति के लोगों का तो यह स्वभाव ही हो गया है कि अच्छी-वस्तु में भी वे दोष निकाल कर रख देते हैं।' इसी हेतु खिन्न होकर 'मालती-माधव' में उन्हें कहना पड़ा :

'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥'

अर्थात् मेरा यह नाटक उन मूर्खों के लिए नहीं है, जो मेरी अवज्ञा करते हैं। समय अनन्त और पृथ्वी असीमित है। अवश्य ही कभी-न-कभी किसी-न-किसी स्थान पर मेरे समान व्यक्ति पैदा होगा, जो कि मेरी प्रतिभा का मूल्य आँक सकेगा।

'महावीरचरित' और 'मालतीमाधव' की प्रस्तावना से ऐसा विदित होता है कि भवभूति की नटों से बड़ी घनिष्ठता थी और नाटक-मंडलियों से उनका

बड़ा प्रेम था। कुछ असंभव नहीं कि बाल्यकाल में उन्होंने इस प्रकार की नाटक-मण्डलियों में सक्रिय भाग लिया हो; या अपने इसी प्रेम के कारण उन्होंने नाटक लिखना आरंभ किया हो, क्योंकि जैसा कि प्रमाणित है कि उनके नाटक अभिनय के लिए लिखे गये थे; और उज्जयिनी में कालप्रियनाथ (महाकाल महादेव) के उत्सव पर उन्हें खेला भी गया था।

स्थितिकाल

भवभूति ने यद्यपि अपने नाटकों में कहीं भी अपने स्थितिकाल के संबंध में कोई संकेत नहीं किया है; फिर भी इतिहासकारों ने कुछ ऐसे प्रमाण खोज निकाले हैं, जिनके आधार पर भवभूति का समय निर्धारित किया जा सकता है। जीवितावस्था में भवभूति को भले ही यथेष्ट संमान प्राप्त न हुआ हो; किन्तु उसके बाद संस्कृत के ग्रन्थकारों ने उनकी कृतियों को अपनाया और सराहा। मम्मट (११०० ई०), धनंजय (९९५ ई०), सोमदेव (९५९ ई०), राजशेखर (९०० ई०) और वामन आदि अनेक उच्चकोटि के विद्वानों ने अपनी कृतियों में भवभूति के ग्रन्थों के उद्धरण दिए। राजशेखर ने अपने को भवभूति का अवतार मानते हुए लिखा है कि 'पुराकाल में इस पृथ्वी पर वाल्मीकि का जन्म हुआ था। उन्हीं का अवान्तर रूप भर्तृमेंठ, वही भर्तृमेंठ भवभूति के नाम से अवतरित हुए और उन्हीं भवभूति का अवतार यह राजशेखर है :

> 'बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
> स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥'

इस दृष्टि से भवभूति को वामनाचार्य (८०० ई०) से पूर्व होना चाहिए।

कल्हण की 'राजतरंगिणी' (११४८ ई०) से हमें भवभूति के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनायें देखने को मिलती हैं। उसने एक श्लोक (४।१४४) में लिखा है कि कन्नोज के राजा यशोवर्मा के यहाँ दो कवि रहा करते थे : भवभूति और वाक्पतिराज :

'कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥'

कुछ विद्वानों का कथन है कि वाक्पतिराज, भवभूति के शिष्य थे। भवभूति ने यद्यपि अपने इस सहयोगी या शिष्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है; किन्तु वाक्पतिराज ने अपने प्राकृत ग्रन्थ 'गउडवहो' में राजा यशोवर्मा का यशोगान और भवभूति की कविता की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है :

'भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति ।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु ॥'

इससे भवभूति और वाक्पतिराज का यशोवर्मा का राजकवि होना सिद्ध हो जाता है।

यशोवर्मा का ऐतिहासिक परिचय स्पष्ट है। राजतरंगिणीकार (४।१३४) ने लिखा है कि काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ ने यशोवर्मा को परास्त किया था। डॉ० स्टीन ने 'राजतरंगिणी' की भूमिका में, ललितादित्य द्वारा यशोवर्मा के परास्त होने की इस घटना को ७३६ ई० से पहले की बताया है। इस उल्लेख से भी भवभूति के स्थितिकाल के लिए बड़ी सहायता मिलती है।

यशोवर्मा कान्यकुब्ज का अधिपति था। कान्यकुब्ज, जिसको संप्रति कन्नौज कहा जाता है और जो उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद में स्थित है, अपने नामकरण का इतिहास रखता है। 'रामायण' में लिखा है कि राजा कुश के लड़के कुशनाभ ने एक नगर बसाया था, जिसका नाम था 'महोदय'। वासुदेव ऋषि ने एक दिन क्रोध में आकर कुशनाभ की सौ कन्याओं को शाप दिया कि वे (कुब्ज) कुबड़ी हो जायँ। तभी से उस नगर का नाम कान्यकुब्ज, अर्थात् कुबड़ी कन्याओं का नगर, पड़ा। इसी कान्यकुब्ज में चंद्रवंश के प्रतापी राजा यशोवर्मा हुए। अपने यशस्वी स्वामियों के कारण भारतीय इतिहास में कान्यकुब्ज का बड़ा मान रहा है। विशाखदत्त के आश्रयदाता राजा अवन्तिवर्मा, बाण, मयूर, धावक और दिवाकर जैसे कवियों के संरक्षक महाराज हर्षवर्धन, जो स्वयमेव उच्चकोटि के नाटककार हुए, इसी कान्यकुब्ज के अधिपति थे।

हर्ष के बाद कान्यकुब्ज के शासक यशोवर्मा हुए। यशोवर्मा, राम के बड़े भक्त थे। 'रामायण' की कथा को लेकर उन्होंने 'रामाभ्युदय' नाटक लिखा था, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु जिसके अस्तित्व के प्रमाण काव्यशास्त्र के अनेक ग्रंथों में आज भी जीवित है। यशोवर्मा ८वीं शताब्दी के आरंभ में शासक नियुक्त हुए और ७३३ ई० के लगभग (जैसा कि चीन के इतिहास से भी विदित है) उनको काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने परास्त किया।

अतः भवभूति का स्थितिकाल ७००–७३३ ई० के आस-पास रखा जाना अधिक उपयुक्त बैठता है।

कृतित्व

भवभूति ने तीन नाटक लिखे, जिनके नाम हैं: 'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित'। इनमें-से प्रथम तो 'प्रकरण' है और बाद के दो नाटक हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन सूक्तिसंग्रहों में भी भवभूति के नाम से कुछ स्फुट कवितायें देखने को मिलती हैं; किन्तु उनका गौण स्थान है।

मालतीमाधव

इस प्रकरण रचना में १० अङ्क हैं, जिसमें कवि ने मालती और माधव की कल्पित प्रेमकथा को बड़ी ही संजीदगी से निबद्ध किया है। कुछ असंभव नहीं है कि इस कथानक को उन्होंने लोककथाओं या 'बृहत्कथा' के प्रसंगों से लिया हो; किन्तु अपनी उदात्त कल्पना के द्वारा उन्होंने इस कथा में जो रसाभिनिवेश किया है, वह असाधारण है।

नाटक के प्रथम अङ्क के आरंभ में मदनोत्सव का आयोजन दिखाया गया है, जिसमें मालती और माधव एक-दूसरे को देखते ही आकृष्ट हो जाते हैं। इसके बाद सखियों के सहित मालती चली जाती है और तब मकरन्द का प्रवेश होता है। माधव की वियोगावस्था के वर्णन के साथ ही पहला अङ्क समाप्त हो जाता है।

दूसरे अङ्क में पद्मावती-नरेश के मंत्री भूरिवसु अपनी पुत्री मालती का विवाह नन्दन के साथ करने के लिए उद्यत होते हैं। इधर कामन्दकी छिपे तौर पर मालती को माधव से विवाह करने के लिए तैयार कर लेती है।

तीसरे अङ्क में कामन्दकी शिवमन्दिर के निकट अशोकवन में मालती और माधव के मिलन की योजना बनाती है। माधव वहाँ पहले ही से छिपा बैठा होता है। लवंगिका, मालती को लेकर वहाँ आती है कि दोनों का मिलन होने से ही पूर्व पिंजड़े से एक शेर निकल भागता है, जिससे बड़ी भगदड़ मच जाती है। इतने ही में मकरन्द उसे मार डालता है। किन्तु इस घटना से माधव और मकरन्द, दोनों बेहोश हो जाते हैं।

चौथे अङ्क में मृतक सिंह के पास ही माधव और मकरन्द भी मूर्छितावस्था में दिखाई देते हैं। दोनों को होश में लाया जाता है। होश में आने पर मकरन्द, मालती के साथ उसकी सखी मदयन्तिका को देखता है। दोनों में परस्पर प्रेम पैदा हो जाता है। इसी अङ्क में विष्कंभ से यह सूचना मिलती है कि मालती का विवाह पद्मावती-नरेश के साला नन्दन के साथ तय हो गया है।

पाँचवें अङ्क में कापालिक अघोरघण्ट, मालती को कराला देवी को बलि देने के लिए पकड़ कर ले जा रहा है। मालती डर से चिल्लाती है कि पास ही श्मशान से माधव आ उपस्थित होता है और वह अघोरघण्ट को मार डालता है।

छठें अङ्क में एक ओर तो कपालकुण्डला अपने गुरु अघोरघण्ट का बदला लेने के लिए उद्यत दिखाई देती है और दूसरी ओर से राजा के सैनिक मालती को खोजते हुए श्मशान पर आते हैं। वहाँ उन्हें मालती मिल जाती है। पुनः मालती और नन्दन के विवाह की तैयारी की जाती है। इसी बीच एक ओर तो कामन्दकी की बुद्धिमत्ता से मालती की जगह मकरन्द के साथ नन्दन का विवाह हो जाता है और दूसरी ओर कामन्दकी, मालती को शिव के मन्दिर में ले जाकर माधव के साथ उसका गान्धर्व विवाह करा देती है।

सातवें अङ्क में नन्दन को सुहागरात मनाने के दृश्य में अङ्कित किया जाता है; किन्तु दुलहिन बना मकरन्द उसकी बुरी तरह से मरम्मत कर देता है। नन्दन उसको बुरा-भला कह कर वहाँ से चला जाता है। इतने में भाभी को समझाने के उद्देश्य से नन्दन की बहिन मदयन्तिका उस कक्ष में आती है; किन्तु मालती के वेश में मकरन्द को देख कर वह बड़ी विस्मित एवं प्रसन्न होती है।

आठवें अंक में मालती और माधव उद्यान में मदयन्तिका और मकरन्द की प्रतीक्षा करते हुए दिखाये जाते हैं; किन्तु तभी कलहंस आकर सूचना देता है कि मदयन्तिका को भगाने के अपराध में सैनिकों द्वारा मकरन्द पकड़ लिया गया है। अपने मित्र की रक्षा के लिए माधव, मालती को अकेली छोड़कर वहाँ से दौड़ पड़ता है। इधर उचित अवसर की तलाश में बैठी हुई कापलकुण्डला, मालती को भगाकर श्रीपर्वत पर ले जाती है। उधर सैनिकों और माधव-मकरन्द का भयंकर युद्ध होता है। राजा उनकी वीरता से प्रभावित होकर उन्हें छोड़ देता है।

नवें अंक में मकरन्द के साथ माधव विक्षिप्तावस्था में विन्ध्यपर्वत पर घूमता दिखाया जाता है। वह मालती के वियोग से व्याकुल है। ठीक इसी समय कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी का प्रवेश होता है और उसके द्वारा माधव को यह सूचना मिलती है कि मालती को बचाकर कुटिया में रखा गया है।

दसवें अंक में मालती का पिता भूरिवसु, कामन्दकी, लवंगिका और मदयन्तिका आदि मालती के शोक में संतप्त हैं, कि मकरन्द आता है और वह माधव-मालती के मिलन का शुभ समाचार देता है। बाद में उसका मदयन्तिका के साथ विवाह हो जाता है।

महावीरचरित

इस नाटक में ७ अङ्क हैं। 'रामायण' की कथा का पूर्वार्द्ध भाग—राम-विवाह, राम-वनवास, सीता-हरण और राम का राज्याभिषेक—इस नाटक की कथावस्तु है।

ऋषि विश्वमित्र यज्ञ की रक्षार्थ राम-लक्ष्मण के लिए दशरथ से याचना करते हैं। अनिच्छा होने पर भी दशरथ अपने दोनों पुत्रों को ऋषि के हाथ सौंप देते हैं। इसी यज्ञ को देखने के लिए जनकपुरी से महाराज जनक के छोटे भाई कुशध्वज, सीता और उर्मिला को साथ लेकर आते हैं। इन दोनों की राम और लक्ष्मण से भेंट होती है। इतने ही में रावण का दूत आता है और वह सीता को वरण करने के लिए रावण का सन्देश सुनाता है। दूत

की बात पूरी भी नहीं हो पाती कि भारी कोलाहल के साथ ताड़का का आश्रम में प्रवेश होता है। विश्वामित्र का संकेत पाकर राम उसको मार डालते हैं।

इसके बाद राम शिवधनु को भंग करते हैं और उनके साथ सीता का विवाह हो जाता है। यह समाचार दूत के द्वारा रावण तक पहुँच जाता है।

रावण के नीतिकुशल मंत्री माल्यवान् क्रोधी ब्राह्मण परशुराम को राम के विरुद्ध भड़काता है। परशुराम और राम का युद्ध होता है। उसमें परशुराम की हार होती है। इसके बाद माल्यवान् अपनी बहिन शूर्पणखा को, कैकेई की परिचारिका मन्थरा का छद्मवेष पहनाकर राम के पास, भेजता है। उसने राम को, कैकेई की ओर से लिखा गया एक पत्र दिया, जिसमें कैकेई के दो वरों के बदले राम को चौदह वर्ष का वनवास और भरत को राजगद्दी के लिए माँग की गई थी।

राम ने पत्र पढ़ा। माता की आज्ञा और पिता की संमति को वे कैसे टाल सकते थे? अतः लक्ष्मण तथा सीता के सहित वे वन को चले जाते हैं। इसके बाद वन में भी रावण की ओर से राम को बड़े-बड़े कष्ट झेलने पड़ते हैं। सीताहरण के कारण ये कष्ट पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं।

रावण की पत्नी मन्दोदरी तथा भाई विभीषण उसको बहुत समझाते हैं। वह नहीं मानता है। इसके बाद हनूमान द्वारा सीता का पता लगता है। राम-रावण का घमासान युद्ध होता है। रावण मारा जाता है और उसकी जगह विभीषण को राजगद्दी पर बैठाया जाता है। राम चौदह वर्ष की अवधि को बिताकर पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या को लौट आते हैं और वहाँ उनका राज्याभिषेक होता है।

उत्तररामचरित

'उत्तररामचरित' में ७ अङ्क हैं, जिनमें राम के जीवन की उत्तरार्ध कथा को निबद्ध किया गया है।

नाटक के पहले अङ्क में नान्दीपाठ के बाद सूत्रधार नाटककार का परिचय देता है। इसके बाद नाटक की प्रस्तावना से हमें विदित होता है कि कुलगुरु

वसिष्ठ की निगरानी में राम की मातायें अरुन्धती को साथ में लेकर ऋष्यश्रृंग के द्वादशवर्षीय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए चली गई हैं। इसी समय राम अन्तःपुर में सीता के पिता-वियोग पर उसे दिलासा देते हैं। अष्टावक्र जाते हैं और वे राम-सीता को वसिष्ठ तथा अरुन्धती के आशीर्वाद की सूचना देते हैं। अष्टावक्र के बाद लक्ष्मण का प्रवेश होता है और वह खेद ग्रस्त सीता के मनोविनोद के लिए राम के विगत जीवन की कथा को चित्रपट में दिखाते हैं। चित्रपट में सीताजी गंगा को देखती हैं और राम से, पुनः वन-विहार तथा गंगास्नान के लिए आग्रह करती हैं। राम, गर्भवती सीता की इच्छा को पूरा करने के लिए लक्ष्मण को यह कार्यभार सौंपते हैं। इसके बाद सीता सो जाती हैं। इसी बीच लोकवृत्त को जानने के लिए भेजा गया दुर्मुख आता है और सीता के लोकापवाद के सम्बन्ध में राम से निवेदन करता है। राम बेहोश हो जाते हैं। उधर प्रातःकाल होने पर सीता को लेकर लक्ष्मण वन की ओर चल देते हैं।

दूसरे अंक के आरंभ में आत्रेयी और वासन्ती के वार्तालाप से हमें विदित होता है कि महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में कुश-लव नामक दो मेधावी बालक लाये गये हैं, जिन्हें जृम्भकास्त्र जन्मसिद्ध हैं। आत्रेयी से ही हमें यह विदित होता है कि तमसा नदी पर गये हुये महर्षि ने किसी व्याध के द्वारा एक क्रौंच पक्षी को मारे जाते हुए देखा, जिससे संतप्त होकर महर्षि ने व्याध को शाप दिया है। महर्षि की इस श्लोकबद्ध वाणी को सुनकर ब्रह्मा जी प्रकट होते हैं और महर्षि से 'रामायण' की रचना करने के लिए आग्रह करते हैं। आत्रेयी की बातों से यह भी पता चलता है कि राम ने सीता की सुवर्णमूर्ति को धर्मपत्नी का रूप देकर अश्वमेध यज्ञ का आरंभ किया है। ठीक इसी समय पुष्पक विमान पर आरूढ राम का प्रवेश होता है और वे शम्बूक को मारकर उसका उद्धार करते हैं। बाद में दिव्यरूपधारी शम्बूक से राम को लोपामुद्रा तथा अगस्त्य का, आश्रम में आने की सूचना मिलती है।

तीसरे अंक के विष्कंभ में हमें मुरला और तमसा नामक दो नदियों के वार्तालाप से यह विदित होता है कि लक्ष्मण द्वारा अरक्षितावस्था में छोड़ी गई सीता ने अपमानवश गंगा में कूदकर वहीं दो पुत्रों को जन्म दिया।

दूध छूटने पर उन दोनों पुत्रों को गंगा देवी ने वाल्मीकि मुनि को सौंप दिया है। इसके बाद उक्त दोनों नदियों के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि भगवती भागीरथी कुश-लव की बारहवीं वर्षगाँठ पर सीता से सूर्य की अर्चना करने के लिए कहती हैं और उसको यह भी समझाती हैं कि पृथ्वी में उसको कोई नहीं देख सकता है। इस विष्कंभ के बाद पुष्प-चयन करती हुई सीता का प्रवेश होता है। ठीक इसी समय पुष्पक-विमान से राम भी उधर ही आ निकलते हैं। राम की अवस्था को देखकर सीता मूर्च्छित हो जाती है। राम भी सीता के विलाप में मूर्च्छित हो जाते हैं। तमसा की आज्ञा से सीता दो बार राम का स्पर्श करती है और उन्हें होश में लाती है। इसके बाद वासन्ती और राम की बातचीत होती है। बाद में राम अश्वमेध यज्ञ के लिए अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं।

चौथे अङ्क के विष्कंभ में दाण्डायन और सौधातकी नामक तपस्वी बालकों के वार्तालाप से पता चलता है कि ऋषि वशिष्ठ, अरुन्धती और राम की माताओं को साथ लेकर ऋष्यश्रृंग के आश्रम से वाल्मीकि मुनि के आश्रम में उपस्थित हुए हैं। यहीं हमें यह भी ज्ञात होता है कि महाराज जनक, वाल्मीकि के आश्रम में पहले ही से आये हुए हैं। जनक के साथ वशिष्ठ आदि का मिलन होता है। इसी बीच वहाँ लव का प्रवेश होता है। परिचय पूछे जाने पर लव अपने को कुश का भाई तथा वाल्मीकि का शिष्य बताता है। इसी बीच लक्ष्मण का पुत्र चंद्रकेतु अश्वमेध के अश्व को लेकर वहाँ आता है और उस अश्व को वीरों के लिए एक चुनौती जान कर लव उसका अपहरण कर लेता है।

पाँचवें अङ्क में लव, चन्द्रकेतु के सैनिकों को परास्त कर देता है। लव के जृम्भकास्त्रों को देखकर सुमंत को आश्चर्य होता है। बाद में लव तथा चन्द्रकेतु का युद्ध होता है।

छठे अङ्क में, विमान पर चढ़े हुए विद्याधर और विद्याधरी के वार्तालाप से हमें विदित होता है कि चन्द्रकेतु-लव के युद्ध में आग्नेय, वारुण और वायव्य आदि अस्त्रों का प्रयोग हो रहा है। इन्हीं के मुख से यह भी जानने को मिलता है कि युद्धस्थल पर एकाएक ही राम के आ जाने से दोनों योद्धाओं का संघर्ष शान्त हो गया है। चंद्रकेतु, राम को अपने वीर प्रतियोगी लव का

परिचय देता है। लव, राम के व्यक्तित्व से प्रभावित होता है और चंद्रकेतु से उनका परिचय प्राप्त करता है। लव के अभिवादन के बाद राम उसका आलिंगन करते हैं। इसी बीच क्रुद्ध कुश का प्रवेश होता है। किन्तु लव उसको शिष्टतापूर्वक व्यवहार करने तथा राम को प्रणाम करने के लिए कहता है। राम उसका भी आलिंगन करते हैं। राम को उन दोनों बालकों में राजचिह्न तथा सीता का सादृश्य देखकर विस्मय होता है। तदनन्तर अरुन्धती, वसिष्ठ, वाल्मीकि, जनक और कौशल्या आदि राम के समीप आते हैं।

अन्तिम सातवें अङ्क में 'गर्भांक' नामक एक अवान्तर नाटक की योजना करके पूर्व के छहों अंकों की सारी घटनाओं को दिखाया जाता है। गंगा के तट पर नाटक का अभिनय देखने वाले समग्र देशवासी लोग सती सीता को प्रणाम करते हैं और लोकपाल तथा सप्तर्षि पुष्पवृष्टि करते हैं। यहीं पर राम, सीता, लक्ष्मण, कुश, लव और शत्रुघ्न आदि का संमिलन होता है और सुखान्त स्थिति में नाटक की कथा समाप्त हो जाती है।

रामायण में वर्णित उत्तररामचरित का आख्यान

लङ्का-विजय के बाद जब राम अयोध्या पर राज्य कर रहे थे तो प्रजा ने सीता के चरित्र पर अनेक तरह के आक्षेप किये। इस पर वंश-मर्यादा की रक्षा के लिए राम ने सीता को तपोवन-भ्रमण करने के बहाने से वन भेज दिया। वहाँ महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में सीता ने लव-कुश नामक दो जुड़वां पुत्रों को जन्म दिया।

ठीक इसके बाद अयोध्या में राम ने अश्वमेध का आयोजन किया। उन्होंने तपस्यारत राजा शूद्रक को मार दिया। तदनन्तर एक दिन लव-कुश को साथ लेकर वाल्मीकि मुनि यज्ञ देखने के लिए राजसभा में आये। वहाँ लव-कुश ने वाल्मीकि मुनि द्वारा बताई गई रामायण का गान किया। इस पर राम ने अपने पुत्रों को पहचान लिया और सीता को ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। सीता के सतीत्व की परीक्षा के लिए उन्होंने अग्निपरीक्षा का प्रस्ताव रखा। इस पर स्वाभिमान और विक्षोभ के कारण सीता पृथिवी के भीतर प्रवेश कर गईं।

'रामायण' में राम के चरित को उत्तर कथा इतनी ही है। इसके साथ यदि भवभूति के 'उत्तररामचरित' की कथा की तुलना की जाय तो ज्ञात होता है कि दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। वस्तुतः देखा जाय तो भवभूति ने राम की एक छोटी-सी जीवन-घटना को जिस व्याख्यात्मक एवं प्रभावात्मक ढंग से रखा है उसकी 'रामायण' के कथानक से कोई तुलना ही नहीं है।

नाटनीय संविधान

नाटकीय संविधान की दृष्टि से भवभूति के नाटकों की समीक्षा करने पर विदित होता है कि यद्यपि भगवान् कालप्रियनाथ के उत्सव पर उज्जयिनी में एक बार उनका अभिनय हो चुका था; फिर भी उनके अनेक स्थल बड़े ही कमजोर हैं।

'मालतीमाधव' की कल्पित कथा को नाटकीय रूप देने के लिए भवभूति ने या तो भास के 'अविमारक' नाटक से प्रेरणा ग्रहण की है या तो उनके समक्ष 'मृच्छकटिक' विद्यमान था। 'अविमारक' का लोककथाओं से ग्रहण किया हुआ कथानक और उसके प्रकृति-चित्रण तथा शैली-शिल्प से 'मालती-माधव' की बहुत सी बातें एकता रखती हैं। 'मालतीमाधव' की बाघवाली घटना 'अविमारक' की हाथीवाली घटना से और 'अविमारक' में वर्णित विद्याधर के द्वारा अविमारक की रक्षावाली घटना, 'मालतीमाधव' में बौद्ध-भिक्षुणी कामन्दकी द्वारा की गई माधव को रक्षावाली घटना से निकट साम्य रखती है। इसी प्रकार भवभूति अपनी गंभीर प्रकृति के कारण यद्यपि 'मृच्छकटिक' के हास्य, छल, प्रपंच, धूर्तता आदि प्रसंगों को न उतार सके; फिर भी उन्होंने कपालकुण्डला तथा अघोरघण्ट जैसे पात्रों का निर्माण करने और श्मशान के बीभत्स वर्णनों का समावेश करने में 'मृच्छकटिक' का सहारा लिया है।

'मालतीमाधव' की कथावस्तु तो बड़ी ही शिथिल है; इससे भी बढ़कर उसमें कार्य और व्यापार की अन्विति का अभाव है। उसमें रूढ़ियाँ हैं और पुनरुक्तियों के प्रति कोई ध्यान नहीं दिया गया है। नाटक में जो औत्सुक्य और प्रभावात्मकता लाने के लिए अनेक रहस्यों का समावेश किया है उससे भी उसकी स्वाभाविक गति और उसके संविधान कर्म पर कुप्रभाव पड़ा है।

उसकी घटना-संकुलता ने अवश्य ही उसकी काव्यात्मकता को बढ़ाया है; किन्तु उसके नाटकीय संविधानों का उनसे अपकर्ष ही हुआ है।

भवभूति के दूसरे नाटक 'महावीरचरित' में अवश्य ही नाटकीय संविधानों की दृष्टि से परिष्कार हुआ है। यद्यपि इसकी कथावस्तु बड़ी ही अव्यवस्थित एवं विशृंखलित है; फिर भी उसका शिल्प सुधरा हुआ है। 'महावीरचरित' के कथानक का मूल यद्यपि 'रामायण' है; किन्तु उसके वस्तु, शिल्प और नाट्य में भास के 'अभिषेक' तथा 'बालचरित' का स्पष्ट प्रभाव है। लम्बे-लम्बे संवादों और वर्णन-संकुलता के दोषों ने भी अनेक स्थलों पर गतिरोध उत्पन्न किया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी नाटक उच्चकोटि का नहीं है। माल्यवान् की कूटनीति, विशाखदत्त के चाणक्य के समक्ष बहुत ही हीन लगती है। 'महावीरचरित' के कई स्थलों पर राम का जो मानवीय रूप चित्रित किया गया है, 'उत्तररामचरित' की अपेक्षा वह बहुत ही शिथिल लगता है। भवभूति यद्यपि वीर और करुण रस के पारंगत कवि हैं; किन्तु 'महावीरचरित' में उनकी यह कुशलता भी नहीं दिखाई देती है।

भवभूति का तीसरा नाटक 'उत्तररामचरित' यद्यपि 'रामायण' के उत्तरार्द्ध पर रचा गया है; फिर भी इसके विशिष्ट स्थलों का निर्माण भवभूति की अपनी प्रतिभा पर हुआ है। वाल्मीकि की रामकथा दुःखान्त हो गई है; किन्तु भवभूति ने उसको दूसरे ही रूप में लोकानुरंजनकारी बना दिया है। चित्रदर्शन, राम का दण्डकारण्य में पुनरागमन तथा वासन्ती से मिलाप, छाया-सीता की उदात्त कल्पना, और सातवें अंक का गर्भांक, ये सभी भवभूति की मौलिक देन हैं; और इन्हीं विशिष्ट प्रसंगों से 'उत्तररामचरित' की कथावस्तु अधिक प्रभावोत्पादक हुई है।

'उत्तररामचरित' में भी यद्यपि नाटकीय व्यापारों की कमी है; फिर भी पूर्व के दो नाटकों की अपेक्षा उसमें तकनीकी और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रौढ़ता है। इसके सभी पात्रों का चरित्र आदर्श, कर्तव्यनिष्ठा, पवित्रता, दृढ़ता, आत्मत्याग और लोकपरंपरा से अनुप्राणित है। ये बातें अन्य पात्रों की अपेक्षा राम-सीता के चरित्रों में अक्षरशः उतरती हैं।

प्रथम अंक का चित्र-दर्शन-दृश्य प्रायः उन सभी घटनाओं का बीज है,

जिनका विकास हम आगे चलकर देखते हैं। तीसरे अंक में घटनाओं का चरमोत्कर्ष है। छठे अंक में घटनाओं की सार्थकता और नाटकीय व्यापारों की परिणति दिखाई गई है। कवि ने दूसरे अंक के 'विष्कंभ' से ही छठे अंक की भूमिका आरंभ कर दी है। प्रथम और द्वितीय अंक के बीच में बारह वर्षों के व्यवधान को बड़े कौशल से दिखाया गया है। समग्र नाटक में विष्कंभों का प्रयोग बड़ी ही कुशलता से किया गया है। कुछ स्थलों को छोड़ कर संवादों का भी अच्छा समन्वय है। चौथे तथा पाँचवें अंक में और संपूर्ण प्रत्यभिज्ञान दृश्य में नाटकीय सोत्प्रास (Dramatic Irony) को बड़ी सफलता से दर्शित किया गया है।

इन सभी विशेषताओं की विद्यमानता में 'उत्तररामचरित' नाटकीय संविधानों की दृष्टि से एक सर्वांगीण कृति होने की अपेक्षा एक उत्कृष्ट काव्यकृति है; और इसलिए समीक्षाकार विद्वानों ने भवभूति को जो कालिदास के समक्ष ले जाकर उनको मानवहृदय का सच्चा पारखी बताया है, वह असत्य नहीं है और उसका कारण यही कवित्व है।

कवित्व : भाषा शैली रस

भवभूति की लेखन-शैली की विवेचना करने से पूर्व इस संबंध में उन्होंने क्या कहा है, इसको जान लेना आवश्यक है। उन्होंने अपने नाटक में लिखा है कि किसी रचना में पाण्डित्य और कलात्मकता (विदग्धता) का परिचय प्रस्तुत करने वाले साधन हैं भाषा का प्रौढत्व, वाणी का औदार्य और अर्थ की गौरवता। इन तीनों का एक साथ समावेश होना ही अच्छी रचना की पहचान है :

'यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः।'

इसलिए भवभूति के मतानुसार काव्यरचना के लिए (१) भाषा में प्रौढता, (२) वाणी की उदारता और (३) अर्थ की गुरुता, इन तीन गुणों का होना आवश्यक है।

इस दृष्टि से यदि हम भवभूति के नाटकों का विवेचन करते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि उनमें ये तीनों गुण विद्यमान हैं।

काव्यरचना के लिए काव्यशास्त्रियों ने तीन प्रकार की लेखन-शैलियों का निर्देश किया है, जिनके नाम हैं वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। इनमें-से भवभूति ने वैदर्भी और गौड़ी, दोनों प्रकार की शैलियों का उपयोग किया है। ललित पदों, मधुरशब्दों और छोटे-छोटे समासों का जिस रचना में प्रयोग किया जाता है उसको काव्यशास्त्र में वैदर्भी रीति कहा गया है। इसके विपरीत जिस रचना में ओजयुक्त लम्बे-लम्बे समासों और कृत्रिम भाषा का प्रयोग हो वह गौड़ी रीति-प्रधान शैली कही जाती है।

दोनों शैलियों की परिभाषाओं से यह प्रकट हो गया है कि दोनों का छत्तीसी सम्बन्ध है। इस प्रकार की कठिन और कोमल रचना करने वाला कोई विरला ही कवि होता है। भवभूति उन्हीं में से एक थे। उन्होंने एक ओर से सुकुमार भावों की अभिव्यञ्जना की है तो दूसरी ओर ओजप्रधान क्लिष्ट समासबहुल भाषा का प्रयोग किया है।

उनकी वैदर्भी शैली का उदाहरण लीजिए। इसमें लव-कुश की असाधारण प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए 'उत्तररामचरित' के दूसरे अङ्क में अनसूया कहती है: 'गुरु तो बुद्धिमान और मूर्ख, दोनों प्रकार के शिष्यों को एक ही प्रकार से विद्या प्रदान करते हैं। वे न तो बुद्धिमान शिष्य की ज्ञानशक्ति को बढ़ाते हैं और न मूर्ख शिष्य की ज्ञानशक्ति को कम करते हैं। पर इतना होते हुए भी गुरुज्ञान का दोनों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का फल होता है। जहाँ बुद्धिमान शिष्य उसको ग्रहण कर लेता है वहाँ मूर्ख शिष्य उससे वंचित ही रह जाता है; क्योंकि मणि किसी भी वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ होती है, किन्तु मिट्टी का ढेला उस शक्ति से रहित होता है':

'वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति च पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति पुनर्बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदां चयः॥'

इस श्लोक में पदों का लालित्य, शब्दों का माधुर्य और समारहित भाषा का प्रयोग हुआ है।

इसके विपरीत भवभूति ने अपनी ओजमयी वाणी में समासयुक्त क्लिष्ट

शब्दावली का प्रयोग और कृत्रिम भाषा से अलंकृत गौड़ी रीति को निचे लिखे श्लोक में प्रकट किया है। इतना ही नहीं, एक ही पद्य में उन्होंने गौड़ी और वैदर्भी का मणिकांचन-संयोग भी किया है। ऐसे पद्यों में पूर्वार्द्ध में कोमल भावों को प्रकट करने वाली वैदर्भीरीतिप्रधान सुकुमार पदावली है तो उत्तरार्द्ध में ओजमयभावों को प्रकट करने वाली गौड़ीरीतिप्रधान समासयुक्त पदावली का एक साथ समावेश है। वर्णन लव-चन्द्रकेतु के युद्ध-प्रसंग का है :

'यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मान् दृष्टिर्मम कलहकामः पुनरयम्।
झणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु-
र्धृतप्रेमावाहुर्विकचविकरालोल्बणरसः ॥'

'जिस प्रकार परिपूर्ण चन्द्रमण्डल के उदय होने पर कुमुदिनी प्रमुदित हो जाती है, उसी प्रकार मेरे नेत्र इस चन्द्रकेतु को देखकर हर्षोत्फुल्ल हो रहे हैं। फिर भी, यह मेरी भुजा युद्ध करने के लिए आतुर हो रही है, जिस भुजा ने भीषण टंकार और गंभीर गुंजार करती हुई प्रत्यंचा से युक्त इस विशाल धनुष को अनायास ही धारण कर रखा है और जो विकट एवं विकराल वीरभावना से फड़फड़ा रही है।'

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की भाषा तथा भावों में कितना अन्तर है, यह स्पष्ट है। इसमें भवभूति की भाषा-पाटव का भी अच्छा दृष्टान्त देखने को मिलता है।

भाषा का जहाँ तक सम्बन्ध है, उन्होंने स्वयं ही कहा है, वह उनके इशारों पर नाचती है :

'यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्त्तते'

उनकी यह वशवर्तिनी वाणी का रूप उनके कठिन-से-कठिन और कोमल-से-कोमल शब्दविन्यास में सर्वत्र देखने को मिलता है। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। ऐसा ही अधिकार कालिदास का भी है; किन्तु कालिदास ने जहाँ अपनी भाषा को कलात्मक जामा पहना कर उसको चमत्कृत बना दिया है वहाँ भवभूति ने गूढ़-से-गूढ़ भावों को सीधे-सादे, किन्तु प्रभावशाली शब्दविन्यास द्वारा बड़ी ही पटुता से अभिव्यक्त किया है।

उनकी भाषा पात्रों के अनुरूप है। भवभूति के भाषाप्रयोग की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने बालकों, वृद्धों, और युवा पात्रों के अनुरूप ही उनकी भाषा को भी रखा है। लव की भाषा में हमें आश्रमवास का एक पवित्र भाव देखने को मिलता है। जनक आदि ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह दर्शनप्रधान है। इसी प्रकार अन्य पात्रों के सम्बन्ध में भी देखा जा सकता है।

भवभूति की वर्णनशक्ति बड़ी व्यापक है। उन्होंने वियोग की व्यथापूर्ण अवस्थाओं का तथा संयोग की सौख्यपूर्ण अवस्थाओं का एक जैसा सुन्दर वर्णन किया है। वे मनुष्य की भावात्मक अनुभूतियों के भी चितेरे थे। उन्होंने मानव-मन के विभिन्न स्वरूपों के अच्छे शब्दचित्र अङ्कित किये हैं। नाटकीय संविधानों के सम्बन्ध में अपनी अभिज्ञता का परिचय उन्होंने बारह वर्ष की लम्बी अवधि में जो परिवर्तन हुए हैं उनको स्पष्ट करके दिया है। उन्होंने बाल्यावस्था की मुग्धकारिणी सरलता, किशोरावस्था की सहज चपलता, मर्यादाओं से संयमित यौवन की उद्दाम श्रृंगारभावना और प्रौढत्व की स्नेहिल प्रवृत्तियों का सुन्दर चित्रण किया है।

भवभूति को रससिद्ध कवि अनेक स्थानों पर कहा जा चुका है। उनके करुणरस और श्रृङ्गाररस का विवेचन स्वतंत्र रूप से किया गया है। करुण और श्रृङ्गार के अतिरिक्त भवभूति ने वीर, रौद्र और बीभत्स आदि रसों का भी सुन्दर निदर्शन किया है। उनके वीररस का व्यापक चित्रण उनके वीररस-प्रधान नाटक 'महावीरचरित' में देखा जा सकता है; किन्तु उनके करुणरस-प्रधान नाटक 'उत्तरामचरित' में भी वीररस का कुछ कम प्रभावशाली चित्रण नहीं है। लव की वीरता एवं उसकी वीरजनजोचित आकृति का शब्दचित्र अङ्कित करते हुए उन्होंने लिखा है :

'दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानः
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥'

'इसकी दृष्टि ऐसी है, जिसके आगे तीनों लोकों की सारभूत शक्ति तृणवत् है।

इसकी धीर और उद्धत चाल मानों पृथ्वी को कँपा रही है। बालक होने पर भी इसमें पर्वत की-सी गरिमा है। यह मूर्तिमान् वीररस चला आ रहा है अथवा साक्षात् दर्प है ?'

इसी प्रकार चौथे अङ्क में भी लव-चन्द्रकेतु के युद्ध की सुन्दर व्यञ्जना हुई है। लव की यह वीरजनोचित उक्ति कितनी रोमांचक है: 'मेरा यह धनुष, प्राणियों को निगलने में तत्पर हँसते हुए यमराज के मुखरूपी यंत्र की जँमाई की भाँति, अपने भयङ्कर मध्यभाग को फैला ले। इसकी मौर्वी जीभ के समान दिखाई पड़े! इसके दोनों मण्डलाकार किनारे डाढ़ों-से सुशोभित हों; और यह यमराज के मुँह की भाँति ही भयङ्कर घर्घर शब्द को उत्पन्न करे। जिस प्रकार यमराज का भयङ्कर मुख अनेक प्राणियों के प्राणों का अपहरण करता है वैसे ही मेरा यह धनुष भी युद्ध में अनेक योद्धाओं का संहार करने में समर्थ हो'।

'ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्र-
मुद्‌गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत् ।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तमवक्त्रयन्त्र-
जृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु चापम् ॥'

इस श्लोक की शब्दावली वीररस को अभिव्यक्त करने के लिए सर्वथा योग्य है। अर्थ के अनुरूप शब्दों का चयन, यह भी भवभूति की शैली की एक विशेषता है। उनकी कविता का यह नादमय स्वरूप उनके वर्णनों में सर्वत्र देखने को मिलता है। उन्होंने अपनी इस नादमय शब्दावली के द्वारा तूफान का भयावह दृश्य, रणक्षेत्र का प्रचण्ड स्वरूप और श्मशान का बीभत्स रूप बड़े यथार्थ रूप में चित्रित किया है।

भवभूति ने करुण, शृङ्गार और वीर आदि रसों के अतिरिक्त रौद्र, भयानक तथा बीभत्स रसों का भी सुंदर चित्रण किया है। 'महावीरचरित' के तीसरे अंक के परशुराम-जनक-संवाद में परशुराम द्वारा कही गई उक्तियों में रौद्ररस का अच्छा परिपाक हुआ है। इसी प्रकार 'मालतीमाधव' के पाँचवें अंक में श्मशान के प्रेतों के वर्णन में बीभत्स तथा भयानक रसों का अच्छा चित्रण देखने को मिलता है:

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा—
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरंकः करंकात्
अंकस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥'

'अरे, यह दरिद्र प्रेत पहिले तो शव से चमड़े को उधेड़ रहा है और तब कंधे, कूल्हे, पीठ आदि के अत्यन्त फूले हुए तथा तेज दुर्गन्ध से युक्त मांस को खा रहा है। उसे खाकर आँखें फैलाता हुआ वह दीन प्रेत, जिसके दाँत बाहर चमक रहे हैं, अपनी गोद में रखे हुए शव से हड्डी के बीच के मांस को भी नोच-नोच कर बड़े धैर्य और आनन्द के साथ खा रहा है।'

इस श्लोक में बीभत्स तथा भयानक रस का पूर्ण रूप तो प्रकट हुआ ही है, इसके साथ-साथ उसमें नाद-सौन्दर्य, गौड़ी रीति के अनुसार समासबहुल क्लिष्ट शब्दावली और अर्थ के अनुरूप भाषा का प्रयोग भी एक साथ देखने को मिलता है। उसकी शब्दावली में ध्वनिमयता भी है।

भवभूति ने कहीं-कहीं हास्य का भी पुट दिया है; किन्तु उनका हास्य बड़ा ही संयत और आभास मात्र है। इसमें भी उनकी गंभीरता भरी हुई है।

भवभूति का छन्दकौशल भी अद्भुत है। उन्होंने प्रसंग, वातावरण और परिस्थिति के अनुसार छन्दों का चुनाव किया है। सरल, किन्तु मार्मिक भावों को अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया है। इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा और मालिनी आदि छन्दों को उन्होंने शृङ्गार तथा सौन्दर्य-वर्णन में प्रयुक्त किया है। रौद्र, बीभत्स आदि रसों तथा गौडी रीति के लिए प्रायः उन्होंने शार्दूलविक्रीडित जैसे लम्बे छन्दों को लिया है। किन्तु उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द शिखरिणी है। भवभूति के कवित्व की जो सबसे बड़ी पूँजी करुणरस है उसको उन्होंने शिखरिणी छन्द में ही लगाया है। इसीलिए क्षेमेन्द्र कवि ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में भवभूति के शिखरिणी छन्द की इन शब्दों में प्रशंसा की है :

'भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरंगिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥'

भवभूति की कविता में व्यंग्य का भी पुट देखने को मिलता है। उनकी

शैली वाच्यार्थप्रधान है, जिसमें भावों के प्रकाशन के लिए विस्तार से पर्याप्त शब्दों का प्रयोग किया गया है; और जो कालिदास की शैली से सर्वथा विपरीत है।

प्रकृति चित्रण

प्रकृति के लिए भवभूति के मन में अथाह अनुराग था। उनके प्रकृति-चित्रणों में उनकी व्यापक अनुभूति और उनका चिरन्तन सहवास सर्वत्र ध्वनित होता है। उनका प्रकृति-वर्णन आलम्बन के रूप में है। उन्होंने प्रकृति के कोमल और कठोर दोनों रूपों को चित्रित किया है। प्रकृति के प्रचण्ड एवं घोर रूप की अनुभूति उन्हें अपने जन्मस्थान विदर्भ के संसर्ग से प्राप्त की है। दण्डकारण्य का भीषण चित्रण विदर्भ के अरण्यों की कठोर प्रकृति का परिचायक है :

'निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते॥'

'इस भीषण वन में कहीं तो सन्नाटा छाया हुआ है और कहीं हिंस्र पशुओं की घोर गर्जना सुनाई दे रही है। कहीं स्वेच्छापूर्वक सोये हुए, गंभीर फूत्कार करने वाले सर्पों के निःश्वासों से प्रज्वलित होकर आग लग गई है तो कहीं गड्ढों में थोड़ा सा पानी झिलमिला रहा है; और कहीं प्यास के मारे विह्वल गिरगिट, अजगर के शरीर का पसीना पी रहे हैं।'

प्रकृति के इस भीषण एवं प्रचण्ड स्वरूप के विपरीत भवभूति की दृष्टि प्रकृति के कोमल पक्ष की ओर भी रमी है। प्रकृति का यह पक्ष उनके व्यक्तिगत स्वभाव पर आधारित है। अपने स्वभाव के अनुसार उन्होंने प्रकृति के सीधे-साधे प्रशान्त एवं मधुर दृश्यों का भी वर्णन किया है। उन्होंने अपनी आँखों से कमलवनों को कम्पित करने वाले मल्लिकाक्ष हंसों या पादप शाखाओं पर झूलते शकुन्तों की कोमल भंगिमा का अवलोकन किया था। (उ० १।३१)

इस प्रकार एक ही दण्डकारण्य में उन्होंने प्रकृति के 'स्निग्धश्याम' और 'भीषणाभोगरूक्ष' दोनों रूपों को देखा है :

'स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षाः
स्थाने-स्थाने मुखरककुभो झाङ्कृतिर्निर्झराणाम्'

भवभूति की प्रकृति का एक कोमल चित्र 'उत्तररामचरित' के दूसरे अंक में भी देखने को मिलता है। उन्होंने बहते हुए पहाड़ी झरनों का एक रमणीय दृश्य उपस्थित करते हुए लिखा है :

'इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्
प्रसभसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥'

'जनस्थान के सघन जामुन के निकुञ्जों के बीच से नदियाँ बहती हुई चली जा रही हैं। नदियों के किनारे उगे हुए वेत की कुञ्जों में बैठे हुए मधुरकण्ठ वाले पक्षी कलरव कर रहे हैं। इन कुञ्जों की छाया झरनों के जल पर पड़ रही है। इन झाड़ियों के हिलने से वेतस के पुष्प नदी के शीतल एवं स्वच्छ जल में पड़ कर उसे सुगन्धित बना रहे हैं। ये झरने जब पके हुए काले फलों के गुच्छों से लदी जामुन की सघन शाखाओं से टकरा कर प्रवाहित होते हैं तब वे अनेक धाराओं में मुखरित हो उठते हैं।'

इस वर्णन में प्राकृतिक सुषमा का स्वाभाविक, सुश्लिष्ट एवं बिम्बग्राही चित्रण हुआ है।

भवभूति के प्रकृत-वर्णनों में नाद-सौन्दर्य भी विद्यमान है। यह नाद-संयोजन प्रकृति के विधानों को स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत करने में बड़ा ही हृदयग्राही हुआ है। भवभूति के प्रकृति-वर्णनों की एक विशेषता यह भी है कि उनमें अनावश्यक अप्रस्तुत विधान का अभाव रहता है।

उनके वर्णनों में प्रकृति सशरीर अवतरित हुई है। वनदेवी वासन्ती; तमसा तथा मुरला आदि नदियाँ प्रकृति के ऐसे ही सजीव रूप हैं। भवभूति ने निर्जीव प्रकृति को सजीव रूप में अंकित करने का दुष्कर कार्य तो किया ही, उन्होंने 'उत्तररामचरित' के तीसरे अंक में मानवी सीता को छाया रूप में दिखा करके उस भी असाधारण कार्य किया है। ये सभी बातें उनकी

अटूट प्रकृतिभक्ति का परिचय देती हैं। उन्होंने पशु पक्षी, लता, द्रुम आदि से स्वजनों जैसा व्यवहार किया है। इसीलिए उन्होंने कहा है :

'यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बान्धवो मे'

भवभूति के प्रकृति-निरीक्षण का एक संश्लिष्ट चित्र 'मालतीमाधव' में देखने को मिलता है। रात्रि के आरंभ का वर्णन करती हुई, पाँचवें अंक में कपालकुण्डला कहती है : 'आकाश के प्रान्त भाग तमाल-पुष्प के गुच्छों से लदी हुई अंधकार की लताओं द्वारा आच्छादित हो रहे हैं। पृथ्वी जैसे किसी नये पानी में निमज्जित हो रही है। रात्रि आरंभ में अपने नीले स्वरूप को चारों ओर प्रकट कर रही है। जैसे तेज हवा के चलने से धुआँ उठ कर चारों ओर मण्डलाकार फैल जाता है वैसे ही रात्रि के आरंभ में ही अंधकार आकाश में तथा पृथ्वी पर चारों ओर मण्डलाकार फैल गया है :

'व्योमनस्तापिच्छगुच्छावलिभिरिव तमोवल्लरीभिर्व्रियन्ते
पर्यस्ताः प्रान्तवृत्त्या पयसि वसुमती नूतने मज्जतीव।
वात्या संवेगविष्वग्विततवलयितस्फीतधूम्याप्रकाशं
प्रारम्भेऽपि त्रियामा तरुणयति निजं नीलिमानं वनेषु॥'

भवभूति का करुणरस

'उत्तररामचरित' भी 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की भाँति सम्पूर्ण संस्कृत भारती का कंठहार है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' को इतनी मान्यता प्राप्त होने के कारण जो भी रहे हों; किन्तु 'उत्तररामचरित' के इतनी लोकविश्रुति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का एकमात्र कारण उसकी कारुणिक सृष्टि ही रही है। वस्तुतः देखा जाय तो कविता का जन्म करुणा की कोख से हुआ है। संस्कृत-जगत् को कवितामयी भाषा का पहला वरदान करुणामयी वाणी ने ही दिया और उसका कारण था रामकथा। इसी हेतु वाल्मीकि आदिकवि कहलाये और उनकी 'रामायण' संस्कृतप्रेमियों के लिए प्रेरणादायिनी सृष्टि।

किन्तु राम के जीवन का वह दर्दनाक भाग जिसको कि वाल्मीकि मुनि भी टटोलते-टटोलते रह गये थे, भवभूति ने खोज निकाला। करुणा, व्यथा और वियोग से आच्छन्न राम के जीवन का वह सर्वाधिक महत्त्व का भाग था। 'उत्तररामचरित' उसी का परिणाम है।

भवभूति ने अपने इस करुणरसप्रधान नाटक का निर्माण कर अपने कवियश को तो अमर किया ही, उससे भी नई बात उन्होंने यह भी की कि काव्याचार्यों और नाट्याचार्यों की परंपरागत उस रूढ़ि का भी उन्होंने उल्लंघन किया, जिसके अनुसार 'नाटक का प्रधान रस वीर या शृङ्गार ही होना चाहिए।।' भवभूति की यह अभिनव सृष्टि थी। परंपरा की उक्त रूढि के समर्थक कुछ लोगों ने यह भी फैलाना चाहा कि 'उत्तररामचरित' विप्रलंभ शृङ्गार की रचना है; किन्तु उनके इस तर्क को समाज ने नहीं अपनाया। उसको अपनाया भी कैसे जाता! क्योंकि वियोग की व्यथा और करुणा की स्नेहिल कोमलता में बड़ा अन्तर होता है। राजा दुष्यन्त के वियोग में और पिता कण्व के आश्रम से विदा होते समय शकुन्तला ने जो आँसू बहाए उनमें एक ही बात थोड़े थी।

भवभूति के उक्त समालोचोकों के खण्डन-मण्डन से ही यह प्रमाणित नहीं हो जाता है कि 'उत्तररामचरित' में विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता है या करुणरस की। भवभूति ने परम्परा की रूढि का उल्लंघन भूल से नहीं किया है; बल्कि जानबूझ कर किया है। उन्होंने तीसरे अङ्क में करुणरस की व्याख्या करते हुए उसके महत्त्व को इस श्लोक में यों रखा है:

> 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
> भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
> आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्
> अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्॥'

'करुणरस ही एकमात्र मुख्य रस है; अन्य आठों रस उसी के प्रकारान्तर हैं। जिस प्रकार एक ही रूप वाला स्थिर जल अनेक प्रकार के भँवर, बुद्बुद तथा तरंगों के रूप में परिवर्त्तित होता हुआ भी अपनी मूलावस्था में एक ही बना रहता है, ठीक उसी प्रकार एक ही करुणरस अन्य विभावादियों के निमित्तों से अनेक रसों का रूप धारण करता हुआ भी अपने मूलरूप में एक ही बना रहता है।'

इसलिए भवभूति यह स्वीकार करते हैं कि 'उत्तररामचरित' की सृष्टि उन्होंने करुणरस के लिए की है। जैसा कि उक्त श्लोक में भवभूति ने कहा

है कि अन्य सभी रस एक ही करुणरस के प्रकारान्तर हैं, ठीक वैसा ही निर्वाह हमें 'उत्तररामचरित' की कथावस्तु में देखने को मिलता है। यह करुणरस सम्पूर्ण कथावस्तु का बीज है, जो कि आरंभ, उन्नयन और पर्यवसान में सर्वत्र व्याप्त है।

'उत्तररामचरित' की कथा का आरंभ प्रथम अङ्क के चित्र-दर्शन से होता है। इस चित्रपट को देखकर सीता-राम एक ओर तो पंचवटी का स्मरण कर अपने विगत जीवन के परितापों से दुःखित होते हैं और दूसरी ओर राम भावी बिछोह की आशङ्का से परिम्लान दिखाई देते हैं। भावी अनिष्ट की सूचना देनेवाला प्रथम अङ्क का यह दृश्य बहुत ही दुःखदायी है और उसकी योजना करने में भवभूति ने वस्तुतः बड़ा ही कौशल दिखाया है। अपनी गोद में सोई हुई सीता के प्रति राम के हृदय में सहसा ही यह आशङ्का होती है कि 'इसकी क्या वस्तु प्रियतर नहीं है ; किन्तु इसका वियोग बहुतही असह्य है' :

'किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः'

इसी प्रथम अङ्क में राम-सीता के भावी जीवन की वेदना, पीड़ा, परिताप आदि की भूमिका बँध जाती है ; और दूसरे अङ्क से उनके जीवन में उसका क्रियात्मक रूप में संचरण होने लगता है। राम, दण्डकारण्य एवं पंचवटी में प्रवेश करते हैं और उनके सामने सीता के साथ चिरकाल तक अनुभूत वहाँ के स्थानों को देखकर अतीत की वे सारी स्मृतियाँ व्यथा बनकर फूट निकलती हैं :

'चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
घनीभूतः शोको विकलयति मां मूर्च्छयति च ॥'

'मेरा यह घनीभूत शोक बहुत दिनों के बाद आज अचानक उमड़ कर मेरे सारे शरीर में तीव्र विष की भाँति सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरे हृदय में गड़े हुए शल्य को किसी ने जोर से धक्का देकर हिला दिया है। मेरे हृदय के मर्मस्थल का जो घाव भर रहा था, जान पड़ता है कि

वह आज दरक कर फूट पड़ा है। यह दारुण शोक मुझे विकल कर रहा है। मैं मूर्च्छित हुआ जा रहा हूँ।'

भवभूति ने राम की इस पश्चात्तापमय मनःस्थिति का चित्रण करके उनके 'राजा' रूप का प्रायश्चित्त कर दिया है। राम पर जो सीता-निर्वासन का लांछन लग गया था उसका पूरा निराकरण भवभूति ने तीसरे अंक में छायासीता की सृष्टि करके किया है। इस प्रसंग में वासन्ती की सृष्टि भी अन्यर्थ थी। वह उन भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है, जो राम पर सीता-निर्वासन के दोषारोपण से पैदा हुई थीं। वह नारी के प्रति नारी की सहानुभूति का भी फ़र्ज़ अदा करती है। सीता के बार-बार वर्जित करने पर भी वासन्ती, राम को जी-भर रुला देने की मन में ठाने है। वह राम को बार-बार पुरानी अनुभूत स्मृतियों का स्मरण दिलाकर उनकी वेदना को बढ़ा देती है। राम से वह कहती है : 'हे देव, यह वही लतागृह है, जिसके द्वार पर खड़े होकर आप, गोदावरी के तट पर खड़ी-खड़ी हंसों के साथ मनोविनोद करती हुई सीता की प्रतीक्षा किया करते थे। वहाँ से आती हुई वह जब आपको अपनी प्रतिक्षा में व्याकुल देखती थी तो कमल-कलियों के समान अपने दोनों हाथों को जोड़कर बड़े मुग्ध एवं कातर भाव से आपको प्रणाम करती थी :'

'अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः॥'

वासन्ती के मुख से कहा गया यह श्लोक अत्यन्त स्वाभाविक होने के कारण राम के ठीक मर्म पर जा लगता है, जिसके प्रभाव से राम तिलमिला उठते हैं।

पञ्चवटी में चौदह वर्ष का निरन्तर साथ होने के कारण वहाँ के वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, मृग आदि सभी तो सीता के साहचर्य के साक्षी थे। उनको देखकर सीता की याद में राम के हृदय की अन्तर्गूढ़ व्यथा अविरल आँसुओं के रूप में यदि बाहर फूट पड़े तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! वह दुखिया सीता! हरसिंगार के फूल-सी सुन्दर और जुही-सी कोमल! जिसके लिए जंगल के पशु-पक्षी रोये; वृक्ष-लताओं ने आँसू बहाये; कवि भी रो पड़ा; और संसार

की मोहमाया से दूर रहने वाले उस गृहस्थ मुनि वाल्मीकि तक की आँखें भर आईं। तब राम का हृदय फूट पड़ना तो स्वाभाविक ही था। पंचवटी की प्रत्येक वस्तु में और प्रत्येक दृश्य में राम को सीता-ही-सीता दिखाई दे रही थी ; और इसलिए उन वस्तुओं के स्पर्श से, साहचर्य से तथा दर्शन से राम को सीता के स्पर्श, साहचर्य एवं दर्शन का अनुभव हो रहा था।

भवभूति के करुणरस का यह मनोवैज्ञानिक पक्ष है और इसी कारण भवभूति को करुणरस का सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना गया है। ऐसी अनुभूति, अभिव्यञ्जना और ऐसा जीवन्त रूप भवभूति के करुणरस में ही देखने को मिलता है।

उसके बाद चौथे अङ्क में जनक तथा कौशल्या का मिलाप बड़ा ही दर्दनाक है। बेचारे बूढे जनक ! पुत्री के शोक ने जिनका मन वेध दिया है। जिनकी शान्ति न जाने कहाँ खो गई है। सूखे पेड़ की भाँति हड्डियों का ढाँचा लिए जनक की स्थिति बहुत ही दयनीय हो गई है। एक तो तपस्या से जीर्ण शरीर और उस पर वृद्धावस्था का सन्तानशोक। ऐसा शोक कि जिसने उनके आँसुओं को भी सुखा दिया है।

पाँचवें अङ्क में लव-चन्द्रकेतु भाई-भाई के युद्ध से सीता की खिन्नता बड़ी ही करुणाकर है। इसी प्रकार छठे अङ्क में लव-कुश में सीता की आकृति को देखकर शोकाकुल राम की दशा भी करुणरस का पोषण करती है। इसी अङ्क में लव-कुश को देखकर राम को आसन्नगर्भा सीता का स्मरण हो आता है और वे शोक में डूबकर अनुभव करते हैं कि 'प्रिय सीता की कल्पित मूर्ति ध्यान से हटते ही यह सारा संसार एक सुनसान जंगल की भाँति शून्य लगने लगता है और हृदय मानों धधकते हुए अङ्गारों पर रख दिया गया—सा हो जाता हैं' :

> 'जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
> कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव।'

सीता से मिलने के लिए राम आतुर हो उठते हैं। वे विकलतावश पुकारने लगते हैं 'आर्य सीते, तुम कहाँ हो ? तुम्हें खोजने के लिए मेरे सभी उपाय बेकार हो गये हैं। भाई सुग्रीव की मित्रता, प्यारे वानरों का बल, बूढे

जामवन्त की तदवीर, महावीर हनूमान की पहुँच और लक्ष्मण की शक्ति, सभी तो हार मान गये हैं। कैसे तुमको मैं देख सकूँगा ?'

भवभूति की करुणरसभरी यह वाणी इतनी मार्मिक और प्रभावकारी है कि जड़ में चैतन्य और चेतन में जड़ता भर देती है :

'जड़ानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा।'

और तब मनुष्यों की तो बात ही क्या पत्थर तक रो पड़ते हैं तथा वज्र का हृदय तक विगलित हो जाता है :

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।'

इसीलिए 'आर्यासप्तशती' के रचयिता गोवर्द्धनाचार्य ने कहा है :

'भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्यं किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥'

यह श्लोक द्विरर्थक है। एक अर्थ कवि भवभूति के सम्बन्ध को और एक अर्थ भगवान् शङ्कर के सम्बन्ध में घटित होता है। श्लोकार्थ है : 'भवभूति (कवि भवभूति अथवा भगवान् शङ्कर) के सम्बन्ध से सरस्वती भी हिमालय की पुत्री पार्वती के समान शोभित हो रही है ; क्योंकि जब वह (भवभूति की वाणी या पार्वती) करुण भाव की व्यंजना (पार्वती के पक्ष में विलाप) करने लगती है तब औरों की तो बात ही क्या पत्थर तक रो पड़ते हैं।'

राम के करुणरस की गंभीरता और मर्यादा तीसरे अङ्क में प्रकट हुई है। उसकी व्याख्या करते हुए भवभूति ने कहा है : 'राम का यह करुणरस उस पुटपाक के समान है, जिसके अन्दर तीव्र अन्तर्वेदना प्रज्वलित हो रही है। यह वेदना हृदय के मर्मस्थल में अनी की तरह चुभ कर दारुण यंत्रणा तो उत्पन्न करती है ; किन्तु कभी भी अमर्यादित या अनर्गल प्रलाप का रूप धारण नहीं करती है' :

'अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥'

राम की इस अन्तर्गूढ व्यथा की तीव्रता का आभास कराने के लिए ही कवि कभी मूर्च्छितावस्था और कभी विलाप का चित्रण करता है ; क्योंकि शोकातिरेक की अवस्था तभी कम होती है, जब उसको आँसू बहा कर बाहर

निकाल दिया जाता है। कहा भी गया है 'तालाब के लबालब भर जाने पर नालियों द्वारा उसका जल बाहर बहा देने में ही कुशल होती है' :

'पुरात्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।'

इस प्रकार भवभूति ने 'उत्तररामचरित' में जिस करुणरस का अधिष्ठान किया है उसकी व्याख्या करके उसके महत्व को भी प्रकट कर दिया। हिन्दी-साहित्य में जो स्थान सूरदास के वात्सल्य रस का है, संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में वही स्थान भवभूति के करुणरस का है। सूर ने हिन्दी साहित्य में जिस प्रकार वात्सल्य-रसधारा बहा कर अपने कवित्व को अमर बनाया उसी प्रकार भवभूति ने भी संस्कृत-साहित्य में करुणरस की मन्दाकिनी बहाकर भारत की चित्तभूमि को सदा-सदा के लिए अभिषिक्त कर दिया। इसीलिए कहा गया है कि यदि सारे संस्कृत-साहित्य में करुणरस की अभिव्यंजना करने में कोई पूर्ण सफल हुआ है तो वह भवभूति ही है :

'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते।'

प्रणय चित्रण

भवभूति ने अपने नाटकों में प्रणय के जिस विशुद्ध स्वरूप को चित्रित किया है उसका आधार 'रामायण' और 'महाभारत' थे। कालिदास की प्रेम-प्रणाली को भी भवभूति ने नहीं अपनाया; क्योंकि उसमें भी यौवन की रोमांचकारी अवस्थाओं की स्वच्छन्दता थी। भवभूति के पूर्ववर्ती नाटकों तथा काव्यों में हमें नारी के जिस अत्यन्त संयमित और अत्यन्त उन्मुक्त रूपों का दर्शन होता है, भवभूति में वह बात नहीं थी। उनकी दृष्टि में नारी का बहुत बड़ा मूल्य था और उसका धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं, व्यावहारिक एवं कौटुम्बिक सुख-शान्ति के दृष्टिकोण से भी महत्त्व था। भवभूति की दृष्टि में नारी और पुरुष के जीवन का पहला उद्देश्य वैवाहिक सम्बन्ध है। उसी से जीवन में एकरसता आ सकती है और वही लोकमंगल का एकमात्र हेतु हो सकता है।

भवभूति के प्रणय-चित्रण का मूल यही दाम्पत्य है। इसी आदर्श दाम्पत्य का बीज उन्होंने 'मालतीमाधव' में डाला और इसी को 'उत्तररामचरित' में

पल्लवित किया। भवभूति की यह दृष्टि धर्मशास्त्रसंमत और व्यावहारिक है। अपने 'मालतीमाधव' में ही जब वे उन्मुक्त प्रणय की ओर बहने से रुक गये, जिसमें कि ऐसा करने की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता थी, तब 'उत्तररामचरित' जैसे आदर्श नाटक में वे ऐसा क्यों करते? सीता के जिस पवित्र चरित्र को वाल्मीकि मुनि ने अपने आदिकाव्य में उतारा उसी के एक-एक अंश का भव्य दिग्दर्शन किया भवभूति ने।

भवभूति रससिद्ध कवि थे। उन्होंने शृङ्गार, वीर, करुण, रौद्र और बीभत्स आदि अनेक रसों का बड़ी कुशलता से चित्रण किया है। अपने तीनों नाटकों में उन्होंने तीन विशिष्ट रसों का निरूपण किया है। 'मालतीमाधव' में शृङ्गार रस का, 'महावीरचरित' में वीर रस का और 'उत्तररामचरित' में करुणरस का सुन्दर चित्रण देखने को मिलता है। यद्यपि भवभूति का वीर रस कुछ कम प्रभावोत्पाद नहीं है; फिर भी करुण और शृङ्गार पर उनका असाधारण अधिकार दिखाई देता है। इन्हीं दो रसों की अभिव्यक्ति में भवभूति का कवित्व और उनकी कोमल-कान्त पदावली का स्वाभाविक रूप देखने को मिलता है। महाकवि कालिदास की भाँति कविता के भाव-पक्ष और कलापक्ष दोनों पर भवभूति का समान अधिकार था। सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में इस दृष्टि से अकेले ये दोनों ही कवि हैं। भवभूति के करुणरस का निरूपण स्वतंत्र रूप से किया जा चुका है। यहाँ उनके शृङ्गार रस की रूपरेखा मात्र ही प्रस्तुत की जायगी।

शृङ्गार के संयोग और विप्रलंभ, दोनों पक्षों का भवभूति ने बड़ी कुशलता से चित्रण किया है। उनका यह शृङ्गार-वर्णन सभी तरह से मर्यादित एवं आदर्शपूर्ण है। इसीलिए भवभूति को आदर्शमय प्रेम का सर्वोच्च कवि माना जाता है। 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित' दोनों में उक्त दोनों कोटियों के प्रणय का स्वरूप दर्शित है। उनका यह प्रणय-चित्रण बड़ा ही कोमल है। उसमें तर्क और विचार की गुञ्जाइश नहीं है। उसमें अप्रस्तुतविधान और शिल्प-सज्जा का अभाव है। 'उत्तररामचरित' के प्रथम अंक में संयोग शृङ्गार का यह चित्रण कितना मधुर, मर्यादित एवं हृदयग्राही है। जनस्थान

का चित्र देखकर राम की पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाती हैं और वे सोचने लगते हैं :

'किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अतिशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥'

'आह, यह वही स्थान है, जहाँ राम और सीता पर्णकुटी में रात के समय एक दूसरे के गाल से गाल सटा कर, एक-एक बाहु से परस्पर गाढ आलिंगन कर, रात भर पता नहीं क्या-क्या बिना क्रम की बातें किया करते थे। इसी स्थिति में सारी रात बीत जाती थी। पहरों-पर-पहर बीत जाते थे। जागते ही जागते सबेरा हो जाता था। किन्तु बातें फिर भी पूरी नहीं हो पाती थीं।'

उसके बाद तो आगे के अनेक अंकों में राम-सीता के वियोग का विस्तार से वर्णन किया गया है। सीता-वियोग के कारण राम-विरह की तीव्रता का एक उदाहरण इस श्लोक में दिया जाता है :

'दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा न तु भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥'

'सीता के शोक में राम का हृदय फट जाना चाहता है; फिर भी उसके दो टुकड़े नहीं हो पाते। व्याकुल शरीर मूर्च्छित हो रहा है; किन्तु चेतना को नहीं छोड़ पाता। हृदय में सीता-वियोग की जो आग धधक रही है वह शरीर को जलाती तो है; किन्तु भस्म नहीं कर पाती। वह क्रूर विधाता राम के मर्मस्थल पर चोट तो कर रहा है; किन्तु उसके जीवन का अन्त नहीं कर पाता।'

भवभूति की शृङ्गार-भावना विशुद्ध प्रेम पर आधारित है। उसमें यौवन की रोमांचकारी अवस्थाओं का चित्रण तो है, किन्तु वह सहज, स्वाभाविक और प्रकृत है। उसमें उत्कट कामलिप्सा या उद्दाम मदान्धता या अमर्यादित आलाप नहीं है।

'मालतीमाधव' में भवभूति ने उन्मुक्त प्रणय का आरंभ तो किया है; किन्तु उसकी परिणति आदर्श दाम्पत्य-सम्बन्ध में की है। आदर्श दाम्पत्य की बड़ी अच्छी परिभाषा भवभूति ने 'मालतीमाधव' में निर्धारित की है। उन्होंने लिखा है कि 'आदर्श दाम्पत्य-प्रणय वह है, जिसमें पति-पत्नी को परस्पर एक-दूसरे का सच्चा मित्र, सच्चा बान्धव माना जाता है। उनका सारा जीवन, उनकी सारी इच्छायें और उनकी सारी सम्पत्ति एक-दूसरे के लिए होती है':

'प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा
सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसा-
मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥'

ऐसा वस्तुतः हो भी कैसे? भवभूति का प्रेम-चित्रण किसी रखेल या परकीया नायिका या किसी गणिका का नहीं है। वह तो दाम्पत्य जीवन से आबद्ध है। इसलिए उसमें पवित्रता है। उसमें गांभीर्य है, स्थिरता है और एकरसता है। भवभूति ने लिखा है 'शुद्ध प्रेम जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में एकरस बना रहता है। उसमें हृदय को एक अनिर्वचनीय सुख-शान्ति की अनुभूति होती है। परिस्थिति विशेषों का उस पर कोई प्रभाव पड़ता ही नहीं है। वृद्धावस्था के आ जाने पर भी उसकी रसमयता में कोई कमी नहीं आने पाती है। कुछ दिनों बाद संकोच या दुराव के दूर हो जाने पर उसमें और भी परिपक्वता तथा प्रगाढ़ता आ जाती है। ऐसे कल्याणकारी पवित्र दाम्पत्य प्रेम की प्राप्ति बड़े भाग्य से ही होती है।'

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥'

भवभूति के इस श्लोक में कहा गया है कि 'वृद्धावस्था के आ जाने पर भी उसकी रसमयता में कोई कमी नहीं आने पाती।' इसको देख कर मुझे समरसेट माम के ये शब्द स्मरण हो आते हैं। उन्होंने लिखा है: 'उषा और मध्याह्न

की शोभा एवं चंचलता को देख कर, सन्ध्या के शान्तिपूर्ण वातावरण के भय से धड़ाधड़ खिड़की बन्द करने वाला व्यक्ति मूर्ख नहीं तो क्या है? वृद्धावस्था के भी कुछ आनन्द हैं। वे युवावस्था से भिन्न हैं; किन्तु युवावस्था में अनुभूत आनन्द के समान ही, वे भी सार्थक हैं।' माम का यह आनन्द ही भवभूति के प्रेम की रसमयता है।

बड़े भाग्य से प्राप्त जिस दाम्पत्य प्रेम का भवभूति ने उल्लेख किया है उसकी कल्याणमय प्ररिणति सन्तान की प्राप्ति में है। वह सन्तान ही पति-पत्नी के स्नेहसिक्त हृदय को एक सूत्र में बाँधने वाली आनन्ददायी ग्रन्थि है :

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यम् इति कथ्यते॥'

भवभूति का यह प्रणय-वर्णन भारतीय आदर्शों से परिवेष्टित है। उसको हम माता, पत्नी, पुत्री, सभी के संमुख निःसंकोच रूप में पढ़ सकते हैं। उसमें संयम, मर्यादा, पवित्रता और लोकमंगल के उच्चादर्श सन्निहित हैं।

प्रेम के संबंध में भवभूति का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक है। उनके अनुसार प्रेम के इस पवित्र सोते का रसपान न केवल मनुष्यमात्र के लिए आनन्ददायी होता है; बल्कि उससे तो पृथ्वी का कोना-कोना अभिषिक्त है। उसकी कोई सीमायें या परिधियाँ नहीं हैं। वह तो सर्वत्र व्याप्त है।

प्रेम के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी नायिका या नायक के रूप-सौन्दर्य पर ही आधारित हो। उसका संबंध भी मानव-परिधि तक ही सीमित नहीं है। इस धरती के संपूर्ण प्राणी एवं पदार्थ अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप परस्पर प्रेम-सूत्र में बँधे हुए हैं। यह प्रेम क्यों पैदा होता है इसका भी एक कारण नहीं है। वह तो एक ऐसा संयोग है, जो प्रकृत है और जिसका संबंध अन्तर्मुखी होता है। उसके लिए साधनों को समेटने, उपकरणों को जुटाने या आश्रय को निर्धारित करने की आवश्यकता नहीं है :

'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुर्न
खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।'

जिसके लिये साधन, उपकरण या आश्रय को तलाश करने की आवश्यकता

होती है, भवभूति की दृष्टि से वह तो प्रेम है ही नहीं; क्योंकि प्रेम हो और वह किसी कारण पर आधारित हो, ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं :

'स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्षश्च इति विप्रतिषिद्धमेतत् ।'

इसलिए प्रेम अनिर्वाच्य होता है। उसका रहस्य तो केवल हृदय ही जान सकता है :

'हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम् ।'

वह स्वाभाविक भी है और स्वतः प्रेरित भी। सम्पूर्ण प्राणियों और समग्र पदार्थों में उसका एक समान प्रवेश है; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि ऐसा क्यों है, 'क्योंकि सूर्य के उदय होने पर ही कमल खिलता है और चन्द्रमा के उदय होने पर ही चन्द्रकान्तमणि द्रवित होती है :'

'विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकः
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ।'

कालिदास और भवभूति

कालिदास और भवभूति, दोनों संस्कृत-साहित्य के अमर रत्न हैं। जिस प्रकार वाल्मीकि और व्यास के अपार पाण्डित्य की थाह नहीं है उसी प्रकार कालिदास और भवभूति की प्रतिभा को सीमा-रेखाओं में बाँधना संभव नहीं है। फिर भी कालिदास और भवभूति के कवित्व में कुछ ऐसी समानतायें तथा असमानतायें देखने को मिलती हैं, जिससे आधुनिक समाज ही नहीं, प्राचीन पण्डित-समाज में भी इन दोनों कवियों की तुलना के लिए बड़ी चर्चा रही है। इन दोनों कवियों के समर्थकों और विरोधियों के विचारों का एक श्लोक में बड़ा ही सुन्दर चित्रण देखने को मिलता है। भवभूति के समर्थकों का कहना था 'कालिदास आदि तो केवल कवि हैं; किन्तु भवभूति महाकवि हैं।' इस पर कालिदास के समर्थकों का कथन था 'ठीक तो है। स्वर्ग के पारिजात आदि भी तो केवल वृक्ष ही हैं; हाँ, स्नुहीवृक्ष (सेंहुड) अवश्य ही महावृक्ष है' :

'कवयः कालिदासाद्याः भवभूतिर्महाकविः।
तरवः पारिजाताद्याः स्नुहीवृक्षो महातरुः ॥'

परंपरा से प्रचलित इस उक्ति में निश्चित ही बड़ा व्यंग छिपा है। इन दोनों कवियों की तुलना के लिए कुछ आधार इस प्रकार हैं :

१. कालिदास और भवभूति की वर्णनशैली तथा कलात्मक सौष्ठव में पर्याप्त अंतर है। भवभूति की कविता की समीक्षा करते हुए बताया गया है कि वे वाच्यार्थ के द्वारा अपने भावों को अधिक-से-अधिक शब्दों में विस्तार से प्रकट करते हैं; किन्तु कालिदास व्यंजनावृत्ति के द्वारा अपने भावों को कम-से-कम शब्दों में प्रकट करते हैं। भवभूति में वाग्विस्तार है तो कालिदास में शब्दलाघव। कालिदास का दुष्यन्त जहाँ 'अहा, मेरे नेत्रों को परमानन्द प्राप्त हो गया' (अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्) कह कर शकुन्तला को देखने की अपनी चिरन्तन उत्कंठा को थोड़े से शब्दों में प्रकट करता है, वहाँ भवभूति का माधव अपनी प्रेमिका मालती को देखने की उत्सुकता को इतने लम्बे संवाद में प्रकट करता है 'श्वेतकमलों की माला ने मानो मुझे शिर से पैर तक ढक लिया है। दूध की अविरल धारा से मानो मुझे स्नान कराया जा रहा है। कानों तक फैले हुए मालती के विशाल सतृष्ण नेत्र मानो मुझे पी रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मुझ पर अमृत की सघन वर्षा हो रही है।'

२. कालिदास जहाँ अपने पात्रों की वियोग की दशा को आँसू बहा देने मात्र से समाप्त कर देते हैं, भवभूति के पात्र वहाँ अपने मनोविकारों को फूट-फूट कर रो लेने के बाद शान्त करते हैं।

३. कालिदास की वर्णनशैली सरल, भाषा ललित और भाव सुष्ठु हैं; किन्तु भवभूति की शैली आडम्बरयुक्त, भाषा समासयुक्त और भाव प्रौढ़ हैं। कालिदास ने प्रकृति में ललित एवं सुकुमार रूप को ही लिया है; किन्तु भवभूति ने प्रकृति के कोमल तथा कठोर दोनों रूपों को ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए कालिदास का हिमालय-वर्णन और भवभूति का विंध्य-वर्णन देखा जा सकता है। कालिदास का ध्यान प्रकृति के कोमल पहलू पर रहा है तो भवभूति का प्रचण्ड एवं घोर पक्ष पर। कालिदास और भवभूति के उपमा-प्रयोगों में भी अन्तर है। कालिदास ने जहाँ मूर्त उपमानों को लिया भवभूति ने वहाँ अमूर्त उपमानों को ग्रहण किया है। कालिदास वल्कलधारिणी सीता की

उपमा सिवार में लिपटे कमलपुष्प से देते हैं तो भवभूति दुःखिनी सीता को मूर्तिमती करुणा या विरह-व्यथा के रूप में देखते हैं। कालिदास ने शृंगाररस का और भवभूति ने करुणरस का अद्भुत वर्णन किया है। कालिदास के कवित्व में कला का नैसर्गिक पक्ष और भवभूति के कवित्व में कला का आदर्श पक्ष ध्वनित हुआ है।

४. कालिदास की दृष्टि नारी के बाह्य सौंदर्य पर और भवभूति की दृष्टि नारी के अन्तःसौन्दर्य पर रही है। कालिदास ने उसको 'पक्वबिम्बाधरोष्ठी' में देखा है तो भवभूति की दृष्टि उसके 'इयं गेहे लक्ष्मीः' रूप पर रही है।

५. कालिदास के प्रेमवर्णन में यौवन की उदात्त शृंगारमय अवस्थाओं का चित्रण हुआ है; किन्तु भवभूति का प्रणय-चित्रण आदर्श दाम्पत्य से सम्बन्धित है। भवभूति के प्रणय-चित्रण की यह विशेषता अन्यत्र देखने को नहीं मिलती है। उसमें संयम और मर्यादायें हैं।

६. भवभूति की कविता में पाण्डित्य है; किन्तु कालिदास की कविता में सर्वत्र ही इस ध्वनि का अभाव है। कालिदास के कवित्व में जहाँ पाण्डित्य का कुछ पुट देखने के लिए मिलता है वह प्रदर्शन के लिए न होकर शास्त्र-मर्यादाओं के निर्वाह के लिए है।

७. कालिदास के नाटकों में विदूषकों द्वारा अभिव्यक्त मुक्त हास्य, कालिदास की विनोदी प्रकृति का सूचक है; किन्तु भवभूति के नाटकों में पण्डितजनोचित संयत हास्य उनकी गंभीर प्रकृति का परिचय देता है।

८. कालिदास और भवभूति की कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि भवभूति और कालिदास के ग्रन्थों में पर्याप्त घटना-साम्य है। भवभूति के 'उत्तररामचरित' के प्रथम अङ्क के चित्रदर्शन और कालिदास के 'रघुवंश' के चौदहवें सर्ग के इस श्लोक में पर्याप्त समानता है :

'तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्।'

'संसार के समस्त अभीष्ट सुखों का उपभोग करने वाले राम और सीता जब अपनी चित्रशाला में बैठ कर अपने अतीत जीवन के उन चित्रों का अवलोकन

करते थे, जिनमें दण्डकारण्य की दुःखद घटनाओं का चित्रण किया गया था, तब चिन्तन के क्षेत्र में आ जाने के कारण वे पूर्वानुभूत दुःख भी एक अपूर्व सुख की सृष्टि कर रहे थे।' इसी प्रकार 'उत्तररामचरित' के छठे अङ्क में राम तथा लव-कुश के आकस्मिक मिलन और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के सातवें अङ्क में दुष्यन्त तथा भरत का आकस्मिक मिलन, मिलता-जुलता है। 'उत्तररामचरित' के तीसरे अङ्क में भवभूति द्वारा की गई छाया-सीता की सृष्टि से 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के छठे अङ्क में अदृश्यरूप अप्सरा सानुमती द्वारा दुष्यन्त की विरहावस्था के अवलोकन में समानता है। इसी प्रकार 'मालतीमाधव' के नवम अङ्क और 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अङ्कमें और 'मालती-माधव' में विरही माधव का मालती के लिए मेघ द्वारा भेजा गया सन्देश 'मेघदूत' की भावना से बहुत मिलता-जुलता है।

इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि भवभूति पर कालिदास का प्रभाव रहा है।

अभिज्ञानशाकुन्तल और उत्तररामचरित

कालिदास और भवभूति की समानता उनके दो नाटकों : 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' और 'उत्तररामचरित' पर अवलम्बित है। इन दोनों प्रख्यातयशस् पंडितों ने दूसरे भी ग्रन्थ लिखे हैं; और यदि भवभूति की बात छोड़ भी दी जाय तो कालिदास के सम्बन्ध में यह बात सर्वविदित है कि उनके दूसरे ग्रन्थ अपने क्षेत्र के सर्वोच्च ग्रन्थों में गिने जाते हैं; किन्तु आज उनको जो दिगन्त-व्यापी यश प्राप्त हुआ है उसका कारण उनकी यही नाटककृति है। कालिदास और भवभूति के इन दोनों नाटकों के कथानकों का भिन्न-भिन्न आधार होते हुए भी उनमें कुछ ऐसी विलक्षण एकता है, जो अनायास ही संस्कृत के प्रत्येक अभीप्सु के अन्तर्मन पर छा गई है।

कालिदास ने 'महाभारत' से और भवभूति ने 'रामायण' से कथानकों को लेकर अपने इन दोनों नाटकों का निर्माण किया; किन्तु 'महाभारत' के नीरस कथानक को कालिदास की वाणी ने रसमय कर दिया और राम के जीवन के जिस मार्मिक अंश को आदिकवि भी नहीं उलट-पुलट कर देख सके थे,

भवभूति ने वहीं प्रविष्ट होकर ऐसी भावानुभूति हमारे सामने रखी, जिसके प्रभाव से मानवमन की बात तो अलग रही, पत्थर तक पिघल गये और वज्र का हृदय तक टूक-टूक हो उठा।

किन्तु इतने मात्र से ही इन दोनों नाटकों की वास्तविकता स्पष्ट नहीं हो जाती है।

'महाभारत' के नीरस कथानक में लोकोत्तर रस को भरने के लिए कालिदास ने जो स्वतंत्र कल्पनायें की हैं उनमें अभिज्ञान और अभिशाप का बड़ा महत्त्व है। कालिदास ने यदि इन दो घटनाओं की कल्पना न की होती तो नाटक का कथानक यद्यपि फिर भी बन जाता; किन्तु उस दशा में नाटक के नायक दुष्यन्त का चरित्र लम्पट, कलंकित, स्त्रैण और एक साधारण विलासी राजा की भाँति चित्रित हुआ होता, जैसा कि 'महाभारत' में है। इसलिए 'अभिज्ञान' के प्रसंग को रखकर कालिदास ने दुष्यन्त के चरित को कर्तव्यनिष्ठ, सदाचारी और धर्मपरायण बना दिया है। आश्रम में शकुन्तला से जब उसका प्रथम साक्षात्कार होता है और बार-बार लुक-छिप कर वह उन मुनि-कन्याओं की बातें सुनता है, उसकी वह अवस्था कामुकता की है; किन्तु संयम और मर्यादा का वह अलग नहीं फेंक देता है। उस लुक-छिप कर देखने में भी उसका इरादा शकुन्तला से केलि-कलोल करके चलते बन जाना नहीं था; बल्कि विवाह करने का था। इसीलिए तो वह 'प्रमाणमन्तः-करणप्रवृत्तयः' अपने ऊपर विश्वास न करके अपने अन्तःकरण को साक्षी रूप में स्मरण करता है। शकुन्तला के प्रति उसकी लालसा कर्तव्यज्ञान से संयुक्त थी।

ठीक ऐसी ही उदात्तकल्पना भवभूति ने, राम के चरित को बचाने के लिए अपने नाटक में की। वह कल्पना थी न्याय की, प्रजापालन की। एक पतिनिष्ठ, पवित्र और आदर्श नारी की प्रवंचना करके उसको जंगल में हिंसक जन्तुओं के बीच डालकर राम के नाम पर भारी कलङ्क लग गया होता। उसके आगे एक ओर तो सुख, सौख्य, प्रेम, पत्नी और संसार की समग्र वस्तुएँ हैं; किन्तु दूसरी ओर धर्म का परिपालन तथा लोक का मनोरंजन है। इन दोनों में लोक के प्रति अपना दायित्व ही बलवान् होकर राम के समक्ष आता है

और तब वह अन्तःकरण से सीता को निरपराधिनी मानकर भी घर से निकाल देने के लिए विवश हो उठते हैं। उसने अपने सारे व्यक्तित्व एवं अपनी सारी स्वतन्त्रता को अपने दायित्व तथा अपने कर्तव्य से ढँक दिया। इसलिए उसका चरित मलिन होने की अपेक्षा अधिक निखर आया।

शकुन्तला और सीता, दोनों नारियों का चरित सर्वथा भारतीय है। शकुन्तला का परिचय हमें एक वनकन्या के रूप में मिलता है, जिसका वृक्षों के प्रति सहोदर भाइयों जैसा स्नेह है। आश्रम के वृक्ष-लताओं के साथ उसका वैसा ही संबंध है, जैसा मनुष्य का मनुष्य के प्रति होता है।

किन्तु उसके अन्दर नारीत्व भी है। उसके युवा जीवन में एक सौम्य युवक के सहसा ही आ जाने से अनायास ही उसके मन में दुष्यन्त के प्रति प्रेमभाव जाग उठता है। तीसरे अंक में शकुन्तला की सखी प्रियंवदा के, राजा से यह कहने के बाद कि 'हमारी प्रिय सखी की जीवनरक्षा का उपाय कीजिए', फौरन ही शकुन्तला सखी को उद्देश्य करके ताना कसती है 'छोड़ो भी सखी, अन्तःपुर की रमणियों के विरह में उत्कंठित इन राजर्षि को रोके रखने का कोई प्रयोजन नहीं है।' उसके बाद राजा के साथ उसका खुला प्रणय-व्यवहार चलता है। उसका यह व्यवहार बहुत ही अरुचिकर और असंयत है। बाबू द्विजेन्द्र लाल राय का तो यहाँ तक कहना है कि 'इस तृतीय अंक में शकुन्तला का निर्लज्ज आचरण देखकर हम व्यथित होते हैं। हजार हो, वह तापसी थी। यह निश्चय है कि मेनका के गर्भ से उसका जन्म न होता, तो उसका आचरण और भी संयत होता।' उसके इस अन्धे आत्मसमर्पण के लिए कालिदास जिम्मेदार है। वस्तुतः वह समय की गति थी। यहाँ पर कविजन उसके प्रेम के स्वर्गीय भाव को पहचानने में असमर्थ रहे। इसीलिए कालिदास के हाथों यहाँ ऐसा स्खलन हुआ।

दुष्यन्त के चले जाने पर शकुन्तला इतनी खो जाती है कि दुर्वासा तक का शाप उसे नहीं सुनाई देता है। बाद में उसका प्रकृतिप्रेम पुनः फूट पड़ता है। आश्रम से विदा होते समय वृक्ष, लताओं, मृगछौने और आश्रमवासियों के प्रति उसका करुण-विलाप बड़ा ही हृदयद्रावक है।

शकुन्तला के भीतर नारीत्व की सभी कोमलतायें विद्यमान हैं। संकोच और लज्जा उसके चरित्र के दो महान् गुण हैं। उसके ये गुण उसका सर्वनाश होने पर—अर्थात् दुष्यन्त द्वारा उसके साथ विवाह न किये जाने पर—भी उससे दूर नहीं हो पाते। किन्तु उसके भीतर मानापमान की तीव्रता भी विद्यमान है। वह जब दुष्यन्त को किसी भी प्रकार अपने पूर्व परिचय का विश्वास न दिला सकी तो दुष्यन्त ने सारी स्त्री जाति पर धोखा देने का आरोप लगाया। दुष्यन्त की इस बात से शकुन्तला तिलमिला गई और उसको कहना पड़ा 'हे अनार्य, धर्म का कंचुक पहने तुम एक तृण-ढके कूप के समान हो। जैसे तुम हो, वैसा ही तुम सारी दुनिया को देखते हो। तुम्हारी उपमा नहीं है।'

इस प्रकार शकुन्तला, कालिदास की एक गुणदोषमयी सृष्टि है। गुण-दोष, दोनों में उसके चरित की मधुरता है।

सीता का चरित, शकुन्तला से भिन्न है। नाटक के प्रथम अंक में वह आत्मचिन्तारहित, पति के व्यक्तित्व में समायी हुई चित्रित की गई है। चित्रपट में राम के विरह-कातर स्वरूप को देखकर उसे बड़ा दुःख होता है। उसकी यह पीड़ा तब अधिक तीव्र हो उठती है, जब वह इसका कारण अपने को ही समझती है। तीसरे अंक में, अपनी परित्यक्तावस्था में भी वह राम को सर्वथा निर्दोष समझती है। वासन्ती द्वारा राम को जनस्थान दिखाए जाने पर राम को बड़ा संताप होता है। इस पर भी सीता अपने को ही दोष देती है 'एवमस्मि मन्दभागिनी पुनरप्यायासकारिणी आर्यपुत्रस्य'। वह सर्वदा ही राम के कल्याण की आकांक्षिणी बनी रही। आत्मबलिदान कर अपमान एवं अभिमानरहित सीता का यह प्रेम वस्तुतः अतुलनीय है, जिसकी कल्पना केवल भवभूति ही कर सके।

हम यदि वाल्मीकि की सीता के साथ भवभूति की सीता की तुलना करते हैं तो हमें लगता है कि भवभूति की अपेक्षा वाल्मीकि ने उसको अधिक पार्थिव और स्पष्ट रूप से चित्रित किया है। भवभूति की सीता में तरलता, कोमलता तथा अपार्थिवता है; किन्तु वाल्मीकि की सीता में तेज, कान्ति, सतीत्व और राजमहिषी का भाव है।

कालिदास की शकुन्तला से तो भवभूति की सीता का कोई तारतम्य ही नहीं है। यद्यपि शकुन्तला में भी लज्जा तथा संयम कूट-कूट कर भरा है; किन्तु समय आने पर दुष्यन्त की भर्त्सना करना वह नहीं भूलती है; किन्तु सीता के मन में स्वप्न में भी राम को प्रताड़ित करने या दोषी ठहराने की बात नहीं उठी है। सीता और शकुन्तला के चरित्रों की भिन्नता द्विजेन्द्र बाबू के शब्दों में इस प्रकार है :

"कालिदास की शकुन्तला के साथ भवभूति की सीता की तुलना संभव नहीं है। शकुन्तला एक चरित्र है, सीता एक धारणा है। शकुन्तला सजीव नारी है, सीता एक पाषाण-प्रतिमा है। शकुन्तला उमड़ी हुई नदी है, सीता स्वच्छ सरोवर है। कालिदास की शकुन्तला हँसी है, रोई है, गिरी है, ऊपर उठी है, और उसने सहन किया है; किन्तु सीता ने आदि से अन्त तक केवल प्यार किया है। निर्वासन शल्य भी उसके उस अटल प्रेम को वेध नहीं सका, निष्ठुरता उसको डिगा नहीं सकी। किन्तु उस प्रेम ने कोई कार्य नहीं किया। वह प्रेम, ज्योत्स्ना (चाँदनी) की तरह गतिहीन है, सूरजमुखी की तरह परमुखापेक्षी है, विरह की तरह करुण है और हँसी की तरह सुन्दर है।......भवभूति की सीता जैसे किसी हेमन्त ऋतु के उज्ज्वल प्रभात का शेफालि-सुरभित (हरसिंगार के फूलों की सुगन्ध से युक्त) स्वप्न है; किन्तु वह स्वप्न स्वप्न ही रह गया।"

इन पात्रों के अतिरिक्त दोनों नाटकों में अनेक अन्य पात्र भी हैं; किन्तु उनके द्वारा नाटक की किसी घटना में कोई विशेष योग नहीं मिला। फिर भी 'उत्तररामचरित' की अपेक्षा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ये पात्र अधिक सजीव और अधिक स्पष्ट हैं। 'उत्तररामचरित' के लक्ष्मण, लव, कुश, चन्द्रकेतु, शम्बूक, वाल्मीकि, जनक, वासन्ती, आत्रेयी, तमसा और मुरला आदि पात्रों का पूरा विकास नहीं हो पाया है। उधर 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के विदूषक, कंचुकी, प्रतीहारी, मालती, कण्व, प्रियंवदा, अनसूया, गौतमी, शार्ङ्गरव तथा शारद्वत ने अनेक स्थलों पर अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रकट करने का यत्न किया है। 'उत्तररामचरित' में लव और चन्द्रकेतु का क्षात्र तेज अवश्य ही प्रशंसनीय है।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' और 'उत्तररामचरित' नाटक होने पर भी काव्य की दृष्टि से महनीय हैं। उसका कारण यह है कि कालिदास तथा भवभूति ने उनमें जो कुछ भी वर्णन किया है उसमें बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य की अतिशयता है। यह सौन्दर्य क्षणिक आनन्द देकर क्षीण नहीं हो जाता है। आन्तरिक सौन्दर्य की छाप एक बार पड़ने पर अमिट हो जाती है।

कालिदास तथा भवभूति ने भी बाह्य सौन्दर्य का चित्रण किया है; किन्तु उसमें भी सजीवता है शकुन्तला का रूपचित्रण करते हुए कालिदास ने लिखा है:

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः ।
अनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं ।
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥'

अर्थात् 'वह निर्दोष रूप एक ऐसे फूल के समान है, जिसे किसी ने सूँघा नहीं; एक ऐसे किसलय के समान है, जिसे किसी ने नाखून से खरोंचा नहीं; एक ऐसे रत्न के समान है, जिसे किसी ने पहना नहीं; और ऐसे नवीन मधु के समान है, किसका किसी ने रस चखा ही नहीं। पुण्यों के अखण्ड फल के समान वह अछूता रूप विधाता न जाने किस भोग करने-वाले को देगा।'

इसी प्रकार 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला के बाह्य सौन्दर्य का अनेक स्थलों पर काव्यमय ढंग से वर्णन किया है।

इसके विपरीत भवभूति ने सीता के बाह्य स्वरूप का खुलकर कहीं भी वर्णन नहीं किया है। उन्होंने उसके मुखमात्र की छटा दिखाकर इस प्रसंग को आगे बढ़ाया ही नहीं है। वास्तव में भवभूति की दृष्टि सीता के बाह्य सौन्दर्य पर न होकर उसके आन्तरिक गुणों पर थी। उसका स्पर्श सुखकारी है या दुःखकारी है, इसका निश्चय राम कर ही नहीं सके (विनिश्चेतुं शक्ये न सुखमिति वा दुःखमिति वा)। भवभूति ने तो उसका 'पीले तथा दुर्बल कपोलों से सुन्दर और बिखरी हुई वेणी से युक्त मुख' को देखा है। या तो

पाया है कि 'वह करुण रस की मूर्तिमान विरह-व्यथा है।' सीता के प्रति भवभूति का यह संयम एवं आदर्शभाव निश्चित ही यह बताता है कि उन्होंने उसको कालिदास की शकुन्तला की भाँति एक नायिका के रूप में नहीं; बल्कि माता के रूप में देखा है। फिर भी यह नहीं समझना चाहिए कि कालिदास ने शकुन्तला का जो रूप-सौन्दर्य आँका है उसमें कामुकता के उद्रेक के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। वस्तुतः कालिदास के द्वारा दर्शित सभी रूप-दर्शन की अवस्थायें नाट्यशास्त्र के संविधानों के अनुरूप हैं। उनका मूल्यांकन इस दृष्टि से किए जाने पर ही उनकी वास्तविकता का अन्दाज लगाया जा सकता है। वे ऐसे शब्दचित्र हैं जिन्हें पढ़कर एक कल्पित शकुन्तला सामने खड़ी हो जाती है।

कालिदास की दृष्टि नारी के बाह्य सौन्दर्य पर है। वह नारी को 'बिम्बाधरा' कहना अधिक पसन्द करता है; किन्तु भवभूति की दृष्टि नारी के अन्तः-सौन्दर्य पर टिकी है। वह नारी की उपयोगिता 'इयं गेहे लक्ष्मी' होने में समझता है।

दोनों कवियों ने पुरुष-सौन्दर्य का भी वर्णन किया है; किन्तु भवभूति की भावनायें अपेक्षाकृत कुछ ऊँची हैं। कालिदास ने दूसरे अङ्क में सेनापति के मुख से दुष्यन्त के सुगठित, विशाल और बलवान् शरीर का वर्णन करते हुए कहा है कि 'वह पर्वत पर विचरने वाले हाथी की तरह महासारयुक्त बलिष्ठ जान पड़ता है:'

'गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति।'

किन्तु सीता के मुख से भवभूति, राम का जो सजीव चित्र हमारे सामने रखते हैं वह इस प्रकार है: 'अहो, प्रस्फुटित नवीन नीलकमल के समान श्यामल, स्निग्ध, मसृण, शोभायुक्त तथा सुगठित शरीर है; आकार सौम्य और सुन्दर है; मुख-मण्डल भोलेपन से भरा हुआ है; काकपक्षवत् कटे हुए केशों से कमनीय है; आर्यपुत्र की ओर तात जनक विस्मय की दृष्टि से देख रहे हैं और आर्यपुत्र ने अनायास ही शङ्कर के शरासन को भङ्ग कर डाला है! वाह, कैसी सुन्दर आर्यपुत्र की मूर्ति इस चित्र में अङ्कित है।' (अहो, दलन्नवनीलोत्पल······आर्यपुत्रः आलिखितः!)

इससे अधिक निपुणता भवभूति ने शिशुरूप के चित्रण में दिखाई है।

प्रकृति-चित्रण की दिशा में दोनों नाटककारों ने मध्यमश्रेणी का कार्य किया है। मध्यकोटि का इसलिए कि दोनों नाटककारों की दृष्टि कथा की वास्तविकता में बँधी थी। फिर भी पंचवटी के चित्रण में भवभूति ने इस श्लोक में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है :

> पुरा यत्र स्रोतःपुलिनमधुना तत्र सरितां
> विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
> बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
> निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति॥

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शृङ्गार रस की प्रधानता है ; किन्तु शान्त रस का भी बड़ा सुन्दर समावेश उसमें पाया जाता है। इसी प्रकार 'उत्तररामचरित' करुण रस की उत्कृष्ट कृति है।

नाट्यशास्त्रीय संविधानों की दृष्टि से यदि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के साथ हम 'उत्तररामचरित' की तुलना करते हैं तो हमें लगता है कि उसकी कथावस्तु बड़ी शिथिल है।

इस नाटक की दो प्रमुख घटनायें हैं : राम-सीता का वियोग और मिलन। प्रथम अंक में वियोग और अन्तिम सातवें अंक में मिलन दिखाया गया है। बीच के सभी अंक अवान्तर घटनाओं से सम्बद्ध हैं। इन अंकों में राम का शम्बूक के साथ पंचववटी की सैर, छाया-सीता के समक्ष विलाप, जनक, कौशल्या तथा अरुन्धती के साथ लव का परिचय और लव-चन्द्रकेतु का युद्ध—ये सभी अवान्तर घटनायें न भी होतीं या परिवर्तित रूप में भी होतीं तो काम चल सकता था।

नाटक का पहला और सातवाँ अंक यदि प्रमुख कथावस्तु दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तो नाटकता की दृष्टि से भी उन्हें नाटक का सर्वोच्च अंश कहा जा सकता है। प्रथम अंक में जानकी के वनवास तक का कथानक बड़ी ही तीव्रता से आगे बढ़ता है। और बाद के पाँच अङ्कों में नाटकत्व शिथिल रूप से चलता है। सातवें अङ्क में 'सीता-निर्वासन' का अभिनय किया जाता है

इस अभिनय को देखते हुए राम के मन में उठे हुए भाव उसकी विचलित भीतरी स्थिति का परिचय देते हैं।

इस नाटक में दो ही घटनायें जोरदार हैं : सीता-निर्वासन और लव-चन्द्रकेतु का युद्ध।

दुष्यन्त की भाँति राम का अन्तर्विरोध भी इस नाटक में कहीं दर्शित नहीं हुआ है। राम ने अवश्य ही सीता के लिए बड़ा विलाप किया है ; किन्तु उस विलाप में एकान्त विवशता है ; संकल्प के साथ कर्तव्य का विरोध नहीं है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के समक्ष 'उत्तर-रामचरित' न्यून ही ठहरता है। कवित्व की दृष्टि से अवश्य ही 'शाकुन्तल' के साथ उसका पूरा तारतम्य है।

(७) विशाखदत्त

जीवनी

संस्कृत के दूसरे ग्रन्थकारों के समान विशाखदत्त की जीवनी के संबंध में भी बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। सच तो यह है कि संस्कृत के नाट्य-शास्त्रीय आचार्यों ने यदि यह नियम न बना दिया होता कि नाटक की प्रस्तावना में उसके निर्माता का परिचय होना नितान्त आवश्यक है तो कुछ असंभव नहीं कि आज हमें संस्कृत के नाटककारों के संबंध में जो कुछ संकेत मिलता है वह भी न हुआ होता। वैसी अवस्था में हमारे समक्ष अधिकांश नाटकों के संबंध में यह भी समस्या उपस्थित हुई होती कि उनका निर्माता कौन था।

इस नियम से आबद्ध होकर अपने नाटक की प्रस्तावना में विशाखदत्त ने सूत्रधार के मुख से जो कहलाया है उससे ज्ञात होता है कि उनका एक नाम विशाखदेव भी था। उनके पिता का नाम महाराज पृथु और पितामह का नाम सामन्त वटेश्वरदत्त था। नाटक की प्रस्तावना में विशाखदत्त का इतना ही परिचय है। इधर जर्मन विद्वान् प्रो० हिलेब्रान्ट ने भारतीय संग्रहों

में सुरक्षित 'मुद्राराक्षस' की सभी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का अनुशीलन कर यह सूचना दी थी कि कुछ प्रतियों में विशाखदत्त के पिता का नाम भास्करदत्त भी लिखा हुआ मिलता है।

विशाखदत्त के पिता पृथु कहाँ के महाराज थे, इस संबंध में विद्वानों ने अनेक ऐतिहासिक प्रमाण खोज निकाले हैं। प्रो० विल्सन ने महाराज पृथु को चौहानवंशीय राय पिथौरा या पृथ्वीराज सिद्ध करने की चेष्टा की है; किन्तु विशाखदत्त के पूर्वजों के साथ महाराज पृथ्वीराज के पूर्वजों का वे तारतम्य नहीं बैठा सके। उन्होंने, विशाखदत्त के पितामह सामन्त बटेश्वर को सोमेश्वर कहा है; किन्तु संस्कृत के महाकाव्य 'पृथ्वीराजविजय' (१२०० ई०) के इस उल्लेख से कि 'जयति सोमेश्वरनन्दनस्य', महाराज पृथ्वीराज के पिता का नाम स्पष्ट हो गया है। इसलिए 'पृथु' और 'पृथ्वी' शब्दों के आधार पर अनुमानित प्रो० विल्सन का मत मान्यता नहीं प्राप्त कर सका। इसके अतिरिक्त प्रो० हिलेब्रांत को भी पृथु का पाठान्तर 'पृथ्वी' न मिलकर भास्करदत्त मिला है।

विशाखदत्त के जन्म और जन्मस्थान के संबंध में भी अनेक बातें कही गई हैं। किसी ने उन्हें दक्षिण का सिद्ध किया है तो किसी ने मध्यदेश, बंगाल तथा उत्तरी भारत का। प्रो० विल्सन ने उसको दक्षिण का निवासी बताया है और अपने कथन के लिए 'मुद्राराक्षस' की उस उपमा को उद्धृत किया है, जिसमें 'हिम के समान विमल मोती' कहा गया है। पं० काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग ने विल्सन के मत के विरुद्ध विशाख को उत्तरी भारत का सिद्ध किया है। नाटक के भरतवाक्य के साथ उन्होंने भारतीय आर्कियोलॉजिकल सर्वे की रिपोर्ट में उद्धृत उत्तरी भारत के वराह अवतार के मन्दिरों तथा उनके भग्नावशेषों की तुलना करते हुए अपना यह मत निर्धारित किया है। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने नाटक में गौड़ीय रीति की प्रधानता के कारण विशाखदत्त को गौड़देशीय और 'बटेश्वर' शब्द से उनको बटेश्वर नामक नगर के शिवभक्त वंश का बताया है। नाटक के भरतवाक्य में उल्लिखित 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' के अवान्तर पाठ 'पार्थिवो दन्तिवर्मा' के आधार पर विशाखदत्त का सम्बन्ध ७वीं शताब्दी के पल्लववंशीय राजा के साथ जोड़कर

उसको दक्षिण का सिद्ध किया है; किन्तु पल्लववंशीय राजाओं को इतिहास में परम शैव कहा गया है, जब कि नाटक के भरतवाक्य में राजा को विष्णु का अवतार मानने की कल्पना की गई है। कुछ विद्वानों ने विशाखदत्त को बंगालनिवासी बताया है। प्रो० विधुभूषण गोस्वामी ने संपूर्ण नाटक का परीक्षण करने के उपरान्त यह सिद्ध किया है कि विशाखदत्त उत्तरी भारत का निवासी था। वह परम शैव था और मालव के मौखरी वंश के राजा अवन्तिवर्मा के आश्रित था।

आगे चलकर नाटककार के स्थितिकाल के प्रसंग में इन बातों पर विस्तार से विचार किया जायगा; किन्तु उसके संबंध में इतना तो निश्चित है कि वह ऐसे वंश में पैदा हुआ था, जिसका राजवंशों से सक्रिय सम्बन्ध था और इसलिये वह राजनीति का पूर्ण ज्ञाता था। वह अपने क्षेत्र में सफल नाटककार है। उसकी कवित्व शक्ति को यद्यपि उतनी ऊँची नहीं कहा जा सकता है; फिर भी विरासत में उसको जैसा वातावरण और जैसे संस्कार मिले थे उनको उसने अपने नाटक में उपयुक्त ढंग से पिरोकर संस्कृत-साहित्य के लिए अपने विषय की अकेली कृति प्रदान की है। उसके नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि वह ज्योतिषशास्त्र का भी ज्ञाता था।

स्थितिकाल

विशाखदत्त का स्थितिकाल क्या था, इस संबंध में बड़ी छान-बीन हुई है और अब तक जितने विद्वानों ने जो-कुछ मान्यताएँ रखी हैं उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है :

१. 'मुद्राराक्षस' के निर्माणकाल की छान-बीन करनेवाले विद्वानों में पहला नाम प्रो० विल्सन का है। उन्होंने 'म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः' इस श्लोक में आये 'म्लेच्छ' शब्द से गजनवी तथा गोरी को लिया है और :

'बुद्धिजलनिर्झरैः सिच्यमाना देशकालकलशैः।
दर्शयिष्यति कार्यफलं गुरुकं चाणक्यनीतिलता॥'

इस श्लोक में निहित अलंकृत शैली को आधार मान कर 'मुद्राराक्षस' का निर्माणकाल ११वीं या १२वीं शताब्दी में रखा, जिसका अनुकरण कि अन्य यूरोपीय विद्वानों ने भी किया।

२. इस स्थापना के विरुद्ध बम्बई हाईकोर्ट के तत्कालीन न्यायाधीश श्री काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग ने 'मुद्राराक्षस' का बारीकी से अध्ययन करके यह सिद्ध किया कि विल्सन महोदय का सिद्धान्त सर्वथा आधारहीन है। उन्होंने लिखा है कि विल्सन महोदय की बात को यदि सही भी माना जाय तब भी भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण आठवीं शताब्दी के मध्य तक हुए हैं। तैलंग महोदय ने 'मालविकाग्निमित्र' और 'महावीरचरित' के उदाहरण देकर विल्सन महोदय की इस बात को भी अयुक्त साबित किया है कि उक्त प्रकार की अलंकृत शैली का प्रयोग हुआ ही नहीं था।

'मुद्राराक्षस' की नवीनता को सिद्ध करने के लिए विल्सन महोदय ने जैन क्षपणक जीवसिद्धि को उद्धृत करते हुए लिखा है कि जैन जीवसिद्धि को 'क्षपणक' (जो कि बौद्धों के लिए प्रयुक्त होता रहा है) कहना यह सिद्ध करता है कि उस समय भारत से बौद्ध विलुप्त हो गये थे। इसका भी तैलंग महोदय ने खण्डन किया है।

तैलंग महोदय ने 'मुद्राराक्षस' के निर्माणकाल के लिए धनंजय के 'दशरूपक' और महाराज भोज के 'सरस्वतीकंठाभरण' के कुछ अंशों को प्रस्तुत किया है। 'दशरूपक' में एक श्लोक :

> 'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
> प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
> विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
> प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ॥'

'मुद्राराक्षस' से उद्धृत किया गया है, जो कि भर्तृहरि (७०० ई०) के 'नीतिशतक' से लिया गया है। भर्तृहरिशतक में इस श्लोक के अन्तिमांश 'गुणास्त्वमिवोद्वहन्ति' के स्थान पर 'जना न परित्यजन्ति' है। इसलिए 'दशरूपक' में उद्धृत उक्त श्लोक का आधार 'मुद्राराक्षस' ही प्रतीत होता है। इसके

अतिरिक्त तैलंग महोदय ने लिखा है कि 'दशरूपक' में तीन बार 'मुद्राराक्षस' का उल्लेख हुआ है।

'सरस्वतीकंठाभरण' में भी 'मुद्राराक्षस' का यह प्राकृत श्लोक :

'उवरि घणं·········सप्पो समाविहो'

कुछ परिवर्त्तन के साथ संस्कृत अनुवाद के रूप में उद्धृत हुआ है।

इसके अतिरिक्त रामचन्द्र गुणभद्र (१२०० ई०) की संयुक्त कृति 'नाट्यदर्पण' और भोजकृत 'शृंगारप्रकाश' में, विशाखदत्त के नवोपलब्ध नाटक 'देवीचन्द्रगुप्त' के उदाहरण दिये गये हैं।

इन आधारों पर 'मुद्राराक्षस' का निर्माण ११वीं शताब्दी ई० से पहले हो चुका था।

३. 'मुद्राराक्षस' के भरतवाक्य में उल्लिखित एक श्लोक को लेकर विद्वानों ने उसके निर्माणकाल पर अनेक तरह से विचार किया है। इस श्लोक का उत्तरार्ध है :

'म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः।'

जिसका आशय है कि जैसे भगवान् विष्णु ने हिरण्याक्ष के उत्पीड़नों से संतप्त इस भूतल का उद्धार वराह रूप धारण करके किया, वैसे ही संप्रति म्लेच्छों के द्वारा उत्पीड़ित पृथ्वी की वह पार्थिव चन्द्रगुप्त अपने बाहुबल से रक्षा करे।

४. इस श्लोक में उल्लिखित 'म्लेच्छैरुद्विज्यमाना', 'अधुना' और 'चन्द्रगुप्तः' इन पदों का विश्लेषण करके डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है कि नाटककार ने अपने समय में वर्तमान हूण-विजेता गुप्तवंशीय राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय की ओर संकेत किया है। इसलिए 'मुद्राराक्षस' का निर्माण पाँचवीं शताब्दी में हुआ।

५. श्री वी० जे० अन्तानी ने डॉ० जायसवाल द्वारा अनुमानित 'म्लेच्छ' शब्द पर आपत्ति करते हुए कहा है कि उसका हूणों से ही तात्पर्य क्यों लिया गया है ? उसको हूण, यवन, शक आदि सभी के लिए लिया जाना चाहिए, क्योंकि भारतीय परम्परा के अनुसार 'म्लेच्छ' शब्द से उक्त सभी

जातियों को लिया जाता रहा है। वैसे भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय तक हूण इतने शक्तिशाली नहीं हुए थे कि जिनको परास्त करने के लिए चन्द्रगुप्त को वराह के अवतार की उपमा दी जाने की आवश्यकता हुई हो। अन्तानी महोदय के अनुसार यद्यपि नाटककार ने अपने आश्रयदाता का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है; फिर भी उसके भरतवाक्य में उद्धृत 'चन्द्रगुप्त' से मौर्य चन्द्रगुप्त का ही आभास होता है।

६. तैलंग महोदय को 'मुद्राराक्षस' की जो हस्तलिखित प्रतियाँ खोज में मिली थीं उनमें-से एक में 'चन्द्रगुप्त' के स्थान पर 'अवन्तिवर्मा' पाठ लिखा हुआ था। इस नाम के दो राजाओं का अब तक पता चला है: एक तो काश्मीर-नरेश और दूसरे मौखरी वंश के राजा, जिनके पुत्र का नाम ग्रहवर्मा था। इन दोनों में तैलंग महोदय ने तथा उनके अनुकरण पर प्रो० विधुभूषण गोस्वामी ने भी मौखरी वंश के राजा अवन्तिवर्मा को लिया है।

७. किन्तु यह मत इतिहाससंमत प्रतीत नहीं होता है। इतिहास से यह पता चलता है कि थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की तीन सन्तानें थीं: राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री। इसी राज्यश्री के साथ कन्नौज के राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा का विवाह हुआ था। इतिहास से हमें यह भी ज्ञात होता है कि जब मालवराज देवगुप्त ने कन्नौज पर चढ़ाई करके ग्रहवर्मा को मार डाला था तो राज्यवर्धन ने देवगुप्त से बदला लिया था। उस समय राज्यवर्धन के मारे जाने पर उसके भाई हर्षवर्धन ने दिग्विजय प्राप्त करके कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया था।

यदि 'मुद्राराक्षस' की उक्त प्रति का 'अवन्तिवर्मा' पाठ शुद्ध है तो इन्हीं ग्रहवर्मा के पिता अवन्तिवर्मा (६१२ वि०) के समय नाटक की रचना हुई थी। इस अवन्तिवर्मा के सिक्कों (गु० सं० २५०–वि० सं० ६१२) पर गुप्त संवत् का उल्लेख हुआ है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वह गुप्तवंश के अधीन था। उसने हूणों को विजय करने के लिए गुप्तों की मदद ली होगी, जिससे कि उक्त श्लोक में चन्द्रगुप्त का उल्लेख हुआ है।

इस दृष्टि से विशाखदत्त को छठी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में रखना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

८. अवन्तिवर्मा के अतिरिक्त कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'रन्तिवर्मा' और 'दन्तिवर्मा' पाठ भी मिलता है। दन्तिवर्मा नाम का एक पल्लव राजा ७७९–८३० ई० में और दो राष्ट्रकूट राजा ६००–७५० ई० दक्षिण में हुए। इनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

९. उक्त भरतवाक्य में चन्द्रगुप्त के 'पार्थिवः' और 'श्रीमद्बन्धुभृत्यः' ये दो विशेषण दिए गए हैं। विद्वानों का कथन है कि प्रथम विशेषण तो चन्द्रगुप्त के लिए प्रयुक्त हुआ है और दूसरा विशेषण उनके बड़े भाई सम्राट् रामगुप्त के लिए। टीकाकार ढुंढिराज ने भी उक्त शब्द का अर्थ 'श्रीमन्तः बन्धवो भृत्याश्च यस्य सः' रामगुप्त से ही लगाया है; क्योंकि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अपने बड़े भाई रामगुप्त के अत्यन्त अनुयायी थे। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यही सिद्ध होता है कि मौर्य चन्द्रगुप्त ने ग्रीक तथा पर्वतक आदि म्लेच्छों से संतप्त पृथ्वी की रक्षा की थी। पश्चिमोत्तर भारत पर अधिष्ठित शकों को समूल नष्ट कर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भारत की रक्षा की थी।

१०. नाटक में उल्लिखित भौगोलिक स्थिति के आधार पर यदि उसके निर्माणकाल पर विचार किया जाय तो कई तथ्य सामने आते हैं। नाटक में पाटलिपुत्र का जो भूगोल मिलता है उससे विदित होता है कि यह नगर उस समय सोन नदी के दक्षिण में बसा हुआ था और उसके तीसरे अङ्क में उल्लिखित सुगांगप्रासाद, गंगा के समीप था। चीनी यात्री फाहियान, जो कि ३९९ ई० तक भारत की यात्रा करता रहा, अपने विवरण में लिखता है कि उस समय पाटलिपुत्र सोन के दक्षिण में बसा हुआ एक वैभवशाली नगर था और वह मगध की राजधानी होने का भी यश प्राप्त कर रहा था। इसके विपरीत हुएनच्वांग (६२९–६४३ ई०) नामक दूसरा यात्री पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में लिखता है कि वह नगर ७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उजाड़ हो गया था।

इसलिए 'मुद्राराक्षस' का निर्माणकाल ४००–७०० ई० के बीच होना चाहिए।

११. नाटक के निर्माण की यह संभावना उसमें उल्लिखित स्थानों और जातियों के आधार पर भी प्रमाणित होती है। नाटक में काश्मीर, काम्बोज,

किरात, कुलूत, खस, गांधार, चेदि, पारस, मगध, मलय, मालव, यवन, वाह्लीक, शक, सिन्ध और हूण आदि अनेक ऐसे प्राचीन स्थान और ऐसी प्राचीन जातियाँ हैं, जिनमें—से अधिकांश का अस्तित्व और अधिकांश की ख्याति ७०० ई० से पूर्व की है।

इन सभी बातों का विश्लेषण करने पर हमारी यह धारणा है कि विशाखदत्त का स्थितिकाल पाँचवीं शताब्दी ई० के लगभग था।

मुद्राराक्षस

विशाखदत्त की प्रतिभा उनके एकमात्र नाटक 'मुद्राराक्षस' पर अवलम्बित है। हाल ही में उनके नाम से 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक एक अधूरा नाटक भी मिला है, जिसके आधार पर हिन्दी में स्व० श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना की है। इन दो कृतियों के अतिरिक्त वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' में भी विशाखदत्त के नाम से दो अनुष्टुप् छन्द उद्धृत किए गए हैं।

नाटक के प्रथम अंक में नेपथ्य से चाणक्य की गंभीर प्रतिज्ञा सुनाई पड़ती है कि वह समग्र नन्दवंश का विनाश कर राक्षस को अपने वश में करने के लिए कृतसंकल्प है। इसके बाद कथानक के आरंभ में यह दिखाया गया है कि चाणक्य ने राक्षस के द्वारा चन्द्रगुप्त को मारने के लिए भेजी गई विषकन्या द्वारा पर्वतेश्वर का वध करा दिया और लोक में यह झूठी बात फैला दी है कि राक्षस ने पर्वतेश्वर को मरवाया है। इधर चाणक्य का गुप्तचर भागुरायण, राक्षस का विश्वस्त व्यक्ति बनकर उसकी जड़ों को खोखली करने में लगा हुआ है। राक्षस अपनी पत्नी और बच्चों को सुरक्षा के लिए अपने मित्र श्रेष्ठी चन्दनदास के यहाँ रख लेता है। चन्दनदास एक जौहरी है और शकटदास उसका सहायक। निपुणक भी उन्हीं में से है; किन्तु वस्तुतः वह चाणक्य का गुप्तचर है। एक दिन किसी बच्चे ने संयोगवश चन्दनदास के घर के दरवाजे पर राक्षस की मुद्रिका गिरा दी थी, जिसको कि चुपके से निपुणक ने उठाकर चाणक्य को दे दिया। श्रेष्ठी चन्दनदास को चाणक्य बुलाता है और डरा-धमका कर उससे राक्षस का परिवार सौंप देने के लिए कहता है; किन्तु चन्दनदास साफ मुकर जाता है। अतः चन्दनदास को

इसी अपराध में पकड़ लिया जाता है और उसको कारागार में डाल दिया जाता है। इसी अंक में हमें चाणक्य की यह घोर गर्जना सुनने को मिलती है कि वह अपने बुद्धि-कौशल से मदमस्त हुए राक्षस को शीघ्र ही अपनी नीतिरज्जु में बाँध कर अपने अधीन कर लेना चाहता है।

दूसरे अंक का आरंभ राक्षस की भयावह चालों से होता है। वह चाणक्य की नीतिरज्जु से स्वयं को बचाते हुए ऐसा दाँव खेल रहा है, जिससे चाणक्य का भयंकर अनिष्ट हो सके। इस अंक के आरंभ में राक्षस का विराधक नामक गुप्तचर, जो सँपेरे के वेष में पाटलिपुत्र से आया है, राक्षस को आकर बताता है कि चन्द्रगुप्त को मारने के लिए आयोजित उसके सारे षड्यन्त्रों को चाणक्य ने विफल कर दिया है और उसके अभयदत्त, प्रमोदक आदि सारे गुप्तचर मौत के घाट उतार दिये गये हैं। इसी अंक में राक्षस एक चाल दूसरी खेलता है। चन्द्रगुप्त के यहाँ वैतालिकों के पद पर नियुक्त अपने गुप्तचरों द्वारा वह इस आशय की प्रशस्तियाँ सुनवाता है, जिससे चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त में फूट हो जाय। कुछ देर बाद ही यह सुनने को मिलता है कि चाणक्य से चन्द्रगुप्त रुष्ट हो गया है। यह सुन कर राक्षस को अपनी नीति की सफलता पर हर्ष होता है।

तीसरे अंक में चाणक्य की गंभीर नीतिमत्ता का परिचय मिलता है। चाणक्य को परोक्ष रूप से राक्षस की सभी गुप्त 'बातों का पता था। उसने चन्द्रगुप्त को सारी बातों का रहस्य बता दिया और इस प्रकार दोनों के प्रत्यक्ष व्यवहार में बनावटीपन आ गया। इसी बीच चन्द्रगुप्त की आज्ञा के विरुद्ध चाणक्य पाटलिपुत्र में कौमुदी महोत्सव मनाने का निषेध कर देता है, इसलिए कि कहीं ऐसे उत्सव-व्यस्त पुष्पपुर पर राक्षस तथा मलयकेतु का आक्रमण न हो जाय; किन्तु बाहरी दिखावे के लिए चन्द्रगुप्त, चाणक्य पर रुष्ट हो जाता है। दोनों का भयंकर वाद-विवाद होता है। सभी देखने वालों को यह विश्वास होता है कि चाणक्य की अवहेलना करके चन्द्रगुप्त ने सारी राज-काज-व्यवस्था पर अपना एकाधिकार कर लिया है। किन्तु यह सभी दिखावा मात्र था।

चौथे अंक में राक्षस की कूटनीति के पंख टूटने लगते हैं और वह पतनो-

न्मुख दिखाई देता है। पुष्पपुर से भागुरायण, मलयकेतु के पास आता है और उससे कहता है कि हम राक्षस पक्ष के लोगों की वास्तविक शत्रुता चाणक्य से है, चन्द्रगुप्त से नहीं है। इसी बीच शकटार भी पुष्पपुर से आता है और राक्षस को यह सूचना देता है कि चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त के बीच फूट पड़ गई है। यह समाचार सुनकर राक्षस खुश होता है और चन्द्रगुप्त को अपनी मुट्ठी में आया घोषित करता है। किन्तु राक्षस की इस कूटनीति की बातों को मलयकेतु सुन लेता है। उसके सामने सारी भावी बातें साकार हो उठती हैं। किन्तु वह कुछ भी प्रकट नहीं करता है। वह राक्षस के साथ पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने की योजना में व्यस्त हो जाता है।

पाँचवें अंक में अनेक घटनायें एक साथ घटित होती हैं। जीवसिद्धि क्षपणक पुष्पपुर जाने के लिए भागुरायण के पास शिविर में मुद्रा लेने के निमित्त आता है। यहाँ दोनों के वार्तालाप को मलयकेतु सुन लेता है। इसी बीच नकली पत्र और आभूषणों को लेकर शिविर से बाहर निकल भागने की चेष्टा करता हुआ सिद्धार्थक भी पकड़ लिया जाता है। उसे मलयकेतु के समक्ष बुलाकर पूछा जाता है। वह बताता है कि यह पत्र राक्षस का है और उसे लेकर वह चन्द्रगुप्त के पास जा रहा है। मलयकेतु को बड़ी निराशा होती है और राक्षस पर वह विश्वासघात का आरोप लगाता है। राक्षस ने उस समय जो भूषण पहने हुए थे वे पर्वतेश्वर के थे, जिनको चाणक्य के किसी गुप्तचर ने राक्षस के हाथ बेचा था। राक्षस को उन आभूषणों की वास्तविकता का कोई ज्ञान नहीं था। इसलिए मलयकेतु को यह विश्वास हो गया कि पर्वतेश्वर को राक्षस ने ही मारा था। फलतः मलयकेतु तथा राक्षस में फूट पड़ गई।

छठे अंक में राक्षस अपने मित्र श्रेष्ठी चन्दनदास की रक्षा न कर सकने के कारण विलाप करता है। वह पाटलिपुत्र के एक भग्न उद्यान में एकाकी बैठकर अपनी असफलता और अपने अभाग्य पर बड़ा पश्चात्ताप करता है। ठीक इसी समय चाणक्य का एक गुप्तचर वहाँ आता है और गले में रस्सी डालकर मरने का प्रयत्न करता हुआ राक्षस द्वारा रोक लिया जाता है। कारण पूछने पर राक्षस को वह बताता है कि वह अपने मित्र चन्दनदास की रक्षा के लिए कुछ भी नहीं कर पाया है। इसलिए ऐसे जीवन से मरना ही

श्रेष्ठ है। राक्षस यह सुनता है और अपने को धिक्कारता हुआ अपने मित्र चन्दनदास की रक्षा के लिए वहाँ से दौड़ पड़ता है।

सातवें अंक के आरंभ में चाणक्य के गुप्तवेशधारी चाण्डाल, चन्दनदास को शूली पर चढ़ाने ले जा रहे हैं और उसकी पत्नी तथा उसके बच्चे विलाप करते हुए दिखलाये जाते हैं। राक्षस इस दृश्य को देखकर कराह उठता है और उन गुप्तचर चाण्डालों को धमका कर वहाँ से भगा देता है; और अपनी योजना के अनुसार वे वहाँ से भाग जाते हैं। इतने ही में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का प्रवेश होता है। चाणक्य अपनी कूटनीति का सारा वृत्तान्त राक्षस के समक्ष प्रस्तुत करता है और राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनने के लिए विवश करता है। इसके साथ ही दूसरे अपराधियों को भी अभयदान दिया जाता है और अंत में भरतवाक्य के साथ नाटक की सुखान्त समाप्ति की जाती है।

मुद्राराक्षस में नाटकत्व

'मुद्राराक्षस' विशुद्ध राजनीतिक नाटक है। इस नाटक में इसीलिए माधुर्य और सौन्दर्य का अभाव है। करुणरस तथा शृंगाररस भी देखने को नहीं मिलते हैं। अंतिम अंक में यद्यपि चन्दनदास की स्त्री थोड़ी देर के लिए रंगमंच पर आती है; फिर भी हम देखते हैं कि उसकी किसी भी चेष्टा में शृंगार का कोई भी आभास नहीं है। इस प्रसंग में (११८५) नाटककार ने स्पष्ट कर दिया है कि एक राजनीतिज्ञ के लिए स्त्री-पुत्र आदि सुख और दुःख, दोनों में भारस्वरूप होते हैं।

नाटक वीररसप्रधान है और उसका नायक चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक है। नाटककार का मुख्य उद्देश्य चन्द्रगुप्त की राजलक्ष्मी की स्थिरता और नन्द के स्वामिभक्त मंत्री राक्षस को, वहाँ से उखाड़ कर चन्द्रगुप्त की उन्नति में जोड़ देना है। इस दृष्टि से नाटक के प्रथम अंक में मौर्य की राज्यश्री की स्थिरता के लिये राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बना देने की अभिलाषा ही 'बीज' है। राक्षस की मुद्रा प्राप्त करके उसके द्वारा शकटदास की ओर से लिखे हुए पत्र को मुद्रांकित करना और तब मलयकेतु को छलना

'विन्दु' है। इसी विन्दु तथा कार्य से नाटक का नामकरण 'मुद्राराक्षस' है। विराधगुप्त द्वारा राक्षस को, उसके सारे कार्यों की विफलता बतलाना नाटक की 'पताका' है। इसी प्रकार चाणक्य और चन्द्रगुप्त के कलह का सन्देश राक्षस के निकट ले जाना 'प्रकरी' है; और राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार करना 'कार्य' है।

नाटक में इस पञ्चसंधि के उपयुक्त समावेश के अतिरिक्त उसकी कथावस्तु का निर्वाह भी बड़ी सफलता से किया गया है। नाटक में सर्वत्र ही प्रासंगिक कथा को गौण और उसको आधिकारिक कथावस्तु में सहायक रूप में जोड़ा गया है। प्रथम अंक में नाटककार ने चाणक्य के मुख से 'उद्देश्य' का स्पष्टीकरण कर दिया है; दूसरे अंक में राक्षस के प्रयत्नों की निष्फलता तथा तीसरे अंक में चाणक्य-चन्द्रगुप्त का कृत्रिम कलह दिखाना 'उद्देश्य-प्राप्ति'; चौथे तथा पाँचवें अंक में राक्षस के प्रति मलयकेतु की शंका एवं दोनों का कलह 'प्रत्याशा'; छठे अंक में राक्षस का वधस्थान को जाना 'नियताप्ति'; और सातवें अंक में राक्षस का मंत्रित्व ग्रहण करना 'फलागम' है।

नाट्यशास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार 'मुद्राराक्षस' की समीक्षा करने पर उसको रूपक के दस भेदों में पहिला भेद 'नाटक' कहा जा सकता है।

समय और कार्य की अन्विति की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो नाटक खरा उतरता है। नाटक की संपूर्ण कथावस्तु का समय एक वर्ष है। नाटक के प्रथम अंक में कथावस्तु का आरंभ उस दिन से होता है जब जीवसिद्धि को देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाता है। चौथे अंक में चलकर मलयकेतु कहता है कि 'आज पिता को मरे हुए दस मास हो गये हैं।' उस दिन मार्गशीर्ष पूर्णिमा थी। उस पूर्णिमा के ठीक दस मास पूर्व फाल्गुन पूर्णिमा आती है, जिसके दो-चार दिन बाद जीवसिद्धि को देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया था। पाँचवें अंक में मलयकेतु की सेना को कुसुमपुर तक पहुँचने में अवश्य ही एक मास लगा होगा और बाद के दो अंकों की घटनाओं को मिला कर नाटक की कथावस्तु एक वर्ष के भीतर की जान पड़ती है।

चरित्र-चित्रण

नाटक का प्रमुख पात्र उद्भट राजनीतिज्ञ चाणक्य है और उसका प्रतिद्वन्द्वी राक्षस। नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है और प्रतिनायक मलयकेतु। बाकी पात्रों में चन्दनदास, शकटदास, भागुरायण के नाम उल्लेख्य हैं। इनमें से चन्द्रगुप्त और चाणक्य ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। मलयकेतु और राक्षस के सम्बन्ध में यद्यपि निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है; फिर भी विशाखदत्त जैसे इतिहास और राजनीति के विद्वान् से यह आशा करना कि इन दो पात्रों को उन्होंने कल्पना का रंग दिया है, उपयुक्त नहीं जान पड़ता। बाकी पात्र कल्पित भी हों तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती है।

चाणक्य और राक्षस

इस नाटक में इन दोनों पात्रों का आंशिक जीवन ही प्रकाश में आया है। दोनों के जीवन में एक बहुत बड़ी बात देखने को यह मिलती है कि अपनी संपूर्ण प्रतिभा तथा अपने सारे पराक्रम को उन्होंने निःस्वार्थ होकर दूसरों के लिए लगा दिया। उनके उद्देश्य की यह निःस्वार्थता उनके चरित्रों का बहुत बड़ा गुण है। चाणक्य में यह निःस्वार्थता अपेक्षया अधिक है। उसने सारी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करके अन्त में राक्षस को मन्त्रीपद पर नियुक्त कर दिया। किन्तु राक्षस भी कुछ कम निःस्वार्थी नहीं था। चाणक्य स्वयमेव उसके निःस्वार्थ कार्यों और उसकी स्वामिभक्ति को बारीकी से जानता था। उन्हीं के कारण तो उसने चन्द्रगुप्त की राज्यलक्ष्मी को सँभालने के लिए राक्षस को अपनाया था।

इस गुण के कारण दोनों पात्रों में कुछ भिन्नतायें भी हैं। चाणक्य दूरदर्शी, दृढप्रतिज्ञ, कूटनीतिविशारद और धुरंधर राजनीतिज्ञ है। वह आत्म-विश्वासी था और अपनी बुद्धि पर उसे पूरा भरोसा था। चन्द्रगुप्त का वह मंत्री भी था और संरक्षक भी। इस पर भी वह नगर के बाहर ऐसी पर्णकुटी में रहता था, जहाँ एक ओर तो कंडों को तोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा पड़ा हुआ था, वहीं दूसरी ओर दर्भ का ढेर लगा रहता था। उस कुटिया की छत सुखाई हुई लकड़ियों के भार से झुक गई थी और दीवारें

जीर्ण-शीर्ण हो गई थीं (६।४)। उसका कर्म पर विश्वास था। नाटक के तीसरे अंक में चन्द्रगुप्त को फटकारते हुए उसने कहा था 'दैव पर विश्वास करने वाले व्यक्ति मूर्ख होते हैं' (दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति)। नन्दवंश के उन्मूलन के लिए, सैकड़ों सेनाओं का प्रतिरोध वह अपनी एकमात्र बुद्धि से कर सकता है। इसीलिए वह कहता है : 'बुद्धिस्तु मा गान्मम'।

वह बड़ा अहंवादी और उससे भी बढ़कर क्रोधी है। उसके नाम को सुनते ही एक प्रचण्ड व्यक्ति की आकृति मन में तैरने लगती है। यद्यपि इस नाटक में चन्द्रगुप्त के प्रति उसका कृत्रिम क्रोध प्रकट हुआ है; फिर भी उसको देख कर चाणक्य को ऐसा अनुभव होता है मानों पृथिवी चाणक्य के प्रहारों को सहकर, ताण्डव नृत्य के समय रौद्ररस का अभिनय करते हुए रुद्र के पादाघात को याद कर रही हो (३।३०)। उसका यह रुद्ररूप बड़ा ही भयानक है। किन्तु उसके हृदय की कोमलता उसके उस शिवस्वरूप में प्रकट होती है, जब वह अपने शिष्यों के आगे अपनी लाचारी को इन शब्दों में जाहिर करता है। नाटक के प्रथम अङ्क में वह कहता है 'वत्स, कार्यों की अधिकता मुझे व्याकुल बनाये रखती है। तुम मुझे कठोर न समझना। परिस्थितिवश मुझे ऐसा होना पड़ता है।' उसकी स्मरणशक्ति बड़ी ताजी थी और मनुष्यों को पहचानने की उसमें अपूर्व क्षमता थी।

उसके इस नाटकीय व्यक्तित्व को छोड़कर ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर विचार किया जाय तो कामसूत्र, कोश, पुराण और नीति, अर्थशास्त्र आदि अनेक विषयों के ग्रन्थों में उसके यश का सौरभ बिखरा हुआ मिलता है। अर्थशास्त्रकार के रूप में उसको प्राचीन काल का महान् विद्वान् एवं राष्ट्रनिर्माता माना जाता है। उसका इतिहास-संमत स्थितिकाल ४०० ई० पूर्व में है।

राक्षस की ऐतिहासिकता के बारे में सचाई से कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि सुबुद्धि शर्मा नामक एक ब्राह्मण चन्दनदास के पड़ोस में रहता था और उसके बुद्धिबल से प्रभावित होकर नन्द ने उसे अपना मंत्री बना दिया था। इससे अधिक कुछ विदित नहीं है, और जो कुछ विदित भी हुआ है, वह कल्पना पर आधारित है।

नाटक में चित्रित राक्षस के चरित्र को यदि चाणक्य के साथ रख कर

देखा जाय तो ज्ञात होता है कि वह भी प्रौढ़ राजनीतिज्ञ है; किन्तु उसकी राजनीति पर उसके कोमल हृदय की भावुकता हावी है। वह चाणक्य की ही भाँति दृढप्रतिज्ञ, स्थिरमति और कार्यनिष्ठ व्यक्ति है; किन्तु उसके भावुक मन की कमजोरी को पकड़ कर चाणक्य ने उसको चित कर दिया। वह पर-विश्वासी है और उसके गुप्त कार्यों का इसीलिए भेदन हो जाता है। उसको यही कमजोरी उसको पतन की ओर ले जाती है। उसमें मनुष्यों को पहचानने की भी क्षमता नहीं है। इसीलिए चाणक्य के गुप्तचर उसका अनिष्ट करने में लगे रहते हैं। उसने जिन व्यक्तियों पर विश्वास किया उन्होंने ही अन्त में उसे धोखा दिया। उसके अन्दर वीरता के सभी गुण भरपूर थे।

राक्षस के चरित्र में सबसे बड़ी विशेषता उसकी अकाट्य स्वामिभक्ति थी। अपने स्वामी के सर्वनाश की पीड़ा उसके रग-रग में व्याप्त थी; और उसी से हमेशा चिपके रहने के कारण उसकी मेधा और कार्यक्षमता क्षीण हो गई थी। वह उदार-हृदय और गुणियों का प्रशंसक था। इसलिए उसने शत्रु की योग्यता की भी प्रशंसा की थी। चाणक्य के विपरीत वह दैवविश्वासी और शुभाशुभ शकुनों पर विश्वास करता था।

इस प्रकार राक्षस के चरित्र में गुण-दोषों का विचित्र संयोग था।

नाटक के नायक का प्रश्न

इस नाटक का नायक कौन है, इस संबंध में कुछ विवाद है। अधिकांश विद्वान् चाणक्य को नायक सिद्ध करते हैं। इस मत के समर्थक विद्वानों ने विशाखदत्त को परंपरागत रूढियों का उल्लंघन करने वाला बताया है। इसी आधार पर 'मुद्राराक्षस' को ७वीं ८वीं शताब्दी की रचना माना गया है। किन्तु यह उपयुक्त नहीं जान पड़ता है।

यद्यपि समग्र नाटक में चाणक्य का व्यक्तित्व अत्यन्त ही प्रभावशाली दृष्टि से अंकित किया गया है; और यद्यपि राक्षस को वश में कर लेने के बाद चाणक्य को भी अपने उद्देश्य की सिद्धि प्राप्त होती है; किन्तु उस उद्देश्य की वास्तविक फलोपलब्धि (सुयोग्य, स्वामिभक्त मंत्री की प्राप्ति) चन्द्रगुप्त को ही होती है। नाटक के अंत में यह स्पष्ट दिखाया गया है कि

चाणक्य अपने इस उद्देश्य को पूरा करके राजनीति से और समग्र भौतिक क्रिया-कलापों से अलग होने की चेष्टा में दिखाई देता है। चाणक्य स्वयं भी तो चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व सँभाल सकता था; किन्तु उसका उद्देश्य चन्द्रगुप्त की समृद्धि को दृढ़ बनाना था न कि अपने लिए किसी राज्य को प्राप्त करना था। नाटक के सम्पूर्ण घटनाचक्र का फलोपभोग चन्द्रगुप्त ने किया है। अतः वही इस नाटक का नायक है।

विशाखदत्त पर परंपरा को भंग करने का दोपारोपण करना भी अनुचित है। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से नाटक की बारीकी से परीक्षा करने पर विद्वानों ने जो परिणाम निकाले हैं उनसे वह संस्कृत की सफल नाटक कृति सिद्ध हुई है। कार्य-व्यापार की एकता, समयान्विति और सभी घटनाओं को ऐतिहासिक ढंग से व्यवस्थित करने वाले विद्वान् द्वारा ऐसी भूल होनी संभव नहीं है कि वह चन्द्रगुप्त जैसे धीरोदात्त व्यक्ति का निर्माण कर अपने नाटक का नायक एक ऐसे ब्राह्मण को बनाता जो अपने महान् अर्थशास्त्र-विषयक ग्रन्थ के द्वारा अपनी स्थिति को लोक के संमुख स्पष्ट कर चुका था। 'मुद्राराक्षस' के संबंध में ऐसा कहकर हम उसकी ऐतिहासिकता पर ही आघात नहीं करते हैं; बल्कि चाणक्य के व्यक्तित्व को गलत ढंग से प्रस्तुत करने का दुःसाहस भी करते हैं।

अन्य पात्र

नाटक के अन्य पात्रों में चन्द्रगुप्त और कमलकेतु नायक तथा प्रतिनायक हैं। वे दोनों यद्यपि चाणक्य और राक्षस से संरक्षित तथा संचालित चित्रित किये गए हैं; फिर भी उनको अपने इन मंत्रियों का सर्वथा अनुचर या वशंवद नहीं कहा जा सकता है। नाटक के कई स्थलों पर चाणक्य और राक्षस की इच्छा के विरुद्ध चलकर उन्होंने अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी प्रकाशित किया है।

दोनों के चरित्र में कुछ भिन्नता भी है। चन्द्रगुप्त में धीरोदात्त नायक के गंभीरता, विवेक आदि सभी लक्षण विद्यमान हैं, इसके विपरीत मलयकेतु उद्धत, स्वेच्छाचारी एवं अविवेकी है। अपने सहायक राक्षस पर भी उसका

सन्देह है। चन्द्रगुप्त को चाणक्य की बुद्धि पर पूरा भरोसा था, किन्तु मलयकेतु, राक्षस से सशंकित रहता था। अंत में अविश्वासयोग्य पुरुषों पर विश्वास करके उसने राक्षस को निकाल भी दिया। एक अयोग्य शासक के रूप में ही उसका परिचय मिलता है।

इस नाटक में चन्दनदास मित्रता का उज्ज्वल उदाहरण है। उसने धन, प्राण आदि सभी को तिलांजलि देकर अपने मित्र राक्षस की अंत तक सहायता की।

(८) भट्ट नारायण

जीवनी

भट्ट नारायण का परिचय प्रस्तुत करने वाली बहुत ही कम सामग्री उपलब्ध है। यह सामग्री भी किंवदंतियों पर आधारित है। प्रचलित मौखिक परंपराएँ बताती हैं कि भट्ट नारायण मूलतः कान्यकुब्ज (कन्नौज के निवासी) थे, जो कि बंगाल के राजा आदिसूर के आमंत्रण पर बंगाल में आकर बस गये थे। राजा आदिसूर ब्राह्मणधर्म का बड़ा पोषक था। बंगाल में ब्राह्मणधर्म का अपकर्ष होने के कारण उसने कान्यकुब्ज से जिन पाँच ब्राह्मणों को बुलाया था, भट्ट नारायण उन्हीं में-से एक था।

आदिसूर अन्तिम गुप्त राजा माधवगुप्त का पुत्र था। उसने कान्यकुब्जेश्वर हर्ष की अधीनता से मुक्त होकर मगध में आदित्यसेन आदिसूर के नाम से अपने स्वतंत्र राज्य की उद्घोषणा की थी। वह पालवंश (८०० ई०) से पहले हुआ। उसका शासनकाल ६७१ ई० तक बना रहा।

भट्ट नारायण के संबंध में एक किंवदंती यह भी प्रचलित है कि वे बंगाल के ब्राह्मण गौड़ परिवार के संस्थापक थे। उनके संबंध में यह भी कहा जाता है कि वे वर्तमान टैगोर वंश के पूर्वजों में-से थे। 'भट्ट' और 'मृगराज' उनकी दो उपाधियाँ थीं; किन्तु इन उपाधियों से उनकी जाति के संबंध में निश्चयात्मक बात नहीं निकली है, क्योंकि 'भट्ट' शब्द जहाँ ब्राह्मणत्व का परिचायक है 'मृगराज' शब्द वहाँ क्षत्रियत्व का बोधक है।

संभवतः 'मृगराजलक्ष्मा' उनको उनकी शूरवीरता के कारण कहा गया होगा और उनकी जाति वस्तुतः भट्ट थी।

स्थितिकाल

भट्ट नारायण के स्थितिकाल के संबंध में आन्तरिक प्रमाणों का सर्वथा अभाव है। उनके नाटक 'वेणीसंहार' के श्लोकों को मम्मट (११०० ई०), धनंजय (१००० ई०), आनन्दवर्धन (८५० ई०) और वामन (८०० ई०) आदि आचार्यों ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्धृत किया है। इस आधार पर भट्ट नारायण ८०० ई० से पहले हुए। उनके संबंध में ऊपर बंगाल के राजा आदिसूर द्वारा आमंत्रित किए जाने की जो लोक-प्रचलित किंवदंती बताई गई है, यदि वह सही हो तो उनको सातवीं शताब्दी ई० में होना चाहिए। भट्ट नारायण के स्थितिकाल-संबंधी एक प्रामाणिक तथ्य की सूचना हमें आचार्य दण्डी के ग्रंथ में उल्लिखित उस श्लोक से मिलती है, जिसमें भट्ट नारायण को तीन काव्यों का रचयिता बताया गया है। श्लोक है :

'व्याप्तुं पदत्रयेणापि यः शक्तौ भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयव्याप्तौ चित्रं नारायणस्य किम्॥'

इस दृष्टि से भी भट्ट नारायण का सातवीं शताब्दी में होना प्रमाणित होता है।

वेणीसंहार

आचार्य दण्डी के पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार भट्ट नारायण तीन ग्रंथों के रचयिता सिद्ध होते हैं; किन्तु उनके नाम से आज केवल 'वेणीसंहार' नाटक उपलब्ध होता है।

'वेणीसंहार' का कथानक 'महाभारत' से लिया गया है। जैसा नाटक के नाम से ही विदित होता है, उसमें 'महाभारत' की उस प्रसिद्ध घटना को लिया गया है, जब कि द्रौपदी ने अपनी वेणी को तब तक न बाँधने की प्रतिज्ञा की थी, जब तक कि वह अपने अपमान का बदला न ले लेगी। कौरवों की सभा में दुःशासन ने द्रौपदी का चीर-हरण कर उसका घोर अपमान किया

था। इस अपमान के प्रतीकारस्वरूप द्रौपदी ने प्रतिज्ञा की थी कि तब तक वह अपनी वेणी न बाँधेगी, जब तक कि उसका बदला न ले लिया जायगा। 'महाभारत' की इसी घटना को 'वेणीसंहार' नाटक में निबद्ध किया गया है।

नाटक के प्रथम अंक में वनवास की अवधि को पूरा करने के बाद महाराज युधिष्ठिर संधि के लिए श्रीकृष्ण को दूत बनाकर दुर्योधन के समीप भेजते हैं। सन्धि की बात सुनकर भीम और द्रौपदी अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते हैं। वे अपमान का प्रतीकार सन्धि से नहीं, बल्कि युद्ध से करना चाहते हैं। भीम एक दिन के लिए महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा का उल्लंघन करके दुर्योधन से बदला लेने के लिए तैयार है। इस पर सहदेव, भीम को शान्त करना चाहता है; किन्तु इसी बीच द्रौपदी आकर भीम के क्रोध को और भी उभार देती है। भीम, द्रौपदी को यह कहकर आश्वासित करता है कि शीघ्र ही वह अपनी गदा से दुर्योधन की जंघाओं को तोड़कर उसके रक्त से सने हुए हाथों द्वारा द्रौपदी की वेणी को बाँधेगा। ठीक इसी समय नेपथ्य से यह सूचना मिलती है कि कौरवों ने युधिष्ठिर का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया है और श्रीकृष्ण खाली हाथ वापिस लौट आये हैं। इस धृष्टता को सुनकर युधिष्ठिर कौरवों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देते हैं और रण-दुन्दुभी का शब्द सुनकर प्रसन्नमुख भीम तथा सहदेव, द्रौपदी से युद्धभूमि में जाने के लिए विदा लेते हैं।

दूसरे अंक में दुर्योधन की पत्नी भानुमती एक भयंकर स्वप्न देखती है कि एक नकुल (नेवला) ने सौ सर्पों का वध कर डाला है, जो कि पाण्डव वीर नकुल द्वारा सौ कौरवों के भावी नाश का सूचक है। पहले तो कुरुराज इस स्वप्न की भावी आशंका को नहीं समझ पाता किन्तु बाद में वह इस परिणाम से उद्विग्न हो उठता है। दुःस्वप्न की शांति के लिए सूर्य-पूजन करती हुई भानुमती के निकट जाकर दुर्योधन उसको सान्त्वना देता है। यहाँ दोनों के बीच कुछ प्रेमालाप भी होता है। इसी बीच जयद्रथ की माता घबराई हुई आती है और यह सूचना देती है कि अर्जुन ने अपने पुत्र अभिमन्यु के वध के बदले में जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा की है। इसीलिए

राजा से वह जयद्रथ की रक्षा करने का अनुरोध करती है। दुर्योधन उसको शांत कर युद्धभूमि के लिए प्रस्थान करता है।

तीसरे अङ्क के प्रवेश से हमें युद्ध की भयङ्कर स्थिति के साथ-साथ यह सूचना मिलती है कि धृष्टद्युम्न ने अपनी तलवार से द्रोणाचार्य का वध कर डाला है। पितृवध का दुःसमाचार सुनकर अश्वत्थामा का क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। अश्वत्थामा उन पाण्डववीरों को धिक्कारता है, हाथों में हथियार रखते हुए जिन्होंने ऐसा जघन्य कार्य देखा। बाद में कृपाचार्य उसको शांत करते हैं। कृपाचार्य उसको दुर्योधन के पास ले जाकर सेनापति बना देने तथा पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए कहते हैं। किन्तु इससे पूर्व ही दुर्योधन ने कर्ण को सेनापति होने का वचन दे दिया है। इस पर कर्ण और अश्वत्थामा के बीच बड़ा वाग्-युद्ध होता है। अश्वत्थामा, कर्ण के जीवित रहने तक शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा करता है। इसी बीच नेपथ्य से दुःशासन के विपत्तिग्रस्त होने का समाचार मिलता है। जब तक कि दुर्योधन, कर्ण और अश्वत्थामा, दुःशासन की रक्षा के लिए आते हैं, तब तक भीम उसका वध कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लेता है।

चौथे अङ्क में दुर्योधन जब होश में आता है तो उसे सुन्दर नामक दूत से कर्ण के पुत्र वृषसेन के वध का तथा युद्धस्थिति की गतिविधि का पता लगता है। कर्ण की ओर से रक्त द्वारा लिखा हुआ एक पत्र मिलता है, जिसमें वह दुर्योधन की सहायता के लिए प्रार्थना करता है। दुर्योधन पुनः युद्धभूमि में जाने के लिए प्रस्तुत होता है ; किन्तु तभी उसके पिता धृतराष्ट्र, माता गांधारी और संजय आकर उसको रोक लेते हैं।

पाँचवें अङ्क में धृतराष्ट्र और गांधारी अपने पुत्र दुर्योधन को शांत कर पाण्डवों के समक्ष सन्धि करने का परामर्श रखते हैं। किन्तु वे परामर्श को ठुकरा देते हैं। इसी समय भीम और अर्जुन, दुर्योधन की खोज करते हुए वहीं आ पहुँचते हैं। भीम और दुर्योधन के बीच बड़ा वाग्-युद्ध होता है। दुर्योधन, भीम को द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारता है। अर्जुन दोनों को रोक लेता है। इसी समय भीम और अर्जुन को युधिष्ठिर बुलवा भेजते हैं। तभी अश्वत्थामा

आकर पाण्डवों द्वारा कौरवों के विनाश का स्मरण दिलाकर दुर्योधन से समझौता कर लेता है।

छठे अङ्क में बड़ी रोचकता के साथ कथानक में एक नया मोड़ दिखाया गया है। रणक्षेत्र में अपने पक्ष के समस्त योद्धाओं का वध किए जाने के बाद भयभीत दुर्योधन प्राणरक्षा के लिए एक सरोवर में डुबकी लगा कर छिप जाता है। महाराज युधिष्ठिर, दुर्योधन को खोज निकालने के लिए आज्ञा देते हैं। इसके बाद ही पांचालक नामक एक चर आकर यह सूचना देता है कि भीम ने दुर्योधन का वध कर अपनी प्रतिज्ञा को पूरी कर दिया है। किन्तु इसके विपरीत ही दुर्योधन का एक राक्षस मित्र चार्वाक मुनि का वेष धारण कर युधिष्ठिर को यह सूचना देता है कि गदायुद्ध में भीम मारा गया है और अब दुर्योधन तथा अर्जुन के बीच गदायुद्ध हो रहा है। इस दुर्घटना को सुनकर शोकाभिभूत युधिष्ठिर और द्रौपदी मरने के लिए उद्यत होते हैं। चार्वाक के चले जाने पर नेपथ्य में कोलाहल होता है। इस कोलाहल को सुनकर युधिष्ठिर, दुर्योधन का आगमन जानकर शस्त्रधारण करते हैं। किन्तु रक्त से सना हुआ भीम सामने उपस्थित होता है और दुर्योधन के खून से द्रौपदी की वेणी को सँवारता (संहारता) है। इसके बाद श्रीकृष्ण और अर्जुन का आगमन होता है और भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटकीय संविधान

नाटकीय संविधान की दृष्टि से 'वेणीसंहार' को एक श्रेष्ठ कृति का स्थान प्राप्त हो चुका है। उसमें सन्धियों और पताकास्थानों का पूर्ण निर्वाह किया गया है। नाटक के कथानक का उद्देश्य कौरवों द्वारा किये गये द्रौपदी के अपमान का प्रतीकार करना है। राज्यप्राप्ति भी उसका अवान्तर फल है। यही कथानक के प्रमुख प्रयोजन हैं। इन्हीं की सिद्धि के लिए नाटक के प्रथम अंक में 'मन्थायस्तार्णवाम्भः' (१-२२) तथा 'क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते' (१-२४) आदि पद्यों द्वारा युधिष्ठिर के क्रोधरूपी बीज का निक्षेप कर 'मुखसन्धि' की योजना की गई है। द्वितीय अंक में युधिष्ठिर का क्रोधरूपी बीज नानारूपों में प्रतिफलित होकर 'प्रतिमुख सन्धि'

का सूत्रपात कर बिन्दु के रूप में फैलने लगता है। यहाँ नाटककार ने भीम के वध की सूचना देकर शीघ्र ही युधिष्ठिर द्वारा सुयोधन को युद्ध में मार डालने का संकेत किया है। नाटक के तीसरे, चौथे, और पाँचवें अंक में, 'गर्भसन्धि' का विस्तार दिखाया गया है। इन अंकों में क्रोधरूपी बीज कभी तो चरम सीमा पर पहुँच जाता है और कभी अदृष्ट रह कर ही अपने अस्तित्व की सूचना देता है। इन तीन अंकों के कथानक में तोटक, उद्वेग, संभ्रम और आक्षेप इन चार गर्भांकों के उदाहरण देखने को मिलते हैं। 'अवमर्श' और 'निर्वहण' नामक दो संधियों का स्वरूप षष्ठ अंक में देखने को मिलता है। षष्ठ अंक के आरंभ में भीम के विषय में चिन्तित युधिष्ठिर की दशा 'अवमर्श संधि' की सूचना देता है; जो कि चार्वाक मुनि के वार्तालाप से लेकर तब तक चलती है, जब तक कि कञ्चुकी के आगमन से वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो जाता है। दर्शकों एवं पाठकों के कुतूहल को बनाये रखने के लिए चार्वाक का प्रसंग बड़ा ही उपयुक्त है। इसके बाद कृष्ण के आगमन और राज्यप्राप्ति के साथ नाटक की समाप्ति 'निर्वहण सन्धि' का सूचक है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र की दृष्टि से 'वेणीसंहार' में पञ्च सन्धियों तथा पताकास्थानों का पूरा निर्वाह हुआ है; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नाटक के कथानक में जैसी गतिशीलता आनी चाहिए थी, वैसी नहीं आई। यद्यपि उसको काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में बड़े संमान के साथ उद्धृत किया गया है फिर भी, हर्षवर्धन की 'रत्नावली' के समक्ष उसका महत्व कुछ कम ही प्रतीत होता है। लक्षणग्रंथों के निर्माता आचार्यों ने उसमें कुछ दोष निकाले हैं। वे उचित ही जान पड़ते हैं। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि 'वेणीसंहार' सर्वथा दोषपूर्ण नाटक है। वस्तुतः वह रस, भाव, शैली और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से श्रेष्ठ कृति है।

व्यापार, वस्तु-संघटन और अन्विति की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो नाटक की निष्पक्ष श्रेष्ठता पर विश्वास नहीं होता है। यद्यपि भास के बाद, 'महाभारत' के कथानक पर लिखा हुआ यह दूसरा नाटक है; फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि भट्ट नारायण ने उस कथा को ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर उसमें

नाटकीय कौशल दर्शित करने की दिशा में कोई उल्लेखनीय यत्न नहीं किया है। काव्य की दृष्टि से भले ही उसको विशिष्ट कहा जा सकता है; किन्तु नाट्यशास्त्र की दृष्टि से उसकी कथा में जो प्रवाह, जो निरन्तर गति होनी चाहिए थी, उस ओर नाटककार का ध्यान गया ही नहीं है। इसी प्रकार व्यापार की अपेक्षा वर्णन के माध्यम से कथानक को आगे बढ़ाया गया है। इसलिए उसमें प्रवाहात्मकता की जगह शिथिलता आ गई है, जिससे दर्शक एवं पाठक के मन में उत्तरोत्तर रुचि नहीं बढ़ती है। इसी हेतु अभिनय की दृष्टि से वह सफल नहीं हो सका है। नाटक के दूसरे अङ्क में दुर्योधन और भानुमती का प्रेम-व्यापार भी सर्वथा आप्रासंगिक लगता है। वीररस के नाटक में यह प्रेम-प्रसंग भले ही शास्त्र-संमत न हो; फिर भी यह बड़ा दोष नहीं है। किन्तु ऐसे वातावरण में जब कि किसी अज्ञात भावी अनिष्ट की निवृत्ति के लिए गंभीर विचार की आवश्यकता है, दुर्योधन और भानुमती का राजमहल में प्रेमालाप दिखाना उचित नहीं जान पड़ता। दुर्योधन को उपस्थित वस्तुस्थिति से पराङ्मुख दिखाना उसकी दुर्बलता का परिचायक है। मम्मट ने इसे 'अनुचित स्थान पर रस-निवेश' (अकाण्डे प्रथनम्) का दोषपूर्ण प्रसंग कहा है। इसी बात को विश्वनाथ ने भी दुहराया है।

इसी प्रकार चतुर्थ अङ्क में सुन्दरक द्वारा युद्धभूमि का वर्णन काव्यात्मक होते हुए भी नाटकीय दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। छठे अङ्क में चार्वाक-राक्षस के अनर्गल प्रसंगों से युधिष्ठिर का अपमान ध्वनित होता है। इस प्रसंग का करुण रस अस्वाभाविक जान पड़ता है। नाटककार की शैली परिष्कृत नहीं है। करुण, वीर, रौद्र और भयानक आदि रसों को कहीं-कहीं पर बहुत ही अनावश्यक रूप में दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त नाटक के लम्बे-लम्बे समास और जटिल वाक्यविन्यास भी एक घटनाप्रधान नाटक के उपयुक्त नहीं उतरे हैं। कुछ आलोचकों ने तो नाटक का तीसरा, चौथा और पाँचवाँ अङ्क अनावश्यक बताया है; किन्तु ऐसा कहना उपयुक्त नहीं जान पड़ता है।

चरित्र-चित्रण

नाटकीय संविधान की दृष्टि से 'वेणीसंहार' में भले ही कुछ त्रुटियाँ हों; किन्तु चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उसमें मौलिकता है। 'वेणीसंहार', क्योंकि

'महाभारत' से उद्धृत है, इसलिए उसके सभी पात्र ऐतिहासिक हैं। 'महाभारत' के इन ऐतिहासिक पात्रों को नाटककार ने यहाँ अधिक सजीव रूप में चित्रित किया है। भीम, दुर्योधन, अश्वत्थामा, युधिष्ठिर तथा श्रीकृष्ण प्रमुख पुरुषपात्र और द्रौपदी तथा भानुमती प्रमुख स्त्री-पात्र हैं।

भीम

भीम एक दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति है। वह रोष, स्फूर्ति, और उत्साह का सजीव रूप है, युधिष्ठिर ने जिसे 'प्रियसाहस' नाम से सम्बोधित किया है। द्रौपदी के अपमान की विषम प्रतिक्रिया से वह तिलमिला उठता है और इस दुर्घटना के समस्त पापों का केन्द्र दुर्योधन को समझ कर वह दुर्योधन के वध की भयङ्कर प्रतिज्ञा कर बैठता है। युद्ध के द्वारा इस अपमान का बदला लेने के लिए उसमें कभी-कभी इतना आवेश जान पड़ता है कि वह उचित-अनुचित तक को भी भूल जाता है। उसकी गर्वोक्तियों के चित्रण में और उसके उद्धत स्वभाव को दिखाने में नाटककार ने अपनी पटुता का अच्छा परिचय दिया है। कौरवों से सन्धि-प्रस्ताव की बात उसको स्वीकार्य नहीं है। इन विशेषताओं के साथ ही भीम के चरित्र में एक खटकने वाली बात उसकी असंयत और उच्छृङ्खल उक्तियों में देखने को मिलती है। धृतराष्ट्र और गांधारी को प्रणाम करते हुए उसका यह कहकर अपना परिचय देना कि 'अशेष कौरव सेना को ध्वस्त करने वाला, दुःशासन के रक्त का प्यासा, और सुयोधन की जंघाओं को तोड़ने के लिए उद्यत, यह भीम आपको नमस्कार करता है' उसके चरित्र का एक दोष है। फिर भी उसकी गर्वोक्तियाँ नाटक में रौद्ररस की सृष्टि करने में बड़ी सफल सिद्ध हुई हैं।

दुर्योधन

कुछ अंशों में दुर्योधन का चरित्र भीम से मिलता है। दुर्योधन भी भीम की भाँति उत्तेजित स्वभाव का है। वह आत्मविश्वासी है। उसे अपनी विजय और अपने सैन्यबल पर पूरा विश्वास है। वह दयावान् भी है। अपने आश्रितों पर सदा ही उसकी कृपादृष्टि रही है। अपने पक्ष के सभी लोगों के लिए वह अपने समान ही सुविधाओं और संमान का पक्षपाती है।

वीरता उसके अन्दर इस कदर भरी हुई है कि वह अपनी अचेतावस्था में अपने सारथी द्वारा युद्धस्थल से स्वयं को लौटा ले आने में कायरता समझता है। इसलिए सारथी पर उसने रोष प्रकट किया। इन बातों के अतिरिक्त उसके स्वभाव में कुछ स्वार्थपरता भी है। इससे भी बढ़कर, नाटक के द्वितीय अङ्क में दर्शित उसका विलासरत चरित्र उसकी श्रेष्ठताओं को गिरा देता है। जब कि युद्ध में भीष्म आदि स्वजनों का निधन हो रहा हो, ऐसे समय अपनी पत्नी भानुमती के साथ उसकी कामकेलि सर्वथा अस्वाभाविक है।

अश्वत्थामा

अश्वत्थामा का चरित्र पूर्णरूप से नहीं उभर पाया है। उसको एक परम पितृभक्त के रूप में दिखाया गया है। अपने पिता द्रोणाचार्य के वध की प्रतिक्रियास्वरूप वह इस धरती से पांडवों को सर्वथा मिटा देने के लिए कृत-संकल्प है। उसके अन्दर वस्तुतः इतनी शक्ति है कि वह कुछ भी करने को समर्थ हो सकता है। उसे अपने पराक्रम को दिखाने का उपयुक्त अवसर ही नहीं मिलता है। वह साथ ही आत्माभिमानी भी है। दुर्योधन का उसकी जगह कर्ण को सेनापति बना देना उसका बड़ा अपमान था। इसलिए तीसरे अंक में वह कर्ण के जीवित रहने तक शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा करता है; किन्तु चौथे अंक में कौरव पक्ष पर भारी विपत्ति की आशंका से दुर्योधन के साथ उसका समझौता हो जाता है। इससे उसके विवेकशील और समझदार होने का पता चलता है।

युधिष्ठिर

युधिष्ठिर का चरित्र भी यद्यपि थोड़े ही में दिखाया गया है; फिर भी वह प्रभावशाली ढंग से उतरा है। उसके चरित्र में अन्य पात्रों की अपेक्षा जो असाधारण बात है वह है वीरता के साथ-साथ न्यायपरायणता। वह शान्त स्वभाव का व्यक्ति है। उसके चरित्र में करुणा और भावुकता का एक साथ समन्वय है। भीम की मृत्यु का समाचार सुनकर वह इतना आतुर हो बैठता है कि स्वयं को अग्निसात् करने के लिए उद्यत हो जाता है। वह अपने क्रोध को भीतर ही दबाये रखता है और भीम, अर्जुन आदि वीरों की उत्तेजना को भी अपने शान्तिमय स्वभाव से किसी ऐसे कार्य को करने से रोके रखता

है, जिससे भारी अनिष्टकर परिणाम हो सकता है। वस्तुतः नाटक की सारी कथा के केन्द्र युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण दोनों व्यक्ति हैं।

श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण का आगमन नाटक के आदि और अन्त में होता है। श्रीकृष्ण राजनीति में सिद्धहस्त हैं। समग्र नाटक का संचालन उन्हीं के चरित्र में केन्द्रित है। पाण्डवों की राज्यप्राप्ति का समग्र श्रेय कृष्ण पर निर्भर है। अन्त में वे युधिष्ठिर को विजयप्राप्ति की बधाई देते हैं और ऋषियों की सहायता से पांडवों का राज्याभिषेक करते हैं। जैसे कि 'महाभारत' में श्रीकृष्ण को एक महान् योद्धा के रूप में चित्रित किया गया है, उसके विपरीत 'वेणी-संहार' में उनका चरित्र सारी घटनाओं की आड़ में छिपाकर रखा गया है।

द्रौपदी

द्रौपदी का चरित्र एक वीर-पत्नी के रूप में चित्रित हुआ है। वीरता की वह इतनी पक्षपाती है कि युधिष्ठिर की न्यायप्रियता भी उसके समक्ष दुर्बलता से बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखती है। द्रौपदी के अन्दर भारी आत्मसंमान की भावना है, जैसे कि एक भारतीय नारी में होना स्वाभाविक है। उसकी प्रतिज्ञा यद्यपि एक अवान्तर घटना है; फिर भी सारे कथानक को संचालित करने में उसका महत्त्व है। स्त्री होते हुए भी उसके अन्दर पुरुषोचित वीरता भरी है। इसी वीर भावना के कारण भीम के प्रति उसको अधिक श्रद्धा दिखाई देती है। प्रतिज्ञा पूरी होते ही उसका मन संतोष से भर जाता है।

भानुमती

भानुमती में स्त्रियों जैसी सरलता एवं कोमलता है। वह पातिव्रत्य की साक्षात् मूर्ति है। स्वप्न में देखी घटना के फलस्वरूप भावी अमंगल से वह बेचैन हो उठती है और उसकी शांति के लिए देवताओं से प्रार्थना करती है। उसके चरित्र में करुणा है, प्रेम है, सरलता है और संयम है।

नाटक का नायक

'वेणीसंहार' में नायक के पक्ष में विद्वानों के तीन मत हैं। कुछ विद्वान् तो महाराज युधिष्ठिर को, कुछ भीम और कुछ दुर्योधन को नायक मानते हैं।

जो विद्वान् युधिष्ठिर को नायक मानने के पक्ष में हैं उनका तर्क है कि भारतीय परंपरा के अनुसार और नाटककार के द्वारा भरतवाक्य से नाटक की समाप्ति की दृष्टि से युधिष्ठिर को नायक माना जाना चाहिए। नाटक के आरंभ में युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि बीजरूप में विद्यमान है; नाटक के अन्त में भरतवाक्य का प्रयोग भी युधिष्ठिर के द्वारा हुआ है; और नाटक का फलभोक्ता भी युधिष्ठिर ही है—इन कारणों से युधिष्ठिर ही नायक माना जाना चाहिए। इस पक्ष के विद्वानों का यह भी तर्क है कि युधिष्ठिर में, काव्यशास्त्र की दृष्टि से, धीरोदात्त के गुण हैं। इसलिए वही नायक होने के लिये उपयुक्त है।

जो विद्वान् दुर्योधन को नायक मानते हैं उनका कहना है कि दुर्योधन के चरित्र में वीरता और आत्मसंमान की भावना विद्यमान है। वह एक स्नेही भ्राता, विश्वसनीय मित्र और असामान्य योद्धा है। उसके स्वभाव में वे सभी विशेषतायें हैं, जो किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति में हो सकती हैं; इसलिए इस नाटक का नायक दुर्योधन है।

इन दोनों पक्षों में दुर्योधन की अपेक्षा युधिष्ठिर को नायक मानने वाला पक्ष अधिक युक्तिसंगत दिखाई देता है। दुर्योधन नाटक का प्रतिनायक हो सकता है नायक नहीं।

तीसरा पक्ष भीम को नायक मानता है। इस पक्ष के विद्वानों का कथन है कि दुर्योधन का वध और द्रौपदी के केशों को बाँधना नाटक की मुख्य घटना है। इन दोनों घटनाओं का अधिष्ठाता भीम है। नाटक के प्रथम अंक में भीम द्वारा कहा गया यह श्लोक, जिसका आशय है कि 'शीघ्र ही मैं अपनी फड़कती हुई भुजाओं से घुमाकर फेंकी हुई गदा के आघात से दुर्योधन की जंघाओं को चूर्ण करके, उसके खूब दृढ़ता से चिपके हुए गाढ़े-गाढ़े रुधिर से अपने हाथ लाल करके तुम्हारे इन खुले हुए बालों को सँवारूँगा' इस नाटक का बीज मंत्र है। आगे की संपूर्ण घटनाएँ और नाटक के अन्त में उन सारी घटनाओं का परिणाम इसी बीजमंत्र की सिद्धि में केन्द्रित है।

जैसा कि आगे बताया जायगा, यह नाटक वीररसप्रधान है। भीम का चरित्र आदि से अंत तक वीरतापूर्ण प्रदर्शित हुआ है। प्रत्येक अंक में

उसकी रोषपूर्ण गर्जना और प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए कही हुई गर्वोक्तियाँ सुनाई देती हैं। यद्यपि दूसरे, तीसरे और चौथे अंक में वह रंगमंच पर नहीं आता; किन्तु उसकी गतिविधि का पूरा परिचय मिलता रहता है। दूसरे अङ्क में कंचुकी से राजा को सूचना मिलती है कि भीम ने उसके रथ की ध्वजा तोड़ डाली है। तीसरे अङ्क में नेपथ्य से उसकी आवाज सुनाई देती है कि वह दुःशासन का खून पीने के लिए जा रहा है। चौथे अङ्क में भीम की स्थिति का परिचय सुन्दरक की उक्तियों से मिलता है। इस प्रकार सारे नाटक में भीम ही एक ऐसा पात्र है, जिसके कारण सर्वत्र, प्रत्येक स्थिति में सजीवता भरी है।

इसलिए भीम ही इस नाटक का नायक सिद्ध होता है।

नाटक का रस

स्पष्ट है कि 'वेणीसंहार' वीररसप्रधान नाटक है। साथ ही करुण, शृंगार, शान्त और बीभत्स आदि रसों का उपयुक्त स्थानों पर समावेश कर नाटक की महत्ता बढ़ाई गई है; अन्य नाटकों में विदूषक की अवतारणा कर हास्य का भी पुट दिया जाता है; किन्तु इस नाटक में वैसे वातावरण का सर्वथा अभाव होने के कारण हास्य रस को समाविष्ट करने का योग नाटककार को नहीं मिला। वीररस की इतनी सुन्दर भूमिका दूसरे नाटकों में कम देखने को मिलती है।

(९) मुरारि

जीवनी

मुरारि की जीवनी के संबंध में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। उनके एकमात्र उपलब्ध नाटक 'अनर्घराघव' की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम वर्धमान भट्ट तथा माता का नाम तन्तुमती था। वे मौद्गल्यगोत्रीय ब्राह्मण थे :

"अस्ति मौद्गल्यगोत्रसंभवस्य महाकवेर्भट्टश्रीवर्धमानतनूजन्मनस्तन्तुमतीनन्दनस्य मुरारेः कृतिरभिनवमनर्घराघवं नाम नाटकम्।"

संभवतः वे दक्षिण के निवासी थे, क्योंकि मुद्गलगोत्रीय भट्ट ब्राह्मणों के

अधिकांश परिवार आज भी दक्षिण में सुनने को मिलते हैं। डॉ० कीथ ने मुरारि को माहिष्मती (नर्मदा के तट पर स्थित मान्धाता) के निवासी किसी राजा का सभापंडित कहा है। उनके नाटक के एक दूसरे प्रसंग से यह भी विदित होता है कि वे बाल-वाल्मीकि की उपाधि से संमानित थे। उन्हें यह उपाधि संभवतः उनके रामकथा-संबंधी नाटक से कारण मिली थी। वे महाकवि भी थे, जैसा कि ऊपर के गद्य में उन्होंने स्वयं ही कहा है। इसके अतिरिक्त उनके संबंध में कुछ भी जानने को नहीं मिलता है।

मुरारि नामक एक नाटककार 'पाखण्डविडम्बन' नामक प्रहसन के रचयिता भी हुए हैं। इस प्रहसन की १७४८ शक की लिखी हुई एक हस्त-लिखित खण्डित प्रति चौखम्बा विद्याभवन के संचालक श्री कृष्णदास गुप्त जी के पास है। उसका अनुशीलन करके डॉ० भोलाशंकर व्यास ने अपने ग्रंथ 'संस्कृत-कवि-दर्शन' में यह सिद्ध किया है कि यह प्रहसनकार मुरारि, अनर्घरविकार मुरारि से भिन्न एवं परवर्ती था।

स्थितिकाल

मुरारि की जीवनी की अपेक्षा उनके स्थितिकाल के संबंध में और भी अस्पष्टता है। मुरारि के 'अनर्घराघव' (१।६, ७) में भवभूति कृत 'उत्तर-रामचरित' के दो श्लोक (६।२०, २१) उद्धृत हैं। इसके अतिरिक्त भवभूति की कविता और शैली से भी मुरारि अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। अतः मुरारि को भवभूति के बाद अर्थात् ७०० ई० के बाद का होना चाहिए। वे रत्नाकर (८५० ई०) से पूर्ववर्ती थे, क्योंकि रत्नाकर ने अपने 'हरविजय' महाकाव्य के एक श्लोक (३८।६८) में मुरारि का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त मंख कृत 'श्रीकण्ठचरित' (११३५ ई० में रचित) में भी मुरारि को राजशेखर (९०० ई०) का पूर्ववर्ती कहा गया है। इन अंतः और बाह्य प्रमाणों के आधार पर मुरारि का स्थितिकाल ८०० ई० या इसके कुछ पूर्वापर निर्धारित होता है।

अनर्घराघव

'अनर्घराघव' नाटक में सात अङ्क हैं। इस नाटक में रामकथा को निबद्ध किया गया है। यद्यपि इतनी विस्तृत रामकथा को एक छोटे से नाटक में

बैठा देने का यह प्रयत्न भवभूति के 'महावीरचरित' की भाँति यहाँ भी सफल नहीं कहा जायगा; फिर भी रोचकता और काव्यात्मकता की दृष्टि से मुरारि ने अवश्य ही अपने लिए एक अच्छा स्थान बना लिया है।

नाटक के पहले अङ्क में लम्बी प्रस्तावना के बाद दशरथ तथा वामदेव मञ्च पर आते हैं और कंचुकी, महर्षि विश्वामित्र के आगमन की उन्हें सूचना देता है। विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को माँगते हैं। महाराज पुत्रवियोग का भारी कष्ट अपने मन में दबा कर उन्हें महर्षि के साथ कर देते हैं। वे उन्हें लेकर आश्रम की ओर प्रस्थान कर देते हैं।

दूसरे अङ्क में शुनशेप तथा पशुमेढ्, दोनों के द्वारा रावण, वाली, राक्षस और जामवन्त आदि का परिचय दिए जाने के बाद रंगमंच पर राम-लक्ष्मण का प्रवेश सोता है। तदनन्तर ताड़का के आगमन की सूचना मिलती है। अबला ताड़का पर प्रहार करने में राम को संकोच होता है; किन्तु महर्षि विश्वामित्र के उपदेश सुनकर राम ताड़का का वध करते हैं। उसके बाद विश्वामित्र मिथिला जाने की सूचना देते हैं।

तीसरे अङ्क के आरम्भ में कंचुकी कलहंसिका जनक को यह सूचना देती है कि रावण ने सीता के साथ विवाह करने का प्रस्ताव भेजा है। इतने ही में मिथिला में राम का आगमन होता है। अपने कुल-पुरोहित शतानन्द के सहित जनक, राम का स्वागत करते हैं। जनक, सीता के विवाह के लिए शिव-धनुष की शर्त को रखते हैं। राम धनुषभंग करके सीता का वरण करते हैं। इस पर रावण का दूत शौष्कल बदला लेने की चुनौती देकर वहाँ से बिदा हो जाता है। दशरथ के दूसरे पुत्रों का विवाह भी इसी समय तय हो जाता है।

चौथे अङ्क में रावण का मंत्री माल्यवान्, राम द्वारा किए गए अपमान का बदला लेने के लिए विचारमग्न दशा में दिखाई देता है। इतने ही में वहाँ शूर्पणखा आती है। माल्यवान्, शूर्पणखा को मन्थरा का छद्मवेश धारण कराके कैकेई के द्वारा राम-वनवास की योजना तैयार करता है। वह परशुराम को भी फुसला कर मिथिला भेज देता है। परशुराम इतने आवेश में हैं कि उनकी

उच्छृङ्खलता का दमन करने के लिए राम को उनके साथ युद्ध करने के लिए विवश होना पड़ता है। दोनों का युद्ध होता है। उसमें राम की विजय होती है। उसके बाद दशरथ तथा जनक का प्रवेश होता है। दशरथ, राम को अभिषिक्त करना चाहते हैं; इतने ही में कैकेई के दो बरों की माँग लेकर मन्थरा दशरथ के समक्ष उपस्थित होती है। कैकेई द्वारा भेजे गये इस दुःखद समाचार को सुनकर दशरथ मूर्च्छित हो जाते हैं।

पाँचवें अंक में जामवन्त और श्रमणा के द्वारा हमें विदित होता है कि राम वनवासी जीवन बिता रहे हैं। ठीक इसी समय संन्यासी के वेष में, सीताहरण के लिए आये हुए, रावण को जामवन्त पहचान लेता है। इतने ही में जटायु का प्रवेश होता है और वह जामवन्त को रावण तथा मारीच की योजना बताता है। जामवन्त इस बात को सुग्रीव तक पहुँचाता है। इधर तब तक रावण, सीता को हर लेता है और जटायु के विरोध करने पर उसे भी घायल कर देता है। इसके बाद राम-लक्ष्मण की दुःखावस्था को दिखाया गया है। गुह की रक्षा के लिये राम, कबन्ध का वध करते हैं। इसके बाद वाली उन्हें युद्ध के लिए ललकारता है। वाली युद्ध में मारा जाता है। उधर नेपथ्य से वाली के छोटे भाई सुग्रीव के राज्याभिषेक तथा उसके द्वारा राम की सहायता की जाने की सूचना सुनाई देती है।

छठे अंक में शारण और शुक नामक अपने गुप्तचरों से रावण को यह सूचना मिलती है कि राम की सेना सागर पार करके लंका में प्रविष्ट हो गई है। लंका में हलचल मच जाती है। इसके बाद हमें पहिले तो कुंभकर्ण तथा मेघनाथ के युद्ध की सूचना मिलती है और बाद में राम-रावण के युद्ध में रावण-वध का संदेश सुनाई देता है।

सातवें अंक में राम-सीता का पुनर्मिलन होता है। वनवास की अवधि को पूरा करके, सीता, लक्ष्मण, विभीषण और सुग्रीव सहित राम पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। मार्ग में रमणीय दृश्यों का रोचक वर्णन पढ़ने को मिलता है। अयोध्या में वशिष्ठ और भरत उनका स्वागत करते हैं। राम के राज्याभिषेक के बाद नाटक की समाप्ति हो जाती है।

नाटकीय संविधान

मुरारि का 'अनर्घराघव' भवभूति की परंपरा में लिखा गया नाटक है। भवभूति की अपनी विशिष्ट शैली रही है। उनमें भावात्मक प्रतिभा है, जो कि दृश्यकाव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य के लिए अधिक उपयुक्त बैठती है। इसलिए उनके नाटकों में शास्त्रीय टेकनीक और सहज नाटकीय गति का अभाव रहा है; किन्तु उनके नाटकों में ऐसी गीतिबद्धता है, जो पाठकों को अन्त तक अभिभूत किए रहती है।

मुरारि इसी मार्ग पर चले; किन्तु उनके इस नाटक में वे सहज गुण और वह स्वाभाविकता न आ सकी, जो भवभूति में थी। मुरारि ने भवभूति से पद-विन्यास लिया। संभवतः माघ के लोकप्रिय पद-लालित्य पर भी मुरारि की दृष्टि रही; किन्तु माघ के काव्य में जो महानतायें थीं, उनको उसी रूप में ग्रहण करना तो दूर रहा, मुरारि उनको छू भी न सका। उसके नाटक का कलापक्ष तो इतना कमजोर है कि संस्कृत के नाटककारों में उसको नौसिखुआ नाटककार कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। नाटकीय संविधानों की दृष्टि से देखा जाय तो उसकी यह कृति सर्वथा असफल जान पड़ती है। उसको श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य की विशिष्ट पद्धतियों तक का ज्ञान नहीं है। कथावस्तु, संवाद, शैली, अङ्करचना, कार्यान्विति और व्यापारान्विति आदि किसी भी बात की चिन्ता किए बगैर वह नाटकों के क्षेत्र में उतर आया। सर्वत्र ही उसके पाण्डित्य की छाप है, जो कि उसको इधर-उधर, ऊपर-नीचे नहीं जाने देती।

मोटे तौर पर उसकी नाटकीयता में हमें ये दोष प्रतीत होते हैं :

(१) उसके नाटक की कथावस्तु निर्जीव है

(२) वर्णनों तथा संवादों का अतिशय विस्तार है

(३) असंगठित एवं अति दीर्घ अङ्क-रचना का समावेश है

(४) सरस भावात्मकता का अभाव है

(५) कलात्मकता का प्रदर्शन है

(१०) राजशेखर

जीवनी

कविराज राजशेखर ने अपनी जीवनी के संबंध में अनेक बातों का स्वयमेव उल्लेख किया है। 'बालरामायण' की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है कि वे महाराष्ट्र-चूडामणि कविवर अकालजलद के पौत्र (चतुर्थ), और दुर्दक के पुत्र थे। उनकी माता का नाम शीलवती था। वे उपाध्याय थे। 'तदामुष्यमाणस्य महाराष्ट्र-चूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दकिः शीलवतीसूनुरुपाध्याय श्रीराजशेखर इत्यपर्याप्तं बहुमानेन'। अपने विद्वद्वंश का परिचय देते हुए उन्होंने 'बालरामायण' में लिखा है :

> 'स मूर्तो यत्रासीद् गुणगण इवाकालजलदः
> सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा।
> न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयो
> महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले॥'

उनके इस यायावरकुल के संबंध में विद्वानों का मतभेद रहा है। उन्हें कुछ लोगों ने ब्राह्मण और कुछ लोगों ने क्षत्रिय कहा है। उनके क्षत्रिय होने के संबंध में इसलिए भी सम्भावना की गई कि उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी चौहानवंश की क्षत्रिया थी, जैसा कि उन्होंने 'कर्पूरमंजरी' में लिखा है :

> 'चौहाणकुलमौलिमालिआ राजशेहरकइन्दगेहिणी।
> भत्तुणो किदिमवन्तिसुन्दरी सा पउज्जइदुमेदमिच्छामि॥'

किन्तु इधर की गवेषणाओं द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि राजशेखर की यायावरीय उपाधि उनके क्षत्रिय होने का प्रमाण नहीं है। वे ब्राह्मण थे और अपने लिये उन्होंने इसीलिए उपाध्याय लिखा है। राजशेखर की 'विद्धशालभंजिका' के टीकाकार नारायण दीक्षित ने 'यायावर' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'देवलस्मृति' में प्राचीन ऋषियों के दो कुल बताये गये हैं : १ यायावरीय और २ शालीनीय। संन्यासियों की भाँति यायावरों का भी यह व्रत था कि वे एक स्थान में न रह कर प्रायः देश के विभिन्न भागों की यात्रा

किया करते थे; किन्तु वे संन्यासी न होकर गृहस्थ या वानप्रस्थी सन्त होते थे :

'द्विविधो हि गृहस्थो यायावरः शालीनश्च ।'

इसके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों में यायावरों के सम्बन्ध में अनेक भाँति के उल्लेख देखने को मिलते हैं। 'आश्रमोपनिषद्' में गृहस्थों के चार कुल बताये गये हैं : १ वाताकवृत्ति, २ शालीनवृत्ति, ३ यायावर और ४ घोरसंन्यासिक : 'गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति । वाताकवृत्तयः शालीनवृत्तयो यायावरा घोरसंन्यासिकाश्च ।' इसके आगे यायावरों के इन छह कर्मों का उल्लेख किया गया है 'यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः'। 'मनुस्मृति' में ये छह कर्म ब्राह्मणों के लिए बताये गये हैं :

'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥'

'भागवत' के सातवें स्कन्ध में यायावर वृत्ति ब्राह्मणों की बताई गई है ।

इसलिए राजशेखर ब्राह्मण थे । महाराष्ट्र में आज भी ऐसे सन्त वर्तमान हैं, जो सामूहिक रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते हैं और भजन-कीर्तन करते हैं ।

राजशेखर की क्षत्रिया पत्नी से उसका क्षत्रिय होना प्रमाणित नहीं होता है। उन्होंने क्षत्रिया से इसलिए विवाह किया था कि वह बड़ी विदुषी एवं कवयित्री थी। 'कर्पूरमंजरी' का निर्माण उन्होंने अवन्तिसुंदरी के मनोरंजनार्थ किया था। 'काव्यमीमांसा' के अनेक स्थलों पर राजशेखर ने अवन्तिसुन्दरी के मत का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्रों और पुराणों के अनुसार उस युग में ब्राह्मण के लिए क्षत्रिया पत्नी का रखना अनुचित नहीं समझा जाता था। इन्हीं कारणों से राजशेखर ने अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया था।

'कविराज' उनका विरुद था। तत्कालीन विद्वन्मण्डल द्वारा प्रदत्त यह उपाधि किसी व्यक्ति को उसके असाधारण पांडित्य के कारण प्रदान की जाती थी। 'काव्यमीमांसा' के अतिरिक्त 'कर्पूरमंजरी' में राजशेखर ने अपनी उपाधियों के सम्बन्ध में कहा है—'बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः'।

राजशेखर ने अपने प्रपितामह अकालजलद का बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है। जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' में राजशेखर कृत कुछ श्लोकों का समावेश देखने को मिलता है! इस 'सूक्तिमुक्तावली' में उद्धृत राजशेखर के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि उनके प्रपितामह अकालजलद ने मुक्तक शैली में कुछ पद्यों का निर्माण किया था और वे पद्य तत्कालीन समाज में बड़े संमानित हुए :

'अकालजलदेन्दोः सा हृद्या वचनचन्द्रिका।
नित्यं कविचकोरैर्या पीयते न तु हीयते ॥'

वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' में दाक्षिणात्य नाम से दो-तीन पद्य संकलित हैं। उनमें एक पद्य अकालजलद का प्रतीत होता है। पद्य का आशय है 'जिस सूखे सरोवर में मेंढक अपने बिलों में पड़े-पड़े मृतप्राय हो रहे थे, कछुए शीतलता प्राप्त करने के लिए पृथ्वी में गड़े जा रहे थे, और बड़ी-बड़ी मछलियाँ कीचड़ के ढूहों पर छटपटा कर मूर्च्छित हो रही थीं—ऐसे समय पर अकालजलद (मेघ) ने आकर सूखे सरोवर में ऐसी वर्षा की कि अब उसमें जंगली हाथियों के झुण्ड गले तक डूब कर पानी पी रहे हैं' :

'भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिव क्ष्मान्तर्गतं कच्छपैः
पाठीनैः पृथुपंककूटलुठितैर्यस्मिन्मुहुर्मूर्च्छितम्।
तस्मिञ्छुष्कसरस्यकालजलदेनागत्य यच्चेष्टितं
येनाकण्ठनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते ॥'

श्लेषपरक यह अन्योक्ति 'शार्ङ्गधरपद्धति' में भी अकालजलद के नाम से उद्धृत है। इसके अतिरिक्त अकालजलद के नाम से कोई स्फुट या प्रबन्ध रचना नहीं मिलती है। किन्तु उसके सम्बन्ध में राजशेखर का कथन है कि कादम्बरीराम नामक कवि ने नाटकों की रचना की थी और उनमें अकालजलद के श्लोकों को इस प्रकार सन्निविष्ट किया कि वे श्लोक कादम्बरीराम के ही प्रतीत होते थे :

'अकालजलदश्लोकैश्चित्रमात्मकृतैरिव ।
ख्यातः कादम्बरीरामो नाटके प्रवरः कविः ॥'

अकालजलद के अतिरिक्त सुरानन्द कवि तथा तरल कवि भी राजशेखर

के यायावरवंशीय पूर्वज थे। 'सूक्तिमुक्तावली' में राजशेखर के उद्धृत श्लोक से विदित होता है कि सुरानन्द, चेदिनरेश रणविग्रह की सभा के रत्न थे :

'नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः ।
कवीनां च सुरानन्दश्चेदिमण्डलमण्डनम् ॥'

सुरानन्द के कवि-परिचय के प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं; किन्तु 'काव्यमीमांसा' के १३वें अध्याय में विवेचित अपहरण-संबंधी प्रसंग में राजशेखर ने सुरानन्द के मत को उद्धृत किया है। इसी प्रकार यायावरीय तरल नामक कवि का उल्लेख भी 'सूक्तिमुक्तावली' में हुआ है; किन्तु इनकी भी कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

राजशेखर के वंशजों के सम्बन्ध में इतना ही विदित होता है।

वे महाराष्ट्र के निवासी थे; किन्तु महाराष्ट्र के अन्तर्गत आंशिक रूप से परिगणित होने वाले कुन्तल, विदर्भ, लाट और चेदि इन चारों राज्यों का वर्णन इन्होंने अपने ग्रंथों में किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने कान्यकुब्ज और पांचाल का भी उल्लेख किया है। इससे विदित होता है कि इन राज्यों से उनका किसी-न-किसी प्रकार का संबंध रहा है। 'बालरामायण' में उन्होंने चेदिनरेश रणविग्रह का उल्लेख किया है। उनके पूर्वज सुरानन्द इन्हीं के राजकवि थे। 'कर्पूरमंजरी' और 'विद्धशालभंजिका' दोनों नाटिकाओं की नायिकायें लाटदेश की राजकुमारियाँ हैं। 'विद्धशालभंजिका' में जिस हैहयवंशीय कलचुरी राजा का नायकरूप में वर्णन किया है, वह भी चेदि के निकट कलचुरी राज्य का शासक रहा है। लाटदेश से राजशेखर सुपरिचित जान पड़ते हैं। लाटदेश के निवासियों द्वारा प्रयुक्त होने वाली प्राकृत भाषा का उल्लेख राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में इस प्रकार किया है :

'पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः ।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ॥'

इसी प्रकार 'बालरामायण' के दसवें अंक में भी लाटदेश की प्राकृत भाषा का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने लाटदेश का बड़ी उत्सुकता से कई स्थानों पर सुंदर वर्णन किया है। ऐसा विदित होता है कि वे कन्नौजराज से पूर्व लाटदेश में रह चुके थे।

राजशेखर ने यद्यपि कुंतल (कर्नाट), लाट, चेदि, पांचाल, कन्नौज आदि अनेक देशों का वर्णन किया है और दक्षिण के आंध्र, द्रविड आदि तत्कालीन राज्यों से उनका सम्बन्ध रहा है; फिर भी यह निश्चित है कि वे विदर्भ (आधुनिक बरार; बम्बई राज्य) के निवासी थे। विदर्भ उस समय महाराष्ट्र का ही अंश था। उसी को राजशेखर ने कुन्तल (कर्नाट) देश और कुंतलेश्वर को महाराष्ट्रवरिष्ठ कहा है। 'बालरामायण' के दसवें अंक में विदर्भ के वैभव और महत्त्व का बड़े विस्तार से राजशेखर ने वर्णन किया है। उसको सरस्वती की जन्मभूमि और वाङ्मय की विलासभूमि बताया गया है। 'काव्यमीमांसा' में भी विदर्भ का वर्णन करते हुए राजशेखर ने काव्यपुरुष और साहित्य-विद्यावधू का गांधर्व विवाह वहाँ के किसी वत्सगुल्म नामक नगर में कराया है।

राजशेखर के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रंथ 'औचित्यविचारचर्चा' में एक बड़े ही महत्त्व का श्लोक कहीं से उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि 'कर्णाट-कामिनियों के दन्तक्षत से चिह्नित, महाराष्ट्र महिलाओं के तीक्ष्ण कटाक्षों से आहत, प्रौढा आंध्र-रमणियों के स्तनों से पीड़ित, अपनी प्रियतमाओं के भ्रू-भंगों से त्रस्त, लाट-ललनाओं के आलिंगनों से वेष्टित, मलयदेश की स्त्रियों की तर्जनियों से तर्जित, अब वह राजशेखर कवि (वृद्धावस्था में) वाराणसी निवास की इच्छा कर रहा है':

> 'कर्णाटी-दशनांकितः शित-महाराष्ट्री-कटाक्ष-क्षतः
> प्रौढान्ध्री-स्तन-पीडितः प्रणयिनी-भ्रू-भंग-वित्रासितः।
> लाटी-बाहु-विवेष्टितश्च मलय-स्त्री-तर्जनी-तर्जितः
> सोऽयं संप्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं वाञ्छति॥'

राजशेखर नाम से अनेक व्यक्ति संस्कृत-साहित्य में देखने को मिलते हैं। एक राजशेखर ने १४०५ वि० में 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध' की रचना की थी। एक राजशेखर केरल का राजा हुआ, जिसने अपने तीन नाटकों को भगवान् शंकराचार्य को अर्पण किया था और जिसका उल्लेख माधवाचार्य के 'शंकरदिग्विजय' नामक ग्रंथ में हुआ है। एक राजशेखर नामक राजा का उल्लेख चंगजाशेरि के समीप तलइनइल्लं गाँव से (दक्षिण) उपलब्ध शिलालेख में 'नृपतिः कश्चन राजशेखराख्यः' से हुआ है, जिसका समय ७५०–८५० ई० के बीच है। इसी प्रकार बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की

सभा में गोवर्द्धन, शरण, जयदेव, उमापति और कविराज नामक कविरत्नों का वर्तमान होना पाया जाता है। इन सभी से प्रस्तुत कविराज राजशेखर भिन्न व्यक्ति था।

'बालभारत' नाटक के प्रथम अंक में राजशेखर ने स्वयं को महर्षि वाल्मीकि का अवतार बताते हुए लिखा है कि 'पुराकवि वाल्मीकि ने ही भर्तृमेण्ठ के रूप में जन्म लिया; वही भर्तृमेंठ पुनः भवभूति के रूप में जाने गये; और उसी भवभूति का अवतार यह राजशेखर है' :

'बभूव वल्मीकभवः पुराकविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥'

राजशेखर ने अपने को 'कविराज' कहा है। उसके लिए उन्होंने कारण भी दिया है। 'काव्यमीमांसा' के छठे अध्याय में उन्होंने कवियों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठ दस श्रेणियों का उल्लेख किया है। छठी श्रेणी के महाकवि के संबंध में उन्होंने लिखा है कि 'जो किसी एक भाषा में महान् प्रबन्ध का रचयिता हो, वह महाकवि कहलाता है' : (योऽन्यतमप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः)। इसके बाद सातवीं श्रेष्ठ श्रेणी के कविराज के संबंध में उन्होंने कहा है कि 'जो भिन्न भिन्न भाषाओं में, भिन्न-भिन्न प्रबन्धों में और स्वतन्त्रतापूर्वक भिन्न-भिन्न रसों में ग्रंथों का निर्माण कर सके वह कविराज है। ऐसे कविराज संसार में कुछ ही इने-गिने होते हैं' (यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषेषु, तेषु तेषु प्रबन्धेषु, तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतंत्रः स कविराजः)।

राजशेखर उदार विचारों के विद्वान् थे। उन्होंने उच्चवर्ण और हीनवर्ण विद्वानों की रचनाओं को समान आदर से स्मरण किया है और ज्ञान के क्षेत्र में पुरुषों के ही समान स्त्रियों को भी स्थान दिया है। उन्होंने विकटनितम्बा, शीला, भट्टारिका, सुभद्रा और प्रभुदेवी आदि कवयित्रियों की भरपूर प्रशंसा की है। अपनी विदुषी पत्नी अवन्तिसुंदरी की विद्वत्ता के वे बड़े कायल थे। उनका अन्तर्जातीय अनुलोम विवाह उनके उदार विचारों का सबसे बड़ा प्रमाण है।

स्थितिकाल

कविराज राजशेखर, कन्नौज के राजा महेंद्रपाल और उसके पुत्र महीपाल का राजकवि था। अपने चार नाटकों की प्रस्तावना में उन्होंने अपने को

कन्नौज के राजा महेंद्रपाल का गुरु (उपाध्याय) बताया है और 'बालभारत' में निर्भयराज महीपाल को अपना संरक्षक बताया है। ऐसा ज्ञात होता है कि महेंद्रपाल की मृत्यु के बाद राजशेखर महीपाल का भी राजकवि रहा है।

महेंद्रपाल गुर्जर-प्रतीहार-वंश का राजा था। इस गुर्जर-प्रतीहार-वंश के राजा नागभट्ट ने, जिसकी राजधानी भिन्नमाल या भिलमाल (राजस्थान) थी, सर्वप्रथम कन्नौज पर प्रभुत्व स्थापित किया। उसके बाद रामभट्ट और मिहिरभोज के अनन्तर कन्नौज के शासन की बागडोर महेंद्रपाल के हाथों में आई। महेंद्रपाल बड़ा ही प्रभावशाली शासक था। उसने १८ वर्षों (८९०–९०८ ई०) तक राज्य किया और उसके उत्तराधिकारी पुत्र महीपाल का शासन ३० वर्षों (९१०-९४० ई०) तक कन्नौज में बना रहा। इस दृष्टि से राजशेखर का स्थितिकाल नवम शताब्दी के मध्य में रखा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन आदि कार्श्मारदेशीय काव्यशास्त्रियों और वाक्पतिराज, भवभूति आदि कन्नौजपति के आश्रित कवियों एवं नाटककारों का उल्लेख किया है। भवभूति से लेकर आनंदवर्धन तक जितने भी ग्रंथकारों का उल्लेख राजशेखर ने किया है उनका समय ७००-९०० ई० के मध्य तक पहुँचता है। इसी प्रकार क्षेमेंद्र, सोमदेव, सोड्ढल, मंख, अभिनवगुप्त और मम्मट आदि ग्रंथकारों ने राजशेखर के पद्यों को उद्धृत किया है। इन सब का स्थितिकाल ११वीं १२वीं शताब्दी है।

इसलिए इन पूर्वापर प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि राजशेखर नवम शताब्दी के मध्य में या अन्त में हुए।

कृतित्व

राजशेखर ने वस्तुतः कितने ग्रंथ लिखे, इसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिलता है। 'बालरामायण' की प्रस्तावना में उन्होंने अपनी छह रचनाओं (नः षट् प्रबन्धान्) का उल्लेख किया है; किन्तु अब तक उनके नाम से केवल पाँच ग्रंथ ही उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं : (१) 'कर्पूरमंजरी', (२) 'विद्धशालभंजिका', (३) 'बालरामायण', (४) 'बालभारत' (प्रचण्डपाण्डव)

(५) 'काव्यमीमांसा'। 'काव्यमीमांसा' उनका आचार्यश्रेणी का ग्रन्थ है और शेष चार नाटक-कृतियाँ। 'बालरामायण' और 'बालभारत' क्रमशः 'रामायण' और 'महाभारत' पर आधारित हैं। 'विद्धशालभंजिका' और 'कर्पूरमंजरी' उनकी कल्पनाप्रसूत नाटिकायें हैं। 'बालरामायण' में भी राजशेखर की अनूठी कल्पना का समावेश है, जिसके आधार पर परम्परा से निरुद्ध, पाठकों की सहानुभूति राम के प्रति न होकर रावण के प्रति आकर्षित की गई है।

उनके छह प्रबन्ध कौन थे, इसका पता नहीं चलता है। उन्होंने 'काव्यमीमांसा' के १७वें अध्याय में स्वरचित 'भुवनकोश' का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में तीन बार राजशेखर के 'हरिविलास' नामक महाकाव्य के श्लोकों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त उणादिसूत्रों के वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त ने भी राजशेखर के 'हरिविलास' के दूसरे सर्ग का यह श्लोकार्ध उद्धृत किया है।

'दशाननक्षिप्त-खुर-प्रखण्डितः
क्वचिद्गतार्धो हरदीधितिर्यथा।'

ऐसा ज्ञात होता है कि 'जल्हण' की 'सूक्तिमुक्तावली' में संगृहीत श्लोक 'हरिविलास' महाकाव्य के ही थे, क्योंकि वे श्लोक राजशेखर के उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं मिलते हैं। उन श्लोकों में राजशेखर ने अपने जिन यायावर-वंशीय पूर्वजों की प्रशस्तियाँ लिखी हैं, वे 'हरिविलास' काव्य के ही आरम्भिक सर्ग के अंश थे। उनका 'भुवनकोश' ग्रन्थ संभवतः भारतवर्ष के भौगोलिक ज्ञान का स्वतंत्र ग्रन्थ था या 'काव्यमीमांसा' का ही एक अंश था, इसका ठीक पता नहीं चलता है।

ये दोनों ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध नहीं हैं; किन्तु 'बालभारत' से लेकर पूर्व के चार ग्रन्थों को मिलाकर उनके छह ग्रन्थों का होना संभव प्रतीत होता है। 'काव्यमीमांसा' उनका अन्तिम ग्रंथ है। जिसकी गणना उक्त प्रबन्धों में नहीं की गई है। ऐसा भी कहा जाता है कि—राजशेखर ने 'कविविमर्श' नामक एक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें प्राचीन कवियों की प्रशस्तियाँ थीं और सूक्ति-संग्रहों में जिसके उद्धरण देखने को मिलते हैं।

काव्यमीमांसा

'काव्यमीमांसा' राजशेखर का आचार्य श्रेणी का ग्रंथ है। वह १८ अधिकरणों का बृहद् ग्रन्थ था ; किन्तु संप्रति उसका प्रथम अधिकरण ही प्राप्त होता है ; जिसका नाम है 'कविरहस्य'। इस उपलब्ध अधिकरण में राजशेखर ने रस, रीति, अलंकार आदि अनेक विषयों का सामान्य समावेश करने के उपरान्त लिखा है कि उनका विस्तृत विवेचन आगे प्रस्तुत किया जायगा। इस दृष्टि से यदि राजशेखर का सम्पूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हुआ होता तो उससे काव्यशास्त्र के विद्यार्थी का बड़ा लाभ होता। राजशेखर की लेखन-शैली में सर्वथा नयापन है और विषय-प्रतिपादन का आलोचनात्मक ढंग बड़ा ही सारगर्भित है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के ग्रंथों का सम्यक् अनुशीलन तो किया ही था ; इसके अतिरिक्त उनका यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि क्षेमेन्द्र, भोज, हेमचन्द्र और वाग्भट आदि जितने भी उदीयमान काव्यशास्त्री हुए उन सब ने राजशेखर की मान्यताओं को ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया है।

कप्पूमंजरीए (कर्पूरमंजरी)

'कर्पूरमंजरी' राजशेखर की प्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट कृति है। यह चार अङ्कों (जवनिकान्तरों) का नृत्य-प्रधान 'सट्टक' है। इस कृति को राजशेखर ने अपनी पत्नी अवन्तिसुन्दरी के आग्रह पर लिखा था।

प्रथम अङ्क में प्रस्तावना के अनन्तर वसन्तोत्सव के आयोजन में राजा चन्द्रपाल, रानी विभ्रमलेखा, विदूषक और प्रधान परिचारिका विचक्षणा का प्रवेश होता है। वसन्त-वर्णन पर विदूषक और विचक्षणा में विरोध हो जाता है। विदूषक रुष्ट होकर चला जाता है और पुनः भैरवानन्द नामक सिद्धयोगी को साथ लेकर लौटता है। अपने यौगिक चमत्कारों को दिखाता हुआ भैरवानन्द, राजा के समक्ष विदर्भ की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी कर्पूरमंजरी को प्रकट करता है। राजा उसके प्रेम में आसक्त हो जाता है। रानी विभ्रमलेखा की वह मौसेरी बहिन थी। भैरवानन्द को रानी आदेश देती है कि वह कर्पूरमंजरी को कुछ दिनों के लिए वहाँ ले आये। भैरवानन्द वैसा ही करता है।

दूसरे अङ्क के आरंभ से हमें ज्ञात होता है कि कर्पूरमंजरी राजा पर मोहित है और अपनी आसक्ति का संदेश वह विचक्षणा के द्वारा राजा तक पहुँचाती है। विदूषक और विचक्षणा के मुँह से राजा, कर्पूरमंजरी के सौन्दर्य का हाल प्राप्त करता है। एक दिन हिन्दोलन चतुर्थी को महारानी के साथ झूला झूलते हुए छिप कर राजा उसको देख लेता है। इसी अवसर पर महारानी की प्रेरणा से कर्पूरमंजरी कुरवक, तिलक तथा अशोक नामक वृक्षों का क्रमशः आलिंगन, दर्शन और पादाघात करती है, और वे वृक्ष स्वतः विकसित हो उठते हैं। इसको 'दोहद-संस्कार' कहा जाता है और यह कामिनियों के अनुपम रूपवती होने का प्रमाण माना जाता था।

तीसरे अङ्क में राजा, विदूषक को स्वप्न में देखी गई कर्पूरमंजरी का वृत्तान्त सुनाता है। विदूषक भी राजा को अपना स्वप्न सुनाता है। दोनों के बीच प्रणय, यौवनसंबंधी बातें होती हैं। इसी समय कुरंगिका के साथ विरह-विदग्धा कर्पूरमंजरी भी उधर ही आती है। सभी परिजन उन्हें एकान्त में छोड़कर सुरंग के रास्ते बाहर निकल आते हैं। राजा तथा कर्पूरमंजरी में चन्द्रोदय तक आलिंगन-चुम्बन होता है। बाद में रानी को यह बात विदित हो जाती है।

चौथा अङ्क राजा की कामातुरदशा के वर्णन से आरंभ होता है। इधर रानी का कर्पूरमंजरी पर कड़ा पहरा है। इसी अङ्क में रानी की ओर से सारंगिका एक पत्र लेकर राजा के पास आती है। उसमें लिखा था कि आज सायं राजा का विवाह होगा। राजा, सारंगिका से इस रहस्य का वृत्तान्त पूछता है। सारंगिका उसको बताती है कि महारानी ने भैरवानन्द योगी से दीक्षा ली है। उसके बाद रानी ने जब योगिराज को दक्षिणा देनी चाही तो इस पर योगिराज ने कहा 'लाटदेश के राजा चन्द्रसेन की पुत्री घनसारमंजरी का राजा से विवाह रचा कर मेरी यह दक्षिणा समझी जाय।' सारंगिका कहती है कि इसीलिए रानी ने महाराज को बुलाया है। रानी को यह पता नहीं था कि घनसारमंजरी ही कर्पूरमंजरी है। विवाह हो जाने पर इस रहस्य का उद्घाटन होता है।

विद्धशालभंजिका

'विद्धशालभंजिका' राजशेखर की दूसरी नाटिका है। इसमें चार अङ्क हैं। यह नाटिका 'मालविकाग्निमित्र', 'रत्नावली' और 'स्वप्नवासवदत्त' के अनुकरण पर लिखी गई है। इसमें विद्याधरमल्ल नामक राजकुमार और मृगांकावली तथा कुवलयमाला नामक दो राजकुमारियों की प्रणयकथा है।

प्रथम अङ्क में लाट देश का राजा चन्द्रवर्मा अपनी पुत्री मृगांकावली को अपना मृगांकवर्मन् नामक पुत्र घोषित करके बालकवेष में राजा विद्याधरमल्ल की रानी के पास भेजता है। एक दिन विद्याधर अपने विदूषक से कहता है कि उसने स्वप्न में एक सुन्दरी बाला को देखकर जब उसे पकड़ना चाहा तो वह अपनी मोतियों की माला वहाँ छोड़कर भाग गई। विद्याधर के मंत्री भागुरायण को ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के अनुसार यह मालूम था कि मृगांकवर्मन् वस्तुतः लड़की है और जिसके साथ उसका विवाह होगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। इस उद्देश्य से उसने मृगांकवर्मन् को राजा के समीप नियुक्त कर दिया। जिस समय मृगांकवर्मन्, राजा के पास पहुँचा, राजा अपनी चित्रशाला में अपनी प्रेयसी (विद्धशाल-भंजिका) की खुदी हुई मूर्ति देख रहा था। राजा उसके गले में मोतियों की माला डाल देता है। किन्तु उसको मृगांकवर्मन् की वास्तविकता का पता नहीं चलता है।

दूसरे अङ्क में रानी, कुन्तलराजकुमारी कुवलयमाला का विवाह मृगांक-वर्मन् से करना चाहती है। इसी बीच एक दिन राजा विद्याधर, विदूषक के साथ उद्यान में मृगांकावली को उसके वास्तविक रूप में क्रीडा करते तथा प्रणयलेख पढ़ता हुआ देखता है और उसके अनुपम सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है।

तीसरे अङ्क में राजा विद्याधर अपने विदूषक के साथ मृगांकावली से मिलता है। उन दोनों में प्रणय की बातें होती हैं और वे एक दूसरे पर अतिशय रूप से आसक्त हो जाते हैं।

चौथे अङ्क में महारानी अपने प्रेम का प्रतिद्वन्द्वी समझ कर ईर्ष्यावश बालक मृगांकवर्मन् से राजा का विवाह करा देती है। राजा की कामना

पूरी हो जाती है; किन्तु रानी के प्रेम पर बड़ा आघात लगता है। उधर राजा चन्द्रवर्मा का पुत्र पैदा होता है और वह अपने पुत्रवेषधारी कन्या का राजा के साथ विवाह करा देना चाहता है। रानी ने उसका विवाह तो कर ही दिया था, विवश होकर उसे कुवलयमाला का विवाह भी राजा विद्याधर के साथ करना पड़ा।

बालरामायण

'बालरामायण' दस अङ्कों की कृति है। इस हेतु इसको 'महानाटक' कहा गया है। इस नाटक को राजशेखर ने निर्भयराज के लिए लिखा था। यह रामकथा पर आधारित है और इसका कथानक सीता-स्वयंवर से आरंभ होकर राम के अयोध्या लौट आने में समाप्त हो जाता है।

प्रथम 'प्रतिज्ञापौलस्त्य' नामक अंक में रावण, सीता-स्वयंवर के लिए जनकपुरी आता है और सीता से विवाह करने की प्रतिज्ञा करता है। महाराज जनक से वह सीता के लिए प्रार्थना करता है, जिसको जनक अस्वीकार कर देते हैं। वह क्रोध में आगबबूला होकर वहाँ से चला जाता है।

दूसरे 'रामरावणीय' अंक में रावण अपने सेवक मायामय को परशुराम के पास भेजता है। रावण का प्रस्ताव सुनकर परशुराम क्रोधित हो उठते हैं और रावण को बुरा-भला कहते हैं। यहाँ तक कि दोनों में युद्ध होते-होते बचता है।

तीसरे 'विलक्ष लंकेश्वर' अङ्क के आरम्भ में सीता की अप्राप्ति के कारण खिन्नमन रावण के मनोविनोदार्थ 'सीता-स्वयंवर' का प्रदर्शन किया जाता है। इसमें राम के द्वारा धनुषभंग और सीतावरण का प्रसंग दिखाया जाता है। यह देखकर रावण को क्रोध आता है; किन्तु वस्तुस्थिति को ध्यान में रख कर वह शान्त हो जाता है।

चौथे 'भार्गवभंग' अंक में धनुषभङ्ग के बाद राम-परशुराम का बड़ा संघर्ष होता है। इस संघर्ष को देवराज इन्द्र के अनुग्रह से आकाश मार्ग से मातलि के साथ दिवंगत राजा दशरथ भी देखते हैं और उसमें राम के द्वारा परशुराम की पराजय से प्रसन्न होते हैं।

पाँचवें 'उन्मत्त दशानन' नामक अंक में सीता के वियोग से रावण की व्यथा का वर्णन है। रावण अपने विरह-विदग्ध मन की शान्ति के लिए अपने लीलोद्यान में जाता है और वहाँ छहों ऋतुओं, सरिताओं तथा पक्षियों आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करता हुआ अपनी प्रियतमा (सीता) के लिए याचना करता है। वह सीता की काष्ठ-प्रतिमा से प्रेम करता हुआ मन बहलाता है। उसका यह प्रेमालाप 'विक्रमोर्वशीय' के पुरूरवा के विरह-निवेदन की भाँति है।

छठे 'निर्दोष दशरथ' नामक अङ्क में शूर्णपखा तथा मायामय अयोध्या आते हैं और वहाँ कैकेई तथा दशरथ का रूप धारण कर लेते हैं। इन्हीं छद्मरूप कैकेई तथा दशरथ द्वारा नाटककार ने राम के निर्वासन की घटना को दिखाया है: इसी अङ्क में रत्नशिखण्ड द्वारा दशरथ को राम-वनवास, संबंधी सारा वृत्तान्त विदित होता है।

सातवें 'असम पराक्रम' अङ्क में राम-समुद्र का संवाद वर्णित है। राम समुद्रतट पर बैठे होते हैं कि इतने ही में रावण से सताया गया विभीषण शरण पाने के लिए उनके पास आता है। तदनन्तर समुद्रसेतु के द्वारा राम लंका में प्रवेश करते हैं।

आठवें 'वीर-विलास' अंक में राम-रावण का भयंकर युद्ध वर्णित है। इसी युद्ध में कुंभकर्ण तथा मेघनाद आदि वीरों का वध होता है। इससे रावण अत्यन्त दुखी हो जाता है। इसी अंक में रावण, राम की सेना के आगे सीता का कटा मस्तक फेंक कर छल करना चाहता है; किन्तु वह भी सफल नहीं होता है।

नवम अंक में रावण का वध वर्णित है।

अन्तिम दसवें अंक 'सानन्द रघुनाथ' में सीता की अग्निपरीक्षा तथा पुष्पक विमान द्वारा राम के अयोध्या की ओर लौट आने का मनोरम वर्णन है।

बालभारत (प्रचण्डपाण्डव)

'बालभारत' के केवल दो अंक उपलब्ध हैं जिनमें द्रौपदी-स्वयंवर, कौरव-पांडवों की द्यूतक्रीडा और द्रौपदी का चीरहरण वर्णित है।

नाटकीय संविधान

नाटकीय संविधान की दृष्टि से यदि राजशेखर के नाटकों की समीक्षा की जाती है तो ऐसा अवगत होता है कि एक नाटककार होने की अपेक्षा उनमें एक प्रबन्धकार के गुण अधिक हैं। यही कारण है कि उनके नाटकों में दृश्यात्मकता की अपेक्षा श्रव्यात्मकता अधिक है। राजशेखर में वर्णन-कौशल है; किन्तु नाटकीय दृष्टि से वह एक दोष है।

'कर्पूरमंजरी' को छोड़कर राजशेखर के अन्य नाटकों में एक सफल नाटककार की भाँति न तो मार्दव है, न कथावस्तु में प्रवाह, न हास्य की योजना और न शास्त्रीय संविधानों की पूर्णता ही। भवभूति की भाँति राजशेखर के पद्यों में भी पुनरावृत्ति दोष है।

जहाँ तक 'कर्पूरमंजरी' का प्रश्न है, उसमें अन्य नाटकों की अपेक्षा कुछ विशेषतायें हैं, यद्यपि संविधानों की दृष्टि से वह भी अधूरी है। राजा चन्द्रपाल इसका धीरललित नायक है, क्योंकि उसका चरित्र सौन्दर्य, संगीत एवं प्रेम से पूरित है। कर्पूरमंजरी इसकी मुग्धा नायिका है। उसमें आद्योपान्त शृंगार-रस का साम्राज्य है। उसके ऋतु-वर्णन एवं प्रकृति-वर्णन भी हृदयग्राही हैं। उसकी प्रस्तावना में यह स्पष्ट किया गया है कि उसमें वैदर्भी, मागधी तथा पांचाली, इन तीन रीतियों का समन्वय है, जिनके कारण नाटककृति सौन्दर्य, सुरुचि एवं प्रणय आदि अनेक बातों में बड़ी उत्कृष्ट हो गई है। उसमें वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्दों का प्रयोग भी सुन्दर मालूम पड़ता है। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' और हर्ष की 'रत्नावली' से इसका वस्तु-संविधान प्रभावित है; फिर भी उसमें सर्वत्र ही राजशेखर की मौलिक प्रतिभा की छाप है।

उसके अङ्कों का 'जवनिकान्तर' नामकरण उसकी अभिनेयता को सूचित करता है। नाटिका की भाषा शौरसेनी प्राकृत है। वह राजशेखर के प्राकृत-प्रेम का उत्कृष्ट नमूना है। सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में यह एकमात्र ऐसी कृति है, जो समग्र प्राकृत भाषा में है। यहाँ तक कि भरत के 'नाट्यशास्त्र' में और राजशेखर से पूर्व लिखे गये काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में इस प्रकार की पूर्णतया प्राकृत में लिखी हुई कृति का उल्लेख नहीं मिलता है। संस्कृत की

नाटक-परम्परा में राजशेखर का यह नवीन प्रयोग था, जो सर्वथा सफल कहा जा सकता है। रस-प्रयोग को प्रस्तुत करने में उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी की प्रेरणा रही है और उसके कहने पर उसका अभिनय भी हुआ था।

बाद में यह प्राकृत कृति बड़ी लोकप्रिय हुई। इसकी लोकप्रियता का पहला कारण तो उसकी अभिनेयता है, दूसरे वह सुन्दर नृत्य एवं गीति से पूर्ण है और तीसरे उसका निर्माण जन-सामान्य की लोकभाषा में हुआ। अन्य नाटकों की अपेक्षा उसमें हास्यरस का अनूठा चित्रण देखने को मिलता है। तीसरे अंक में विदूषक का स्वप्नवर्णन, और स्थान-स्थान पर उसकी अनूठी उक्तियाँ सरस, हास्यपूर्ण, विनोदप्रिय, रोचक और सजीव हैं। 'कर्पूरमंजरी' की प्रस्तावना में कुशीलवों का प्रवेश, ध्रुवा गीत तथा विचित्र वाद्यों का उल्लेख, चतुर्थ अंक में उल्लिखित नृत्य के दृश्यों से उसकी अभिनेयता प्रमाणित होती है।

इन सब विशेषताओं के बावजूद भी 'कर्पूरमंजरी' को रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

'बालरामायण' राजशेखर का बृहद् नाटक है। इसका निर्माण यद्यपि रामकथा के आधार पर हुआ है; फिर भी इसमें राजशेखर की स्वतंत्र कल्पना का विशद योग है। इस नाटक की प्रथम विशेषता तो यह है कि इसमें रावण के प्रेम को बड़े ही विचित्र ढंग से चित्रित किया गया है और उसको समस्त नाटक में प्रमुखता दी गई है। इसके अतिरिक्त तीसरे अंक का गर्भ नाटक राजशेखर की नई योजना का प्रतीक है। चौथे अंक में इन्द्र द्वारा प्रेरित दशरथ का आकाशमार्ग से राम-परशुराम का युद्ध दिखाना भी राजशेखर की अपनी प्रतिभा है। पूरे पाँचवें अंक में सीता के वियोग में रावण की व्यथा का वर्णन काल्पनिक है। यह अंश 'विक्रमोर्वशीय' के पुरूरवा के दृश्य से प्रभावित है। इस विचित्र कल्पना का एकमात्र अभिप्राय यह दिखाई देता है कि राजशेखर को अपना काव्य-कौशल दिखाना था। छठे अंक में राम-वनगमन के सम्बन्ध में दशरथ को निर्दोष सिद्ध करना भी राजशेखर की अपनी कल्पना है।

राजशेखर की ये कल्पनायें किसी ऐसे मार्मिक प्रसंग को प्रस्तुत करने में असमर्थ रही हैं, जिनकी प्रशंसा की जाय। उनका अनुपलब्ध 'भुवनकोश'

ग्रंथ और उनकी 'काव्यमीमांसा' के अनेक वर्णन भौगोलिक वृत्तों से संबंधित हैं, और इसीलिए राजशेखर को तत्कालीन भारत के भौगोलिक ज्ञान का पूर्णपरिचित विद्वान् भी बताया जाता है; किन्तु 'बालरामायण' के दसवें अंक में राम के अयोध्या लौटते समय उसने जिन विभिन्न स्थानों का क्रमबद्ध वर्णन किया है उसको देखकर यह लगता है कि उसका भौगोलिक ज्ञान अधूरा था।

परंपरागत भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में 'कर्पूरमंजरी' के भैरवानन्द ने कुछ नई मान्यतायें हमारे सामने प्रस्तुत की हैं। वह न तो अशिक्षित हकीम है और न कोरा जादूगर ही, जैसा कि कोनो तथा लांगमैन आदि विद्वानों ने कहा है। वह तो एक सिद्धयोगी है। यह सिद्धि उसे तंत्र के द्वारा प्राप्त हुई है। वह तत्कालीन तंत्र-संप्रदाय का प्रतिनिधि पात्र है। अपनी सिद्धि के बल पर कुछ अद्भुत कार्यों को दिखाता है। महारानी द्वारा भैरवानन्द को गुरु रूप में स्वीकार करना और भैरवानन्द का दक्षिणा रूप में राजा के लिए कर्पूरमंजरी को माँगना उसके ऊँचे व्यक्तित्व की परिचायक बातें हैं।

उसकी कुछ बातें अश्लील और अनैतिक प्रतीत होती हैं। वह कहता है 'विधवा या चाण्डाल स्त्री को मैं धर्मानुकूल अपनी पत्नी मानता हूँ। मैं सुरा पीता हूँ और मांस-भक्षण करता हूँ; भिक्षा मेरा भोजन है, और पशुचर्म मेरा विस्तर है, कौलधर्म के ढंग, बताओ तो, किसको अच्छे नहीं लगते?'

ये बातें बाहर से देखने में निश्चित ही अश्लील हैं किन्तु तंत्रधर्म की दृष्टि से वे सही हैं। तंत्र-संप्रदाय का कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी को साथ रखने, मदिरा-सेवन करने और मांस-भक्षण करने में कोई आध्यात्मिक पतन नहीं मानता है। इस आधार पर कोई भी व्यक्ति शूद्रा और विधवा से विवाह कर सकता है और उसके लिए मोक्ष का मार्ग उसी प्रकार खुला हुआ रहता है जैसे एक यज्ञयागादि-परिनिष्ठ वैदिक व्यक्ति के लिए।

तंत्र-संप्रदाय के इस नये दर्शन का मनोरंजक दृश्य 'कर्पूरमंजरी' में देखने को मिलता है।

'बालरामायण' की कथा को राजशेखर ने अनावश्यक रूप से बहुत खींचा है। उसकी प्रस्तावना ही इतनी लम्बी है कि पूरा एक अङ्क उसी पर लगा

दिया गया है। उसका प्रत्येक अङ्क प्रायः एक नाटिका जितना लंबा है। इसी प्रकार अन्तिम दसवें अङ्क में पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या लौट आने का वर्णन १०५ पद्यों में दिया गया है। राजशेखर की यह कमी थी और यद्यपि उसके छठे अङ्क में छद्मरूप मायामय दशरथ, शूर्पणखा कैकेई, तथा राम-निर्वासन की घटना दिखाकर राजशेखर ने नाटक की कथावस्तु में कार्यान्विति लाने का उद्योग किया है; फिर भी उनका यह प्रयोग सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है।

किन्तु राजशेखर के इस नाटक को यदि उन्हीं के कथनानुसार अभिनय की दृष्टि से नहीं बल्कि अध्ययन की दृष्टि से देखा जाय तो पाठकों को वह विशेष आनन्ददायी प्रतीत होगा। उन्होंने नाट्यगुण की अपेक्षा वर्णन-सौष्ठव (भणितिगुण) को श्रेष्ठ मानते हुए 'बालरामायण' की प्रस्तावना में लिखा है:

'ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्
प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति।'

इसलिए राजशेखर के नाटकों को पढ़ते समय हमें उनके दृष्टिकोण को ध्यान में रखना चाहिए।

कवित्व

कवित्व की दृष्टि से यदि राजशेखर की कृतियों का समीक्षण किया जाय तो हमें ज्ञात होता है कि उनमें नाटकीय गुणों की अपेक्षा काव्यात्मक गुणों की अधिकता है। भवभूति की परंपरा में होने के कारण राजशेखर भी निष्णात शब्द-कवि हैं। उनकी कविता में नाद-सौन्दर्य है। उनके वर्णनों में रस, भाव और व्यंजना का समावेश है। प्रकृति और मानव के बीच रागात्मक संबंधों को स्थापित करने में भी उनकी काव्यात्मकता अपूर्व है।

उनके कवित्व में कलात्मकता भी है। उनका प्रशंसनीय छन्दकौशल इस दृष्टि से स्मरणीय है। शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्दों को प्राकृत तथा संस्कृत, दोनों भाषाओं में बड़ी निपुणता के साथ उन्होंने प्रयुक्त किया है। शार्दूलविक्रीडित छन्द का उन्हें प्रख्यात विद्वान् कहा गया है। 'सुवृत्त-तिलक' में लिखा हुआ है:

'शार्दूलविक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः॥'

उनके पद्यों में नाटक के उपयुक्त गीतात्मकता भी उनके अच्छे कवि होने का प्रमाण है। उनके अनुप्रास-प्रधान पद्यों में अच्छा शब्दविन्यास देखने को मिलता है। लोकोक्तियों के प्रयोग में राजशेखर बड़े ही प्रवीण थे, क्योंकि अपने नाटकों को लिखते समय उनकी दृष्टि लोकसामान्य पर अवस्थित थी। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक जीवन के सुन्दर चित्र अपने नाटकों में उतारे हैं। इसी हेतु उनकी काव्यगोष्ठी के एक कविमित्र कृपाशंकर शर्मा ने उनके संबंध में कहा है 'यदि सहृदयों के मन को मोह लेने वाली सरस सूक्तियों और जीवनतरु के मधुर फलों का आस्वादन करना हो तो राजशेखर की अमृतवर्षिणी कविता को पढ़ना चाहिए।'

उनके भाषा-सौष्ठव के प्रमाण उनके ललित पद हैं। उनका यह पद-लालित्य 'कर्पूरमंजरी' में विशेपरूप से ध्वनित हुआ है। संभवतः इसका कारण प्राकृत भाषा की स्वाभाविक मधुरता है। इसी हेतु अपना प्राकृतप्रेम उन्होंने स्थान-स्थान पर स्वयमेव प्रकट भी किया है। 'कर्पूरमंजरी' के दूसरे अङ्क में झूले पर झूलती हुई स्वप्नवत् कर्पूरमंजरी का एक रमणीय शब्दचित्र प्रस्तुत करते हुए राजशेखर ने लिखा है कि 'उसके मणि-नूपुरों से कैसी मीठी झंकार निकल रही है। उसका कण्ठहार किस प्रकार चमक रहा है। उसकी करधनी छोटे-छोटे बजने वाले घुंघुरुओं से कैसी सुहावनी प्रतीत हो रही है। उसके हिलते हुए वस्त्रों से कैसी ध्वनि निकल रही है। ऐसी चन्द्रमुखी को झूलते देख भला, किसका हृदय मुग्ध नहीं हो जाता!':

'रणन्तमणिणेउरं झणझणन्तहारच्छडं
कणक्कणिअकिंकिणीमुहलमेहलाडम्बरम्।
विलोलवलआवलीजणिअमञ्जुसिञ्जारवं
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिन्दोलणम्?'

उनकी प्राकृत का यह सुंदर उदाहरण है।

इसी प्रकार अपने प्रतिभानों, संभावनाओं और योजनाओं से वे वस्तुस्थिति को इतने सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं कि उसका चित्र ही आँखों के आगे

तैरने लगता है। यही बात उनके व्यक्तिचित्रों में देखने को मिलती है। 'बालरामायण' के प्रथम अंक में सीता की आकृति का चित्रण प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं :

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमद्युतिः।
पारुष्यं कलया च कोकिलवधू-कण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां वर्हाः सगर्हा इव॥'

'सीता के संमुख चन्द्रमा मानों अंजन से पोत दिया गया है। मृगियों के नेत्र मानों जड़ हो गये हैं। मूंगे की लता की लालिमा मानों मन्द पड़ गई है। सोने की कान्ति मानों काली पड़ गई है। कोकिलाओं के कल-कण्ठ को मानों कला के सूखेपन ने घेर लिया है। और तो क्या, मोरों के चित्र-विचित्र पंख भी मानों निन्दा के बोझ से लद गये हैं।'

'कर्पूरमंजरी' के तीसरे अङ्क में कर्पूरमंजरी द्वारा रचित चन्द्रवर्णन के प्रसङ्ग में राजा के मुँह से जो यह कहलाया गया है 'आश्चर्य है, कर्पूरमंजरी ने नई बात कही है। शब्द भी सुन्दर है, उक्ति भी विचित्र है और रस भी खूब झलकता है' (अहो, कप्पूरमंजरीए अहिणवत्थदंसणं, रमणीओ सद्दो, उत्तिविचित्तदा, रसणिस्संदो अ) राजशेखर के कवित्व के सम्बन्ध में उपयुक्त ही बैठता है।

संस्कृत के नाटकों का विकास

भास से लेकर राजशेखर तक संस्कृत-साहित्य के जिन प्रमुख नाटककारों एवं नाटकों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है उनके अतिरिक्त भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कृतियों का निर्माण हुआ। मुरारि के बाद और राजशेखर से पूर्व अनंगहर्ष मातृराज का 'तापसवत्सराज', मायुराज का 'उदात्तराघव', शक्तिभद्र का 'आश्चर्यचूड़ामणि' और किसी अज्ञातनामा लेखक का 'हनुमन्नाटक' या 'महानाटक' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। 'हनुमन्नाटक' अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं है; किन्तु १४वीं शताब्दी के बाद उसके दो संस्करण हुए, जिनमें पहला दामोदर मिश्र का और दूसरा मधुसूदन का है।

राजशेखर के बाद, संस्कृत में नाटक रचना का यह क्रम लगभग आज तक बना हुआ है। इस प्रकार के कुछ प्रमुख नाटककारों एवं उनकी कृतियों में क्षेमीश्वर का 'चण्डकौशिक' (११वीं श०), दिङ्नाग (११वीं श०) की 'कुन्दमाला', कृष्णमिश्र (११वीं श०) का 'प्रबोधचन्द्रोदय', जयदेव (१२वीं श०) का 'प्रसन्नराघव', वत्सराज (१२वीं श०) के अनेक नाटक, जिनका विवरण आगे रूपकों के भेद में दिया गया है, जयसिंह सूरि (१३वीं श०) का 'हम्मीरमदमर्दन', हस्तिमल्ल (१३वीं श०) के 'विक्रान्तकौरव', 'मैथिली-कल्याण', 'अंजनापवनंजय' और 'सुभद्रा' आदि, विद्यानाथ (१४वीं श०) का 'प्रतापरुद्रीयकल्याण', विश्वनाथ (१४वीं श०) का 'सौगन्धिकाहरण', वामन-भट्ट वाण (१५वीं श०) के 'पार्वतीपरिणय', 'कनकलेखाकल्याण' तथा 'शृङ्गारभूषण', रूपगोस्वामी (१५वीं श०) के 'दानकेलिकौमुदी', 'विदग्ध-माधव' तथा 'ललितमाधव', रत्नखेट श्रीनिवास (१६वीं श०) का 'भैमीपरिणय', गोकुलनाथ (१६वीं श०) का 'मुदितमदालसा', जगज्ज्योतिर्मल्ल (१७वीं श०) का 'हरगौरीविवाह', रामभद्र दीक्षित (१७वीं श०) का 'जानकीपरिणय', विश्वेश्वर (१८वीं श०) का 'रुक्मिणीपरिणय', अम्बिकादत्त व्यास (१८५८–१९०० ई०) का 'सामवतम्', आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

२०वीं शताब्दी के आदि से लेकर अब तक अनेक प्रकार के नाटक लिखे गये और प्रायः उन सभी नाटकों की प्राचीन शैली एवं विषय को आधुनिक विधानों तथा विचारों में ढालने का प्रशंसनीय कार्य किया गया। उनमें से कुछ नाटक तो ऐसे हैं, जिनका विषय तो पौराणिक है ; किन्तु जिनको अभिनेयता की दृष्टि से आधुनिक रङ्गमञ्च के उपयुक्त बनाया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ नाटक भारत के प्रमुख व्यक्तियों के जीवनवृत्त पर, कुछ शेक्सपीयर आदि विदेशी नाटककारों के अनुवादरूप में और कुछ समकालीन सामाजिक समस्याओं पर लिखे गये। संस्कृत के बृहद् ग्रन्थों के संक्षिप्त रूपान्तरों को आकाशवाणी के द्वारा प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

इस प्रकार के नाटककारों में महामहोपाध्याय शंकरलाल, ईश्वरदी श्रीनिवासाचार्य, रामशास्त्री, काशीनाथ शास्त्री, श्रीनिवासाचारी, वेंकटाचार्य,

चार्ई० महालिंग शास्त्री, मूलशंकर माणिकलाल याज्ञिक, महामहोपाध्याय मथुरानाथ दीक्षित, महामहोपाध्याय हरिदास सिद्धान्तवागीश, सुदर्शनपति, शैल दीक्षितार, क्षमाराव, साहित्यशिरोमणि नीपजी भीमभट्ट, रामनाथ शास्त्री और सुदर्शन शर्मा आदि का नाम उल्लेखनीय है।

११वीं शताब्दी से लेकर २०वीं शताब्दी तक के नाटकों और नाटककारों का विस्तृत विवेचन इतिहास के बृहद् संस्करण में प्रस्तुत किया गया है। इस विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए उक्त संस्करण अवलोकनीय है।

रूपक के भेद

भाण

प्राचीनता की दृष्टि से भाण रचनाएँ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। कविराज विश्वनाथ के मतानुसार धूर्तों, विटों के चरित्रों से युक्त अनेक अवस्थाओं को लिए हुए, निपुण विट, जो स्वानुभूत या परानुभूत बातों को रंगभूमि पर प्रकाशित करता है, संबोधन, उक्ति-प्रत्युक्ति एवं आकाशभाषित द्वारा विज्ञप्ति, जिसमें वीर तथा शृङ्गार रस की प्रधानता हो, मुख्य कथा कल्पित, वृत्ति भारती या कौशिकी, जिसमें मुख तथा निर्वहण संधियाँ होती हों, वह भाण रचना कहलाती है। भाण रचना एकांकी होती है। उसमें भाव, भाषा और सरणि की श्रेष्ठता रहती है। हाल ही में कुछ भाण-रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, मद्रास से जिनका प्रकाशन चतुर्भाणी नाम से हुआ है। उनके रचयिता हैं वररुचि, ईश्वरदत्त, श्यामलिक और शूद्रक। इनके संबंध में किसी कवि का कथन है कि कालिदास की रचनाएँ भी उनके आगे मात खा जाती हैं।

वररुचि (३०० ई० पू० के लगभग) ने 'उभयाभिसारिका', शूद्रक (५०० ई०) ने 'पद्मप्राभृतक', श्यामलिक (८०० ई०) ने 'पादताडित' और ईश्वरदत्त (११०० ई०) ने 'धूर्त-विट-संवाद' भाण लिखे। १२वीं शताब्दी में वत्सराज ने कर्पूर जुआरी को नाटक बनाकर 'कर्पूरचरित' भाण (Monologue) लिखा। इनके अतिरिक्त १३वीं शताब्दी के आसपास

काशीपति कविराज ने 'मुकुन्दानंद'; १६ वीं श० में मामनभट्ट वाण ने 'श्रृंगार-भूषण', श्रीकृष्ण चैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी ने 'दानकेलिकौमुदी'; १७वीं शताब्दी में गुरुराम ने 'मदनगोपाल-विलास', राजचूड़ामणि दीक्षित ने 'श्रृङ्गार-तिलक', रामभद्र दीक्षित ने भी 'श्रृङ्गारतिलक' (अय्या भाण), नल्ल कवि ने 'श्रृङ्गारसर्वस्व', वरदाचार्य ने 'वसन्ततिलक भाण' (अम्मा भाण); इसी शताब्दी में वर्तमान तंजोर के राजा तुकोजी के मन्त्री घनश्याम ने विभिन्न विषयों पर लगभग एक सौ ग्रन्थ लिखे। उन्होंने 'मदनसंजीवन' (भाण) और 'नवग्रहचरित' (सट्टक) भी लिखे। १९वीं शताब्दी में कोटिलिंगपुर के राजकुमार ने 'रससदन' लिखकर इस परंपरा को आगे बढ़ाया।

प्रहसन

संस्कृत के प्रहसनों में एक मार्मिक व्यंग्य होने की वजह से उनकी बड़ी ख्याति और लोकप्रियता भी रही है। उनमें यद्यपि अश्लीलता भी कहीं-कहीं दिखाई देती है; किन्तु चार्वाक, जैन, बौद्ध, कापालिक आदि वेदविरोधी धर्मानुयायियों के प्रति उनमें जो आक्षेप किये गए हैं, वे बड़े ही मार्मिक हैं।

भाण के समान संधि, संध्यंग, लास्यांग, और अंकों के द्वारा संपादित निंदनीय पुरुषों का कवि-कल्पित वृत्तान्त प्रहसन कहलाता है। प्रहसन के भी कई भेद हैं। जहाँ तपस्वी, संन्यासी, ब्राह्मण आदि में से कोई धृष्ट नायक हो वह शुद्ध प्रहसन ; वेश्या, चेट, नपुंसक आदि का जहाँ आश्रय हो, वह संकीर्ण प्रहसन और कंचुकी, तापस, कामुक, वंदी आदि का जहाँ अनुकरण हो वह विकृत प्रहसन कहलाता है। भाण और प्रहसन दोनों के आधुनिक नाटकीय दृष्टि से उपयुक्त न होने पर भी शिल्प और सज्जा की दृष्टि से उनका अपना महत्त्व है।

बोधायन-कृत 'भगवदज्जुक' ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के आसपास लिखा गया सबसे प्राचीन प्रहसन है। पल्लवनरेश महेंद्र विक्रमन् के एक शिलालेख में 'मत्त-विलास प्रहसन' के साथ उक्त प्रहसन का उल्लेख होने के कारण कुछ लोग उसे महेंद्र विक्रमन् (७०० ई०) की कृति मानते हैं।

इसी समय के एक अज्ञातनामा लेखक का प्रहसन 'दामक' है, जिसमें भास के नाटकों जैसी विशेषताएँ विद्यमान हैं।

पल्लवराज सिंहविष्णु के पुत्र महेंद्र विक्रमन् प्रथम ने एक प्रहसन 'मत्त-विलास' लिखा, जिसका समय सातवीं शताब्दी ईसवी का पूर्वार्द्ध था। १२वीं शताब्दी ई० के आरंभ में शंखधर कविराज ने एक सुंदर प्रहसन 'लटकमेलकम्' (धूर्त-सम्मेलन) लिखा। इसी प्रकार ज्योतिरीश्वर कवि ने १४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'धूर्तसमागम', कवितार्किक ने १७वीं श० में 'कौतुकरत्नाकर', सामराज दीक्षित ने 'धूर्तनर्तक'; १८वीं शताब्दी में तंजोर के राजा तुकोजी के मन्त्री घनश्याम ने 'डमरुक' और दूसरे अज्ञातकालीन लेखकों में जगदीश ने 'हास्यार्णव' तथा गोपीनाथ चक्रवर्ती ने 'कौतुकसर्वस्व' लिखे।

एकांकी

संस्कृत-साहित्य में नाटकों के वर्गीकरण का आधार एकांगिता या अनेकांगिता पर निर्भर न होकर रूपक और उपरूपकों के भेदोपभेदों के रूप में वर्तमान है। एक अंक में समाप्त होने वाले नाटक रूपक और उपरूपक दोनों श्रेणियों में मिलते हैं। रूपकों में व्यायोग, उत्सृष्टांक, भाण, वीथी और प्रहसन पूर्णरूपेण और उपरूपकों में नाट्यरासक, रासक, गोष्ठी, उल्लाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका तथा प्रेंखण आदि कुछ हेर-फेर से एकांकी ही हैं। एक अंक में समाप्त होने वाले इन रूपक-उपरूपकों को संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने अनेक श्रेणियों में विभाजित किया है। डॉ० कीथ ने एक अंक में परि-समाप्य इन नाटकों को एकांकी (One act play) कहा है।

भास्कर कवि ने एक नाटक 'उन्मत्तराघव' लिखा। भास्कर का अपर नाम जैसा कि नाटकों में भी लिखा हुआ है, विजयनगर का सुप्रसिद्ध विद्वान् विद्यारण्य ही था। अतः इस नाटक का समय १४वीं शताब्दी के मध्य में होना चाहिए। यह 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अंक के आधार पर विरचित है। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विजयनगर के हरिहर द्वितीय के पुत्र विरूपाक्ष ने भी एक एकांकी इसी नाम से 'उन्मत्तराघव' लिखा। इस पर भी 'विक्रमो-र्वशीय' के चौथे अंक का प्रभाव है।

व्यायोग

व्यायोग-रचनाओं में भास-कृत 'मध्यमव्यायोग', 'दूतवाक्य', 'दूतघटोत्कच', 'कर्णभार' और 'ऊरुभंग' प्रमुख हैं। तदनन्तर कनकाचार्य (१२०० ई०) का 'धनंजयविजय', रामचंद्र कवि (१२०० वि०) का 'निर्भयभीम', प्रह्लाददेव (१२०० वि०) का 'परार्थपराक्रम', वत्सराज (१२६० वि०) का 'किरातार्जुनीय', विश्वनाथ (१३७३ वि०) का 'सौगंधिका-हरण', कंचन पंडित का 'धनंजयविजय', मोक्षादित्य (१३८५ वि०) का 'भीम-विक्रम' आदि उल्लेखनीय हैं।

रूपक के कुछ अप्रचलित भेद

रूपक के इन भेदों में नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन और व्यायोग पर पर्याप्त कृतियाँ रची गईं और वे लोकप्रिय भी सिद्ध हुईं। इनके अतिरिक्त डिम, समवकार, वीथी, अंक, और ईहामृग, इन पाँच भेदों का प्रचलन प्रायः बहुत ही कम रहा। रूपक के प्रायः इन सभी अप्रचलित भेदों पर वत्सराज ने एक-एक कृति का निर्माण कर अपने पांडित्य का परिचय दिया और संस्कृत-साहित्य की एक अपूरणीय क्षति को भी पूरा किया। वत्सराज कालिंजर के राजा परिमर्दिदेव (११६३-१२०३ ई०) तथा उनके पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव (१३वीं श० के मध्य तक) के अमात्य और संमानित विद्वान् थे।

उनकी कृतियाँ हैं : 'कर्पूरचरित' (भाण), 'हास्यचूड़ामणि' (प्रहसन), 'त्रिपुरदाह' (डिम), 'किरातार्जुनीय' (व्यायोग), 'समुद्रमंथन' (समवकार), 'माधवी' (वीथी), 'शर्मिष्ठाययाति' (अंक) और 'रुक्मिणीपरिणय' (ईहामृग)।

१८वीं शताब्दी में घनश्याम नामक विद्वान् भी चतुरस्र प्रतिभा का व्यक्ति हुआ। वह तंजौर के राजा तुकोजी का मंत्री था। उसने लगभग सौ ग्रन्थों का निर्माण किया। नाटकों के क्षेत्र में उसने भाण, सट्टक, प्रहसन आदि पर अनेक कृतियाँ लिखीं। उसकी दोनों पत्नियाँ भी बड़ी विदुषी थीं।

प्रतीकात्मक शैली के नाटक

संस्कृत में प्रतीकात्मक शैली के कुछ नाटकों को एक अलग ही श्रेणी में रखा जा सकता है। इन प्रतीकात्मक शैली के नाटकों की आधारभूमि कालि-

दासोत्तर कवियों की रचनाओं में मिलती है; विशेषतया अश्वघोष-कृत 'शारिपुत्र प्रकरण' में ; फिर भी उसका पूर्ण वय हमें कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' में दिखाई देता है। इस शैली के नाटकों में प्रवाह की कमी और अभिनय की भी शिथिलता दिखाई देती है। श्रद्धेय डॉ० ओझा का मंतव्य है कि "इस शैली की प्रथम विशेषता मानव-मन के सूक्ष्म तत्त्वों को पात्रों के रूप में प्रदर्शित करके अध्यात्म के दुर्ज्ञेय रहस्यों को बोधगम्य बनाने के प्रयास में झलकती है।" अमूर्त पदार्थों को मूर्त रूप में प्रकट करना इस शैली के नाटकों की विशेषता है।

प्रतीकात्मक (Allegorical play) या भावात्मक नाटकों की अनेक श्रेणियों में तीन श्रेणियाँ प्रमुख हैं : पहली श्रेणी के नाटक वे हैं, जिनके कथानक में रसात्मकता के साथ-साथ आदि से अन्त तक चमत्कृति प्रदर्शित होती है ; दूसरी श्रेणी के नाटक वे हैं, जिनमें प्रस्तुत अर्थ की अपेक्षा अप्रस्तुत अर्थ में चमत्कृति होती है ; और तीसरी श्रेणी के नाटक वे हैं, जिनमें कुछ पात्र तो मानवी होते हैं और कुछ मानवीकरण के रूप में प्रतीत होते हैं।

'प्रबोधचन्द्रोदय' प्रतीकात्मक शैली के नाटकों में पहिला उपलब्ध नाटक है। यह नाटक चंदेलवंशीय महाराज कीर्तिवर्मा (११०७ वि०) के दरबार में अभिनीत हुआ था। जनश्रुति ऐसी है कि चेदिराज कर्ण पर विजय प्राप्त करते समय युद्धभूमि के रक्तपात को देखकर चंदेलनरेश के हृदय में जो विपन्नता एवं उदासीनता उत्पन्न हो गई थी, उन्हीं अनूठे क्षणों को उनके राजकवि एवं गुरुवर कृष्ण मिश्र ने बड़ी पटुता से सँजोकर इस नाटक की रचना की थी। संभवतया नाटक-रचना के इस पुनीत उद्देश्य को लेकर वह इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि हिन्दी में उसके कई गद्य-पद्यात्मक अनुवाद देखने को मिलते हैं।

संस्कृत में इन प्रतीकात्मक शैली के नाटकों की छिट-पुट परम्परा लगभग १८वीं शताब्दी तक बनी रही। इस शैली के नाटकों में चालुक्यराज कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल (१२२९-१२३२ ई०) के मंत्री यशपाल कवि के 'मोहराज-पराजय' की गणना आती है। इस नाटक में कुछ ऐतिहा-

सिक व्यक्तियों का भी समावेश है। आचार्य हेमचंद्र के प्रभाव से राजा कुमार-पाल का जैन धर्म में दीक्षित होना इस नाटक की प्रमुख घटना है। कला एवं शिल्प की दृष्टि से 'प्रबोधचंद्रोदय' की अपेक्षा यह न्यून है। यह नाटक सर्वप्रथम कुमारविहार में महावीर स्वामी के उत्सव के समय अभिनीत हुआ था। १४वीं शताब्दी में रचित वेदान्तदेशिक का 'संकल्पसूर्योदय' भी प्रतीका-त्मक शैली का नाटक है।

प्रतीकात्मक शैली पर एक नाटक उड़ीसा के महाराज गजपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से १५७९ ई० में कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' के नाम से लिखा। इस नाटक में प्रतीकात्मकता के साथ-साथ पौराणिकपन और चारित्रिक प्रधानता भी विद्यमान है। महाप्रभु चैतन्य के दार्शनिक दृष्टिकोणों के सहित उनकी लीलाओं का भी इस नाटक में सुष्ठु समावेश है। १६वीं शताब्दी के प्रतीकात्मक नाटकों में गोकुलनाथ का 'अमृतोदय' और रत्नखेट श्रीनिवास का 'भावनापुरुषोत्तम' उल्लेखनीय हैं।

तदनन्तर इस शैली का अनुवर्त्तन भूदेव शुक्ल ने १६२५ वि० के आस-पास 'धर्मविजय' नाटक लिखकर किया। 'धर्मविजय' के बाद तंजोर के राजा शाहीराय शरभाजी के अमात्य आनन्दराय (कवि देव) ने १८वीं शताब्दी में दो नाटक : 'विद्या-परिणयन' और 'जीवानंदन' लिखे, जिनमें नाटकीयता की दृष्टि से पहिली कृति श्रेष्ठ है। पाँच अङ्कों की एक प्रतीकात्मक नाटक कृति श्रीनगर के राजकवि (सम्भवतः १६७२ वि०) मैथिल गोकुलनाथ 'अमृतोदय' नाम से लिख चुके थे। कवि सामराज दीक्षित ने भी १७३८ वि० में कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय' की कथात्मकता के आधार पर 'श्रीरामचरित' की रचना की।

इन नाटकों के अतिरिक्त प्रतीकात्मक शैली में लिखे गए कुछ दाक्षिणात्य नाटककारों में वेंकटनाथ वेदांतदेशिक (१३वीं श०) का 'संकल्पसूर्योदय' और वरदाचार्य का 'यतिराजविजय' उल्लेखनीय हैं।

प्रतीकात्मक शैली की इस नई निर्माण-परम्परा ने नाटकों के क्षेत्र में एक नई दिशा का संकेत तो अवश्य किया; किन्तु उसको पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं

हुआ। बाबू द्विजेन्द्रलाल राय इस प्रतीकात्मक शैली को नाटक-परंपरा का एक अच्छा आधार स्वीकार नहीं करते और इसीलिए उन्होंने रवींद्र बाबू के प्रतीकात्मक नाटकों की कड़ी आलोचना की है।

छाया नाटक

छाया नाटक का उल्लेख संस्कृत के किसी भी नाट्यग्रन्थ में नहीं मिलता है; किन्तु संस्कृत में इस प्रकार के नाटक लिखे गये। जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, ऐसे नाटकों में पात्र सशरीर न होकर छायारूप में रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। जर्मन विद्वान् डॉ० पिशेल ने नाटकों की उत्पत्ति इसी आधार पर कठपुतलियों के नृत्य से मानी है। प्रो० लूडर्स का कथन है कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति में छाया द्वारा खेल दिखाने की प्रथा का प्रमुख भाग रहा है। नाटकों का 'रूपक' नामकरण भी छाया नाटकों के वर्तमान होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। डॉ० कीथ छाया नाटकों का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं; किन्तु उनका कथन है कि नाटक का उद्भव इससे भी पहले हो चुका था और इस मत का प्रचलन 'ऋग्भाष्य' के एक स्थल का अशुद्ध अर्थ ग्रहण करने के कारण हुआ।

इस परम्परा के नाटकों में सुभट कवि (१२वीं श०) का 'दूतांगद' प्रतिनिधि रचना है। तदनन्तर १५वीं शताब्दी में व्यास श्री रामदेव ने 'सुभद्रापरिणय', 'रामाभ्युदय' और 'पाण्डवाभ्युदय' नाटक लिखे, जिनमें 'सुभद्रापरिणय' सुभट की शैली पर लिखा गया छायानाटक है।

किन्तु इस शैली के छायानाटकों का संस्कृत में अधिक प्रचलन नहीं दिखाई देता। संस्कृत में छाया नाटकों की अपेक्षा प्रतीक-नाटकों की ओर लेखकों का अधिक आकर्षण रहा है और इसीलिए छाया की अपेक्षा प्रतीक भावना को अधिक अपनाया गया।

महाकाव्य

उद्भव : अभ्युत्थान : परिणति

महाकाव्य

उद्भव

हमारा अभीष्ट यद्यपि संस्कृत के महाकाव्यों की जानकारी करने तक ही सीमित है, तथापि आनुषंगिक रूप में हमें संस्कृत भाषा की आदि परिस्थितियों, यहाँ तक कि दुनिया के महाकाव्यों की मूल प्रवृत्तियों का अध्ययन भी अपनी इस अभीष्ट-पूर्ति के लिए करना होगा। संस्कृत के महाकाव्यों और दुनिया के इतिहास में, महाकाव्यों की पहिली श्रेणी हमें मोटे-मोटे ग्रंथों के रूप में उपलब्ध न होकर, मनुष्य की मौखिक भावनाओं के रूप में, जिनकी परंपरा कि सहस्रों वर्ष से अलिखित ही समाज में बनी रही, मिलती है। मनुष्य के संस्कृत विचार ही उसकी विकासशील काव्य-प्रतिभा के पहिले लक्ष्यबिंदु हैं।

'रामायण', 'महाभारत', 'इलियड' और 'ओडसी' आदि ग्रंथ, यद्यपि आज प्रथम महाकाव्य कहे जाते हैं; किन्तु महाकाव्य का जो स्वरूप आज है, उसके मापदण्ड के अनुसार क्या इनको महाकाव्य कहा जा सकता है? बल्कि उक्त ग्रन्थों के रचनाकारों का कदापि भी यह उद्देश्य नहीं था कि भविष्य में उनकी इन कृतियों को महाकाव्य कहा जायगा; जैसा कि आज भी उनको केवल महाकाव्य कहकर उन पर अन्याय नहीं किया जा सकता है।

इसलिए निष्कर्ष यह है कि महाकाव्यों की रचना या उनका स्वरूप, युग के हिसाब से एक जैसा नहीं रहा है और इसीलिए अंतिम रूप से यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आज महाकाव्य या साहित्य के दूसरे काव्य-नाटक आदि अङ्गों के लिए जो परिभाषाएँ एवं जो मान्यताएँ स्थिर की गई हैं, भविष्य में भी उनको ही स्वीकार किया जायगा।

'रामायण' और 'महाभारत' भी इसीलिए प्रथम महाकाव्य नहीं हैं। उन्हें हम एक युगविशेष के प्रतिनिधि महाकाव्य अवश्य कह सकते हैं। इन दोनों

ग्रन्थों में हम दूसरी अनेक बातों के साथ-साथ अद्भुत वीर-भावना का वर्णन विशेष रूप से पाते हैं। इसीलिए यदि हम यह कहें कि ये दोनों ग्रन्थ भारत के बृहद् इतिहास के प्राचीनतम किसी वीर-युग के प्रतिनिधि महाकाव्य हैं, तो उनकी वास्तविकताओं को समझने में आसानी रहेगी।

वाल्मीकि, व्यास, होमर, और वर्जिल ने अपने इन ग्रन्थों के लिए प्राचीन-काल से मौखिकरूप में चले आते अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का दाय समेटकर उसको समृद्ध एवं सिलसिलेवार संबद्ध किया। इन ग्रन्थों की प्रायः समग्र सामग्री और विशेषरूप से उनकी प्रधान विषयवस्तु, उनके निर्माण से पहिले की है। वे पूर्वागत कथाएँ 'रामायण' आदि ग्रंथों में अपनी सिद्धावस्था को प्राप्त हो गई हैं।

बहुत पुराने समय में सामूहिक नृत्य-गीतों द्वारा मनुष्य अपने जिन धार्मिक उत्सवों का आयोजन करता था, अपनी सुदीर्घ परंपरा में वे गीत-नृत्य एक आख्यान के रूप में स्मरण किए जाने लगे। ये आख्यान-गीत ही ऋग्वेद के संवाद सूक्त हैं। ऐसे संवाद सूक्त ऋग्वेद में अनेक हैं, जैसे : यम-यमी (१०।११), पुरूरवा-उर्वशी (१०।१५), अगस्त्य-लोपामुद्रा (१।१७९), इन्द्र-अदिति (४।१८), इन्द्र-इन्द्राणी (१०।८६), सरमा-पणीस (१०।५१।३) और इन्द्र-मरुत् (१।१६५।१७०) आदि। वेद-भाष्यकार यास्क ने इन संवाद-सूक्तों को आख्यान संज्ञा दी है।

इन संवादात्मक आख्यानों को ही पहिले गाथा नाराशंसी भी कहा जाता था; किन्तु अपनी ख्याति के कारण थोड़े ही समय बाद उन्हीं को इतिहास और पुराण भी कहा जाने लगा। ये सारी मान्यताएँ वैदिक युग की हैं।

क्योंकि ये संवाद-सूक्त गद्य-पद्यात्मक थे; इसलिए ओल्डेनबर्ग साहब ने उनके आधार पर यह अनुमान लगाया कि भारतीय महाकाव्यों का प्राचीनतम स्वरूप गद्य-पद्यात्मक था। मैक्समूलर, लेवी और हर्टेल आदि ने उक्त संवाद-सूक्तों को नाटक कहा है। विंटरनित्स ने इनको प्राचीनतम गाथाएँ कहा है। उनके कथनानुसार जिनका दाय ग्रहण कर बाद में काव्य, महाकाव्य और नाटकों का विकास हुआ।

महाभारतकार ने आख्यान, उपाख्यान, कथा, आख्यायिका, पुराण और

इतिहास, इन सभी शब्दों को प्रायः समान अर्थ में ही प्राचीन कहानी के रूप में प्रयुक्त किया है।

'रामायण' और 'महाभारत' में जिन विभिन्न आख्यानों-उपाख्यानों का वर्णन हम पाते हैं वे ही संस्कृत के महाकाव्यों के उद्भवरूप हैं और उन्हीं का संकलन, संशोधन और परिवर्द्धन करके 'रामायण' तथा 'महाभारत' का कलेवर निर्मित होकर उनसे महाकाव्यों की एक प्रौढ़-परंपरा का अनुवर्तन हुआ।

'रामायण' और 'महाभारत' की शैलियों और उनके द्वारा अनुप्राणित काव्य-परंपरा को देखते हुए सहज ही कहा जा सकता है कि 'महाभारत' की अपेक्षा 'रामायण' में काव्योत्कर्षकारक गुण तथा अन्विति अधिक है। इसलिए महाभारत प्रधानतया इतिहास और गौणतया महाकाव्य है; किन्तु इसके विपरीत 'रामायण' प्रधानतया महाकाव्य और गौणतया इतिहास है। अपनी इसी प्रधान भावना के कारण 'महाभारत' ने पुराण शैली को जन्म दिया और स्वयं भी पुराणों की श्रेणी में चला गया; किन्तु 'रामायण' का विकाश अलंकृत शैली के काव्यों के रूप में हुआ। इसलिए 'महाभारत' को हम संस्कृत के काव्यों, महाकाव्यों और दूसरे विषयों के ग्रन्थों का पिता तो मान सकते हैं; किन्तु उसको काव्यों या महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं रख सकते; किन्तु 'रामायण' को हम निश्चित रूप से महाकाव्यों की श्रेणी में भी रख सकते हैं और उसको अलंकृत शैली के उत्तरवर्ती काव्यों का जनक भी कह सकते हैं।

रामायण और महाभारत का दाय

'रामायण' और 'महाभारत' का स्वतन्त्र अस्तित्व और उनकी पारस्परिक स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाने के बाद संस्कृत-साहित्य की सर्वांगीण समृद्धि के लिए उनके द्वारा कितना हित हुआ, इस बात को जान लेने के बाद उनकी सार्वभौम सत्ता का सहज में ही पता लग जाता है। संस्कृत के उत्तरवर्ती काव्य-साहित्य का लगभग अधिकांश भाग इन्हीं दो ग्रन्थों के दाय को लेकर पूरा किया गया। यदि इन दो ग्रन्थराटों से प्रभावित कृतियों को छाँटकर अलग कर दिया जाय तो संस्कृत-साहित्य के काव्य-क्षेत्र में

नाममात्र की सुन्दर कृतियाँ बची रह सकेंगी। हमें कहते हुए संकोच नहीं होता कि संस्कृत के प्रायः समग्र लक्षणग्रंथ इन्हीं दो महान् कृतियों की सीमा-रेखाओं का विश्लेषण करने पर ही रचे गये हैं। संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित नियमों के भीतर आने में जो अधिकांश दूसरी कृतियाँ पूर्णतः नहीं उतर पाती हैं, उसका एकमात्र कारण यही है कि उस समय ये दोनों ग्रंथ काव्यशास्त्रियों को अत्यधिक प्रभावित किये हुए थे।

संस्कृत के काव्यकारों ने 'महाभारत' से तो अपनी कृतियों के लिए कथावस्तु चुनी और उसको 'रामायण' की शैली में बाँधकर दोनों ग्रन्थों की स्थिति को स्पष्ट कर दिया। 'रामायण' से रूप-शिल्प और 'महाभारत' से विषयवस्तु को लेकर महाकाव्यों की परंपरा आगे बढ़ी। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष के महाकाव्यों में शिल्प-संबंधी तत्त्व, अलंकार-योजना, रूपकों, उपमाओं का आधिक्य और प्रकृति-चित्रण सभी का आधार 'रामायण' ही है।

'महाभारत' के पुराणों के अधिक निकट होने के कारण संस्कृत के काव्यकारों ने कुछ कथानक दूसरे पुराणों से भी लिया; किन्तु उस कथानक को काव्यरूप में सुसज्जित करने के लिए 'रामायण' की शैली का ही आश्रय लिया। कुछ ग्रन्थकारों ने 'महाभारत' की शैली पर काव्य लिखने की चेष्टा की भी; किन्तु वे विशुद्ध महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं आ सके। ऐसे काव्यों में 'राजतरंगिणी' और 'कथासरित्सागर' को रखा जा सकता है, जिन्होंने स्वयं को एक प्रबंध के रूप में विख्यात करना भी चाहा; किन्तु, जिनकी स्थिति आज दूसरे ही रूप में विश्रुत है।

महाकाव्यों का वर्गीकरण

संस्कृत-साहित्य में श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' तक, अर्थात् बारहवीं शताब्दी तक कितनी ही महाकाव्य-कृतियों का निर्माण हुआ। ये सभी महाकाव्य कृतियाँ एक जैसी शैली और एक जैसे ढंग की नहीं हैं। मेक्डोनेल साहब ने 'महाभारत' को तो लोक महाकाव्य (पापुलर एपिक), 'रामायण' को अनुकृत महाकाव्य (आर्टिफिशल एपिक) और बाद के महाकाव्यों को अलंकृत महाकाव्य कहा है।

डॉ० दासगुप्ता ने पाश्चात्य विद्वानों की इस धारणा को कि—'रामायण', 'महाभारत' तो 'एपिक' और बाद के महाकाव्य 'कोर्ट एपिक' तथा इस धारणा को कि संस्कृत काव्य-साहित्य प्रारम्भ से ही आडम्बरपूर्ण और रूप-शिल्प से रहित था, खंडित करके यह स्पष्ट किया है कि बाद के महाकाव्यों में यह बात ठीक-ठीक नहीं उतरती है। पाश्चात्यों ने आर्नेट (अनुकृत) कहकर जिन महाकाव्यों को कलात्मक भी कहा है, वे वास्तविक रूप से 'एपिक ऑफ आर्ट' या 'आर्टिफिशल' (अलंकृत) महाकाव्य हैं।

महाकाव्यों का यह श्रेणी-विभाजन पूर्णतया और अंशतया दोनों प्रकार से है, क्योंकि एक ही महाकाव्य ग्रन्थ में प्रधानतया एक शैली और अंशतया अनेक श्रेणियाँ मिली-जुली हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे ग्रन्थ एवं कालिदास, अश्वघोष, भारवि तथा माघ जैसे कवियों की रचनाएँ ऐतिहासिक, पौराणिक, अलंकृत, शास्त्रीय, रीतिबद्ध और रोमांचक आदि अनेक दृष्टियों का एक साथ परिचय देती हैं। इसलिए प्रधानतया उनकी एक श्रेणी होने पर भी गौणतया उनको दूसरी श्रेणियों में भी परिगणित किया गया है।

संस्कृत की सुदीर्घ परंपरा की भूमिका का और उसकी मूलभूत प्रवृत्तियों का समीक्षण करने के बाद महाकवि कालिदास से उसका अभ्युत्थान युग आरम्भ होता है। इस अभ्युत्थान युग की सीमा लगभग १२वीं शताब्दी तक जाती है। इस बीच भी यद्यपि कुछ ऐसी कृतियों का निर्माण हुआ, जिनको इस अभ्युत्थान युग की प्रतिनिधि कृतियाँ नहीं कहा जा सकता है; फिर भी जिन बहुत उच्चकोटि की कृतियों का निर्माण इस युग में या इन शताब्दियों में हुआ, उनकी तुलना में फिर दूसरी कृतियाँ नहीं रची गई।

कालिदास के पूर्ववर्ती विलुप्त महाकाव्य

संस्कृत में महाकाव्यों की परंपरा की उपलब्धि यद्यपि कालिदास के ग्रंथों से उद्धृत की जाती है; किन्तु कालिदास से भी बहुत पहिले इस विषय पर अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके थे। स्फुट कविताओं तथा स्फुट काव्यों का अस्तित्व तो और भी पहले का है। काव्यों और महाकाव्यों के पुरातन अस्तित्व को

प्रकट करने वाली ये कृतियाँ यद्यपि आज जीवित नहीं हैं; किन्तु उनके अस्तित्व को बताने वाले प्रबल साक्ष्य आज भी विभिन्न ग्रंथों में देखने को मिलते हैं।

'महाभारत' के शांतिपर्व में गार्ग्य को 'देवर्षिचरित' का कर्ता बताया गया है। यदि यह कथन सही हो तो चरितविषयक ऐतिहासिक काव्यग्रंथों का निर्माण बहुत प्राचीन समय में ही होने लग गया था। यह गार्ग्य, वैयाकरण, निरुक्तकार या आयुर्वेदज्ञ गार्ग्य ही था कि उनसे भिन्न ही हुआ, इस संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है; किन्तु इतना निश्चित है कि वह 'महाभारत' से पहिले हुआ।

संस्कृत के विद्यार्थी के लिए वैयाकरण पाणिनि का परिचय कोई नया नहीं है। किन्तु एक अद्वितीय वैयाकरण के अतिरिक्त वह सिद्धहस्त काव्यकार भी था, इस बात को कम लोग जानते हैं, अथवा जानकार भी ध्यान में नहीं लेते हैं। उसने एक 'जांबवतीविजय' नामक महाकाव्य की रचना की थी, जिसमें १८ सर्ग थे। विभिन्न विषयों के प्राचीन-नवीन लगभग ३३ ग्रंथों में पाणिनि के इस महाकाव्य ग्रन्थ के संबंध में सूचनाएँ लिखी मिलती हैं।

व्याडि, पाणिनि का ही समकालीन था। संग्रहकार के रूप में उसकी प्रसिद्धि है। उसने 'बालचरित' नामक एक महाकाव्य का निर्माण किया था। उसके संबंध में महाराज समुद्रगुप्त का कथन है कि 'व्याडि रसतंत्र का आचार्य, महाकवि, शब्दब्रह्मैकवाद का प्रवर्तक, पाणिनि-सूत्रों का व्याख्याता और मीमांसकों में अग्रणी था। उसने 'बालचरित' लिखकर 'भारत' और व्यास को जीत लिया। महाकाव्य के क्षेत्र में व्याडि का ग्रंथ प्रदीपभूत था।' समुद्रगुप्त के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि व्याडि ने 'महाभारत' से भी बड़ा महाकाव्य लिखा था। व्याडि के काव्यकार होने की पुष्टि 'अमरकोष' की एक अज्ञातनामा टीकाकार की टीका से होती है। उसमें लिखा है कि 'भट्टिकाव्य के १२वें सर्ग के सदृश व्याडि के काव्य में भी 'भाषा-समावेश' नामक एक भाग या अध्याय था।' शब्दशास्त्रविद् व्याडि के महाकाव्य में इस प्रकार का अध्याय होना उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

महाराज समुद्रगुप्त के 'कृष्णचरित' में वार्तिककार वररुचि कात्यायन को 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य का रचयिता बताया गया है। उसकी प्रशंसा में

कहा गया है कि ऐसे सुन्दर काव्य को लिखकर कात्यायन ने स्वर्ग को पृथिवी पर उतार दिया। अपने रुचिर कवित्व कर्म के कारण पृथिवी भर में उसका कवित्व यश फैला। दूसरे श्लोक में कहा गया है कि दाक्षीपुत्र वार्तिककार कात्यायन केवल व्याकरण की रचना कर ही विरमित नहीं हो गया था; बल्कि उस कवि-कर्म-दक्ष ने एक काव्यकृति का भी निर्माण किया था।

वररुचिकृत काव्य की पुष्टि 'महाभाष्य' में उद्धृत श्लोकों से भी होती है। 'शार्ङ्गधरपद्धति', 'सदुक्तिकर्णामृत' और 'सुभाषितमुक्तावलि' आदि ग्रन्थों में उद्धृत श्लोकों में वररुचि के कविकर्म के प्रमाण सुरक्षित हैं।

'महाभाष्य' में 'भ्राजसंज्ञक श्लोकों' का उल्लेख मिलता है। कैयट, हरदत्त और नागेशभट्ट के मतानुसार ये 'भ्राज' संज्ञक श्लोक वार्तिककार कात्यायन की रचनाएँ ठहरते हैं। ये श्लोक संप्रति विलुप्त हो गए हैं। इन श्लोकों में से एक श्लोक महाभाष्य के प्रथमाह्निक में उद्धृत हुआ मिलता है।

'महाभाष्य' में तित्तिरि-प्रोक्त श्लोकों का भी उल्लेख मिलता है। यह तित्तिरि, वैशम्पायन का जेठा भाई एवं उसी का शिष्य था। उसका दूसरा नाम चरक भी था। इसी चरक द्वारा प्रोक्त 'चारकश्लोकों' का निर्देश 'काशिकावृत्ति' और अभिनव शाकटायन कृत 'चिन्तामणिवृत्ति' में भी मिलता है।

इसी प्रकार सायण ने भी माधवीया 'धातुवृत्ति' में उख प्रोक्त 'औखीय' स्फुट श्लोकों का उल्लेख किया है। तित्तिरि या चरक तथा उख प्राचीन व्यक्ति मालूम होते हैं, क्योंकि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में भी उनका नामोल्लेख हुआ है।

महाभाष्यकार के रूप में पतंजलि के असामान्य व्यक्तित्व का परिचय मिलता है; किन्तु उसने भी एक महाकाव्य की रचना की थी, यह बात कम प्रचलित है। महाराज समुद्रगुप्त के 'कृष्णचरित' की प्रस्तावना में तीन श्लोक इस आशय के उद्धृत हैं, जिनसे पता चलता है कि 'महाभाष्य' के रचयिता पतंजलि ने चरक में धर्मानुकूल कुछ योग सम्मिलित किए; योग

की विभूतियों का निदर्शक, योगव्याख्यानभूत 'महानंद' नामक महाकाव्य की रचना की। सम्भवतः यह महाकाव्य मगधसम्राट् महानन्द से सम्बद्ध रहा होगा।

इसी प्रकार प्राचीन ग्रन्थों से विलुप्त महाकाव्यों, काव्यग्रन्थों या स्फुट कविताओं के संबंध की अनेक सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं। औखीय या तैत्तिरीय श्लोक, बहुत सम्भव है, काव्यविषयक न रहे हों; किन्तु जिस रूप में उनके संबंध की सूचनाएँ दी गई हैं उनसे तो यही विदित होता है कि उनमें कविबुद्धि एवं काव्यत्व के गुण भरपूर थे।

प्रशस्तियों की काव्य प्रवृत्तियाँ

संस्कृत-साहित्य की प्राचीनतम काव्य-प्रवृत्तियों के जीवित प्रमाण आज हमें प्रस्तर-पुस्तिकाओं पर उत्कीर्ण हुए मिलते हैं। उनमें रुद्रदामन् का गिरनार-शिलालेख (१५० ई०), तथा इसी समय का पुलुमावि का नासिक-शिलालेख प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति (३४५ ई०), वीरसेन का उदयगिरि-गुफा का अभिलेख (४७० ई०), वत्सभट्टि की मन्दसौर-प्रशस्ति (४३७ ई०), रविशांति का हरहा-अभिलेख (५५५ ई०) और वासुल की मंदसौर-प्रशस्ति (छठी शताब्दी) आदि ऐसे ही प्रमाण हैं, जिनमें संस्कृत की पूर्वागत काव्य-परंपरा के सूत्र ग्रथित हैं।

संस्कृत के इन अज्ञातनामा या अपरिचित काव्यकारों के संबंध में कुछ छिट-पुट प्रकाश आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एपिग्राफिया इंडिका, इंडियन इंस्क्रिप्शन्स, गुप्त इंस्क्रिप्शन्स, विभिन्न प्रदेशों के गजेटियर, अथवा एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, बिहार, बंबई, उड़ीसा आदि के जरनल्स या प्रोसीडिंग्स में पड़ चुका है ; किन्तु उन पर भी विस्तार से खोज करने की आवश्यकता अभी पूर्ववत् बनी हुई है।

सन् १९०३ ई० में स्व० बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने 'प्राचीन लेख-मणिमाला' के नाम से विभिन्न दानपत्रों, अन्तर्लेखों, शिलाखंडों, प्राचीन हस्त-लिखित पोथियों, कई इतिहास-ग्रंथों और विशेषतया डॉ० कीलहार्न के एक

विद्वत्तापूर्ण लेख के आधार पर अपनी इस पुस्तक का निर्माण किया था। इस पुस्तक में ७१६ लेखों का संग्रह है। इस पुस्तक को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि संस्कृत के कितने ही निर्माताओं का नाम तक आज हमें विदित नहीं है।

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार संपूर्ण काव्य-साहित्य दो भागों में विभक्त हैं : दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य के अन्तर्गत नाटक एवं रूपकों की गणना आती है और श्रव्य काव्य के अन्तर्गत गद्य, पद्य तथा चंपू की। पद्य-काव्य पुनः महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तककाव्य, तीन भेदों में विभाजित है, और गद्यकाव्य कथा, आख्यायिका आदि में; चंपूकाव्य का कोई भेद नहीं है। वह गद्य-पद्य-मिश्रित होता है।

महाकाव्यों की परम्परा का विकास

संस्कृत के महाकाव्यों को हम तीन मोटी श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। पहिली श्रेणी के अन्तर्गत वे महाकाव्य रखे जा सकते हैं, जो कि विशुद्ध संस्कृत में लिखे गए, जैसे कि कालिदास, माघ, श्रीहर्ष आदि के; दूसरी श्रेणी में पालि तथा प्राकृत भाषा के महाकाव्य आते हैं और तीसरी श्रेणी के महाकाव्य अपभ्रंश में हैं, जिनसे हिन्दी साहित्य में काव्य-परम्परा का प्रवर्तन हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से महाकाव्यों की लंबी परंपरा को हमने तीन विभिन्न युगों में विभाजित किया है। पहिला उद्भवयुग कालिदास से पहिले, दूसरा अभ्युत्थान-युग कालिदास से लेकर श्रीहर्ष तक और तीसरा ह्रास-युग तेरहवीं शती से अन्त तक।

महाकाव्यों के पहिले अभ्युदय-युग के संबंध में प्रकाश डाला जा चुका है। दूसरे अभ्युत्थान युग से पहिले इस सामग्री को जोड़ने की आवश्यकता इसलिए हुई कि महाकवि कालिदास से पहिले की परिस्थितियों को पूरी तरह जान लेने के बाद ही हम महाकाव्यों के उत्कर्ष की परम्परा में प्रवेश करें।

अभ्युत्थान

(१) कालिदास

जीवनी

महाकवि कालिदास यद्यपि भारत में पैदा हुए; किन्तु उनकी प्रतिभा की अमिट छाप जिस प्रकार अपने देशवासियों के हृदय पर अंकित है उसी प्रकार विश्व का संस्कृतप्रेमी समाज भी उनसे प्रभावित है। सैकड़ों वर्षों पूर्व से भारत के विभिन्न प्रान्तरों में कालिदास की स्मृति में भाँति-भाँति के उत्सव आयोजित होते आये हैं। उनके प्रति भारतीय जनता में एक समान आदरभाव रहा है। यह परम सौभाग्य का विषय है कि आज उनको राष्ट्रीय सम्मान भी दिया जाने लगा है और उनको अपने देश के अतीत गौरव का प्रतीकस्वरूप स्मरण किया जाने लगा है।

अपने देश के इतने महान् कवि के सम्बन्ध में आज भी कुछ भ्रान्तियाँ ऐसी हैं, जो हमारे साथ परम्परा से जुड़ी जोने के कारण हमसे अलग नहीं हो रही हैं। उदाहरण के लिए उनकी जीवनी और उनके स्थितिकाल का प्रश्न हमारे सामने आज भी बड़े विवाद का विषय बना हुआ है।

जहाँ तक उनकी जन्मभूमि का सम्बन्ध है, उनको कुछ विद्वानों ने बंगाली, कुछ ने काश्मीरी, कुछ ने विदिशावासी और कुछ ने उज्जयिनी का सिद्ध किया है; किन्तु इन सभी मन्तव्यों का अनुशीलन करने पर यह अवगत होता है कि वे उज्जयिनी के निवासी थे।

उज्जयिनी के प्रति कालिदास के हार्दिक मोह को देखते हुए यह मानना युक्तिसंगति जान पड़ता है कि उसका जन्म वहीं हुआ था, क्योंकि आगे चलकर उज्जयिनी के अधीश्वर विक्रमादित्य के आश्रय में कालिदास के रहने के लिए हम जो युक्तियाँ प्रस्तुत करेंगे उनसे यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी कि कालिदास की जन्मभूमि उज्जयिनी ही थी।

कालिदास शैव था। संभवतः वह उज्जयिनी के विख्यात महाकाल महादेव का उपासक था। 'मेघदूत' में महाकाल महादेव की उपासना का वर्णन

करते हुए यक्ष मेघ से कहता है 'भैया मेघ, उज्जयिनी में तुम चाहे जिस समय भी पहुँचो; किन्तु वहाँ सूर्यास्त तक तुम्हें ठहरना होगा। प्रदोषपूजा के अवसर पर तुम अपना स्निग्ध, गम्भीर घोष करना जो महाकाल की पूजा में नगाड़े का काम देगा; और तुम्हें अशेष पुण्यों का फल प्राप्त होगा।' इसलिए कालिदास का शैव होना प्रमाणित होता है।

कालिदास के जन्मस्थान की ही भाँति उनके जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि वे ब्राह्मण-बालक थे। बाल्य-काल में ही जब उनके माता-पिता का निधन हो गया तो एक ग्वाले ने उनका पालन-पोषण किया। अठारह वर्ष तक वे निरक्षरभट्टाचार्य थे। किन्तु इन दन्तकथाओं को अन्तिम प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी ने अपनी पुस्तक 'कालिदास' में, कालिदास के ग्रन्थों के आधार पर तथा तत्सामयिक परिस्थतियों का विश्लेषण कर कालिदास के जीवनचरित को स्पष्ट करने के लिए कुछ आनुमानिक सामग्री प्रस्तुत की है, जिसका निष्कर्ष नीचे दिया जा रहा है।

'रघुवंश' के प्रथम सर्ग में महर्षि वशिष्ठ के आश्रम का, पाँचवें सर्ग में वरतन्तु ऋषि के आश्रम का और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कण्व तथा मारीच ऋषियों के आश्रमों का वर्णन पढ़कर यह ज्ञात होता है कि कालिदास ने प्राचीन भारत के किसी गुरुकुल में रहकर विधिवत् अध्ययन किया था।

उन्होंने वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, दर्शनों का गंभीर ज्ञान प्राप्त किया था और वे अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनके इस सर्वांगीण ज्ञान का परिचय उनके ग्रन्थों से मिलता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के अनेक प्रसंग उनकी कामशास्त्रज्ञ प्रतिभा को प्रमाणित करते हैं। ज्योतिष, आयुर्वेद तथा धनुर्वेद में भी उनका सामान्य प्रवेश था। वे संगीतज्ञ भी थे और उन्होंने 'कुमारसंभव' तथा 'मेघदूत' में वीणा, मृदंग, मुरली, झाँझ एवं मजीरा आदि अनेक प्रकार के वाद्यों का उल्लेख किया है। उनके नाटकों के अनेक पात्र कुशल चित्रकार हैं। उस समय वियोग की व्यथा को कम करने के लिए चित्रों से मन बहलाया जाता था; चित्रों को देखकर

विवाह निश्चित किये जाते थे; और देवी-देवताओं के चित्र बना कर उन्हें पूजा जाता था। कालिदास ने पटचित्र, फलकचित्र और भित्तिचित्रों का उल्लेख किया है। इससे चित्रकला के क्षेत्र में उनकी अभिज्ञता प्रकट होती है। यहाँ तक कि उन्हें इतिहास, भूगोल का भी अद्भुत ज्ञान था। इसके अतिरिक्त वे काव्यशास्त्र के मौलिक विद्वान् थे।

उनके विलासानुराग का प्रमाण उनके उत्कट शृंगारवर्णनों से मिलता है। इसी प्रकार उनके विनोदी-स्वभाव के परिचायक उनके विदूषक पात्र हैं। राज्याश्रित विद्वान् होने के कारण राजमहलों तथा अन्तःपुरों में घटित होने वाली छोटी-से-छोटी बातों का भी उन्हें ज्ञान था। वे लौकिक आचार-व्यवहारों तथा विभिन्न सम्बन्धों का भी भली-भाँति निर्वाह करने वाले व्यक्ति थे। उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता उनके निश्छल तथा निरभिमान स्वभाव में थी। इतने बड़े विद्वान् होने पर भी सदा ही वे विनयशील बने रहे।

कालिदास की जीवनी के संबंध में अनुमानों और प्रमाणों से अब तक जो कुछ सामग्री प्राप्त हो सकी है उसका यही निष्कर्ष है।

स्थितिकाल

महाकवि कालिदास के स्थितिकाल पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इस संबंध में प्रमुख चार मत हैं :

१. कालिदास छठी शताब्दी में हुए

२. कालिदास गुप्तकाल में हुए

३. कालिदास ई० पू० दूसरी शताब्दी में हुए

४. कालिदास ई० पू० प्रथम शताब्दी में हुए

प्रथम मत के समीक्षकों एवं समर्थकों में जर्मन विद्वान् मैक्समूलर, डॉ० हार्नली, डॉ० फर्गुसन और म० म० हरप्रसाद शास्त्री हैं।

दूसरे मत के समीक्षकों तथा समर्थकों में प्रो० के० बी० पाठक, डॉ० रामकृष्ण भंडारकर, म० म० रामावतार शर्मा, श्री विजयचन्द्र मजूमदार और म० म० वासुदेव विष्णु मिराशी हैं।

तीसरे मत के समर्थक डॉ० कुन्हन राजा हैं।

चौथे मत के समीक्षकों एवं समर्थकों में श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, वा० शिवराम आप्टे, प्रो० शारदारंजन राय, पं० सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, पं० चन्द्रशेखर पांडेय और पं० बलदेव उपाध्याय हैं।

आज भी कालिदास पर पत्र-पत्रिकाओं में गंभीर स्फुट लेख लिखे जा रहे हैं और उनको लेकर स्वतन्त्र पुस्तकों की रचना हो रही है। प्रतिवर्ष उनकी जयन्ती भी मनाई जाती है। किन्तु उनके स्थितिकाल के संबंध में यह विवाद आज भी पूर्ववत् बना हुआ है।

छठी शताब्दी में कालिदास

कालिदास को छठी शताब्दी में रखने के लिए जो तर्क दिए गए हैं उनका सारांश इस प्रकार है:

१. ह्युएनत्सांग (६१९–६४५ ई०) ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में जिस मालव देश (मोपोलो) के राजा शीलादित्य का राज्यकाल ५३०–५८० ई० बताया है, कल्हण की 'राजतरंगिणी' में दिए गए उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य तथा उसके कविमित्र मातृगुप्त का उल्लेख देखकर यह सिद्ध होता है कि शीलादित्य और विक्रमादित्य दोनों एक ही थे। 'राजतरंगिणी' के द्वारा और मालव के राजा यशोधर्मन् के ५३३ ई० के दो अभिलेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य ने मिहिरकुल के महाबली हूण राजा को परास्त कर अपने राज्य की सीमाओं को गुप्त तथा हूण साम्राज्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत कर दिया था; और अपने नाम के साथ उसने 'परमेश्वर', 'राजाधिराज' आदि के विरुद जोड़ दिये थे। यही यशोधर्मन् ह्युएनत्सांग का शीलादित्य और कल्हण का विक्रमादित्य था; और विक्रमादित्य ने जिसको कश्मीर के राज्यसिंहासन पर अधिष्ठित किया वह भानुगुप्त ही कालिदास था। भानुगुप्त के बाद प्रवरसेन उस गद्दी पर बैठा। उसके नाम से प्रचलित 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत महाकाव्य को विक्रमादित्य की आज्ञा से कालिदास ने लिखा था; क्योंकि इस प्राकृत काव्य के एक अकबरकालीन टीकाकार ने भी यही लिखा है।

२. छठी शताब्दी में वर्तमान सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने वर्षा ऋतु का आरंभ आषाढ़ मास से माना है। कालिदास ने भी अपने 'मेघदूत' में

'आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्ट सानुः' आषाढ़ से ही वर्षाऋतु का आरंभ माना है। इसके अतिरिक्त कालिदास ने अपने 'रघुवंश' (१४।४०; ३।२२) में वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' (राहुचार तथा चन्द्रचार) से अनेक ज्योतिर्विषयक सिद्धान्त ग्रहण किए हैं। इस दृष्टि से कालिदास और वराहमिहिर समकालीन थे या उसके कुछ बाद में हुए। इस सम्बन्ध में परम्परा से जो कालिदास तथा वराहमिहिर को विक्रमादित्य का नवरत्न कहा जाता रहा है वह सत्य ही प्रतीत होता है।

३. कालिदास के 'मेघदूत' में एक श्लोकार्ध इस प्रकार है :

'स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्'

इस श्लोकार्ध का, दक्षिणावर्त तथा मल्लिनाथ दोनों टीकाकारों ने, श्लेष द्वारा यह अर्थ लगाया है कि 'उनमें से रामगिरि के निकट रहने वाले कालिदास का सहाध्यायी मित्र निचुल कवि कालिदास के काव्यों पर किए गए आक्षेपों का निराकरण करता था, तो कालिदास का प्रतिस्पर्धी दिङ्नाग······'

इस श्लोकार्ध में कालिदास, निचुल और दिङ्नाग को समकालीन दिखाया गया है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नागाचार्य छठी शताब्दी में हुए, अतः कालिदास का भी वही स्थितिकाल होना चाहिए।

४. 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ज्योतिष ग्रन्थ का रचयिता कालिदास, शकारि विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में था, ऐसा उल्लेख इसी ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ में जो ज्योतिषगणना की गई है उसके आधार पर उसका रचनाकाल १३वीं शताब्दी ठहरता है; किन्तु उसमें कलियुग के आरम्भ का जो समय निश्चित किया गया है उसके आधार पर उसका रचनाकाल ५८० ई० ठहरता है। बताया जाता है कि 'ज्योतिर्विदाभरण' (४।८५) और 'कुमारसंभव' (१।३) में कल्पना-साम्य पाया जाता है। इसलिए कालिदास ६०० ई० में वर्तमान यशोधर्मन् विष्णुवर्धन के सभाकवि थे।

इस मत की आलोचना

कालिदास को छठी शताब्दी ई० में रखने के लिए ऊपर जो तर्क और

स्थापनायें नियत की गई हैं उनका जो युक्तियुक्त खंडन किया गया है उसका सारांश भी इस प्रकार है :

१. हुएनत्सांग ने जिसको मोपोलो प्रदेश कहा है, विन्सेंट स्मिथ की खोजों के अनुसार वह मही नदी के तट साबरमती के पूर्व का कुछ भाग और दक्षिण राजपूताने का पर्वतीय प्रदेश था। उसकी राजधानी उज्जयिनी नहीं थी। हुएनत्सांग ने जिसको शीलादित्य लिखा है, प्रो० सिल्वन् लेवी के मतानुसार वह वलभी का शीलादित्य प्रथम था। यदि 'राजतरंगिणी' के अनुसार यशोधर्मन् ही विक्रमादित्य था तो उसे अपने विरुद 'राजाधिराज' या 'परमेश्वर' के साथ 'विक्रमादित्य' भी लिखना चाहिए था। उसको शकारि इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि छठी शताब्दी में शकों का कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया था। यह भी अयुक्त है कि विक्रमादित्य के कहने पर कालिदास ने प्रवरसेन के लिए 'सेतुबन्ध' की रचना की थी। मातृगुप्त, कालिदास नहीं था, इसके सम्बन्ध में अब अनेक प्रमाण प्रकाश में आ चुके हैं।

२. आषाढ़ मास से वर्षाऋतु का आरम्भ मानने के आधार पर कालिदास तथा वराहमिहिर के लिए जो समकालीन होने की अटकल लगाई गई है, यह भी उचित नहीं है; क्योंकि आषाढ़ से वर्षारम्भ की यह कल्पना वराहमिहिर से भी पूर्व की है। इसी प्रकार वराहमिहिर तथा कालिदास के सम्बन्ध में 'चन्द्र, सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता है' यह कल्पनासाम्य भी अनाधारित है; क्योंकि ठीक यही बात ७०० ई० पूर्व में वर्तमान यास्क ने अपने 'निरुक्त' ग्रन्थ में इस प्रकार कही है : 'अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेनोपेक्षितव्यम्। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति' (२।६)।

३. 'मेघदूत' के उक्त श्लोकांश के आधार पर कालिदास को दिङ्नाग का समकालीन बताना भी उचित नहीं है क्योंकि एक बौद्ध दार्शनिक के साथ एक काव्यकार की प्रतिस्पर्धा का कोई कारण नहीं दीखता है। यदि यह बात सही भी हो तो दिङ्नाग का समय छठी शताब्दी न होकर चौथी शताब्दी था; क्योंकि प्रमाणित है कि दिङ्नाग का गुरु वसुबंधु गुप्तराज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम (३१९-३३० ई०) का गुरु था।

४. 'ज्योतिर्विदाभरण' जैसे अनैतिहासिक और अप्रामाणिक ग्रंथ के आधार पर उसके साथ 'रघुवंश' के रचयिता कालिदास को बाँधना वस्तुतः कालिदास की रचनाओं के प्रति अपनी अनभिज्ञता प्रकट करने के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। ऐसे दोषबहुल ग्रंथ के साथ 'कुमारसंभव' का कल्पनासाम्य बताना भाषाविज्ञान की दृष्टि से उचित नहीं बैठता है। इस ग्रंथ को यदि कालिदास ने ही लिखा हो तो वह 'रघुवंश' का रचयिता न होकर दूसरा ही कालिदास था; क्योंकि इस नाम के लगभग पाँच ग्रन्थकार हो चुके हैं।

गुप्तकाल में कालिदास

कालिदास ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हुये, इस मत के अनुयायी प्रो० के० बी० पाठक हैं। 'मेघदूत' की भूमिका में उन्होंने अपने इस मत के समर्थन में जो तर्क दिये उनका सारांश इस प्रकार है :

१. कालिदास ने अपने 'रघुवंश' के चौथे सर्ग (श्लोक ६६–६८) में रघु का दिग्विजय-वर्णन करते हुए बताया है कि रघु ने वंक्षु नदी के किनारे उत्तर दिशा में हूणों को पराजित किया था। 'अमरकोश' के टीकाकार क्षीर-स्वामी ने जिसको बाह्लीक (बैक्ट्रिया, संप्रति बलख) कहा है उसी देश में बहनेवाली ऑक्सस नदी का अपर नाम ही वंक्षु नदी था। इसी ऑक्सस नदी के तट पर हूणों ने ४५० ई० में अपने राज्य को स्थापित कर भारत पर आक्रमण किया था। यह आक्रमण कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के समय में हुआ था, जिसका समर्थन जूनागढ़ के गिरनार (४५५-४५६ ई०) में प्राप्त शिलालेख से हो चुका है। यह परिस्थिति कालिदास के समय की है। अतः कालिदास का समय पाँचवीं शताब्दी के मध्य में होना चाहिए।

प्रो० पाठक के विपरीत डॉ० कीथ, डॉ० भंडारकर, म० म० रामावतार शर्मा और म० म० वासुदेव विष्णु मिराशी ने कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त की अपेक्षा चन्द्रगुप्त द्वितीय (३६५-४१३ ई०) के समय कालिदास का स्थितिकाल निश्चित किया है। उनके तर्क इस प्रकार हैं :

२. मन्दसौर (मध्यप्रदेश) में एक गुप्तकालीन शिलालेख (४७३ ई०) उपलब्ध हुआ है, जो कि सम्राट् कुमारगुप्त के शासनकाल में वत्सभट्टि नामक

कवि से लिखाया गया था। इस शिलाखंड की प्रशस्ति में कालिदास की कविता का अनुकरण है। इसलिए कालिदास कुमारगुप्त से पूर्व हुए।

३. कालिदास के ग्रंथों से विदित होता है कि उसका संबंध किसी 'शकारि' 'विक्रमादित्य' से था। यह शकारि विक्रमादित्य, चन्द्रगुप्त द्वितीय ही था, जिसने ३६५ ई० के लगभग काठियावाड़ के शकवंशीय क्षत्रपों को समूल नष्ट कर उस प्रान्त को अपने राज्य में मिला दिया था। उसकी राजधानी उज्जयिनी थी और उसने अपने यहाँ अनेक विद्वानों को आश्रय दिया था।

४. कालिदास के ग्रंथों में जिस स्वर्णयुग की चर्चा की गई है एवं तत्कालीन राजकीय परिस्थितियों का जो चित्रण आँका गया है, वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल का है।

५. वाकाटक राजा द्वितीय रुद्रसेन (कुंतलेश) और राष्ट्रकूट राजा देवराज से चन्द्रगुप्त द्वितीय का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस रुद्रसेन के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती का विवाह हुआ था और इसी अवसर पर 'मालविकाग्निमित्र' की रचना की गई थी तथा इसी के राजदरबार में रह कर उसने 'मेघदूत' को लिखा था। राष्ट्रकूट के राजा देवराज के यहाँ कालिदास को चन्द्रगुप्त ने दूत बना कर भेजा था।

६. चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्मोत्सव पर कालिदास ने 'कुमारसंभव' की रचना की थी।

७. 'रघुवंश' में वर्णित रघु का दिग्विजय-प्रसंग, चन्द्रगुप्त द्वितीय के दिग्विजय पर आधारित है। ये सभी वर्णन चन्द्रगुप्त की दिग्विजय-यात्रा से अविकल रूप में उतरते हैं। कालिदास द्वारा वर्णित इन्दुमती-स्वयंवर के 'ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः' तथा 'इन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै', में वर्णित 'चन्द्रमा' तथा 'इन्दु' शब्द चन्द्रगुप्त के ही द्योतक हैं।

इन सभी बातों को देखते हुए स्पष्ट है कि कालिदास, चन्द्रगुप्त द्वितीय के आश्रय में रहे। अतः कालिदास चौथी शताब्दी के अन्त में या पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए।

इस मत की आलोचना

१. प्रो० पाठक ने भारत में हूणों के अस्तित्व का जो समय लिखा है वह

युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है, क्योंकि पारसवासियों के 'अवेस्ता' में और हमारे 'महाभारत' में हूणों का अनेक बार उल्लेख हुआ है। बौद्ध ग्रंथ 'ललितविस्तर' (३०० ई०) में जिन प्राचीन लिपियों का उल्लेख हुआ है उनमें हूणों का भी उल्लेख है। इतिहास से विदित होता है कि लगभग १५० ई० पूर्व में यूएची (बाद में कुशान) लोगों को ऑक्सस नदी के दक्षिण तट पर मार कर भगा दिया था। अतः यह अस्वाभाविक है कि इतनी प्राचीन जाति हूणों से कालिदास का परिचय पाँचवीं सदी के हूणों से ही हुआ।

२. वत्सभट्टि नामक विद्वान् की प्रशस्ति के साथ कालिदास की कविता की तुलना करके, कालिदास को वत्सभट्टि के बाद में सिद्ध करने का कोई प्रबल कारण नहीं है। बल्कि इससे अधिक यह संभव है कि वत्सभट्टि ने ही कालिदास की कविता के अनुकरण पर अपनी प्रशस्ति लिखी थी।

३. 'विक्रमादित्य' एवं 'शकारि' के विरुदों को धारण करने के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय से कालिदास का सम्बन्ध जोड़ना प्रथम तो इसलिए अयुक्त जान पड़ता है कि उस जैसे पराक्रमी नरेश ने स्वयं अपना सम्वत् न चलाकर अपने पूर्व प्रचलित मालव-संवत को अपने नाम से जारी किया था; दूसरे द्वितीय चन्द्रगुप्त के पितामह प्रथम चन्दगुप्त ने स्वयं गुप्त-संवत् प्रचारित किया था; तीसरे चन्द्रगुप्त द्वितीय के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरिनार वाले शिलालेख में विक्रम संवत् का उल्लेख न होकर (गुप्तकाले गणना विधाय) गुप्त-संवत् का ही उल्लेख है। अतः चन्द्रगुप्त द्वारा विक्रम संवत् चलाये जाने के कारण 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण करने की युक्ति उचित नहीं जान पड़ती है। इसी प्रकार उसका 'शकारि' विरुद भी इतना प्रामाणिक नहीं है।

४. कालिदास के ग्रन्थों में जिस स्वर्णिमयुग का उल्लेख हुआ है, उसका सम्बन्ध चन्द्रगुप्त से जोड़ने की कल्पना अब अहेतुक सिद्ध हो चुकी है। उधर नये तथ्यों के आलोक में आ जाने से अब यह सिद्ध हो चुका है कि गुप्त युग से भी पूर्व प्राचीन भारत में ऐसे राजवंशों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, जिनके समय की सुख-समृद्धि के समक्ष गुप्तयुग का स्वर्णयुग फीका पड़ जाता है। ऐसा युग-सातवाहनों का था।

५. वाकाटक राजा रुद्रसेन और राष्ट्रकूट राजा देवराज से चन्द्रगुप्त द्वितीय का सम्बन्ध अवश्य था; किन्तु न तो कालिदास के 'कुमारसम्भव' की रचना प्रभावती के विवाह पर हुई थी और न ही देवराज के दरबार से कालिदास का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध था। जिस 'शृंगारप्रकाश' ग्रन्थ के आधार पर कालिदास के सम्बन्ध में यह निर्णय दिया गया है, वह ग्रन्थ अप्रामाणिक, अनैतिहासिक और भ्रष्ट है।

६. कालिदास के 'कुमारसंभव' का सम्बन्ध कुमारगुप्त से जोड़ना भी उचित नहीं जान पड़ता है। कालिदास ने 'कुमार' शब्द का प्रयोग सामान्यरूप से सुत, पुत्र, आत्मज आदि के लिए किया है, किसी विशेष प्रयोजन से नहीं।

७. कालिदास के 'रघुवंश' में रघु की दिग्विजय को तथा इन्दुमती-स्वयंवर के प्रसङ्ग में उल्लिखित 'इन्दु', 'चन्द्रमा' आदि शब्दों को चन्द्रगुप्त के नाम से जोड़ना इसलिए उचित नहीं है, कि उसकी बहुत-कुछ रूप-रेखा पुराणों में भी मिलती है। बहुत संभव है कि इस ऐतिहासिक प्रसंग को पुराणों से लेकर कवि ने उसको कवित्वमय ढंग से रखने के लिए ऐसा किया हो।

इस सम्बन्ध में अब जो नये तथ्य प्रकाश में आये हैं उनको दृष्टि में रखते हुए यह स्पष्ट हो गया है कि किसी भी गुप्त-सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। चन्द्रगुप्त द्वितीय को 'विक्रमादित्य' उपाधि के नाम से कहा जाता था। यह उपाधि किसी विगत राजा के नाम पर प्रचलित हुई थी। वही विक्रमादित्य नामधारी राजा कालिदास का आश्रयदाता था।

ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में कालिदास

कालिदास ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में हुए, इस मत के समर्थक आंध्र विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ० कुन्हन राजा हैं। अपने मत के समर्थन में उन्होंने जो प्रमाण दिए हैं, उनमें-से 'मालविकाग्निमित्र' के भरतवाक्य का यह पद्यांश प्रमुख है :

'आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां
सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।'

इस भरतवाक्य में प्रजा की सुख-समृद्धि और राज्य की कल्याण-कामना के लिये जो प्रार्थना की गई है उसका सम्बन्ध शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र से

है। इस आधार पर डॉ० सी० कुन्हन राजा ने यह अनुमान लगाया है कि कालिदास ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में वर्तमान विदिशा के शुंग राजा अग्निमित्र के आश्रित थे। विदिशा की जिस स्थिति को कालिदास ने देखा था उसका उल्लेख भी उन्होंने 'मेघदूत' के इस पद्यांश में किया है :

'तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम्'

अर्थात् 'वह विदिशा नामक राजधानी, दशार्णा देश में प्रसिद्धि पा चुकी थी।' डॉ० कुन्हन राजा के अनुसार विदिशा राजधानी की यह सुयश-स्थिति शुंगकालीन थी।

इस मत की समीक्षा

किन्तु कालिदास द्वारा दिया गया अग्निमित्र तथा विदिशा नाम ऐतिहासिक दृष्टि से संगति नहीं खाता है। इतिहास से विदित होता है कि अग्निमित्र, मौर्यराजा बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था। पुष्यमित्र ने अपने स्वामी का वध कर मगध में १८३ ई० पूर्व शुंगवंश की स्थापना की थी। अग्निमित्र ने भी मगध में ही राज्य किया। फिर विदिशा से उसका संबंध कैसे जोड़ा जा सकता है ? इसलिए यह संभव जान पड़ता है कि कालिदास के समय तक शुंगवंश की जो स्थिति चली आ रही थी उसी को देखते हुए उन्होंने अपने से कुछ समय पूर्व हुए अग्निमित्र की जीवनी पर अपना नाटक लिखा हो; और अपने समय में वर्तमान विदिशा राजधानी का उल्लेख किया हो। और वास्तविकता तो यह है कि यदि वे शुंगराजा अग्निमित्र के आश्रित थे तो अग्निमित्र के लिए कहीं भी किसी रूप में 'विक्रमादित्य' का उल्लेख अब तक नहीं मिला है। इसलिए कालिदास को ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में मानना उचित नहीं जान पड़ता है। किन्तु शुंगवंश के संबंध में कालिदास की जानकारी अवश्य थी, इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में कालिदास

कालिदास को ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में मानने वाले विद्वानों की संख्या अधिक है। किन्तु विद्वानों की इस अधिकता के कारण ही यह बात प्रमाणित नहीं हो जाती है; बल्कि उसके कुछ सहेतुक प्रमाण भी हैं, जिनका सारांश इस प्रकार है :

१. 'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास का इरावती और धारिणी नामक दो उप-नायिकाओं को रखना; धारिणी के भाई को हीनवंशीय बताना; पाँचवें अङ्क में पुष्यमित्र द्वारा अग्निमित्र को लिखे गये पत्र में 'रोष छोड़कर' (विगतरोषचेतसा) यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए लिखना—ऐसी बातें हैं, जिनसे विदित होता है कि कालिदास को शुंगकालीन परिस्थितियों की अच्छी जानकारी थी। इससे यह विदित होता है कि अग्निमित्र के समय से एक शताब्दी के अन्दर अथवा ईसा पूर्व ५७ वर्ष के लगभग कालिदास का स्थितिकाल था।

२. कालिदास और अश्वघोष की रचनाओं में जो वर्णनसाम्य तथा भाव-साम्य है, उसका उल्लेख आगे दोनों की तुलना में किया गया है। इस आधार पर कुछ विद्वान् तो यह मानते हैं कि कालिदास ने वे भाव अश्वघोष से चुराये हैं; किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से दोनों महाकवियों के ग्रन्थों में उद्धृत उक्त साम्यसूचक प्रसंगों की परीक्षा किए जाने पर यह माना जाने लगा है कि अश्वघोष, कालिदास के बाद हुए। अश्वघोष को कुषाणवंशीय सम्राट् कनिष्क का गुरु माना जाता है। कनिष्क ने विक्रमी संवत् १३५ से अपना शालिवाहन संवत् चलाया था। अतः कालिदास को इससे पूर्व होना चाहिए।

३. प्रयाग के समीप भीटा नामक स्थान की खुदाई (१९०९-१९१० ई०) करते हुए बहुत बड़े आकार का एक मृण्मय पदक मिला है। इस पदक पर 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के प्रथमांक का दृश्य अङ्कित है। रथ पर के दो व्यक्ति दुष्यन्त तथा सारथी, उसके बाद कृशकाय व्यक्ति कण्वाश्रम का कोई तपस्वी और उसके निकट बैठी हुई स्त्री शकुन्तला है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस पदक की परीक्षा किए जाने पर उसको शुंगकालीन सिद्ध किया गया है। इसलिए कालिदास ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में हुए।

४. कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नामकरण और प्रथम अंक में दो स्थानों—'दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्' तथा 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः'—पर 'विक्रम' शब्द का सहेतुक प्रयोग किया है। यह 'विक्रम' शब्द विक्रमादित्य के लिए और 'महेन्द्र' शब्द उनके पिता

महेन्द्रादित्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसलिए स्पष्ट है कि कालिदास, विक्रमादित्य के राजकवि थे, जिनका शासनकाल ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में था। बहुत संभव है कि महेन्द्रादित्य के अवकाश ग्रहण करने और युवराज विक्रमादित्य के राज्यारोहण के अवसर पर 'विक्रमोर्वशीय' नाटक अभिनीत किया गया हो।

५. ईसा की प्रथम शताब्दी में रचित गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का रूपान्तर 'कथासरित्सागर' के अन्तिम लम्बक में महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य की कथा दी गई है। उसमें कहा गया है कि वह भगवान् शंकर का माल्यवान् नामक गण था और उनकी आज्ञा से वह म्लेच्छों के विनाशार्थ, बौद्धधर्म के पराजय और वैदिक धर्म के पुनरुज्जीवन के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ था। यही विक्रमादित्य 'विक्रम संवत्' का संस्थापक था। वह मालवे की नगरी उज्जयिनी में राज्य करता था। इसी हेतु उसके द्वारा प्रवर्तित संवत् को उपलब्ध शिलालेखों में 'मालवानां गणस्थित्या', 'मालवगणस्थितिवशात्' एवं 'श्रीमालवगणाम्नातः' आदि शब्दों से कहा गया है। उनमें 'गण' शब्द का अर्थ 'गणना' है। अतः कालिदास इसी मालव संवत् (विक्रम संवत्) के प्रवर्तक विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे।

६. प्रथम शताब्दी में रचित सातवाहन राजा हाल की 'गाथासप्तशती' में विक्रमादित्य से सम्बद्ध अनेक कथायें संकलित हैं। उदाहरण के लिए इस आर्या को ले लीजिए:

'संवाहणसुहरसतोसिएण दन्तेण तुहकरे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा॥'

इसका अर्थ है: 'किसी स्त्री ने अपने प्रियतम से व्यंग्य करते हुए कहा कि जब तुम उस दूसरी स्त्री के पाँव दबाते थे तो उस आनन्द में तुम्हारे हाथ पर लाक्षारस से निर्मित आकृतियाँ छापकर उसके पाँव ने विक्रमादित्य के चरित का अनुकरण किया, क्योंकि विक्रमादित्य राजा भी अपने सेवकों की सेवा से सन्तुष्ट होकर उनके हाथों पर लक्ष-लक्ष मुद्रायें रख देता था।'

७. अपने 'रघुवंश' में कालिदास ने सूर्यवंशीय राजाओं को अपना चरित-नायक कदाचित् इसलिए बताया था कि विक्रमादित्य भी सूर्यवंशीय था।

'कथासरित्सागर' में महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य का जो वर्णन दिया गया है 'रघुवंश' के दिलीप तथा रघु से उसका साम्य है। इसलिए भी यह संभावना सचाई के अधिक समीप दिखाई देती है।

विद्वानों के उक्त मतों का समन्वय करके यह निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य उपाधि न होकर नाम था; विक्रमादित्य मालव गणतन्त्र का मुखिया था; शकों के आक्रमण को विफल बनाकर उसने 'शकारि' का विरुद् धारण किया था; उसने जिस मालव संवत को प्रवर्तित किया था वही 'विक्रम सवत्' के नाम से प्रचारित हुआ; उसका शासनकाल ई० पूर्व प्रथम शताब्दी था; और उसीका सम्मानित राजकवि था कालिदास।

अतएव कालिदास का स्थितिकाल ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में ही सिद्ध होता है।

कृतित्व

कालिदास के नाम से जिन कृतियों को आज सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं उनके नाम हैं : (१) 'ऋतुसंहार', (२) 'मालविकाग्निमित्र', (३) 'कुमार-संभव', (४) 'विक्रमोर्वशीय', (५) 'मेघदूत', (६) 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और (७) 'रघुवंश'। इनके अतिरिक्त 'कुन्तलेश्वरदौत्य', 'सेतुबन्ध', 'शृंगार-प्रकाश', और 'नलोदय' आदि अनेक ग्रन्थों का रचयिता भी इन्हीं कालिदास को बताया जाता था। डॉ० आफ्रेक्ट ने तो अपने 'कैटेलोगस कैटेलोगरम' में कालिदास के नाम से लगभग ३५ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। किन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि कालिदास नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं और 'रघुवंश' के कर्त्ता कालिदास ने केवल उक्त सात ग्रन्थों की ही रचना की थी।

यह भ्रांति इसलिए हुई कि समय की दूरी के कारण अनेक ग्रन्थकारों का नाम तक विलुप्त हो गया और उनकी कृतियों को उनके काव्यप्रेमी लोगों ने किसी दूसरे ग्रन्थकार के साथ जोड़ दिया। इसका यह परिणाम हुआ कि अत्यन्त निम्न श्रेणी के ग्रन्थ भी उच्चकोटि के ग्रन्थकारों की कृतियों के साथ गिने जाने लगे। कालिदास के सम्बन्ध में भी ऐसी ही भ्रांति हुई।

कालिदास की जिन सात कृतियों का ऊपर उल्लेख किया गया है उनमें 'ऋतुसंहार' तथा 'मेघदूत' खण्डकाव्य; 'कुमारसंभव' एवं 'रघुवंश' महाकाव्य;

और 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक हैं। उनके इन तीन नाटकों की चर्चा अलग से नाटकों के प्रकरण में की गयी है। यहाँ हम उनके दो खण्डकाव्यों और दो महाकाव्यों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

ऋतुसंहार

इस खण्डकाव्य में ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त, क्रमशः इन छह ऋतुओं का सरस वर्णन छह पृथक् सर्गों में निबद्ध किया गया है, जिनकी श्लोक संख्या १५८ है।

इस खण्डकाव्य की गीतिकाव्यों के अन्तर्गत गणना की गई है। इसमें प्रकृति के नाना मनोरम दृश्यों और छह ऋतुओं का हृदयग्राही चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इस काव्य में मानव-प्रकृति के साथ बाह्य प्रकृति का सुन्दर संयोग व्यंजित करने में कालिदास की कवित्व-प्रतिभा मुखरित हुई है।

यह वियोग-शृङ्गार की रचना है। एक बिरही युवक के द्वारा अपनी प्रियतमा के प्रति आत्मनिवेदन से इसका आरंभ होता है, जो कि परदेश में एकान्त जीवन बिता रहा है। कालिदास का यह श्रेष्ठ प्रकृतिकाव्य है।

कुमारसम्भव

सुमेरु के मित्र हिमालय की पत्नी का नाम था मेना। उनसे उमा नामक जो कन्या पैदा हुई वही आगे चल कर पार्वती के नाम से प्रसिद्ध हुई। पार्वती अपने पूर्वजन्म में दक्ष की पुत्री सती के नाम से शरीर धारण कर चुकी थी। उस जन्म में भी वह शिव की पत्नी थी। एक बार अपने पिता से अपमानित होकर उसने शरीर त्याग दिया। तभी से भगवान् शंकर ने उसके विरह में व्याकुल होकर हिमालय पर कठोर तप करना आरम्भ कर दिया। दूसरे जन्म में मेना के गर्भ से जब उमा का जन्म हुआ तो नगपति हिमालय उसको साथ लेकर तपस्या में निमग्न शङ्कर के पास पहुँचे और उसको वहाँ छोड़ आये।

उसी बीच तारकासुर के उपद्रवों से तङ्ग आकर देवता, इंद्र के पास पहुँचे। इन्द्र ने उन्हें बताया कि तारकासुर का वध शङ्कर का पुत्र कर सकेगा। इसलिए देवताओं ने मिलकर यह यत्न किया कि शङ्कर भगवान् का मन पार्वती जी की ओर आकर्षित हो। देवराज ने इस कार्य को कामदेव पर

निर्भर किया। कामदेव अपने मित्र वसन्त के साथ हिमालय पर पहुँचा। उसका वहाँ पहुँचना ही था कि सारा हिमालय वसन्त की सुषमा एवं सौन्दर्य से मुस्करा उठा। इसी समय शङ्कर की समाधि टूटी। उन्होंने सामने पार्वती को पाया। वे कामदेव की करतूतों को समझ गये। उन्होंने क्रोध में आकर अपना तीसरा नेत्र खोला और कामदेव को भस्म कर डाला। तदनन्तर वे अन्तर्धान हो गये और पार्वती जी भी सखियों सहित अपने पिता के यहाँ लौट आईं। तदनन्तर ज्यों ही रति अपने पति कामदेव के साथ सती होने के लिए प्रस्तुत हुई कि उसी समय आकाशवाणी से उसको सुनाई दिया कि शंकर-पार्वती के विवाह के बाद कामदेव पुनः जीवित हो जायगा।

पार्वती ने इधर निराश मन अपने घर में आकर यह निश्चय किया कि वन में जाकर कठोर तप करके भगवान् शंकर की कृपादृष्टि प्राप्त करनी चाहिये। पिता की आज्ञा प्राप्त कर पार्वती तपस्या में लीन हो गई। भगवान् शंकर पर इसका अच्छा प्रभाव हुआ। वे एक बार पार्वती की परीक्षा करने के हेतु साधु के छद्मवेष में उसके पास गये और उन्होंने पार्वती के संमुख शंकर की बड़ी निन्दा की। पार्वती ने क्रोध में आकर साधु को अपने आश्रम से बाहर कर दिया। इस पर प्रसन्न होकर शंकर भगवान् अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुये और उन्होंने सहर्ष पार्वती का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। पार्वती ने शंकर को सुझाया कि इस विवाह-प्रस्ताव को लेकर वे उसके पिता हिमालय के पास जायें। इस प्रस्ताव को लेकर कुछ देवता हिमालय के पास गये और हिमालय ने भगवान् शंकर के साथ अपनी पुत्री पार्वती के विवाह-प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। दोनों का विवाह हो गया। उसके बाद पार्वती के आग्रह पर कामदेव ने पुनर्जीवन प्राप्त किया। कुछ दिनों बाद शंकर-पार्वती से कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ, जिसने तारकासुर का वध कर देवताओं के कष्टों को दूर किया।

मेघदूत

प्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ सूरि ने 'मेघदूत' की स्वरचित 'संजीवनी' टीका में लिखा है कि 'सीता के समीप हनुमान द्वारा भेजे गये रामचन्द्र के

सन्देश को हृदयस्थ करके कवि ने इस कृति की रचना की है' (सीतां प्रति रामस्य हनूमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देशं कविः कृतवान्)।

'ऋतुसंहार' की भाँति 'मेघदूत' भी कालिदास का गीतिबद्ध खण्डकाव्य है; किन्तु इसका रचना-विधान और काव्यकौशल 'ऋतुसंहार' की अपेक्षा उच्चकोटि का है। इसका कथानक दो भागों में विभक्त है: पूर्वमेघ और उत्तरमेघ। दोनों भागों को मिलाकर उसकी श्लोकसंख्या १२० बैठती है। वियोग शृंगार का यह सर्वोच्च काव्य कहा जाता है।

अलकापुरी के स्वामी कुबेर ने अधिकारप्रमत्तता के कारण अपने सेवक यक्ष को एक वर्ष के लिए देश-निर्वासन का कठिन दण्ड दिया। इस आज्ञा का पालन करने के लिए अपनी नव-विवाहिता पत्नी को छोड़कर विवश यक्ष मर्त्यलोक में आकर प्रवास का दण्ड पूरा करता है। नागपुर के उत्तर कोण में अवस्थित रामगिरि नामक पहाड़ी को वह अपना निवास चुनता है।

पूर्वमेघ में यक्ष का अलकापुरी से लेकर रामगिरि तक पहुँचने का मार्ग-वर्णन है। उत्तरमेघ में अलकापुरी की समृद्धि एवं सौन्दर्य, हिमाच्छादित हिमालय का बिम्बग्राही चित्रण, विरह-विधुरा प्रियतमा की आतुरदशा की चिन्ता और अन्त में यक्ष के भावी मिलन का प्रसंग वर्णित है।

रघुवंश

'रघुवंश' में १९ सर्ग हैं। कालिदास की कृतियों में 'रघुवंश' का श्रेष्ठ स्थान है। उसकी कथा का आरंभ अयोध्या के सूर्यवंशी राजा दिलीप के वर्णन से होता है। राजा दिलीप की पत्नी का नाम था सुदक्षिणा। इनके कोई सन्तान न थी। इसी इच्छा को लेकर दोनों पति-पत्नी राज्य का संपूर्ण भार मंत्रियों पर निर्भर कर कुलगुरु वशिष्ठ के आश्रम हिमालय में गये। महर्षि ने राजा को सन्तानोत्पत्ति का उपाय बता दिया कि वे कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की सेवा करें। महर्षि का यह कहना था कि दिलीप और सुदक्षिणा ने सारे राजसी जीवन को तिलांजलि दे दी तथा मन, वचन और प्राण से वे नन्दिनी की सेवा में जुट गये। इक्कीस दिन बाद नन्दिनी ने अपने प्रति राजा के उदार सेवाभाव की परीक्षा करने की ठानी। जब वह जङ्गल में चर रही थी तो एकाएक सिंह ने आकर उस पर

आक्रमण कर दिया। दिलीप ने तत्काल ही आकर उससे नन्दिनी को छुड़ाया और उससे नन्दिनी पर आक्रमण न करने का अनुरोध किया। किन्तु सिंह किसी तरह भी राजी न हुआ। अन्त में राजा दिलीप ने सिंह को अपना शरीर देकर नन्दिनी को उससे छुड़ा लिया। वह शेर के आगे लेट गया। दिलीप के इस आत्मत्याग और अगाध सेवाभाव को देखकर देवताओं ने उस पर पुष्पवृष्टि की। नन्दिनी ने राजा को पुत्रलाभ का वरदान दे दिया।

उपयुक्त समय पर दिलीप के घर पुत्ररत्न पैदा हुआ, जिसका नाम रखा गया रघु। उसको राज्य-व्यवस्था का संचालन करने में समर्थ पाकर दोनों राजा-रानी तपस्या करने के लिए चले गये।

रघु ने अनेक महान् कार्यों के अतिरिक्त विश्वजित् यज्ञ किया और अपनी सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों को दक्षिणा में दे दी। उनकी इसी दरिद्रावस्था में वरतन्तु ऋषि के शिष्य कौत्स उनके पास गुरुदक्षिणा चुकाने के हेतु धन के लिए आये। राजा ने द्वार पर आये ऋषिकुमार को कुबेर के खजाने से धन लाकर दिया और ससम्मान विदा किया। जाते हुए कौत्स ने राजा को प्रतापी पुत्र की प्राप्ति का वरदान दिया।

रघु का पुत्र हुआ अज। उसका विवाह विदिशा की राजकुमारी इन्दुमती के साथ हुआ। सर्वथा योग्य समझ कर रघु राज्य का सारा भार अज के ऊपर सौंप स्वयं भगवदाराधन में निमग्न हो गये। अकस्मात् ही एक दिन रानी ने प्राण त्याग दिए और उन्हीं के वियोग में राजा अज भी स्वर्गधाम पहुँचे। अज के पुत्र हुए दशरथ। ऋषिकुमार श्रवण की भ्रान्ति से हत्या हो जाने पर उसके शाप से दशरथ की मृत्यु भी पुत्रशोक में हुई। तदनन्तर राम के जीवन की कथा का बड़े विस्तार से उल्लेख किया गया है, जो कि सुपरिचित है।

यही इस महाकाव्य का कथानक है।

वर्णनशैली और कवित्वप्रतिभा

कालिदास रसवादी कवि हैं। उन्होंने काव्य के कोमल पक्ष को अपनाया है। इसलिए उनकी शैली में रमणीयता, चारुता और मनोहरता है। उनकी कविता के प्रधान रस शृंगार और करुण हैं। शृंगार के संयोग और वियोग,

दोनों पक्षों का चित्रण उन्होंने बड़ी कुशलता से किया है। उनकी यह श्रृंगार-भावना न केवल रूपवर्णन या जीवन की विलासमय स्थितियों को रँगने तक ही सीमित है; बल्कि उसमें अनुभूति की गहराई, लोकमर्यादा का समावेश और भारतीय आदर्शों का पालन हुआ है।

'ऋतुसंहार' में कालिदास का मन बाह्य सृष्टि की ओर अधिक रमा हुआ था। इस काव्य के द्वारा कवि की मार्मिक सृष्टि-निरीक्षण की, उज्ज्वल एवं नैसर्गिक प्रतिभा की तथा विकासोन्मुख कला-नैपुण्य की कल्पना प्रकट होती है। इस काव्य के प्रकाश में आ जाने से कालिदास को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई होगी और काव्य-रचना के लिए उन्हें प्रेरणा मिली होगी। इसमें कवि का ध्यान स्वभावोक्ति पर अधिक रहा है। इसके अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलङ्कारों का भी उसमें अच्छा निर्वाह हुआ है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त 'ऋतुसंहार' में पुनरुक्ति दोष, व्याकरण के नियमों का उल्लङ्घन और ललित शब्दरचना की कमी है।

कवित्व की दृष्टि से 'कुमारसंभव' की परीक्षा किए जाने पर ज्ञात होता है कि उसके प्रथम सर्ग का हिमालयवर्णन, तीसरे सर्ग का वसन्तवर्णन, चौथे सर्ग का रति-विलाप, और पाँचवें सर्ग का शिव-पार्वती-संवाद उत्कृष्ट एवं प्रसादपूर्ण शैली में प्रकट हुए हैं। इस काव्य में करुणरस और श्रृङ्गार के संभोग तथा विप्रलंभ, दोनों भेदों का अच्छा चित्रण हुआ है।

चौथे सर्ग में मदन-दहन के बाद रति का विलाप बड़ा ही कारुणिक है। उसके विलाप से सारा वन रो पड़ता है। अपने प्रियतम मदन को स्मरण करते हुए एक स्थान पर उसने कहा है 'हे प्रिय, तुम तो कहा करते थे कि 'तू मेरे हृदय में सदा निवास करती है'; किन्तु अब मुझे मालूम हुआ कि ये सब बनावटी बातें थीं। ऐसा कहने का तुम्हारा एकमात्र अभिप्राय मुझे खुश करना था। नहीं तो तुम्हारे नष्ट हो जाने पर मैं कैसे अक्षत बनी रहती?' :

'हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः॥'

इस श्लोक में यद्यपि आलङ्कारिक भाषा का प्रयोग नहीं है तथापि उसकी सरल शब्दावली बड़ी ही रुचिकर है और रति-विलाप का भाव बड़ा ही

मार्मिक है। कालिदास की यह सरल-शब्द-योजना उनकी कलात्मकता को प्रकट करती है। ऐसा ही एक प्रसंग उस समय का है, जब अंगिरा ऋषि गिरिराज हिमालय से शङ्कर के लिए पार्वती की मँगनी की प्रार्थना कर रहे थे और पार्वती पास में बैठी सुन रही थीं :

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥'

उस समय की पार्वती की मानसिक दशा का यह कितना सुन्दर चित्रण है ! 'कमलपत्रों की गिनती' से पार्वती की जिस लज्जाशीलता और आन्तरिक प्रेम की अभिव्यंजना की गई है वह बहुत ही सुन्दर है।

'कुमारसंभव' में अर्थान्तरन्यास द्वारा, लोक-जीवन से समेटी हुई सूक्तियों का वर्णन बहुत ही रुचिकर है। इनमें बहुत-सी ऐसी उक्तियाँ हैं, जो आज भी कहावतों के रूप में प्रचलित हैं।

'मेघदूत' कालिदास के कवित्व-उपवन का पुष्प है। उसमें कालिदास की सौन्दर्यान्वेषणी दृष्टि का और कलामर्मज्ञता का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। उसकी मृदुल शब्दावली में कालिदास ने अपने कवित्व-कौशल के मनोहर चित्र उतारे हैं। उसकी शब्दरचना बड़ी मधुर और उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों के द्वारा अर्थ-सौष्ठव का भी सुन्दर समावेश हुआ है। इस खण्डकाव्य में विप्रलंभ शृंगार का जैसा वर्णन हुआ है वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। उत्तरमेघ में यक्षपत्नी की विरहावस्था का चित्रण करने वाले श्लोक अत्यन्त ही करुणोत्पादक हैं। यक्ष-पत्नी एक सद्‌गृहिणी, सुन्दरी, विविधकलाप्रवीणा, सहृदया और पतिव्रता के रूप में चित्रित हुई है।

'कुमारसंभव' की भाँति इस खण्डकाव्य में भी लोकप्रचलित अनेक कहावतों या सूक्तियों का समावेश हुआ है। ये सूक्तियाँ कालिदास के काव्योत्कर्ष तथा काव्य-सौन्दर्य को द्विगुणित कर देती हैं। इसमें मन्दाक्रान्ता छन्द का विप्रलंभ शृंगार के चित्रण में सफल प्रयोग हुआ है। कालिदास के 'मेघदूत' से ही मन्दाक्रान्ता छन्द को लोकप्रियता प्राप्त हुई है। यद्यपि इस छन्द का प्रयोग

कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में भी किया है; किन्तु जो सौष्ठव 'मेघदूत' में है वह अन्यत्र नहीं है।

'रघुवंश' कालिदास का अन्तिम काव्य ही नहीं अन्तिम रचना भी है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता उसकी सरल भाषा के कारण है। यदि 'रघुवंश' की इसी एक विशेषता को ले लिया जाय तो उसकी तुलना में दूसरा ग्रन्थ नहीं मिल सकता है। इस ग्रंथ की लोकप्रियता का ही परिणाम है कि इस पर अनेक टीकायें लिखी गईं, जिनमें से तैंतीस टीकायें उपलब्ध हैं। यह महाकाव्य संस्कृत के दूसरे काव्यों एवं महाकाव्यों से श्रेष्ठ होने के साथ-साथ कालिदास के सभी काव्यों में भी श्रेष्ठ है।

कालिदास के 'कुमारसंभव' और 'मेघदूत' दोनों काव्यों की श्रेष्ठताओं का उल्लेख किया जा चुका है। 'रघुवंश' की रचना में कुछ दूसरा ही दृष्टिकोण है। उदाहरण के लिए कालिदास के उक्त दोनों काव्यों के पात्र सामान्य मानव धरती से उठ कर देवता श्रेणी के हैं; जिससे कि उनके प्रति पाठकों का आत्मीय भाव पैदा नहीं होता है, पूजा-भाव भले ही बना रहता है। इसके विपरीत 'रघुवंश' के सभी प्रधान पात्र इस धरती के हैं। उनके चरितों में दैवी विशेषतायें होने पर भी अतिमानुषता नहीं है।

इसमें लगभग २९ राजाओं का वर्णन है। इन राजाओं के चरित्र-चित्रण में कालिदास की कवित्व-प्रतिभा का सुन्दर विकास हुआ है। दिलीप से लेकर दशरथ तक के राजाओं के अद्वितीय गुणों का वर्णन करते हुए कालिदास ने अपनी व्यापक अभिज्ञता का परिचय दिया है।

रस-परिपाक की दृष्टि से 'रघुवंश' का अपना अलग स्थान है। कालिदास के अन्य ग्रंथों में दो या तीन रसों का समावेश मिलता है; किन्तु 'रघुवंश' में प्रायः सभी रसों का पूर्ण परिपाक हुआ है। उदाहरण के लिये राजा अग्निवर्ण के विलासमय जीवन में श्रृंगार रस; रघु, अज तथा राम के युद्ध में वीर रस; अज-विलाप में करुण रस, वाल्मीकि-आश्रम तथा रघु के सर्वत्यागी स्वभाव में शान्तरस तथा ताड़कावध में बीभत्स रस का वर्णन किया गया है।

कालिदास ने अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अर्थान्तरन्यास का अधिकता से प्रयोग किया है। शब्दालंकारों में उन्होंने यमक तथा अनुप्रास का प्रयोग किया है। इसके लिए नवम सर्ग का ग्रीष्मऋतु-वर्णन तथा आखेट-वर्णन द्रष्टव्य हैं।

'रघुवंश' में कालिदास की भाषा मधुर और प्रसादगुणपरक है। उन्होंने सर्वत्र ही वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का प्रयोग किया है। उसमें सौष्ठव, माधुर्य, चारुता और अभिरुचि है।

'रघुवंश' में कालिदास की कवित्व-प्रतिभा का जो विकास हुआ है उसका परिचय एक-दो श्लोकों में देना अपर्याप्त होगा; फिर भी यहाँ हम उदाहरण के रूप में उस प्रसंग को उद्धृत करते हैं, जहाँ पर भ्रमवश दशरथ ने श्रवणकुमार की हत्या कर डाली थी। उस समय श्रवणकुमार के असहाय अंधे माता-पिता ने दशरथ को यह शाप दिया था कि 'जा, तेरी मृत्यु हमारे ही समान पुत्रशोक में हो।'

कालिदास की यह शापसृष्टि बड़े मौके की है। उधर राजा दशरथ पुत्र-हीन हैं। वे पुत्रप्राप्ति के लिए चिन्तित हैं और इधर श्रवणकुमार के अन्धे माता-पिता ने उनकी मृत्यु पुत्रशोक में बताई है। तो क्या उनका शाप अकारथ चला जायगा? दशरथ के मन में यह विकल्प उठता है कि 'तब क्या इस शाप की पूर्ति के लिए मेरे भाग्य में पुत्रप्राप्ति का योग है?' इस समय उन्हें सुख हो या दुःख? इसे वे अपना सौभाग्य समझें या दुर्भाग्य? अपनी शांत प्रकृति और विनम्र स्वभाव के अनुरूप उन्होंने अन्धे माता-पिता से कहा: 'हे मुनियुगल, आपका यह शाप तो मुझ पुत्रहीन अभागे के लिए वरदान है। देखिए, आग लग कर पृथ्वी को जलाने का दुःख तो दे डालती है; किन्तु वह धरती को उपजाऊ भी बना देती है। आप का शाप भी उसी अग्नि के समान है, जो दुःखदायी होती हुई भी मेरे लिए आनन्ददायी है':

'शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहेण भवता यदि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति॥'

इस प्रकार कालिदास के कवित्व में लोकमंगल की भावना विद्यमान है। उन्होंने शाप में भी वरदान की शुभ कामना को उतारा है।

'मालविकाग्निमित्र' कालिदास का प्रथम नाटक है। इसकी भाषा प्रसाद-गुणपूर्ण तथा मधुर है। उसमें कृत्रिमता और क्लिष्टता का अभाव है। अनुप्रास, श्लेष और उपमा आदि अलंकारों का इसमें सुन्दर प्रयोग हुआ है।

'विक्रमोर्वशीय' में कालिदास ने पुरूरवा और उर्वशी की प्रेमकथा को अपनी कवित्व एवं कल्पनाशक्ति से बड़ा रुचिर बयाया है। इसकी भाषा भो प्रसादगुणपूर्ण तथा अलंकृत है। इसमें शृंगार के संयोग और विप्रलंभ दोनों पक्षों का सुन्दर चित्रण हुआ है। कालिदास ने इसके एक श्लोक में कहा है : 'पुरूरवा का मन उर्वशी उसी प्रकार ले गई, जैसे कोई राजहंसी टूटे हुए कमल के डंठल से उसका तन्तु खींच ले जाती है :'

> 'एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
> सुरांगना कर्षति खण्डिताग्रं सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥'

पुरूरवा के 'मन ले जाने' की यह बात बड़ी ही विनोदपूर्ण है। ऐसी सुन्दर कल्पना करना कालिदास के ही बस की बात थी। उर्वशी उसका मन ले गई; किन्तु वैसे ही ले गई, जैसे कोई मराली कमलनाल का टूटा हुआ तन्तु ले जाती है। इसलिए मन कहीं आया-गया नहीं, बल्कि उसकी भावनायें, जिनकी तुलना मृणालतन्तु से की गई है, उर्वशी के साथ है।

इस प्रकार कालिदास का ही कविहृदय था, जिसने प्रेमीहृदय की इतनी तीव्रता एवं सूक्ष्मता का अनुभव किया था।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में महाकवि के कवित्व का चरमोत्कर्ष ध्वनित हुआ है। उसकी भाषा सरल, भाव मधुर और रचना बड़ी सुगठित है। उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति और अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का समुचित प्रयोग हुआ है। उसमें शृंगार, करुण और शान्त तीन सर्वोच्च रसों का सुन्दर समन्वय है। शृंगार के संभोग और विप्रलम्भ, दोनों पक्षों का उसमें बड़े ही रसभावपेशल रूप में निदर्शन हुआ है। नाटक का पर्यवसान शान्त रस में हुआ है। चरित्रचित्रण की दृष्टि से 'रघुवंश' और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' ये

दोनों ग्रन्थ बड़े सफल हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की श्रेष्ठता में एक उक्ति प्रचलित है :

'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्रापि च शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥'

'काव्यों में नाटक सुन्दर होते हैं और उनमें भी अभिज्ञानशाकुन्तल श्रेष्ठ है; उसमें भी चौथा अंक और उस चौथे अंक में भी चार श्लोक सर्वोच्च हैं।'

उपमा कालिदासस्य

कालिदास का सर्वाधिक प्रिय अलंकार उपमा रहा है, और उसके बाद वस्तूत्प्रेक्षा, समासोक्ति तथा रूपक। इन अलंकारों के अतिरिक्त उन्होंने श्लेष, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, अर्थान्तरन्यास आदि अर्थालंकारों का भी प्रयोग किया है। शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक को अधिक अपनाया है। 'रघुवंश' के नवम सर्ग में कालिदास की शब्दालंकारों की यह चित्रात्मकता देखने को मिलती है।

किन्तु उपमा अलंकार के प्रयोग में कालिदास का कवित्व जैसे मूर्तिमान होकर अठखेलियाँ करने लगता है। महाकवि कालिदास के इस उपमावैशिष्ट्य को दृष्टि में रखकर बाणभट्ट ने उनके व्यक्तित्व के प्रति अपने श्रद्धापुष्प अर्पित करते समय उनका स्मरण मंजरियों की उपमा देकर किया है :

'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥'

'कौन ऐसा व्यक्ति है, जो प्रीतिपगी महाकवि कालिदास की सूक्तियों को सुनकर सुन्दर एवं सघन मंजरियों को देखने की भाँति आनन्दविभोर न हो उठता हो?'

'ऋतुसंहार' के तीसरे सर्ग का आरम्भ करते हुए नववधू की भाँति शरद्-ऋतु के रम्यरूप की यह कल्पना कालिदास के ही हृदय की अनुभूति हो सकती है :

'काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥'

'सफेद कांस की सुन्दर साड़ी पहने हुए, विकसित कमल ही जिसका

मनोहर मुख है, उन्मत्त हंसों की ध्वनि ही जिसके नूपुरों की आवाज है, पके हुए धान ही जिसका सुन्दर कृश शरीर है, ऐसी नववधू की भांति रमणीय यह शरद्ऋतु धरती पर अवतरित हो गई है।'

'मालविकाग्निमित्र' के दूसरे अंक में कालिदास ने, मन्दस्मिति से जिसके दाँत थोड़े से दिखाई पड़ते हैं, ऐसे मालविका के मुख की खिलने वाले कमल से उपमा देते हुए लिखा है :

'स्मयमानमायताक्ष्या: किञ्चिदभिव्यक्तदशनशोभि मुखम् ।
असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पंकजं दृष्टम् ॥'

'इस बड़ी-बड़ी आँखों वाली का मन्द-मुस्कानभरा मुख, थोड़ी सी दीखती हुई दन्तपंक्ति से, ऐसा सुशोभित हो रहा है, जैसे कि वह ऐसा अधखिला कमल हो, जिसकी केशर पूरी न दिखाई देती हो।'

'कुमारसंभव' में एकान्त मन से तपस्यारत शिव के स्वरूप का चित्र अंकित करते हुए कालिदास ने लिखा है कि 'भगवान् शंकर, समस्त अन्तश्चारी पवनों को रोक कर ऐसे अचल बैठे थे, जैसे न बरसने वाला बादल, बिना लहरों का स्थिर तालाब या पवनरहित स्थान पर खड़ी लौ वाला निश्चल दीपक हो' :

'अवृष्टिसंरंभमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥'

'विक्रमोर्वशीय' में कञ्चुकी के मुख से कराया हुआ सन्ध्याकाल का यह वर्णन कितना स्वाभाविक है : 'रात की निद्रा से आलस्ययुक्त मयूर वासयष्टि पर ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे वे चित्र में खिंचे हुये हों; अथवा जालीदार खिड़कियों से निकली हुई धूपगंध से छत ऐसी मालूम पड़ रही थी जैसे उन पर कबूतर बैठे हों' :

'उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः ।'

'मेघदूत' में श्यामवर्ण अंशुक को धारण किए हुये बलराम से, कैलाश पर चढ़े मेघ का, यह तारतम्य कितना सुन्दर है :

'उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य ।'

शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥'

'महीन अंजन के समान श्यामवर्ण मेघ जब ताजे काटे गये हाथीदाँत के समान गौरवर्ण कैलाश पर जा पहुँचेगा तो ऐसा ही दिखाई देगा, जैसे कि बलराम के कन्धे पर पड़ा हुआ गहरा काले रंग का वस्त्र हो।'

'अभिज्ञानशाकुन्तल' और 'रघुवंश', दोनों ग्रंथ कालिदास की कवित्व-प्रतिभा के निस्यन्द हैं। उनमें स्थल-स्थल पर कालिदास के मनोहर उपमा-कौशल का दर्शन होता है। शकुन्तला की विदाई पर कालिदास ने रेहन रखे हुये धन से कन्या की तुलना करते हुए ऋषि कण्व के मुख से उपमा अलंकार का कितना हृदयाकर्षक वर्णन प्रस्तुत किया है :

'अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥'

'कन्या पराया धन है, इसलिए उसको उसके पति के पास पहुँचा कर मेरा मन आज ऐसा स्वस्थ हुआ है, जैसे किसी की धरोहर उसके मालिक को सौंप दी हो।'

'रघुवंश' का पांचवाँ सर्ग कवित्व की दृष्टि से अत्यन्त मार्मिक है। इन्दुमती के पाणिग्रहण के लिये अज, विदर्भ देश की राजधानी कुंडिनपुर में विराजमान हैं। उस समय वैतालिकों द्वारा अज के रूप का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है :

'ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥'

'हे महाराज, आपके अरुणिमामय अधरों से दाँतों की धवल कान्ति का मिलाप होने पर और भी अधिक सुन्दरता को पाने वाले आपके मन्द, मधुर स्मित के समान ये वृक्षों के लाल, कोमल पल्लवों पर पतित, हार के गोल-गोल मोतियों के समान स्वच्छ हिमकण इस समय बहुत ही शोभायमान हो रहे हैं।'

इसी प्रकार स्वयंवर में आये हुए भूमिपालों को छोड़कर इंदुमती जब आगे बढ़ती थी तो उनके मुख पर उदासी की ऐसी कालिमा छा जाती थी जैसे रात्रि के समय आगे बढ़ने वाली दीपशिखा राजमार्ग के उन राजभवनों को पीछे छोड़ती चली जाती है :

'संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥'

इसी उपमा-प्रयोग के कारण महाकवि कालिदास को 'दीपशिखा कालिदास' के नाम से कहा गया है।

कालिदास की उपमाएँ रमणीय होने के साथ ही यथार्थ भी हैं। उनको पढ़ते हुये हृदय रसविभोर हो जाता है। 'रघुवंश' में उन्होंने लिखा है कि 'नन्दिनी गाय राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा के बीच वैसी ही शोभा पा रही थी, जैसे दिन और रात के मध्य में संध्या शोभायमान होती है' (दिनक्षपामध्यगतेव संध्या)। अथवा 'पुरवासी स्त्रियाँ अपने नेत्रों से राजकुमार अतिथि का उसी प्रकार अनुसरण कर रही थीं, जिस प्रकार चमकते हुये तारों वाली शरदृतु की रातें ध्रुवनक्षत्र का अनुसरण करती हैं' (शरत्प्रसन्नै-र्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम्)। इसी प्रकार 'नन्दिनी के पीछे दिलीप उसी प्रकार जा रहे थे, जैसे श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति हो' (श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्), आदि सभी उपमायें प्रासंगिक, स्वाभाविक और सुरुचिपूर्ण हैं।

अन्त में 'विक्रमोर्वशीय' के प्रथम अङ्क में उर्वशी के लिए प्रकृति से गृहीत उपमानों का यह रोचक प्रसंग यहाँ दिया जाता है। उर्वशी धीरे-धीरे होश में आ रही है। इसके लिये कालिदास ने तीन-तीन उपमानों की सृष्टि की है। 'चन्द्रमा का उदय होने पर अंधकार से छोड़ी जाती हुई रजनी की भाँति, रात्रिकाल में धूमराशि से विरहित होने वाली अग्नि की ज्वाला के समान और बरसात में तट के गिरने के कारण मटमैली होकर धीरे-धीरे स्वच्छ होती हुई गंगा के समान उर्वशी धीरे-धीरे होश में आने लगी' :

'आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रिः
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।

मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गंगा रोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम् ॥'

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में कालिदास की उपमा को जो विशिष्टता दी गई है वह अकारण नहीं है।

प्रकृति वर्णन

कालिदास का प्रकृति-वर्णन उनकी गहरी अनुभूति और उनके चिर-साहचर्य पर आधारित है। उसमें कल्पना और यथार्थ, दोनों का समन्वय है। इसलिए उनके प्रकृति-वर्णनों में एक ओर तो उद्दीपन का रूप मिलता है और दूसरी ओर आलम्बन का। कालिदास का यह प्रकृति-दर्शन उनकी सभी कृतियों में ध्वनित हुआ है। उनका 'ऋतुसंहार' प्रकृति का संघात है। 'मालविकाग्निमित्र' में मालविका प्रकृति की प्रतिमूर्ति है। 'कुमारसंभव' की कथावस्तु का लीलाक्षेत्र नगाधिराज हिमालय है। 'विक्रमोर्वशीय' में प्रकृति का प्रतिनिधित्व अप्सरायें करती हैं। 'मेघदूत' का आरंभ प्रकृतिमण्डित आषाढ़ के पहले दिन से होता है, जिसकी सुषमा से रामगिरि सुशोभित है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का कण्वाश्रम प्रकृति की लीलाभूमि है। 'रघुवंश' के वशिष्ठआश्रम और हिमालय में प्रकृति के अविस्मरणीय रूप के दर्शन होते हैं।

कालिदास का प्रकृति-प्रेम उनके ऋतु-वर्णनों में देखने को मिलता है। ऋतु-वर्णन उन्हें बहुत प्रिय था। 'ऋतुसंहार' में सरस्वती की आराधना करते हुए उन्होंने लिखा है कि प्रकृति-वर्णन को छोड़कर दूसरा कौन सा ऐसा सरल एवं सरस विषय है, जिसको कवि अपने लिए चुनेगा ? उन्होंने अपने प्रत्येक काव्य में किसी एक ऋतु का वर्णन अवश्य किया है, 'कुमारसंभव' में वसन्त का, 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'मेघदूत' में वर्षा का, 'शाकुन्तल' में ग्रीष्म का और 'रघुवंश' तथा 'ऋतुसंहार' में सभी ऋतुओं का।

कालिदास के उपमा-वर्णन-प्रसंग में निरूपित अनेक स्थल उनके प्रकृति-साहचर्य के प्रमाण हैं। कालिदास के इस प्रकृति-चित्रण के कुछ उदाहरण ही यहाँ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उनके 'ऋतुसंहार' को ही ले लीजिए। उसके छह सर्गों में क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त, इन छह ऋतुओं का वर्णन है। प्रत्येक ऋतु के वर्णन में कवि ने उस ऋतु का वृक्ष-

लताओं तथा पशु-पक्षियों पर होने वाला प्रभाव, उन ऋतुओं के आगमन से कामीजनों की चित्तवृत्ति तथा व्यवहार में दिखाई देने वाले परिवर्तन और उनके हृदयों में उठने वाले भाँति-भाँति के विचारों आदि का दिग्दर्शन किया है।

दूसरे सर्ग में वर्षा ऋतु के आगमन से धरती एक सुंदर रमणी की भाँति दिखाई दे रही है, इसका वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है :

'प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता वाराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥'

'चमकते हुए मरकत मणि के समान हरे तृणों से छाई हुई, उगे हुए कन्दलीदलों से व्याप्त और बीरबहूटियों से सजी हुई भूमि रक्तवर्ण मणियों के अलङ्कारों से अलंकृत सुंदर ललना जैसी शोभित हो रही है।'

'मालविकाग्निमित्र' के तीसरे अङ्क में प्रमदवन का वसन्त-वर्णन बड़ा ही मनोहर है। 'कुमारसंभव' के आरंभ में हिमालय का वर्णन तथा तीसरे सर्ग में वसन्तऋतु के आगमन से वनश्री का वर्णन अत्यन्त मनोहर है। प्रथम सर्ग में हिमालय का अलंकृत प्रकृति-वर्णन बड़ा ही रसभावपेशल है :

'भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुःकम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥'

'हिमालय में भगवती भागीरथी के झरनों की फुहारों को लेकर बहने वाला वह शीतल पवन, जिसने देवदार के वृक्षों को कँपा दिया है और मोरों के पंखों को तेजी से झकझोर दिया है, हिरनों की खोज में भटकते हुए किरातों के द्वारा सेवित किया जाता है।'

इसी प्रकार पश्चिम दिशा में लटके हुए सूर्य की प्रतिच्छाया से सरोवर के जल में एक सुनहरा जाल सा बन गया है। सूर्य पश्चिम की ओर निरन्तर ढलता जा रहा है और धूप की तेजस्विता धीरे-धीरे मन्द पड़ती जा रही है। संध्याकाल का यह वर्णन इस श्लोक में यों व्यक्त किया गया है :

'एष वृक्षशिखरे कृतास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलम्।
हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु पिबतीव बर्हिणः ॥'

'मयूर वृक्ष की शाखा पर बैठा हुआ है। उसकी पूँछ में बनी गोल और

सुनहरी चन्द्रिकाओं को देखने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह मोर ही बैठा-बैठा सारी धूप को पिये जा रहा है, जिससे कि दिन ढलता जा रहा है।'

'विक्रमोर्वशीय' के तीसरे अङ्क में संध्याकाल का सुंदर वर्णन कालिदास ने किया है। चन्द्रमा का उदय होने से अंधकार दूर हो गया है, इस पर कहा गया है :

'उदयगूढशशांकमरीचिभिस्तमसि दूरमितः प्रतिसारिते।
अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् ॥'

'उदयाचल की आड़ में छिपे हुए चन्द्र की किरणों ने अंधकार दूर कर दिया है। मानो बाल गुँथ जाने के कारण पूर्व दिशा का मुख हमारे नेत्रों को आनन्ददायक हो गया है।' यह उक्ति राजा की है। इस उक्ति में राजा का यह आशय है कि उदयोन्मुख चन्द्र की किरणों से अंधकार दूर होने के कारण पूर्व दिशा का मुख, बाल सँवार कर पति के आगमन की प्रतीक्षा करने वाली स्त्री के मुख के समान दृष्टि को आनन्ददायी प्रतीत हो रहा है। चन्द्र पूर्व दिशा का पति है। वह क्षितिज पर आया नहीं था। अतः जैसे विरहिणी स्त्री के बाल, तैलादि से सुवासित न होने पर उसके मुख पर फैले रहते हैं उसी प्रकार अंधकार पूर्व दिशा को व्याप्त कर रहा था। इस वर्णन में समासोक्ति और उत्प्रेक्षा अर्थालङ्कारों का सुंदर प्रयोग हुआ है।

कालिदास का 'मेघदूत' प्रकृति की लीलाभूमि है। अलकापुरी, और वहाँ जाते हुए बीच मार्ग में मिलने वाले नगर, ग्राम, पर्वत और नदी आदि के चित्रण में कालिदास ने अपना प्रकृति-कौशल निकाल कर रख दिया है। हिमालय पर अवस्थित अलकापुरी का परिचय देते हुए कहा गया है : 'हे कामचारी मेघ, उस कैलाश पर्वत के अंक में गङ्गा जी के ठीक तट पर अलका नाम की नगरी है। वह मेरी निवासभूमि है। तू उसे देखते ही पहचान लेगा। कैलाश की प्रान्तभूमि में जाह्नवी के किनारे बसी हुई वह नगरी उस रमणी के सदृश मालूम होती है, जो अपने प्रियतम की गोद में बैठी है और जिसकी सफेद साड़ी का अंचल हवा से उड़ रहा है। स्वच्छ जल की बड़ी-बड़ी बूँद बरसाने वाले हे श्यामवर्ण मेघ, तुझे वे अपने ऊँचे-ऊँचे महलों के ऊपर इस तरह धारण कर लेंगी जैसे बड़े-बड़े मोतियों से गुंथे हुए केश-कलाप को कामिनी अपने मस्तक पर धारण करती है' :

'तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥'

इसी प्रकार यक्षपुरी के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है 'हे मेघ, यक्षपुरी सदाबहार रहती है और वहाँ मतवाले भँवरों से गुंजायमान वृक्ष तुझे देखने को मिलेंगे। वहाँ हंसों की टोलियाँ बारहमासी कमल-कमलिनियों को सदा घेरे रहती हैं। वहाँ चमकीले पंखों वाले पालतू मोर ऊँचा शिर किये दिन-रात बोलते रहते हैं। और वहाँ भी सदाशय चाँदनी रातें हमेशा ही उजली एवं मनोहर बनी रहती हैं' :

'यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पाः
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥'

'अभिज्ञानशाकुन्तल' कालिदास के कवियश की पताका और उसकी चिरन्तन काव्यसाधना की फलोपलब्धि है। उसके एक-एक शब्द में अमृत है। उसमें प्रकृति की रम्य रूपराशि व्याप्त है। उसमें प्रकृति के सात्विक और शृंगारमंडित, दोनों रूपों का दर्शन होता है। उदाहरणस्वरूप कण्व के आश्रम में प्रकृति के इस स्वाभाविक सात्विक रूप का यह प्रसंग ले लीजिए :

'नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः
तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः॥'

'उस आश्रम में कहीं तोतों के कोटरों से गिरे नीवारकण वृक्षों के नीचे बिखरे हैं। कहीं इधर-उधर पड़े चिकने पत्थर यह बता रहे हैं कि उन पर इंगुदीफल कूटे जाते हैं। कहीं आश्वस्त एवं निर्भय मृग विचरण कर रहे हैं। कहीं जलाशयों के आने-जाने के मार्गों में मुनियों के गीले वल्कलों से टपकी पानी की बूँदों के चिह्न बने हुए हैं।'

आश्रम के वृक्षों, लताओं और मृगों से शकुन्तला का सहोदर तथा पुत्र जैसा संबंध है। उसकी बिदाई पर वृक्ष अपने पत्ते गिराकर मानो आँसू बहा रहे हैं। लतायें मौन खड़ी उसके वियोग का दुख प्रकट करती हैं। मृग उसका आँचल पकड़ कर अपने प्रेम को जनाता है।

उसकी बिदाई पर सारा तपोवन दुःख प्रकट कर रहा है: 'मृगीगण कुश के ग्रास को वियोग के दुःख से दुखी होकर मुँह से गिरा रही हैं। वे इतनी शोकाकुल हैं कि उन्हें खाना तक अच्छा नहीं लग रहा है। जो मयूरियाँ आनन्दोल्लास में नाच रही थीं उन्होंने अपना नाचना छोड़ दिया है। लतायें अपने पीले पत्तों को गिराकर आँसू बहा रही हैं':

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्राः मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥'

'रघुवंश' में महामुनि वशिष्ठ का आश्रम प्रकृति का दिव्य धाम है। इसके अतिरिक्त उसमें प्रातः, संध्या, दिन, रात, समुद्र, पर्वत, नदी, वृक्ष, लता आदि प्राकृतिक दृश्यों का मनोहारी वर्णन देखने को मिलता है। वैतालिकों द्वारा प्रभातवर्णन और इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर प्राकृतिक सौन्दर्य-संपन्न स्थलों का वर्णन रमणीयता और भौगोलिक दृष्टि से बड़ा सुन्दर है। इन सभी वर्णनों में प्रकृति का स्वाभाविक रूप दर्शित है। 'राजा दिलीप उन हरे वनों को देखते जा रहे थे, जिनमें छोटे-छोटे जलाशयों से वराह निकल कर आ रहे थे और हिरन हरी घास पर बैठे हुए थे':

'स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥'

इस प्रकार कालिदास का प्रकृति-वर्णन उनके सूक्ष्म निरीक्षण और अनुभूतिप्रवण हृदय पर आधारित है। उन्होंने अन्तःप्रकृति के चित्रों को स्पष्ट करने के लिये मूर्त उपमानों का मनोहर चित्रण किया है। उनके उद्दीपन-युक्त प्रकृतिचित्रण समासोक्ति के द्वारा अधिक रुचिकर हो गए हैं। उनके प्रकृतिवर्णनों में मानव के साथ प्रकृति के रागात्मक संबंधों का मनोहर समन्वय हुआ है। ऐसे प्रसंगों पर उन्होंने वस्तूत्प्रेक्षा और समासोक्ति का आश्रय

लिया है। उपमा तथा रूपक अलंकारों के द्वारा भी उन्होंने अपने प्रकृति-चित्रणों को सजीव और भावनामय बनाया है।

कालिदास की सौंदर्य-भावना

कालिदास सौंदर्य और प्रेम के कवि थे। जड़-चेतन, प्रकृति-मानव, संपूर्ण चराचर में सर्वत्र ही उनकी दृष्टि प्रेम और सौंदर्य पर केंद्रित रही है। उनके इस सौंदर्य और प्रेम-भावना का दर्शन उनके श्रृङ्गार-वर्णनों में देखने को मिलता है। 'कुमारसंभव', 'मेघदूत', 'रघुवंश' और 'अभिज्ञानशाकुंतल' में उनकी यह भावना बड़े व्यापक रूप में प्रकट हुई है।

कालिदास की सौन्दर्यानुभूति सर्वथा निजी है। उसमें व्यापकता है और पाठक के हृदय को द्रवित करने की पूरी क्षमता भी। उनका यह सौंदर्य-वर्णन प्रकृति और नारी के चित्रण में प्रकट हुआ है। प्रकृति में जो अथाह सौंदर्यराशि परिव्याप्त है, मानवीय सौन्दर्य उसका एक अंश है, इस उद्देश्य से उन्होंने शकुन्तला के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करते हुये लिखा है कि 'शकुन्तला का अधर कोमल किसलय के समान रक्तवर्ण है। उसकी सुकुमार भुजाएँ लता की शाखाओं के समान कोमल हैं। उसके अंगों में उभरे हुए उरोज खिले हुये पुष्प के समान आकर्षक हैं' :

'अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम्॥'

उनके सौंदर्य-वर्णनों में व्यञ्जना वृत्ति का भी आश्रय लिया गया है। 'कुमारसंभव' के आठवें सर्ग में कालिदास ने लिखा है कि सौंदर्य की परिणति प्रेम में होती है (प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता)। यह प्रेम, चाहे प्रकृति का हो चाहे मानवीय जगत् का, अकारण ही नहीं हो जाता, बल्कि उसके मूल में पूर्वजन्म के सुकृत विद्यमान रहते हैं और बिना प्रेरणा एवं योजना के मन स्वतः ही उधर आकृष्ट हो जाता है (मनो हि जन्मान्तरसंङ्गतिज्ञम्)। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में प्रेम की इस स्थिति का बड़े ही सुंदर ढंग से चित्रण किया गया है :

'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥'

'सुंदर वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी मनुष्य भी उत्कंठित हो जाता है। इसका कारण यही है कि वह किसी पूर्वजन्म में होने वाली मैत्री का अज्ञातभाव से स्मरण करने लगता है। मन बिना किसी कारण के उस सौहार्द की ओर चला जाता है।'

हमारे वर्तमान जीवन में सौहार्द एवं प्रेम का जो सम्बन्ध पूर्वजन्मजनित है वैसे ही उसका सूत्र आगामी जीवन से भी जुड़ा होता है।

रमणीय मुख पर हास्य की रेखा का वर्णन कवियों ने अनेक तरह से किया है। हास्य जैसी भावात्मक वस्तु का मनोमुग्धकारी चित्र कालिदास ने कैसे स्पष्ट करके रख दिया, इसका दर्शन 'कुमारसंभव' में पार्वती की इस मुस्कराहट में कीजिए :

'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्यात् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥'

'यदि जूही की कलियाँ चुनकर अरुणवर्ण कोमल किसलयों पर सजा कर रख दी जाँय, या लाल-लाल मूंगों पर मोतियों के दाने तरतीब से बैठा दिए जाँय, तब कहीं जाकर पार्वती के अरुण अधरों पर खेलने वाली मुस्कराहट की उपमा दी जा सकती है।'

वसंत के आगमन पर धरती में सौंदर्य की क्या अपार निधि निखर गयी है। उसके आगमन से जड़-चेतन एवं प्रकृति-मानव, सब में कितने हर्षोल्लास का वातावरण व्याप्त हो गया है, इसका चित्रण करते हुये कालिदास ने 'कुमार-संभव' में लिखा है :

'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥'

'भौंरा अपनी प्रिया के पीछे-पीछे घूमता हुआ एक ही फूल के कणों से मधुपान करता है और काला हिरन स्पर्श से आनन्दित, बन्द आँखों वाली हिरनी को अपने सींग से खुजलाने लगता है।'

सातवें सर्ग में व्यंजनावृत्ति द्वारा पार्वती के रतिभाव का चित्रण करते हुए लिखा गया है कि :

'व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदविलम्बितांशुका ।
सेवतेस्म शयने पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥'

'शिव के द्वारा बातचीत किए जाने पर, पार्वती उन्हें कोई उत्तर नहीं देती थी। उनके द्वारा रोकने के लिये वस्त्र को पकड़ लिये जाने पर भी वहाँ से चली जाना चाहती थी। वह एक ही शय्या पर शयन करते हुए भी दूसरी ओर मुँह करके सोती थी। इस प्रकार शिव की रति में विघ्न करने पर भी पार्वती उनके अनुराग को बढ़ाती ही थी।'

'कुमारसंभव' के तृतीय सर्ग में पार्वती का चित्रण करते हुए कालिदास ने सौंदर्य की बड़ी ही सुष्ठु, मनोहर एवं संयत अवस्थाओं का वर्णन किया है। उनके इन वर्णनों में भी मानवीय रमणीयता में प्रकृति का सहयोग बताया गया है। 'लाल वस्त्रों को धारण किए हुये पार्वती, जो स्तनों के भार से कुछ-कुछ झुकी-सी दिखाई देती थी, शिव के सामने आकर ऐसी खड़ी हो गई जैसे घने फूलों के गुच्छों से झुकी हुई, किसलय वाली चलती-फिरता (संचारिणी) लता हो':

'आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥'

कालिदास ने प्रेम की अनेक कोटियों का विपुल चित्रण अपने ग्रन्थों में किया है। अपनी प्रिया से दूर विदेश में जीवन-यापन करता हुआ यक्ष अपना प्रेम, कल्पना के आधार पर पूरा कर लेता है। उसी प्रकार प्रेयसी इन्दुमती के अपहरण से भाग्य को कोसता हुआ अज भी प्रेम के सिंधु में निमग्न है।

कालिदास की सौंदर्य-भावना उनके उदात्त कविकर्म का परिचय देती है। उनके कवित्व में सर्वत्र ही हमें सौंदर्य के दर्शन होते हैं। वियोग, संयोग, करुण, शान्त आदि वर्णनों में और प्रकृति, मानव, कला, संस्कृति आदि सभी चित्रणों में कालिदास की रुचिर सौंदर्यानुभूति का दर्शन होता है इसलिये कालिदास को सौंदर्य और प्रेम का सर्वोच्च कवि माना जाता है।

कालिदास और अश्वघोष में भावात्मक समानता

कालिदास और अश्वघोष के ग्रंथों में हमें न केवल शब्दसादृश्य, बल्कि अर्थसादृश्य और अलङ्कारसादृश्य के अनेक महत्वपूर्ण प्रसंग देखने को मिलते हैं। यह समानता कालिदास के 'कुमारसंभव' और अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' में विशेष रूप से तथा 'रघुवंश' में कहीं-कहीं देखने को मिलती है। उदाहरण के लिए कालिदास के 'रघुवंश' में :

'यथावदेनं दिवि देवसंघा दिव्यैर्विशेषैमयमाञ्च चक्रुः'

और :

'कार्यस्य कृत्वा हि विवेकमादौ सुश्रेधिकन्तुं मनसो विवेकः।'

इन पद्यांशों में व्याकरण विषयक उपमा के अपाणिनीय प्रयोग अश्वघोष के 'सौन्दरननन्द' में इस प्रकार दिखाया गया है :

'बभूव स हि संवेगः श्रेयसस्तस्य वृद्धये।
धातोरधिरिवाख्याते पठितोऽक्षरचिन्तकैः॥'

नन्द के बौद्धधर्म ग्रहण करने पर उसकी पत्नी सुन्दरी ने जो विलाप किया था उसका वर्णन 'बुद्धचरित' के छठे सर्ग में किया गया है, जो कि 'कुमारसंभव' में शिव द्वारा कामके भस्मीभूत होने पर रति के विलाप से मिलता है। इसी प्रकार 'सौन्दरनंद' का नन्द-विलाप और 'रघुवंश' का अजविलाप भी है। 'बुद्धचरित' के तीसरे सर्ग में विहार के लिए जाते हुये राजकुमार गौतम को देखने के लिये स्त्रियों की जैसी भीड़ जमा हो गई थी उसका वर्णन अश्वघोष ने इस प्रकार किया है :

'वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परोपासितकुण्डलानि।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपंकजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पंकजानि॥'

अर्थात् खिड़कियों के बाहर झाँकने वाली कामिनियों के मुख-कमल, जिनके कर्णाभूषण एक-दूसरे से रगड़ खा रहे हैं, महलों में परस्पर संलग्न कमल की भाँति शोभित हो रहे थे।

इसी प्रकार 'रघुवंश' के (७।११) में इन्दुमती के स्वयंवर के बाद कुण्डिनपुर में अज को देखने के लिये स्त्रियों का जमघट लग गया था और 'कुमारसंभव' में हिमालय के ओषधिप्रस्थ नामक नगर में भगवान् शंकर

को देखने के लिये स्त्रियों की आकुलता दिखाई दी थी। उसका वर्णन इस प्रकार है :

'तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥'

अर्थात् अति कुतूहलपूर्ण कामिनियों के मधुपान से सुगन्धित और भ्रमर-सदृश चंचल नेत्रयुक्त मुखों के कारण महल की खिड़कियाँ कमलपत्र-भूषित-सी प्रतीत होती थीं।

इन दोनों पद्यों में 'खिड़कियों से झाँकने वाली स्त्रियों के मुख से कमल की उपमा' एक जैसे रूप में ली गई है। दोनों महाकवियों के इस भाव-वर्णन-साम्य के परिचायक अनेक पद्य मिलते हैं (देखिये रघुवंश ३।१४; कुमारसंभव ५।८५; रघुवंश २।४७; मेघदूत ११४, क्रमशः बुद्धचरित १।४१; १०।४; ११।४२)। इन अवतरणों की इस आश्चर्यजनक समानता को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि एक कवि के काव्य को दूसरे कवि ने अवश्य देखा था।

(२) अश्वघोष

जीवनी

अश्वघोष के जीवनवृत्त को जानने के लिये तिब्बत तथा चीन आदि बौद्ध देशों के साहित्य में विपुल सामग्री सुरक्षित है, क्योंकि आज अश्वघोष के ग्रन्थ अपनी मूल भाषा संस्कृत में सुरक्षित न होकर चीनी तथा तिब्बती अनुवादों के रूप में सुरक्षित हैं। बौद्धधर्मानुयायी अनेक भारतीय ग्रन्थकारों के ग्रन्थों तथा उनके जीवनवृत्तों को सुरक्षित रखने का कार्य यदि इन बौद्ध देशों ने न किया होता तो आज हम अपने इन प्रतिभाशाली विद्वानों के परिचय से वंचित ही रह जाते।

अश्वघोष के महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि वे साकेत (अयोध्या) के निवासी थे। उन्हें इसीलिए 'साकेतक' कहा गया है। उनके पिता का नाम तो विदित नहीं होता, किन्तु अपनी माता सुवर्णाक्षी का उन्होंने बार-बार स्मरण किया है :

'आर्य सुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्'।

सेनापति पुष्यमित्र ने सर्वप्रथम अयोध्या को राजधानी बनने का सुयश दिया था; अन्यथा बुद्ध के समकालीन कोशलराज प्रसेनजित् के समय से ही अयोध्या से छह योजन दूर श्रावस्ती को ही राजधानी बनने का सौभाग्य मिलता रहा। साकेत, वस्तुतः नौ-व्यापार का प्रमुख केन्द्र रहता आ रहा था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय तक साकेत को एक व्यापारिक नगर के रूप में स्मरण किया जाता रहा है।

सेनापति पुष्यमित्र (२०० ई० पूर्व) के शासनकाल में ही पुरोहितों का एक उच्च वर्ग साकेत में आकर बस गया था। पुष्यमित्र का पुरोहित ब्राह्मण पतंजलि भी उसी समय वहाँ बसा था। महाभाष्यकार के रूप में पतंजलि का व्यक्तित्व साहित्य में विश्रुत है। इन्हीं उच्च पुरोहित परिवारों में एक परिवार अश्वघोष के पूर्वजों का भी था। अश्वघोष का यह ब्राह्मणकुल वेद तथा शास्त्रों का ज्ञाता था।

राहुल जी ने अपनी पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' में अश्वघोष की प्रेमिका का नाम प्रभा बताया है, जो कि साकेत के तत्कालीन प्रमुख यवनवंश के सार्थवाह दत्तमित्र की पुत्री थी। वसन्त के एक विराट् उत्सव पर, सरयू नदी में तरुण-तरुणियों द्वारा आयोजित एक तैराकी-प्रतियोगिता में दोनों के सर्वप्रथम आने के कारण, दोनों में प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हुआ था, जो कि पीछे चलकर घनिष्ठतर बन गया। प्रभा उसकी प्रेमिका ही नहीं, कविता की प्रेरणा भी थी।

अपनी युवावस्था में ही अश्वघोष महाकवि के रूप में प्रसिद्धि पा चुका था। सारे युवक समाज में उसकी शृंगाररसप्रधान कविताएँ मुखाग्र होकर गाई जाती थीं। इसके अतिरिक्त वह संगीतज्ञ, नाटककार और अभिनेता के रूप में पर्याप्त ख्याति अपनी तरुणाई में ही प्राप्त कर चुका था।

ब्राह्मण अश्वघोष बाद में बौद्ध हो गया था। साकेत के सर्वास्तिवाद-संघ ने उसको भिक्षु बनाया।

इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि पेशावर में पार्श्व नामक एक बौद्ध भिक्षु से शास्त्रार्थ में पराजित होने के कारण उन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकार

किया था। उन्हीं पार्श्व नामक भिक्षु के द्वारा अश्वघोष को भिक्षुपद की उप-सम्पदा प्राप्त हुई। कुछ विद्वान् पार्श्व के बदले उनके शिष्य पुण्ययशस् को अश्वघोष का गुरु मानते हैं। यहाँ इस मन्तव्य के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। जहाँ तक आचार्य पार्श्व का सम्बन्ध है, निश्चित ही वे अपने युग के गम्भीर विद्वान्, प्रखर तार्किक तथा अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे; किन्तु जहाँ तक उनके द्वारा तथा उनके शिष्य पुण्ययशस् के द्वारा अश्वघोष को पेशावर में दीक्षित करने का प्रश्न है, उचित नहीं जान पड़ता है। आगे जैसा बताया जायगा कि मगध से कनिष्क अश्वघोष को अपने साथ पेशावर ले गया था, उससे तो यही स्पष्ट है कि पेशावर जाने से पूर्व ही अश्वघोष न केवल बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुके थे; बल्कि बौद्ध दर्शन का गंभीर अध्ययन भी कर चुके थे। इसलिए पेशावर में नहीं, साकेत में ही वे बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुके थे।

पाटलिपुत्र के अशोकाराम में रह कर दस वर्ष तक भदन्त अश्वघोष ने बौद्ध धर्म, बौद्ध-दर्शन और यवन-दर्शन का विधिवत् अध्ययन किया। इस प्रकार उन्होंने मगध के महासांघिक संप्रदाय के तत्कालीन विद्वानों में अपनी प्रतिष्ठा को कायम किया। बाद में अश्वघोष को आर्य, भदन्त, महापंडित, महावादिन् और महाराज जैसे विरुदों से अलंकृत किया गया।

ठीक इसी समय शक-सम्राट् कनिष्क पश्चिम से विजय करता हुआ पूर्व में पाटलिपुत्र तक आ पहुँचा। उसने मगध पर भी आक्रमण किया; किन्तु मगधनरेश के बौद्ध हो जाने पर कनिष्क ने उसको अभय कर दिया। वस्तुतः उसकी यह विजय-यात्रा राज्यलिप्सा के कारण न होकर सर्वत्र बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा के निमित्त थी। वह स्वयमेव परम बौद्ध था। उसने संघ से एक प्रतिभावान् विद्वान् को गांधार ले जाने के लिये आग्रह किया। संघ ने उसको सर्वथा उपयुक्त विद्वान् अश्वघोष दे दिया। अश्वघोष जब कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) पहुँचा तो उसने वहाँ शक, यवन, तुर्क, पारसी और भारतीय आदि अनेक संस्कृतियों का अपूर्व समन्वय देखा। कनिष्क की इस समन्वयवादी प्रवृत्ति को देख कर उसे परम सन्तोष हुआ। चीनी परंपराओं के अनुसार अश्वघोष की प्रतिभा से प्रभावित होकर कनिष्क ने उसको अपने

संमानित राजकवि और गुरु के रूप में स्वीकार किया। उनका अधिकांश जीवन वहीं व्यतीत हुआ।

राहुल जी ने 'वज्रसूची' (वज्रच्छेदिका) को अश्वघोष की बौद्ध दर्शन-विषयक कृति स्वीकार करते हुए उसमें लिखी हुई कुछ बातों का संबंध अश्वघोष की जीवनी से बताया है। उनके अनुसार 'वज्रच्छेदिका' के कुछ अंश ऐसे हैं, जिनका संबंध प्राचीन ऋषियों के आचरणों से है। प्रमाणरूप में ऋषियों की उन आचरण-संबंधी बातों को अश्वघोष ने अपनी माता के समक्ष इसलिए प्रस्तुत किया था कि प्रभा, जो विजातीय यवन की कन्या थी, उसके साथ एक सत्कुलीन ब्राह्मणपुत्र का परिणय-संबंध स्थापित होना क्यों उचित है। अपने इन तर्कों में उन्होंने इस बात को सिद्ध किया था कि ऐसे विजातीय विवाह ब्राह्मणों के वेद-शास्त्रों से समर्थित होते आये हैं। ऐसा करके अश्वघोष ने उस समय के ब्राह्मण समाज के लिये नये सदाचार की उदात्त पद्धति को उपस्थित किया था। उनकी जीवनी एवं उनके सुधारवादी विचारों को जानने के लिये इस परोक्ष ऐतिहासिक वृत्त का बड़ा महत्त्व है।

अश्वघोष की प्रायः सभी कृतियाँ नष्ट हो चुकी थीं, क्योंकि जीवन के अन्तिम दिनों वे जिस गांधार प्रदेश में रहे वह भारत का अंग होता हुआ भी अपनी स्वतंत्र रीति से अपनी ही सीमाओं में पनपता रहा। मध्य एशिया से उपलब्ध 'शारिपुत्रप्रकरण' भी इस अनुमान का साक्षी है कि अपने अन्तिम दिनों में अश्वघोष का संबंध गांधार से अधिक बना रहा।

उनके दर्शन-विषयक ग्रंथ और महाकाव्य आदि ग्रंथ भी चीनी या तिब्बती अनुवादों के रूप में सुरक्षित रहे हैं। इन ग्रंथों की मूल पाण्डुलिपियाँ, विदेशों से समय-समय पर भारत में आये यात्रियों द्वारा, विदेशों को ले जाई गईं।

उनके महाकाव्य उनकी प्रतिभा के परिचायक हैं। अपने इन महाकाव्यों द्वारा अश्वघोष ने साधारण जनता के समक्ष बौद्धधर्म के गूढ़ रहस्यों को काव्यमयी भाषा में प्रकट करने का अपूर्व कार्य किया। वे दार्शनिक थे; किन्तु उससे भी बढ़कर वे महाकवि थे।

स्थितिकाल

अश्वघोष प्रथम शताब्दी ईसवी में हुए, इसके समर्थन में नीचे लिखे प्रमाण प्रकाश में आ चुके हैं :

१. चीनी परम्परा के अनुसार अश्वघोष, सम्राट् कनिष्क के राजकवि ही नहीं, राजगुरु भी थे। चीनी विश्वासों के अनुसार कहा जाता है कि महाराज कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर जब तत्कालीन मगधनरेश को विध्वस्त करना चाहा था, तो उन्हें दो शर्तों पर छोड़ दिया था। पहली शर्त थी मगधनरेश द्वारा बौद्धधर्म में दीक्षित होना और दूसरी शर्त थी उनके राजकवि अश्वघोष को पुरुषपुर (पेशावर) ले जाना। मगधनरेश ने कनिष्क की इन दोनों शर्तों को मानकर अपने राज्य को बचाया था।

२. वैभाषिक संप्रदाय के 'विभाषा' नामक भाष्यग्रन्थ के निर्माणार्थ कनिष्क ने काश्मीर में जिस चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन किया था उसके अध्यक्ष अश्वघोष ही थे।

३. अश्वघोष नागार्जुन से प्राचीन थे। नागार्जुन का समय दूसरी शताब्दी ई० सिद्ध हो चुका है।

४. ईसा की पाँचवीं शताब्दी में अश्वघोष के 'बुद्धचरित' का चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका था। इससे सिद्ध है कि अपनी जन्मभूमि भारत को लांघकर इस महाकाव्य के चीन तक पहुँचने में कई सौ वर्ष लगे होंगे।

५. मध्य एशिया में प्राप्त अश्वघोष के 'शारिपुत्रप्रकरण' के आधार पर प्रो० लूडर्स ने यही प्रमाणित किया है कि उसका रचयिता, कनिष्क या हुविष्क के समय में हुआ।

६. समीक्षक विद्वानों ने मातृचेट की 'शतपंचाशिका' को अश्वघोष की शैली से प्रभावित बताया है, और डॉ० जॉन्स्टन के मतानुसार मातृचेट, कनिष्क का समकालीन था। इस दृष्टि से या तो दोनों एक ही समय में हुए या उनमें कुछ वर्षों का अन्तर था।

७. 'बुद्धचरित' के २८वें सर्ग के अन्त में मौर्यवंश के उज्ज्वल गौरव अशोक और उसके स्तूपों का उल्लेख हुआ है। इसलिए अश्वघोष, अशोक (२७३–२३२ ई० पूर्व) के बाद में हुए।

इस प्रकार अश्वघोष को ईसा की प्रथम सदी में मानना सर्वथा उचित जान पड़ता है।

कृतित्व

अश्वघोष ने वास्तव में कितने ग्रन्थों की रचना की, इस संबंध में मतैक्य नहीं है। चीनी परंपरा के अनुसार अश्वघोष के नाम से जितनी कृतियों को स्मरण किया जाता था, उनकी सूची, ७वीं० शताब्दी में वर्तमान, चीनी यात्री ईत्सिंग ने दी है। ईत्सिंग के मतानुसार अश्वघोष ने बौद्ध-दर्शन पर चार ग्रन्थों का निर्माण किया, जिनके नाम हैं : १. 'महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह', २. 'वज्रसूची', ३. 'गण्डीस्तोत्रव्याख्या' और ४. 'सूत्रालंकार'। इनके अतिरिक्त अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरानन्द', दो महाकाव्य और 'शारिपुत्र-प्रकरण' (शारद्वतीपुत्रप्रकरण) नामक एक नाटक की भी रचना की थी। उनके नाम से 'राष्ट्रपाल' और 'उर्वशीवियोग' नामक दो नाटकों का भी उल्लेख किया जाता है।

इन सभी ग्रन्थों के रचयिता अश्वघोष ही थे; इनमें से कुछ ग्रन्थों को बाद में उनके नाम से जोड़ा गया; अथवा इनके अतिरिक्त भी उन्होंने कोई ग्रन्थ लिखा—इस संबध में कुछ नई बातें प्रकाश में आई हैं, जिन्हें जान लेना आवश्यक है।

अश्वघोष के नाम से जिस 'महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह' नामक बौद्ध-दर्शन-विषयक ग्रन्थ का ऊपर निर्देश किया गया है, वह संप्रति परमार्थकृत चीनी अनुवाद के रूप में उपलब्ध है और उसी के आधार पर अब तक उसके दो अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाश में आ चुके हैं। पहला अनुवादक है जापानी विद्वान् ती० सुजुकी और दूसरा है रिचर्ड ज। अश्वघोष के इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद रहा है। इस मतभेद को लेकर संस्कृत में दो अश्वघोषों के वर्तमान होने की संभावना की गई है। बताया गया है कि प्रथम अश्वघोष 'बुद्धचरित' एवं 'सौन्दरनन्द' का रचयिता तथा कनिष्क की चौथी बौद्ध संगीत का संयोजक और दूसरा अश्वघोष 'महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह' का रचयिता था, जो आचार्य वसुबन्धु (४०० ई०) के बाद हुआ। इन दो अश्वघोषों को मानने वाले विद्वानों में तकाकुसु, विंटरनित्स, राहुल सांकृत्यायन,

और डॉ० राधाकृष्णन् आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों का कथन है कि उक्त बौद्ध-दर्शन-विषयक ग्रन्थ में विज्ञानवाद और शून्यवाद का जो विवेचन किया गया है वह अत्यन्त विकसित है और वह शून्यवाद के प्रथम आचार्य नागार्जुन (२०० ई०) तथा विज्ञानवाद के प्रथम आचार्य असंग एवं वसुबन्धु (४०० ई०) के पहले का नहीं हो सकता है।

इन विद्वानों के विपरीत कुछ विद्वानों, जिनमें 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' के अनुवादक जापानी विद्वान् डॉ० ती० सुजुकी भी हैं, का कथन है कि यह ग्रंथ महाकवि अश्वघोष का है। अपने पक्ष के समर्थन में इन विद्वानों का कथन है कि आचार्य नागार्जुन से भी पहले प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में विरचित 'अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता' नामक प्रथम शून्यवादी विचारधारा की कृति के आधार पर यह निश्चित है कि 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' महाकवि अश्वघोष की प्रामाणिक रचना है। यही ग्रंथ अश्वघोष की महायान-संबंधी विचारधारा का प्रेरक रहा है। इस मत के विद्वान् एक ही अश्वघोष को मानते हैं। चीन में जहाँ कि उक्त ग्रंथ की प्रति सुरक्षित है, इसी परंपरा को मानते हैं। ह्वेन-त्सांग ने भी इस कृति को अश्वघोषकृत माना है।

अश्वघोष का दूसरा ग्रंथ 'वज्रसूची' या 'वज्रच्छेदिका' अथवा 'वज्र-सूचिकोपनिषद्' चीनी परंपरा के अनुसार अश्वघोषकृत नहीं माना जाता है। इस ग्रंथ में वज्र की सूई की भाँति पैनी दृष्टि से वर्णभेद की समीक्षा की गई है। इसमें श्रुति, स्मृति एवं 'महाभारत' के उद्धरणों को देकर वर्णव्यवस्था की कठोर आलोचना की गई है। इस ग्रंथ में समानता का महान् आदर्श प्रस्तुत किया गया है, जिससे उसकी बहुत लोकप्रियता है। इसको भी कुछ विद्वान् अश्वघोष की रचना नहीं मानते हैं। उसके लिए जो कारण दिये गये हैं वे हैं: (१) उसमें अश्वघोष की-सी शैली नहीं है, (२) मानवजाति की एकता को प्रतिपादित करने वाली उसकी तर्क-पद्धति आधुनिक युग की-सी लगती है, (३) ईत्सिंग ने अश्वघोष की कृतियों में इसका उल्लेख नहीं किया है, (४) तिब्बती-चीनी परंपरा में इसको अश्वघोष कृत नहीं माना जाता है, (५) ९७३–९८१ ई० के बीच चीनी भाषा में

अनूदित इस कृति को धर्मकीर्ति की रचना माना जाता है। इन बातों के विपरीत राहुल जी ने इसको अश्वघोषकृत माना है।

'गण्डीस्तोत्र' नामक तीसरा ग्रंथ २९ स्रग्धरा छन्दों की गेय लघु कृति है। ईत्सिंग (७०० ई०) तथा विंटरनित्स इसको अश्वघोषकृत मानते हैं; किन्तु इसके संबंध में बहुमत से आज यह सिद्ध हो गया है कि यह अश्वघोष की रचना नहीं है।

अश्वघोष के नाम से जुड़े हुए चौथे ग्रंथ 'सूत्रालंकार' का चीनी अनुवाद कुमारजीव ने ४०५ ई० में किया था। उसने इसको अश्वघोषकृत बताया है। किन्तु कुछ वर्ष पूर्व, डॉ० लूडर्स द्वारा मध्य-एशिया में उपलब्ध इस ग्रंथ के दूसरे हस्तलेखों का अवलोकन कर यह सिद्ध किया गया था कि यह ग्रंथ अश्वघोष का न होकर दूसरे बौद्ध विद्वान् तक्षशिला के निवासी सौत्रान्तिक मत के संस्थापक कुमारलात या कुमारलब्ध का है। लूडर्स के इस कथन का कारण अब प्रकाश में आ गया है। मध्य-एशिया से लूडर्स ने कुमारलात की एक खण्डित प्रति 'कल्पनामण्डितिकादृष्टांतपंक्ति' को प्राप्त कर उसे १९२६ ई० में लिपजिग से प्रकाशित कराया था। इन दोनों ग्रंथों की कथाओं में पर्याप्त साम्य है। इसी आधार पर लूडर्स महोदय ने 'सूत्रालंकार' को 'कल्पना-मण्डितिका' मान लिया और उसका रचयिता कुमारलात सिद्ध किया। किन्तु वास्तविकता यह है कि 'कल्पनामण्डितिका', 'सूत्रालंकार' की अनुकृति है। कुमारजीव ने जिस ग्रन्थ का अनुवाद किया था वह अश्वघोष का ही 'सूत्रालंकार' था।

यह ग्रन्थ न जाने कब लुप्त हुआ। हूबर महोदय ने कुमारजीवकृत इसके चीनी भाषान्तर का पेरिस (१९०८ ई०) से फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया।

इस ग्रन्थ में तत्कालीन पालि जातकों की कथाओं का संग्रह और बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के महत्त्वपूर्ण उपाय बताए गये हैं।

'बुद्धचरित', 'सौन्दरानन्द' और 'शारिपुत्रप्रकरण' निश्चित ही अश्वघोष की रचनायें हैं। उनके ये दो महाकाव्य ग्रंथ उनके सहज कवित्व और उनकी दार्शनिक प्रतिभा को एक साथ प्रकट करते हैं। इन तीनों का विवेचन आगे प्रस्तुत किया गया है।

इसके अतिरिक्त राहुल जी ने अश्वघोष के नाम से 'उर्वशीवियोग' और 'राष्ट्रपाल' नामक दो नाटकों का भी उल्लेख किया है। इन नाटकों के संबंध में राहुल जी के विचारों का प्रतिपादन अश्वघोष के नाम के साथ नाटक प्रकरण में किया जाना चाहिए था; किन्तु उनके संबंध में अपर्याप्त सूचनायें उपलब्ध होने और नाटकों की परंपरा में उनका विशेष महत्त्व न होने के कारण उनके महाकाव्यों के इसी प्रसंग में उनके नाटकों का भी सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

नाटक

अश्वघोष महाकवि था और एक महान् दार्शनिक के रूप में उसका व्यक्तित्व साहित्य में सर्वत्र सुचर्चित है। उसके संबंध में यह बताया जा चुका है कि वह अच्छा संगीतज्ञ, निपुण नाटककार और कुशल अभिनेता भी था।

अश्वघोष के समय तक गांधार में जो नाटक खेले जाते थे या भारत में भी जो नाटक मंडलियाँ काम कर रही थीं उन पर यूनानी प्रभाव था और उनके लिए वस्त्र तथा अन्य रीतियाँ भी यूनानी ढंग की थीं। इन यवन-नाटकों से प्रभावित होकर ही अश्वघोष ने स्वयं नाटक लिखना आरंभ किया। वे नाटक संस्कृत, प्राकृत तथा गद्य-पद्य में थे। राहुल जी के मतानुसार अश्वघोष ने जो पहला नाटक लिखा उसका नाम था 'उर्वशीवियोग'। उर-बसी अर्थात् हृदयबसी वह अप्सरा, अप = सरयू के जल में सदा तैरने वाली थी। वह निश्चित ही प्रभा थी। अश्वघोष का यह नाटक संस्कृत-प्राकृत-मिश्रित था। राहुल जी ने इस विलुप्त नाटक को संस्कृत का प्रथम नाटक और अश्वघोष को इसीलिए भारत का पहला नाटककार माना है। इसके अतिरिक्त अश्वघोष ने दो नाटक और लिखे थे, जिनके नाम थे: 'राष्ट्रपाल' और 'शारिपुत्र'।

अश्वघोष के 'उर्वशीवियोग' के सम्बन्ध में राहुल जी का कथन है (वोल्गा से गंगा, पृ० १९२, १९४३ ई०) कि "वह बहुत अच्छा खेला गया और एक से भी अधिक बार। साकेत के सभी संभ्रान्त नागरिकों ने उसे देखा। उन्हें कभी खयाल भी नहीं था कि अभिनय की कला इतनी पूर्ण, इतनी उच्च हो सकती है। अश्वघोष ने अन्तिम यवनिकापात के समय कई

बार दोहराया था कि 'मैंने सब कुछ यवन रंगमंच से लिया है'; किन्तु उसके नाटक इतने स्वभूमिज थे कि कोई उन पर किसी प्रकार के विदेशी प्रभाव की गन्ध भी नहीं पाता था।"

नाटक के क्षेत्र में अश्वघोष के प्रकाश में आते ही सारे भारत में उसकी ख्याति हो गई। कविताओं के रूप में वह पहले ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था, उसके नाटकों ने उसको और भी चमका दिया। किस कद्र उसको शीघ्र ही रंगमंच पर स्थान मिल गया और किस उत्सुकता से समाज ने उसको अपनाया, इस सम्बन्ध में राहुल जी का कथन है कि 'जिस तरह अश्वघोष के संस्कृत-प्राकृत गीत और कवितायें साकेत और कोशल की सीमा पार कर गये थे, उसके नाटक उससे भी दूर तक फैल गये। उज्जयिनी, दशपुर, सुप्पारक, भरुकच्छ, पाटलिपुत्र जैसे महानगरों में, जहाँ कि यवनों की संख्या और उनकी नाट्यशालायें थीं, उसके नाटक रंगमंच पर बहुत जल्द पहुँचे, और फिर सारे ही सामन्तों और व्यापारियों में वह बहुत प्रिय हुए।' (पृ० १९२-१९३)।

शारिपुत्रप्रकरण

अश्वघोष के 'शारिपुत्रप्रकरण' की खण्डित हस्तलिखित प्रति को मध्य एशिया के तुर्फान नामक स्थान से प्राप्त कर प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ० लूडर्स को है। यह प्रति ताड़पत्रों पर लिखी हुई थी और इसके साथ ही 'प्रबोधचन्द्रोदय' की शैली का तथा कोई अज्ञातनाम नाटक भी उन्हें प्राप्त हुआ। इन दोनों नाटकों के संबंध में कहा जाता है कि ये भी अश्वघोष के ही थे। इनकी शैली, इनका रचना-विधान और इनका प्राकृत प्रयोग, इसको एक ही ग्रंथकार की रचना सिद्ध करते हैं।

'शारिपुत्र' के इस जीवित अंश से यह तथ्य निकाला गया है कि वह नौ अंकों का एक प्रकरण था। 'मृच्छकटिक' की ही भाँति इसमें भी लुच्चे, लफंगे, विट, विदूषक, वेश्यायें, चोर, जुआरी और शराबी आदि अनेक प्रकार के पात्र हैं। इसका कथानक बौद्धधर्म से संबद्ध है। इसमें मौद्गल्यायन तथा शारिपुत्र को भगवान् तथागत दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लेते हैं। इसके

प्रमुख पात्रों में सोमदत्त, राजकुमार, दास, दासी, दुष्ट, विदूषक और गणिका आदि हैं।

इस नाटक को कीथ ने 'गणिका रूपक' (हेटेरा ड्रामा) कहा है। इस शैली के गणिका रूपकों का प्रौढ़ रूप 'मृच्छकटिक' में देखने को मिलता है।

'शारिपुत्रप्रकरण' के आरंभ में अश्वजित् से मिलने के बाद शारिपुत्र अपने मित्र विदूषक से बुद्ध के संबंध में बातचीत करता है। विदूषक उसको कहता है कि एक ब्राह्मण होने के नाते उसे बुद्ध जैसे क्षत्रिय से उपदेश ग्रहण नहीं करना चाहिए। किन्तु शारिपुत्र, विदूषक की बात को स्वीकार नहीं करता है और उसकी इस युक्ति को यह कह कर व्यर्थ साबित कर देता है कि 'जिस प्रकार जल से ताप शान्त होता है उसी प्रकार नीच जाति के वैश्य द्वारा भी दी गई औषधि बीमारी के लिए हितकर होती है।' तदनन्तर मौद्गल्यायन शारिपुत्र से मिलकर उसकी प्रसन्नता का कारण ज्ञात करता है। वह भी बुद्ध के व्यक्तित्व से प्रभावित है और वे दोनों बुद्ध के पास जाते हैं। बुद्ध उन दोनों को सत्कारपूर्वक शिष्य के रूप में स्वीकार करते हैं। बाद में शारिपुत्र और बुद्ध के दार्शनिक वार्तालाप के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटकीय संविधान

नाटकीय संविधानों की दृष्टि से यदि 'शारिपुत्रप्रकरण' की समीक्षा की जाय तो ज्ञात होता है कि उसका सारा रचना-विधान नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुकूल है। इसका नायक एक ब्राह्मण है, जो धीरप्रशान्त श्रेणी का है। इसकी नायिका एक वेश्या है, जिसका आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें अंकों का नाम नहीं है। इसमें बुद्ध के मुख से भरतवाक्य का प्रयोग कराया गया है। अन्तिम अंकों में विदूषक को निकाल दिया है, क्योंकि शारिपुत्र को बुद्धोपदेश ग्रहण करने के बाद फिर ऐसे सहचर की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसके दो नायक हैं, शारिपुत्र और मौद्गल्यायन। दोनों ही संस्कृत बोलते हैं। बुद्ध के दो अन्य शिष्य कौण्डिन्य और श्रमणक भी संस्कृतभाषी हैं। विदूषक के मुँह से प्राकृत का प्रयोग कराया

गया है। यह नाटक शृंगार-रसप्रधान है, किन्तु उसमें करुण और हास्य का भी सुन्दर समावेश है। भाषा सरल और जटिल, दोनों प्रकार की है। नाटक रंगमंच के उपयुक्त नहीं है।

शेष दो नाटक कृतियाँ

'शारिपुत्र' प्रकरण के साथ संलग्न दो नाटकों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन नाटकों के नाम और पूरे कथानक का पता नहीं चलता है। प्रथम नाटक में बुद्धि, कीर्ति, तथा धृति आदि पात्रों के साथ बुद्ध को भी उपस्थित किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि यह छाया नाटक था। इसके सभी पात्र संस्कृत में बोलते हैं।

दूसरे नाटक के नाम का भी पता नहीं चलता है। इसके पात्रों के नाम हैं मगधवती नामक वेश्या, कौमुदगन्ध नामक विदूषक, सोमदत्त, खल, धनंजय, दासी, शारिपुत्र और मौद्गल्यायन। सोमदत्त संभवतः इसका नायक है। नाटक की कथाभूमि एक जीर्ण उद्यान और वेश्या का घर है। इसके पात्र गाड़ी (प्रवहण) में चढ़कर जाते हैं। वेश्या, दासी और खल, ये तीनों पात्र प्राकृत में और शेष सभी संस्कृत में बोलते हैं।

इस दृष्टि से ज्ञात होता है कि अश्वघोष का यह नाटक भास के 'चारुदत्त' के आधार पर लिखा गया था, जिसकी सभी बातें 'मृच्छकटिक' से भी मिलती हैं।

सौन्दरानन्द

'सौन्दरानन्द' अश्वघोष का प्रथम महाकाव्य है। इसमें १८ सर्ग हैं। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित दो हस्तलिखित पोथियों के आधार पर महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने इस ग्रंथ को सर्वप्रथम 'बिब्लियोथिका इंडिका' में संपादित कर प्रकाशित कराया था। इस महाकाव्य में, अपने अग्रज तथागत बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर, विमातृज नन्द के अपनी पत्नी सुन्दरी और सांसारिक सम्बन्धों से विच्छिन्न हो कर प्रव्रज्या लेने की कथा वर्णित है।

महाकाव्य के प्रथम तीन सर्गों में सिद्धार्थ के जन्म से लेकर बुद्धत्व प्राप्त करके कपिलवस्तु आने तक का वर्णन किया गया है। चौथे सर्ग में नन्द और सुन्दरी के विवाह तथा उनकी गहरी अन्योन्यासक्ति और भिक्षाटन के लिए उसके द्वार पर आये बुद्ध के खाली हाथ लौट जाने का वर्णन है। पाँचवें सर्ग में नन्द पश्चात्ताप करता हुआ बुद्ध के पास जाता है। बुद्ध उनको बौद्धधर्म में दीक्षित कर लेते हैं। छठे सर्ग में पति-वियुक्ता सुन्दरी की व्यथा का वर्णन है। सातवें सर्ग में नन्द की अपनी नवोढा पत्नी के प्रति आसक्ति और उसके पास जाने की कमजोरियों को दिखाया गया है। आठवें और नवें सर्ग में एक सहवासी श्रमण द्वारा नन्द को उपदेश देने का वर्णन किया गया है। दसवें तथा ग्यारहवें सर्ग में नन्द की आसक्ति को दूर करने के उद्देश्य से बुद्ध उसको योगविद्या के बल पर आकाश मार्ग से उड़ाकर स्वर्ग में ले जाते हैं और वहाँ की अप्सराओं को देखकर नन्द अपना पत्नीवियोग भूल बैठता है। बुद्ध उसे अप्सराओं को प्राप्त करने के लिए तपस्या का मार्ग सुझाते हैं। बारहवें सर्ग में तपस्याविरत नन्द को एक भिक्षु बताता है कि सर्वत्र ही उसकी तपस्या के उद्देश्य की हँसी उड़ाई जा रही है। इसके बाद इसी सर्ग में उसका कामुक मन बुद्धत्व की ओर उन्मुख होता है। वह सब कुछ छोड़ कर बुद्ध की शरण में चला जाता है। उसके बाद तेरहवें सर्ग तक नन्द के प्रति बुद्ध की शिक्षायें वर्णित हैं। अन्तिम सत्रहवें और अठारहवें सर्ग में शान्तप्रकृतिस्थ और निर्मुक्त नन्द के समाधिस्थ स्वरूप को दिखाया गया है।

अपने महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' की पुष्पिका में अश्वघोष ने स्वयं ही कहा है कि उनका यह ग्रंथ स्वान्तःसुखाय न होकर सांसारिक विषयभोगों में डूबी हुई जनता का ध्यान बौद्धधर्मानुकूल मोक्षमार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए लिखा गया है। एक ऊँचा दार्शनिक होने के साथ ही वह प्रभावशाली कवि भी था, और अपने महाकाव्यों में उसने रुचिर कथागुणों का समावेश करने का यत्न किया है। उसकी कविता सरल और सुगम है। उसकी यह शैली 'रामायण' पर आधारित है।

बुद्ध और नन्द के चरित्रों का चित्रण करने में अश्वघोष ने अलंकृत काव्यशैली को अपनाया है। उसकी कविता में वाल्मीकि और भवभूति

की भाँति करुण रस का सुष्ठु विनिवेश है। नन्द के भिक्षु बन जाने पर उसकी पत्नी सुन्दरी का विलाप, गौतम के उद्यान में जाते समय पौर-जान-पदों तथा विशेष रूप से स्त्रियों की उत्सुकता, गौतम के गृहत्याग की रात्रि को वर्णित स्त्रियों के बीभत्स स्वरूप का चित्रण, गौतम को वन में छोड़कर छन्दक का एकाकी ही कपिलवस्तु को लौटना और गौतम के वियोग में पुरवासियों का विलाप—ऐसे करुणाजनक प्रसंग हैं, जिनको पढ़कर हृदय पसीज उठता है।

बुद्धचरित

इस महाकाव्य में गौतमबुद्ध का सर्वांगीण चरित निबद्ध किया गया है। प्रथम पाँच सर्गों में बुद्ध के जन्म से लेकर अभिनिष्क्रमण तक की कथा वर्णित है। छठे तथा सातवें सर्ग में बुद्ध तपोवन में प्रवेश करते हैं। आठवें सर्ग में बुद्ध के गृहत्याग पर यशोधरा का विलाप है। नवें सर्ग में सिद्धार्थ को खोज निकालने के लिए बड़ा यत्न किया जाता है। दसवें सर्ग में सिद्धार्थ का बुद्धत्व प्राप्त करके मगध जाने का वर्णन है। इसके बाद तीन सर्गों में सांसारिक मोह-बन्धनों की निन्दा और अन्तिम चौदहवें सर्ग में उनकी पूर्ण बुद्धत्व की अवस्था का वर्णन किया गया है। चौदहवें सर्ग के कुछ अंश से लेकर सत्रहवें सर्ग तक के अन्तिम प्रक्षिप्त अंश में बुद्ध का धर्मप्रचार, बुद्ध की शिक्षाएँ, बुद्ध के उपदेश, संघ का निर्माण और अशोक के समय तक बौद्धधर्म की स्थिति का वर्णन किया गया है।

'बुद्धचरित' महाकाव्य में २८ सर्ग थे। संप्रति वह संस्कृत में पूर्णतः उपलब्ध नहीं है। उसका जो रूप आज उपलब्ध है उसमें १७ ही सर्ग हैं और उनमें भी प्रथम १३ या १४ सर्ग ही प्रामाणिक माने जाते हैं। संप्रति जो १७ सर्गों का संस्करण प्राप्त है उसके अन्तिम चार सर्ग किसी अमृतानन्द (१९०० ई०) द्वारा जोड़े गये बताये जाते हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने चौदहवें सर्ग के मध्य तक इस ग्रन्थ को संपादित कर प्रकाशित करवाया है। उसका प्रथम सर्ग भी अधूरा ही है। इसका एक २८ सर्गों का हिन्दी संस्करण श्री सूर्यनारायण चौधरी ने भी तैयार किया है, जिसके चौदह सर्ग तक संस्कृत

के श्लोक भी दिये गये हैं। इस हिन्दी संस्करण का आधार जान्स्टन का अंग्रेजी संस्करण है।

'बुद्धचरित' को अब तक जीवित रखने का श्रेय चीनी और तिब्बती अनुवादों को है। धर्मरत्न नामक एक भारतीय बौद्ध भिक्षु ने ४१४–४२१ ई० के बीच उसका चीनी भाषान्तर किया था और ७०० ई० या ८०० ई० में मूल संस्कृत से उसका एक तिब्बती अनुवाद भी हुआ। ये दोनों अनुवाद अब तक वर्तमान हैं। इन दोनों भाषाओं के अनुवादों में उसके २८–२८ सर्ग मिलते हैं।

इस ग्रंथ के संबंध में ईत्सिंग (७०० ई०) ने लिखा है कि भारतवर्ष के पाँचों भागों और जावा, सुमात्रा तथा उनके आसपास के द्वीपों में 'बुद्ध-चरित' का पाठ तथा संगायन हुआ करता था।

कवित्व और प्रतिभा

अश्वघोष की जीवनी और उनकी कृतियों से जैसा कि हमें अवगत हो चुका है, उनकी प्रतिभा सार्वभौमिक थी। वे प्रधानतया दार्शनिक और उसके बाद कवि थे। इसलिए उनके, दर्शन तथा धर्म-विषयक ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके काव्य-नाटक आदि ग्रन्थों में भी उनकी इस दार्शनिक बुद्धि का प्रबल प्रभाव देखने को मिलता है। यही कारण है कि अश्वघोष के कवित्व को उनकी दार्शनिक चेतना से अलग करके नहीं पढ़ा जा सकता है।

विज्ञानवाद का सूक्ष्म, तर्कपूर्ण और गंभीर प्रतिपादक ग्रन्थ 'वज्रसूची' है। विज्ञानवाद के अनुसार यह संसार विज्ञान का विकार मात्र है। इस मूलभूत 'विज्ञान' को अश्वघोष ने 'भूततथता' शब्द से अभिहित किया है। अश्वघोष का यह 'भूततथता' उपनिषदों के अनात्मवाद से प्रभावित है। उसमें आस्तिक और नास्तिक द्विविध दर्शनों का अपूर्व समन्वय हुआ है। उपनिषदों के तत्त्व का दोहन करके अश्वघोष ने अपनी मेधा को पुष्ट बनाया और उसके बाद बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में विज्ञानवादी आचार्य-परम्परा के लिए एक सर्वथा नये मार्ग का निर्माण किया। भारतीय दर्शन की इस प्राचीनतम विज्ञानवादी विचारधारा का प्रथम स्वरूप उपनिषदों में प्रकट हुआ और उसका एक रूप

अश्वघोष ने तथा दूसरा रूप शंकर ने ग्रहण कर स्वतंत्र रूप से उनका विकास किया।

किन्तु अश्वघोष को निरा दार्शनिक मानना भी उचित नहीं है। यद्यपि उनके काव्यों में, जैसे 'बुद्धचरित' के नवम तथा द्वादश सर्गों में और 'सौन्दरनन्द' के अष्टादश सर्ग में, उनकी दार्शनिक प्रतिभा का दिग्दर्शन देखने को मिलता है, फिर भी उनके छलकते हुए कवि-हृदय का परिचय पाने के लिए भी उनके काव्यों में कुछ कम सामग्री उपलब्ध नहीं है। किन्तु अश्वघोष के कवित्व में सर्वत्र ही वैदिक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक विचारों का समन्वय है। इसके लिए 'बुद्धचरित' के प्रथम, चतुर्थ और नवम सर्ग द्रष्टव्य हैं।

अश्वघोष के कवित्व में कुछ ऐसे गुण हैं, जिनको खोजने की आवश्यकता नहीं, बल्कि वे स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। उनकी कविता के गुण हैं सरलता, मधुरता, लालित्य और समासरहित तथा श्लेषरहित सीधी-सादी शब्दावली का प्रयोग। उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक जैसे सरल अलंकारों का प्रयोग किया है। गौणतया शृंगार और प्रधानतया करुण और शान्त, इन तीन रसों का उन्होंने उपयोग किया है।

अश्वघोष को काव्य की थाती कालिदास से मिली थी। इसी हेतु जो सरलता कालिदास में है वही अश्वघोष में भी देखने को मिलती है। बल्कि कालिदास ने प्रकृति, प्रणय और शृंगार आदि के चित्रण में अपने कवित्व-कौशल को दिखाने का कुछ उद्योग भी किया है, अश्वघोष में वह बात भी नहीं है। कालिदास की ही भाँति काव्य को हृदय की मनोरंजनात्मक वस्तु समझते हुए उसमें पाण्डित्य भरने का यत्न नहीं किया। उपमा अलंकार के प्रयोग में कालिदास को सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है, अश्वघोष ने भी उपमा का सुन्दर प्रयोग किया है। 'बुद्धचरित' के तीसरे सर्ग में गीतनिबद्धकाननों (गीतैर्निबद्ध-काननानि) में भ्रमण करने के लिए जाते हुए सिद्धार्थ को देखनेवाली अप्सरायुक्त देवप्रासादों से झाँकती पुर-सुन्दरियों का वर्णन करते हुए अश्वघोष को लिखा है 'खिड़कियों से निकले हुए स्त्रियों के मुख-कमल, जो एक दूसरे के कुण्डलों को संक्षुब्ध कर रहे थे, ऐसे शोभायमान थे जैसे महलों में कमल लगे हों' :

'वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि,
परस्परायासितकुण्डलानि ।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपंकजानि
सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि ॥'

इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि नगर को पार करते हुए राजकुमार सिद्धार्थ ने जब एक ऐसे पुरुष को देखा, जिसके केश सफेद थे, हाथ में लाठी थी, भौंहों से आँखें ढकी थीं और अंग ढीले हो चुके थे, तो उस शुद्धबुद्धि सिद्धार्थ का हृदय 'जरा' शब्द को सुनकर उसी प्रकार उद्विग्न हुआ, जैसे समीप में महावज्र का शब्द सुनकर गाय की दशा होती है :

'श्रुत्वा जरां संविविजे महात्मा
महाशनेर्घोषमिवान्तिके गौः'

अश्वघोष, जैसा कि उनके विचारों से प्रकट है, समानता के पक्षपाती थे। उनका कर्म पर विश्वास था। उनकी मान्यता थी कि किसी भी श्रेष्ठ कार्य का सम्पादन करने के लिए न तो वयस् की आवश्यकता है और न उसमें वंश ही सहायक होता है। उन्होंने 'बुद्धचरित' में स्पष्ट कहा है कि वंश और वयस् किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता के प्रमाण नहीं हैं। संसार में कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थिति में श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है :

'तस्मात्प्रमाणं न वयो न वंशः
कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके ।'

इसी प्रकार 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' इस की अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' के दूसरे सर्ग में बौद्ध धर्म के अनुसार कितनी सुन्दर व्याख्या की है :

'सान्त्वं बभाषे न च नार्थवद्यत्
जजल्प तत्त्वं न च विप्रियं यत् ।
सान्त्वं ह्यतत्त्वं परुषं च तत्त्वं
ह्रियाशकन्नात्मन एव वक्तुम् ॥'

'उसने प्रिय कहा है और व्यर्थ नहीं, उसने सत्य कहा है और अप्रिय नहीं, क्योंकि प्रिय असत्य और कठोर सत्य स्वयं वह लाज के मारे अपने को भी न कह सका।'

कालिदास और अश्वघोष

कालिदास और अश्वघोष में कौन प्रथम हुआ, यह प्रश्न काफी विवादास्पद है और इसका विस्तार से उल्लेख करते हुए हमने यह माना है कि कालिदास पहले तथा अश्वघोष उसके बाद में हुए।

फिर भी इन दोनों विद्वानों के ग्रन्थों में बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और दोनों के ज्ञान एवं पांडित्य को प्रकट करने में जिन पर विचार करना आवश्यक है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि संपूर्ण संस्कृत वाङ्मय में कालिदास अपने ढंग के एक ही कवि हैं। यह बात असत्य भी नहीं है। किन्तु अपनी इस अद्वितीयता के बावजूद भी कालिदास के वैदिक और पौराणिक इतिहास-संबंधी ज्ञान की अपेक्षा अश्वघोष का ज्ञान बहुत ही सूक्ष्म है। वे वैदिक और पौराणिक विषयों के भंडार थे। धार्मिक दृष्टि से जहाँ हमें कालिदास की रचनाओं में चातुर्वर्ण्य की व्यापक पृष्ठ-भूमि का दर्शन होता है वहाँ अश्वघोष की रचनाओं में उससे भी अधिक व्यापक बौद्धधर्म की विश्वजनीन गंभीर नैतिकता का विश्लेषण देखने को मिलता है। कालिदास में कविकर्म की प्रौढता है और उनके काव्यों में लोकोत्तर प्रेम-भावना, मानव-जीवन के मनोरम चित्र और प्रकृति का सुन्दर स्वरूप देखने को मिलता है। अश्वघोष के काव्य में ये सभी बातें हैं; किन्तु कालिदास जितनी ऊँची नहीं हैं। काव्य का कलापक्ष दोनों का शिथिल है। फिर भी अश्वघोष की कविता में जो नाद-सौन्दर्य और गेयात्मकता है, वह कालिदास में नहीं दिखाई देती है, यद्यपि इस दिशा में भी कालिदास की तुलना करने वाले बहुत ही कम कवि संस्कृत में हुए हैं। कालिदास की भाँति अश्वघोष की प्रतिभा भी चतुरस्त्र थी। उन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक और गीतिकाव्य, सभी विषयों के ग्रंथों का निर्माण किया।

कालिदास की इन विशेषताओं के साथ ही जब हमारा ध्यान अश्वघोष की विशेषताओं पर आकर्षित होता है तो हमें लगता है कि उनमें कालिदास से भी बढ़कर कुछ बातें थीं। वे कवि तो थे ही, इसके अतिरिक्त वे गंभीर विचारक, तर्कपुंगव, दार्शनिक और प्रौढ उपदेष्टा भी थे। इसीलिए अश्वघोष की कविता

में कालिदास की कविता की अपेक्षा आध्यात्मिकता बढ़कर है। इस दृष्टि से अश्वघोष की कविता में हमें जो गंभीरता दिखाई देती है वह कालिदास की कविता में नहीं है। भले ही इस आध्यात्मिक गंभीरता को कवित्व की दृष्टि से उतना न सराहा जाय; किन्तु पाण्डित्य की दृष्टि से उसका महत्त्व गौण नहीं है।

सांस्कृतिक पर्यवेक्षण की दृष्टि से यदि हम इन दोनों कवियों के ग्रंथों की तुलना करते हैं तो हमें लगता है कि कालिदास ने प्राचीन भारत की जिस स्वर्णिम संस्कृति का और उदात्त आदर्शों का वर्णन अपने काव्यों में किया है, अश्वघोष ने भी किया है; किन्तु जहाँ अश्वघोष एक धार्मिक बागडोर में बँधे हुए एकांगी रूप को हमारे सामने रखते हैं वहाँ कालिदास की व्यापक दृष्टि सर्वांगीण चित्रण को लेकर प्रस्तुत होती है। अश्वघोष का उद्देश्य काव्य, नाटक आदि लिखने का था; किन्तु उसके मूल में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार की भावना का भी समावेश था। इसलिये अश्वघोष ने संस्कृति तथा समाज से आध्यात्मिकता को अलग नहीं किया। कालिदास के ग्रंथों में यह बात नहीं है। उन्होंने संस्कृति, इतिहास और सामाजिक जीवन के चित्रणों को अलग-अलग करके रखा। किन्तु अश्वघोष के इस सांस्कृतिक वर्णन में प्राचीन भारत के जिन ऐतिहासिक वृत्तों का संरक्षण हो सका, कालिदास के काव्यों में वैसा कम रूप में हुआ है। प्राचीन भारत के ऐतिहासिक तथ्यों को पौराणिक परम्परा के साथ समन्वय करके देखने वाले कवियों में अश्वघोष का श्रेष्ठ स्थान है।

कालिदास के सम्मुख काव्य-रचना का एक निश्चित आदर्श था और इसी उद्देश्य से उन्होंने श्रृंगार, करुण, वीर, आदि उत्कृष्ट काव्यरसों को अपनी कविता में उतारा। काव्य से मनोरंजनमात्र न तो कालिदास का उद्देश्य था और न अश्वघोष का। कालिदास ने भी पण्डितसमाज एवं कवि-जगत् के प्रति विनम्रतापूर्वक अपनी कृतियों के लिए क्षमायाचना की है और अश्वघोष ने भी। 'बुद्धचरित' के २८ वें सर्ग के अन्त में अश्वघोष ने लिखा है कि 'अपना यह काव्य मैंने मुनिश्रेष्ठ के प्रति सम्मान प्रकट करने और शास्त्रानुसार मनुष्यों के हितार्थ लिखा है, न कि विद्वत्ता या काव्यकौशल दिखलाने के

लिए ।' इसी प्रकार 'सौन्दरानन्द' के १८वें सर्ग की पुष्पिका में अपने इस ग्रन्थ के निर्माण का उद्देश्य प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है 'यह कृति आध्यात्मिक शांति देने के उद्देश्य से लिखी गई है, न कि मनोरंजन के लिए। काव्यकर्म की दृष्टि से जो कुछ सरस भी मैंने यहाँ कहा है वह केवल कटु औषधि को पीने के योग्य बनाने के लिए मधु मिलाने के समान है ।'

(३) भारवि

जीवनी

महाकवि भारवि का जीवनवृत्त बहुत दिनों तक जिज्ञासा का विषय बना हुआ था। उसके संबंध में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ समाज में प्रचलित रहती आयी हैं। एक किवदन्ती के अनुसार कहा जाता है कि वे राजा भोज के समकालीन थे। उनके संबंध में यह भी प्रवाद है कि ससुराल में रह कर बहुत दिनों तक वे गाय चराते रहे। इस दन्तकथा के अनुसार कहा जाता है कि वे धारा नगरी (वर्तमान धार मध्यप्रदेश) के निवासी थे। उनके पिता का नाम श्रीधर और माता का नाम सुशीला था। उनका विवाह भृगुकच्छ (वर्तमान भड़ौंच) के निवासी चन्द्रकीर्ति नामक व्यक्ति की गुणवती कन्या रसिकवती या रसिका के साथ सम्पन्न हुआ था।

इसी प्रसंग में आगे कहा जाता है कि भारवि के पिता विख्यात वैयाकरण और साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। भारवि अपने पिता से भी बढ़कर विद्वान् हुए। अपनी इस असाधारण विद्वत्ता के अभिमान में उनका स्वभाव बड़ा उद्धत हो गया था। पिता के बहुत समझाने-बुझाने पर भी उनके अभिमान में किसी प्रकार की कमी न हुई। इस पर पिता ने पग-पग पर भारवि का अपमान करना तथा समाज में उनको नीचा दिखाना आरंभ किया। इस पर भारवि ने अपने पिता को मार डालने की योजना बनाई; किन्तु कुछ दिनों बाद पिता के उद्देश्य का वास्तविक रहस्य समझ जाने पर भारवि उनके पैरों में गिर पड़े और उनकी अनुज्ञा लेकर अपने कुकर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिए वह छह मास तक ससुराल में रहकर गाय चराने के लिए चल दिए।

कहा जाता है कि अपने महाकाव्य का आरंभ भारवि ने इसी समय वन में गाय चराते हुए किया था। किन्तु बहुत दिनों तक ससुराल में रह जाने के कारण उनका अनादर होने लगा था। इस पर उनकी पत्नी को बड़ा दुःख हुआ। एक बार अपनी पत्नी के अर्थकष्ट को देखकर भारवि ने उसको अपने काव्य का श्लोकार्ध गिरवी रखने के लिये दिया, क्योंकि इसी श्लोकार्ध तक वे 'किरातार्जुनीय' की रचना कर सके थे। श्लोकार्ध था :

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकपरमापदां पदम्।'

इस श्लोकार्ध को लेकर रसिकवती, वर्धमान सेठ की पत्नी के पास गई और वहाँ से कुछ धन ले आई। सेठ वर्धमान को परदेश गये पंद्रह वर्ष हो रहे थे। इस बीच उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दे दिया था। सेठ की पतिव्रता पत्नी ने उस श्लोकार्ध को अपने मन की शान्ति के लिए एक सुन्दर पट्ट पर लिख कर उसे अपने सिरहाने लटका दिया था। कुछ दिनों बाद जब सेठ घर आया तो पत्नी के साथ एक नवयुवक को सोया देखकर उसके मन में ज्यों ही पत्नी की हत्या करने का प्रतिशोध उठ खड़ा हुआ, त्यों ही उसकी दृष्टि उस श्लोकार्ध पर पड़ी। उसको देखते ही वह रुक गया। इतने में ही पत्नी भी जाग गई और उसने अपने पति को उस श्लोकार्ध और अपने युवा पुत्र की सारी कहानी सुनाई। दूसरे दिन सेठ वर्धमान भारवि के पास गया और आग्रहपूर्वक उनसे श्लोकार्ध का दूसरा चरण प्राप्त कर बदले में बहुत-सा धन दिया। पूरा श्लोक इस प्रकार है :

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥'

अर्थात् 'बिना सोच-विचार किए किसी कार्य को नहीं करना चाहिए। अविवेक से किया हुआ कार्य विपदाओं का कारण होता है; क्योंकि गुणों पर अपने-आप को समर्पण करने वाली सम्पदायें विवेकशील पुरुष को स्वयमेव वरण करती हैं।'

इस दन्तकथा में जो भी तथ्य हो, कहा नहीं जा सकता है; किन्तु इतना निश्चित है कि वह सर्वथा कल्पित नहीं है।

भारवि कहाँ पैदा हुए, इस संबंध में भी अनेक मत हैं। कुछ उन्हें उत्तर प्रदेश का, कुछ मध्य प्रदेश का और कुछ दक्षिण भारत का सिद्ध करते हैं। ये मान्यतायें 'किरातार्जुनीय' के भौगोलिक वृत्तों पर स्थिर की गई हैं। पाँचवें सर्ग में भारवि ने हिमालय और विशेष-रूप से कैलाश का वर्णन किया है। छठे सर्ग में उन्होंने इन्द्रकील पर्वत का विशद चित्रण प्रस्तुत किया है। यह इंद्रकील पर्वत आज भी सिक्किम के समीप हिमालय का एक अंश माना जाता है और साथ ही भारवि के वर्णनानुसार इस पर्वत के निकट ही किरातों तथा आदिवासी लोगों की बस्तियाँ आज भी पाई जाती हैं। इस क्षेत्र के संबंध में भारवि ने जो अन्य वृत्तान्त दिए हैं उनके अस्तित्व की प्रामाणिकता आज भी सिद्ध होती है। इस आधार पर यह कहा जाता है कि भारवि उत्तर भारत के उत्तरापथ के निवासी थे।

इस मन्तव्य के विरुद्ध और भारवि के दाक्षिणात्य होने के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि अनेक शताब्दियों बाद तक उत्तर भारत का सामान्य संस्कृत समाज भारवि तथा उनके 'किरातार्जुनीय' के संबंध में अपरिचित रहा। इसके अतिरिक्त यदि हम भारवि के उक्त वर्णनों के अनुसार उन्हें उत्तर भारत का मानते हैं तो संस्कृत के अनेक ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में बृहत्तर भारत के जो भौगोलिक वृत्त दिए हैं उनके आधार पर उन्हें किस अंचल का माना जाना चाहिए ? इसलिए यह मानना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि भारवि का जन्म दक्षिण में हुआ और इसीलिए बहुत प्राचीन समय से ही दक्षिण-वासी सामान्य संस्कृतज्ञ समाज को भारवि के तथा उनके महाकाव्य के संबंध में जानकारी प्राप्त थी; और उन्हीं के द्वारा यातायात के साधनों के सुलभ हो जाने के बाद भारत के दूसरे अंचलों में भारवि तथा उनके कृतित्व का सन्देश पहुँचा। उनके दाक्षिणात्य होने के समर्थन में 'किरातार्जुनीय' के अठारहवें सर्ग से एक श्लोक उद्धृत किया जाता है, जिसमें अर्जुन-शिव के द्वन्द्वयुद्ध के प्रसंग में 'अर्जुन के घूसों की तुलना', दक्षिण में अवस्थित, सह्याद्रि पर्वत के पादमूलों में लगने वाले समुद्र की बड़ी-बड़ी लहरों के थपेड़ों से की गई है। श्लोक है :

'उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतं ययुरर्जुनमुष्टयः।
भृशरया इति सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः॥'

इसलिए यह निश्चित है कि भारवि का जन्म दक्षिण में हुआ; किन्तु उन्होंने हिमालय, कैलाश तथा इन्द्रकील पर्वत का जो विशद वर्णन किया है उसका आधार न तो कल्पनामात्र है और न उसको केवल काव्यप्रयोजन का ही हेतु माना जा सकता है। भारवि का यह वर्णन उनके प्रत्यक्षदृष्ट अनुभव पर आधारित है। व्यास, कालिदास की भाँति भारवि ने वर्षों तक उत्तरखण्ड का भ्रमण किया और कुछ असंभव नहीं कि व्यास, कालिदास की भाँति उन्होंने भी अपने इस महाकाव्य का निर्माण वहीं बैठकर किया हो। प्राचीन काल में उत्तराखण्ड की यह भूमि ज्ञानतीर्थ के रूप में विश्रुत रही है और इसी तपःपूत भूमि में बैठकर अधिकतर महामना भारतीय विद्वानों ने अपनी कृतियों का निर्माण किया।

भारवि के जीवन-चरित के संबंध में एक नई सूचना प्राप्त हुई है। अनन्तशयन ग्रंथमाला (संख्या १७२, मद्रास १९५४ ई०) में प्रकाशित दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरी कथा' के प्रकाश में आ जाने से भारवि के जीवन पर एक नया प्रकाश पड़ता है। अब तक यह कहा जाता रहा है कि भारवि, दण्डी के पितामह दामोदर के मित्र थे; किन्तु 'अवन्तिसुंदरी कथा' में दण्डी ने जो आत्मवृत्त लिखा है उसके अनुसार दण्डी, भारवि के प्रपौत्र ठहरते हैं। इस कृति में लिखा हुआ है कि भारवि के पूर्वज गुजरात प्रदेश के अनन्तपुर नामक स्थान के निवासी थे। वहाँ से वे नासिक गये और तदनन्तर दक्षिण के अचलपुर (एचिलपुर) में आकर रहने लगे। इसी वंश में कौशिकगोत्रीय ब्राह्मण नारायण स्वामी का जन्म हुआ। वही भारवि के पिता थे। भारवि का वास्तविक नाम दामोदर था। भारवि के मध्यम पुत्र का नाम मनोरथ था। उसके चार पुत्र हुए, जिनमें सबसे छोटे का नाम वीरदत्त था। यही वीरदत्त, दण्डी के पिता थे।

'आतपत्र भारवि' उनकी उपाधि थी, जैसा कि उन्होंने 'किरातार्जुनीय' के एक श्लोक (५।३९) में स्वयं ही कहा है। उनके महाकाव्य से यह भी विदित होता है कि वे परम शैव थे। राजशेखर ने उज्जयिनी की किसी ब्रह्मसभा में कालिदास तथा भर्तृमेंठ आदि की भाँति, भारवि की भी काव्य-परीक्षा लिये जाने का उल्लेख किया है: 'श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा':

'इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥'

भारवि कलावादी कवि थे। वे पूर्ण पण्डित थे। शब्दों में अर्थ का गौरव भरने में वे निष्णात थे। उनका राजनीति-विषयक ज्ञान अपरिमित था। युधिष्ठिर के द्वारा, राजनीति के संबंध में कही गई बातें, उनकी प्रकाण्ड राजनीतिज्ञता का परिचय देती हैं। उसी प्रकार काव्यशास्त्र में भी उनकी पहुँच गहरी थी। इसीलिए शृङ्गार के कलापक्ष को उन्होंने उसी निपुणता एवं उतने ही विश्वास से स्पष्ट किया है, जैसा कि कालिदास ने शृङ्गार के भावपक्ष को।

स्थितिकाल

भारवि की जीवनी की भाँति उनके स्थितिकाल पर प्रकाश डालने वाले कोई भी अन्तरंग प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। वे कालिदास की कवित्व-प्रतिभा से प्रभावित थे और माघ (७०० ई०) पर उनका स्पष्ट प्रभाव था। अतः मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि वे कालिदास के बाद और माघ से पहले हुए। वामन तथा जयादित्य की 'काशिकावृत्ति' में 'किरातार्जुनीय' का उद्धरण होने के कारण भारवि का ७वीं शताब्दी से पहले होना निश्चित होता है। वे बाण (६५० ई०) के भी पूर्ववर्ती थे। संभवतः इसीलिए बाण ने अपने 'हर्षचरित' में उनका उल्लेख नहीं किया है; अथवा बाण के समय तक उन्हें उतनी प्रसिद्धि नहीं मिली थी।।

भारवि के स्थितिकाल पर प्रकाश डालने वाले दो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। उनमें एक तो ऐहोल से प्राप्त शिलालेख है और दूसरा पृथ्वीकोंकण का दानपत्र।

दक्षिण में बीजापुर जिले के अन्तर्गत ऐहोल नामक स्थान से एक शिला-लेख प्राप्त हुआ है, जिसकी रचना जैनकवि रविकीर्ति ने की थी। यह जैनकवि चालुक्यनरेश पुलकेशी द्वितीय का आश्रित था। इस अभिलेख की प्रशस्ति में लिखा है कि उसका लेखक और तीनों लोकों का गुरु इस जिन मन्दिर का निर्माण करने वाला स्वयं रविकीर्ति है। इस मन्दिर का निर्माण महाभारत युद्ध के ५७७५ वर्ष व्यतीत होने पर ५५६ शक (६३४ ई०) में हुआ।

इस प्रशस्ति में रविकीर्ति ने अपने आश्रयदाता चालुक्यनरेश पुलकेशी द्वितीय की तथा उसके वंशजों की बड़ी प्रशंसा की है और अन्त में लिखा है 'जिस विद्वान् एवं विवेकी रविकीर्ति ने इस जिन मन्दिर के निर्माण का आयोजन किया वह कवित्व के क्षेत्र में कालिदास और भारवि के समान यशस्वी है :'

'येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥'

इस दृष्टि से यह विदित होता है कि सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारवि अच्छी प्रसिद्धि पा चुके थे ।

भारवि के स्थितिकाल का परिचायक एक दानपत्र उपलब्ध हुआ है, जो दक्षिण भारत के किसी पृथ्वीकोंगणि या पृथ्वीकोंकण राजा का है । उस राजा ने अपने जैन धर्मानुराग के कारण श्रीपुर नामक नगर के उत्तर में विद्यमान एक जिन मन्दिर की सेवा-पूजा के व्यय के लिए कोई गाँव दान में दिया था । उसका उल्लेख इस दानपत्र में किया गया है । यह दानपत्र मान्यपुर नामक नगर में लिखा गया था, जिसका समय ६९८ शक इस प्रकार दिया हुआ है : 'अष्टानवत्युत्तरशतेषु शकवर्षेष्वावर्तितेषु ।' इस दानपत्र की भाषा गद्य-पद्य-मिश्रित है । इस दानपत्र में राजा पृथ्वीकोंगणि के वंशजों का प्रशस्तिगान करते हुए लिखा गया है कि अविनीत नामक राजा का पुत्र दुर्विनीत हुआ । वह बड़ा विद्वान् था । उसने भारवि के 'किराता-र्जुनीय' के पंद्रहवें सर्ग की टीका लिखी थी 'किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गादिकोङ्कारो दुर्विनीतनामधेयः' । उक्त दानपत्र में आगे लिखा हुआ है कि राजा दुर्विनीत की सातवीं पीढ़ी के बाद उसी वंश में राजा पृथ्वीकोंगणि हुआ ।

जैसा कि बताया जा चुका है, उक्त दानपत्र ६९८ शक अर्थात् ७७६ ई० में लिखा गया । यदि प्रति पीढ़ी के लिए हम २० या २५ वर्ष का समय देते हैं तो राजा पृथ्वीकोंगणि से सात पीढ़ी पूर्व के लिए १४० या १७५ वर्ष कम हो जाते हैं; और इस दृष्टि से राजा दुर्विनीत का समय ६०० या ६३५ ई० के लगभग बैठता है, जो कि उचित है ।

इस दानपत्र के आधार पर भी यही ज्ञात होता है कि भारवि छठी शताब्दी के अन्त में या सातवीं शताब्दी के आरंभ में हुए।

दण्डी की 'अवन्तिसुंदरी-कथा' भी इसका समर्थन करती है। उसमें लिखा है कि भारवि, पुलकेशी द्वितीय के छोटे भाई युवराज विष्णुवर्धन की राजसभा में रहा। उसके बाद वह पश्चिम के शुंगवंशीय राजा दुर्विनीत के आश्रय में रहा 'यतः कौशिककुमारो (दामोदरः) महाशैवं महाप्रभावं गवां प्रभवं प्रदीप्त-भासं भारविं रविमिवेन्दुरनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमबध्नात्'। इस उल्लेख का विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारवि, दण्डी के प्रपितामह न होकर उनके प्रपितामह दामोदर से भिन्न थे, क्योंकि उक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि भारवि की सहायता से दामोदर, विष्णु-वर्धन की सभा में प्रविष्ट हुए थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारवि, चालुक्यवंशीय राजा पुलकेशी द्वितीय के राजपंडित न होकर उनके अनुज राजा विष्णुवर्धन के राजकवि थे। विष्णुवर्धन का समय ६१५ ई० है।

अतः भारवि का स्थितिकाल छठी शताब्दी के अन्त में या सातवीं शताब्दी के आरंभ में बैठता है।

किरातार्जुनीय

भारवि की प्रतिभा का एकमात्र आधारस्तंभ 'किरातार्जुनीय' है। इसमें १८ सर्ग हैं। इसकी कथा का मूल आधार 'महाभारत' का वनपर्व है।

महाकाव्य के पहले और दूसरे सर्ग में द्यूतक्रीड़ा में पराजित पाण्डवों को द्वैतवन में दिखाया गया है। वहाँ युधिष्ठिर को वनचर नामक अपने एक गुप्तचर से यह ज्ञात होता है कि दुर्योधन, पाण्डवों से विजित पृथ्वी को, अपनी नीति से सदा के लिए स्वायत्त कर लेने की चेष्टा में है। इस पर भीम और द्रौपदी, कायर कह कर युधिष्ठिर की भर्त्सना करके उन्हें युद्ध के लिए उत्तोजित करते हैं। किन्तु युधिष्ठिर उनकी बातों से विचलित न होकर उन्हें उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने तथा प्रतिज्ञाबद्ध रहने के लिये कहते हैं। इतने ही में वहाँ व्यास आते हैं। तीसरे सर्ग में महर्षि व्यास के परामर्श से अर्जुन पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर जाते हैं। चौथे से लेकर

बारहवें सर्ग तक अर्जुन की घोर तपस्या; इन्द्र द्वारा उसके व्रतभंग करने के विभिन्न उपायों, प्रसन्न इन्द्र द्वारा अर्जुन को उपदेश देने और अन्त में मायावी दैत्य से अर्जुन की रक्षा करने के लिए भगवान् शङ्कर का किरात रूप धारण करने का वर्णन है। तेरहवें से पन्द्रहवें सर्ग की कथा में किरात तथा अर्जुन दोनों का मयावी सूअर पर बाण छोड़ना और दोनों का पारस्परिक शस्त्रास्त्र युद्ध तथा मल्लयुद्ध वर्णित है। अन्त के तीन सर्गों में अर्जुन की वीरता और उसके कठिन तप पर प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर प्रकट होते हैं और उसको इस आशीर्वाद के साथ कि 'जाओ, अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो' उनसे अर्जुन को पाशुपत-अस्त्र प्राप्त होते हैं। अर्जुन उन्हें लेकर घर आता है और उसके द्वारा युधिष्ठिर को प्रणाम करने के साथ ही महाकाव्य का कथानक समाप्त हो जाता है।

चरित्रचित्रण

भारवि के कवित्व में संयम और मर्यादा है। 'किरातार्जुनीय' के प्रायः सभी पात्रों का चरित्र उनकी लोकविश्रुति के कारण स्पष्ट-सा है। फिर भी भारवि की लेखनी ने कुछ ऐसे पात्रों को भी सर्वथा निर्दोष सिद्ध कर दिया है, जिन्होंने मर्यादा और नैतिकता को कुछ अवसरों पर बिल्कुल भुला दिया था।

'किरातार्जुनीय' की कथा का एकमात्र उद्देश्य शत्रुप्रतिशोध है। इसलिए स्वभावतः वह वीररसप्रधान है। काव्यशास्त्र में वर्णित महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार वर्णन, नायक, पात्रों का चरित्र, रस-वर्णन-विविधता और फल आदि के संबंध में जो बातें कही गई हैं उनको मल्लिनाथ ने 'किरातार्जुनीय' के संबंध में एक ही श्लोक में कह दिया है। अपने उस श्लोक में टीकाकार मल्लिनाथ ने 'किरातार्जुनीय' के पात्रों का चरित्रचित्रण इस प्रकार किया है :

'नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजः
तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
श्रृंगारादिरसोऽयमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥

अर्थात् 'किरातार्जुनीय' नायक मध्यम पाण्डव अर्जुन हैं जो भगवान् नारायण के अंशभूत नर के अवतार माने जाते हैं। उनके दिव्य किरात रूप के उत्कर्ष की ही कथा इस ग्रंथ में कही गई है। इसका प्रधान रस वीर

और अन्य शृङ्गारादि रस अंगभूत हैं। उसमें पर्वत, नदी, नद आदि का अनेक प्रकार से वर्णन हुआ है और उसके उद्देश्य की सिद्धि दिव्यास्त्रलाभ में है।

'किरातार्जुनीय' के यद्यपि सभी पात्र 'महाभारत' के हैं; किन्तु अपने कौशल से भारवि ने उनके चरित्रों में जिन विशेषताओं का समावेश किया है उसके कारण वे 'महाभारत' की अपेक्षा अधिक सजीव हो उठे हैं। ऐसा कहने का यह आशय नहीं है कि भारवि उन व्यास से भी बढ़कर कवि हुए, जो ज्ञानपुंज थे और जिन्होंने अपनी आँखों से देखी घटना को अपनी लेखनी से उतारा था; किन्तु जहाँ तक कल्पना-शक्ति का प्रश्न है, भारवि के पात्र निश्चित ही अधिक प्राणवन्त लगते हैं। उनमें स्वाभाविकता की भावना का प्राबल्य और बुद्धिवादी योग्यता की क्षमता है। द्रौपदी के चरित्र में जो तेजस्विता, अर्जुन के चरित्र में जो शौर्य, सहनशीलता, कष्टसहिष्णुता तथा एकाग्रता है वह 'महाभारत' के पात्रों में नहीं है। इसी प्रकार युधिष्ठिर और भीम के संवादों में युधिष्ठिर की जो न्यायपरायणता और विवेकबुद्धि का पता चलता है, तथा भीम के भीतर जो जोश और प्रतिक्रिया की भावना का जोर मालूम होता है, वह भारवि की अपनी देन है।

पद्य की लेखनशैली के सम्बन्ध में भारवि के विचार

जिस प्रकार सुबन्धु और बाण ने गद्य की श्रेष्ठ लेखनशैली के सम्बन्ध में कुछ नियम निर्धारित किए हैं, उसी प्रकार भारवि ने भी पद्य की श्रेष्ठ लेखन-शैली के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट विधियों का निर्देश किया है। 'किराता-र्जुनीय' के चौदहवें सर्ग में श्रीकृष्ण के मुँह से उन्होंने कहलाया है :

'विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥'

अर्थात् विविक्त वर्णरूपी आभरणों से अलंकृत, श्रुतिमधुर, अपने विरोधियों तक को आनन्दविभोर कर देने वाली, सहज प्रसादगुण से युक्त और गंभीर अर्थों तथा पदों से समलंकृत वाणी या पत्नी, अपूर्व पुण्यकर्मों के न करने वालों को मिल ही नहीं सकती है।

इस दृष्टि से जब हम भारवि की कविता की समीक्षा करते हैं तो हम पाते हैं कि उन्होंने कर्णकटु, दीर्घसमासयुक्त पदावली, अप्रचलित व्याकरण

और शब्दाडम्बरों को अपनी कविता में नहीं आने दिया है। कविता के लिए भारवि ने लोकरुचि को ध्यान में रखते हुए यह यत्न किया है कि उसमें न तो अर्थगंभीरता का ही समावेश है और न उसका एकमात्र उद्देश्य शब्दाडम्बर ही है। उसको तो ऐसा होना चाहिए, जिसमें समान शब्दार्थ सन्निविष्ट हो और जो सर्वसाधारण को मनोहर लगे :

'स्तुवन्ति गुर्वीमविधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभा सर्वमनोहरा गिरः॥'

अर्थात् कुछ लोग काव्य में अर्थसंपदा की प्रशंसा करते हैं, तो कुछ लोगों की दृष्टि उसके शाब्दिक सौन्दर्य पर निहित होती है। इस प्रकार प्रतिव्यक्ति के रुचिवैचित्र्य के कारण ऐसी कविता करना बहुत ही कठिन है, जो सबका एक समान मनोरंजन कर सके और जो शब्द-अर्थ, दोनों से समलंकृत हो।' कविता के लिए भारवि का यह दृष्टिकोण कि उसको लोकरुचि के अनुरूप ढालने के लिए उसमें समान शब्दार्थ का सन्निवेश होना आवश्यक है, हमें दूसरे सर्ग में भीम-युधिष्ठिर के इस वार्तालाप से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें भीम के प्रति युधिष्ठिर कहते हैं :

'स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥'

अर्थात् 'तुम्हारी वाणी में पदों के द्वारा विशद अर्थ की विशेषता कहीं छिपी नहीं है, अर्थ की गंभीरता कहीं भी अस्वीकृत नहीं हुई है। इसी प्रकार तुम्हारे पदों तथा वाक्यों में पूर्वापर का संबंध सर्वथा युक्तिसंगत है (अर्थात् तुम्हारे वाक्यों में कहीं भी अप्रासंगिक बातें नहीं आने पाई हैं)। वैसे भी किसी स्थान पर तुम्हारी प्रभावशाली वाणी में कहीं भी कोई शिथिलता नहीं आने पाई है।'

भारवि का यह श्लोक उनकी श्रेष्ठ पद्यशैली का परिचायक है। उन्होंने सर्वत्र ही गम्भीर अर्थ से संयुक्त मन को मनोहर लगने वाली भाषा का प्रयोग किया है 'मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम्' यही उनके अर्थ का गौरव है : 'भारवेरर्थगौरवम्।'

भारवि के पद्य में गद्य की सी स्वच्छन्दता एवं सरलता है। उनके वर्णनों में गद्य की भांति पद्य की शिल्पविधियों का सुष्ठु समावेश हुआ है। तीसरे सर्ग के आरंभिक तीन श्लोकों में भारवि ने भगवान् वेदव्यास का जो शब्दचित्र अंकित किया है उसको पढ़ते समय 'कादम्बरी' के भगवान् जाबालि का स्वरूप स्मरण हो आता है। भारवि ने लिखा है 'उसके बाद शरच्चन्द्र की भांति आनन्ददायी प्रभापुंज से प्रदीप्त श्यामवर्ण शरीर पर पीतवर्ण की जटा धारण करने के कारण बिजलीयुक्त मेघ की भांति, सभी आनन्दकर उपकरणों के सहित, अपने लोकोत्तर सौन्दर्य से अपरिचितों के हृदय में अपने व्यक्तित्व के उच्चभाव पैदा करने वाले, अपनी परम शान्त प्रकृति से अन्तःकरण की स्वच्छ एवं पवित्र भावनाओं को प्रकट करते हुए, भगवान् व्यास अपने अत्यन्त सौम्य, सहज, मधुर तथा विश्वसनीय परिचय से ही अपरिचित लोगों के मन में भी ऐसे भाव पैदा करते थे, मानों वे उनके साथ इससे पहले ही घुल-मिल चुके हों।'

कवित्व

भारवि के जीवन-चरित में संकेत किया जा चुका है कि उन्होंने शृंगार के कलापक्ष को अपनी कविता में चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है। उनकी शैली के प्रसंग में उनके इस अभिमत को भी प्रकट किया जा चुका है कि वे शब्द और अर्थ, दोनों में एक समान सौष्ठव भरने के पक्ष में नहीं रहे हैं। उनकी दृष्टि अर्थ-सौष्ठव पर थी। भारवि के संबंध में कृष्ण कवि ने लिखा है :

'प्रदेशवृत्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या ॥'

विशाल एवं महान् अर्थ से युक्त, रसभार से बोझिल सन्मार्ग को दिखाने वाली दीपशिखा की भांति भारवि की रमणीय कृति को भला कौन दूसरा कवि उपजीव्य नहीं बनायेगा ?'

भारवि के प्रति कृष्ण कवि का यह कथन उनके कवित्व के अनुरूप है। उनका 'किरातार्जुनीय' वीररसप्रधान महाकाव्य है। इस वीररस के प्रतिनिधि पात्र अर्जुन तथा भीम हैं। अर्जुन की वीरता का चित्रण करते हुए भारवि

ने लिखा है : 'अर्जुन तेजी से बाणों को नन्दी के सामने निकाल कर उसी भांति आया जैसे बड़े वेग से नदी के पानी को चीर कर मगर सतह के ऊपर उठ आता है। उसके बाद अर्जुन ने त्रिनेत्र शिव के सोने की शिला के समान दृढ़ और विशाल वक्ष पर दोनों हाथों से जोरों से प्रहार किया :

'उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।
गाण्डीवी कनकशिलातलं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः॥'

इस पद्य में अर्जुन की वीरता के उपयुक्त चित्रण के साथ ही नाद-सौन्दर्य है। स्वयमेव शब्द अपने अर्थ की गंभीर ध्वनि कर रहे हैं।

भारवि के संबंध में कहा गया है कि उन्होंने शृङ्गार के कलापक्ष को बड़ी योग्यता से अपनी कविता में उतारा है। इसके उदाहरण आठवें, नवें और दसवें सर्ग में अप्सराओं के वनविहार, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा तथा रतिकेलि देखने को मिलते हैं। इस प्रसंग में भारवि ने काव्यशास्त्र की दृष्टि से नायिका के अनेक भेदों का वर्णन किया है। खण्डिता नायिका का यह उदाहरण देखिए, जिसमें मानिनी स्वभाव का सजीव चित्र आंका गया है :

'प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिना।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम्॥'

'नायक फूल तोड़ कर नायिका को दे रहा है। फूल देते समय उसके मुँह से गलती से दूसरी नायिका का नाम निकल जाता है। इस पर नायिका समझती है कि वह उसके प्रिय की कनिष्ठा प्रिया है और इस पर मान कर बैठती है। किन्तु नायक के लिए मुंह से कुछ न कह कर वह आँखों में आँसू भर कर पैर के नाखून से जमीन खुरचने लगती है।'

जल में रतिकेलि का यह शृङ्गारमय वर्णन देखिये जिसमें 'जलविहार के समय किसी नायिका ने हाथ में पानी लेकर नायक पर उछालना चाहा। इसे देखकर नायक ने हँस कर उसका हाथ पकड़ लिया। नायक के स्पर्श के कारण नायिका का मन कामासक्त हो गया, जिससे उसका नीवी बन्धन ढीला हो गया; किन्तु पानी से सिमटी हुई करधनी ने उसके कंचुक को उसी प्रकार रोक लिया जैसे वह सखी के समान ठीक समय पर नायिका की सहायता कर रही हो' :

'विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनादचेतसः ।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम् ।'

प्रकृति की रम्य रूपराशि का प्राणवन्त स्वरूप भारवि के वर्णनों में सर्वत्र देखने को मिलता है। उन्होंने प्रकृति का सर्वांगीण पर्यवेक्षण किया है। उन्होंने कहीं उद्दीपन और कहीं आलम्बन के रूप में प्रकृति की सौम्य छटा को अंकित किया है चतुर्थ, पञ्चम और नवम सर्ग इसके प्रमाण हैं। उनका प्रकृति वर्णन कालिदास की टक्कर का है। ये यद्यपि सहज, सरल और आडम्बररहित हैं; फिर भी अनायास ही उनमें कलात्मकता तथा शिल्प का भी समावेश है। चौथे सर्ग के अन्त में शरद्‌ऋतु का वर्णन करते समय उन्होंने एक बड़ा ही सूक्ष्म चित्र दिया है। उन्होंने लिखा है :

'मृणालिनीनामनुरंजितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया ।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशंगितं द्रुतं धनुःखण्डमिवाद्रिविद्विषः ॥'

अर्थात् 'जल से पूरित जड़हन धान के खेतों की तलहटी में कमलिनीयों फैली हुई थी, जिसकी हरित आभा से जल भी हरा हो गया था। पके धानों की बालियाँ वायु के मन्द-मन्द झोंकों से हिल-डुल रही थीं, जिनकी पीत परछाईं उस निर्मल जल को पीतवर्ण बना रही थी। उस समय खेत का वह जल ऐसा दिखाई दे रहा था मानो इंद्र का धनुष ही गलकर पानी के रूप में नीचे बिछ गया हो।'

इस वर्णन में पानी में धान की बालियों की जिस पीतवर्णा परछाईं का भारवि ने उल्लेख किया है वह बड़ा ही सूक्ष्म एवं अनुभवजन्य है, जिसको देखे बिना लिखा नहीं जा सकता है।

इसी प्रकार पाँचवें सर्ग में हिमालय का वर्णन करते हुए भारवि ने लिखा है 'यह हिमालय अपने ऊँचे शिखरों पर गंगा जी को धारण किए है। पत्थरों की विशाल चट्टानों से गंगा की धारा अवरुद्ध हो जाने के कारण जब वह उनके ऊपर से होकर बहने लगती है तो उस समय, अनन्त जलकणों के ऊपर फौवारे की भांति, उस जलधारा के छूटने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह श्वेत चँवर धारण किए हो :

'विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभिः ।
दधतमुन्नतसानु समुद्धतां धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥'

भारवि ने सभी क्षेत्रों के अनुभव प्राप्त किए थे। वे नगरों में भी रहे और गाँवों तथा अरण्यों में भी। उन्होंने चौथे सर्ग में ग्रामीण ग्वालों के जिस स्वभाव और अपने गोधन के प्रति उनकी जिस निष्ठा का वर्णन किया है वह बड़ा ही सुन्दर है :

'गतान् पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रमं प्रेम वनेषु तेषाम् ।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे ॥'

अर्थात् 'गायों, बछड़ों तथा बैलों आदि पशुओं से भाई जैसा प्रेम रखने वाले और (उनके सहयोग से) जंगल में भी घर जैसा आनन्दानुभव करने वाले उन ग्वालों की सरलता तथा सेवा-भावना को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्होंने उन पशुओं की सहज सरलता को हू-बहू अपने जीवन में उतार लिया हो।'

भारवि के प्रकृति वर्णनों में ग्राम्यजीवन का बड़ा ही सौम्य रूप देखने को मिलता है। उन्होंने ग्राम्य-जीवन के बड़े अनुभव प्राप्त किये थे। गाँवों, ग्राम्य-कृषकों तथा लतागुल्मों के साथ आश्रमों, मुनियों और आश्रम-लताओं का यह तारम्य कितना सुंदर है, जो कि भारवि ने चौथे सर्ग में दर्शाया है : 'अर्जुन' ने उन ग्राम्य लतागुल्मों को देखा, जो अनवरत कार्य करने वाले, सत्यवादी, उद्यमी ग्रामवासियों से अधिष्ठित, मुनियों के आश्रमों के लता-मण्डपों के समान शोभाशाली एवं खिले हुए पुष्पों के समान हास करने वाली थीं' :

'जनैरुपग्राममनिंद्यकर्मभिर्विविक्तभावेङ्गितभूषणैर्वृताः ।
भृशं ददर्शाश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः स निवेशवीरुधः ॥'

इस प्रकार भारवि के वर्णनों में प्रकृति के विभिन्न रूपों का दर्शन होता है। उसमें दिन-रात, सूर्य-चन्द्र, प्रातः-सायं, जंगल, पहाड़, नदी, सरोवर, जलक्रीडा, वनविहार और ग्राम्य दृश्यों के मनोरम चित्र हैं।

माघ की भांति भारवि की कविता में भी पाण्डित्यप्रदर्शन तथा कला-प्रदर्शन की भावना की अधिकता है। 'किरातार्जुनीय' का समस्त पन्द्रहवाँ

सर्ग मानो इसी एकमात्र उद्देश्य के लिये लिखा गया हो। उसमें गोमूत्रिका-बन्ध, अर्धभ्रमक, सर्वतोभद्र, एकाक्षरपाद, एकाक्षरश्लोक, द्व्यक्षरश्लोक, निरौष्ठ्य समुद्गक, पादान्तादि यमक, पादादि यमक, प्रतिलोमानुलोमपाद, प्रतिलोमानुलोमार्द्ध आदि विकट चित्रबंधों के चित्रण में भारवि का कौशल तो अवश्य झलकता है; किन्तु ऐसे प्रसंगों में रस का अभाव है। भारवि के काव्यशिल्प का उदाहरण इस एकाक्षरबन्ध में देखा जा सकता है :

'न नोन नुन्नो नुन्नानो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥'

अलंकार योजना की दृष्टि से भारवि के पद्य बड़े ही सुन्दर हैं। उन्होंने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों, दोनों का आश्रय लिया है। विशेषतः अर्थालंकारों का और उनमें भी साधर्म्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, निदर्शना, यमक, श्लेष और प्रहेलिका आदि साधर्म्य-मूलक अलंकारों का प्रयोग किया है।

इसी प्रकार छन्दों के प्रयोग में भी भारवि कुशल थे। वंशस्थ उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द है और इसका उन्होंने इतने सुंदर ढंग से प्रयोग किया है कि क्षेमेन्द्र को अपने 'सुवृत्ततिलक' में कहना पड़ा :

'वृत्तच्छत्रस्य सा काऽपि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभाभारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता ॥'

वंशस्थ के अतिरिक्त भारवि ने इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी, स्वागता, उद्गता, पुष्पिताग्रा, औपच्छन्दसिक, अपरवक्त्रा, जलोद्धतगति, चन्द्रिका और मयूरमत्त जैसे प्रचलित और अप्रचलित छन्दों का प्रयोग किया है।

अलङ्कार-ग्रंथों के निर्देशानुसार 'किरातार्जुनीय' को महाकाव्य के साँचों में ढालने के लिए भारवि को कुछ अनचाहे प्रसङ्गों का भी समावेश करना पड़ा है। ऐसे प्रसंगों में रस, भाव और रमणीयता का अभाव है। ऐसे अस्वाभाविक स्थल अलग से ही अपना परिचय देते हैं। कदाचित् यही कारण है कि महाकाव्य के लक्षणों को पूरी तरह उतारने के कारण अथवा परंपरा का निर्वाह करने के कारण उसके कथाप्रवाह में भी बाधा उत्पन्न हो गई है।

इसीलिए एक छोटी सी बात सीधे ढंग से कहने की अपेक्षा उन्हें बहुत घुमा-फिरा कर कहनी पड़ी है। अर्जुन को लुभाने के लिए इन्द्र द्वारा भेजी गई अप्सराओं का प्रसंग ऐसा ही है। प्रकृतिवर्णन, ऋतुवर्णन और कालवर्णन आदि में भी कुछ ऐसे ही अरुचिकर प्रसंगों का समावेश हो गया है। पूरे पाँच सर्गों में किया गया युद्ध-वर्णन तो बहुत ही उबा देने वाला है।

इन सभी कमियों का एकमात्र कारण, एक छोटे से कथानक पर इतने बृहद् महाकाव्य को खड़ा कर देना है।

फिर भी उसमें काव्यगत विशेषताओं का अभाव नहीं है। भारवि के वर्णनों में सर्वत्र रसमयता है। एक छोटे से प्रसंग को लेकर उसे उन्होंने इतने विस्तार और गंभीरता से देखा है कि उसके संबंध में कुछ कहने को बाकी नहीं रह जाता है। स्वप्नावस्था की भाँति पाठक, भारवि के सुन्दर वर्णनों में खो जाता है और जब वह सारी परिधि का चक्कर लगाकर केन्द्रबिन्दु पर लौट आता है तब उसे ध्यान आता है। इसी प्रकार भारवि के अधिकतर वर्णन इतने गंभीर हैं, जिन पर पाठक को समझ कर विचार करना पड़ता है।

शब्द और अर्थ, दोनों की प्रकृति से भारवि पूर्ण परिचित थे। थोड़े से शब्दों में गंभीर एवं विशद भावों को प्रकट कर देना और एक ही भाव को अनेक भाँति के शब्दचित्रों में बाँधना उनके लिए सहज था। इसका कारण यह था कि भारवि की अनुभूतियाँ बड़ी व्यापक थीं और वे उनके अनुभवों पर आधारित थीं और अपने कवित्व कौशल से मनचाहे ढंग पर उन्हें रखना वे भली भाँति जानते थे। उनकी ये अनुभूतियाँ कुछ तो ज्ञाननिष्पन्न थीं और कुछ उनकी आपबीती पर आधारित थीं। ये अनुभूतियाँ ऊँचे आदर्शों को लेकर प्रकट हुई हैं जिनका विशद रूप, उनके काव्य में बिखरी हुई अनेक सूक्तियों में देखने को मिलता है।

भारवि राजनीतिज्ञ थे। किन्तु उनमें परिष्कृत कवि-हृदय था। इसलिए राजनीति-विषयक चर्चाओं में भी उनके कवित्व की छाप है; इसलिए वे भी रसयुक्त हैं। उनके प्रकृतिवर्णन जितने सजीव हैं, उनके संवादों में भी उतनी ही स्वाभाविकता है। दर्शन की गंभीरता से लेकर पशु-पक्षियों, राजाओं से सेनापतियों, कृषकों, ग्वालों, कृषकरमणियों आदि सभी के चित्र आँकने में

उन्होंने सफलता पाई है। उन्होंने प्रकृति के ऐसे दृश्यों का चित्रण किया है, जो बहुत ही स्वाभाविक हैं; और इसलिए हृदय पर गहरी छाप पड़ती है। भारवि को राजनीति, राजपरिषद्, विद्वत्परिषद् आदि की जानकारी के साथ-साथ वनचर किरातों के रहन-सहन की छोटी-छोटी बातों का भी पता था। मूलतः वे कवि थे; किन्तु शस्त्रों और शास्त्रों के भी वे पूर्ण पंडित थे।

भारवेरर्थगौरवम्

प्राचीनकाल से ही पण्डित-समाज में भारवि के अर्थगौरव को बड़े सम्मान से स्मरण किया गया है; किन्तु जैसा कि मल्लिनाथ ने कहा है कि नारिकेल फल के समान जब तक उसके कठोर वाह्यावरण को भेद कर उसके भीतर प्रवेश नहीं किया जाता तब तक भारवि की कविता का रसपान नहीं किया जाता, उचित है।

उसने कहा है :

'नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि यद् विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥'

अर्थात् 'जिस प्रकार ऊपर से कठोर आवरण में छिपे हुए नारिकेल फल को भेद कर ही उसके भीतर से रसग्रहण किया जाता है, ठीक उसी प्रकार भारवि की कविता के क्लिष्ट वाह्यावरण को लाँघ कर उसके भीतर प्रवेश करने पर ही रसिक लोग उसके गर्भस्थ रस का यथेप्सित पान करते हैं।'

नारिकेल रस के समान भारवि की कविता की यह अर्थ-गंभीरता कई रूपों में प्रकट हुई है। उनके विकट चित्रबन्धों में उनके काव्यशिल्प की उत्कृष्टता समाविष्ट है; किन्तु इससे भी बढ़ कर उनकी कविता में नीतिशास्त्र, व्यावहारिकता, धर्म, सदाचार आदि अनेक विषयों की गंभीर बातें देखने को मिलती हैं। उनके शब्दों, वाक्यों और पदों में सर्वत्र ऐसा गांभीर्य सन्निविष्ट है, जिसको समझने के लिए न केवल काव्य-कुशल होना ही पर्याप्त है; बल्कि पूर्ण पंडित होना आवश्यक है। उनके महाकाव्य का समग्र पन्द्रहवाँ सर्ग उनके उदात्त कविकर्म का परिचायक है।

शब्द और अर्थ, दोनों दृष्टियों से भारवि की कविता में सर्वत्र गंभीरता छिपी हुई है। एक-एक श्लोक के तीन-तीन अर्थ और एक ही वर्ण का पूरा

श्लोक, यह शब्दार्थ-संगम भारवि की कविता में पदे-पदे देखने को मिलता है। इस प्रकार की शब्दार्थ-गंभीर कविता को उस युग में पाण्डित्य का परिचायक समझा जाता था और इसलिए पाण्डित्यप्रदर्शन की यह भावना हमें संस्कृत के अधिकतर कवियों में देखने को मिलती है।

भारवि के वर्णनों में नादसौन्दर्य और आकृतिसौष्ठव है। उनकी शैली अभिव्यंजनापरक है, जो कि अपनी उदात्तता के कारण बड़ी प्रिय लगती है। इसमें अर्थ-रमणीयता के साथ-साथ शब्दों की सुडौलता भी है।

(४) भट्टि

जीवनी तथा स्थितिकाल

भट्टि के जीवनवृत्त से सम्बन्धित बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। संस्कृत के दूसरे ग्रन्थकारों की भाँति भट्टि ने इतनी उदारता दिखाने में भी संकोच किया है कि उनके माता-पिता तथा पत्नी का नाम क्या था। वे किस समय हुए, इस सम्बन्ध में भी विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। अपने महाकाव्य के अन्त में उन्होंने एक श्लोक दिया है, जिसका आशय है कि अपने 'भट्टिकाव्य' (रावणवध) की रचना उन्होंने वलभी के राजा श्रीधरसेन के राज्यकाल में की थी। प्रजा के कुशल-क्षेम में रत उस राजा की कीर्ति अधिक प्रसारित हो। श्लोक इस प्रकार है :

'काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां
श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम् ।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य
क्षेमकरः क्षिपतो यतः प्रजानाम् ॥'

इस श्लोक के आधार पर कुछ विद्वानों का कथन है कि भट्टि कवि, वलभी के राजा श्रीधरसेन के राज-पंडित और उनके राजकुमारों के गुरु थे। अपने ग्रन्थ 'भट्टिकाव्य' को उन्होंने, राजकुमारों को व्याकरण का व्यावहारिक ज्ञान कराने के लिए लिखा था। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। राजकुमारों को शिक्षा के लिए भट्टि के व्याकरणपरक

काव्यग्रन्थ की रचना का यह उद्देश्य इसलिए भी संभव कहा जा सकता है कि संस्कृत के दूसरे कवियों ने भी ऐसा किया है। दामोदर (१२वीं श०) ने भी अपने ग्रन्थ 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' के द्वारा कान्यकुब्जेश्वर गोविन्दचन्द्र के पुत्रों को तत्कालीन प्रचलित देशभाषा-कौशल अपभ्रंश के माध्यम से संस्कृत की शिक्षा दी थी। भट्टि ने संस्कृत के माध्यम से महाराष्ट्री प्राकृत का ज्ञान कराने के लिए, संभव है, यह ग्रन्थ लिखा हो। भट्टि के ही अनुकरण पर आगे भट्ट भौम ने 'रावणार्जुनीय' और वासुदेव ने 'वासुदेव चरित' नामक व्याकरण-परक काव्य-ग्रन्थों की रचना की, यद्यपि इन उत्तरवर्ती ग्रंथों की रचना का उद्देश्य किसी राजकुमार को देशभाषा या संस्कृत की शिक्षा दिलाना नहीं था।

फिर भी यह निश्चित-सा है कि भट्टि ने अपने ग्रंथ की रचना वलभी के श्रीधरसेन के राज्यकाल में की। इतिहास की पुस्तकों में वलभी में श्रीधरसेन के नाम से चार राजाओं का वर्तमान होना पाया जाता है। प्रथम श्रीधरसेन का राज्यकाल ५०० ई० के लगभग और अन्तिम चौथे श्रीधरसेन का राज्यकाल ६५० ई० के आसपास माना जाता है। इनमें से द्वितीय श्रीधरसेन के एक शिलालेख में किसी भट्टि नामक विद्वान् को भूमिदान करने का उल्लेख हुआ है। यह शिलालेख वलभी संवत् ३२६ का है। ३१८ ई० में वलभी संवत् का आरंभ हुआ था। इस संबंध में कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि उक्त अभिलेख में 'रावणवध' महाकाव्य के रचयिता भट्टि की ही ओर संकेत है या इस नाम का कोई दूसरा विद्वान् उस समय वर्तमान था। यदि उक्त संकेत इन्हीं भट्टि के लिए हुआ हो तो इनका स्थितिकाल, उक्त संवत् के अनुसार, सातवीं शताब्दी के मध्य में होना चाहिए।

'भट्टि' शब्द संस्कृत के 'भर्तृ' शब्द का प्राकृत रूप है। इस आधार पर कुछ विद्वानों में भर्तृहरि और भट्टि कवि को एक ही माना है। इन दोनों की एकता के लिए, उनका वैयाकरण होना भी प्रमाण माना गया है; किन्तु यह मत अब असत्य साबित हो चुका है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने मन्दसौर-प्रशस्ति के लेखक वत्सभट्टि को भट्टि कवि से अभिन्न माना है;

किन्तु उक्त प्रशस्ति के रचनाकाल के आधार पर और उसमें प्रयुक्त अवैयाकरण प्रयोगों को दृष्टि में रखकर दोनों को अभिन्न मानना युक्तिसंगत नहीं है।

रावणवध

इस महाकाव्य के २२ सर्गों में श्रीराम के जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की 'रामायण-कथा' को निबद्ध किया गया है। यह ग्रन्थ महाकाव्य होने के साथ-साथ व्याकरण और अलंकारशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने का भी उत्तम साधन है। इसका १३वाँ सर्ग इस रूप में लिखा गया है कि संस्कृत और प्राकृत दोनों रूपों में पढ़ा जा सके। उदाहरण के लिए इस पद्य में संस्कृत तथा महाराष्ट्री प्राकृत का एकसाथ प्रयोग दर्शनीय है :

'तुङ्ग-मणि-किरण-जालं गिरिजलसंघट्टबद्धगंभीररवम्।
चारुगुहाविवरसमं सुरपुरसममरचारणसुसंरावम्॥'

अर्थात् वह समुद्र उस अमरावती के समान प्रतीत हो रहा था, जहाँ गंधर्वों के गान हो रहे हों, उसमें अनेकों बड़ी-बड़ी मणियों की किरणों का पकाशजाल फैला हुआ था; और पर्वतों के द्वारा जल के टकराने से गंभीर ध्वनि वाली अनेक सुन्दर गुफाओं के छिद्रों की शालायें थीं।

यह पद्य संस्कृत और प्राकृत, दोनों रूपों में ऐसा ही रहेगा। यह त्रयोदश सर्ग इस प्रकार की अनूठे रचना-कौशल की दृष्टि से और समासान्त पदावली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस सर्ग का सेतुबन्धन, प्रवरसेन के महाकाव्य 'सेतुबन्ध' पर आधारित है। इस महाकाव्य का अपने लेखक के नाम से प्रचलित नाम 'भट्टिकाव्य' है। इसके २२ सर्गों को वैज्ञानिक ढंग से चार काण्डों में विभक्त किया गया है, जिनके नाम हैं : प्रकीर्णकाण्ड, अधिकारकाण्ड, प्रसन्नकाण्ड और तिङन्तकाण्ड।

प्रथम प्रकीर्णकाण्ड में पाँच सर्ग हैं। इन पाँच सर्गों में रामजन्म, राम-वन-गमन और सीता-हरण तक की कथा है। व्याकरण की दृष्टि से इन सर्गों में कोई उपक्रम नहीं है; किन्तु काव्यत्व की दृष्टि से इन्हें उत्कृष्ट कहा गया है।

द्वितीय अधिकारकाण्ड में छह से लेकर नौ तक चार सर्गों का समावेश है। इनमें व्याकरण के नियमों पर बड़ी उत्सुकता से विचार किया गया है।

तृतीय प्रसन्नकाण्ड में दस से लेकर तेरह तक चार सर्ग हैं। यह संपूर्ण काण्ड अलंकारशास्त्र से संबद्ध है।

चतुर्थ तिङन्तकाण्ड के अन्तर्गत महाकाव्य के अन्तिम नौ सर्ग निबद्ध है। इन नौ सर्गों में संस्कृत-व्याकरण के नौ लकारों का प्रतिपादन है।

कवित्व

भट्टि के महाकाव्य का उक्त संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के बाद सहज ही में उनके पांडित्य का पता लग जाता है। वे महाकवि होने के साथ-साथ अच्छे वैयाकरण और निपुण अलंकारशास्त्री भी हैं। उनके इस ग्रन्थ के अध्ययन से हमें यह भी ज्ञात होता है कि एक कवि के लिए शब्दार्थ का ज्ञान होना आवश्यक है। इस महाकाव्य का रसास्वादन वही कर सकता है जो वैयाकरण भी हो और आलंकारिक भी। भट्टि ने स्वयं ही कहा है:

> 'व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
> हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥'

'जो विद्वान् व्याकरण के ज्ञाता हैं उनके लिए यह ग्रन्थ दीपक की भांति है; किन्तु व्याकरणदृष्टि से रहित लोगों के लिए अन्धे के हाथ में दिए गये दर्पण के समान उसका कोई महत्त्व नहीं है':

> 'दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
> हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥'

भट्टि के अपने ग्रंथ के संबंध में ऐसा कहने का तात्पर्य कदापि भी यह नहीं है कि उनका यह ग्रंथ व्याकरण तथा अलङ्कारशास्त्र का ग्रंथ है। उनमें पांडित्य है; किन्तु साथ ही भरपूर कवि-हृदय भी है। उनके इस कविहृदय की परीक्षा तब होती है जब वे व्याकरण के शब्द-जंजाल से मुक्त होकर काव्य की धरती पर उतर आते हैं। इस दृष्टि से प्रथम चार सर्ग, दशम, द्वादश और त्रयोदश सर्ग पठनीय हैं। द्वितीय सर्ग का वनवर्णन, दशम सर्ग में शब्दालङ्कार तथा अर्थलङ्कार की सुन्दर छटा, एकादश सर्ग का प्रभात वर्णन, द्वादश सर्ग का उत्कृष्ट भावाभिव्यञ्जन और त्रयोदश सर्ग का भाषापाटव

भट्टि की कविता को परखने तथा उसके कवि-हृदय का परिचय पाने के लिए उपयुक्त स्थल हैं।

'भट्टिकाव्य' वीररसप्रधान रचना है; किन्तु अन्य रसों का भी उसमें प्रासंगिक रूप से वर्णन है। कुछ स्थलों पर तो प्रासंगिक रूप से चित्रित होने वाले शृंगार रस के उदाहरण बड़े उत्कृष्ट उतरे हैं। भट्टि का वीररस पर पूर्णाधिकार नहीं प्रतीत होता है। उनकी इस प्रकार की रचनाओं में वीररस का स्वाभाविक उद्रेक नहीं हुआ है। युद्ध-वर्णन के अनेक प्रसंगों को इस दृष्टि से पढ़कर प्रत्येक पाठक अनुमान लगा सकता है।

भट्टि का वर्णन-कौशल भी परिपक्व नहीं है। विभीषण के भाषण में कवि के राजनीति-ज्ञान का अवश्य आभास मिलता है; किन्तु उसमें कवित्व नहीं है। पाँचवें सर्ग में रावण की सभा में उपस्थित शूर्पणखा का भाषण अवश्य ही प्रभावशाली है। उससे हमें उसकी कुटिलबुद्धि और उसके कुलटा-स्वभाव का पूरी तरह परिचय मिल जाता है।

भट्टि का प्रकृति-वर्णन अवश्य ही प्रशंसनीय है। उसके प्रकृतिचित्रण में अलंकृति है। इस प्रसंग के कुछ श्लोक द्वितीय सर्ग में बड़े ही हृदयग्राही हैं। नदी के तट पर अवस्थित वृक्ष के लिए कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा कवि ने इस श्लोक में की है :

'निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः।
उपारुरोदेव नदत्पतङ्गः कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ॥'

अर्थात् 'प्रातःकाल का समय है; नदी तट पर अवस्थित वृक्ष के पत्तों से ओस की बूँदें गिर रही हैं, उस पेड़ पर बैठे पक्षी चहचहा रहे हैं। इस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो कुमुदिनी के प्रियतम चन्द्रमा के चले जाने से कुमुदिनी को अवसादग्रस्त देख कर, नदीतट का यह पेड़ रो रहा है।'

निस्तब्ध नदीतीर के प्रातःकालीन वृक्ष और अलसाई कुमुदिनी की अवस्था को कवि ने पाठक के मन पर बड़े प्रभावशाली ढंग से अङ्कित कर दिया है।

भट्टि ने शब्दचित्रों को अङ्कित करने की दिशा में यद्यपि प्रयत्न नहीं किया है; फिर भी कुछ स्थलों में बड़े ही मार्मिक भाव प्रकट हुये हैं। उदाहरण

के लिए दही मथती हुई गोपिकाओं के प्रति राम के मन में जो भाव उठे उनका कैसा शब्दचित्र इस श्लोक में अङ्कित हुआ है :

'विवृत्तपार्श्वं रुचिरांगहारं समुद्वहच्चारुनितम्बरम्यम्।
आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालं गोपांगनानृत्यमनन्दयत्तम्॥'

अर्थात् 'राम ने दही मथती हुई गोपियों के उस नृत्य को देखकर आनन्द प्राप्त किया जिसमें वे अपने अंग के दोनों पार्श्वों को दायें-बायें संचालित कर रही थीं; उनके वे संचालित अंग बड़े ही सुन्दर दिखाई दे रहे थे; उनके सुगठित नितम्ब दायें-बायें हिलने से बड़े रमणीय लग रहे थे; दही मथने से उत्थित धीर गंभीर शब्द उनके नृत्य की गति में ताल का काम कर रहा था'।

इस शब्दचित्र को उतारने में ही कवि की निपुणता नहीं है; बल्कि गोपियों के प्रति राम की इस श्रृङ्गारमयी प्रकृति का वर्णन करना भी एक अनूठी कल्पना है।

शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का समावेश करके भट्टि ने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर अच्छे हृदयानुग्राही भावों को भरा है। यह अलंकृति-गुण ही उनके कवित्व का मूल है। उपमा अलङ्कार का आश्रय लेकर सीता के स्वरूप की यह कल्पना भी सुन्दर है, जिसमें कहा गया है कि 'राजा जनक ने दशरथ के पुत्र राम के लिए, चलती-फिरती स्वर्ग साललता के समान सुन्दर, आकाश से गिरी हुई स्थिर बिजली का भाँति देदीप्यमान और चन्द्रकांति की साक्षात् अधिष्ठातृ देवी के समान आह्लाददायिनी सीता को दिया' :

'हिरण्मयी साललतेव जंगमा च्युता दिवः स्थास्नुरिवाचिरप्रभा।
शशांककान्तेरधिदेवताकृतिः सुता ददे तस्य सुताय मैथिली॥'

शरद्-सुषमा के वर्णन में उल्लिखित भट्टि का यह श्लोक एकावली अलङ्कार के उदाहरण के रूप में बहुत प्रसिद्ध है :

'न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद् यदलीनषट्पदम्'।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥'

अर्थात् 'इस सुहावनी शरद् ऋतु में सरोवर का कोई भी ऐसा जल प्रान्त नहीं है जहाँ सुन्दर कमल न खिले हों; ऐसा कोई भी कमल नहीं, जिसमें

भौंरे छिप कर न बैठे हों; ऐसा कोई भौंरा नहीं जो मधुर गुंजार न करता हो; और ऐसी कोई गुञ्जार नहीं जो मन को न हर लेती हो'।

भट्टि की शैली में कलात्मकता अधिक है, जो कि कालिदास के परवर्ती कवियों में विशेषरूप से पाई जाती है। भट्टि मूलतः वैयाकरण तथा आलंकारिक हैं। अपनी इसी मूल प्रवृत्ति को उन्होंने काव्यात्मक ढंग से रखकर अपने अनूठेपन का परिचय दिया है। महाकाव्यों में यमक अलंकार का एक सुन्दर उदाहरण इस श्लोक में देखा जा सकता है:

'न गजा नगजा दयिता दयिता विगतं विगतं ललितं ललितम्।
प्रमदा प्रमदामहता महता मरणं मरणं समयात् समयात्॥'

आग से जलती हुई लंका का वर्णन करते हुए कवि कहता है 'पर्वतों में उत्पन्न होने वाले इन प्यारे हाथियों की रक्षा कोई भी नहीं करता है। ये विशालकाय हाथी अग्नि में भस्म हो रहे हैं। पक्षियों की आनन्द क्रीड़ा अब समाप्त हो गई। सभी प्रिय वस्तुएँ अब पीड़ित दिखाई पड़ती हैं। स्त्रियों का मद भी नष्ट हो गया है और वे आम (रोग) से पीड़ित हैं। बिना युद्ध के ही बड़े-बड़े योद्धाओं का मरणकाल आ पहुँचा है।'

भट्टि की कविता में आडम्बर और कृत्रिमता का दोषारोपण किया जाता है। वह इसलिए कि उन्हें एक साथ व्याकरण के नियमों और काव्य की मौलिकता का समावेश करना पड़ा है। किन्तु उसमें काव्यगुणों का सर्वथा अभाव है, यह कहना उचित नहीं है। उसमें स्थल-स्थल पर काव्योचित सरसता, रोचकता और मधुरता विद्यमान है। उनके वस्तु-वर्णन में व्यंजना की प्रभावशाली छटा, संवादों की रोचकता और प्राकृतिक दृश्यों का मनोरम चित्रण उनकी काव्यात्मकता का मूल्यांकन करने के लिए यथेष्ट रूप से इस काव्य में सन्निविष्ट है। उनके काव्य में प्रबन्धतात्मक प्रौढ़ता की अवश्य कमी है; किन्तु उनकी प्रसाद-गुणोपेत भाषा उनके उत्कृष्ट कविकर्म की पहिचान है। इस क्षेत्र में कालिदास से लेकर भट्टि तक की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय हम डॉ० भोलाशंकर व्यास के शब्दों में इस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं: 'कालिदास रसवादी कवि हैं; तो भारवि कलावादी कवि; अश्वघोष दार्शनिक उपदेशवादी कवि हैं, तो भट्टि व्याकरणशास्त्रोपदेशी कवि।'

उनका यह व्याकरणनिष्ठ अन्तर ही उनके कविहृदय को स्वतंत्र गति से आगे नहीं बढ़ने देता है। यही कारण है कि उनकी शैली में सहज प्रवाह का अभाव है।

भट्टि ने अपने इस महाकाव्य में स्कन्धक छन्द का सुंदर प्रयोग किया है, जिस पर प्रवरसेन के 'सेतुबन्ध' का प्रभाव है। इसके अतिरिक्त अनुष्टुप्, उपजाति और मालिनी छन्द भी 'भट्टिकाव्य' में देखने को मिलते हैं।

अपने इस महाकाव्य में भट्टि ने व्याकरण-ज्ञान के साथ-साथ वाक्य के रसास्वादन का जो दुहरा उद्देश्य प्रचलित किया है उसके अनुकरण पर काश्मीर के कवि भट्ट भौम या भूमम (१० वीं श०) ने 'रावणार्जुनीय', हलायुध (१० वीं श०) ने 'कविरहस्य', जैनाचार्य हेमचन्द (१२ वीं श०) ने 'कुमारपालचरित', वासुदेव (१६ वीं० श०) ने 'वासुदेवचरित' और नारायण भट्ट (१६ वीं श०) ने 'धातुकाव्य' लिखे।

(५) माघ

जीवनी

महाकवियों की परम्परा में माघ का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। माघ की जीवनी पर विस्तार से प्रकाश डालने वाली सामग्री का अभाव है। अपने महाकाव्य में माघ ने अपने संबंध में केवल इतना ही कहा है कि उनके पिता का नाम दत्तक सर्वाश्रय और पितामह का नाम सुप्रभदेव था। अपने पितामह को उन्होंने इस श्लोक में :

'सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीधर्मनाभस्य बभूव राज्ञः।
असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनाम॥'

किसी धर्मनाभ नामक राजा का मंत्री बताया है। ये धर्मनाभ संभवतः गुजरात के वलभी राजवंश की परंपरा में हुए। माघ का जन्म समृद्ध ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनको श्रीमाली ब्राह्मण और राजस्थान के डूँरपुर (बांसवाड़ा) का निवासी बताया गया है; किन्तु इधर की खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि माघ का जन्म भीनमाल में हुआ था, जो कि किसी समय गुजरात के प्रमुख नगरों में गिना जाता था और जिस पर वलभी राजाओं का अधिकार

रहा है। ७वीं शताब्दी में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनत्सांग इस नगरी में गया था और उसने उसको उस युग के विख्यात विद्याकेन्द्रों के रूप में स्मरण किया है।

श्रीमाल का ही प्राचीन नाम भीनमाला था। यहीं माघ का जन्म हुआ था। श्रीमाल नगर और वहाँ के राजा वर्मलात के संबंध में प्रभाचन्द्र ने अपनी आत्मकथा 'प्रभावकचरित' में लिखा है :

'अस्ति गुर्जरदेशोऽन्यसज्जराजन्यदुर्जरः।
तत्र श्रीमालमित्यस्ति पुरं मुखमिव क्षितेः॥
तत्रास्ति हास्तिकाश्वीयापहस्तितरिपुव्रजः।
नृपः श्रीवर्मलातस्स शत्रुमर्मभिदाक्षमः॥'

यह श्रीमाल नगर गुजरात और राजस्थान के सीमान्तर पर अवस्थित है और संप्रति राजस्थान के अन्तर्गत माना जाता है। श्रीमाल के निवासी ब्राह्मणों को ही आजकल श्रीमाली कहा जाता है, जो कि गुजरात और राजस्थान, दोनों प्रदेशों में मिलते हैं।

इसी श्रीमाल नगर को 'शिशुपालवध' की कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के प्रत्येक सर्गान्त में भीनमाल के नाम से लिखा गया है 'इति श्रीभिन्नमालवास्तव्यदत्तकसूनोर्महावैयाकरणस्य माघस्य कृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये······।'

इसके अतिरिक्त माघ ने संपूर्ण चतुर्थ सर्ग रैवतक पर्वत पर ही लिख डाला है। यह रैवतक पर्वत गुजरात के अन्तर्गत है। उदयपुर से गिरनार (गुजरात) की ओर विस्तृत पर्वतश्रेणी ही रैवतक कहलाती है। संभवतः श्रीमाल या भीनमाल पहले गुजरात के अन्तर्गत रहा होगा।

रैवतक पर्वत के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि माघ का उससे कुछ विशिष्ट संबंध था। कहा जाता है कि माघ ने कृष्ण को अतिथि बनाकर, रैवतक पर्वत द्वारा उसका जो स्वागत-सत्कार कराया है, वह इस बात का प्रतीक है कि रैवतक पर्वत के निकट या मूल में अवस्थित किसी गाँव या नगर में माघ का विवाह हुआ था।

माघ के महाकाव्य को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि उनका जीवन बड़ी समृद्धावस्था में बीता। बाल्यकाल में इन्हें अच्छी शिक्षा मिली और इनके

जीवन पर इनके पिता के दानी स्वभाव का भी प्रभाव रहा। संभवतः माघ, भारवि की भांति किसी राज्य के आश्रित थे।

माघ के सम्बन्ध में मेरुतुंग (१३०६ ई०) की 'प्रबन्धचिन्तामणि' और बल्लालसेन (१६वीं श०) के 'भोजप्रबन्ध' में अनेक तरह की बातें कही गई हैं। 'भोजप्रबन्ध' में कहा गया है कि एक बार माघ अपने मित्र धारानरेश भोज के यहाँ आश्रय के लिए आये। राजा ने उनका बड़ा सत्कार किया और सम्मानपूर्वक उनको अपने यहाँ आश्रय दिया। माघ के सम्बन्ध में आगे कहा गया है कि ये बड़े दानी थे। एक बार उन्होंने अपना सर्वस्व दान में दे डाला था। अपनी इस विचित्रावस्था के फलस्वरूप माघ ने अपनी पत्नी के द्वारा 'कुमुदवनम्···श्रीमदम्भोजखण्डम्' आदि श्लोक को (जो कि उनके महाकाव्य के ११वें सर्ग का ६४वां श्लोक है) राजाभोज के समीप भेजा। राजा ने इस पद्य को सुन कर माघ की पत्नी को बहुत-सा धन दिया। उस धन को लेकर माघ की पत्नी जब अपने निवास की ओर जाने लगी तो मार्ग में दरिद्रों को देखकर उसका मन दया से अभिभूत हो गया। फलतः वह सारा धन उसने उन दरिद्रों में बाँट दिया। माघ के पास पहुँचने तक उसके पास कुछ न बचा, किन्तु याचकों का ताँता तब भी उसके पीछे लगा रहा। याचकों को देने के लिए कुछ भी उपाय न देखकर माघ ने अपने प्राण त्याग दिए। प्रातःकाल राजा भोज ने माघ का यथोचित अन्तिम संस्कार करवाया और माघ की पत्नी अपने पति के साथ सती हो गई।

माघ के सम्बन्ध में 'भोजप्रबन्ध' का यह विवरण कहाँ तक सही है, कहा नहीं जा सकता; किन्तु उनकी समृद्धावस्था और उनके दानी होने के सम्बन्ध में सन्देह नहीं है।

माघ के प्रामाणिक जीवनवृत्त को प्रकाश में लाने के लिए श्रीमाल नगरपालिका की योजना को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है। अधिशासी अधिकारी, नगरपालिका श्रीमाल (भीनमाल) की ओर से प्रकाशित एवं प्रचारित १७ अप्रैल, १९५८ के ११७। म्य। ५८ संख्यक एक परिपत्र से ज्ञात हुआ कि वहाँ की सरकार प्राचीन दस्तावेजों, विभिन्न पुस्तकालयों, वहाँ के संग्रहालयों में सुरक्षित तत्सम्बन्धी शिलालेखों,

दानपत्रों, मूर्तियों, सिक्कों, पुरातत्त्वावशेषों, हस्तलिखित ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों के आधार पर महाकवि माघ के सम्बन्ध में एक प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाशित करना चाहती है। इस पुस्तक में महाकवि माघ का जीवन-चरित, उनकी दानवीरता के संस्मरण, उनके समकालीन महाकवियों का संक्षिप्त परिचय, उनका साहित्य-सौरभ; शैली और तत्कालीन जनमानस का चित्रण, श्रीमाल नगर की खोज, उपलब्ध प्रमाणों का संग्रह, विदेशी यात्रियों के विवरण, संस्कृत और इतिहासविषयक ग्रंथों में सुरक्षित सामग्री आदि का समावेश रहेगा।

इस परिपत्र को शोधसंस्थानों, साहित्यिक संस्थाओं, विद्वत्परिषदों और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के नाम प्रेषित करके उसमें उक्त सामग्री को एकत्र करने तथा तत्संबन्धी सूचना भेजने के लिए अपील की गई है। कहना न होगा कि महाकवि माघ के संबन्ध में इस आधार पर लिखा गया ग्रंथ संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

स्थितिकाल

माघ के स्थितिकाल को निर्धारित करने के लिए अब तक इतिहासकारों ने जितने प्रकरणों को खोज निकाला है उनका निष्कर्ष इस प्रकार है :

१. 'शिशुपालवध' के दूसरे सर्ग में एक पद्य का उल्लेख हुआ है, जिसमें श्लेष द्वारा राजनीति की तुलना शब्दविद्या (व्याकरणशास्त्र) से की गई है। इस पद्य में उद्धृत 'न्यास' शब्द से टीकाकार मल्लिनाथ और वल्लभदेव ने वामन-जयादित्य की संयुक्त कृति 'काशिकावृत्ति' और जिनेन्द्रबुद्धि कृत 'न्यास' ग्रंथ की ओर सङ्केत किया है।

श्लोक इस प्रकार है :

'अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥'

'काशिकावृत्ति' का रचनाकाल ६५० ई० है। अतः निश्चित है कि माघ इसके बाद हुए। इसी प्रकार जिनेन्द्रबुद्धि की 'न्यास' नामक टीका का समय ७०० ई० के लगभग है। इसलिए कुछ विद्वानों ने माघ को ७५० ई० के आस-पास रखा है।

किन्तु विद्वानों का बहुमत इस तर्क के पक्ष में नहीं है। इस मत के समर्थक विद्वानों का कथन है कि चीनी यात्री इत्सिंग ने काशिकाकार जयादित्य तथा वामन का वर्णन किया है। इसने 'वाक्यपदीय' के कर्ता भर्तृहरि तक का भी उल्लेख किया है; किन्तु जिनेन्द्रबुद्धि या उसके 'न्यास' ग्रंथ का कहीं भी कोई हवाला नहीं दिया है। इसलिए निश्चित ही जिनेन्द्रबुद्धि 'न्यास' की रचना ईत्सिंग के भारत छोड़ने (६९५ ई०) से पहले नहीं हुई थी। इसलिए 'शिशुपालवध' में उद्धृत 'न्यास' शब्द से जिनेन्द्रबुद्धि के ग्रंथ की ओर सङ्केत करना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है।

दूसरी बात यह कि जिनेन्द्रबुद्धि से पहले भी अनेक 'न्यास' ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। स्वयं जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने ग्रन्थ में 'कुणि' 'चुल्लि' तथा 'नल्लूरट' आदि न्यासग्रन्थों का उल्लेख किया है। 'अलंकारशास्त्र के इतिहास' में काणे महोदय ने भी वाण (६२० ई०) के 'हर्षचरित' में 'न्यास' का उल्लेख खोज निकाला है : (कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि)। इसलिए वाण की भाँति माघ का सङ्केत भी जिनेन्द्रबुद्धि से पूर्व रचित न्यास से है।

इस हेतु माघ का समय जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०) के बाद नहीं हो सकता।

२. बल्लाल के 'भोजप्रबन्ध' में 'शिशुपालवध' के एक श्लोक (११।६४) का उल्लेख हुआ है। इसी प्रसंग में 'भोजप्रबन्ध' के रचयिता ने राजा भोज और माघ की सहनशीलता के सम्बन्ध में एक कथा लिखी है। इस कथा को देखकर यह विश्वास किया जाता रहा है कि माघ, भोज के समकालीन ११वीं शताब्दी में हुए। किन्तु यह मन्तव्य अब सर्वथा कल्पित सिद्ध हो चुका है।

३. सोमदेव के 'यशस्तिलकचम्पू' (९५९ ई०) में माघ का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने अपने 'ध्वन्यालोक' में 'शिशुपालवध' के दो श्लोकों (३।५३, ५।२६) को उद्धृत किया है। अतः माघ को आनन्दवर्धन से पहले होना चाहिए।

४. दक्षिण के राजा अमोघवर्ष (८१४ई०) के समकालीन नृपतुंग नामक कवि ने अलंकार-निरूपण पर 'कविराजमार्ग' नामक एक कन्नड़ भाषा का ग्रंथ

लिखा था। इस ग्रंथ में माघ को कालिदास के समान कह कर उल्लेख किया गया है। अतः माघ को इससे पूर्व का होना चाहिए।

५. कुछ दिन पूर्व डॉ० कीलहार्न को राजपूताने के वसन्तगढ़ नामक स्थान से वर्मलात नामक राजा का ६८२ वि० (६२५ ई०) का शिलालेख मिला था। माघ की जीवनी में संकेत किया जा चुका है कि उसके पितामह गुजरात के राजा धर्मनाभ के मंत्री थे। 'शिशुपालवध' की हस्तलिखित प्रतियों में इस धर्मनाभ राजा को वर्मनाभ, धर्मलात, वर्मलात आदि अनेक नामों से लिखा गया है। यह अनेकनामता लिपिकारों की त्रुटि के कारण हुई है। यह शिलालेख भीनमाल के निकट ही प्राप्त हुआ है। इसके प्राप्तिकर्ता डॉ० कीलहार्न ने इस राजा का शुद्ध नाम वर्मलात माना है और उसको माघ के पितामह सुप्रभदेव का आश्रयदाता स्वीकार किया है। इस दृष्टि से सुप्रभदेव का समय ६२५ ई० के आसपास और उनके पौत्र माघ का समय ६५०–७०० ई० के बीच निर्धारित करना युक्ति-संगत है।

इन्हीं आधारों पर आधुनिक इतिहासकार विद्वानों ने माघ का स्थितिकाल सातवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में रखा है।

कृतित्व

माघ की प्रतिभा उनके एकमात्र ग्रन्थ 'शिशुपालवध' (माघकाव्य) पर अवलम्बित है। उनका यह ग्रन्थ संस्कृत के महाकाव्यों का स्तम्भ है। सूक्तिसंग्रहों में उनके नाम से ऐसे पद्य पाये जाते हैं, जो उनके महाकाव्य में नहीं मिलते। इसलिए संभव है कि उन्होंने कोई दूसरा भी ग्रंथ लिखा हो; किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है।

शिशुपालवध

माघ के 'शिशुपालवध' में २० सर्ग और १,६५० श्लोक हैं। इसकी कथा 'महाभारत' से उद्धृत है। 'महाभारत' में वर्णित कृष्ण-शिशुपाल के वैर तथा कृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध किए जाने की कथा को माघ ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल पर इस काव्य में ऐसा संवार-सजाकर रखा है कि

'शिशुपालवध' संस्कृत जगत् के लिए एक अपूर्व देन के रूप में वर्षों से प्रतिष्ठा पाता हुआ आज हमारे सामने विद्यमान है।

प्रथम सर्ग में इन्द्र की ओर से श्रीकृष्ण के पास भेजे गये महर्षि नारद का आकाश मार्ग से धरती की ओर उतरते हुए प्रवेश होता है, जिनकी जटायें हिमालय पर्वत पर उगी हुई पीतवर्णा लताओं के समान और शरीर पर झूलता हुआ मृगचर्म ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे ऐरावत पर पड़ा रंग-बिरंगा झूला लटक रहा हो। वीणा उनके हाथ में है। वे पृथिवी पर उतरने को ही हैं कि श्रीकृष्ण उठ कर उनका स्वागत करते हैं और उनके आगमन का प्रयोजन पूछते हैं। महर्षि उन्हें इन्द्र द्वारा भेजे गये अपने आने का आशय यह बतलाते हैं कि शिशुपाल के उत्पीडनों से वे इन्द्र को निःशंक बनायें। तदनन्तर नारद वहाँ से चले जाते हैं।

दूसरे सर्ग में चिन्तना करते हुए बलराम और उद्धव मंत्रणागृह में बैठे दिखाई देते हैं। ठीक इसी समय युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बुलावा आता है। बलराम का अभिमत है कि तत्काल ही शिशुपाल की राजधानी चेदि पर आक्रमण कर देना चाहिए; किन्तु उद्धव उसका विरोध करते हुए युधिष्ठिर के राजसूय में सम्मिलित होने का प्रस्ताव रखते हैं।

तीसरे से आठवें सर्ग में श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग में उनका सारथी दारुक रैवतक पर्वत का सुन्दर वर्णन करता है। रात्रि होने पर सेना पड़ाव डाल देती है और यादव लोग अपनी स्त्रियों के साथ जलक्रीडा तथा वन-विहार में मग्न हो जाते हैं। यहाँ छहों ऋतु श्रीकृष्ण के स्वागतार्थ रैवतक पर्वत पर प्रकट होती हैं।

नवम तथा दशम सर्ग में यादव दम्पतिओं की केलिक्रीड़ा और उनके सौन्दर्य तथा प्रसाधनों का वर्णन है। इस प्रसंग में माघ का उत्कट शृङ्गार वर्णन अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया है। विलासिता की जितनी भी कोटियाँ और जितने भी तरीके हो सकते हैं उन सबका सुंदर चित्रण इन दो सर्गों में देखा जा सकता है।

ग्यारहवाँ सर्ग माघ के कुशल काव्यकर्म का प्रमाण है। इसका आरंभ

सूर्योदय से होता है। इस सर्ग में वर्णित प्रभात की शोभा में माघ के अनुभवी एवं संवेदनशील हृदय का अच्छा परिचय मिलता है।

बारहवें से पन्द्रहवें सर्ग में सेना सहित यमुना पार करके श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ पहुँचते हैं। इन्द्रप्रस्थ में श्रीकृष्ण को देखने के लिए नर-नारियों का सौन्दर्य-वर्णन पढ़कर कालिदास के 'कुमारसंभव' में वर्णित कैलाश पर भगवान् शंकर को देखने के लिए आतुर नारियों की सहसा याद हो आती है। उसके बाद युधिष्ठिर के यज्ञ का वर्णन और युधिष्ठिर द्वारा श्रीकृष्ण का स्वागत तथा उनकी अग्रिम पूजा करने का वर्णन है। श्रीकृष्ण का इस प्रकार का स्वागत-सम्मान शिशुपाल को अखरता है और वह युधिष्ठिर को बुरा-भला कहता है।

सोलहवें सर्ग से लेकर बीसवें सर्ग तक श्रीकृष्ण-शिशुपाल के युद्ध की विभिन्न दशाओं और अन्त में श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल का सिर काटने का वर्णन है। इन सर्गों के युद्ध प्रसंग में वीररस की सुंदर एवं मार्मिक उक्तियाँ हैं। उन्नीसवें सर्ग में चित्रकाव्य का आश्रय लेकर युद्ध का वर्णन आकर्षक है।

माघ का पाण्डित्य और कवित्व

माघ मूलतः कवि थे; किन्तु वे बड़े भारी पण्डित भी थे। राजनीति, दर्शन, व्याकरण, संगीत, नाट्य, काव्यशास्त्र, आयुर्वेद आदि अनेक शास्त्रों के वे पूर्ण ज्ञाता थे। उनके महाकाव्य 'शिशुपालवध' में उनके व्यक्तित्व की ये सभी विशेषतायें पदे-पदे देखने को मिलती हैं। भारवि की भाँति माघ के पाण्डित्य में प्रदर्शन की भावना न होकर उनके गम्भीर व्यक्तित्व की स्वाभाविक छाप है।

उनके पाण्डित्य के राजनीतिक पक्ष पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि वे राजनीति के धुरंधर विद्वान् थे। ऐसा प्रतीत होता है कि माघ ने कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का आमूल अध्ययन किया था और वर्षों तक उनका किसी राजपरिवार से घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा। युधिष्ठिर, भीष्म, उद्धव और बलराम आदि अनेक पात्रों के मुख से माघ ने ऐसी-ऐसी बातें कहलाई हैं, जिनको पढ़कर यह विश्वास होता है कि नीति और अर्थ का ज्ञाता कोई राजमन्त्री ही राजनीति की इतनी बारीकियों को जान सकता है। माघ की

इस राजनीतिक बुद्धि का परिचय 'शिशुपालवध' के दूसरे, पाँचवें, आठवें, उन्नीसवें और बीसवें सर्ग में देखने को मिलता है।

सम्राट् (पार्थिव) के असाधारण गुणों का वर्णन करते हुए माघ ने लिखा है कि 'बुद्धि ही जिसका शास्त्र है, स्वामी, अमात्य आदि प्रकृतियाँ ही जिसके अंग हैं, मन्त्री ही जिसका दुर्भेद्य कवच है, गुप्तचर ही जिसके नेत्र हैं और दूत ही जिसका मुख है, ऐसा पृथ्वीपति बिरला ही देखने को मिलता है' :

'बुद्धिशास्त्रः प्रकृत्यंगो घनसंवृतिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पर्थिवः॥'

इसी प्रकार उन्नतिशील विजिगीषु (विजय की इच्छा रखने वाले) राजा के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'विजिगीषु राजा बारह प्रकार के राजाओं में अकेला रहने पर भी बारहों आदित्यों के मध्य में सूर्य की भाँति, अपनी प्रतिज्ञा को न छोड़ते हुए अपनी उन्नति में निरन्तर चेष्टावान् बना रहता है' :

'उदेतुमत्यजन्नीहां राजसु द्वादशस्वपि।
जिगीषुरेको दिनकृदादित्येष्विव कल्पते॥'

इन दोनों श्लोकों में जो पारिभाषिक शब्दावली और भाव हैं वे कौटिल्य के अनुसार हैं। उन्नतिशील विजिगीषु राजा के सम्बन्ध में माघ ने शत्रु-मित्र-उदासीन आदि जिन बारह राजाओं की स्थिति का वर्णन किया है, वह कौटिल्य की रीति पर आधारित है। इसी प्रसङ्ग में सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव, आदि छह गुणों का किस स्थिति में कैसा उपयोग करना चाहिए, 'शिशुपालवध' में इसका भी विवेचन किया गया है।

इस प्रकार राजनीति एवं शासन-सम्बन्धी अनेक वर्णन 'शिशुपालवध' में देखने को मिलते हैं, जिनसे माघ की तद्विषयक अभिज्ञता का पता चलता है।

राजनीतिज्ञ होने के साथ ही माघ प्रकाण्ड दार्शनिक भी थे। सांख्य, योग, मीमांसा, वैशेषिक, अद्वैत वेदान्त और बौद्ध दर्शन, सभी में उनकी समान गति थी। 'शिशुपालवध' के चौदहवें सर्ग में वर्णित महाराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ माघ की दार्शनिक अभिज्ञता का प्रमाण है। प्रथम सर्ग में

देवर्षि नारद द्वारा की गई भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति में भी माघ का दार्शनिक व्यक्तित्व झलकता है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार माया और ब्रह्म का प्रतिपादन माघ ने अनेक स्थानों पर किया है। राजसूय यज्ञ के समय कहा गया है कि 'मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले लोग अपने अज्ञान को नष्ट करने के लिए योगाराधन में एकचित्त होकर दुर्ज्ञेय और एकमेव परमेश्वर में समा जाते हैं :'

'ग्राम्यभावमपहातुमिच्छवो योगमार्गपतितेन चेतसा।
दुर्गमेकपुनर्निवृत्तये यं विशन्ति वशिनं मुमुक्षवः॥'

चौथे सर्ग में रैवतक के वर्णन में कहा गया है कि 'उस रैवतक पर्वत पर समाधि धारण करने वाले योगी योग, मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा, चित्त की ५ शोधवृत्तियों को भली-भांति जानकर तथा अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष और अभिनिवेश, इन चारों क्लेशों को दूर कर बीजयुक्त योग को प्राप्त कर और प्रकृति तथा पुरुष के ज्ञात (ख्यात) को पृथक्-पृथक् रूप में जानकर उस ख्याति को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं' :

'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्॥'

माघ का व्याकरणज्ञान अपरिमित था। इसलिए शब्दों की मूल प्रकृति की उन्हें पहचान थी। उनकी कविता में सुगठित पद्ययोजना, कठिन चित्रात्मकता, सुंदर शिल्प और विचक्षण अर्थगम्भीरता के अतिरिक्त नवीन शब्द-रचना का योग भी देखने को मिलता है। उनका 'शिशुपालवध' शब्दों का विश्वकोष कहा जा सकता है। उसके संबंध में कहा गया है कि उसके नौ सर्ग समाप्त हो जाने पर संस्कृत की कविता के क्षेत्र में प्रयुक्त सारा शब्द-भंडार ही समाप्त हो जाता है :

'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते।'

माघ को पूर्ण शब्दविद् कहा जा सकता है। उनका शब्द-विन्यास बड़ा पांडित्यपूर्ण और साथ ही ललित एवं मधुर भी है। शब्दों पर उनके आधिपत्य का कारण यह था कि वे प्रकांड वैयाकरण थे।

वह काव्य की सुरुचियों का मर्मज्ञ और भाषा की बारीकियों का विशारद था। यद्यपि भट्टि कवि ने अपने महाकाव्य में व्याकरण के प्रयोग किए हैं; किन्तु वे नीरस एवं जटिल हैं। माघ के व्याकरण-प्रयोग सुगम और भावमय हैं।

इसी प्रकार माघ आयुर्वेद के भी ज्ञाता थे। अपने महाकाव्य के दूसरे सर्ग में उन्होंने रसायन बनाने और उनके प्रयोग का वर्णन किया है।

'शिशुपालवध' के अनेक स्थलों पर संगीत-विषयक महत्त्वपूर्ण चर्चाओं को देखकर उस विषय में माघ की सुंदर अभिरुचि का अनायास ही पता लग जाता है। मुनिश्रेष्ठ नारद की वीणा का वर्णन करते हुए माघ ने प्रथम सर्ग में लिखा है :

'रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः।
स्फुटीऽभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्ष्यमाणां महतीं मुहुर्मुहुः॥'

अर्थात् 'नारद जी अपनी उस 'महती' नामक वीणा को बार-बार देखते थे, जिसमें से वायु के आघात द्वारा पृथक्-पृथक् निकलने वाले स्वरों से तथा उनकी झंकार से निकलने वाली श्रुतियों के समूह और सा-रे-ग-म-प-ध-नी आदि सात स्वरों के तीन ग्राम तथा उनकी विशिष्ट इक्कीस मूर्च्छनायें स्वयमेव फूट रही थीं'।

इसी प्रकार ग्यारहवें सर्ग में प्रभाती और भैरव राग के सम्बन्ध में कहा है : 'श्रुतियों का पाठ करने वाले बन्दियों ने अनेक श्रुतियों से युक्त षड्ज, पंचक, एवं ऋषभ स्वरों से रहित उच्च स्वर गाते हुए रात्रि के बीत जाने तथा प्रभात के आगमन की सूचना श्रीकृष्ण को दी। उनका स्वर बड़ा मधुर, विकार-रहित और दूर-दूर तक सुनाई देने वाला था' :

'श्रुतिसमधिकमुच्चैः पंचमं पीडयन्तः सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम्।'
प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय॥'

माघ की यह उक्ति 'भरतज्ञकविप्रणीतकाव्यप्रथितांका इव नाटक प्रपंचा' कि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अभिज्ञ कविजन उपाख्यान को लेकर इस प्रकार नाटक की रचना करते हैं, जिनके अंक आरम्भ में बड़े और बाद में छोटे होते हैं—माघ के नाट्यशास्त्र-विषयक ज्ञान का परिचय देती है।

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के भोज्य पदार्थों से नाटक के उपकरणों की समानता दर्शित करते हुए माघ ने लिखा है :

'स्वादयन् रसमनेकसंस्कृतप्राकृतैरकृतपात्रसंकरैः ।
भावशुद्धिविहितैर्मुदं जनो नाटकैरिव बभार भोजनैः' ॥'

'जैसे दर्शक लोग नाटक को देखते समय शृङ्गार आदि नवरसों का अनुभव करते हुए आनन्दित होते हैं वैसे ही युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में आये लोग भोजन करते समय मधुर, अम्ल आदि छहों रसों से युक्त व्यंजनों का आस्वाद आनन्द प्राप्त करते थे। नाटक में जिस प्रकार संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओं का व्यवहार होता है, उसी प्रकार यज्ञ के भोज्य पदार्थों में भी बहुत से पदार्थ पकाये (संस्कृत) गये थे और कुछ कच्चे (प्राकृत) ही खाए जा रहे थे। जैसे नाटक में एक पात्र का अभिनय कोई दूसरा पात्र नहीं कर सकता वैसे ही भोजन के एक पात्र से दूसरे पात्र का मिलान नहीं होता था। जिस प्रकार नाटक में शुद्ध स्थायीभाव रहता है उसी प्रकार उस यज्ञ के भोज्य-पदार्थों में भी स्वाभाविक शुद्धि थी।'

काव्यशास्त्र की दृष्टि से माघ रसवादी कवि थे। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले अलंकारशास्त्रियों में माघ का स्थान है। रसवादी होने के कारण माघ विद्वत्समाज के कवि रहे हैं। कालिदास के साथ उनकी इस दृष्टि से कुछ भिन्नता है। कालिदास की कविता के भाव और भाषा को सामान्य संस्कृतज्ञ व्यक्ति भी हृदयंगम कर सकता है; किन्तु माघ की कविता को समझने के लिए पूर्ण पण्डित होने की आवश्यकता है। काव्यसिद्ध विद्वान् ही माघ की कविता का पूरा रस ले सकते हैं; और इसीलिए माघ काव्य को पढ़ने में लोगों ने एक-दो वर्ष की तो बात ही क्या, सारा-का-सारा जीवन लगा दिया : 'मेघे माघे गतं वयः'। यह उक्ति कालिदास के 'मेघदूत' पर चाहे पूर्णतया चरितार्थ न होती हो; किन्तु 'शिशुपालवध' के सम्बन्ध में उसको अन्वर्थ कहा जा सकता है।

माघ के इस रसवादी दृष्टिकोण का परिचय उनके महाकाव्यों को पढ़कर मिलता है। वे एक सिद्धहस्त कवि थे। जैसा कि भवभूति ने 'उत्तररामचरित' में कहा है कि 'वाचामर्थोऽनुधावति'—अर्थ स्वतः ही वाणी का अनुगमन

करता है, ठीक ऐसे ही माघ की भी वाणी सिद्ध थी। उन्होंने भी यही कहा है कि रसों और भावों के ज्ञाता कवि को ओज, प्रसाद आदि गुणों के पीछे नहीं भागना पड़ता है; वे तो कवि की वाणी का स्वतः अनुगमन करते हैं :

'नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः।'

अथवा

'स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः संचारिणो यथा।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः॥'

जैसे रस-निष्पत्ति के लिए एक ही स्थायीभाव में अनेक संचारीभाव आकर सहायक हो जाते हैं उसी प्रकार क्षमापूर्वक उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने वाले एक ही विजिगीषु राजा की सहायता के लिए दूसरे राजा लोग स्वयं आकर सहायक हो जाते हैं।

कवियों की काव्यचिन्ता का उल्लेख करते हुए माघ ने लिखा है कि 'क्षण-भर शयन करके पुनः तुरन्त उठकर जिस प्रकार कविलोग रात के पिछले प्रहर में, बुद्धि के अत्यन्त निर्मल हो जाने पर, रस-भाव से गम्भीर तथा काव्य में समान रूप से प्रवेश होने योग्य अर्थ, गुण और साधु शब्दों का निर्वाचन कर दुष्प्राप्य वाच्य, अर्थ और व्यंग्य की चिन्ता कर रहे हैं; उसी प्रकार राजा लोग भी साम, दाम आदि प्रयोगों की आजमाइश कर दुष्प्राप्य त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम—की चिन्ता कर रहे हैं' :

'क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगानुदधि महति राज्ये काव्यवद्दुर्विगाहे।
गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम्॥'

माघ की दृष्टि चतुर्मुखी थी। उनकी दृष्टि जिस वस्तु या प्रसंग पर गई उसके अङ्ग-उपाङ्गों को खोल कर रख दिया है। एक छोटी-सी घटना को लेकर इतना बड़ा ग्रन्थ खड़ा कर देना माघ जैसे असाधारण कवि का ही कौशल है। इस पर विशेषता यह है कि कथा-प्रसंग में कहीं भी अवरोध नहीं आने पाया।

उनकी दृष्टि जहाँ प्रकृति-वर्णन पर गई वहाँ उसका पूरा चित्र सामने रख दिया, जिसको पढ़कर पाठक स्वयं ही तादात्म्य अनुभव करने लगता है। माघ के वर्णनों की यही विशेषता है कि उनको पढ़ते समय पाठक उनमें डूब जाता है। माघ का प्रकृति-वर्णन शृङ्गारमय है; उसमें भी शृङ्गार में संयोग पक्ष

की प्रधानता है। माघ ने सरोवर, वन, उपवन, पर्वत, नदी, वृक्ष, लता, संध्या, प्रातः, ऋतु, अंधकार, प्रकाश आदि प्रकृति के विभिन्न रूपों को उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया है; फिर भी उनका यह प्रकृति-चित्रण बड़ा ही हृदयग्राही है। अपने प्राकृतिक वर्णनों को उन्होंने अलंकारों से सज्जित करके इतना सजीव बना दिया है कि पाठक आत्मविभोर हो जाता है। 'शिशुपाल' के नवम और एकादश सर्ग में प्रकृति का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है। उनके प्रकृति-वर्णन में भावात्मक अभिव्यंजना है। ग्यारहवें सर्ग में समुद्रतल से उगते हुए प्रातःकालीन सूर्य का यह कितना भव्य दृश्य प्रस्तुत किया गया है :

'विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभिः
जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥'

'पूर्वी क्षितिज पर सूर्य की विशाल गोलाकृति दिखाई दे रही है और उसकी किरणें सभी दिशाओं में व्याप्त हो गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सूर्य नहीं है, एक बड़ा भारी कलश है जिसको दिशा रूपी रमणियाँ, पक्षियों के कोलाहल के बहाने, अपनी किरणरूपी रस्सियों से बाँधकर समुद्र के जल में से बाहर निकाल रही हैं।'

इसी प्रकार 'प्रातःकाल हो गया है। कुमुदवन की शोभा क्षीण पड़ रही है और कमलवन की शोभा बढ़ रही है। उलूक का मन खिन्न है और चक्रवाक-दम्पती आनन्द से विभोर हो रहे हैं। सूर्य उदित हो रहा है और सचमुच ही दुष्ट दैव का प्राणियों को फल देने का प्रकार बड़ा विचित्र है' :

'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः॥'

प्रातःकाल के ही समान संध्याकाल का वर्णन भी बड़ा मनोहर है। माघ ने अनेक स्थलों पर संध्या के दृश्यों को अङ्कित किया है। उनके इस संध्या-वर्णन में उनके प्रकृति-पर्यवेक्षण के अतिरिक्त श्लेष की छटा, समासोक्ति

का चमत्कार और कवित्व का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। नवम सर्ग में संध्या का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है :

'नवकुंकुमारुणपयोधरया स्वकरावसक्तरुचिराम्बरया।
अतिसक्तिमेत्य वरुणस्य दिशा भृशमन्वरज्यदतुषारकरः॥'

'संध्या हो जाने पर पश्चिम दिशा नये कुंकुम के समान लाल बादलों से व्याप्त हो गई और दिङ्मण्डल भी सूर्य की किरणों से परिव्याप्त होकर अत्यन्त शोभायमान होने लगा।' इसी श्लोक को समासोक्ति द्वारा यों प्रकट किया गया है 'उष्णरश्मि सूर्य, नये कुंकुम से अनुरंजित लालवर्ण के पयोधरों वाली, अपने हाथों से थामे हुए वस्त्रों से सुशोभित, पश्चिम दिशा (वरुण दिशा) के साथ अत्यन्त आसक्त होकर अनुरक्त हो गया।'

इसी प्रकार ग्यारहवें सर्ग में रजनी की सद्यःप्रसूता सुंदरी कन्या ऊषा के प्रति कवि की यह उत्प्रेक्षा-भावना कितनी संजीदगी लिए है :

'अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा बहुलमधुपमालाकज्जलेन्दीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्वसंध्या सुतेव॥'

'रात्रि की विदाई पर ऊषा (प्रातःकाल की संध्या) उसका अनुगमन करती हुई ऐसी शोभायमान हो रही है, जैसे वह रजनी की सद्यःप्रसूता कन्या ही हो। लाल कमलों की पंक्तियाँ तथा पंखुड़ियाँ मानो उस सुंदरी की सुन्दर हथेली तथा उंगलियाँ हों, घूमती हुई भ्रमरपंक्ति मानो उसके सुंदर नेत्रों के काजल हों, प्रफुल्ल कमल मानो उसके विशाल नेत्र हों, और पक्षियों का कलरव मानो उसका सुंदर गीत हो।'

माघ का शृङ्गारवर्णन उच्चकोटि का है। माघ शृङ्गार के कलापक्ष के कवि थे, जैसे कि कालिदास शृङ्गार के प्रेमपक्ष के कवि रहे हैं। माघ का यह शृङ्गार-वर्णन आलम्बन के रूप में प्रकट हुआ है। 'शिशुपालवध' के सातवें सर्ग में कोई मुग्धा नायिका अपने प्रेमी से पेड़ में खिले हुए फूलों की मांग कर रही है। नायक को भी उसके आलिंगन का बहाना मिल जाता है। वह, उस पुष्ट कुचों वाली नायिका को दोनों बगलों से पकड़ कर ऊपर उठाकर कहता 'है तुम्हीं तोड़ लो (गृहाण स्वयम्)

'उपरिजतरुजानि याचमानां कुशलतया परिरम्भलोलुपोऽन्यः ।
प्रथितपृथुपयोधरां गृहाण स्वयमिति मुग्धवधूमुदास दोर्भ्याम् ॥'

माघ अलङ्कारों के प्रयोग में भी अत्यन्त कुशल थे। अपने महाकाव्य में स्थान-स्थान पर नये-नये अलङ्कारों की योजना कर उन्होंने अपने वर्णनों में नवीनता का समावेश किया है। उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, रूपक, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, तुल्ययोगिता, समासोक्ति, काव्यलिंग, विरोध आदि अलंकारों को सुचारुप्रयोग के अतिरिक्त, स्वभावोक्ति, प्रौढोक्ति, और श्लेष आदि अर्थालङ्कारों का भी बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। यहाँ माघ की अलङ्कार-कुशलता के कुछ ही उदाहरण देना यथेष्ट होगा।

रैवतक पर्वत के प्रसंग में कन्या की विदाई का यह करुण दृश्य उन्होंने उत्प्रेक्षा के द्वारा कितना सजीव उतारा है :

'अपशंकमंकपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥'

'रैवतक पर्वत की कन्यायें (नदियाँ), जो अपने पिता की गोद में निःशङ्क भाव से खेलती थीं, आज पति-समागम (सागरमिलन) के लिए जा रही हैं। पिता का स्नेहमय हृदय कन्याओं का वियोग जानकर पक्षियों के कलरव के रूप में क्रन्दन कर रहा है।'

अपने वर्णनों में स्वभावोक्ति अलङ्कार का निरूपण करने में माघ की कुशलता प्रशंसनीय है। काव्य के क्षेत्र में कालिदास के बाद माघ के ही स्वभावोक्तिमय वर्णनों को स्थान प्राप्त है। पाँचवें, ग्यारहवें, बारहवें और अठारहवें सर्गों में स्वभावोक्ति के अनेक अच्छे चित्र देखने को मिल सकते हैं। एकादश सर्ग के प्रातःकालीन प्रसंग में माघ की स्वभावोक्ति का एक नमूना देखिए। 'एक पहरेदार ने अपना पहरा पूरा कर लिया है। वह अब सोना चाहता है। इसलिए सोये हुए दूसरे पहरेदार को, जिसकी पारी है, वह बार-बार जगा रहा है; किन्तु वह दूसरा पहरेदार नींद में अलसाया हुआ स्पष्ट शब्दों में उत्तर तो दे रहा है, पर जागता नहीं है' :

'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां ददपि गिरमन्तर्बुद्ध्यते नो मनुष्यः ॥'

शब्दालङ्कारों में माघ ने अनुप्रास और यमक का अधिक प्रयोग किया है। उनके महाकाव्य का सारा कलेवर अनुप्रास की छटा से शोभनीय है। एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :

'मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकरांगनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥'

'वसन्तागमन के कारण समृद्ध माधवी लता के पराग से मस्त भ्रमरी उन्मत्त ध्वनि को धारण करती हुई स्थिर और मधुर अक्षरों में गा रही है।'

माघ की विशिष्टता उनके रससिद्ध कवीश्वर होने में है; किन्तु कहीं-कहीं चित्रात्मकता तथा काव्यशिल्प के मोह में पड़ कर उन्होंने अपने वर्णनों को कलात्मकता की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। इस कलात्मक दर्शन के लिए उन्होंने अनेक प्रयोग किये हैं। उन्होंने पूरा-का-पूरा श्लोक चार वर्णों, दो वर्णों या इससे भी आगे बढ़कर एक ही वर्ण में पूरा कर दिया है :

'दाददो दुद्दुद्दादी दादादो दूददीददोः ।
दुद्दादं ददंदे दुद्दे ददाददददोऽददः ॥'

इस प्रकार के श्लोक माघ की चित्रात्मकता के उत्कट दृष्टान्त हैं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक श्लोकों में पूरे-के-पूरे चरणों या पादों के अनुलोम-प्रतिलोम प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार माघ ने एकाक्षरबन्ध, सर्वतोभद्र, गोमूत्रिका, अर्थयुक्त, असंयोग, समुद्गयमक, मुरजबन्ध, प्रतिलोमानुलोम, गूढ़चतुर्थ, त्रि-अर्थवाची, चतुरर्थवाची आदि जटिलतम चित्रबन्धों का प्रयोग करके अपनी विचित्र बुद्धि का परिचय दिया है और शब्द, भाषा तथा भाव आदि की प्रकृति का परिचय प्रस्तुत करके अपना सूक्ष्म ज्ञान प्रकट किया है। माघ की यह शाब्दिक क्रीड़ा उन्नीसवें सर्ग में देखने को मिलती है।

माघे सन्ति त्रयो गुणाः

संस्कृत के पण्डित-समाज में परम्परा से यह उक्ति प्रचलित रहती आई है कि काव्य के क्षेत्र में कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव और दण्डी के पदलालित्य का विशिष्ट स्थान है, किन्तु माघ की कविता में काव्य

के इन तीनों गुणों का एक साथ समन्वय देखने को मिलता है। इस उक्ति का कुछ लोगों ने यह आशय निकाला है कि माघ का कवित्व उक्त तीनों कवियों से उत्कृष्ट है; किन्तु इस उक्ति का यह अभिप्राय नहीं है। ऐसा मानने का यह परिणाम होगा कि न तो हम कालिदास, भारवि तथा दण्डी के कवित्व गुणों का उचित मूल्यांकन कर पायेंगे और न-ही हम माघ की कवित्व प्रतिभा को उचित रूप में पहचान पायेंगे। यदि इस उक्ति में कुछ तथ्य है तो उसका आशय यह होना चाहिए कि काव्य के जो विशिष्ट गुण—उपमा, अर्थगौरव, पदलालित्य—कालिदास, भारवि और दण्डी की कविता में अलग-अलग देखने को मिलते हैं उन तीनों का एक संघटित रूप माघ की कविता में देखने को मिल सकता है।

माघ का संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार था। वस्तुतः माघ की व्यंजना-प्रणाली और अनुपम कल्पना-चातुरी में कालिदास की-सी सुन्दर उपमाओं, भारवि के-से परिमित अर्थगांभीर्य और दण्डी के-से ललित पद-विन्यास का अभाव नहीं है। माघ का पद-विन्यास तो इतनी सुगठित एवं ललित है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से नहीं हटाया जा सकता है।

इसी हेतु माघ की कवित्वश्रेष्ठता के लिए परम्परा से पण्डित-समाज में अनेक धारणायें प्रचलित रही हैं। राजशेखर ने कहा है कि 'जहाँ भारवि की कविता सूर्य-रश्मियों की भाँति समग्र ज्ञान को प्रकाशित करनेवाली है, वहाँ माघ मास के समान माघ का नाम सुनकर ही किस कवि को रोमांच (कँपकँपी) नहीं हो जाता है' ?

> 'कृत्स्नप्रबोधकृद् वाणी भा रवेरिव भारवेः।
> माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते॥'

इसी बात को धनपाल ने यों कहा है :

> 'माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
> स्मरन्तो भा-रवेरेव कवयः कपयो यथा॥'

अर्थात् 'जिस प्रकार माघ मास में ठिठुरते हुए जाड़े में बन्दर सूर्य का स्मरण करते हैं और दुबक कर रह जाते हैं उसी प्रकार पदयोजना (कविता) करने के लिए माघ की कविता का स्मरण करके बड़े-बड़े कवियों तक का

उत्साह ठंडा पड़ जाता है, चाहे वे भारवि के पदों का कितना ही स्मरण करें !'

इसी प्रकार :

'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।'

अथवा :

'पुष्पेषु चम्पा नगरीषु काञ्ची नदीषु गंगा नृवरेषु रामः ।
नारीषु रंभा पुरुषेषु विष्णुः काव्येषु माघः कवि-कालिदासः ॥'

आदि, अनेक उक्तियाँ माघ की प्रशंसा में संस्कृत के पण्डित-समाज में प्रचलित हैं ।

भारवि और माघ

भारवि और माघ, दोनों एक ही महाकाव्य-क्षेत्र के युगप्रवर्तक महाकवि हैं । उन दोनों के कवित्व में कुछ ऐसी समानता है, जिसको जान लेना आवश्यक है । उन दोनों की समानता के सूत्र इस प्रकार हैं :

१. संस्कृत में 'बृहत्त्रयी' के नाम से जिन तीन महाकाव्यों को स्मरण किया जाता है उनमें श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' के साथ भारवि का 'किरातार्जुनीय' और माघ का 'शिशुपालवध' उद्धृत किया जाता है ।

२. भारवि और माघ, दोनों के कवियश को सुरक्षित रखने वाले उनके एकमात्र दोनों महाकाव्य हैं । भारवि के नाम से और माघ के नाम से भी संस्कृत के सूक्ति-संग्रहों में अनेक स्फुट श्लोक उद्धृत हुए मिलते हैं ।

३. दोनों महाकाव्यों की मुख्यकथा 'महाभारत' से ली गई है ।

४. दोनों महाकाव्यों का आरम्भ 'श्री' शब्द से हुआ है । 'किरातार्जुनीय': 'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीम्'; 'शिशुपालवध' 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' । दोनों के प्रथम सर्ग में सन्देश-कथन है : 'किरातार्जुनीय' में वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर के प्रति और 'शिशुपालवध' में नारद के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति । दोनों के प्रथम सर्ग में विपदाओं की चर्चा और युद्धप्रेरणा का वर्णन है : 'किरातार्जुनीय' में दुर्योधन के द्वारा युधिष्ठिर के प्रति और 'शिशुपालवध' में शिशुपाल के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति ।

५. 'किरातार्जुनीय' के द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर, भीम तथा द्रौपदी के बीच राजनीतिक चर्चायें देखने को मिलती हैं तो 'शिशुपालवध' के द्वितीय सर्ग में बलराम, श्रीकृष्ण तथा उद्धव के बीच इसी विषय पर परामर्श होता है। भारवि के ग्रंथ में यह राजनीतिक चर्चा तीसरे सर्ग तक चली गई है। इस प्रसंग में दोनों महाकाव्यों में पर्याप्त समानता देखने को मिलती है। 'किरातार्जुनीय' में द्रौपदी तथा भीम के उत्तेजनात्मक संवादों का युधिष्ठिर ने राजनीतिक दृष्टि से समाधान करके उपयुक्त समय आने पर युद्ध आरम्भ करने का सुझाव रखा है तो 'शिशुपालवध' में बलराम के उत्तेजनात्मक वक्तव्यों का समाधान उद्धव ने सामनीति के द्वारा किया है।

६. 'किरातार्जुनीय' के तीसरे सर्ग में अर्जुन द्वैतवन से इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिए जाते हैं तो 'शिशुपालवध' के तीसरे सर्ग में श्रीकृष्ण द्वारका से रैवतक पर्वत के समीप ठहरते हैं।

७. 'किरातार्जुनीय' में महर्षि वेदव्यास पाण्डवों को उचित मार्ग सुझाते हैं तो 'शिशुपालवध' में देवर्षि नारद ऐसा ही उपदेश देते हैं।

८. 'किरातार्जुनीय' के चौथे और पाँचवें सर्गों में यमकालंकारों द्वारा हिमालय की मोहक छटा तथा ऋतुओं का जो सुंदर वर्णन हुआ है, 'शिशुपाल-वध' के चौथे तथा पाँचवें सर्ग में भी वही बात रैवतक पर्वत की छटा और ऋतुओं के वर्णन में देखने को मिलती है। वर्णनशैली की दृष्टि से और छन्द-प्रयोग की दृष्टि से दोनों महाकाव्यों के इस प्रसंग में पर्याप्त समानता है।

९. 'किरातार्जुनीय' और 'शिशुपालवध' के सातवें तथा आठवें सर्ग में अप्सराओं के विहार का सुंदर चित्रण प्रायः समान है। इस प्रसंग में दोनों ग्रन्थों की सूक्तियाँ एक जैसी हैं।

१०. 'किरातार्जुनीय' के नवम तथा दशम सर्ग में वर्णित संध्याकाल, चन्द्रोदय, मधुपान, रतिक्रीड़ा, प्रणयालाप आदि का अनुकरण 'शिशुपालवध' में देखने को मिलता है। एक में अप्पसराओं का और दूसरे में यादव सुंदरियों का चित्रण है। प्राकृतिक दृश्यों के उद्दीपन विभावों का मार्मिक चित्रण प्रायः दोनों में एक समान है।

११. 'किरातार्जुनीय' के ग्यारहवें सर्ग में किरातवेशधारी शिव, अर्जुन का अपमान करने के लिए दूत भेजते हैं तो 'शिशुपालवध' में शिशुपाल, श्रीकृष्ण का अनादर करने के लिये दूत भेजते हैं।

१२. 'किरातार्जुनीय' में धनंजय की कठोर तपस्या का वर्णन 'शिशुपालवध' में धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में देखते को मिलता है। दोनों ग्रन्थों का यह प्रसंग अत्यन्त ही रोचक है।

१३. 'किरातार्जुनीय' के तेरहवें तथा चौदहवें सर्ग में अर्जुन तथा किरातवेशधारी शिव के बीच जो वाद-विवाद हुआ है, 'शिशुपालवध' के सोलहवें सर्ग में वही बात हमें शिशुपाल के दूत और सात्यकि में देखने को मिलती है।

१४. 'किरातार्जुनीय' के पंद्रहवें और 'शिशुपालवध' के अठारहवें सर्गों में चित्रबन्धों द्वारा युद्ध-वर्णन समान है। इस प्रसंग में जो काव्यशिल्प का चित्रण है वह भी समान है। दोनों ग्रन्थों में द्वन्द्वयुद्ध के पूर्व विपक्षियों की सेनाओं में संघर्ष दिखाया गया है।

१५. 'किरातार्जुनीय' के प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग हुआ है तो 'शिशुपालवध' के प्रत्येक सर्गान्त में 'श्री' शब्द का।

इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि माघ के 'शिशुपालवध' का आदर्श भारवि का 'किरातार्जुनीय' था।

(४) श्रीहर्ष

जीवनी

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य के प्रत्येक सर्गान्त में स्वयं ही कहा है कि उनके पिता का नाम श्रीहीर और उनकी माता का नाम मामल्लदेवी था :

> 'श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतम्।
> श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्॥'

श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर स्वयमेव अच्छे कवि और दार्शनिक थे। वे काशी के गहडवालवंशीय राजा विजयचन्द्र के प्रमुख राजपंडित थे। उनके संबंध में एक दन्तकथा है कि 'न्यायकुसुमांजलि' के निर्माता मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ था। इस शास्त्रार्थ में

श्रीहीर परास्त हो गये थे और इस पराजय के महासंताप ने उनके प्राण ले लिए थे। मरते समय उन्होंने पुत्र श्रीहर्ष से अपने विजेता उदयनाचार्य से शास्त्रार्थ करके बदला लेने के लिए कहा था। पिता की अन्तिम इच्छा को पूर्ण करने के लिए श्रीहर्ष ने गम्भीर अध्ययन किया और बाद में पूरे एक वर्ष तक गंगातट पर भगवती त्रिपुरा की सिद्धि के लिए 'चिन्तामणि' मंत्र का जप किया। श्रीहर्ष की आराधना से देवी प्रकट हुई और उन्होंने उसको अपराजेय पांडित्य का वरदान दिया। वहाँ से श्रीहर्ष सीधे विजयचन्द्र की सभा में गये और वहाँ उन्होंने ऐसी वैदुष्यपूर्ण प्रखर कविताओं का प्रयोग किया, जिनको कोई भी न समझ सका। फलतः वे पुनः इस रहस्य का भेद जानने के लिए देवी के निकट आये। देवी ने प्रसन्न होकर उसके दुर्ज्ञेय पांडित्य को सुगम बनाने के लिए उनसे, आधी रात में सिर गीला करके, दही पीने के लिए कहा। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया और उसके बाद विजयचन्द्र की पण्डित-सभा में आकर राजा की स्तुति में उन्होंने यह श्लेषमय श्लोक कहा :

'गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री ॥'

अर्थात् 'तरुणियाँ राजा विजयचन्द्र को इसलिए कामदेव न समझ लें कि वह गोविन्द का पुत्र है। प्रद्युम्नस्वरूप कामदेव भी गोविन्द (कृष्ण) के पुत्र हैं। और शरीर से (कामदेव जैसे) सुन्दर हैं; क्योंकि कामदेव और विजयचन्द्र में एक तात्विक भेद यह है कि कामदेव जहाँ संसार को जीतने के लिए स्त्रियों को अपना शस्त्र बनाता है, वहाँ यह राजा, युद्ध में लड़ने के लिए आये हुए अस्त्रधारी शत्रुवीरों को पराजित कर उन्हें स्त्री के समान पुरुषत्वहीन बना देता है।' इस श्लोक को सुनकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ।

राजा की स्तुति में पढ़े गये इस श्लोक से जब अपनी वाणी की सुगमता पर श्रीहर्ष को विश्वास हो गया तब उसने अपने पिता के प्रतिस्पर्धी विद्वान् को यह कह कर ललकारा कि सुकुमार साहित्य और दृढ़-न्यायबन्ध के जटिल तर्क में मेरा समान प्रवेश है :

'साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले।
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती,॥

श्रीहर्ष के इस श्लोक को सुन कर उदयनाचार्य बड़े लज्जित हुए और उन्होंने श्रीहर्ष के पाण्डित्य को स्वीकार करते हुए उनकी प्रशंसा में इस श्लोक द्वारा अपने उद्गार प्रकट किए :

'हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्धता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहंकृते हुंकृते॥'

जिस चिन्तामणि मंत्र को सिद्ध करके भगवती त्रिपुरा के द्वारा श्रीहर्ष को ज्ञान की इतनी अथाह निधि प्राप्त हुई और जिसके द्वारा उन्होंने अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य पूरा किया उसके सम्बन्ध में उनके 'नैषधचरित' के चौदहवें सर्ग में चर्चा की गई है। भगवती सरस्वती के श्रीमुख से चिन्तामणि मंत्र के रहस्य को उन्होंने कहलाया है कि 'एक वर्ष तक इस मंत्र का जप करने वाला व्यक्ति जिसके शिर पर भी अपना हाथ रख देगा वही कवि बन जायगा और अनायास ही रमणीय पद्यों की रचना करने लगेगा' :

'तत्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते।
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान्कौतुकं दृश्यमस्याः॥'

सम्भवतः 'नैषधचरित' के इसी उल्लेख के आधार पर पीछे से किसी ने श्रीहर्ष की जीवनी के साथ उक्त घटना जोड़ दी। उनके सम्बन्ध में इतना तो निश्चित है कि 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक अपने प्रौढ़ वेदान्तविषयक ग्रंथ की रचना कर उन्होंने न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन कर अद्वैत वेदान्त के महत्व का मण्डन किया है। इस न्यायमत-खण्डन के प्रसङ्ग में उन्होंने उदयन को भी लगे हाथों लिया। चण्डू पण्डित ने भी अपनी टीका के आरंभ में लिखा है कि अपने पिता के विजेता नैयायिक उदयन के मत को श्रीहर्ष ने अपने इस ग्रंथ के द्वारा निरर्थक बना दिया : 'स्वपितुर्विजेतुरुदयनस्य कृतीः खण्डनखण्डखाद्य-नामक-ग्रंथेन अखण्डयत्।'

परंपरागत किंवदन्तियाँ यह भी बताती हैं कि श्रीहर्ष की प्रतिभा से प्रभावित होकर जयचन्द्र ने उनको अपना राजकवि नियुक्त किया और राजा की ही प्रेरणा से श्रीहर्ष ने 'नैषधचरित' की रचना की। अपने इस महाग्रंथ की परीक्षा के लिए उनको काश्मीर जाना पड़ा था। वहाँ पर देवी शारदा ने इनके महाकाव्य को इसलिए रुष्ट होकर अस्वीकार कर दिया था, क्योंकि उसमें श्रीहर्ष ने शाश्वत कुमारी भगवती सरस्वती को विष्णुपत्नी के रूप में व्यक्त किया था; किन्तु बाद में आराधना करने पर सरस्वती ने उनके महाकाव्य को स्वीकार कर लिया था।

कहा जाता है कि आचार्य मम्मट श्रीहर्ष के मामा थे और अपनी काश्मीर-यात्रा पर यह ग्रंथ उन्होंने मम्मट को भी दिखाया था। इस ग्रंथ को देखकर मम्मट ने कहा था कि अपने 'काव्यप्रकाश' की रचना के पहले उन्हें यदि 'नैषधचरित' मिला होता तो उनके ग्रंथ के दोष प्रकरण के लिए उसमें सभी उदाहरण मिल जाते।

इस किंवदन्ती की सत्यता संदिग्ध है; किन्तु इतना सत्य है कि 'नैषध-चरित' महाकाव्यों की परंपरा में संमान्य ग्रंथ होते हुए भी दोषबहुल है।

यद्यपि श्रीहर्ष ने राम-सीता की वन्दना की है; किन्तु वे स्वयं शाक्त थे। वह बौद्धधर्म और विशेषतः नागार्जुन के शून्यवाद से अत्यधिक रूप से प्रभावित थे, जिसका प्रमाण उनका 'खण्डनखण्डखाद्य' है।

स्थितिकाल

पहले संकेत किया जा चुका है कि श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर विजयचन्द्र और उनके पुत्र जयचन्द के संमानित राजकवि थे। ये वही इतिहासप्रसिद्ध जयचन्द हैं, जिन पर देशद्रोही होने का आरोप लगाया जाता है एवं जिनकी पुत्री संयोगिता का अपहरण पृथ्वीराज ने किया था। जयचन्द के देशद्रोही होने के सम्बन्ध में जितनी बातें कही गई थीं उनमें-से अधिकांश बातें अब निरर्थक सिद्ध हो चुकी हैं। भले ही वह देशद्रोही न रहा हो; किन्तु वह एक उत्कट विलासी राजा था। उसके चरित्र की आलोचना इसलिए की जाती है कि वृद्धावस्था तक वह अपनी सैकड़ों बाँदियों के बीच रह कर अपनी क्षीण कामुकता को पुनरुज्जीवित करने की चिन्ता में डूबा रहता था।

जयचन्द के पिता विजयचन्द्र की राजधानी कन्नौज थी। लगभग छह-सौ वर्षों तक कन्नौज को भारत का विख्यात नगर होने का सुयश प्राप्त होता रहा, राजनीतिक दृष्टि से भी और समृद्धि की दृष्टि से भी। उसको मौखरी, बैस, प्रतीहार और गहडवाल जैसे कीर्तिशाली राजवंशों की राजधानी होने का गौरव मिला था। जयचन्द ने भी कुछ दिनों तक कन्नौज को ही राजधानी बनाये रखा। कान्यकुब्जेश्वर की राजसभा में श्रीहर्ष का बड़ा संमान था। कान्यकुब्जेश्वर महाराज जयचन्द उन्हें स्वयं आसन और पान के दो बीड़े दिया करते थे, जिसका उल्लेख श्रीहर्ष ने 'नैषधचरित' के अन्त में इस प्रकार किया है :

'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।'

जयचन्द का वह राजकवि ही नहीं, सचिव (लंगोटिया यार) भी था। बाद में वह काशी चला गया था। जयचंद जिन दिनों कन्नौज के अधीश्वर थे उन दिनों वहाँ की वह उन्नतावस्था न रह गई थी, जो कि हर्षवर्धन के समय में थी। हर्षवर्धन के समय में ही अरब में एक नये धर्म का आविर्भाव हुआ था, जिसको बाद में इस्लाम के नाम से जाना गया। यह धर्म लगभग आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक सिन्ध से स्पेन तक फैल गया था। उसने ईरान के शक्तिशाली साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया था और पामीर के ऊपर भी अपनी विजयपताका लहरा दी थी। इधर भारत में, हर्ष की मृत्यु के सौ वर्ष बाद सारा सिन्ध इस्लाम के हाथों में चला गया था और गुजरात तथा उत्तर प्रदेश के अनेक हिस्सों में इस्लामी फिरके बिखर गये थे। इसी समय कन्नौज पर जयचन्द का शासन था। अरब के मरुस्थल से उठी उसी इस्लाम की इस भयंकर आँधी को विच्छिन्न भारतीय रजवाड़े आगे बढ़ने से न रोक सके। इसी भय से जयचन्द ने अपनी राजधानी को कन्नौज से हटाकर काशी में स्थापित किया।

कन्नौज पर विजयचन्द्र का शासन ११५६-११६९ ई० तक बना रहा और उसके बाद ११७०-११९३ ई० तक उस उत्तराधिकार को जयचन्द ने सँभाला। इस प्रकार ११५६-११९३ ई० अर्थात् १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक महाकवि श्रीहर्ष विद्यमान रहे। यही उनका स्थितिकाल है।

कृतित्व

श्रीहर्ष ने अनेक ग्रंथों की रचना की। अपनी इन सभी रचनाओं का उल्लेख उन्होंने 'नैषधचरित' के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में किया है। उनके ग्रंथों के नाम हैं : (१) 'स्थैर्यविचारप्रकरण', (२) 'विजयप्रशस्ति', (३) 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति', (४) 'छिन्दप्रशस्ति', (५) 'नवसाहसांकचम्पू', (६) 'अर्णववर्णन', (७) 'शिवशक्तिसिद्धि', (८) खण्डनखण्डखाद्य' और (८) 'नैषधचरित'।

इनमें से दो अन्तिम ग्रंथ ही उपलब्ध हैं। 'नैषधचरित' उनका महाकाव्य है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। श्रीहर्ष के नाम से 'पंचनलीय काव्य', 'द्विरूपकोश' और 'ईश्वराभिसन्धि' नामक ग्रंथों का भी उल्लेख किया जाता है। ये श्रीहर्ष के नहीं हैं।

खण्डनखण्डखाद्य

श्रीहर्ष का यह ग्रंथ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में बड़े आदर से स्मरण किया जाता है। अपने इस ग्रंथ में श्रीहर्ष ने नैयायिक तर्क शैली द्वारा न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का स्थापन किया है। श्रीहर्ष के इस ग्रंथ को पढ़कर ज्ञात होता है कि वेदान्त दर्शन के अतिरिक्त चार्वाक, बौद्ध, न्याय, मीमांसा आदि दर्शन सम्प्रदायों में भी उनका सामान्य प्रवेश था। व्याकरणशास्त्र और काव्यशास्त्र उनके हस्तामलक थे। राजशास्त्र के भी वे अच्छे जानकार प्रतीत होते हैं। अपने महाकाव्य में स्थल-स्थल पर कई अप्रस्तुत प्रसंगों का समावेश करके उन्होंने अपनी इस सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। इन सभी विषयों को लक्ष्य में रखकर ही श्रीहर्ष के पाण्डित्य की वास्तविकता जानी जा सकती है।

नैषधचरित

।रित' के २२ सर्गों में २८३० श्लोक हैं, जिनमें निषध देश के राजा नल और विदर्भ देश के राजा भीम की पुत्री दमयन्ती का प्रणय-सम्बन्ध

बड़ी ही सरस शैली में निबद्ध है। संस्कृत के अन्य कवियों की भाँति श्रीहर्ष ने भी अपने इस महाकाव्य की कथावस्तु नल-दमयन्ती के प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान से ली है; किन्तु अपने उत्कृष्ट कविकर्म और अपनी सरस शैली के बल पर उस नीरस आख्यान को ऐसा हृदयग्राही बना दिया है कि संस्कृत-जगत् ने उसको सहसा ही अपना कर उसकी लोकप्रियता को सिद्ध कर दिया।

महाकाव्य का श्रीगणेश राजा नल के मृगया-वर्णन से होता है और सर्गान्त तक यह प्रसङ्ग चलता है। दूसरे सर्ग में हंस द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन तथा राजा नल द्वारा उसको कुण्डिनपुरी भेजे जाने का वर्णन है। तीसरे सर्ग में एकान्त स्थान पर दमयन्ती के समक्ष हंस द्वारा किया गया नल के पौरुष, पराक्रम और सौन्दर्य का वर्णन है, जिससे कि दमयन्ती सहसा ही नल के लिए आकुल हो उठती है। चौथे सर्ग में नल के प्रति दमयन्ती के पूर्वानुराग तथा वियोगावस्था का प्रशस्त वर्णन है। पाँचवें सर्ग में राजा भीम द्वारा अपनी पुत्री के स्वयंवर के आयोजन का और इन्द्र, वरुण, अग्नि तथा यम द्वारा राजा नल को तिरस्करिणी विद्या के सहारे अपना दूत बनाकर महल में भेजे जाने का वर्णन है। छठे सर्ग से नवम सर्ग तक नल द्वारा दमयन्ती के समक्ष देवताओं का सन्देश निवेदित करना, दमयन्ती की नल के प्रति अटूट निष्ठा, उसके प्रति अपनी व्यथा के उद्गार और अन्त में नल का अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाना वर्णित है। दसवें सर्ग में स्वयंवर की रचना और दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन है। ग्यारहवें तथा बारहवें सर्ग में स्वयंवर में उपस्थित राजाओं का मनोरंजक वर्णन है। तेरहवें सर्ग में चारों देवताओं के, नल का रूप धारण कर स्वयंवर में उपस्थित हो जाने तथा सरस्वती द्वारा नल के स्वरूप का क्लिष्ट वर्णन है। चौदहवें सर्ग में दमयन्ती की पतिनिष्ठा पर प्रसन्न देवताओं का अपने वास्तविक रूप को धारण करने तथा नल के साथ उसका विवाह हो जाने का वर्णन है। पन्द्रहवें सर्ग में वर-वधू की प्रसाधन-सामग्री का वर्णन है। सोलहवें सर्ग में उनके पाणिग्रहण और ज्यौनार का विस्तृत वर्णन है। सत्रहवें सर्ग में स्वर्ग की ओर लौटते हुए देवताओं द्वारा राजा कलि के नास्तिकवाद का खंडन किए जाने

का वर्णन है। अठारहवें सर्ग में नल-दमयन्ती के प्रथम समागम का वर्णन है। अन्त के चार सर्गों में नल-दमयन्ती के व्यावहारिक जीवन, दाम्पत्य प्रणय और देवाराधन आदि का रुचिर वर्णन है।

कवित्व

श्रीहर्ष, भारवि की परम्परा के महाकवि हैं। भारवि ने जिस चमत्कार या कलावादी दृष्टिकोण का प्रवर्तन किया था, आगे चल कर काव्य के क्षेत्र में उसका बहुत बड़े पैमाने पर अनुकरण हुआ और श्रीहर्ष के बाद तो उसकी इतनी खाल खींची गई कि काव्य को एक हँसी का विषय माना जाने लगा। श्रीहर्ष के महाकाव्य में महाकाव्य की इस पूर्वापर स्थिति का संगम देखने को मिलता है।

अपने महाकाव्य के सम्बन्ध में श्रीहर्ष का यह कहना है कि 'मैंने जो कुछ लिखा है वह विद्वद्वर्ग के लिए लिखा है। साधारण लोग उसका आदर करें या न करें, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है। मुझे संतोष है कि विद्वान् लोग मेरे काव्य का रस लेते हैं।' उन्हें विश्वास है कि उनकी कविता-कामिनी प्रौढ सुधी युवकों के दिलों को गुदगुदाने में पूर्ण सक्षम है। फिर भी अरकसि मूर्ख बालक उनकी कविता की कद्र करें या न करें, इसकी उन्हें चिन्ता ही क्या ? :

'यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तमदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥'

उन्होंने आगे कहा है कि 'अपने-आप को विद्वान् समझने वाला बुद्धिमान् इस काव्य के साथ जबर्दस्ती खिलवाड़ करने का यत्न न करे, क्योंकि वह इसकी गांठों को न सुलझा पावेगा। और यदि वह इन गाँठों को सुलझा कर काव्यतरंगों में अवगाहन करने का आनन्द प्राप्त करना चाहता है तो उसको चाहिए कि वह गुरु के चरणों में बैठ कर इसका विधिवत् अध्ययन करे' :

'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।

श्रृङ्गाराङ्गगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासाद्य-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥'

अपनी कविता के लिए श्रीहर्ष ने 'महाकाव्य', 'निसर्गोज्ज्वल', 'चारु', 'नव्य', 'अतिनव्य' आदि पदों का प्रयोग किया है और अपने 'नैषधचरित' को उन्होंने 'अतिशय स्वादिष्ट अर्थों को उत्पन्न करने वाला','शरत्कालीनचन्द्रमा की चन्द्रिका के समान उज्ज्वल उक्तियों से भरा', 'आद्यन्त सरस और अत्यन्त स्वादिष्ट', 'एक भी नवीन अर्थ या घटना को न छोड़ने वाला' और 'अभूतपूर्व रसमयी उक्तियों से समान्वित' कहा है।

इसलिए 'नैषधचरित' को पढ़ने के लिए पहली बात तो युवा होने की तथा रतिशास्त्र में निपुण होने की है और दूसरी विद्वान् होने की है। अपने काव्य के सम्बन्ध में श्रीहर्ष का यह दृष्टिकोण अपनी कलावादी या चमत्कार-वादी परम्परा का परिणाम है। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य में अपनी इस विचारधारा का पूर्ण निर्वाह किया है। उन्होंने सर्वत्र ही अपनी इस पाण्डित्य-अहम्मन्यता को बरकरार रखा है, भले ही कहीं-कहीं उन्हें काव्य के भाव-पक्ष को भी कुचलना पड़ा है।

श्रीहर्ष की कविता में उनके दार्शनिक अभिप्रायों की चर्चा पहले हो चुकी है। वे कविता के क्षेत्र में भारवि तथा माघ की परम्परा में श्रृङ्गार के कलापक्ष के कवि रहे हैं। सप्तम सर्ग में दमयन्ती का अमर्यादित नखशिख-वर्णन, सोलहवें सर्ग में अतिशय कामदशाओं का वर्णन और अठारहवें तथा बीसवें सर्ग में विलासपूर्ण रतिकेलि के वर्णन यह बताते हैं कि वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का गम्भीर अध्ययन करने के बाद श्रीहर्ष ने इन स्थलों को लिखा था।

इस प्रकार श्रीहर्ष के कवित्व में वेदान्त और काम का यह विचित्र संयोग बड़ा ही अनोखा लगता है

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य को श्रृङ्गाररूपी अमृत का चन्द्रमा (श्रृङ्गारा-मृतशीतांशुः) कहा है। उन्होंने श्रृङ्गार के संयोग तथा विप्रलंभ दोनों पक्षों का चित्रण किया है; किन्तु उनका विप्रलंभ श्रृंगार अप्रस्तुत विधान से लद जाने के कारण उतना आकर्षक नहीं है। रमणीरूप के वर्णन में श्रृङ्गाररस की मधुर

व्यंजना में श्रीहर्ष ने अपनी विलक्षण सहृदयता का परिचय देते हुए दमयन्ती के अलौकिक सौन्दर्य का क्या ही अनूठा चित्रण किया है :

'हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यविलं विलोक्यते धृतगंभीरखनीखनीलिम ॥'

'जान पड़ता है कि दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिए ब्रह्मा ने चन्द्रमा को निचोड़ कर उसका तत्त्व खींच लिया है। इसी कारण बीच में छिद्र हो जाने से उसके उस पार आकाश की नीलिमा दिखाई पड़ती है।'

दमयन्ती के शरीर में काम और यौवन के प्रतीक उसके स्तनों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने लिखा है :

'अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम् ।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥'

'दमयन्ती का शरीर कान्ति के अनेक झरनों के समावेश से अथाह संगम हो गया है। इसलिए उसमें चलने वालों को सदा ही अपने डूबने का भय बना रहता है। किन्तु दमयन्ती के अंग-प्रत्यंग में काम और यौवन का संचार है। वे दोनों अपने को डुबाने से कैसे बचावें। इनको तैरने के लिए दो घड़े मिल गये हैं। वे ही दमयन्ती के उरोज हैं। उन्हीं के सहारे काम तथा यौवन उसके शरीररूपी सरोवर में स्वच्छन्द सन्तरण कर रहे हैं।'

शृङ्गार-वर्णनों के अन्तर्गत श्रीहर्ष ने नखशिख-वर्णन पर विशेष अभिरुचि प्रकट की है; किन्तु वह भी परम्परा के अनुकरण के कारण, पुनरुक्ति के कारण, और अत्यन्त विलासिता के कारण कुछ अस्वाभाविक हो गया है। इसके प्रमाण दूसरे, सातवें, पंद्रहवें और बाईसवें सर्ग में दमयन्ती के नखशिख-वर्णन में मिलते हैं। शृङ्गार के अतिरिक्त 'नैषधचरित' में वीर, करुण और हास्य आदि रसों के भी अच्छे दृष्टान्त देखने को मिलते हैं। उनका वीररस कम प्रभावशाली है और यही बात हास्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। करुण रस का निश्चय ही श्रीहर्ष ने अच्छा चित्र खींचा है। प्रथम सर्ग में नल के द्वारा पकड़े गये हंस का विलाप निश्चित ही बड़ा कारुणिक है। वह कहता है :

'मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कीदृग्भविता तव क्षणः ॥'

'हे प्रिये, उस समय तुम्हारी क्या स्थिति होगी, जब तुम मेरे सभी हंसों को पास आया देखकर उनसे मेरे सम्बन्ध में पूछोगी कि 'मेरा प्रिय अभी कितनी दूर है, जो मेरे लिए सन्देश भेजने और मृणाल लाने में बड़ा ही सुस्त जान पड़ता है,' और तुम्हारे इस प्रश्न के उत्तर में कुछ न कह कर जब वे केवल रोने लगेंगे, उनको रोते देखकर तुम पर उस समय न जाने क्या बीतेगी ?'

नल के हाथों से मुक्ति पाने के लिए हंस के जब सभी प्रयत्न व्यर्थ हो गये तो उसने नल के हृदय में करुणा जगाने के लिए एक बहुत ही सुन्दर बात कही। उसने कहा 'अपनी माँ का मैं एकलौता बेटा हूँ। मेरी माँ वृद्ध हो चुकी है। मेरी पत्नी ने अभी-अभी सन्तान को जन्म दिया है। वह बड़ी दयनीय और तपस्विनी है। उन दोनों का एक मात्र मैं ही आश्रय हूँ। ऐसे विपत्तिग्रस्त एवं दयनीय जीव को सताते हुए हे विधाता, क्या तेरा हृदय करुणा से टूक-टूक नहीं हो रहा है' :

'मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे त्वां करुणा रुणद्धि नो ॥'

'नैषधचरित' में प्रकृति-वर्णन से संबद्ध अनेक प्रसंग हैं। श्रीहर्ष का यह प्रकृति-वर्णन संयोग और वियोग के उद्दीपन के रूप में प्रकट हुआ है। पहले, चौथे, उन्नीसवें, तथा बीसवें सर्ग में प्रकृति-वर्णन के अनेक प्रसंग देखने को मिलते हैं। उन्होंने प्रातः, सायं, वन, उपवन, सूर्य, चाँद, नदी, नद, समुद्र, तड़ाग आदि प्रकृति के विभिन्न रूपों को अंकित किया है। किन्तु उनके प्रकृति-वर्णन पर भी उनका अप्रस्तुतविधान हावी है।

सूर्यास्त के बाद रात्रि के समय आसमान पर उगे हुए तारों के लिए यह कल्पना करना कि काल ने सूर्यरूपी अंगार को खाकर जो बीज थूक दिए थे वे ही तारों के रूप में आसमान पर दिखाई दे रहे हैं, श्रीहर्ष की अनूठी सूझ है :

'पचेलिमं दाडिममर्कबिम्बमुत्तार्य संध्या त्वगिवोज्झितास्य ।
तारामयं बीजभुजादसीयं कालेन निष्ठ्यूतमिवास्थियूथम् ॥'

इसी प्रकार श्रीहर्ष के प्रकृति-वर्णन का एक अन्य उदाहरण देखिए :

'ताराक्षरैर्यामसिते कठिन्या निशाऽलिखेद्व्योम्नि तमःप्रशस्तिम् ।
विलुप्य तामल्पयतोऽरुणेऽपि जातः करे पाण्डुरिमा हिमांशोः ॥

'निशा ने बड़ी कठिनाई से तारों के अक्षरों से काले गगन की पट्टी पर अंधकार की प्रशस्ति लिखी थी, जिसको अपने गुलाबी करों (किरणों) से चाँद ने मिटा दिया । इसीलिए तो पट्टी पर खड़िया लगने से वे सफेद हो गये हैं ।'

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य को आपादमस्तक अलंकारों से सुसज्जित किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, सन्देह, अपह्नुति श्लेष आदि अर्थालंकारों के अतिरिक्त अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों की सुन्दर छटा 'नैषधचरित' में देखने को मिलती है। श्रीहर्ष की अलंकृति में अप्रस्तुतविधान का समावेश है। उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देखिए। दमयन्ती की प्रशंसा करते हुए हंस कहता है :

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः ।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रमदभ्रगर्भे ॥'

'जब चन्द्रमा ने अपने मुख को जीतने वाले नल के मुख का वर्णन मुझसे सुना तो वह अत्यन्त लज्जित होकर कभी सूर्यमण्डल में प्रवेश कर जाता है, कभी समुद्र में कूद पड़ता है और कभी मेघमाला में जाकर छिप जाता है।'

इसी प्रकार नल को वरण करने के लिए दमयन्ती की इस मनोहर श्लेषमय अभिलाषा का चित्र देखिये। नल का वर्णन सुनकर दमयन्ती हंस से कहती है : 'जिस मनोरथ को मन नहीं छोड़ता और जिसको मैंने हृदय में धारण कर रखा है, वह मनोरथ मेरे कंठ-पथ में कैसे आ सकता है, अर्थात् उसको मैं कैसे प्रकट कर सकती हूँ। हे हंस, कौन ऐसी कुलांगना होगी, जो राजा (नल) के पाणिग्रहण की अभिलाषा को स्वयं अपने मुख से व्यक्त करने को धृष्टता कर सकती है ? (या कौन ऐसी बुद्धिमती बाला है, जो चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने की अभिलाषा कर सकती है ?)' :

'मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा॥'

इस श्लोक में 'द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं' इस पद्य में श्लेष की कितनी सुन्दर छटा और कवित्व का कितना सौष्ठव समाहित है !

श्रीहर्ष की कविता में वैदर्भी और पांचाली रीति का समन्वय है। उनके सभी पद लालित्यपूर्ण हैं। इस दृष्टि से 'नैषधचरित' का ग्यारहवाँ सर्ग द्रष्टव्य है। इस दृष्टि से श्रीहर्ष की तुलना दण्डी, जयदेव और पण्डितराज जगन्नाथ की सुन्दर पदरचना से की जा सकती है।

श्रीहर्ष कवि होने के अतिरिक्त प्रकाण्ड दार्शनिक भी थे। उनकी कविता में भी उनकी यह दार्शनिकता सर्वत्र प्रकट हुई है। उनके 'नैषधचरित' में स्थल-स्थल पर और विशेष रूप से सत्रहवें सर्ग में चार्वाक, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और अद्वैतवेदान्त आदि की गंभीर बातें देखने को मिलती हैं। अपने संबन्ध में कही गई उनकी यह गर्वोक्ति कि 'सुकुमार साहित्य हो या न्याय की दूरूह ग्रंथियों से आबद्ध कठिन तर्क हो, मेरी भारती का सभी क्षेत्रों में समान प्रवेश है', उनकी कवित्व-प्रतिभा और दार्शनिक अभिज्ञता को प्रकट करती है।

'खण्डनखंडखाद्य' नामक उनका प्रौढ दार्शनिक ग्रंथ उनके अद्वैतवेदान्ती व्यक्तित्व का परिचायक है। अपने महाकाव्य में भी उन्होंने अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शन संप्रदायों का भरपूर विरोध किया है। उन्होंने अन्य सभी दार्शनिक विकल्पों को भ्रम या अज्ञान की संज्ञा दी है। वे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त अद्वैत ब्रह्मतत्त्व के समर्थक हैं। अपने स्वयंवर के समय दमयन्ती अपने सामने पाँच नलों को देखती है, जिनमें चार नकली हैं और पाँचवाँ असली है। वह उस असली नल को नहीं पहचान पाती है। उसका कारण भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति को अर्थात् संसार में सत्, असत्, सदसत् तथा सदसद्विलक्षण, इस चतुष्कोटि अज्ञान को लाँघ कर उस पारमार्थिक ज्ञानपुंज परब्रह्म तक पहुँचने के लिए अद्वैत वेदान्त ही एक मात्र साधन है।

अभ्युत्थानयुग के अन्य अनतिप्रसिद्ध महाकाव्य

संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा में कालिदास, अश्वघोष, भारवि, भट्टि, माघ और श्रीहर्ष, इन छह महाकाव्यकारों की कृतियों का प्रमुख स्थान माना गया है। किन्तु श्रीहर्ष तक महाकाव्यों की जिस उन्नत परम्परा का प्रवर्तन हुआ उनमें बौद्ध महाकवि अश्वघोष के बाद बुद्धघोष का नाम आता है। बुद्धघोष ४०० ई० में हुए और उनके नाम से 'पद्मचूडामणि' नामक, दस सर्गों की एक काव्यकृति का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार भीम या भीमक (५०० ई०) ने २७ सर्गों की एक कृति 'रावणार्जुनीय' या 'अर्जुन-रावणीय' नाम से लिखी। भर्तृमेंठ का 'हयग्रीववध' संप्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु कल्हण ने 'राजतरंगिणी' (३।२६०-२६२) में लिखा है कि मेंठ नामक एक महाकवि स्वनिर्मित 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य को लेकर काश्मीर के तत्कालीन राजा मातृगुप्त के यहाँ गया था। मातृगुप्त स्वयमेव अच्छा कवि और काव्यप्रेमी राजा था। वह चक्रवर्ती सम्राट् विक्रमादित्य हर्ष की राजसभा का संमानित कवि था और राजा हिरण्य के निःसंतान निधन हो जाने के बाद विक्रमादित्य हर्ष ने उनको काश्मीर की राजगद्दी पर बैठाया था।

कुमारदास, भट्टि के बाद और माघ से पूर्व सातवीं शताब्दी के मध्य में हुए। उन्होंने 'जानकीहरण' नामक महाकाव्य की रचना की थी, जिसके केवल १५ सर्ग ही उपलब्ध हैं।

रत्नाकर के महाकाव्य 'हरविजय' का क्रम माघ के 'शिशुपालवध' के बाद आता है। वे काश्मीर के राजा चिप्पट जयापीड (७७९-८३१ ई०) के राजकवि थे। उनका यह प्रबन्ध ५० सर्गों तथा ४,३२० श्लोकों में समाप्त हुआ है। नवम शताब्दी के आरम्भ में शिवस्वामी ने भारवि तथा माघ की काव्यशैली पर 'कप्फिणाभ्युदय' नामक महाकाव्य की रचना की थी। वे भी काश्मीरी थे। ठीक इसी शताब्दी में काश्मीर के महाकवि अभिनन्द ने 'रामचरित' महाकाव्य लिखा। इसी समय काश्मीर के महाकवि शंकुक ने 'भुवनाभ्युदय' की रचना की। काश्मीर के काव्यकारों में क्षेमेन्द्र का नाम उल्लेखनीय है। वे

अनन्त और कलश के राज्यकाल (११वीं शताब्दी) में हुए। उनके महाकाव्य का नाम 'दशावतारचरित' है। इसी प्रकार काश्मीर के राजा जयसिंह (११२९-११५० ई०) के सभापण्डित मंखक के 'श्रीकण्ठचरित' का नाम भी उल्लेखनीय है।

संस्कृत-साहित्य में हरिश्चन्द्र के नाम से अनेक विद्वानों का उल्लेख हुआ है। 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक महाकाव्य के लेखक हरिश्चन्द्र अथवा हरिचन्द का स्थितिकाल ११वीं शताब्दी था। ये जैन थे। दूसरे जैन आचार्य हेमचन्द्र १२वीं शताब्दी में हुए। उन्होंने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' का निर्माण किया जो कि 'महाभारत' की शैली का ग्रन्थ है। इसी शताब्दी में जैन महाकवि वाग्भट ने 'नेमिनिर्वाण' की रचना की। वाग्भट नाम से भी अनेक ग्रन्थकार हुए, जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ के 'जैनयुग' में किया गया है।

१२वीं शताब्दी में श्रीहर्ष से पूर्व के महाकवियों में माधवभट्ट, चण्डकवि और बिल्वमंगल का नाम उल्लेखनीय है। माधवभट्ट, अवन्तिपुरी के कदम्ब-नरेश रामदेव (११८२-११९७ ई०) के सभापण्डित थे। उन्होंने 'राघव-पाण्डवीय' का निर्माण किया। 'पारिजातहरण' नामक महाकाव्य का रचयिता भी इन्हें ही बताया जता है। इसी प्रकार चण्डकवि का 'पृथ्वीराजविजय', जो केवल आठ सर्गों तक ही उपलब्ध है और बिल्वमंगल (श्रीकृष्ण-लीलांशुक) का 'गोविन्दाभिनिवेश' या 'श्रीचिन्हकाव्य' का नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार यद्यपि अश्वघोष के बाद और श्रीहर्ष से पूर्व की विभिन्न शताब्दियों में अनेक महाकाव्यों का निर्माण हुआ; फिर भी जो रचनाकौशल और काव्यसौष्ठव कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ और श्रीहर्ष के महाकाव्यों में देखने को मिलता है उसका उक्त महाकाव्यों में अभाव है।

श्रीहर्ष के बाद महाकाव्य

महाकवि कालिदास से लेकर महाकवि श्रीहर्ष तक के बारह-सौ वर्षों में जिन महाकवियों की विशेष चर्चा रही और गौण रूप से चर्चित इस बीच जिन महाकाव्यों का निर्माण हुआ उनका यथोचित उल्लेख किया जा चुका है।

श्रीहर्ष के बाद से लेकर अब तक जो महाकाव्य रचे गये उनमें बिरली ही ऐसी कृतियाँ हैं, जिनमें परम्परा के निर्वाह की अनुवृत्ति के अतिरिक्त कुछ उल्लेखनीय विशेषतायें देखने को मिलती हैं। इस बीच जो उच्चकोटि की कृतियाँ रची गईं उनमें जयरथ (१३वीं श०) का 'हरचरितचिन्तामणि', अमरसिंह (१३वीं श०) का 'सुकृतसंकीर्तन', बालचन्दसूरि (१३वीं श०) का 'वसन्तविलास', चन्द्रप्रभसूरि (१३वीं श०) का 'पाण्डवचरित', नयनचन्द्र (१३१० ई०) का 'हम्मीरमहाकाव्य', वासुदेव कवि (१४वीं श०) का 'युधिष्ठिरविजय', अगस्त्य (१४वीं श०) का 'बालभारत', वेंकटनाथ वेदान्त-देशिक (१२९८–१३६९ ई०) का 'यादवाभ्युदय', गंगादेवी (१४वीं श०) का 'मथुराविजय', मल्लाचार्य (१४वीं श०) का 'उदारराघव', वामनभट्ट बाण (१५वीं श०) का 'रघुनाथचरित', जोनराज (१४५० ई०) के शिष्य श्रीवर का 'जैन राजतरंगिणी', राजनाथ द्वितीय (डिंडिमकविसार्वभौम १४३० ई०) का 'सालवाभ्युदय', राजनाथ तृतीय (१६वीं श०) का 'अच्युतरायाभ्युदय', रुद्र कवि (१५९६ ई०) का 'राष्ट्रौढवंश', चन्द्रशेखर (१६वीं श०) का 'सुर्जनचरित', यज्ञनारायण दीक्षित (१७वीं श०) का 'रघुनाथभूपविजय', नीलकण्ठ दीक्षित (१७वीं श०) का 'शिवलीलावर्णन', मेघविजयगणि (१७वीं श०) का 'सप्तसंधान' और चक्र कवि (१७वीं श०) का 'जानकीपरिणय', इनका नाम लिया जा सकता है। इन महाकाव्यों में श्रीहर्ष के पूर्ववर्ती महाकाव्यों की भाँति सौष्ठव और मार्दव का अभाव है। इसी हेतु महाकाव्यों के समीक्षाकार विद्वानों ने १२वीं शताब्दी के बाद महाकाव्यों के ह्रास का युग कहा है।

इनके अतिरिक्त संस्कृत, पालि और प्राकृत के महाकाव्यों में कनकसेन वादिराज (८०० ई०) का 'यशोधरचरित', परिमल (१०वीं श०) का 'नवसाहसांकचरित', विल्हण (११वीं श०) का 'विक्रमांगदेवचरित', जल्हण (१२वीं श०) का 'सोमपालविजय', कल्हण (१२वीं श०) का 'राजतरंगिणी', आदि ऐतिहासिक काव्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पालि भाषा के महाकाव्यों में 'दीपवंश' (३५२–४५२ ई०), 'महावंश' (५००–६००), 'महाबोधिवंश' (११वीं श०), 'थूपवंश' (१३वीं श०);

'अत्तनगलुबिहारवंश' (१३वीं श०), 'दाठवंश' (१३वीं श०), 'छकेसधातुवंश' (१९वीं श०), 'शासनवंश' (१९वीं श०) और 'गन्वंश' (१९वीं श०) का नाम लिया जाना चाहिए।

इसी प्रकार प्राकृत भाषा के प्रमुख महाकाव्यों में शिवाचार्य की 'आराधना', विमलसूरि (६० वि०) का 'पउमचरिय', प्रवरसेन (६०० ई०) का 'सेतुबन्ध' (रावणवहो), वाक्पतिराज (८०० ई०) का 'गउडवहो' ये नाम उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत-साहित्य में महाकाव्यों की सर्वांगीण क्रमबद्ध परम्परा तथा उनके विवेचन के लिए इतिहास का बृहद् संस्करण अवलोकनीय है।

काव्य साहित्य की समृद्धि

काव्य साहित्य

संस्कृत का सम्पूर्ण काव्य-साहित्य, विषय और रचनाशैली के विकास की दृष्टि से तीन श्रेणियों या तीन युगों में अलग किया जा सकता है। पहिली श्रेणी के काव्य 'रामायण' और 'महाभारत' हैं। ये वैदिक और लौकिक संधिकाल के काव्य हैं। दूसरे युग का प्रतिनिधित्व अकेले महाकवि कालिदास की कृतियाँ करती हैं; और तीसरी श्रेणी में कालिदास के बाद की कृतियों को रखा जा सकता है। वाल्मीकि और कालिदास के बीच में भी अनेक कृतियाँ रची गई होंगी; किन्तु वे आज लुप्तप्राय हैं।

'रामायण' एक आदर्श श्रेणी का ग्रंथ है। उसमें धर्म, कर्म, समाज, संस्कृति, आर्ष और अनार्ष सभी विषयों का एक साथ समावेश है। इसी प्रकार 'महाभारत' भी भारतीय ज्ञान-विरासत का एक विश्वकोश है। वह प्रधानतया पौराणिक श्रेणी का ग्रन्थ है। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थराटों में बहुत-सी मौलिक भिन्नताएँ भी हैं; किन्तु परवर्ती काव्य-साहित्य के निर्माताओं ने जिस रूप में उनको अपनाया या उनसे दाय ग्रहण किया है, उस दृष्टि से दोनों ग्रंथों का एक जैसा मूल्य एवं एक जैसी श्रेणी है।

महाकवि कालिदास की रचनायें अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं; इसलिए भी कि परवर्ती काव्यकार प्रयत्न करने पर भी कालिदास के ग्रन्थों की पद्धति को पूर्णतया, उस निपुणता से न अपना सके। कालिदास की साहित्यिक योग्यता एवं श्रेष्ठता, भावों के व्यक्तीकरण में है। कालिदास का भाव-विधान बहुत ही चुस्त, संयत, मौलिक, समाकर्षक और स्थानोचित है। उन्होंने रचना-विधान पर उतना बल नहीं दिया।

किन्तु कालिदास के बाद के काव्यकारों में आत्माभिव्यंजन तथा रचना-शिल्प की बलवत्ता प्रतीत होती है। इस श्रेणी के आरंभिक कवियों की कृतियों में भाव एवं भाषा का एक जैसा समावेश है। काव्य में कलापक्ष की भूमिका का निर्माण यद्यपि कालिदास भी कर चुके थे। किन्तु इन बाद के कवियों ने रचनात्मक शक्ति और आलंकारिक सौन्दर्य का समावेश जिस एकरूपता से अपने ग्रन्थों में किया है, वैसा कालिदास ने नहीं। इस श्रेणी के कुछ काव्यकारों ने तो काव्य के कलापक्ष को इतना महत्त्व दिया कि वे भावपक्ष को निगल ही गए।

भावपक्ष की जगह कलापक्ष की प्रधानता का कारण 'कामसूत्र' और काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों का प्रभाव था। संस्कृत की कविता में अन्धाधुन्ध पूर्वानुकरण और चमत्कृति की अधिकता का कारण भी यही रहा है। इस कोटि के काव्य-ग्रंथों में भाव-विन्यास की जगह भावुकता की प्रधानता, स्वाभाविक प्रवाह के स्थान पर कल्पना की उड़ान और अनुभूति के स्थान पर पांडित्य-प्रदर्शन की भावना की अधिकता है। कुछ महाकाव्यों में काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा निर्धारित नियमों को इस प्रकार ठूँसा गया कि उसकी रही-सही विशेषता भी जाती रही।

द्विसंधान काव्यों की पद्धति ने कवियों को इतना प्रभावित किया कि अपने पांडित्य-प्रदर्शन के लिए वे एक श्लोक के सात-सात अर्थ करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि कवित्व-साधना की जगह बौद्धिक प्रदर्शन होने लगा और विचारों तथा भावों के चित्रण की दिशा में सर्वथा उपेक्षा की जाने लगी।

फिर भी एक लंबी अवधि तक संस्कृत के ग्रंथकारों ने काव्य के अंग-उपांगों पर भरपूर कृतियाँ हमें दी हैं। काव्य का विषय बहुत व्यापक है। संस्कृत-साहित्य का लगभग अर्धांश एक ही काव्य-विषय के भीतर समा जाता है। खंडकाव्य, महाकाव्य, गीतिकाव्य (संदेशकाव्य, स्तोत्रकाव्य), चम्पूकाव्य, ऐतिहासिक काव्य, कथाकाव्य, सुभाषितकाव्य, गीतिकाव्य, गद्यकाव्य और नाटक आदि अनेक विषयों का एक ही काव्य-विषय के भीतर

समावेश हो जाता है। इन सभी विषयों की अलग-अलग समीक्षा करने पर हमें विदित होता है कि रचना-विधान और शैली-सौन्दर्य की दृष्टि से उनमें असमानताएँ हैं। उन सब की अपनी स्वतंत्र दिशाएँ हैं, और उन सभी दिशाओं को पूर्णतया प्रकाशित करने में संस्कृत के ग्रंथकारों ने सर्वत्र ही अपने प्रौढ पांडित्य को दर्शाया है। नाटक और महाकाव्यों के प्रपूरक अंग होने पर भी उनको स्वतंत्र प्रकरणों में रखा गया है। उसका कारण काव्य के अन्य अंगों की अपेक्षा उनके रचना-विधान का वैशिष्ट्य और उनका व्यापक प्रभाव है।

जिनकी कीर्तिकथा प्रस्तरखण्डों पर उत्कीर्णित है

हरिषेण

संस्कृत-साहित्य के कुछ सिद्धहस्त कवियों की उज्ज्वल कथा पाषाण-खण्डों पर उत्कीर्णित प्रशस्तियों एवं अन्तर्लेखों के रूप में जीवित है। ऐसे काव्यकारों में हरिषेण का नाम पहिले आता है। हरिषेण की जीवन-संबंधी जानकारी और उनकी असामान्य प्रतिभा का परिचय उनके द्वारा लिखी गई प्रयाग-प्रशस्ति पर उत्कीर्णित है। समुद्रगुप्त (चौथी शताब्दी) के आश्रित कवि हरिषेण ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में एक लेख ३४५ ई० में लिखा था, जो कि प्रयाग के अशोक-स्तंभ पर आज भी उत्कीर्णित है।

इस प्रशस्ति को पढ़कर जहाँ एक ओर दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त के असाधारण व्यक्तित्व, उसके ऊर्जस्वी गुण-कर्म और उसके दूरदर्शी ज्ञान का पता चलता है; जहाँ एक ओर प्रशस्तिकार हरिषेण के प्रखर-पांडित्य एवं अद्भुत कवि-कर्म का परिचय मिलता है, वहाँ दूसरी ओर उसके द्वारा संस्कृत की भव्य काव्य-परंपरा के दूरभूत इतिहास का भी पता चलता है। इसलिए इस प्रशस्ति का एक ओर तो साहित्यिक महत्त्व है और दूसरी ओर उसके द्वारा इतिहास की धुँधली दिशा भी प्रकाशित हो उठती है।

इस प्रस्तरखण्ड या इन उत्कीर्णित अक्षरों में ही गुप्तकाल के इस प्रतिभाशाली प्रथम कवि की यत्किंचित् जीवनी भी सुरक्षित है। प्रशस्ति की पुष्पिका से विदित होता है कि हरिषेण के पिता ध्रुवभूति तत्कालीन

गुप्तनरेश के महादंडनायक, विद्वत्सभा के अग्रणी विद्वान् और एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ एवं निपुण व्यवस्थापक थे। हरिषेण भी अपने पिता की भाँति पहिले तो समुद्रगुप्त की राजसभा का शीर्षस्थ विद्वान् तथा साथ ही सांधिविग्रहिक (परराष्ट्रसचिव) और बाद में कुमारादित्य (कलक्टर) से बढ़कर महादंडनायक के उच्च पद पर अधिष्ठित हुआ।

प्रयाग-प्रशस्ति हरिषेण की काव्य-प्रतिभा का उज्ज्वल उदाहरण है। प्रशस्ति का आरंभ स्रग्धरा छंद से होता है और दूसरे अनेक छंदों के अतिरिक्त उसका बड़ा हिस्सा गद्यात्मक है। उसका पद्यात्मक विधान महाकवि कालिदास की प्रतिभा को स्पर्श करता है और गद्यात्मक भाग अमकरकीर्ति बाण की भारती का अनुगमन करता है।

वीरसेन

गुप्तकाल के दूसरे काव्यकार वीरसेन हुए। ये कौशिकगोत्रीय थे और पाटलिपुत्र के निवासी थे। व्याकरण, न्याय, राजनीति और काव्य में इनका समान अधिकार था। इनका कुलनाम शाव था।

सम्राट् विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) की विद्वत्सभा के ये शृङ्गार थे और राजनीति के अद्भुत पण्डित होने के कारण राजकार्यों के संचालक तथा दिग्विजय के अवसर पर अपने आश्रयदाता के अंतरंग मित्र की भाँति संमानित थे। एक दिग्विजय-यात्रा में वे मालवा गये थे और अपनी इस स्मृति को अमर बनाने के लिए भगवान् शङ्कर की भक्ति में उदयगिरि की गुफा का निर्माण कराया था। सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की उज्ज्वल गाथा से संबंधित उदयगिरि-गुफा में उत्कीर्णित अभिलेख संभवतः वीरसेन द्वारा ही विरचित था। इन्होंने स्वयं को कुलक्रमागत सचिव लिखा है और चंद्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१४ ई०) के सांधिविग्रहिक जैसे उच्चपद पर आसीन होने का उल्लेख किया है।

वत्सभट्टि

हरिषेण की भाँति वत्सभट्टि की कीर्तिकथा भी प्रस्तर-खंडों पर सुरक्षित रहकर हम तक पहुँची है। वत्सभट्टि की कवि-प्रतिभा की अमर यादगार

मन्दसौर-प्रशस्ति है, जो कि कुमारगुप्त के राज्यकाल (पाँचवीं शताब्दी) में मालव संवत् ५२९ में उत्कीर्णित हुई थी।

इस प्रशस्ति में मन्दसौर के रेशम-बुनकरों द्वारा मालव सं० ४९३ (४३७ ई०) में एक सूर्य-मन्दिर के निर्माण का हवाला दिया गया है, जिसका पुनरुद्धार मा० सं० ५२९ (४७३ ई०) में हुआ था। इस प्रशस्ति का वसंत और वर्षावर्णन बड़ा ही काव्यमय और आकर्षक है।

मन्दसौर-प्रशस्ति ४४ श्लोकों में है। आरम्भ के श्लोकों में भगवान् भास्कर की स्तुति, तदनन्तर दशपुर (मन्दसौर) का हृदयग्राही वर्णन और बाद में वहाँ के तत्कालीन नरपति बंधुवर्मा (पाँचवीं शताब्दी) की प्रशस्ति वर्णित है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से कविता उच्चकोटि की ठहरती है। महाकवि कालिदास की भाषा और उनके भावों की प्रतिच्छाया प्रशस्ति पर स्पष्ट रूप से लक्षित होती है।

रविशांति

हरिषेण और वत्सभट्टि की भाँति रविशांति के काव्य-जीवन का इतिहास भी पाषाण-खंड पर उत्कीर्णित है। हरहा के अभिलेख से इनके जीवन-परिचय के सम्बन्ध में विदित होता है कि इनके पिता का नाम कुमारशांति और इनकी जन्मभूमि गर्गराटक थी। मौखरीनरेश ईशानवर्मा (छठी शताब्दी) के ये सभा-पंडित थे। हरहा-लेख का रचनाकाल मालव संवत् ६११ (५५५ ई०) है। इसमें मौखरी-राजवंश का सुन्दर काव्यमय और ऐतिहासिक वर्णन उल्लिखित है।

वासुल

वासुल पाँचवें कवि हैं, जिनका व्यक्तित्व मन्दसौर-प्रशस्ति में अभिलिखित है। यह प्रशस्ति मालवनरेश यशोधर्मन् के यशःकथन में है। इसके पिता का नाम वक्क था। वे यशोधर्मन् की राजसभा के सम्मानित विद्वान् एवं उसके विश्वासपात्र थे। इनकी वर्णनशैली बड़ी रोचक और भाव बड़े कोमल हैं। इनका समय छठी शताब्दी का अन्तिम भाग है। इस प्रशस्ति को गोविन्द नामक किसी कारीगर ने उत्कीर्ण किया था।

काश्मीर के कुछ काव्यप्रेमी नरेश और राजकवि

श्री और सरस्वती का एक साथ उपभोग करने वाले गुप्तयुगीन कवि मातृगुप्त की यद्यपि सम्प्रति कोई कृति उपलब्ध नहीं है, तथापि उनके कवियश को प्रकट करने वाली उनकी स्फुट कविताएँ विभिन्न सुभाषितग्रन्थों एवं सूक्ति-संग्रहों में बिखरी हुई मिलती हैं। ऐसी भी श्रुतिपरम्परा है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र पर एक पांडित्यपूर्ण टीका लिखी थी। इस विषय पर रचे गये उनके स्फुट श्लोकों को देखकर सहज ही उनकी उर्वर कविबुद्धि का परिचय मिल जाता है।

काश्मीर के नरपति पद पर प्रतिष्ठित होकर उन्होंने अपने श्रीयश और ज्ञानयश को समान रूप से फैलाया। उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य के अतिशय अनुराग के कारण मातृगुप्त को काश्मीर के निःसंतान राजा हिरण्य की गद्दी का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। महाकवि भर्तृमेंठ इन्हीं के परम मित्र एवं राजकवि थे। 'राजतरंगिणी' में विक्रमादित्य, मातृगुप्त और भर्तृमेंठ के सम्बन्ध में रोचक चर्चायें हैं।

काश्मीर की पंडित-परम्परा और वहाँ के राजाओं की विद्वत्प्रेम-सम्बन्धी चर्चाएँ संस्कृत-साहित्य के ओर-छोर तक सर्वत्र बिखरी हुई हैं। 'हरविजय' महाकाव्य के रचयिता रत्नाकर महाकवि के आश्रयदाता चिप्पट जयापीड (७७९–८१३ ई०) एक ऐसे ही नरेश हुए, जिनके विद्या-व्यसन ने संस्कृत को अनेक कविरत्न प्रदान किए। कदाचित् जयापीड के व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त किये बिना संस्कृत का काव्य-वैभव अधूरा ही रह जाता है।

'राजतरंगिणी' में लिखा हुआ है कि जिस प्रकार गुप्त हुई वितस्ता नदी को कश्यप महर्षि ने फिर से काश्मीर में प्रकट किया था, उसी प्रकार संपूर्ण विद्याओं के उद्भवस्थान उस काश्मीर देश में विलुप्तप्राय विद्याओं को जयापीड ने पुनरुज्जीवित किया। उसने अपने आश्रितों को शिक्षित करने के लिए बड़े-बड़े विद्वानों को नियुक्त किया। अपने देश में उच्छिन्न हुए व्याकरण महाभाष्य के पुनः प्रचार के लिए देश-देशान्तरों से प्रौढ़ वैयाकरणों को बुलाकर व्याकरणमहाभाष्य की ओर लोगों की प्रवृत्ति को जागृत किया। उसने

क्षीरस्वामी नामक महावैयाकरण को अपने यहाँ आमन्त्रित किया और स्वयं भी उसके निकट रहकर 'महाभाष्य' का विधिपूर्वक अध्ययन किया तथा राजसभा में उत्तमोत्तम विद्वानों का संग्रह कर उसे अत्यंत भव्य बना दिया। सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री 'काव्यालंकारसूत्र' के प्रणेता वामन उसके मंत्री थे।

जयापीड बड़ा विद्वत्प्रिय था। राज-पदवी की अपेक्षा उसे पंडित-पद अधिक प्रिय था। उसने देश भर के सभी उच्चकोटि के विद्वानों को अपने यहाँ बुला लिया, जिससे अन्य राजधानियों में विद्वानों का दुर्भिक्ष हो गया था। उसके प्रधानमंत्री शुक्रदंत के यहाँ अन्नसत्र का अधिकारी थक्किय नामक महापण्डित था। राजा के यहाँ प्रतिदिन एक लाख दीनार पारिश्रमिक पाने वाला 'काव्यालंकारसारसंग्रह' का प्रणेता उद्भट भट्ट नामक महापंडित सभापति के पद को अलंकृत करता था। उसके यहाँ 'कुट्टिनीमत' नामक कामशास्त्रीय ग्रंथ का निर्माता दामोदरगुप्त, शुक्राचार्य के समान प्रधान मंत्री का कार्य करता था। इसी प्रकार मनोरथ, शंखदत्त, चरक और संधिमान नामक अनेक कवि उसके आश्रित थे।

उसके संबंध में कहा गया है कि 'अत्यंत कृतार्थ तथा सद्‌गुणों को बढ़ाने वाले श्री जयापीड महाराज एवं कृत्य-प्रत्ययों का विधान करने वाले तथा गुण-वृद्धि के विधायक महामुनि पाणिनि में कौन-सा अंतर है ?'

काश्मीर के राजा अवंतिवर्मा (८५५–८८३ ई०) के आश्रित विद्वान् आनंदवर्धन का परिचय यथास्थान दिया जा चुका है। आनंदवर्धन अद्‌भुत काव्यशास्त्री होने के अतिरिक्त उच्चकोटि के कवि भी थे। उन्होंने 'अर्जुनचरित', 'विषमवाणलीला' और 'देवीशतक' नामक तीन काव्य भी लिखे। फिर भी वे एक कवि की अपेक्षा एक काव्यशास्त्री के रूप में ही विश्रुत हैं।

स्फुट काव्यों की परंपरा

संस्कृत में स्फुट काव्यों या खंडकाव्यों के प्रणयन की परंपरा लगभग ७वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी अथवा उसके बाद तक बनी रही। इस बीच की रची हुई अनेक कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। जिनका उल्लेख विभिन्न इतिहास-ग्रंथों या हस्तलिखित पोथियों की खोज-रिपोर्टों में

हुआ है उनके संबंध में भी प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। बहुत-सारी कृतियाँ महाकाव्यों की जगह काव्य कहकर लिखी गई हैं और इसी प्रकार कुछ खंडकाव्य कृतियाँ महाकाव्य जानकर लिखी गई हैं।

बौद्ध मातृचेट (१०० ई०) का 'महाराज कनिष्क लेख' इस परंपरा का प्रथम काव्य है। ये कनिष्क के समकालीन थे और बौद्धधर्म के सुधारों पर विचार करने के लिए कनिष्क ने उन्हें अपने यहाँ आमंत्रित किया था। संभवतः यह उस समय की बात है, जब कनिष्क ने काश्मीर में बौद्ध-संगीति का आयोजन किया था। वृद्ध होने के कारण मातृचेट कनिष्क के दरबार में न जा सके; किन्तु उन्होंने तथागत के सुधारवादी एवं नैतिक जीवन से संबंधित आदर्शों को पत्रात्मक ढंग से पद्यमयी भाषा में लिखकर कनिष्क को भेज दिया था। यही ८५ पद्य 'महाराज कनिष्क (या कनिष्क) लेख' के रूप में तिब्बती संग्रहालय में आज सुरक्षित हैं। इन्होंने 'चतुःशतक' और 'अध्यर्धशतक' नामक दो स्तुतिकाव्यों की भी रचना की थी। ये दोनों काव्य भी तिब्बती भाषा में उपलब्ध हैं।

मातृचेट के बाद बौद्ध आर्यसूर (४०० ई०) कृत 'परिमिता समास' छह सर्गों तथा ३६४ श्लोकों का एक सुंदर काव्य तिब्बती से संस्कृत में प्रकाशित हो चुका है। अपनी 'जातकमाला' को ही उन्होंने काव्यात्मक ढंग में प्रस्तुत किया है। आर्यसूर, अश्वघोष के अनुयायी बौद्ध दार्शनिकों में-से थे। कहा जाता है कि आर्यसूर ने कर्मफल के ऊपर एक सूत्रग्रंथ लिखा था, जिसका ४३४ ई० में चीनी अनुवाद हो चुका था। संभव है 'परिमिता समास' के रचयिता और कर्मफल पर सूत्रग्रंथ के रचयिता एक ही व्यक्ति थे।

इस प्रकार के स्फुटकाव्यों की परंपरा में चक्र कवि ने ७वीं शताब्दी में आठ सर्गों की 'जानकीपरिणय' नामक एक काव्यकृति लिखी। यह कवि मदुरा के तिरुमल नायक के आश्रित था। जैन महाकवि धनंजय (७वीं श०) का 'विषापहारस्तोत्र' ३९ इन्द्रवज्रा वृत्तों का एक लघुकाव्य है, जिस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। उनके द्विसंधानात्मक (द्व्यर्थक) महाकाव्य 'राघवपांडवीय' की परंपरा में, जिसका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है, कविराज (१२०० ई०), रामचंद्र (१५४२ ई०), चिदम्बर (१६०० ई०), वेंकटाध्वरी

(१६५० ई०), मेघविजयगणि (१६७० ई०), हरिदत्त सूरि (१७०० ई०) प्रभृति कवियों ने स्फुट काव्यों की रचना की। पंचस्तूपान्वय के प्रसिद्ध आचार्य जिनसेन (७०० श० सं०) का 'पार्श्वाभ्युदय' ३३४ मंदाक्रान्ता वृत्तों में लिखा हुआ सुंदर खंडकाव्य है। जिनसेन के शिष्य गुणभद्र का 'आत्मानुशासन' २७२ पद्यों का ग्रंथ है, जो भर्तृहरि की रचनाशैली में है।

इसी प्रकार नैयायिक जयंत (९००) के पुत्र अभिनंद ने वाणभट्ट की 'कादम्बरी' की संक्षिप्तकथा के रूप में 'कादम्बरी-कथासार' नामक ८ सर्गों का एक काव्य लिखा। नीतिवर्मा कृत एक काव्यकृति 'कीचकवध' का उल्लेख भोज (१००० ई०) ने किया है, जिससे उसका स्थितिकाल नवम शताब्दी या उससे कुछ पूर्व का सिद्ध होता है। जैनकवि सोमेश्वर (९०० ई०) का 'नीति-वाक्यामृत' भी इसी श्रेणी का ग्रंथ है।

ब्राचट अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदंत (१० वीं श०) ने दो खंडकाव्य लिखे 'णायकुमारचरिउ' (नागकुमारचरित) और 'जसहरचरिउ' (यशोधर-चरित)। मालव के परमारवंशीय राजा वाक्पतिराज का संमानित सभा-पंडित अमितगति (१०वीं श०) का पूर्वाख्यान ढंग का ग्रंथ 'धर्मपरीक्षा' किसी अनुपलब्ध प्राकृत ग्रन्थ पर आधारित है। उनका 'पंचसंग्रह' भी काव्यश्रेणी का ग्रंथ है। अमितगति ने १२० पद्यों की 'सामयिक पद्य' और ३२ पद्यों की 'भावना द्वात्रिंशिका' नामक दो कृतियाँ और लिखीं।

वादिराजसूरि (१०वीं शताब्दी) का चार सर्गों का खंडकाव्य 'यशोधर-चरित' और २५ पद्यों का स्तोत्रग्रन्थ 'एकीभावस्तोत्र' सरस काव्य है। राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण तृतीय (९४०–९५६ ई०) के समकालीन हलायुध ने 'कविरहस्य' नामक एक काव्य लिखा था। जैन कवि मल्लिषेण (११वीं श०) का पंचसर्गात्मक 'नागकुमार काव्य' भी एक खंडकाव्य है, जो बड़ा ही सरल और हृदयग्राही है। वादीभसिंह (११वीं श०) कृत दो ग्रन्थ 'गद्यचिंतामणि' और 'क्षत्रचूडामणि' काव्य श्रेणी के ग्रंथ हैं। पहिला बाण की 'कादम्बरी' एवं धनपाल की 'तिलकमंजरी' से प्रभावित गद्यमय और दूसरा 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' की कथाओं से अनुप्राणित पद्यमय है। पहिला प्रौढ़ों के लिए और दूसरा बालोपयोगी है।

इसी प्रकार १३वीं शताब्दी में आशाधर का 'भरतेश्वराभ्युदय काव्य' (सटीक) और 'राजमती-विप्रलंभ' (अप्राप्य) का उल्लेख आता है। विक्रम (१४वीं श०) का 'नेमिचरित' यद्यपि कालिदास के 'मेघदूत' के चरण को लेकर आरंभ किया गया है, तथापि वह दूतकाव्य न होकर चरित-काव्य ही है। इसी परंपरा को १४वीं श० में विजयनगर के राजा हरिहर के आश्रित कवि लोलंबराज ने ५ सर्गों के एक 'हरि-विलास' नामक काव्य को लिखकर आगे बढ़ाया।

१५वीं श० में मालावार के एक सुकुमार नामक कवि ने ४ सर्गों की काव्यकृति 'कृष्णविलास' लिखी। इस कवि की गणना मालावार के तत्कालीन शीर्षस्थ कवियों में की जाती है। चिदम्बरम् के एक अज्ञातनामा कवि ने १६वीं शताब्दी के लगभग त्रिसंधान-पद्धति पर एक 'राघवपांडवयादवीय' काव्य लिखा। इस काव्य के तीन अर्थ राम, पांडव और कृष्ण के जीवन-चरितों पर समानरूप से एक साथ लागू होते हैं। १६वीं शताब्दी के ही लगभग सूर्यदेव ने ३६ छंदों में 'रामकृष्ण' नामक एक विलोम काव्य की रचना की। वेंकटाध्वरी के अतिरिक्त एक अज्ञातनामा लेखक का ३०० छंदों का विलोम काव्य 'यादवराघवीय' भी हस्तलेख के रूप में मिलता है और एक दूसरे अज्ञातनामा लेखक की ६४ छंदों की विलोम काव्य-कृति 'राघवयादवीय' का भी उल्लेख मिलता है।

लक्ष्मण भट्ट के पुत्र रामचंद्र भट्ट ने १५४२ ई० में द्विसंधान-पद्धति पर एक 'रसिक-रंजन' काव्य लिखा। कांची-निवासी एक महान् दार्शनिक एवं कवि वेंकटाध्वरी, रामानुज संप्रदाय का अनुयायी विद्वान्, १६५० ई० के लगभग हुआ। उसने 'यादवराघवीय' नामक एक ३० श्लोकों का द्विसंधान-काव्य लिखा और स्वयं ही उस पर टीका भी की। जैनाचार्य श्रुतसागर की अधूरी उपलब्ध कृति 'यशस्तिलकचंद्रिका' और 'श्रीपालचरित' तथा 'यशोधरचरित' भी १६वीं शताब्दी में लिखे गए खंडकाव्य हैं। इसी समय आचार्य शुभचंद्र ने 'चंद्रप्रभचरित', 'पद्मनाभचरित', 'जीवनधरचरित', 'चंदना-कथा' और 'नंदीश्वरकथा' आदि काव्य लिखे।

१७वीं शताब्दी में रामभद्र कवि ने सुप्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि के

जीवन पर 'पतंजलिचरित' काव्य लिखा। वह तंजोर के राजा शाहजी (१६८४–१७११ ई०) का आश्रित कवि था। १७वीं शताब्दी में अप्पय दीक्षित के अनुज अच्चा दीक्षित के पौत्र और नारायण दीक्षित के पुत्र श्रीकंठ दीक्षित मदुरा के तिरुमल नायक का प्रधान सचिव था। उसने कई अच्छे ग्रंथ लिखे, जिनमें ८ सर्गों का उसका 'गंगावतरण' काव्य बड़ा ही सुन्दर काव्य है। वह पण्डितराज जगन्नाथ का कटु आलोचक था। भट्टारक ज्ञानभूषण के प्रशिष्य वादिराज द्वारा रचित 'श्रीपाल-आख्यान', 'सुलोचनाचरित' और 'यशोधरचरित' भी इसी श्रेणी के काव्य हैं।

१८वीं शताब्दी में द्विसंधान-पद्धति पर हरिदत्त सूरि ने 'राघवनैषधीय' नामक एक २ सर्गों का काव्य लिखा। रामकाव्य के संबंध में दो चित्रकाव्य कृष्णमोहन कृत 'रामलीलामृत' और किसी दाक्षिणात्य विद्वान् वेंकटेश कृत 'चित्रबंधरामायण' का भी हस्तलेखों के रूप में उल्लेख मिलता है। पहिले काव्य में १२० छन्द और दूसरे में ६२० छन्द हैं। इसी प्रकार रामकाव्य-विषयक कुछ स्फुट काव्यों में कविराज विश्वनाथ के 'राघवविलास', सोमेश्वर के 'रामशतक', मुद्गल भट्ट के 'रामार्याशतक' और कृष्णेन्द्र कवि के 'आर्यारामायण' का भी फादर कामिल बुल्के ने उल्लेख किया है।

'प्राणप्रिया काव्य' के रचयिता जैनाचार्य रत्नसिंह का समय अविदित है। इस काव्यकृति का हिन्दी अनुवाद श्री नाथूराम प्रेमी ने किया है। काव्य बड़ा ही सरस है।

संस्कृत में स्फुट काव्यों के निर्माण का अंत नहीं है। आज भी बहुत बड़े पैमाने पर इस प्रकार के उत्कृष्ट काव्य लिखने की परिपाटी है। इस प्रकार की अनेक कृतियाँ, जिनके समय और जिनके कर्ता का कोई पता नहीं चलता है, विभिन्न हस्तलेख-संग्रहों में सुरक्षित हैं। संस्कृत की जो इनी-गिनी पत्रिकाएँ आज प्रकाशित होती हैं, उनमें धारावाहिक रूप से आज के स्फुट काव्यों और उच्चकोटि की स्फुट कविताओं का दर्शन प्रायः होता ही रहता है।

गीतकाव्य

गीत या गीति का अर्थ सामान्यतया गाना समझ लिया जाता है, जिसमें साज-शृंगार, गायन-वादन की प्रधानता हो; किन्तु यहाँ गीत या गीति का

अर्थ हृदय की रागात्मक भावना को छंदबद्ध रूप में प्रकट करना अभिप्रेत है। गीतकाव्य में रागात्मकता या ध्वन्यात्मकता का होना 'धूम में अग्नि' की भाँति अनिवार्य है। गीतकाव्य (Lyric Poetry) में गीतात्मकता तो होनी ही चाहिए; किन्तु ऐसी पद्यरचना जो कवि की आत्मानुभूति पर आधारित हो, अगेय होने पर भी गीतकाव्य के भीतर समा जाती है; और इसके विपरीत आत्मानुभूतिशून्य, बाह्याभिव्यंजक मात्र रचना भी गीतकाव्य के भीतर आ जाने से रह जाती है। इसी कारण हिन्दी की प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ कवयित्री श्री महादेवी जी ने भी 'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके' अपनी इस परिभाषा में संगीतात्मकता को गौण और ध्वन्यात्मकता को प्रमुख स्थान दिया है। इस परिभाषा से सङ्गीत और गीत या गीति का मौलिक अंतर भी स्पष्ट हो जाता है।

डॉ० दशरथ ओझा ने गीतकाव्य की परिभाषा को चौकोर सीमा-रेखाओं में इस प्रकार फिट किया है : (१) जिस छंदबद्ध रचना में भावातिरेक की धारा इस रूप में प्रवाहित हो कि उसमें स्वर-लहरियाँ स्वभावतः तरंगायित हों; (२) जिसमें कवि या पात्र की रागात्मकता उसके व्यक्तित्व के साथ मिलकर आत्म-निवेदन के रूप में प्रकट हो; (३) जिसका आयतन इतना ही बड़ा हो कि जिसमें कवि की रागात्मकता का प्रवाह शिथिल न पड़ने पावे; और (४) जिसमें घटना-वर्णन को गौण, किन्तु भावना को उच्चतम आसन प्राप्त हो; जिस काव्य में एक लय या एक ही भाव के साथ-साथ एक ही निवेदन, एक ही रस एवं एक ही परिपाटी हो, वह गीत-काव्य है।

गीतकाव्य की भावना की उद्भूति

गीत-काव्यों के प्रणयन में संस्कृत के कवियों में विशेष उत्सुकता दिखाई देती है। इस प्रकार की स्फुट संदेश-रचनाओं का अनुवर्तन लगभग वैदिक-युग में ही हो चुका था; और उदाहरणस्वरूप ऋग्वेद में सरमा नामक एक कुत्ते को प्राणियों के निकट संदेशवाहक रूप में भेजने का प्रसंग यहाँ स्मरण किए जाने योग्य है। 'रामायण', 'महाभारत' और उनके परवर्ती काव्यों में भी इस

प्रकार के स्फुट प्रसंग प्रचुर रूप में मिलते हैं। कदाचित् महामुनि वाल्मीकि के शोकोद्गारों में भी यह भावना या अनुभूति गोपित रूप में विद्यमान दिखाई देती है। पति-वियुक्ता प्रवासिनी सीता के प्रति प्रेषित राम का संदेशवाहक हनुमान्, दुर्योधन के प्रति धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा प्रेषित श्रीकृष्ण और सुंदरी दमयंती के निकट राजा नल द्वारा प्रेषित संदेशवाहक हंस इसी परंपरा के अन्तर्गत गिने जाने वाले पूर्व प्रसंग हैं। इस दिशा में 'भागवत' का वेणुगीत विशेष रूप से उद्धरणीय है, जिसकी रस-विभोर कर देने वाली सुंदर भावना की छाप संस्कृत के गीतग्रन्थों पर स्पष्टतया अंकित है।

गीतकाव्य के भेद

संस्कृत के ये गीत-काव्य कई प्रकार से लिखे गए। इनको प्रमुख दो भागों में अलग किया जा सकता है: (१) स्तोत्रकाव्य या भक्तिकाव्य और (२) शृंगारकाव्य या संदेशकाव्य। स्तोत्रकाव्य या भक्तिकाव्य वे हैं, जिनमें आध्यात्मिक भावना में अभिभूत होकर भक्तजनों के एकांतिक हृदयोद्गार अथाह वेग से प्रवाहित होते हैं। इसके अतिरिक्त जिन गीत-काव्यों में शृंगार की भावना का प्राधान्य है उन्हें संदेश-काव्यों के अंतर्गत रखा गया है। आत्म-निवेदन की तीव्रानुभूति शृंगार-काव्यों की विशिष्टता है। संस्कृत में ये शृङ्गार-काव्य कई प्रकार से लिखे गए, जिनमें दूतपद्धति के काव्य प्रमुख हैं। इन दूतकाव्यों में प्रेमी अथवा प्रेमिका का किसी दूत के माध्यम से अपने वियुक्त प्रणयी के प्रति प्रणय-संदेश निवेदित होता है।

संदेशकाव्य

संदेश-काव्य या दूत-काव्यों की परंपरा में 'मेघदूत' और 'घटकर्पर-काव्य' पहिली कृतियाँ हैं। इन दोनों के रचयिता क्रमशः महाकवि कालिदास और घटकर्पर कवि हुए। इन दोनों काव्यों में किसकी रचना पहिले हुई, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत अभी तक तय नहीं हो पाया है। धन्वंतरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वैतालभट्ट, घटकर्पर और कालिदास, इन सबको विक्रमादित्य की विद्वत्सभा का भूषण माना गया है। इस नामावली में घटकर्पर को पहिले और कालिदास को बाद में रखा गया है; किन्तु यह

पूर्वापर का सम्बन्ध उनकी स्थिति पर कोई भी विश्वसनीय प्रकाश नहीं डालता है। छंद-रचना की दृष्टि से ही कदाचित् यह पूर्वापर का क्रम रखा गया हो; और इसके अतिरिक्त कथंचित् इसमें भी संदेह है कि 'ज्योतिर्विदाभरण' की उक्त बात ही सर्वथा कल्पित हो। फिर भी इन दोनों काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन से इतना निश्चित हो जाता है कि 'मेघदूत' की भावानुभूति एवं उसके बाह्य शिल्प पर 'रामायण' का और 'घटकर्पर-काव्य' पर 'महाभारत' का प्रभाव है।

'घटकर्पर-काव्य' के अन्तिम श्लोक में कवि ने प्रतिज्ञा की है कि जो भी कवि इससे उत्तम काव्य की रचना कर देगा, उसके लिए वह घड़े के कर्पर (टुकड़े) पर पानी भर कर ला देगा। उसकी इसी प्रतिज्ञा पर काव्य का ऐसा नामकरण हुआ और सम्भवतया इस नामकरण पर ही उसके निर्माता की भी 'घटकर्पर' नाम से प्रसिद्धि हुई। उसका वास्तविक नाम क्या था, इस सम्बन्ध में कुछ भी विदित नहीं है। काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त (१०वीं श०) ने इस ग्रन्थ पर एक टीका लिखी है और उसमें प्रकट किया है कि प्रस्तुत रचना कालिदास की है। किन्तु यह बात अब पूरी तरह निर्णीत हो चुकी है कि 'घटकर्पर' कालिदास की रचना नहीं है।

लोकप्रियता और प्रसिद्धि की दृष्टि से महाकवि का 'मेघदूत' बड़े महत्त्व का है। इसी लोकप्रियता के कारण उस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी, जर्मन, तिब्बती और चीनी आदि अनेक विदेशी भाषाओं में भी महाकवि की इस कृति का अनुवाद ही नहीं हो चुका है, वरन् उन भाषाओं में उसके कई संस्करण भी निकल चुके हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जाना यथेष्ट है कि दुनिया की विभिन्न भाषाओं में अनूदित कृतियों की दृष्टि से 'बाइबिल' और 'पंचतंत्र' के बाद 'मेघदूत' का ही स्थान है।

'मेघदूत' का प्राचीनतम अनुवाद १३वीं शताब्दी में तिब्बती भाषा में किया गया था, जिसकी एक प्रति तंजोर के ग्रन्थसंग्रह में सुरक्षित है। इसी अनुवाद के आधार पर १९०६ ई० में एक जर्मन विद्वान् डॉ० बेख (Beckh)

ने 'मेघदूत' का एक अनुवाद जर्मन भाषा में किया। 'मेघदूत' का सिंहली अनुवाद भी प्राचीन है, जिसको एक लंकावासी टी० वी० पानवोटे नामक विद्वान् ने १८८३ ई० में प्रकाशित किया था।

'मेघदूत' के प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक अनुवादों में मैक्समूलर का जर्मन अनुवाद प्रमुख है, जिसको उन्होंने १८४७ ई० में लिखा था। महाशय मोनफ्रेच ने तो यहाँ तक कह दिया कि यूरोप में ही क्या, विश्व भर के साहित्य में ऐसी कृति खोजने पर भी दूसरी नहीं मिलेगी। महाशय एच० एच० विल्सन (१८१३ ई०) ने 'मेघदूत' का अंग्रेजी अनुवाद कर यूरोप के साहित्यकारों को भारतीयों के ऊँचे मस्तिष्क की एवं इस महानतम कृति के संबंध की अपूर्व सूचना दी। १८४१ और १८४७ ई० में 'मेघदूत' के दो लैटिन अनुवाद क्रमशः महाशय बोन और महाशय ग्रिल्ड मीस्टर ने किए। इसी प्रकार अमरीकी विद्वान् आर्थर राइडर ने भी 'मेघदूत' का एक अविकल अनुवाद किया। इस छोटी-सी कृति के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा है कि महाकवि कालिदास की भारती को अमर यश और व्यापक ख्याति प्रदान करने के लिए इस एक ही कृति में पूरी क्षमता है।

घटकर्पर और कालिदास की इन दोनों कृतियों का परवर्ती काव्य-साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। कृष्णमाचार्य का 'मेघसंदेशविमर्श', कृष्णमूर्ति का 'यज्ञोल्लास', रामशास्त्री का 'मेघप्रतिसन्देश', रामचन्द्र का 'घनवृत्तम्' और मैथिल कवि महामहोपाध्याय परमेश्वर झा का 'यक्षमिलन' इस प्रभाव के परिचायक काव्य हैं।

सन्देशकाव्यों की प्रणयन-परम्परा में जैन कवियों का बड़ा योग एवं उत्साह रहा है। जैनकवि जिनसेन (८१४ ई०) ने जैन तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के जीवमचरित पर चार सर्गों में एक 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य लिखा। उसके ३६४ पद्यों में कालिदास के 'मेघदूत' के लगभग १२० श्लोक सम्मिलित हैं। इसी प्रकार एक दूसरे विक्रम (१५वीं श०) कवि ने भी स्वामी नेमिनाथ के जीवन पर 'नेमिदूत' काव्य लिखा। उसमें भी 'मेघदूत' के १२५ श्लोक उद्धृत हैं। मध्यकालीन जैन कवियों में बृहत्तापगच्छीय चरित्र-सुन्दरगणि (१४८४) द्वारा लिखित धार्मिक एवं नैतिक विषयों से सम्बद्ध

'शीलदूत' और किसी अज्ञातनामा कवि का 'चेतोदूत' इस परंपरा में उद्धरणीय ग्रंथ हैं। खतरगच्छीय कवि विमलकीर्ति (१७वीं श०) का 'चन्द्रदूत' भी अच्छा काव्य है। एक विज्ञप्ति के रूप में उपाध्याय मेघविजय का 'मेघदूत-समस्या' (१७२७ वि० में रचित) कुछ कम महत्त्व का है।

सन्देशकाव्यों की प्रौढ परम्परा

इस प्रकार की सन्देशकाव्यों की प्रौढ परम्परा का आरम्भ १२वीं शताब्दी से हुआ। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१२वीं शताब्दी) के सभापण्डित एवं सुप्रसिद्ध कवि जयदेव के सहकारी विद्वान् धोयी का 'पवनदूत' इस शताब्दी का पहिला एवं प्रभावशाली शन्देशकाव्य है। १२वीं शताब्दी में ही अवधूतराम योगी ने भी १२८ श्लोकात्मक काव्य 'सिद्धदूत' लिखा। इसी शताब्दी में अब्दुल रहमान नामक एक मुसलमान कवि ने अपभ्रंश भाषा में 'सन्देशरासक' नामक सुन्दर दूतकाव्य लिखा। १५वीं शताब्दी में कवि विष्णुदास ने 'मनोदूत' लिखा। इसी नाम से एक ग्रंथ रामशर्मा ने भी लिखा है, जो अभी तक अप्रकाशित ही है; किन्तु हस्तलिखित प्रति के रूप में उपलब्ध है। माधव कवींद्र भट्टाचार्य ने भी लगभग १६वीं शताब्दी में 'उद्धवदूत' लिखा। गौडीय सम्प्रदाय के विद्वान् रूप गोस्वामी (१७वीं श०) ने 'उद्धवसन्देश' काव्य लिखा। इसी नाम के एक दूसरे विद्वान् चैतन्य महाप्रभु के शिष्य रूप गोस्वामी ने 'हंसदूत' लिखकर इस परम्परा को चमकाया।

१७वीं शताब्दी में श्री रुद्रन्याय वाचस्पति ने 'पिकदूत' लिखा। भट्टारक ज्ञानभूषण के प्रशिष्य वादिराज (१७वीं श०) ने भी 'पवनदूत' नामक एक गीतकाव्य लिखा। बंगदेशीय राजा रघुनाथराय (१६३४–१३५० शक) की आज्ञा से श्रीकृष्ण सार्वभौम ने 'पादाङ्कदूत' लिखा, जिसका रचनाकाल १६३७ शक है। इसी परम्परा का व्यापक विस्तार आगे लम्बोदर वैद्य ने 'गोपीदूत', त्रिलोचन ने 'तुलसीदूत' (१७३० ई० में रचित), वैद्यनाथ द्विज ने एक दूसरा 'तुलसीदूत', हरिदास ने 'कोकिलदूत' (१७१७ तक में रचित), सिद्धनाथ विद्यावागीश ने १७वीं शताब्दी के लगभग 'पवनदूत', इसी शताब्दी में कृष्णनाथ न्यायपंचानन ने 'वातदूत', एक आधुनिक कवि भोलानाथ ने 'पांथदूत', रामदयाल तर्करत्न ने 'अनिलदूत',

अम्बिकाचरण देवशर्मा ने 'पिकदूत', गोपालशिरोमणि ने एक प्रहसनरचना 'काकदूत' (१८११ शक में रचित), गोपेन्द्रनाथ गोस्वामी ने १७वीं शताब्दी के लगभग 'पादपदूत', १९वीं शताब्दी के अन्त में त्रैलोक्यमोहन ने 'मेघदूत', कालीप्रसाद ने 'भक्तिदूत', रामगोपाल ने 'काकदूत' (१७१८ शक में रचित), महामहोपाध्याय अजितनाथ न्यायरत्न ने बंग संवत् १३२६ में 'बकदूत' और रघुनाथदास ने १७वीं श० के आस-पास 'हंसदूत' आदि संदेशकाव्यों को रचकर किया।

दूतकाव्यों के उक्त रचयिताओं में से अधिकांश विद्वान् बंगाल में हुए, और उनके संबंध की जानकारी प्रायः बँगला-साहित्य तथा बंगाली इतिहासकारों एवं बंगाली विद्वानों द्वारा ही संस्कृत-जगत् को विदित हुई। बंगीय दूतकाव्यों पर एक सुन्दर पुस्तक डॉ० यतींद्रविमल ने संस्कृत में लिखी है। इस पुस्तक में उन्होंने लगभग पचीस दूतकाव्यों का विस्तार से उल्लेख किया है।

रामकथाविषयक दूतकाव्य

'मेघदूत' की शैली पर लिखे गए रामकथाविषयक दूतकाव्यों में वेदांतदेशिक (वेङ्कट, देशिक, वेङ्कटनाथ, वेदान्ताचार्य) ने १३वीं शताब्दी में 'हंससंदेश' लिखा, जिसमें लङ्का में वियुक्ता सीता के प्रति हंस द्वारा भगवान् राम का वियोग-संदेश प्रेषित है। नैयायिक रुद्र वाचस्पति (१७वीं श०) का 'भ्रमरदूत', वासुदेव का 'भ्रमरसंदेश', किसी अज्ञातनामा लेखक का 'कपिदूत', वेङ्कटाचार्य (१७वीं श०) का 'कोकिलसंदेश' और गोपीकांत भट्टाचार्य के पुत्र कृष्णचन्द्र तर्कालङ्कार (१८वीं श०) का 'चन्द्रदूत' इस रामकाव्य-परंपरा के उल्लेखनीय संदेशकाव्य हैं। जोधपुर के किसी आधुनिक कवि नित्यानन्द शास्त्री द्वारा रचित 'हनुमतदूत' भी इसी परंपरा का काव्य है।

कुछ अप्रसिद्ध संदेशकाव्य

इसी प्रकार तामिल के उद्दण्ड नामक एक कवि (१४वीं श०) ने मालाबार के कालीकट-स्थित जमोरिन के आश्रय में रहकर 'मेघदूत' की शैली के एक गीतिपरक प्रेमकाव्य 'कोकिलसंदेश' का निर्माण किया था। इसी प्रसंग में 'मेघदूत' के अक्षरशः अनुकरण पर लिखा हुआ वामनभट्ट बाण

(१५वीं श०) का 'हंससंदेश' भी उल्लेखनीय है। इसी श्रेणी के कुछ कम प्रभावोत्पादक संदेशकाव्यों में पूर्ण सरस्वती का 'हंससंदेश', विष्णुत्राता (१६वीं श०) का 'कोकसंदेश', वासुदेव कवि (१७वीं श०) का 'मृगसंदेश' और विनयप्रभ (१३वीं श०) का 'चन्द्रदूत' उल्लेखनीय है। विनयविजयगणि का 'इन्द्रदूत', तैलंग ब्रजनाथ का 'मनोदूत', भगवद्दत्त का 'मनोदूत' और लक्ष्मीनारायण का 'रथांगदूत' भी इसी कोटि के हैं।

संस्कृत में लिखे गए दूतकाव्यों की इस लम्बी परंपरा को देखकर सहज ही में उनकी लोकप्रियता का रहस्य प्रकट हो जाता है। विभिन्न संग्रहों की हस्तलिखित पोथियों में इस प्रकार से और भी काव्यग्रन्थ उपलब्ध होने संभव हैं। इण्डिया आफिस लन्दन के सूचीपत्रों में संस्कृत और प्राकृत के अनेक अप्रकाशित दूतकाव्यों का उल्लेख देखने को मिलता है। दूतकाव्यों की परम्परा पर अनेक विद्वानों द्वारा यद्यपि पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, और स्वतन्त्र रूप से उन पर इतिहास की पुस्तकें भी लिखी जा चुकी हैं; फिर भी उनका आमूल सर्वेक्षण होने की आवश्यकता आज भी बनी है।

शृङ्गारकाव्य

संदेश-काव्यों की इस सुदीर्घ परम्परा के अतिरिक्त गीत-काव्यों के क्षेत्र में दूसरी शृङ्गार शैली के काव्य भी बहुतायत से लिखे गए। महाकवि कालिदास का 'ऋतुसंहार' इस श्रेणी के काव्यों में पहिली कृति है। 'शृङ्गारतिलक', 'पुष्पवाणतिलक' और 'राक्षसकाव्य' इन तीन गीतिकाव्यों का प्रणेता महाकवि कालिदास से भिन्न कोई दूसरा ही कालिदास-नामधारी कवि हुआ, जिसका स्थितिकाल अनिश्चित है; किन्तु जो निश्चयात्मक रूप से (१२ वीं श०) के बाद हुआ।

अमरु या अमरुक (८वीं श० से पहिले) के 'अमरुकशतक' नामक गीति-ग्रन्थ का निर्माता कुछ विद्वान् शंकराचार्य को बताते हैं; किन्तु यह धारणा अब सर्वथा निराकृत हो चुकी है। वस्तुतः अमरु या अमरुक नामक राजा एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। जिसने अमरुकशतक की रचना की थी। इसके बाद भर्तृहरि (७वीं श०) ने 'शृङ्गारशतक', 'नीतिशतक' और 'वैराग्यशतक',

इन तीन शृङ्गारपरक, नीतिपरक तथा ज्ञानपरक गीतिग्रन्थों का एक साथ निर्माण किया। तदनन्तर काश्मीर के महाकवि बिल्हण (१०८० ई०) ने अपनी प्रणयकथा को 'चौरपंचाशिका' के रूप में प्रकट किया।

बंगाल के विद्वत्सेवी राजा लक्ष्मणसेन (१२वीं श०) के आश्रित एवं धोयी के सहवासी कवि जयदेव ने एक उत्तम काव्य 'गीतगोविन्द' की रचना कर अपनी भक्ति-भावना और प्रेम-भावना का एक जैसी मार्मिकता से सुन्दर निदर्शन किया। अपनी अनेक विशेषताओं और लोकप्रियता के कारण इस गीतिग्रंथ पर कई टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। रुकेई नामक एक विद्वान् ने इसका जर्मन भाषा में अविकल अनुवाद किया। 'गीतगोविन्द' के अनुकरण पर लिखे गये काव्यों में हरिशंकर कृत तथा प्रभाकर कृत एक ही नाम की दो कृतियाँ 'गीतराघव', श्रीहर्य्याचार्यकृत 'जानकीगीता', हरिनाथ कृत 'राम-विलास', जो संभवतः 'जानकीगीता' से अभिन्न है, प्रमुख हैं। १८वीं श० में विश्वनाथसिंह का 'संगीतरघुनन्दन' भी 'गीतगोविन्द' के अनुकरण पर लिखा गया काव्य है।

स्तोत्रकाव्य या भक्तिकाव्य

दूसरे प्रकार के गीत-काव्यों में स्तोत्र-काव्यों की गणना की जाती है। ये स्तोत्र-काव्य धर्मपरक होने से समाज में, विशेषतया भक्तिभावना-प्रधान समाज में, अतिप्रिय सिद्ध हुए। ये अनुराग और विराग दोनों प्रकार की भावनाओं से ओतः-प्रोत हैं। इसलिए आध्यात्मिक उन्नति के उद्देश्य से समाज ने इनको बहुत पसन्द किया।

इन गीतिकाव्यों का प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि जैन और बौद्ध धर्मानु-यायी विद्वानों ने भी इस प्रकार के काव्यों की रचना की। ये धार्मिक एवं दार्शनिक, दोनों प्रकार की भावनाओं से युक्त हैं। इन स्तोत्र काव्यों की गीति-रचना बहुत ही आकर्षक है। ये कुछ तो पद्यात्मक, कुछ दण्डक और कुछ गद्यात्मक हैं। यह गद्यात्मक गीति कविताओं की परम्परा वैदिककाल, रामायणकाल और महाभारतकाल से अनुवर्तित है।

इस श्रेणी के गीति-काव्यों में कालिदास कृत 'श्यामला-दण्डक' को प्राचीन-तम कृति के रूप में उद्धृत किया जाता है; किन्तु यह अन्तिम रूप से

सिद्ध हो चुका है कि महाकवि कालिदास की रचनाओं में इस गीति-काव्य की गणना नहीं है। सम्भवतः यह किसी दूसरे कालिदास की रचना हो सकती है। इसी प्रकार अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई०) के नाम पर एक 'गाण्डि-स्तोत्रगाथा' नामक गीति-काव्य का उल्लेख किया गया है। अश्वघोष के बाद बौद्ध मातृचेट (१०० ई०) ने 'चतुःशतक' और 'अध्यर्धशतक' नामक दो स्तुति-काव्य लिखे। ये दोनों काव्य तिब्बती अनुवादों के रूप में उपलब्ध हैं। तदनन्तर जैन कवि सिद्धसेन दिवाकर (५०० ई०) ने जैन-तीर्थंकरों की स्तुति में 'कल्याण-मन्दिर-स्तोत्र' लिखा। इसी प्रकार राजा हर्ष (७०० ई०) ने बौद्धधर्म से सम्बद्ध 'सुप्रभातस्तोत्र' और 'अष्टकमहाश्रीचैत्यस्तोत्र' लिखे। इसी परम्परा में बाण (६०० ई०) ने शिवपत्नी भगवती चण्डी की स्तुति में 'चण्डीशतक', मानतुंग (७०० ई०) ने 'भक्तामरस्तोत्र', हर्ष के आश्रित कवि बाण के समकालीन कवि मयूर भट्ट (७०० ई०) ने 'सूर्यशतक' और अज्ञातकालीन बौद्ध विद्वान् सर्वज्ञमित्र ने 'स्रग्धरास्तोत्र' लिखा।

सुप्रसिद्ध अद्वैतवादी दार्शनिक शंकराचार्य के नाम से अनेक गीति-प्रधान कृतियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें 'अन्नपूर्णादशक', 'अन्नपूर्णाष्टक', 'कनकधारास्तव', 'दक्षिणामूर्ति-अष्टक', 'रामभुजंगस्तोत्र', 'लक्ष्मीनृसिंहस्तोत्र', 'विष्णुपादादिकेशान्तवर्णन', 'शिवभुजंगस्तोत्र', 'शिवानन्दलहरी' और 'सौन्दर्य-लहरी' प्रमुख हैं। शंकराचार्य के ही समकालीन दाक्षिणात्य मूककवि ने पाँच-सौ गेय पद्यों में 'मूकपंचशती' लिखी।

सातवीं शताब्दी में वर्तमान केरल के राजा कुलशेखर ने एक बहुत ही रुचिकर शैली में 'कुन्दमाला' गीतिकाव्य लिखा। नवम शताब्दी में काश्मीर के कवि पुष्पदन्त ने 'महिम्नस्तोत्र' लिखा, जिसका प्रचार कि आज तक समाज में सर्वाधिक रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार रत्नाकर (९वीं श०) ने 'वक्रोक्तिपंचाशिका', कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (नवम शताब्दी) के आश्रित कवि एवं सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री आनन्दवर्धन ने 'देवीशतक', अभिनव-गुप्त के गुरु उत्पलदेव (दशम शताब्दी) ने 'स्तोत्रावलि', रामानुज के गुरु यामुनाचार्य (दशम शताब्दी) ने 'चतुःश्लोकी' एवं 'स्तोत्ररत्न', रामानुजाचार्य (ग्यारहवीं शताब्दी) ने गद्यत्रय नाम से तीन गीति-काव्य 'शरणागतिगद्य',

'वैकुण्ठगद्य' एवं 'श्रीरंगगद्य' लिखे। इसी प्रकार रामानुज के प्रमुख शिष्य श्रीवत्सांक (ग्यारहवीं शताब्दी) ने पंचस्तव नाम से 'श्रीस्तव', 'अमितानुष-स्तव', 'वरदराजस्तव', 'सुंदरबाहुस्तव' और 'वैकुण्ठस्तव' स्तुतिग्रन्थों का निर्माण किया। श्रीवत्सांक के पुत्र पराशर भट्ट (ग्यारहवीं शताब्दी) के स्तुतिग्रन्थों में 'श्रीरङ्गराजस्तव' और 'श्रीगुणरत्नकोश' अधिक प्रसिद्ध हैं।

जयदेव का उल्लेख 'गीतगोविन्द' के प्रसंग में पहिले किया जा चुका है। इन्होंने स्तुतिशैली में एक गीति-काव्य 'गङ्गास्तव' भी लिखा। संभवतः १२वीं शताब्दी में विद्यमान मालावार-निवासी कवि बिल्वमंगल या कृष्णलीलांशुक ने एक प्रसिद्ध गीतिकाव्य 'कृष्णकर्णामृत' लिखा। द्वैतमतानुयायी आचार्य आनन्दतीर्थ या माधव (१२वीं शताब्दी) ने 'द्वादशस्तोत्र' लिखा।

वेदान्तदेशिक (१२६८–१३६९ ई०) ने लगभग २५ स्तोत्रपरक गीतिकाव्यों की रचना कर इस परम्परा को समृद्ध करने या आगे बढ़ाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनका सहस्रपद्यात्मक 'पादुकासहस्र', 'गरुडगण्डक', 'रघुवीरगद्य', प्राकृत भाषा का 'अच्युतशतक' आदि स्तुति-ग्रन्थ प्रमुख हैं। कांचीवासी अप्पयदीक्षित (१५५४ ई० जन्म) ने 'वरदराजस्तव', केरल के मेप्पथूर के रहने वाले सर्वतोमुखी प्रतिभा के कवि नारायण भट्ट ने 'नारायणीयम्' (१५८५ रचना), मधुसूदन सरस्वती (१६०० ई०) ने 'आनन्दमन्दाकिनी' और कृष्णचैतन्य के शिष्य रूप गोस्वामी ने 'गन्धर्वप्रार्थनाष्टक' एवं 'मुकुन्दमुक्तावली' आदि स्तुतिग्रन्थों को लिखकर गीतिकाव्यों की परम्परा को परिवर्द्धित किया।

गीतिकाव्यों की परम्परा में शाहंशाह शाहजहाँ के आश्रित कवि पंडित-राज जगन्नाथ का प्रमुख स्थान है। उनका समय १५९०–१६६५ ई० के बीच निर्धारित है और उन्होंने 'सुधालहरी', 'अमृतलहरी', 'लक्ष्मीलहरी', 'करुणालहरी' और 'गङ्गालहरी' (पीयूषलहरी) आदि उच्चकोटि की गीति कृतियों का निर्माण किया। तदनन्तर नीलकण्ठ दीक्षित (१७वीं शताब्दी) ने दो गीति-ग्रन्थों का प्रणयन किया : 'आनन्दसागरस्तव' और 'शिवोत्कर्षमञ्जरी'।

इसी प्रकार वेंकटाध्वरी (१७वीं शताब्दी) ने 'लक्ष्मीसहस्र' और रामभद्र दीक्षित (१७वीं शताब्दी) ने भगवान राम की स्तुति के दस गीतिकाव्य

एक साथ लिखे, जिनमें 'रामस्तव' और 'अद्भुतसीतारामस्तव' प्रमुख हैं। संन्यासी नारायणतीर्थ (१७वीं शताब्दी) ने 'कृष्णलीलातरंगिणी' लिखी और १९वीं शताब्दी के कवियों में त्यागराज, श्यामशास्त्री तथा मुदुस्वामी दीक्षित ने गीति-काव्यों की इस परंपरा को अच्छी-अच्छी स्तोत्रकृतियों के निर्माण से अक्षुण्ण बनाए रखा।

जैन और बौद्ध विद्वानों की अधिकांश स्तोत्र-कृतियों का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। कुछ उच्चकोटि के जैन स्तोत्रों में वादिराज कृत 'एकीभाव-स्तोत्र', सोमप्रभ की 'सूक्तिमुक्तावली', जम्बू गुरु का 'जिनशतक', आचार्य हेमचंद्र की 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिका' प्रमुख हैं। हेमचन्द्र के इस गीत-काव्य पर मल्लिषेणसूरि कृत पांडित्यपूर्ण 'स्याद्वादमंजरी' नामक टीका प्रसिद्ध है। इसी प्रकार बौद्ध-स्तोत्रों की परंपरा में हाल ही में उपलब्ध शून्यवादी आचार्य नागार्जुन का 'चतुःस्तव', जिसका अनुवाद तिब्बती भाषा में उपलब्ध है, उल्लेखनीय है। संस्कृत में भी उनके दो स्तोत्र उपलब्ध हो चुके हैं, जिनका नाम है : 'निरौपम्यस्तव' और 'अचिंत्यस्तव'।

इस प्रकार संस्कृत के गीत-काव्यों की बृहत्परम्परा का सर्वेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग दो हजार वर्षों तक इस विषय पर निरन्तर ग्रंथरचना होती रही और यद्यपि वे सभी कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं या उनके संबंध में आज भी अनुसंधान की आवश्यकता बनी हुई है; फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर पूरे संतोष के साथ कहा जा सकता है कि संस्कृत-काव्यों का क्षेत्र अपने आप में भरापूरा है।

चम्पूकाव्य

संस्कृत-साहित्य में कुछ काव्य-कृतियाँ ऐसी हैं, जिनमें वर्ण्य विषय का प्रतिपादन गद्यमयी भाषा में है और उसको अधिक प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक बनाने के लिए पद्यमयी भाषा का प्रयोग किया गया है; या गद्यरूप में वर्णित किसी बात को पद्यरूप में संक्षिप्त कर दिया गया है। ऐसे गद्य-पद्य-मिश्रित काव्यों को काव्यशास्त्रियों ने 'चम्पू' नाम से कहा है। इन चम्पू-

काव्यों को संस्कृत के ग्रंथकारों ने मौलिक एवं वाद्य-संगीत का समन्वय और द्राक्षा एवं मधु का संमिश्रण बताया है।

चम्पू-काव्यों की निर्माण-परंपरा का अनुवर्तन प्रथम शताब्दी ईसवी के पहिले ही हो चुका था। गद्य-पद्यमयी भाषा के उदाहरण प्राचीनतम ग्रन्थों में मिलते हैं। बौद्ध-जातकों में भी इस प्रकार की भाषा का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। 'जातकमाला' तथा हरिषेण की प्रशस्ति में गद्य-पद्य का संमिश्रण है। गुप्तकाल के शिलालेखों में चम्पू-काव्यों की रचना का उल्लेख लगभग चतुर्थ शताब्दी से होना लिखा हुआ है। किन्तु काव्यशास्त्र में वर्णित चम्पू-काव्य के संपूर्ण लक्षणों से युक्त ग्रंथों का निर्माण लगभग दशवीं शताब्दी से उपलब्ध होता है।

सबसे पहिला चम्पू त्रिविक्रमभट्ट का 'नलचम्पू' है, जिसका दूसरा नाम 'नलदमयंती-कथा' भी है। राष्ट्रकूटवंशीय राजा इन्द्र तृतीय के ९१५ ई० के नौसारी वाले दानपत्र के लेखक यही त्रिविक्रम भट्ट थे। इन्होंने एक दूसरा 'मदालसाचम्पू' भी लिखा था। इनका समय दसवीं शताब्दी का आरम्भ है।

दसवीं शताब्दी के ही लगभग दो जैन-मुनियों, हरिश्चन्द्र और सोमदेव, ने क्रमशः 'जीवनधरचंपू' तथा 'यशस्तिलकचंपू' लिखे। हरिश्चंद्र का उक्त ग्रंथ नवम शताब्दी में लिखे गए गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' पर आधारित है। उस पर 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य का प्रभाव लक्षित होता है; किन्तु यह ग्रंथ हरिश्चन्द्र नामक किसी दूसरे ही कवि का है, जो महाकाव्यकार हरिचन्द से भिन्न था। सोमदेव राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण तृतीय के आश्रित था। इनके अतिरिक्त भोजराज (१००५–१०५५ ई०) ने 'रामायणचम्पू'; अभिनव कालिदास (११वीं शताब्दी) ने 'भागवतचम्पू', सोड्ढल (११वीं श०) ने 'उदयसुंदरीकथा', सोमेश्वरदेव ने 'कीर्तिकौमुदी', वासुदेवरथ (१५वीं श०) ने 'गंगावंशानुचरित', अनन्तभट्ट (१५वीं श०) ने 'भारतचम्पू', विजयनगर के राजा अच्युतराय (१६वीं श०) की विदुषी पत्नी तिरुमलाम्बा ने 'वरदराजाम्बिकापरिणयचम्पू', राजचूडामणि दीक्षित (१६वीं श०) ने 'भारतचम्पू', जीव गोस्वामी (१६वीं श०) ने 'गोपालचम्पू', मित्रमिश्र (१७वीं श०) ने 'आनन्दकंदचम्पू', चिदम्बर (१६वीं श०) ने भागवत कथा के

आधार पर 'भागवतचम्पू' और शेषकृष्ण (१६वीं श०) ने 'पारिजातहरण-चम्पू' लिखकर चम्पू-काव्यों की परम्परा को समृद्ध किया।

१७वीं शताब्दी में नीलकण्ठ दीक्षित ने एक भावपूर्ण चम्पू-काव्य 'नीलकंठविजयचम्पू' नाम से लिखा, जिसका रचनाकाल ४१३८ कलिवर्ष (१६३७ ई०) है। इसी परंपरा में चक्र कवि (१७वीं श०) ने 'द्रौपदी-परिणयचम्पू' लिखा। तदनन्तर वेंकटाध्वरी (१७वीं श०) ने चार चम्पू-काव्यों को लिख कर इस विषय में अपनी ख्याति को प्रकाशित किया। इनके चम्पू-काव्यों के नाम हैं : 'विश्वगुणादर्शचम्पू', 'वरदाभ्युदयचम्पू' (हस्तिगिरिचम्पू), 'उत्तरचम्पू' और 'श्रीनिवासचम्पू'। बाणेश्वर कवि (१८वीं श०) ने एक अर्ध-ऐतिहासिक चम्पूग्रन्थ 'चित्रचम्पू', एक अज्ञातकालीन कृष्ण कवि ने 'मन्दारमर-न्दचम्पू' और अनन्त कवि ने 'चम्पूभारत' लिखकर चम्पू-काव्यों के क्षेत्र में उल्लेखनीय वृद्धि की।

ऐतिहासिक काव्य

सस्कृत-साहित्य में विशुद्ध इतिहास-ग्रंथों का अभाव ही समझना चाहिए। कुछ ग्रन्थों में जो इतिहाससंबंधी विवरण उपलब्ध भी होते हैं, उनका अस्तित्व वहाँ गौणतया है। इसका एक कारण तो संस्कृत के ग्रंथकारों की सीमित दृष्टि प्रतीत होती है। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, प्रभृति ऐतिहासिक व्यक्तियों का वर्णन तो उन्होंने किया है; किन्तु अपने इन तेजस्वी पात्रों का चित्रण करते समय तत्सामयिक दूसरे व्यक्तियों एवं घटनाओं की ओर से वे उदासीन रहे। ऐतिहासिक ग्रन्थों के अभाव का दूसरा कारण राजाओं के आश्रय में रहने की परम्परा का होना था। ऐसे ग्रन्थकारों ने जो कुछ भी लिखा, वह अपने आश्रयदाता की गुणवत्ता को ध्यान में रख कर लिखा; और इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी बातों में अतिरञ्जना एवं एकांगिता का बाहुल्य हो गया।

यहाँ तक कि 'राजतरङ्गिणी' जैसा ग्रन्थ भी विशुद्ध इतिहास न होकर इतिहाससंबंधी यत्न ही कहा जायगा, क्योंकि पहिले तो उसके रचना-कार ने देखी हुई घटनाओं को ही विश्वसनीय समझा है और दूसरे

उसका यह ग्रन्थ अतिशयोक्तिप्रधान होने के कारण ऐतिहासिक तथ्यों को उतनी मजबूती से नहीं रख सका है, जितनी मजबूती से रखना चाहिए था।

संस्कृत में जो कुछ भी ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित ग्रन्थ मिलते हैं, उन सब में पहिली बात तो यह दिखाई देती है कि ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा भाषासौष्ठव एवं वर्ण-वैचित्र्य को उनमें प्रमुखता दी गई है, जब कि होना इसके विरुद्ध चाहिए था। इतिहासप्रधान ग्रन्थों को लिखने वाले अधिकांश लोग राज्याश्रित थे, और उनमें कवित्व-भावना एवं आश्रयदाता को तुष्ट रखने की प्रवृत्ति थी। जो अंश कि आश्रयदाता राजाओं को अरुचिकर था, वह सत्य होने पर भी छोड़ दिया गया।

इन कुछ इतिहासप्रधान ग्रन्थों की घटनाओं को समझने में एक बहुत बड़ी असुविधा, भारत में प्रचलित अनेक संवतों के कारण हुई है। वंश-नाम या ख्यात के आधार पर चलाये गए संवतों की तिथियों को खोज निकालने और उनको सही रूप से बैठाने में बड़ी कठिनाई होती है।

फिर भी इतना निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में इतिहास-विषय की महत्ता को प्राचीनकाल से ही स्वीकार किया जाने लगा था। 'निरुक्त' में पुराण और इतिहास को वेदों के समकक्ष माना गया है। यास्क के 'निरुक्त' में ऋचाओं के स्पष्टीकरण के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं का 'इतिहासमाचक्षते' कह कर उल्लेख किया गया है। 'निरुक्त' से ही विदित होता है कि वेदार्थ का निरूपण करने वाला प्राचीनतम व्याख्याकारों में एक संप्रदाय इतिहासकारों का भी था, जिसको कि 'इति ऐतिहासिकाः' कह कर बार-बार स्मरण किया गया है।

देवर्षि नारद जब सनत्कुमार के पास ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करने गए तो सनत्कुमार द्वारा पूछे जाने पर नारद ने अपनी अधीत विद्याओं में इतिहास-पुराण को पंचम वेद के रूप में बताया था। महाभारतकार ने इतिहास-पुराण द्वारा वेद क उपबृंहण बताया है और कहा है कि इतिहास-पुराण के ज्ञान से शून्य लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है। 'महाभारत' के इस विवरण से इतिहास की उपयोगिता पर भी प्रकाश पड़ता है।

इतिहास की आवश्यकता और उसके सर्वतोमुखी प्रभाव का उल्लेख करते हुए आचार्य कौटिल्य ने कहा है कि अर्थवेद और इतिहास दोनों वेद हैं और इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सभी का समावेश हो जाता है। आचार्य कौटिल्य के इस मन्तव्य से पुराण-व्यतिरिक्त इतिहास के स्वतन्त्र अस्तित्व का भी पता चलता है।

संस्कृत-साहित्य में इतिहासविषयक सामग्री प्रायः चार रूपों में उपलब्ध होती है। कुछ ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में अपने पूर्ववर्ती ऐतिहासिक ग्रंथों का उल्लेख किया है; किन्तु जो ग्रंथ संप्रति उपलब्ध नहीं हैं। दूसरे प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री हमें दानपत्रों, अन्तर्लेखों, प्रशस्तियों आदि में मिलती है। तीसरी प्रकार की सामग्री 'रामायण', 'महाभारत' एवं पुराण आदि ग्रंथों से उपलब्ध होती है; और चौथी प्रकार की यथेष्ट सामग्री काव्यपरक इतिहास-ग्रन्थों में समाविष्ट है। यहाँ हम काव्यपरक इतिहास-ग्रंथों की ही चर्चा करेंगे।

इस प्रकार का पहिला ग्रंथ 'कौमुदीमहोत्सव' (४०० ई०) है, जिसमें गुप्तकाल की ऐतिहासिक घटनाओं का अच्छा चित्रण मिलता है। कांची के महेंद्रविक्रमन् (६१० ई०) के 'मत्तविलास' प्रहसन से भी तत्कालीन धर्मानुयायियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का अच्छा परिचय मिलता है।

बाण भट्ट (७वीं श०) का 'हर्षचरित' इस विषय का उद्धरणीय ग्रंथ है, जिसमें एक ओर तो बाण और हर्ष की जीवन-घटनाएँ और दूसरी ओर तत्कालीन धार्मिक संप्रदायों, रीति-रिवाजों और राज-काज-सम्बन्धी व्यवस्थाओं का ऐतिहासिक ढंग से चित्रण किया गया है।

सातवीं शताब्दी के लगभग वर्तमान प्रवरसेन ने एक प्राकृत महाकाव्य 'सेतुबन्ध' लिखा। कुछ लोग प्रवरसेन को कश्मीर का राजा बताते हैं। 'सेतुबन्ध' के दूसरे नाम 'रावणवध' या 'दशमुखवध' भी हैं। दण्डी ने इस ग्रंथ को 'सागरः सूक्तिरत्नानाम्' कहकर संमानित किया है। कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा (८वीं श०) के आश्रित कवि वाक्पतिराज ने भी एक प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' लिखा है। इसमें यशोवर्मन् की पराजय से सम्बन्धित १२०८ गाथाएँ हैं; किन्तु उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत कम है। इसी शताब्दी में वर्तमान कनकसेन वादिराज का 'यशोधरचरित' ऐतिहासिक

एवं धार्मिक दोनों दृष्टियों से अच्छा ग्रंथ है। कल्हण ने शंकुकरचित एक नवम शताब्दी में वर्तमान मम्म और उत्पल के युद्ध से सम्बन्धित 'भुवनाभ्युदय' ग्रंथ का उल्लेख किया है, जो संप्रति अप्राप्य है।

सिन्धुराज के जेठे भाई राजा मुंज के सभाकवि पद्मगुप्त या परिमल (१०वीं श०) ने एक ऐतिहासिक महाकाव्य 'नवसाहसांकचरित' लिखा। इस ग्रंथ में काव्यशास्त्र के नियमों के साथ-साथ ऐतिहासिक विवरणों को प्रस्तुत करने का ढंग बड़ा अच्छा और साथ ही सचाई के बहुत समीप है। इसी कोटि का दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य कश्मीर के कवि बिल्हण (११वीं श०) ने लिखा है, जिसका नाम है 'विक्रमांगदेवचरित'। इस ग्रंथ में भी काव्योपम कथा-शिल्प के साथ-साथ ऐतिहासिक वृत्तान्तों का तथ्यपूर्ण वर्णन है। बिल्हण ने एक 'कर्णसुन्दरी' नाटिका यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं लिखी; फिर भी उसमें अनहिलवाद (गुजरात) के राजा कर्णदेव त्रैलोक्य-मल्ल के सम्बन्ध में बहुत-से ऐतिहासिक वृत्तान्त जानने योग्य हैं। इसी परंपरा में हेमचन्द्र (१२वीं श०) का 'द्व्याश्रयकाव्य', यशश्चन्द्र (१२वीं श०) का 'मुद्रितकुमुदचन्द्र', मंखक कृत 'श्रीकंठचरित' और जल्हण (१२वीं श०) कृत 'सोमपालविजय' उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। यह सोमपाल राजपुरी का राजा था। जल्हण इसका दरबारी था।

ऐतिहासिक काव्यों की परंपरा में लिखा हुआ सर्वाधिक प्रौढ़ ग्रंथ कल्हण की 'राजतरंगिणी' है। कश्मीर के राजा जयसिंह (११२७–११४९ ई०) के राज्यकाल में कल्हण ने अपने इस ग्रन्थ की रचना की थी। अपने इस ग्रंथ की रचना उसने अपने पूर्ववर्ती ११ ऐतिहासिक ग्रंथों का अध्ययन करके की।

कल्हण ने अपने पूर्ववर्ती कुछ इतिहासकारों और कवियों का बड़ा ही सुन्दर परिचय दिया है। उसके इन वर्णनों से उसके पूर्व में विद्यमान कुछ महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रन्थों के अस्तित्व का पता चलता है; और उसके इन विवरणों से यह भी ज्ञात होता है कि अपने इस विचित्र इतिहास-ग्रंथ की रचना उसने उन्हीं ग्रन्थों की शैली एवं उन्हीं के स्वरूप पर की थी। अनेक पूर्ववर्ती इतिहासकारों के सम्बन्ध में कल्हण का कथन है कि महाव्रती अर्थात् पाशुपतव्रत की दीक्षा से युक्त हेलाराज नामक ब्राह्मण कवि ने १२ हजार

श्लोकों के एक 'पार्थिवावलि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसी के आधार पर पद्ममिहिर कवि ने अपने ग्रंथ में अशोक के पूर्वज लव आदि आठ राजाओं का उल्लेख किया था। इसी प्रकार छविल्लाकर नामक कवि ने भी अपने ग्रन्थ में उन ५२ नरेशों में-से अशोक से लेकर अभिमन्यु पर्यन्त केवल पाँच राजाओं का वर्णन किया था।

कल्हण के कथनानुसार सुव्रत नामक एक कवि तथा इतिहासकार और हुए, जिन्होंने बृहत्तम प्राचीन इतिहास ग्रन्थों का संक्षेप किया था। सुव्रत कवि बड़ी प्रतिभा लेकर आये थे। उन्होंने यथार्थ वृत्त लिखे; किन्तु उनकी पाण्डित्यपूर्ण और शुष्क वाणी का प्रभाव पाठकों पर न पड़ा। इसलिए उनकी कृतियाँ विलुप्त हो गईं।

कल्हण आगे कहता है कि कविवर क्षेमेन्द्र ने, सुव्रत के बाद, एक इतिहास-ग्रन्थ लिखा था, जिसका नाम था 'नृपावली'। यह ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से उत्तम रचना कही जा सकती है; किन्तु ग्रन्थकर्ता की असावधानी के कारण उसका कोई भी अंश निर्दोष न बच सका।

संध्याकरनन्दी ने अपने 'रामपालचरित' में बङ्गाल के राजा रामपाल (११०४–११३० ई०) का ऐतिहासिक वृत्त दिया है। इसी परम्परा के ग्रन्थों में 'पृथ्वीराजविजय', 'जयन्तविजय', 'सुकृतसंकीर्तन', 'हम्मीरमदमर्दन' 'वसन्त-विलास', सुरथोत्सव', 'कीर्तिकौमुदी', 'मोहपराजय', 'चंद्रप्रभाचरित', और 'जगदुचरित' प्रभृति ग्रन्थों में भी विपुल ऐतिहासिक सामग्री बिखरी हुई है। इन सभी ग्रंथों का पूर्ण परिचय यथास्थान दिया जा चुका है।

इसी भाँति गंगा देवी के 'मथुराविजय', राजनाथ द्वितीय के 'सालुवाभ्युदय', राजनाथ तृतीय के 'अच्युतरायाभ्युदय' में विजयनगर के राजवंश का अच्छा ऐतिहासिक परिचय मिलता है। वासुदेवरथ के 'गंगावंशानुचरित', गंगाधर के 'गंगादासप्रतापविलास', तिरुमलाम्बा के 'वरदाम्बिकापरिणयचम्पू' और वामनभट्ट बाण के 'वेमभूपालचरित' में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री बिखरी है।

यज्ञनारायण ने 'साहित्यरत्नाकर' तथा 'रघुनाथविलास' और रामभद्राम्बा ने अपने 'रघुनाथाभ्युदय' में तंजोर के रघुनाथ नामक (१६१४–१६३२ ई०) राजा का अच्छा ऐतिहासिक परिचय प्रस्तुत किया है। इसी श्रेणी के ऐतिहासिक

काव्यों में रुद्रकविकृत 'राष्ट्रौढवंश' महाकाव्य, देवविमलगणि का 'हीरसौभाग्य', देवराज का 'बालमार्तण्डविजय' और बाणेश्वर का 'चित्रचम्पू' उल्लेखनीय हैं।

जैन संतों, जैन कवियों और जैन धर्म के आश्रयदाताओं के जीवन एवं कथाओं से संबंधित एक ऐतिहासिक ग्रन्थ मेरुतुंग ने 'प्रबन्धचिंतामणि' (१३०६ में) नाम से लिखा, जिसकी शैली का राजशेखर ने 'प्रबन्धकोश' (१३४९ ई०) में अनुकरण किया है। जैनों के पुराणग्रन्थों और चरितकाव्यों में भी इतिहास की पुष्कल सामग्री बिखरी हुई है।

कथा काव्य

संस्कृत के कथा-साहित्य का विकास वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश आदि कई स्थितियों एवं युगों में से होकर गुजरता रहा है। इन सभी युगों में कथा-साहित्य का अपना एक ही जैसा दृष्टिकोण या एक ही जैसा शिल्प-सौन्दर्य एवं मान्यताएँ नहीं रही हैं। वैदिक संहिताओं में कथाओं की जगह कथाओं के तत्त्व प्रचुर रूप में फैले हुए हैं। मन्त्र-संहिताओं के संवाद-सूक्तों में भारतीय साहित्य के विभिन्न पहलुओं को रूप-रंग और वाणी देने वाले संजीवन तत्त्व मिलते हैं। मन्त्र-संहिताओं की अपेक्षा ब्राह्मणग्रंथों और आरण्यकों में कथा, आख्यान एवं आख्यायिकाओं का एक स्वस्थ दृष्टिकोण पनपता हुआ दिखाई देता है।

वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग उपनिषद्-ग्रन्थों में कथा-साहित्य की विपुल संपदा छिपी हुई प्रतीत होती है। फिर भी उपनिषदों के इस कथावतरण का मूल उद्देश्य साहित्य की अभिवृद्धि न होकर, उससे सर्वथा भिन्न अध्यात्म-चिंतन है। इन कथाओं में भारतीय कथा-साहित्य का संवर्धन करने योग्य विशेषताएँ भले ही विद्यमान न हों; किन्तु तत्कालीन जन-जीवन क मुख्य आधार ऋषि, महर्षि, मुनि, ब्रह्मचारी, पुरोहित और राजा आदि को पात्रों के रूप में देखकर उन कथाओं की पवित्रता पर बड़ी आस्था होने लगती है। परमात्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, ज्ञान, यज्ञ, मृत्यु आदि विषयों पर आधारित उपनिषद्-ग्रन्थों की ये कहानियाँ मनोरञ्जन की दृष्टि से भी कम उपयोगी नहीं हैं।

'रामायण' और 'महाभारत' की अवतारणा से ज्ञान के क्षेत्र में दो विभिन्न युगों का सूत्रपात हुआ : पौराणिक युग और महाकाव्यों का युग। 'रामायण' और 'महाभारत' भारतीय साहित्य के दो बृहद् विश्वकोश हैं। 'रामायण' की अपेक्षा 'महाभारत' में ऐसे तत्त्व प्रचुर रूप में विद्यमान हैं। वाल्मीकि और व्यास से भी बहुत पहिले राम-रावण और कौरव-पाण्डवों की कथाएँ बिखरी हुई थीं। ये कथाएँ तत्कालीन नट-नर्तक, सूत और कुशीलवों द्वारा सारे समाज में प्रचलित हो चुकी थीं। विशालबुद्धि वाल्मीकि और व्यास ने समाज में प्रचलित उक्त कथाओं का संकलन-संशोधन करके रामकथा और पाण्डव-कथा का एक साहित्यिक भव्य रूप हमारे सामने उपस्थित किया। 'महाभारत' में सैकड़ों कथाएँ, आख्यायिकाएँ और आख्यान इस बात की पूरी पुष्टि करते हैं कि उस समय तक कथा-साहित्य का अपना एक विशिष्ट स्थान बन चुका था।

पौराणिक युग ने कथा-साहित्य को अधिक लोकव्यापी बनाया। पुराणों की कथाओं का अस्तित्व बहुत समय तक समाज में मौखिक रूप में बना रहा और इसीलिए एक ओर तो उनमें अनेक प्रक्षेप जुड़े और दूसरी ओर उनके स्वत्व पर स्वतन्त्र दन्त-कथाओं का निर्माण हुआ। इन पौराणिक लोकप्रचलित दन्त-कथाओं का प्रभाव उस समय प्रकाश में आये बौद्ध-जातकों पर अतिशयता से पड़ा। भगवान् तथागत से सम्बद्ध लगभग पाँच-सौ कथाएँ इन जातकों में संकलित हैं। ये जातक-कथाएँ व्यापक और मानवीय समझ के बहुत समीप हैं। उनमें यथार्थ कल्पना और व्याख्या के तत्त्वों का एक साथ तादात्म्य होने के कारण कथा के क्षेत्र में इन जातक-कथाओं की पहिली कलात्मक देन कही गई है। इन कथाओं में समाज की विभिन्न श्रेणियों के लोग, मनुष्य और पशु-पक्षी, नदी, पर्वत, पेड़-पौधे आदि की कहानियाँ बड़ी ही रोचक हैं।

प्राचीन भारत में कथा-काव्यों का अतिशय प्रचार रहा है। भारतीय कथा-कृतियों का महत्त्व, उनकी जनप्रियता और उनकी ऐतिहासिक प्राचीनता की ख्याति यहाँ तक बढ़ी की विश्व-साहित्य के लिए भारतीयों की यह देन आज सर्वोपरि गिनी जाने लगी है। संसार के सामने साहित्य के इस लोकप्रिय

पक्ष को प्रकाश में लाने का पहिला श्रेय भारतीय कथाकारों को ही उपलब्ध है। दुनिया का प्रायः ऐसा कोई देश नहीं बचा जहाँ भारत की ये कथा कृतियाँ अनुवाद के रूप में न पहुँची हों और साथ ही जहाँ की जनता ने इन कथाओं को पढ़ कर भारतीय कथाकारों के प्रति अपने प्रशंसापूर्ण उद्गार प्रकट न किये हों।

इन कथाओं की ऐसी सर्वाभिभूत भावना का एकमात्र कारण उनके सुन्दर कथाशिल्प एवं उनको मनोवैज्ञानिक ढंग से सजाने की निपुणता में है। ये कथा-कहानियाँ कुछ तो तत्कालीन जीवन के पराक्रमों पर आधारित हैं, कुछ समुद्री यात्राओं से सम्बद्ध, कुछ आश्चर्यपूर्ण घटनाओं से युक्त, कुछ आकाशलोक एवं गन्धर्वलोक का चित्रण करने वाली, कुछ धर्म की प्रेरणा से पूरित, कुछ नीतिपरक और अधिकांश शिक्षात्मक तथा उपदेशात्मक हैं।

कथा-काव्यों में पहिला स्थान नीति-कथाओं का है। इन नीति कथाओं में पशु-पक्षी, वृक्ष-वनचर आदि मनुष्येतर प्राणियों एवं स्थावर पदार्थों में मानवीय आहार-व्यवहारों का आरोप कर बड़े सुन्दर ढंग से कथाएँ कही गई हैं। इन कथाओं में एक के भीतर दूसरी कथा को गुम्फित कर अन्त में उसकी परिणति किसी उपदेश या शिक्षा में की गई है। एक शिक्षात्मक या उपदेशात्मक श्लोक को शीर्षक बनाकर उसके स्पष्टीकरण के लिए गद्यभाग में कथा को आरम्भ किथा गया है, और कथा की समाप्ति पर उसका संबन्ध किसी दूसरी कथा से जोड़ कर, आगे कथा का आरम्भ किया गया है। कथाएँ बड़ी सुगम, सरल, और समाकर्षक शैली में कही गई हैं।

इस प्रकार की नीति-कथाओं के प्रतिनिधि-ग्रन्थ 'पञ्चतंत्र' और 'हितोपदेश' हैं। 'पञ्चतन्त्र' सम्प्रति अपने मूलरूप में विद्यमान नहीं है। इसलिए उसके मूल स्वरूप के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। सम्प्रति उपलब्ध उसके विभिन्न अनुवादों एवं उसकी प्रचीनतम हस्तलिपियों के आधार पर मूल 'पञ्चतन्त्र' की रचना तीसरी शताब्दी ई० के लगभग मानी गई है।

मूल 'पञ्चतन्त्र' की कथाएँ सम्प्रति चार विभिन्न संस्करणों में उपलब्ध होती हैं। पहिला संस्करण अनुपलब्ध पहलवी अनुवाद के आधार पर सीरियन

तथा अरबी अनुवादों में सुरक्षित है। दूसरा संस्करण गुणाढ्य की 'बृहत्कथा-मञ्जरी' तथा 'कथासरित्सागर' में मिलता है। तीसरा संस्करण 'तंत्राख्यायिका' एवं उससे सम्बद्ध जैन कथाओं में सुरक्षित है; और चौथा संस्करण उत्तरी एवं दक्षिणी 'पञ्चतन्त्र' है, जिसका प्रतिनिधित्व नेपाली 'पञ्चतन्त्र' या 'हितोपदेश' है।

नीतिकथाओं का दूसरा संग्रह 'हितोपदेश' है, जो कि 'पञ्चतन्त्र' का ही संस्करण है और जिसको बंगाल के राजा धवलचन्द्र के राजकवि नारायण पण्डित ने १४ वीं श० के आस-पास रचा।

गुणाढ्य

जीवनी

'कथासरित्सागर' के प्रथम खण्ड में गुणाढ्य की जो कथा दी गई है उसके अनुसार उनके पूर्वजन्म का नाम माल्यवान था। पार्वती जी के आग्रह पर भगवान् शङ्कर विद्याधरों की कहानियाँ सुनाते हुए बताते हैं कि पुष्पदन्त और माल्यवान नामक शिव के जिन दो गणों को कुपित होकर पार्वती ने शाप दिया था वे कौशाम्बी नाम की नगरी में क्रमशः वररुचि और गुणाढ्य के नाम से पैदा हो गये हैं।

आगे गुणाढ्य की कथा में बताया गया है कि वह राजा सातवाहन के दरबार में रहता था। एक दिन माता विंध्यवासिनी के दर्शनार्थ वह जङ्गल में गया और वहाँ से काणभूति पिशाच के पास जाकर उसने उससे पैशाची भाषा में पुष्पदन्त की कथा सुनने का आग्रह किया। इस पर काणभूति ने गुणाढ्य से कहा कि पहले वह अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाये। इस पर गुणाढ्य ने अपना जो वृत्तान्त सुनाया उसके आधार पर विदित होता है कि उसका जन्म सुप्रतिष्ठित नामक नगर में हुआ था। सोमशर्मा की पुत्री श्रुतार्था और वासुकि का भतीजा कीर्तिसेन उसके माता-पिता थे। उसके दो मामा थे, जिनका नाम था वत्सक और गुल्मक। गुणाढ्य का जन्म होते ही उसके दो मामाओं सहित उसकी माता का भी निधन हो गया। वे शापग्रस्त जीवन बिता रहे थे और गुणाढ्य के पैदा होते ही वे शाप से मुक्त हो गये थे।

दक्षिण में उसने शिक्षा प्राप्त की। उसके बाद घर आकर उसने एक बनिये के आग्रह पर किसी महाजन से कर्जा लिया। उसके बाद कुछ दिनों तक अपना जीवन-निर्वाह करता हुआ एक दिन वह राजा सातवाहन के दरबार में पहुँचा। वहाँ के मन्त्रियों ने गुणाढ्य की बड़ी प्रशंसा की और उस पर राजा ने उसको भी एक मन्त्री नियुक्त कर लिया। वहाँ उसने अपना विवाह भी किया। बहुत दिनों तक राजदरबार में वह विद्यार्थियों को भी पढ़ाता रहा और मन्त्री का कार्यभार भी सम्हालता रहा।

अपने आश्रयदाता राजा सातवाहन को कथा सुनाते हुए गुणाढ्य ने आगे अपनी कथा में बताया कि सात नामक यक्ष पर सवारी करने के कारण उसका नाम सातवाहन रखा गया। यह सातवाहन आगे चलकर सम्राट् बना। एक दिन राजा सातवाहन अपनी रानियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था कि एक रानी ने कहा 'मोदकैस्परिताडय'। इस पर राजा ने फौरन ही लड्डू मँगा दिए। किन्तु इस पर रानी ने हँसते हुए कहा 'मैं तो कह रही थी कि 'पानी से मत मारो' (मा उदकैः परिताडय)। अपनी इस मूर्खता पर राजा को बड़ी लज्जा आई और उसने प्रण किया कि या तो पढ़-लिख कर विद्वान् बनूँगा या तो प्राण ही त्याग दूँगा।

यह प्रतिज्ञा कर राजा गुणाढ्य के पास गया और कहा कि 'एक आदमी कितने दिनों में विद्वान् बन सकता है?' इस पर गुणाढ्य ने उसको छह वर्ष में ही व्याकरण का पूर्ण ज्ञान करा देने का वचन दिया। इस पर गुणाढ्य के एक मित्र एवं राजमन्त्री शर्ववर्मा ने राजा को छह मास में ही व्याकरण पढ़ा देने का वायदा दिया। शर्ववर्मा की इस बात को सुनकर गुणाढ्य ने कहा कि 'यदि वह ऐसा कर देगा तो मैं संस्कृत, प्राकृत और देश की बोली बोलना छोड़ दूँगा।'

शर्ववर्मा ने स्वामी कार्तिक की तपस्या कर ऐसी सिद्धि प्राप्त की कि राजा को उसने नियत समय पर सभी विद्यायें पढ़ा दीं।

अपनी कथा को आगे बढ़ाते हुए गुणाढ्य कहता है 'तभी से मैंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा में बोलना छोड़ दिया है।'

बाद में वह विंध्यवासिनी देवी के दर्शनार्थ गया और वहाँ उसने पैशाची भाषा का अध्ययन किया।

इस प्रकार काणभूति पिशाच को गुणाढ्य ने अपनी कहानी सुनाई और उसके बाद काणभूति ने पुष्पदन्त से सुनी हुई कथा, पैशाची भाषा में गुणाढ्य को सुनाई। उस सारी कथा को गुणाढ्य ने अपने रक्त से निरन्तर सात वर्ष तक सात लाख श्लोकों में निबद्ध किया। इसी को आज 'बृहत्कथा' के नाम से सुना जाता है।

पूरा लिख देने के बाद अपनी इस कथा-कृति को गुणाढ्य ने अपने शिष्यों के द्वारा राजा सातवाहन तक पहुँचाया और साथ ही यह आग्रहपूर्ण संदेश भी भेजा कि कृपया राजा इस कथा को प्रकाशित करने की भी व्यवस्था कर दें। किन्तु सातवाहन ने उसको पसन्द नहीं किया और लौटा दिया। गुणाढ्य को इससे बड़ा आघात लगा और जंगल में जाकर उसने अपनी इस महान् कृति का एक-एक पृष्ठ पक्षियों को सुना कर आग में जलाना आरंभ किया। इस प्रकार उसने सारा ही ग्रन्थ जला दिया होता यदि शिष्यों ने आग्रह करके नरवाहन की कथा को न बचाया होता। यह अवशिष्ट अंश एक लाख श्लोकों का था।

इधर राजा रोग-शय्या पर पड़ गये। वैद्यों ने परीक्षा करके बताया कि सूखा मांस खा लेने के कारण राजा बीमार पड़े। इस पर पक्षी मार कर लाने वाले शिकारियों से सूखे मांस का कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया कि 'जंगल में एक ब्राह्मण पशु-पक्षियों को कथा सुनाया करता है। वे कथायें इतनी रोचक हैं कि उन्हें सुनने के लिए जंगल के पशु-पक्षी अपना खाना-पीना ही भूल गये हैं और प्रतिदिन सूखते जा रहे हैं। इसलिए पक्षियों का अच्छा मांस नहीं मिलता।'

यह सुनते ही राजा जंगल की ओर दौड़ पड़ा और उसने गुणाढ्य से उस अवशिष्ट भाग को दे देने की प्रार्थना की। गुणाढ्य ने वह लक्षश्लोकात्मक अवशिष्ट कथा सातवाहन को दे दी।

यही गुणाढ्य की आत्मकथा है। इसके बाद फिर उन कहानियों का सिलसिला है, जो 'बृहत्कथा' से शेष रह सकी थीं।

स्थितिकाल

गुणाढ्य का स्थितिकाल क्या था, इस संबंध में विद्वानों का एकमत नहीं है। गुणाढ्य के संबंध में इतना तो सर्वविदित है कि उसकी 'बृहत्कथा', 'रामायण' और 'महाभारत' की भाँति उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत रही है। 'पंचतंत्र' की भाँति वह बहुत ही लोकप्रिय कृति रही है। उसकी लोकप्रियता का कारण यह था कि उसका निर्माण लोकजीवन के मनोरंजनकारी सर्वसुलभ तत्त्वों को ग्रहण कर किया गया था। सुबन्धु, बाण, दण्डी, हर्ष, त्रिविक्रमभट्ट, धनंजय, सोमदेव, गोवर्धनाचार्य प्रभृति अनेक कवियों, कथाकारों एवं नाटककारों ने उसकी कथाओं से अपने ग्रन्थों के लिए जीवनीतत्त्व लिए और साथ ही उसका बड़े सम्मान से उल्लेख भी किया।

'बृहत्कथा' के रूपान्तरकार बुद्धस्वामी (९०० ई०), क्षेमेन्द्र (१०३७ ई०) और सोमदेव (१०८० ई०) ने उसको देखा था।

दक्षिण के राजा पृथ्वीकोंकण का एक दानपत्र उपलब्ध हुआ है, जिसका समय ६९८ शक (७७६ ई०) है। इस दानपत्र में लिखा हुआ है कि अविनीत नामक राजा के पुत्र राजा दुर्विनीत ने भारवि के 'किरातार्जुनीय' की पन्द्रहवें सर्ग तक टीका लिखी थी। राजा दुर्विनीत का समय, राजा पृथ्वी-कोंकण की सात पीढ़ी पूर्व लगभग ६०० या ६३५ ई० में बैठता है। इस टीका के पन्द्रहवें सर्ग की पुष्पिका में लिखा हुआ है कि दुर्विनीत ने 'बृहत्कथा' का संस्कृत में रूपान्तर किया था।

इन साक्ष्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ६०० ई० तक 'बृहत्कथा' मूलरूप में उपलब्ध थी और उसका रूपान्तर भी हो चुका था।

सोमदेव के 'कथासरित्सागर' के प्रथम खण्ड में गुणाढ्य की जीवनी का जो उल्लेख किया गया है और उसमें जो सातवाहन राजा का हवाला दिया गया है, उसको यदि सत्य माना जाय तो गुणाढ्य का स्थितिकाल ७३ ई० पूर्व से २१८ ई० के बीच होना चाहिए; क्योंकि गुणाढ्य का आश्रयदाता सातवाहन आंध्रभृत्य राजाओं में-से एक था, जिन सातवाहनों का शासन ७३ ई० पूर्व से २१८ ई० तक बना रहा।

तत्कालीन समाज का चित्रण

संस्कृत का कथा-साहित्य बहुत ही समृद्ध और लोकप्रिय है। ये कथायें वर्णन की दृष्टि से अनेक प्रकार से लिखी गई हैं। उनके लिखने का उद्देश्य भी एक नहीं रहा है। इन सम्पूर्ण कथाओं को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं: उपदेशात्मक, मनोरंजक और शिक्षाप्रद। उपदेश, मनोरंजन और शिक्षा, इन तीनों में सूक्ष्म अन्तर नहीं है। कुछ कथा-संग्रह ऐसे भी हैं, जिनमें इन तीनों विषयों से सम्बद्ध कथायें एक साथ देखने को मिलती हैं; बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि कुछ कथाएँ ऐसी भी हैं; जिनमें उपदेश, मनोरंजन और शिक्षा तीनों का समावेश है।

इस प्रकार उक्त तीनों बातों का एक ही कथा में समावेश देखने को तो मिलता है; किन्तु उनमें प्रधानता किसी एक ही बात की रहती है। इस दृष्टि से उपदेशप्रधान कथाएँ ब्राह्मणों, जैनियों और बौद्धों के साहित्य में प्रचुर रूप से देखने को मिलती हैं। 'रामायण', 'महाभारत', पुराण, जातक, अवदान आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' आदि में शिक्षाप्रधान कथायें देखने को मिलती हैं; क्योंकि कथाओं के रूप में वे नीतिशास्त्र के निचोड़ कहे जाते हैं। तीसरी प्रकार की मनोरंजन प्रधान कथाओं का विश्वकोश 'बृहत्कथा' थी, जिसके उपलब्ध तीनों संस्करणों का यथास्थान निर्देश किया गया है। इन संस्करणों की कथायें शिक्षा और उपदेशों से भी भरी हैं; किन्तु उनका प्रमुख उद्देश्य समाज का मनोरंजन करना है, क्योंकि इन कथाओं का सम्बन्ध समाज के मनोरंजन से है, अतः साहित्यिक दृष्टि से और सांस्कृतिक दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है। इन कथाओं से हमें प्राचीन भारत के इतिहास की झाँकी भी देखने को मिलती है।

इन कथाओं के माध्यम से हमें तत्कालीन समाज का राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और चारित्रिक आदि अनेक स्थितियों का ज्ञान होता है।

राजनीतिक दृष्टि से तत्कालीन भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। राजाओं के लिए सन्धि, विग्रह आदि छह उपायों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता था। उनके मंत्री बड़े बुद्धिमान होते थे और युवराजों की शिक्षा-

दीक्षा का भार भी उन्हीं पर निर्भर होता था। मंत्री ब्राह्मण होते थे। गुप्तचर-व्यवस्था बड़ी तगड़ी होती थी।

सारी धार्मिक एवं शासन-व्यवस्था मानव-धर्मशास्त्र और कौटिलीय अर्थ-शास्त्र पर आधारित थी। समाज चतुर्वर्णों में विभक्त था और आर्य-अनार्य भाव प्रचलित था। अनुलोम विवाह होते थे। नर्तकी-पुत्र को क्षत्रिय से हीन माना जाता था। जातियों का पेशे से कोई सम्बन्ध नहीं था। उस समय व्यापार को प्रतिष्ठित कार्य समझा जाता था। व्यापार के लिए समुद्री मार्गों का भी अनुसंधान हो चुका था। समाज में वेश्याओं का प्रचलन था और वे संगीत और नृत्य में कुशल होती थीं। वेश्याओं का उपभोग बुरा नहीं माना जाता था। दास प्रथा का प्रचलन था। ब्राह्मणों की आजीविका राजाओं पर निर्भर होती थी।

बाल-विवाह और विधवा-विवाह पर भी कोई प्रतिबन्ध न था। बहुविवाह होते थे। कन्या का जन्म अच्छा नहीं समझा जाता था। स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। प्रेम-विवाह (गान्धर्व विवाह) बहुत होते थे। परदा प्रथा का प्रचलन नहीं था। स्त्रियाँ संगीत, नृत्य, चित्रकला और यहाँ तक कि व्यापार में भी भाग लेती थीं। स्त्रियों के लिए नाचना, गाना वर्जित नहीं था। दासियों द्वारा प्रेमियों को बुलाया जाता था। उनमें स्वेच्छाचार था। प्रेमी के लिए पति की हत्या कर देना भी कोई बड़ी बात नहीं थी। एक के बाद दूसरा, तीसरा पति वरण किया जा सकता था। वे मांस-मदिरा का भी सेवन करती थीं और तांत्रिक सिद्धियों द्वारा पुरुषों को वश में करने का भी गुण जानती थीं। इच्छित पुरुष के पीछे उनके लिए मरमिटना कोई बड़ी बात न थी। यहाँ तक कि पत्नी को भी दूसरे के उपयोग के लिए दिया जा सकता था।

तत्कालीन नारी के इस पतित रूप का चित्रण इन कथाओं में अधिकतर देखने को मिलता है; किन्तु दूसरी ओर हमें यह भी ज्ञात होता है इन सभी बातों को बुरा समझा जाता था और शासन की दृष्टि से उसके लिये कठिन दण्ड की व्यवस्था थी। उस समय ऐसी नारियाँ भी विद्यमान थीं, जिन्होंने अपने पातिव्रत्य धर्म का कठोरता से पालन किया और जो पुरुषों के लिए लोकशक्ति, गरिमा, गौरव और प्रेरणा की प्रतीक थीं। देवस्मिता, शक्तिमती,

चन्द्रश्री, कल्याणवती और मानपरा आदि नारियों के चरित्रों में इन उच्चादर्शों का अध्ययन किया जा सकता है।

उस युग के समाज में जादू, टोना, तंत्र, मंत्र, शकुन, पुनर्जन्म, स्वर्ग-यात्रा आदि विचित्र बातें प्रचलित थीं। इनके कारण मांस-मदिरा का बड़ा प्रचार था। शास्त्रविधि से गाय का मांस खाना तक उचित समझा जाता था। मनुष्य का भी मांस खाया जाता था और विद्याधर बनने के लिए गर्भस्थ शिशुपिंड को निकालकर खाने तक का दुष्कर्म होता था। ये सभी बातें तांत्रिकों और वाममार्गियों के प्रभावों का प्रतिफल था। पुनर्जन्म तो एक साधारण सी बात थी। शाप दे देना ऐसा ही था, जैसे जेब में रखी हुई किसी वस्तु को दे देना होता है। शाप-निवृत्ति के लिये पुनर्जन्म की योजना सबसे सरल थी।

इन कथाओं पर ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीन धर्मों और तीनों के कथा-साहित्य का प्रभाव है। इन कथाओं के पात्र देवता, राक्षस, उर्वशी-पुरूरवा, सुन्द-असुन्द, राम-सीता, विभीषण, विश्वामित्र-मेनका, ययाति-शर्मिष्ठा, उषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती, बोधिसत्व, नन्द, चन्द्रगुप्त, चण्डप्रद्योत, उदयन आदि हैं। धूर्त, जुआरी, शराबी, आवारा, साधु, याचक, ठग आदि पात्र भी इन कथाओं में देखने को मिलते हैं।

बृहत्कथा के वर्तमान संस्करण

गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह भूतभाषा (पैशाची भाषा) में लिखी गयी थी। इस पैशाची भाषा के संबंध में बड़ा विवाद है; किन्तु अधिकतर विद्वानों ने इसका उत्पत्तिस्थान मध्यप्रदेश बताया है। वहाँ यह जनबोली के रूप में वर्षों तक वर्तमान रही है।

गुणाढ्य की विलुप्त 'बृहत्कथा' के संप्रति तीन अनुवाद या रूपान्तर मिलते हैं: १ बुद्धस्वामीकृत 'बृहत्कथाश्लोक-संग्रह', २ क्षेमेन्द्रकृत 'बृहत्कथा मंजरी' और ३ सोमदेवकृत 'कथा सरित्सागर'।

१. बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह : इसके लेखक बुद्धस्वामी नेपाल के निवासी थे। इनका अनुमित स्थितिकाल ८वीं ९वीं शताब्दी है। यह कृति अधूरी ही उपलब्ध होती है। इस खण्डित प्रति में २८ सर्ग और ४५३९ पद्य हैं। इसके अनुशीलन से विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि बुद्धस्वामी की यह कृति १०० सर्गों तथा २५,००० पद्यों की रही होगी। इस संस्कृत रूपान्तर में कहीं-कहीं प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ है, जो संभवतः मूल 'बृहत्कथा' का प्रभाव प्रतीत होता है। विद्वानों ने इस संस्करण को मूलग्रन्थ के अधिक निकट माना है। इसकी लेखनशैली बड़ी सरल, भाषा बड़ी मधुर एवं सुबोध और वर्णन बड़े स्वाभाविक हैं।

२. बृहत्कथा-मंजरी : इसके लेखक क्षेमेंद्र संस्कृत के विख्यात विद्वान् हुए। वे काश्मीर के निवासी थे और वहाँ के राजा अनन्त (१०२९–१०६४ ई०) के आश्रय में रहकर उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। आचार्य अभिनवगुप्त इनके गुरु थे। इनका एक नाम व्यासदेव भी था। इससे पूर्व क्षेमेन्द्र 'रामायण' और 'महाभारत' का सार 'रामायणमंजरी' के रूप में प्रस्तुत कर चुके थे। 'रामायण' और 'महाभारत' के समान लोकप्रिय इस तीसरी कृति 'बृहत्कथा' का सार उन्होंने 'बृहत्कथामंजरी' के रूप में रखा। इसमें १८ लम्बक और ७५०० पद्य हैं। कवित्व की दृष्टि से यह संस्करण बड़ा ही पाण्डित्यपूर्ण है; किन्तु बुद्धस्वामी के संस्करण के विपरीत इसकी भाषा में दुर्बोधता और वर्णनों में जटिलता है। इसकी कथायें कहीं-कहीं बहुत ही संक्षिप्त कर दी गयी हैं; इन कमियों के बावजूद जहाँ-जहाँ नारी-सौंदर्य और राजकुमारों के शौर्य-बल-प्रदर्शन के प्रसंग आये हैं वहाँ-वहाँ क्षेमेन्द्र ने बड़े ही मर्मग्राही एवं सरस वर्णन दिये हैं।

३. कथा-सरित्सागर : इसके रचयिता का नाम सोमदेव भट्ट था। उनके पिता का नाम राम था। ये क्षेमेन्द्र तथा राजा अनन्त के ही समकालीन थे और ऐसा बताया जाता है कि क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ के २० वर्ष बाद राजा अनन्त की विदुषी रानी सूर्यवती के आग्रह पर सोमदेव ने इस ग्रन्थ को लिखा था। सोमदेव ने क्षेमेन्द्र के ग्रंथ की दुरूहता और संक्षिप्तीकरण आदि दोषों का परिष्कार कर अत्यन्त रोचक शैली में इस ग्रन्थ की रचना की।

इसमें १८ लम्बक, १२४ तरंग और २२,००० पद्य हैं। इस संस्करण को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि 'बृहत्कथामञ्जरी' की अपेक्षा उसकी शैली आकर्षक, भाषा प्रांजल तथा प्रवाहमयी और वर्णन बड़े ही रुचिकर हैं।

'बृहत्कथा' के इन तीन उपलब्ध संस्करणों के अतिरिक्त सातवीं सदी में गङ्गराज दुर्विनीत भी एक संस्कृत संस्करण लिख चुके थे, जो उपलब्ध नहीं है; किन्तु जिसका उल्लेख उनकी 'किरातार्जुनीय' पर लिखी गई टीका के १५वें सर्ग की पुष्पिका में देखने को मिलता है। 'बृहत्कथा' के दो तमिल संस्करण भी पाये जाते हैं।

तीनों संस्करणों में भिन्नता

'बृहत्कथा' के इन तीनों रूपान्तरों में कुछ भिन्नता है। मूल ग्रन्थ के रूपान्तर होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि मूलकथा से इनकी भिन्नता होती। इस दृष्टि से बुद्धस्वामी के संस्करण को मूलग्रन्थ के अधिक निकट बताया जाता है। जब हम इन तीनों संस्करणों का तारतम्य करते हैं तो हमें लगता है उनमें भी पर्याप्त अनेकता है। उनमें ऐसी भी कथायें हैं, जिनका मूलकथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। निश्चित ही इस प्रकार की कथाएँ, उनके इन रूपान्तरकारों की अपनी हैं; या तो उन्हें दूसरे लिपिकारों ने बाद में जोड़ दिया है। इनमें ये प्रक्षिप्त कथाएँ उस समय काश्मीर में अधिक प्रचलित रही होंगी। इसलिए इन संस्करणों में उनका भी समावेश कर दिया गया।

आकार की दृष्टि से क्षेमेन्द्र के संस्करण से सोमदेव का संस्करण तिगुना है और बुद्धस्वामी के संस्करण से पाँचगुना। बुद्धस्वामी के संस्करण में सर्ग, क्षेमेन्द्र के संस्करण में गुण तथा लम्बक और सोमदेव के संस्करण में लम्बक तथा तरंग की दृष्टि से कथाओं का विभाग किया हुआ है। बुद्धस्वामी के संस्करण में जो सर्ग हैं उन्हें ही क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव के संस्करणों में लम्बक कहा गया है।

क्षेमेन्द्र और सोमदेव के संस्करण में १८ खण्ड हैं, जिन्हें दोनों में 'लम्बक' कहा गया है। अपने संस्करण के उपखण्डों को क्षेमेन्द्र ने 'गुच्छ'

कहा है और सोमदेव ने 'तरंग'। विषय-सामग्री की दृष्टि से दोनों संस्करणों के आदि पाँच खण्डों में समानता है; किन्तु आगे के खण्डों में असमानता आ गई है। बुद्धस्वामी के संस्करण में यह भिन्नता और भी बढ़ गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेमेन्द्र के ही आधार पर सोमदेव ने भी प्रथम पाँच खण्डों का क्रम रखा है। क्षेमेन्द्र का यह क्रम कथानक की दृष्टि से अधिक उपयुक्त जान पड़ता है; किन्तु बाद के खण्डों में असंबद्धता आ गई है। सोमदेव ने, क्षेमेन्द्र के इस दोष को ध्यान में रखकर अपने संस्करण को अधिक वैज्ञानिक ढंग से संजोया है। उन्होंने सारी कथा के तारतम्य एवं सम्बन्ध को बनाये रखा है। इसके विपरीत क्षेमेन्द्र के संस्करण में बाद का क्रम अव्यवस्थित हो जाने के कारण सभी कथायें विशृङ्खलित हो गई हैं। 'बृहत्कथा-मंजरी' और 'कथासरित्सागर' की कथाओं के क्रम में छठे लम्बक के बाद भिन्नता है। उसका अनुमान 'कथासरित्सागर' के संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर में दी गयी भूमिका में निर्दिष्ट श्री विष्णु प्रभाकर की इस गणना से लगाया जा सकता है :

लम्बक	बृहत्कथामंजरी	कथासरित्सागर
सूर्यपुत्र	६	८
मदनमंचुका	७	६
वेला	८	११
शशांकवती	९	१२
विषमशील	१०	१८
मदिरावती	११	१३
पद्मावती	१२	१७
पंचलम्बक	१३	१५
रत्नप्रभा	१७	७
अलंकारवती	१५	९
शक्तियशोलम्बक	१६	१०
महाभिषेक	१७	१४
सुरतमंजरी	१८	१६

कथा की इस विशृङ्खलता एवं असंबद्धता का कारण उपकथाएँ हैं। मुख्य कथा से अधिक ये उपकथाएँ ऐसी हैं, जिनका मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसी उपकथाएँ भी शामिल की गई हैं, जो सर्वथा व्यर्थ हैं। निश्चित ही ये व्यर्थ की उपकथायें मूल कथा में न रही होंगी।

तीनों संस्करणों के आदि में यह लिखा हुआ है कि ये कथाएँ शंकर भगवान् ने पार्वती जी को सुनाई। बुद्धस्वामी के संस्करण, में लिखा हुआ है कि भगवान् शंकर ने पार्वती जी को जो कथायें सुनाई थीं वे विद्याधरों की थीं और उन्हें किसी ने नहीं सुना था; किन्तु सोमदेव के संस्करण में इन कथाओं के पात्र देवी-देवता भी हैं, मनुष्य भी हैं और पशु-पक्षी भी। इसी प्रकार बुद्धस्वामी के संस्करण में जहाँ एक गण को शाप देने की चर्चा है, वहाँ सोमदेव के संस्करण में दो गणों का उल्लेख है। बुद्धस्वामी के संस्करण में कुबेर को मुख्य देवता के रूप में माना गया है; किन्तु सोमदेव के संस्करण में कुबेर का स्थान शंकर ने ले लिया है।

ये असंगतियाँ तथा भिन्नतायें क्यों आईं, इस पर यदि विचार किया जाय तो पहला कारण तो समय की दूरी जान पड़ता है। बुद्धस्वामी के ढाई-तीन-सौ वर्ष बाद या तो 'बृहत्कथा' में ही कुछ अन्तर आ गया था अथवा क्षेमेन्द्र तथा बुद्धस्वामी ने अपने युग में प्रचलित कथाओं को अधिक प्रामाणिक मान कर अपने संस्करणों में उनका समावेश कर दिया था। बुद्धस्वामी के समय अथवा 'बृहत्कथा' के अनुसार कुबेर को अधिष्ठाता देवता के रूप में माना जाता रहा हो और ११वीं शताब्दी में वह स्थान शंकर को दिया जाने लगा हो, जिससे कि क्षेमेन्द्र और सोमदेव ने मुख्य देवता शिव को माना। ये सभी बातें युग की लोकप्रियता और समय की दूरी के कारण हो गई जान पड़ती हैं।

परवर्ती साहित्य पर बृहत्कथा का प्रभाव

संस्कृत-साहित्य के निर्माण और विकास में 'बृहत्कथा' का बड़ा योग रहा है। संस्कृत के अनेक ग्रन्थकारों ने अपनी कृतियों के लिए 'बृहत्कथा' की कथाओं से प्रेरणा प्राप्त की। इस दृष्टि से 'रामायण' और 'महाभारत' से उसकी तुलना की जा सकती है। संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में जिस प्रकार कई शताब्दियों तक 'रामायण' और 'महाभारत' की अनुजीवी ग्रन्थों के रूप में

स्थिति बनी रही, वैसे ही 'बृहत्कथा' की भी लोकप्रियता बनी रही। 'दशरूपक' के रचयिता आचार्य धनंजय (१००० ई०) ने लिखा है कि 'रामायण' और 'महाभारत' की भाँति 'बृहत्कथा' भी बड़ी लोकप्रिय थी :

'रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथाञ्च'

'दशरूपक' (१।६८) के इस उल्लेख को आधार बना कर कुछ विद्वानों ने तो उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त की पत्नी मदनकंचुकी से सीता की तुलना की है; किन्तु इन दोनों ग्रन्थों की तुलना का महत्त्व उनके पात्रों एवं उसकी कथावस्तु की दृष्टि से न होकर, परवर्ती साहित्य में उनको किस रूप में स्मरण किया गया है और प्राचीनकाल में उनकी कैसी लोकप्रियता रही है, इस दृष्टि से है।

'आर्यासप्तशती' के लेखक गोवर्द्धनाचार्य (११०० ई०) ने भी 'रामायण', 'महाभारत' और 'बृहत्कथा' को भारतीय साहित्य का मूलस्रोत बताते हुए लिखा है :

'श्रीरामायणभारतबृहत्कथानां कवीन् नमस्कुर्मः।
त्रिस्रोता इव सरसा सरस्वती स्फुरति यैर्भिन्ना॥'

संस्कृत के अनेक ग्रन्थकारों ने 'बृहत्कथा' की प्रशस्ति में अपने भिन्न-भिन्न विचार प्रस्तुत किए हैं। सुबन्धु (६०० ई०) ने अपनी 'वासवदत्ता' में लिखा है :

'बृहत्कथारंभैरिव शालिभञ्जिकोपेतैः'

भूतभाषा (पैशाची भाषा) में इस अद्‌भुतार्थप्रतिपादिनी महाकथा के बारे में आचार्य दण्डी (६०० ई०) ने 'काव्यादर्श' में लिखा है :

'भूतभाषामयीं प्राहुरद्‌भुतार्थां बृहत्कथाम्'

बाण की 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में 'बृहत्कथा' का अनेक बार उल्लेख हुआ है। सभी जगह बाण ने उसको बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। उन्होंने 'हर्षचरित' में एक स्थान पर 'बृहत्कथा' को हरिलीला की भाँति विस्मयकारिणी कहा है :

'समुद्दीपितकंदर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरिलीलैव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥'

त्रिविक्रम भट्ट (९१५ ई०) ने अपने 'नलचम्पू' में लोकानुरंजनकारी गुणाढ्य की इस उक्ति के सम्बन्ध में लिखा है :

'धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः ।'

इसी प्रकार सोमदेव सूरि (९५९ ई०) के 'यशस्तिलकचम्पू' में भी 'बृहत्कथा' की स्तुति की गई है ।

गोवर्द्धनाचार्य के मंतव्य का पहले भी उल्लेख किया जा चुका है । उन्होंने 'आर्यासप्तशती' में गुणाढ्य को व्यास का मूर्तिमान अवतार बताया है :

'अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त ।
कैर्नोच्येत गुणाढ्यः स एव जन्मान्तरापन्नः ॥'

अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' में लिखा है :

'चित्रार्थां च बृहत्कथामचकथम् ।'

सोड्ढल कवि (११०० ई०) की 'उदयसुन्दरीकथा' में गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' की विशेषता और लोकप्रियता के सम्बन्ध में कहा गया है :

'कविर्गुणाढ्यः स च येन सृष्टा बृहत्कथा प्रीतिकरी जनानाम् ।
सा संविधानेषु सुसन्धिबन्धैर्निपीड्यमानैव रसं प्रसूते ॥'

इस प्रकार लगभग १२वीं शताब्दी तक 'बृहत्कथा' का संस्कृत के कवियों, कथाकारों एवं नाटककारों ने रसपान करके अपनी कृतियों में उसको उतारा और जी-भर उसकी प्रशंसा की । इतना ही नहीं, ९वीं शताब्दी तक उसकी लोकप्रियता भारत की अपेक्षा बृहत्तर भारत में फैल चुकी थी और इसका प्रमाण कम्बोडिया (प्राचीन चम्पा) के एक ८७५ ई० के शिलालेख से मिलता है । उसमें गुणाढ्य को प्राकृत भाषा का प्रेमी कह कर स्मरण किया गया है :

'पारदस्थिरकल्याणो गुणाढ्यः प्राकृतप्रियः ।
अनीतियों विशालाक्षः शूरो न्यक्कृतभीमकः ॥'

'बृहत्कथा' से अनुजीवित या प्रभावित कृतियों का उल्लेख किया जाय तो एक लम्बी सूची तैयार हो जायगी; किन्तु मोटे तौर पर यह स्पष्ट है कि ४०० ई० पूर्व से लेकर १२वीं शताब्दी पर्यन्त रचे गये अनेक ग्रंथ 'बृहत्कथा'

के दाय से परिपुष्ट हुए हैं। इस प्रकार के ग्रंथों में भास (४०० ई० पूर्व) के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'स्वप्नवासवदत्ता'; 'चारुदत्त', विष्णुशर्मा (३०० ई०) का 'पंचतंत्र', शूद्रक (६०० ई०) का 'मृच्छकटिक', विशाखदत्त (५०० ई०) का 'मुद्राराक्षस', बाण (७०० ई०) की 'कादम्बरी', श्रीहर्ष (७०० ई०) के 'नागानन्द', 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका', भवभूति (७०० ई०) का 'मालती-माधव', भट्टनारायण (८०० ई०) का 'वेणीसंहार', धनपाल (१००० ई०) की 'तिलकमंजरी', शिवदास (१२०० ई०) तथा जंभलदत्त कृत 'वैतालपंच-विंशतिका' और नारायण पंडित (१४०० ई०) का 'हितोपदेश' प्रमुख हैं। ये सभी ग्रंथ किसी-न-किसी रूप में गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से प्रभावित एवं संबद्ध हैं।

यहाँ भास की कृतियों को गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से प्रभावित बताया गया है; किन्तु कुछ विद्वानों को इसमें यह आपत्ति है कि भास, गुणाढ्य के पूर्ववर्ती थे। वे या तो भास को गुणाढ्य से पूर्व का बताते हैं या तो समसामयिक। साथ ही इस संबंध में यह भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि राम और कृष्ण के बाद भारतीय साहित्य में उदयन तथा वासवदत्ता की लोकप्रियता को दृष्टि में रखकर भास और गुणाढ्य दोनों ने स्वतंत्र रूप से उदयन-वासवदत्ता की कथा को अपनाया था।

बौद्ध विचारों पर आधारित अज्ञातनामा संग्रहकार का एक कथा-संग्रह 'अवदानशतक' है, जिसका अनुवाद तीसरी शताब्दी ई० में चीनी भाषा में हो चुका था। इस दृष्टि से ये कथाएँ लगभग ईसा की पहिली शताब्दी में रचित प्रतीत होती हैं। इसी संग्रह के आधार पर एक दूसरे संग्रह 'दिव्यावदान' की कथाओं का अनुवाद भी चीनी भाषा में २६५ ई० में हो चुका था। इसलिए इस संग्रह की मूल रचना का समय भी लगभग पहिली शताब्दी ईसवी में प्रतीत होता है।

एक संग्रह आर्यसूरि ने 'जातकमाला' नाम से किया है। ये जातक कथाएँ बोधिसत्त्व के पूर्वजन्म से संबद्ध हैं। इस संग्रह का अनुवाद ४३४ ई० में चीनी भाषा में हो चुका था, जिससे उसका समय ४०० ई० से पहिले का प्रतीत होता है।

जातकों और अवदानों का एक गद्य-पद्यमय संग्रह 'सूत्रालंकार' या 'कल्पनामण्डितक' नाम से खंडित रूप में उपलब्ध है, जिसका लेखक कुमारलात १५० ई० था। 'दिव्यावदानशतक' के आधार पर क्षेमेन्द्र (११वीं श०) ने एक संग्रह 'अवदानकल्पलता' या 'बोधिसत्त्वावदानकल्पलता' के नाम से लिखा।

सिद्धार्थ नामक एक जैन कथाकार (१०वीं श०) ने गद्यमयी भाषा में 'उपमितिभावप्रपञ्चकथा' लिखी और हेमचन्द्र (११वीं श०) ने जैन मुनियों की आत्मकथाओं के रूप में अपने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के परिशिष्ट में 'परिशिष्टपर्व' लिखा।

एक प्राचीनतम संग्रह 'वैतालपंचविंशतिका' है जिसका कि १२वीं श० में शिवदास ने अपने ढंग से गद्य-पद्य रूप में, और जंभलदत्त ने केवल गद्य रूप में संस्कार कर प्रचारित किया। इसी का एक संस्करण वल्लभदेव ने संक्षिप्त किया।

विक्रमादित्य से संबद्ध कथाओं का एक संग्रह 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' भी है, जिसके दूसरे नाम 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' या 'विक्रमार्कचरित' भी हैं। इसका लेखक अज्ञात है। १४वीं शताब्दी ईसवी के जैन लेखक ने इसका एक गद्य रूपान्तर किया। इसी का एक रूपान्तर वररुचि के नाम से बंगाल में प्रसिद्ध है।

'शुकसप्तति' के नाम से एक अज्ञातकालीन एवं अज्ञातनामा लेखक की कथा-कृति उपलब्ध है। इसका १४वीं शताब्दी में एक फारसी अनुवाद हो चुका था। हेमचन्द्र भी इस ग्रन्थ से परिचित था। अतः इसका रचनाकाल दसवीं शताब्दी से पहिले का प्रतीत होता है।

इसी प्रकार बल्लालसेन शिवदास (१२वीं श०) ने 'कथार्णव' एवं 'शालिवाहनकथा'; जोनराज के शिष्य श्रीवीर कवि (१५वीं श०) ने 'कथाकौतुक', बल्लालसेन (१६वीं श०) ने 'भोजप्रबन्ध', और आनन्द ने 'माधवानलकथा' तथा विद्यापति ने 'पुरुषपरीक्षा' आदि ग्रन्थों की रचना कर संस्कृत के कथा-काव्यों के क्षेत्र में अपरिमित वृद्धि की।

सुभाषित काव्य

सुभाषित काव्य संस्कृत-साहित्य के शृङ्गार हैं। संस्कृत के छोटे-बड़े, सभी तरह के ग्रन्थकारों ने सुभाषित-काव्यों की सूक्तियों को अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत कर, उनके प्रति अपना अनुराग प्रकट किया। इससे सहज में ही सुभाषित-काव्यों की लोकप्रियता का अनुमान होता है।

विभिन्न ग्रन्थों में विकीर्णित इन सुभाषित-ग्रंथों की सूक्तियों से एक बड़ा भारी लाभ संस्कृत के ग्रंथकारों का इतिहास जानने में हुआ है। प्रायः बहुत-सारे ग्रंथकारों ने इन सुभाषितों को उनके निर्माताओं के नाम-सहित अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है। इससे एक तो सूक्तियों की प्रामाणिकता का पता लगता है और दूसरे सूक्तिकार का इतिहास जानने में सहायता होती है।

ये सूक्तियाँ हमें प्रायः तीन रूपों में मिलती हैं। कुछ सूक्तियाँ तो ऐसी हैं, जिनके जन्मकाल एवं जन्मदाता का कुछ पता नहीं; किन्तु बराबर ही जिनका उल्लेख दूसरे ग्रंथों में मिलता है; कुछ ऐसे संग्रहग्रंथ हैं, जिनमें विभिन्न कालों के विभिन्न कवियों द्वारा निर्मित सूक्तियों को किसी संग्रहकार ने मिला-जुला कर ग्रंथरूप में बाँध दिया है; और कुछ ऐसी भी हैं, जो हमें अन्य ग्रंथों के रूप में प्रामाणिकता से संकलित हुई मिलती हैं।

ग्रंथरूप में प्रामाणिकता से उपलब्ध होने वाला पहिला सुभाषित-काव्य 'गाथासप्तशती' है, जो कि महाराष्ट्री प्राकृत के सात-सौ श्लोकों में लिखित है। इसका संग्रहकार आंध्रभृत्य सातवाहन राजा हाल (७८ ई० पू०) था। संस्कृत में सर्वप्रथम सुभाषित-संग्रह 'कवींद्र-वचन-समुच्चय' है। इसकी १२वीं शताब्दी में उल्लिखित नेपाली भाषा की हस्तलिपि प्राप्त हुई है। इस संग्रह में जिन प्राचीन लेखकों की सूक्तियाँ संगृहीत हैं, उनमें अन्तिम राजशेखर (९०० ई०) है। इस दृष्टि से इस संग्रह का समय दशवीं शताब्दी के आस-पास मानना उचित प्रतीत होता है। इसका संग्रहकार अज्ञात है। मालव के परमारवंशीय राजा वाक्पतिराज मुंज (११वीं शती) का प्रभावशाली विद्वान् अमितगति हुआ। उसने सुभाषितविषयक एक ३२ प्रकरणों एवं ९२२ पद्यों का बृहद् ग्रंथ 'सुभाषित-संदोह' के नाम से लिखा।

तदनन्तर चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र सोमेश्वर ने ११३१ ई० में 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' या 'नामोल्लास'; बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१२वीं श०) के आश्रित कवि गोवर्धन ने 'गाथासप्तशती' के अनुकरण पर 'आर्यासप्तशती'; बटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने 'सदुक्तिकर्णामृत' (रचना १२०५ ई०); यादव-वंशीय राजा कृष्ण (१२४७–१२६० ई०) के सचिव एवं राजकवि जल्हण ने 'सूक्तिमुक्तावली' (रचना १२५७ ई०); सुप्रसिद्ध वेद-भाष्यकार एवं विजयनगर के राजाओं के महामंत्री एवं राजविद्वान् सायणाचार्य (१४वीं श०) ने 'सुभाषित-सुधानिधि'; दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधरपद्धति' (रचना १३६३ ई०); सकलकीर्ति (संभवतः १५वीं श०) ने 'सुभाषितावली' आदि कतिपय उत्कृष्ट कृतियों का निर्माण कर सुभाषित-काव्य के क्षेत्र को अधिक व्यापक एवं समृद्ध बनाया।

इसी परम्परा को पोतयार्य ने 'प्रसङ्गरत्नावली' (रचना १४६६ ई०); जोनराज के शिष्य श्रीवर ने 'सुभाषितावली' (रचना १४८० ई०); वल्लभदेव (१५वीं श०) ने भी 'सुभाषितावली'; कृष्णचैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी (१५वीं श०) ने 'पद्यावली'; दाक्षिणात्य विद्वान् पेड्डि भट्ट (१५वीं श०) ने 'सूक्तिवारिधि', हरि कवि (१७वीं श०) ने 'सुभाषितहारावली'; महाराष्ट्रीय वीरपुंगव छत्रपति शिवाजी के पुत्र शम्भुजी (१७वीं श०) ने 'बुधभूषण'; अज्ञातकालीन संग्रहकार हरिभाष्कर ने 'पद्यामृततरंगिणी' और शिवदत्त ने 'सुभाषितसंग्रह' आदि ग्रंथों का निर्माण एवं संग्रह कर आगे बढ़ाया।

१९वीं श० के उत्तरार्ध में डॉ० बॉटलिंग ने संस्कृत के संपूर्ण सुभाषित-ग्रंथों का अनुशीलन करके उनमें से ८०० उत्कृष्ट सूक्तियों को छाँट और उनको पुस्तकाकार में संबद्ध कर प्रामाणिक भूमिका के साथ जर्मन भाषा के गद्य में अनूदित कर प्रकाशित किया, जिसका नाम उन्होंने रखा 'इण्डिशे स्प्रूखे' (भारतीय सूक्तियाँ)। इस सूक्तिग्रंथ का यूरोप में बड़ा आदर हुआ।

नीतिविषयक उपदेशात्मक काव्य

संस्कृत के काव्य-साहित्य की कुछ कृतियों में नीतिविषयक सूक्तियों की प्रधानता और उपदेशात्मक सूक्तियों का गौणत्व मिले-जुले रूप में विद्यमान

है। इसी प्रकार कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें प्रधानतया उपदेशात्मक सूक्तियाँ और गौणतया नीतिविषयक सूक्तियाँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार की काव्य-कृतियाँ न तो विशुद्ध नीतिपरक हैं और न विशुद्ध उपदेशात्मक ही। इसलिए ऐसी कृतियों का वर्गीकरण हमने मिले-जुले रूप में नीतिविषयक उपदेशात्मक काव्य के अन्तर्गत किया है।

आचारप्रधान होने के कारण नीतिविषयक सूक्तियों पर धर्म और दर्शन, दोनों का प्रभाव है। ये नीतिविषयक उपदेशात्मक काव्य संस्कृत में एक सर्वथा नवीन परम्परा और नई विचारपद्धति की व्याख्या उपस्थित करते हैं। सामाजिक सद्भाव, मैत्री की भावना का निर्माण, धर्म, दर्शन, सदाचार और राजनीति जैसे गम्भीर विषयों का सरल काव्यमयी भाषा में प्रतिपादन करने में इस प्रकार के ग्रंथकारों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय को संस्कृत में उतारा है।

इन सूक्तिकारों ने सुख-दुःख का विवेचन कर जीवन के साथ उसके सम्बन्धों को बड़ी चुस्ती से घटित किया; जीवन की अभ्युन्नति को दृष्टि में रख कर सुमार्ग एवं कुमार्ग की भलाई-बुराई का परीक्षण किया; मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों को एक दायरे में खड़ा कर उनकी प्रेम-भावनाओं को परखा; मानव-जगत् तथा पशु-जगत् की सद्वृत्तियों का विश्लेषण कर मैत्री भाव की आस्था को बलवत्तर बनाया; सीधी चोट करने वाली व्यंग्यात्मक शैली में दैन्य, कार्पण्य, शोषण, असमानता आदि सामाजिक प्रवृत्तियों पर भी समर्थ प्रहार किया। इनमें भाग्य की अवश्यंभाविता के बावजूद भी पुरुषार्थ को सर्वोपरि स्थान दिया गया; और साहित्य जैसे श्रेष्ठतम कर्म में आत्मश्लाघा, पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा अनियमित ज्ञानार्जन को बुरा कहा गया है।

संस्कृत के इन नीतिषियक उपदेशात्मक काव्यों के निर्माताओं के इस अद्भुत मनोविज्ञान को देखकर आश्चर्य होता है। दुनिया के साहित्य के साथ संस्कृत के इस काव्य-पक्ष की तुलना करने की योग्यता मेरी नहीं है; किन्तु मैं यही कहूँगा कि जिस किसी भी साहित्य में, इतने प्राचीन काल में, इस प्रकार की कृतियों का निर्माण हुआ, वह साहित्य और वे साहित्यकार सचमुच ही प्रशंसा के पात्र हैं।

ये उपदेशकाव्य या नीतिकाव्य जिस प्रकार विषय की दृष्टि से विचित्र हैं, वैसे ही इनके अधिकांश निर्माताओं और इनके नाम-धाम, जन्म-स्थान आदि का इतिहास भी विचित्र है। कुछ सूक्तियाँ ऐसी हैं, जो मौखिक रूप में जीवित रहती हुई न जाने किस दूर अतीत से आज तक अपने अस्तित्व को बनाये हैं; कुछ सूक्तियाँ ऐसी हैं, जो प्रसंगानुसार विभिन्न ग्रंथों में उद्धृत हुई मिलती हैं; कुछ सूक्तियाँ ऐसी हैं, जिनको किसी दूसरे ही संग्रहकार ने समेट कर एक पुस्तक में सङ्कलित कर दिया है; और कुछ सूक्तियाँ ऐसी हैं, जो अंग-भंग के रूप में भिन्न-भिन्न पाठभेदों में मिलती हैं। किन्तु सर्वथा ऐसा नहीं है कि ये नीतिकाव्य छितरी-बिखरी सूक्तियों के ही रूप में मिलते हैं, या सर्वथा ही उनके निर्माताओं का इतिहास विलुप्त है, अपितु उनकी बहुत-सारी ऐतिहासिक परम्परा भी सुरक्षित है।

इस कोटि की स्फुट सूक्तियों का इतिहास बताना कठिन है; किन्तु ग्रन्थरूप में 'चाणक्यशतक' पहिला नीतिग्रन्थ है, जिसमें ३४० श्लोक संगृहीत हैं और सम्भवतया जिसका लेखक सुप्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' का निर्माता एवं चन्द्रगुप्त मौर्य (४०० ई० पू०) का प्रधान सचिव कौटिल्य, चाणक्य, या विष्णुगुप्त ही है। इसी चाणक्य ने 'राजनीतिसमुच्चय' और 'वृद्धचाणक्य' दो ग्रन्थ और लिखे। बौद्धों का 'धम्मपद' भी इसी कोटि का ग्रंथ है।

मदुरा के निवासी सुन्दरपाण्ड्य के 'नीतिद्विषष्टिका' के श्लोकों को जनाश्रय (६०० ई०) ने अपने ग्रन्थ 'छन्दोविचिति' में उद्धृत किया है, जिससे उसका समय पाँचवीं शताब्दी में प्रतीत होता है। कुमारिल (७०० ई०) और शङ्कराचार्य (८०० ई०) ने भी अपने ग्रन्थों में सुन्दरपाण्ड्य-कृत कुछ नये श्लोकों को उद्धृत किया है, जिससे प्रतीत होता है कि उसने दूसरे नीतिकाव्य भी लिखे। बौद्ध विद्वान् शांतिदेव (६०० ई०) ने इस कोटि का ग्रन्थ 'बोधिचर्यावतार' लिखा, जिस पर लिखी गई अनेक टीकाएँ उसकी लोकप्रियता का द्योतन करती हैं। इन्होंने ही 'शिक्षासमुच्चय' और 'सूत्रसमुच्चय' भी लिखे। गीतिकाव्यों की कोटि में निर्दिष्ट भर्तृहरि के तीनों शतक-ग्रन्थ—'नीतिशतक', 'श्रृंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' का उल्लेख

नीतिकाव्यों की परम्परा में भी किया जा सकता है। उनमें भी 'नीतिशतक' प्रमुखता से उल्लेखनीय है।

शंकराचार्य के नाम पर जुड़ा हुआ एक दार्शनिक एवं उपदेशात्मक ग्रन्थ 'मोहमुद्गर' इसी परम्परा का है। इसके अतिरिक्त काश्मीर के राजा जयापीड (७७९-८१३ ई०) के आश्रित कवि दामोदर कृत 'कुट्टिनीमत' तथा 'शम्भलीमत'; जैनाचार्य अमितगति कृत 'सुभाषितरत्नसंदोह' (रचना ९९४ ई०) एवं 'धर्मपरीक्षा' (रचना १०१४ ई०); क्षेमेन्द्र (११वीं शताब्दी) कृत 'चारुचर्या', 'चतुर्वर्गसंग्रह', 'सेव्यसेवकोपदेश', 'समयमातृका', 'कलाविलास' और 'दर्पदलन'; जैनाचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) का 'योगशास्त्र'; जल्हण (१२वीं श०) का 'मुग्धोपदेश'; शिल्हण (तेरहवीं शताब्दी) का 'शान्तिशतक' और सोमप्रभ की 'श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी' (रचना १२७६ ई०) ने नीतिकाव्यों या उपदेशकाव्यों की परम्परा को समृद्ध एवं समुन्नत किया।

तदनन्तर १४वीं शताब्दी में भर्तृहरि के 'नीतिशतक' के अनुकरण पर वेदान्तदेशिक ने 'सुभाषितनीति' और 'वैराग्यशतक' के अनुकरण पर 'वैराग्यपंचक'; कुसुमदेव (१४वीं श०) ने 'दृष्टान्तशतक'; द्या-द्विवेदी (१५वीं श०) ने 'नीतिमंजरी' प्रभृति ग्रन्थ लिखे। १७वीं शताब्दी में वर्तमान संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार पण्डितराज जगन्नाथ का 'भामिनीविलास' इस विषय का उच्चतम ग्रन्थ है।

इसी परम्परा में नीलकंठ दीक्षित (१७वीं श०) ने 'कलिविडम्बन', 'सभारंजनशतक', 'शांतिविलास', 'वैराग्यशतक'; 'वेंकटाध्वरी' (१७वीं श०) ने 'सुभाषितकौस्तुभ'; कश्मीर के राजा शंकर वर्मा (८८३-९०२ ई०) के आश्रित कवि बल्लाल ने अन्योक्तिप्रधान-ग्रन्थ 'बल्लालशतक'; कश्मीर के राजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०) के आश्रित कवि शम्भु ने 'अन्योक्तिमुक्तामाला' और नीलकंठ दीक्षित (१६५० ई०) ने 'अन्योक्तिशतक' ग्रन्थ लिखे। अज्ञातकालीन कवि वीरेश्वर का 'अन्योक्तिशतक' इस श्रेणी के काव्यों में अन्तिम कृति है।

गद्य भाषा का उद्गम और उत्कर्ष

गद्य की प्राचीनता

संस्कृत-साहित्य में गद्य भाषा की परम्परा को वैदिक संहिताओं जितना प्राचीन कहा जा सकता है। पद्य भाषा की अपेक्षा गद्य भाषा को संस्कृत में अधिक सम्मान दिया गया मालूम होता है। गद्य के लिए संस्कृत में एक उक्ति है : 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात् गद्य भाषा कवियों के कवित्व-बल की कसौटी है। कृष्ण यजुर्वेद, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषद्-ग्रन्थों, निरुक्त, महाभारत और महाभाष्य प्रभृति ग्रंथों से संस्कृत भाषा के गद्य को संवर्धनशील परम्परा उपलब्ध हुई। आगे चलकर सैकड़ों टीकाओं, व्याख्याओं, कथाकाव्यों, आख्यायिका ग्रंथों और चम्पू-नाटक आदि में गद्य भाषा का प्रौढ़ रूप सामने आया। तत्वज्ञानसंबंधी दर्शनग्रन्थों, विज्ञान-विषयक ज्योतिष-ग्रन्थों और भाषाशास्त्रसम्बन्धी व्याकरण के ग्रन्थों आदि में भी गद्य को फूलने फलने, और अपना विकास करने की पूरी सुविधाएँ प्राप्त रहीं।

ऐतिहासिक गवेषणाओं से हमें प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्य के प्राचीनतम अंश वैदिक साहित्य में गाथाओं का अस्तित्व बड़ी प्रभावोत्पादक रीति से स्वीकार किया गया है। ब्राह्मणग्रंथों के अर्थवाद के एक आवश्यक अङ्ग के रूप में वैदिक साहित्य के क्षेत्र में आख्यान, इतिहास एवं पुराणों का स्पष्ट उल्लेख है, जो धार्मिक संस्कारों या यज्ञ के अवसरों पर सुनाए जाते थे। इन आख्यानों में गद्य के साथ जो पद्य भाग मिश्रित है, उसे 'गाथा' कहा गया है। ऋग्वेद में 'नाराशंसी' गाथाओं का उल्लेख दानस्तुति के रूप में हुआ। इनके सम्बन्ध में वहाँ यह कहा गया है कि ये झूठी हैं। इन गाथानाराशंसियों के रचयिता, वक्ता एवं प्रवक्ता तत्तत्कालीन सूत थे। सूतों के अतिरिक्त एक दूसरी श्रेणी कुशीलवों (नट-नर्तकों) की भी थी, जो समाज में इन गीतों को नाच-गा कर सुनाया करते थे।

गद्य भाषा की प्राचीनतम गाथाएँ और आख्यायिकाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं; फिर भी पुराने उपलब्ध ग्रन्थ हमें इस संबंध में पर्याप्त विवरण देते हुए मिलते हैं। सुप्रसिद्ध वैयाकरण वार्तिककार कात्यायन (४०० ई० पूर्व) हमें

आख्यायिका से सुपरिचित जान पड़ते हैं। दूसरे वैयाकरण महाभाष्यकार पतंजलि (२०० ई० पूर्व) के सम्बन्ध में ऐसा विश्वास होता है कि वे 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' नामक आख्यायिकाओं को अपने हाथ से भली-भाँति उलट-पुलट चुके थे। उनका 'महाभाष्य' गद्य की समृद्धि का प्रौढ़ परिचायक है।

रुद्रदामन् का गिरनार-शिलालेख (१५० ई०), गुप्तकालीन-शिलालेख और विभिन्न स्थानों से उपलब्ध सैकड़ों अभिलेखों को देखकर गद्य के प्राचीन अस्तित्व का सहज में ही अन्दाजा लगाया जा सकता है। कथाकार बाण ने एक सिद्धहस्त गद्यकार भट्टारक हरिश्चन्द्र का नाम उद्धृत किया है। इसी प्रकार जल्हण के कथनानुसार वररुचिकृत 'चारुमती', रोमिल्ल-सौमिल्लकृत 'शूद्रककथा', तिलकमंजरीकार धनपाल के कथनानुसार श्रीपालितकृत 'तरंगवतीकथा' और आंध्रभृत्य सातवाहन राजाओं के समय लिखी गई 'शातकर्णी-हरण' एवं 'नमोवंतीकथा' आदि ग्रन्थ भी प्राचीन गद्य की परम्परा का समर्थन करते हैं। इन कथाकृतियों के कारण ही दण्डी, सुबन्धु और बाण जैसे अद्भुत गद्यकारों की प्रतिभा को हम पा सके हैं। दण्डी, सुबन्धु और बाण ही संस्कृत के गद्य-वैभव के स्वामी हैं; फिर भी यह स्मरणीय है कि इनसे पूर्व ही संस्कृत में गद्य-लेखन की परम्परा विद्यमान थी।

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में शास्त्रीय गद्य की अवतारणा करने वाले तीन विद्वानों, शबर स्वामी (४०० ई०), शंकराचार्य (७०० ई०) और जयंत भट्ट (९००ई०), का नाम उल्लेखनीय है। प्रौढ मीमांसक शबर स्वामी का 'कर्ममीमांसा-भाष्य', अतुल प्रतिभा के विद्वान् शंकराचार्यकृत 'ब्रह्मसूत्र', 'गीता' तथा उपनिषदों के भाष्य और सुप्रसिद्ध नैयायिक पंडित जयंत भट्ट कृत 'न्यायमंजरी' आदि दर्शनग्रन्थ गद्य का परिष्कृत एवं सुसंस्कृत रूप उपस्थित करते हैं।

दर्शनशास्त्र के अतिसूक्ष्म एवं रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले उक्त तीनों भाष्यकारों का गद्य असाधारण पारिभाषिक शैली में लिखा गया था। उसमें दुरूहता एवं पांडित्य की अधिकता थी, जिसका प्रयोग किये बिना दर्शन के कठिन विचारों का प्रतिपादन करना सम्भव नहीं था। अतः भाष्य शैली का यह दार्शनिक गद्य आगे प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता प्राप्त न कर

सका। गद्यकाव्यों के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रवृद्धशील, लोकप्रिय और अनुकरणीय गद्य का प्रवर्तन दण्डी, सुबन्धु तथा बाण की कृतियों से लक्षित होता है।

आरम्भ में यद्यपि गद्य-रचना को काव्य-कौशल का कारण माना जाने लगा था या गद्य-कृतियों को काव्य न कहा जा कर उसको कवियों की कसौटी माना जाने लगा था, तथापि हम देखते हैं कि इसका परिणाम यह हुआ कि आत्मश्लाघा एवं काव्य-कौशल के लिए कवियों ने ऐसे गद्य का निर्माण किया जो समासबहुल, अतिदुरूह और पांडित्य-प्रदर्शन से भरपूर था। हम देखते हैं कि एक छोटी-सी कथा को, विभिन्न प्रसंगों में उलझा कर, इतना जटिल बना दिया गया कि मुख्य कथा को समझना ही दुष्कर हो जाता है।

आख्यायिका : कथा

श्रव्यकाव्य का एक भेद तो पद्यकाव्य है और दूसरा भेद गद्यकाव्य है। जो रचना छन्दोबद्ध नहीं हुआ करती वह गद्य कही जाती है। उसके चार प्रकार हैं (१) मुक्तक (२) वृत्तगन्धि (३) उत्कलिकाप्रिय और (४) चूर्णक। मुक्तक वह गद्यबन्ध है, जो समासरहित पदों में रचा जाता है; वृत्तगन्धि वह गद्य प्रकार है, जिसमें कहीं-कहीं वृत्तों का भी समावेश रहता है; उत्कलिकाप्रिय वह गद्य-भेद है, जो रसयुक्त लम्बे-लम्बे पदों में विरचित होता है और चूर्णक वह पद्य रचना है, जिसमें समस्त छोटे-छोटे पदों का उपनिबन्ध हुआ करता है :

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्॥
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम्॥

गद्य काव्य के दो भेद हैं; कथा और आख्यायिका। कथा में सरस इतिवृत्त हुआ करता है। उसमें कहीं-कहीं आर्या छन्द और कहीं-कहीं वक्त्र तथा अपवक्त्र छन्दों का भी प्रयोग होता है। उसका प्रारम्भ किसी मंगलवाची श्लोक से किया जाता है। उसमें भी दुष्टों की निन्दा और सज्जनों का यशोगान होता है।

आख्यायिका भी कथा की ही भाँति गद्य काव्य का एक रूप है, जिसमें प्रायः कथा की ही उक्त विशेषतायें हुआ करती हैं। इसमें भिन्नता इस बात की हुआ करती है कि कवि अपने वंश के अनुकीर्तन के साथ-साथ इसकी कृतियों की भी चर्चा किया करता है। इसमें स्थान-स्थान पर पद्यबद्ध सूक्तियाँ भी हुआ करती हैं। यह आश्वासों में नियमित होती है और इसके आरम्भ में आर्या या वक्त्र-अपवक्त्र छन्दों में किसी अवान्तर विषय को लेकर वर्णनीय विषय की सूचना दी जाती है।

संस्कृत में जैसे नाटक लिखे गये, आज की दृष्टि से यदि उनका मूल्यांकन किया जाय तो प्राविधिक तकनीकियों का उनमें प्रायः अभाव ही देखना पड़ेगा। किन्तु ऐसा करने से हमें अपने प्रतिभाशाली अतीत का एक दर्शनीय अंक अपने से अलग कर देना होगा, जैसा कि सम्भव नहीं है। इसलिए नाटकों के नाट्यशास्त्रीय संविधानों की दृष्टि से विवेचना करने के लिए उसी युग तक लौटना पड़ेगा, जहाँ के लिए उन्हें लिखा गया था।

गद्य का समृद्धिशाली रूप

(१) सुबन्धु

जीवनी तथा स्थितिकाल

सुबन्धु की जीवनी के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। उनके जन्मस्थान का जहाँ तक सम्बन्ध है, कुछ विद्वान् उन्हें काश्मीरी तथा कुछ मध्यदेशीय मानते हैं। उनके नाम से उपलब्ध एकमात्र कृति 'वासवदत्ता' के अध्ययन से ऐसा कुछ भी संकेत नहीं मिलता कि वे किस स्थान पर पैदा हुए तथा उनके वंश और माता-पिता आदि का वृत्तान्त क्या है।

उनके स्थितिकाल के बारे में भी विद्वानों की एक राय नहीं है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा विवाद चला आ रहा है। इस विवाद के प्रमुख दो पक्ष हैं। कुछ विद्वान् तो उन्हें बाण का पूर्ववर्ती मानते हैं और कुछ बाण का उत्तरवर्ती। सुबन्धु वस्तुतः कब हुए, इसका निश्चय हम तभी कर सकेंगे, जब कि विद्वानों के इन मन्तव्यों का आधार जान लें।

जिन विद्वानों का यह कहना है कि सुबन्धु बाण के बाद हुए उनके मंतव्यों का निष्कर्ष यह है :

१. बाण ने अपने ग्रंथों में 'किं बहुना', 'देवः प्रमाणम्', 'अचिन्तयच्च' और 'आसीच्चास्य मनसि' आदि बाण की शब्दावली एवं पदावली का ज्यों-का-त्यों उल्लेख किया है।

२. सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में उल्लिखित 'वज्रेणेन्द्रायुधेन मनोजवनाम्ना तुरगेण सह नगरान्निर्जगाम' में इन्द्रायुध नामक घोड़े को बाण ने अपनी 'कादम्बरी' में चन्द्रापीड के इन्द्रायुध नामक घोड़े के लिए प्रयुक्त किया है। यह भाव सुबन्धु ने बाण से लिया है।

३. बाण की 'कादम्बरी' में दिखाया गया है कि अपने प्रेमियों की मृत्यु पर प्राणघात के लिए उद्यत कादम्बरी और महाश्वेता आकाशवाणी को सुनकर वैसा करने से रुक जाती हैं। ठीक यही हालत सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में अपनी प्रेमिका के लिए कन्दर्पकेतु की दिखाई गई है। दोनों ग्रन्थों के इस प्रसंग में इतना ही अन्तर है कि 'कादम्बरी' में प्रेमिकायें आत्मत्याग करने को उद्यत हैं तो 'वासवदत्ता' में वह स्थिति प्रेमी की है। किन्तु दोनों में घटनासाम्य है।

४. बाण ने अपने 'हर्षचरित' में जिस 'वासवदत्ता' का उल्लेख किया है वह सुबन्धुकृत न होकर उससे भी प्राचीन किसी दूसरे ही ग्रन्थकार की कृति थी।

५. बाण की 'कादम्बरी' में शुक द्वारा कही हुई कथा के ही अनुकरण पर सुबन्धु ने भी अपनी 'वासवदत्ता' की कथा को शुक के द्वारा कहलाया है।

इन आधारों पर निश्चित है कि सुबन्धु बाण के बाद हुए और उनकी कृति पर बाण की विद्वत्ता का स्पष्ट प्रभाव है। अतः सुबन्धु बाण के बाद हुए।

इसके विपरीत जिन विद्वानों का यह कहना है कि सुबन्धु, बाण के पहले हुए उनकी स्थापनाओं का निष्कर्ष इस प्रकार है :

१. इतना तो निश्चय है कि सुबन्धु और बाण, दोनों वामनाचार्य (८०० ई०) के पहले हुए, क्योंकि 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में उन्होंने इन दोनों की कृतियों के उद्धरण दिये हैं।

२. कविराज (१२०० ई०) ने अपने 'राघवपाण्डवीय' में सुबन्धु, बाण और अपने नाम का ऐतिहासिक क्रम देते हुए लिखा है 'सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः'।

३. वाक्पतिराज (७०० ई०) के प्राकृतकाव्य 'गौडवहो' में भास आदि ग्रंथकारों के साथ सुबन्धु (सोवंधवे) का उल्लेख हुआ है; किन्तु बाण का नहीं, इस उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि तब तक बाण की इतनी ख्याति नहीं हुई थी, जितनी कि सुबन्धु की।

४. मंख (१२वीं श०) के 'श्रीकण्ठचरित' में इन दोनों ग्रंथकारों का उल्लेख किया गया है। वहाँ भी सुबन्धु को प्रथम स्थान दिया गया है।

५. सुबन्धु ने एक स्थान पर नारीरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'न्यायस्थितिमिवोद्योतकररूपां, बौद्धसंगीतिमिवालंकारभूषिताम्'। इस वाक्य के आधार पर जिन विद्वानों का यह कथन है कि सुबन्धु का संकेत प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर तथा बौद्ध-विद्वान् धर्मकीर्ति के 'बौद्धसंगत्यलंकार' की ओर है वह ठीक नहीं है; क्योंकि धर्मकीर्ति की कृतियों में इस नाम का कोई भी ग्रंथ अब तक बौद्ध-साहित्य में नहीं सुना गया है।

६. जैन विद्वान् जिनभद्राही क्षमाश्रमणकृत 'विशेषावश्यक-भाष्य' (६०८ ई०) में 'वासवदत्ता' तथा 'तरंगवती' का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

७. बाण ने अपनी 'कादम्बरी' की प्रस्तावना में 'अलब्धवैदग्ध्यविलास-मुग्धया धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा' कह कर जिस 'अतिद्वयी कथा' की ओर संकेत किया है वह सुबन्धु की 'वासवदत्ता' और गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' ही है।

८. बाण ने 'हर्षचरित' में 'कवियों के दर्प को विदलित कर देने वाली' (कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया) कहकर जिस 'वासवदत्ता' का उल्लेख किया है वह सुबन्धुकृत ही थी।

९. हमें 'वासवदत्ता' के अन्तरंग प्रसंग से भी यह विदित होता है कि सुबन्धु बाण से पहले हुआ। यह निश्चित है कि यदि सुबन्धु बाण के बाद हुआ होता तो 'वासवदत्ता' के स्वयंवर में उपस्थित राजकुमार कन्दर्पकेतु के प्रसंग में वर्णित नल-दमयन्ती, अज-इन्दुमती, दुष्यन्त-शकुन्तला, नरवाहन-

मदनमंजरी, नलकूबर-रंभा, धर्मराज-धूमोर्णा, कुबेर-ऋद्धि और देवेन्द्र-इंद्राणी के प्रसिद्ध प्रेमाख्यानों के चरित्रनायकों का उल्लेख करते हुए उसने चन्द्रापीड-कादम्बरी का उल्लेख अवश्य किया होता।

इन आधारों पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सुबन्धु बाण से पहले हुआ और अपने गद्य को लिखने के लिए बाण ने अपने पूर्ववर्ती जिन विद्वानों की कृतियों को आदर्श माना है उनमें सुबन्धु की 'वासवदत्ता' का भी एक संमान्य स्थान था। यह बात आगे बाण के प्रसंग में स्पष्ट की जायगी।

वासवदत्ता

'वासवदत्ता' सुबन्धु की एकमात्र उपलब्ध कृति है। उसमें राजकुमार कन्दर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता की प्रेमकहानी वर्णित है। कन्दर्पकेतु स्वप्न में किसी अठारह वर्ष की रूप-यौवन-संपन्ना कन्या को देखता है, जो कि उसका मन मोह लेती है। अपने मित्र मकरन्द को साथ लेकर वह उस स्वप्नदृष्टा अज्ञात सुन्दरी की तलाश में घर से निकल पड़ता है। उनका पड़ाव विंध्य पर्वत की एक तलहटी पर होता है। वहाँ रात को वे पेड़ पर बैठे हुए शुक-दम्पती का वार्तालाप सुनते हैं। सारिका अपने शुक पर देर से आने के कारण बड़ी रुष्ट है। शुक बताता है कि उसको इसलिए घर आने में विलम्ब हुआ कि वह एक अपूर्व मनोमुग्धकारी कथा को सुनता रहा। वह कथा पाटलिपुत्र की राजकुमारी वासवदत्ता की थी। उस कथा को शुक अपनी सारिका को सुनाता है। कथा का यह क्रम कन्दर्पकेतु सुनता रहता है। उधर वासवदत्ता भी एक रात को स्वप्न में कन्दर्पकेतु को देखती तथा उसका नाम भी सुनती है और उस पर मोहित हो जाती है। उसकी सखी तमालिका कन्दर्पकेतु को खोजने के लिए निकल पड़ती है। अन्त में शुक-दम्पती और तमालिका के सहयोग से कन्दर्पकेतु और वासवदत्ता का मिलन होता है। किन्तु वासवदत्ता का पिता शृङ्गारशेखर अपनी पुत्री का विवाह कन्दर्पकेतु के साथ न करके किसी विद्याधर से करना चाहता है। इस बात को जानकर दोनों प्रेमी-प्रेमिका चुपके से एक जादू के घोड़े पर सवार होकर भाग निकलते हैं। वे दोनों विंध्याटवी में विश्राम लेते हैं। सुबह होने पर वासवदत्ता अकेली ही वन-भ्रमण के लिये निकल पड़ती है। जंगल में उसको किरातों के दो समूह

मिलते हैं, जो उसका पीछा करते हैं और उसको प्राप्त करने के लिए परस्पर घमासान युद्ध करते हैं। इसी बीच वासवदत्ता चुपके से भाग निकलती है और एक आश्रम में जाकर शरण लेती है। किन्तु वहाँ ऋषि के शाप से वह शिला बन जाती है। वासवदत्ता के न मिलने के कारण कन्दर्पकेतु ज्यों ही आत्महत्या के लिए प्रस्तुत होता है त्यों ही उसे आकाशवाणी द्वारा वासवदत्ता के पुनर्मिलन का आश्वासन प्राप्त होता है। वह आत्महत्या करने से रुक जाता है। जंगल में घूमते-घूमते एक दिन वह उस आश्रम में जा पहुँचता है जहाँ वासवदत्ता शापवश शिला बनी थी। वह उस शिला का स्पर्श करता है और शाप की अवधि समाप्त होने के कारण वासवदत्ता जीवित हो जाती है। अन्त में कन्दर्पकेतु को अपना मित्र मकरन्द भी मिल जाता है और वासवदत्ता के साथ वह अपनी राजधानी में जाकर चिरकाल तक सुखी जीवन व्यतीत करता है।

अपनी इस कृति को सुबन्धु ने एक लघु उपन्यास का रूप दिया है; किन्तु इसको एक लम्बी कहानी कहना अधिक उपयुक्त लगता है। इसमें पात्रों की भी अधिकता नहीं है। बीच-बीच में वर्णनों और अवान्तर घटनाओं के संयोग से एक छोटी सी प्रेम-कथा को ग्रन्थरूप में निबद्ध करने का इसमें प्रयास किया गया है। प्रमुख कथा बड़ी ही शिथिलता से आगे बढ़ती है; उसको अवान्तर घटनाओं और बड़े-बड़े वर्णनों ने दबा-सा दिया है। कथा के शिल्प, शैली और स्वरूप की दृष्टि से 'वासवदत्ता' को एक सफल कृति नहीं कहा जा सकता है।

सुबन्धु की शैली

'वासवदत्ता' के आधार पर सुबन्धु की गद्यशैली का विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होता है कि उसमें अतिशय वर्णन-विस्तार है। एक छोटी-सी कथा को लेकर पूरा ग्रन्थ रच डालने का कौशल निश्चित ही प्रशंसनीय है; किन्तु उसमें भावार्थ की कमी और शाब्दिक पक्ष की प्रबलता है। कभी-कभी तो इस शाब्दिक प्रवाह में वे इतने बह जाते हैं कि लगभग सवा-सौ पंक्तियों में जाकर उनका एक वाक्य पूरा हो पाता है। ऐसे प्रसङ्गों पर दिखाई देता है वे

रस-भाव आदि तक की परवाह नहीं करते हैं। उदाहरण के लिये कन्दर्पकेतु द्वारा स्वप्नदृष्ट वासवदत्ता का वर्णन, विन्ध्याटवी का वर्णन और वासवदत्ता द्वारा स्वप्नदृष्ट कन्दर्पकेतु का वर्णन द्रष्टव्य है।

सुबन्धु की गद्य-शैली उनके पाण्डित्य से परिवेष्टित है। उनके इस पाण्डित्य-प्रदर्शन ने उनकी कल्पना और अनुभूति को दबा दिया है। किसी एक बात को रसभावाभिव्यंजक बनाकर कहने की अपेक्षा वे चमत्कारिक ढंग से नई-नई बातों को कहने के लिये आतुर दिखाई देते हैं। उनकी कृति में विषयान्तरों की भरमार का कारण भी यही है। पाण्डित्यप्रदर्शन और अलंकार-योजना का मोह उन्हें पग-पग पर घेरे दिखाई देता है।

सुबन्धु का गद्य गौडीरीतिप्रधान है। श्लेष उनकी शैली का जीवन है। उन्होंने 'वासवदत्ता' की प्रस्तावना में स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि उनकी रचना का एक-एक अक्षर श्लेषमय है :

'सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः।
प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपञ्चविन्यासवैदग्ध्यनिधिप्रबन्धम् ॥'

रचना में वाक्य-विन्यास के द्वारा वैदग्ध्य उद्बोधित करने का वर उन्हें साक्षात् सरस्वती से प्राप्त हुआ है। इसलिए आदि से अन्त तक वे अपने दृष्टिकोण पर जमे रहे। अतिशयोक्ति, अनुप्रास और समासप्रधान उनकी इस क्लिष्ट रचना में वास्तविक काव्य-सौन्दर्य कितने अंशों में है, इसको पकड़ पाना दुस्तर है। किन्तु इतना स्पष्ट-सा है कि उनकी इस चित्रकाव्यबोझिल रचना में रसानुभूति का आनन्द नहीं मिलता है।

गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' सुबन्धु की गद्यशैली का आदर्श थी। उन्होंने कुसुमपुर के वर्णन में तोते के मुँह से कहलाया है कि 'मैंने आज अपूर्व बृहत्कथा (लम्बी कहानी) सुनी है (अपूर्वाद्य बृहत्कथा मया श्रुता)।' इतना ही नहीं उसे मैंने स्वयं देखा भी है (प्रत्यक्षीकृता च)।' इसके साथ ही सुबन्धु ने आगे उस बृहत्कथा का श्लेषमय परिचय प्रस्तुत करते हुए लिखा है 'प्रशस्तसुधाधवलैः बृहत्कथालम्बैरिव, शालभंजिकोपशोभितैः वृत्तैरिव।'

इसके अतिरिक्त वासवदत्ता के स्वयंवर में उपस्थित राजाओं एवं राजपुत्रों का वर्णन करते हुए सुबन्धु ने स्पष्ट ही गुणाढ्य की बृहत्कथा की चर्चा करते

हुए लिखा है 'कोई राजपुत्र 'बृहत्कथा' के निर्माता गुणाढ्य कवि के समान शूरता आदि गुणों से संपन्न थे' (केचिद् बृहत्कथानुबन्धिन इव गुणाढ्याः)।

इसलिए यह निश्चित है कि सुबन्धु ने बृहत्कथा को सुना और स्वयं पढ़ा भी था। अपनी गद्यशैली के लिए उन्होंने गुणाढ्य की शैली को अपनाया था, यह भी निश्चित है।

(२) दण्डी

जीवनी

दण्डी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में उनकी 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में लिखा हुआ है कि उनके पूर्वज गुजरात के आनन्दपुर नामक स्थान के निवासी थे। वहाँ से वे नासिक आये और उसके बाद अचलपुर (एचिलपुर) में आकर बस गये। इस वंश में कौशिकगोत्रीय ब्राह्मण नारायण स्वामी का जन्म हुआ। उनके पुत्र का नाम भारवि था। भारवि का वास्तविक नाम दामोदर था। इन्हीं भारवि ने 'किरातार्जुनीय' की रचना की थी। भारवि के बाद दण्डी तक की परम्परा के सम्बन्ध में 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में लिखा है :

'मनोरथाह्वयस्तेषां मध्यमो वंशवर्द्धनः।
ततस्तनूजाश्चत्वारः स्रष्टुर्वेदा इवाभवन्॥
श्रीवीरदत्त इत्येषां मध्यमो वंशवर्द्धनः।
यवीयानस्य च श्लाघ्या गौरी नामाभवत्प्रिया॥
ततः कथंचित्सा गौरी द्विजाधिपशिरोमणेः।
कुमारं दण्डिनामानं व्यक्तशक्तिमजीजनत्॥'

अर्थात् भारवि के मध्यम पुत्र का नाम मनोरथ था। उसके चार पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटे का नाम वीरदत्त था। वीरदत्त की पत्नी का नाम गौरी था। यही दण्डी के माता-पिता थे। इस दृष्टि से दण्डी भारवि के प्रपौत्र ठहरते हैं। दण्डी दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और उनका जन्म कांची (काञ्जीवरम्) में हुआ। उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में कुछ विवाद रहा है। उनके दाक्षिणात्य होने के प्रमाण उनके 'काव्यादर्श' में उल्लिखित मलयानिल, कांची,

कावेरी, चोल और 'दशकुमारचरित' में उल्लिखित कांची, सुह्मदेश, अश्मकदेश, लाटदेश, कालपत्तन द्वीप, अंगदेश, अनंगदेश, चम्पा, उज्जैन, श्रावस्ती और पुंड्रदेश आदि दक्षिण के प्रधान स्थान हैं। किन्तु उनके इन दोनों ग्रन्थों में विदर्भ (बरार) का अधिक उल्लेख मिलता है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि दण्डी विदर्भवासी थे। उनकी वर्णनशैली वैदर्भीप्रधान है, जो कि उनके समय के अधिकतर काश्मीरी काव्यशास्त्रियों के विपरीत थी। इसलिए भी उनको विदर्भवासी बताया गया है। किन्तु अपनी 'अवन्तिसुन्दरी कथा' में उन्होंने स्वयं को कांचीनिवासी बताया है। भले ही उनका जन्म कांची में हुआ हो; किन्तु विदर्भ से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य था।

स्थितिकाल

दण्डी की कृतियों की ही भाँति उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। १९०७ ई० में श्री कॉलिन्स महोदय ने 'रघुवंश' और 'दशकुमारचरित' के भौगोलिक वृत्तान्तों का विश्लेषण करने के उपरान्त यह सिद्ध किया था कि इन दोनों ग्रन्थों के निर्माण का समय एक ही है। उन्होंने अपने मन्तव्य के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किया था कि जिस सामाजिक अवस्था का वर्णन 'दशकुमारचरित' में हुआ है वह १०वीं शताब्दी का है। अतः दण्डी का समय ११वीं शताब्दी होना चाहिए।

कॉलिन्स महोदय की उक्त खोज पर बाद में जो टीका-टिप्पणियाँ हुईं उन्होंने उस मान्यता को कल्पित एवं अनैतिहासिक बताया। वस्तुतः दण्डी की कथाओं का आधार गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' थी और उसी समय की भौगोलिक तथा सामाजिक स्थितियों का चित्रण दण्डी ने किया है। यदि हम कॉलिन्स महोदय की उक्त मान्यता को सही मानते हैं तो हमें इसका भी हल निकालना पड़ेगा कि पाँचवीं-छठी शताब्दी में निर्मित 'मृच्छकटिक' तथा आठवीं-नवीं शताब्दी में निर्मित 'बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह' आदि ग्रन्थों में चित्रित जिन बातों की चर्चायें हम 'दशकुमारचरित' में पाते हैं उनका आधार क्या था? और क्या इस आधार पर 'दशकुमारचरित' को पाँचवीं-छठी शताब्दी की रचना माना जाना चाहिए। इसलिए दण्डी को ११वीं

शताब्दी में रखने तथा उनकी कृति को 'रघुवंश' के समय रची हुई बताने की धारणा कल्पनामात्र नहीं तो क्या है ?

यद्यपि आरंभ में दण्डी के काल-निर्णय की स्थिति अत्यन्त संदिग्ध रही है, किन्तु आज वैसी बात नहीं है। दण्डी के स्थितिकाल को निर्धारित करने वाले कई तथ्य प्रकाश में आ चुके हैं। आचार्य अभिनवगुप्त (१००० ई०) ने 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' टीका (३।७) में प्रतिहारेन्दुराज (९२५ ई०) कृत 'काव्यालंकारसार-संग्रह' की 'लघुवृत्ति' (पृ० २८) में दण्डी का स्पष्ट नाम-निर्देश किया है। राष्ट्रकूट के राजा अमोघवर्ष कृत कनारी भाषा के ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' के सम्पादक श्री पाठक ने अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि उस पर दण्डी के 'काव्यादर्श' का प्रभाव था। इस ग्रंथ का निर्माण ८१५–८७५ ई० के बीच हुआ। इसी प्रकार राजसेन प्रथम के राज्यकाल (८४६–८६६ ई०) में निर्मित सिंहली भाषा का ग्रंथ 'सियाकसलकार' (स्वभाषालंकार) 'काव्यादर्श' पर आधारित है और उसमें 'काव्यादर्श' का भी उल्लेख हुआ है। वामन (८०० ई०) के 'काव्यालंकारसूत्र' पर दण्डी के 'काव्यादर्श' का प्रभाव है। वामन के रीति-विवेचन इसके प्रमाण हैं। दण्डी बाण के पहिले हुए या बाद में, इस सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है। पीटरसन और याकोबी के मतानुसार 'काव्यादर्श' के एक पद्य (२।१९७) में 'कादम्बरी' के शुकनासोपदेश की छाया है। इस दृष्टि से दण्डी बाण के परवर्ती सिद्ध होते हैं; किन्तु दूसरी ओर जब हम 'दशकुमारचरित' की प्रसादपरक शैली की तुलना बाण की जटिल शैली से करते हैं और जब हम 'दशकुमारचरित' के भौगोलिक तथा राजनीतिक वर्णनों में बाण के आश्रयदाता हर्षवर्धन के भारत से पूर्व की स्थितियों का चित्रण पाते हैं तो हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि दण्डी बाण से पहले हुए।

मैक्समूलर, वेबर, मेक्डोनल, कर्नल जेकब आदि पश्चिमी विद्वान् और आधुनिक भारतीय विद्वान् यही मानते हैं कि दण्डी बाण से पहले या तो छठी शताब्दी के अन्त में हुए अन्यथा सातवीं शताब्दी के आरंभिक चतुर्थांश में। वह निश्चित ही उनका स्थितिकाल था।

कृतित्व

संस्कृत के काव्यशास्त्र के इतिहास में दण्डी का व्यक्तित्व स्पष्ट है। उनके सम्बन्ध में कही गई यह उक्ति 'कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः' उनके विश्रुत एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है।

आचार्य दण्डी के सम्बन्ध में 'शार्ङ्गधरपद्धति' में राजशेखर के नाम से एक श्लोक उद्धृत है, जिसमें कहा गया है कि :

'त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥'

अर्थात् तीन अग्नियाँ, तीन देवता, तीन वेद और तीन गुणों की भाँति आचार्य दण्डी के तीन प्रबन्ध तीनों लोकों में विश्रुत हैं।

राजशेखर की इस उक्ति को लेकर, दण्डी के तीन प्रबन्धों के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। दण्डी के दो ग्रंथ तो उपलब्ध हैं : 'दश-कुमारचरित' और 'काव्यादर्श'। किन्तु उनका तीसरा ग्रन्थ बड़ा विवादास्पद रहा है। डॉ० पिशेल ने बताया कि उनका तीसरा ग्रंथ 'मृच्छकटिक' है। इसके समर्थन में पहिला तर्क तो उन्होंने यह दिया कि 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' यह उल्लेख 'मृच्छकटिक' (१।३४) और 'काव्यादर्श' (२।२२६) दोनों में मिलता है और दूसरे में 'मृच्छकटिक' तथा 'दशकुमारचरित' का सामाजिक चित्रण एक जैसा है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि उनकी तीसरी कृति 'छन्दोविचिति' या 'कलापरिच्छेद' है, क्योंकि 'काव्यादर्श' (१।२९; ३।१६१) में उनका उल्लेख हुआ है। यह 'कलापरिच्छेद' जैसा कि उन्होंने 'काव्यादर्श' में उल्लेख किया है 'तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति' काव्यादर्श का ही चतुर्थ परिच्छेद है या कि कोई स्वतंत्र ग्रंथ ही वे इस नाम से लिखना चाहते थे, यह ज्ञात नहीं होता है।

इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने 'मल्लिकामारुत' को दण्डी की तीसरी रचना बताया है; किन्तु अब यह नाटक मालावार के उद्दण्ड रंगनाथ (१५०० ई०) की कृति प्रमाणित हो चुका है।

आचार्य दण्डी की तीसरी कृति 'अवन्तिसुन्दरीकथा' सिद्ध हो चुकी है; किन्तु इस सम्बन्ध में भी विद्वानों का मतभेद रहा है। १९२३ ई० में श्री रामकृष्ण कवि ने ओरिएण्टल कान्फ्रेंस प्रोसीडिंग्स ऐंड ट्रान्सेक्शन्स में 'अवन्ति-सुन्दरीकथा' और 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया कि 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के रचयिता दण्डी हैं और उनकी यह कथाकृति उनके 'दशकुमारचरित' की पूर्वपीठिका है। 'अवन्ति-सुन्दरीकथासार' सात परिच्छेदों (अध्यायों) का पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसका अन्तिम परिच्छेद अपूर्ण है और इसके लेखक का पता नहीं चलता है। दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरीकथा' भी अपूर्ण ही उपलब्ध है और वह अनन्तशयन ग्रन्थमाला, संख्या १७२ (१९५४ ई०) में प्रकाशित हो चुकी है।

इस मत के विपरीत डॉ० दे ने 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' में एक विस्तृत समीक्षा लिख कर यह सिद्ध किया कि 'काव्यादर्श' तथा 'दशकुमार चरित' का लेखक दण्डी 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के लेखक दण्डी से भिन्न था। उन्होंने अपने मत के समर्थन में 'अवन्तिसुन्दरीकथा' और 'दशकुमारचरित' के अनेक अनमिल प्रसंगों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया।

तीसरा मत श्री आगशे का है। उन्होंने 'दशकुमारचरित' के साथ 'काव्यादर्श' की तुलना करके यह सिद्ध किया कि दोनों का लेखक एक व्यक्ति हो ही नहीं सकता है; क्योंकि 'काव्यादर्श' में काव्य-शास्त्र की दृष्टि से जिन बातों का निषेध किया गया है एवं काव्य के लिए जिनको दोष बताया गया है, उन्हीं दोषों तथा निषेधों अर्थात् व्याकरण सम्बन्धी भूलों, लम्बे समासों की योजना, ओज की न्यूनता, भावों की ग्राम्यता, कामुकता का विशद वर्णन, द्यूत, चोरी, व्यभिचार और रक्तपात आदि का समावेश 'दशकुमारचरित' में देखने को मिलता है।

किन्तु आगशे महोदय की यह आशंका निराधार है; क्योंकि 'काव्यादर्श' में काव्य-नियमों का निरूपण करना अलग बात है और 'दशकुमारचरित' में उन दोषों का न आने देना अलग बात है। उदाहरण के लिये क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' के दोष प्रकरण में सभी दोषों के उदाहरण स्वरचित दूसरे ग्रन्थों से ही उद्धृत किए हैं। इसलिए यह सम्भव है कि

दण्डी ने 'दशकुमारचरित' की रचना तब की जब वे साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे थे और उसके बाद उन्होंने अपना काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ 'काव्यादर्श' लिखा होगा।

आचार्य दण्डी की कृतियों के सम्बन्ध में उठाई गई इस प्रकार की सभी शंकाओं का अब पूर्णतः समाधान हो चुका है और सभी विद्वान् अब यह मानने लगे हैं कि 'दशकुमारचरित', 'काव्यादर्श' और 'अवन्तिसुन्दरीकथा' इन तीनों का लेखक एक ही दण्डी है; और राजशेखर ने वर्षों पूर्व उनके जिन तीन प्रबन्धों की घोषणा की थी, वे यही हैं।

दण्डी की शैली का आदर्श

यद्यपि 'दशकुमारचरित' में कहीं भी 'बृहत्कथा' का नाम देखने को नहीं मिलता है; फिर भी दण्डी की इस कथाकृति का आदर्श गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' रही है; क्योंकि 'बृहत्कथा' के जो संस्करण या रूपान्तर आज उपलब्ध हैं उनकी कथाओं को कहने का ढंग और उनमें योजित उपकथाओं का घटना-चक्र 'दशकुमारचरित' जैसा ही है। इसके अतिरिक्त 'दशकुमारचरित' के प्रथम उच्छ्वास में सुरतमंजरी द्वारा कही गई यह उक्ति कि 'वेगवत का पौत्र और मानसवेग का पुत्र वीरशेखर विद्याधरों के सम्राट् सन्तान का वैरी था' यह सिद्ध करती है कि दण्डी को 'बृहत्कथा' की जानकारी थी। इसके अतिरिक्त गुणाढ्य और दण्डी के पात्रों तथा साहित्यिक, शृङ्गारिक वर्णनों में बड़ा साम्य है। इससे यह सिद्ध है कि दण्डी ने अपनी कथाओं के लिए गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' को आदर्श माना था।

दण्डी की वर्णनशैली सीधी-सादी, आडम्बररहित और सरल है। दण्डी की ये कथाएँ प्राचीन शृङ्गारिक वर्णनों पर आधारित हैं। अतः निश्चय ही उनमें उपदेश की प्रवृत्ति का अभाव है। दण्डी से पूर्व 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' आदि ऐसी कथा-कृतियाँ वर्तमान थीं, जिनको बड़ा सम्मान और लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी। इन कृतियों की कथाओं में जिस शैली का प्रयोग हुआ है, दण्डी उससे अपरिचित नहीं था। दण्डी को यह भली भाँति विदित था कि कथाओं की लोक-प्रियता के लिए उनमें सीधी-सादी भाषा का

प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है। दण्डी ने इसका पालन भी किया; किन्तु उनके इस उद्योग का लक्ष्य 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' की कथायें न होकर गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' थी। दण्डी की वर्णनशैली पर गुणाढ्य की शैली का अतिशय प्रभाव रहा है।

दण्डी की शैली समासरहित है और उसमें प्रसाद गुण की प्रधानता है। उसमें अलंकारों की योजना कर चित्रात्मकता या कलात्मकता लाने का यत्न नहीं किया गया है। इन कथाओं के लिये जो विषय चुना गया है वह भी जन-सामान्य की परिधि का है। राजकुमार, राजकुमारी, वेश्या, चोर, जादूगर, साधू, जुआरी, पाखण्डी, प्रेमी, ठग आदि सभी ऐसे ही पात्र हैं जो समाज में सर्वत्र व्याप्त हैं।

सौन्दर्य-वर्णन

'दशकुमारचरित' की सभी कहानियों का केन्द्र प्रेम है। इसलिए प्रत्येक कहानी में सौन्दर्य-वर्णन देखने को मिलता है। दण्डी का यह सौन्दर्य-वर्णन बड़ा ही उत्तेजक है। उसमें शालीनता, साहित्यिक सरसता और कलात्मकता की कमी है। दण्डी के इस सौन्दर्य-चित्रण में एक बड़ा दोष पुनरावृत्ति के कारण आया है। जिन स्थलों पर उन्होंने बड़ी सुरुचि से अपनी सौन्दर्य-भावना को चित्रित किया है वे वर्णन निश्चित ही बड़े हृदयग्राही हैं; किन्तु सर्वत्र ही उन्होंने कामदेव तथा कामदेव के अस्त्र-शस्त्रों का रूपक बाँधकर उन वर्णनों को भी शिथिल कर दिया है।

दण्डी की सौन्दर्यानुभूति का उत्कृष्ट चित्रण रानी वसुमती और राजकुमारी अवन्तिसुंदरी के रूप-वर्णन में देखने को मिलता है। मगधदेश के पाटलिपुत्र (पुष्पपुरी) नामक राजनगरी के राजा राजहंस की पत्नी महारानी वसुमती का चित्रण करते हुए दण्डी ने लिखा है: 'रानी वसुमती परम सुंदरी थी। उसके एक-एक अवयव से निराला रूप बरसता था और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग को देखकर नई-से-नई कल्पना मन में उठने लगती थी। ऐसा जान पड़ता था कि जिस समय शिव जी ने अपने क्रोधभरे तीसरे नेत्र से कामदेव को भस्म किया उस समय उसकी तो चेतना जाती रही और वह अचेत भी हो गया; किन्तु उसके संगी-साथी अस्त्र-शस्त्र, ध्वजा एवं युद्ध के अन्य उपकरण आदि

नष्ट नहीं हुए। वे महादेव के डर के मारे भाग गये। उस समय, रानी वसुमती ही एक ऐसी स्त्री थी, जो असाधारण रूप-लावण्य से संपन्न और अनिंद्य सुंदरी थी; इसलिए वे इसी के शरीर में समा गये।' रोषरूक्षेण निटिलाक्षेण भस्मीकृतचेतने मकरकेतने तदा भयेनानवद्या वनितेति मत्वा तस्य रोलम्बावली केशजालम्, प्रेमाकरो रजनीकरो विजितारविन्दं वदनम्, जयध्वजायमानो मीनो जयायुतोऽक्षियुगलम्, सकलसैनिकांगवीरो मलयसमीरो निश्वासः, पथिकहृद्दलनकरवालः प्रवालश्चाधरबिम्बम्, जयशंखो बन्धुरा लावण्यधरा कंधरा, पूर्णकुम्भौ चक्रवाकानुकारौ पयोधरौ, ज्यायमाने मार्दवासमाने बिलसते च बाहू, ईषदुत्फुल्ललीलावतंसकह्लारकोरको गङ्गावर्तसनाभिर्नाभिः, दूरीकृतयोगिमनोरथो जैत्ररथोऽतिघनं जघनम्, जयस्तम्भभूते सौन्दर्यभूते विघ्नितयतिजनारम्भे रम्भे चोरुयुगलम्, आतपत्रसहस्रपत्रं पादद्वयम्, अस्त्रभूतानि प्रसूनानि तानीतराण्यंगानि च समभूवन्निव।

इस प्रकार कामदेव के धनुष की कमान बनी हुई भौंरों की पंक्ति आकर उस रानी की सुंदर केशराशि बन गई। उसके कमलविजयी मुख में प्रेम का आधार चन्द्रमा आकर समा गया। उसकी आँखें मछली के आकार की थीं। मलयपवन उसकी साँसों में समा गया। पेड़ों की नई कोंपलें उसके बिंबाफल जैसे ओठों में जा बसीं। उसकी ग्रीवा को शंख ने अपना रूप-आकार दिया। उसके चकवा-चकवी जैसे स्तनों में कामदेव के दोनों कलश जा बैठे। कमलनालें ही उसकी बाहें बन गईं। गंगा की भँवरों जैसी घिरी हुई उसकी नाभि में अधखिली कमल की कोंपलें विराजमान हो गईं। कामदेव का दिग्विजयी रथ उसके कटिप्रदेश में जाकर छिप गया। मनोरम कदली वृक्ष की जोड़ी ने उसकी जंघाओं का आश्रय लिया। कमल ने जाकर उसके पैरों की शरण ली। इस प्रकार कामदेव के सभी पुष्पबाण उसके विभिन्न अङ्गों में जाकर बस गये।

दण्डी के इस सौन्दर्य-वर्णन पर बाण की 'कादम्बरी' में वर्णित कादम्बरी के सौन्दर्य-वर्णन का प्रभाव है। इसी प्रकार मगध की महारानी विलासवती तथा मालवराज मानसार की पुत्री राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी के सौन्दर्य का दण्डी ने बड़ा आकर्षक चित्र खींचा है। दण्डी ने लिखा है 'अपनी रतिसुंदरी से खेलने के लिए जब कामदेव ने अवन्तिसुन्दरी के रूप में एक परम

रूपवती पुतली का निर्माण किया तो उसके एक-एक अङ्ग में विशिष्ट तत्त्वों को भर दिया।'

या वसन्तसहायेन समुत्सुकतया रतेः केलीशालभंजिकाविधित्सया कञ्चन नारीविशेषं विरच्यमानः······।

इस प्रकार कामदेव ने शरद् ऋतु के फूलों का सौन्दर्य लेकर उसके पैरों की रचना की। हंसिनी की निराली नजाकत को उसकी चाल में भरा। अपने तरकस की सुंदर बनावट पर उसकी टाँगें बनाई। केले के स्तम्भ की मनोहारिता को लेकर उसकी जंघाओं का निर्माण किया। अपने रथ के विश्वजित् सौन्दर्य को कामदेव ने उसके कटिभाग में रखा। गंगाजी की भंवर जैसी घेरेदार उसकी नाभि की रचना कमल के भाव पर की। अपनी सीढ़ियों की सुंदर ढलान को लेकर उसके पेट पर पड़ने वाली तीन वलियों की रचना की। अपनी धनुषडोरी का साँवलापन लेकर उसकी देह के रोयें बनाये। दो स्वर्णकलशों की शोभा लेकर उसके दोनों स्तन रचे। उसकी बाँहों के लिए लताओं का सौन्दर्य लिया। शङ्ख की भाँति उसकी ग्रीवा बनाई। अपने कानों पर लटकने वाले भ्रमरों से लालिमा लेकर उसके अधर रचे, कन्दूरी या बिम्बाफल जिसकी परछाई मात्र लग रहे थे। फूलों की शोभा से उसकी मुसकुराहट बनाई। उसकी साँसों में मलयपवन भरा। उसकी आँखों में मछलियों की चंचलता का समावेश किया। धनुष की कमान से उसकी दोनों भवें रच डालीं। चन्द्रमा का निष्कलंक अंश लेकर उसके मुख का निर्माण किया और अन्त में उसके मयूरपङ्खी बालों की रचना की।

इस प्रकार यद्यपि दण्डी के उक्त वर्णनों में पुनरुक्ति है; फिर भी उनमें काव्यसौष्ठव ओतप्रोत है। काव्यसौष्ठव के अतिरिक्त उसमें संयम, शालीनता और माधुर्य है।

दण्डी ने उत्कट एवं उत्तेजक सौन्दर्य का ही बहुधा चित्रण किया है। इस प्रकार के प्रसंगों में 'उपहारवर्मा की आपबीती' ।में उपहारवर्मा और कल्पसुन्दरी की कामक्रीडा; 'प्रभात की आपबीती' में स्वप्नावस्था का चित्रण; श्रावस्ती के राजा धर्मवर्धन की पुत्री सुलक्षणा का वर्णन; 'मित्रगुप्त की आपबीती' में कांची के श्रेष्ठिपुत्र शक्तिकुमार द्वारा शिविजाति की एक लड़की

के अंग-प्रत्यंग का वर्णन; 'मित्रगुप्त की आपबीती' में ब्रह्मराक्षस द्वारा वर्णित धूमिनी, गोमिनी, और नितम्बवती स्त्रियों के लक्षण पढ़ने योग्य हैं।

ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में ख्याति प्राप्त करने के लिए कहानियाँ श्रेष्ठ माध्यम थीं। इसकी जानकारी हमें राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी के इस कथन से होता है, जिसमें वह कहती है :

'प्रियतम, आपने सचमुच ही बड़ी सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ कही हैं। इन्हें सुनकर मैं धन्य हो गई। अपने इन कानों से मैंने आजतक ऐसी निराली और शिक्षाप्रद बातें नहीं सुनी थीं। आज ये कान तृप्त हो गये। इन ज्ञानवर्धक कथाओं से मेरे मन का अज्ञान बहुत-कुछ दूर हो गया। ऐसा जान पड़ता है, जैसे किसी ने इस अंधकारमय हृदय को एक दीपक के द्वारा प्रकाशित कर दिया हो।.........आप मुझे इतने प्रेम से ऐसी मनोरंजक और शिक्षाप्रद बातें बताया करते हैं, यह मेरे ऊपर आपका कितना भारी उपकार है !'

बाण की भाँति दण्डी का भी शास्त्रीय ज्ञान बढ़ा-चढ़ा था। लौकिक अनुभवों के कारण उनकी बहुमुखी प्रतिभा मँज चुकी थी। उनमें आचार्यबुद्धि और कविहृदय, दोनों का मनोरम योग था। कल्पनाप्रसूत होते हुए भी उनके वर्णनों में स्वाभाविकता है। मगध के प्रतापी राजा राजहंस के यश को उन्होंने कितने सरल, किन्तु हृदयग्राही ढंग से उतारा है। 'यश' का ऐसा सुन्दर चित्र किसी ही कवि ने खींचा होगा : 'कहा जाता है कि यश या कीर्ति का रंग श्वेत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शरद्‌काल का चन्द्रमा, कुन्द के फूल, कपूर, हिम, हार, कमलनाल, हंस, ऐरावत हाथी, जल, दूध, महादेव का अट्टहास, कैलाशपर्वत और काँसे के फूलों के रूप में—राजा राजहंस का सफेद यश ही सर्वत्र फैला हुआ था।'

प्रकृति के विभिन्न रूपों को आँकने और उनकी रसभावपेशल सरस छटा दिखाने में भी दण्डी का कौशल दर्शनीय है। दिनान्त के बाद संध्या एक विषादमय भावना का प्रतीक मानी गई है। संध्या की इस विषादमय स्थिति को, प्रसंग के अनुसार उस समय दिखाया गया है, जब काममंजरी के सारे छलछन्दों का पता ऋषि मरीचि को लग जाता है। कठिन तपश्चर्या करके उन्होंने जिस दिव्य तेज और सत्कर्मों का अर्जन किया था, वेश्या के प्रपंचों

में आकर वे सभी नष्ट हो गये थे और उसके कारण ऋषि को अपार पश्चात्ताप हुआ। इस प्रसंग पर दण्डी कहते हैं 'साँझ हो चुकी थी और उसका राग अर्थात् लाली पश्चिम के आसमान पर झलकने लगी थी। यह राग भी मुझे मालूम हुआ कि मरीचि के हृदय का त्यागा हुआ 'राग' ही है। तपोवन के तालाब में खिले हुए कमल मुँद चुके थे। इन्हें शायद ऋषि की वेदनापूर्ण आपबीती सुनकर वैराग्य हो गया था, इसीलिए मुरझा गये थे।'

पूर्वपीठिका के पाँचवें उच्छ्वास में अवन्तिसुंदरी के आनन्द-विहार करते हुए रमणीय शाही उद्यान में आयोजित वसन्तोत्सव के दृश्य में प्रकृति की कैसी छटा दर्शित है। उस शाही बाग का वर्णन करते हुए दण्डी ने लिखा है 'वहाँ जगह-जगह रंग-विरंगे फूल दूर-दूर तक फैले हुए थे। आम के पेड़ बौरों से लद गये थे। दक्षिण की धीमी-धीमी बयार के झोंके आते और इन पेड़ों की शाखायें एकदम डोलने लगतीं। इनके डोलने से कहीं पर कोंपलें चटकतीं, कहीं ताजा बौर उगता दिखाई देता, और कहीं नन्हीं-नन्हीं अमियाँ फलती हुई मालूम पड़तीं। चारों ओर पेड़-पौधे खूब हरे-भरे और प्रफुल्ल खड़े थे। आम के पेड़ों पर कोयलों की कूक सुनाई पड़ती थी। कहीं हरे-हरे तोतों के झुंड चहकते और कहीं भौंरों की गुञ्जार सुनाई देती।··· जगह-जगह स्वच्छ, शीतल पानी के भरपूर जलाशय थे। इनमें कहीं नीले कमल की कलियाँ तनिक चटकी हुई खड़ी थीं। कहीं लाल-पीले कमल खिल रहे थे। किसी-किसी तालाब में सफेद कमलों की कतारों की कतारें मुँह खोले खड़ी थीं। तालाबों के इन फूलों के बीच-बीच में स्थान-स्थान पर सफेद हंस, सारस और मुर्गाबियाँ किलोलें कर रही थीं। कहीं कारण्डव पक्षी चहकते सुनाई पड़ते थे। किसी-किसी जगह चकवा-चकवी खेल में दीवाने हो रहे थे।'

अथ मीनकेतनसेनानायकेन मलयगिरिमहीरुहनिरन्तरावासिभुजंगमभुक्तावशिष्टेनेव सूक्ष्मतरेण धृतहरिचन्दनपरिमलभरेणेव मन्दगतिना दक्षिणानिलेन वियोगिहृदयस्थं मन्मथानलमुज्ज्वलयन्, सहकारकिसलयमकरन्दास्वादनरक्तकण्ठानां मधुकरकलकण्ठानां काकलीकलकलेन दिक्चक्रं वाचालयन्, मानिनी-

मानसोत्कलिकामुपनयन्, माकन्दसिन्दुवाररक्ताशोककिंशुकतिलकेषु कलिकामुपपादयन्, मदनमहोत्सवाय रसिकमनांसि समुल्लासयन्, वसन्तसमयः समाजगाम।...तत्रतत्र मलयमारुतान्दोलितशाखानिरन्तरसमुद्भिन्नकिसलयकुसुमफलसमुल्लसितेषु रसालतरुषु कोकिलकीरालिकुलमधुकराणामालापान् श्रावंश्रावं किञ्चिद्विकसदिन्दीवरकह्लारकैरवराजीवराजीकेलिलोलकलहंससारसकारण्डवचक्रवालकलरवव्याकुलविमलशीतलसलिलललितानि सरांसि...... ।

दण्डी के वर्णनों में वैविध्य है। पाठक का मन रमाने के लिए उनमें आकर्षण है। इसके अतिरिक्त दण्डी की एक विशेषता उनके भाषा-प्रयोग में दिखाई देती है। दण्डी का भाषा-प्रयोग बड़ा ही आकर्षक है। विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग करने में उनकी सूक्ष्म दृष्टि सराहनीय है। उनके शृङ्गारमय वर्णनों की भाषा जितनी कोमल है, उनके वीररस-वर्णनों में भाषा उतनी ही ओजमयी है। पूर्वपीठिका के प्रथम उच्छ्वास में मगधराज राजहंस और मालवराज मानसार की सेनाओं का यह तुमुल युद्ध कितना ओजस्वी है :

'दोनों ओर से लड़ाई छिड़ गई। पैदलों से पैदल भिड़ गये और हाथियों से हाथियों की टक्करें होने लगीं। असंख्य रथों के पहिये और घोड़ों के सुमों से धरती दूर-दूर तक खुद गई। उमड़ते हुए मिट्टी के गुब्बार से आसमान छा गया। अन्तरिक्ष में धूल ही धूल दिखाई देने लगी। किन्तु नीचे, हाथियों के झुंड-के-झुंड मैदान में जूझ रहे थे, जिनके माथों से मद की धारायें चू रही थीं, इसलिए उनसे धुल-धुलकर आकाश के नीचे का भाग साफ तथा निर्मल हो गया था। इस कारण बीच अधर में गर्द का अम्बार सा लटक गया था; और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि युद्ध के मैदान में धराशायी होने वाले वीरों को नये पतियों के रूप में वरण करने के लिए आई हुई देव कन्याओं के लिए चिकदार तम्बू तान दिया गया हो।...तुरही, नगाड़े, नरसिंहा आदि जुझारू बाजों ने दूसरी सब आवाजों को दबा दिया था। इन सबका मिलकर इतना भारी कोलाहल और घोरगंभीर नाद होने लगा था कि सब दिग्-दिगन्तर तक बहरे पड़ गये थे।'

···न्यक्कृतजलधिनिर्घोषाहंकारेण भेरीझांकारेण हठिकाकर्णनाक्रान्तभय-चण्डिमानं दिग्दन्तावलवलयं विघूर्णयन्निजभरनमन्मेदिनीभरेणायस्तभुजगराज-मस्तकबलेन चतुरङ्गबलेन संयुतः संग्रामाभिलाषेण रोषेण महताविष्टो निर्ययौ ।

तयोरथ रथतुरगखुरक्षुण्णक्षोणीसमुद्भूते करिघटाकटस्रवन्मदधाराधौतमूले नव्यवल्लभवरणागतदिव्यकन्याजनजवनिकापटमण्डप इव वियत्तलव्याकुले धूली-पटले दिविषद्ध्वनि धिक्कृतान्यध्वनिपटहध्वानबधिरिताशेषदिगन्तरालं शस्त्राशस्त्रि हस्ताहस्ति परस्पराभिहतसैन्यं जन्यमजनि ।

दण्डी के इस शब्दविन्यास में नाद-सौन्दर्य है और संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति भी उसको पढ़ कर, उसके नाद-विन्यास से ही युद्ध के नगाड़ों तथा तुमुल संग्राम के दिल दहलाने वाले दृश्य का स्वतः ही अनुभव करने लगता है ।

(३) बाणभट्ट

जीवनी

संस्कृत के अनेक ग्रंथकारों की भांति बाण की जीवनी से परिचित होने के लिए हमें अधिक नहीं भटकना पड़ता है । संपूर्ण संस्कृत-साहित्य में बाण ही एकमात्र ऐसी अनोखी सूझ के व्यक्ति हुए, जिन्होंने अपने बारे में विस्तार से लिखा । उनकी यह दूरदर्शिता उनके इतिहासज्ञ होने की सूचक है ।

'हर्षचरित' और 'कादम्बरी', दोनों ग्रन्थों में उन्होंने अपना परिचय दिया है । 'कादम्बरी' के आरंभिक कुछ श्लोकों में ही उन्होंने अपने वंशजों का नाममात्र गिनाकर इसलिए छोड़ दिया, क्योंकि उससे पहले 'हर्षचरित' में वे विस्तार से वही बता चुके थे ।

'हर्षचरित' के आरंभिक तीन उच्छ्वासों में बाण की आत्मकथा वर्णित है । इन तीनों उच्छ्वासों के अक्षरशः पढ़ जाने पर ही हमें उनके बारे में वास्तविक एवं बारीक जानकारी प्राप्त हो सकती है । आगे के पाँच उच्छ्वासों में सम्राट् हर्ष और उसके वंशजों का वृत्त दिया गया है । 'हर्षचरित' की

रचना, बाण ने हर्ष की जीवनी लिखने के उद्देश्य से नहीं की थी, अपितु हर्ष के सम्पर्क में रह कर उसके सम्बन्ध में बाण ने जो अनुभव प्राप्त किये थे उन्हीं को उसने अपने बन्धु-बान्धवों को सुनाया था। इस दृष्टि से 'हर्षचरित' हर्ष का जीवन-ग्रंथ न होकर बाण की आत्मकथा है। उसका नाम 'हर्षचरित' की अपेक्षा 'बाणचरित' होना चाहिए था; किन्तु, यतः उसका अधिक भाग हर्ष के वर्णनों से सम्बद्ध है, इसलिए उसे जो 'हर्षचरित' नाम दिया गया है वह सर्वथा असंगत भी नहीं है।

इन तीन उच्छ्वासों में बाण ने अपने सम्बन्ध में जो-कुछ कहा है उसके अनुसार हमें ज्ञात होता है कि बाण का जन्म प्रीतिकूट नामक ग्राम में हुआ था। यह गाँव च्यवनाश्रम के अन्तर्गत था, जिसको दधीच तथा सरस्वती के पुत्र सारस्वत ने अपने चचेरे भाई वत्स के निमित्त बसाया था। इस बस्ती को बाण ने 'ब्राह्मणाधिवास' भी कहा है, क्योंकि वहाँ ब्राह्मणों की प्रधानता थी।

यह च्यवनाश्रम शोण नदी के दाहिनी ओर कछार (उपकंठ भूमि) में बसा था, जिसको कि दधीच ने अपने निवास के लिए चुना। उसके बाईं ओर सरस्वती ने अपने रहने के लिए एक आश्रम की स्थापना की थी। यह स्थान अमरकंटक (विंध्याचल) के पश्चिमी ढलान पर था। शोण नदी से च्यवनाश्रम एक गव्यूति (दो कोस) की दूरी पर था, इसका निर्देश बाण ने स्वयं किया है : 'इतश्च गव्यूतिमात्रमिव पारेशोणं तस्य भगवतश्च्यवनस्य स्वनाम्ना निर्मितव्यपदेशं च्यवनं नाम काननम्।' जहाँ यह च्यवनाश्रम था उसको आज देवकुट (देवकुण्ड) के नाम से कहा जाता है, जहाँ जंगल-ही-जंगल है और जो गया जिले के अन्तर्गत है। खोज करने पर यह भी पता लगा है कि शोण नदी के तट पर शोणभद्र नामक एक गाँव था, जहाँ के निवासी सोनभद्रिया अपने को वच्छगोतिया (वत्सगोत्रीयाः) कहते थे। ये लोग आज भी वहाँ वर्तमान हैं। बाण के संबंध में जैसा कि आगे बताया जायगा, वह भी वत्सगोत्रीय थे। अतः इस दृष्टि से यह विदित होता है कि शोणभद्र नामक गाँव से बाण का कुछ-न-कुछ संबंध अवश्य था।

कथा का दूसरा मोड़ बाण के वंश-परिचय से आरंभ होता है। ऋषि दुर्वासा से अभिशप्त सरस्वती ने मर्त्यलोक में आकर शोण नदी के पश्चिम तट पर अपना आश्रम बसाया था, जो च्यवनाश्रम के समीप बाईं दिशा में था। इसी स्थान पर दधीच ने सरस्वती से सारस्वत नामक एक पुत्र को जन्म दिया था। दधीच ब्राह्मणवंश के थे। उनके छोटे भाई की पत्नी का नाम अक्षमाला था, जो भृगुवंश की थी। इस अक्षमाला का भी एक पुत्र था, जिसका नाम था वत्स। पुत्रोत्पत्ति के बाद सरस्वती जब शापमुक्त हुई तो वह पुनः स्वर्गलोक को चली गई। अतः बालक सारस्वत की परिचर्या के लिए दधीच ने अक्षमाला को नियुक्त कर दिया। इस प्रकार सारस्वत और वत्स, दोनों भाइयों की शिक्षा-दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई। बाद में सारस्वत ने अपने भाई वत्स के प्रेम (प्रीति) में उस बस्ती को प्रीतिकूट नाम से प्रचारित किया और स्वयं तप करता हुआ परम धाम को प्राप्त हुआ।

वत्स का पुत्र वात्स्यायन हुआ, जो कि गृहस्थ होते हुए भी मुनिवृत्ति का था और इसलिए बाण ने जिसको 'गृहमुनि' के उपनाम से कहा है। वात्स्यायन का पुत्र कुबेर हुआ। वह श्रुतिशास्त्रसंपन्न विद्वान् था। 'कादम्बरी' में कहा गया है कि उसके घर पर ब्रह्मचारी लोग सतर्क होकर वेद-गान किया करते थे, क्योंकि उन्हें यह भय लगा रहता था कि पिंजड़ों में टँगी शुक-सारिकायें कहीं उन्हें टोक न दें :

> 'जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।
> निगृह्यमाणाः वटवः पदे-पदे यजूंषि सामानि च यत्र शंकिताः॥'

कुबेर ने चार पुत्रों को जन्म दिया, जिनके नाम थे अच्युत, ईशान, हर और पाशुपत। पाशुपत का पुत्र हुआ अर्थपति और उसके हुए ग्यारह पुत्र भृगु, हंस, शुचि, कवि, महिदत्त, धर्म, जातवेदस्, चित्रभानु, त्र्यक्ष, अहिदत्त और विश्वरूप। इनमें से आठवें पुत्र चित्रभानु की पत्नी का नाम था राजदेवी! यही बाण के माता-पिता थे।
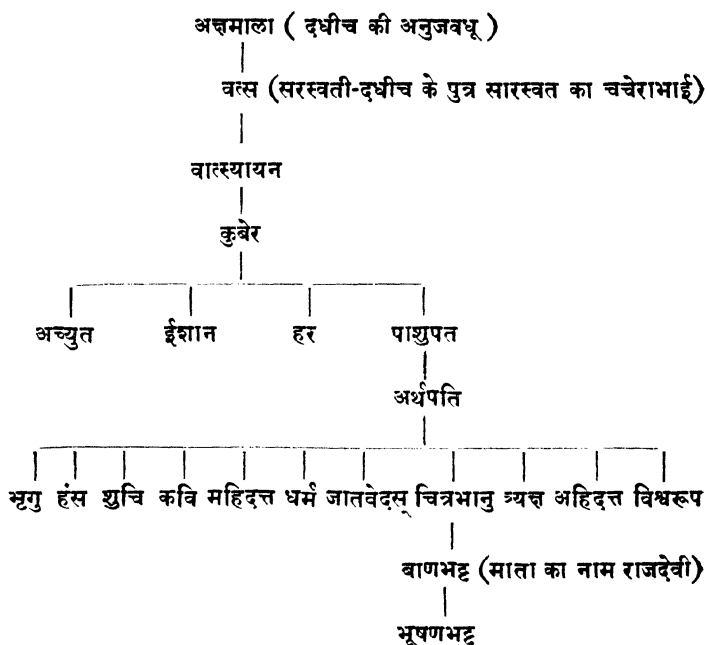
'हर्षचरित' में जहाँ कुबेर, पाशुपत, अर्थपति, चित्रभानु, बाण, इस प्रकार की वंशपरम्परा दी गई है, वहाँ 'कादम्बरी' में कुबेर-अर्थपति-चित्रभानु-बाण, इस प्रकार की सूची दी गई है। इस सूची में बाण के प्रपितामह का नाम छूट गया है।

स्थितिकाल

हर्ष का राजकवि होने के कारण बाण का स्थितिकाल स्पष्ट है। सभी इतिहासकारों ने एकमत से स्वीकार किया है कि अक्टूबर ६०६ ई० में हर्ष राजगद्दी पर बैठा और ६४८ ई० में उसका निधन हुआ। हर्ष की ये तिथियाँ

उपलब्ध दानपत्रों तथा ताम्रपत्रों से भी प्रमाणित हैं। इसलिए निश्चित है कि बाण सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ।

बाण के इस स्थितिकाल की पुष्टि बहिरंग प्रमाणों से भी होती है। आचार्य रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' (११५० ई०) में बाण के 'हर्षचरित' का उल्लेख हुआ है। क्षेमेन्द्र (१०५० ई०) ने भी अनेक स्थलों पर बाण का स्मरण किया है। रुद्रट के 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु (१०६९ ई०) ने 'कादम्बरी' को तो कथा और 'हर्षचरित' को आख्यायिका नाम दिया है। भोज (१०२५ ई०) के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में बाण के गद्य को उनके पद्य की अपेक्षा अधिक सराहते हुए कहा गया है: 'यादृग्गद्य-विधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः।' धनञ्जय (१००० ई०) के 'दशरूपक' में कादम्बरीकार बाण को 'यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य' कहकर स्मरण किया गया है। आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने 'ध्वन्यालोक' में बाण की दोनों गद्यकृतियों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त वामनाचार्य (८०० ई०) ने 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' 'कादम्बरी' के इस वाक्य को उद्धृत किया है।

१२वीं से लेकर ८वीं शताब्दी तक के अनेक ग्रन्थकारों द्वारा बाण तथा उनकी कृतियों का उल्लेख होने से यह सिद्ध है कि वे सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए।

कृतियाँ

बाण के नाम से तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं: 'चण्डीशतक', 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी'। 'नलचम्पू' के टीकाकार चण्डपाल ने बाण के नाम से एक 'मुकुटताडितक' नामक नाटक का भी उल्लेख किया है; किन्तु वह संप्रति उपलब्ध नहीं है। अतः उसके संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता है। कुछ दिन पूर्व भ्रमवश बाण के नाम से 'पार्वतीपरिणय' नामक नाटक का भी उल्लेख किया जाता था; किन्तु अब यह स्पष्टीकरण हो चुका है कि वह बाणभट्ट की रचना न होकर वामन भट्ट बाण की रचना है।

'हर्षचरित' का उत्तरार्द्ध भाग अपेक्षाकृत कुछ शिथिल है। इस संबंध में कहा जाता है कि उसका पूर्वार्द्ध लिखकर बाण ने जब हर्ष को सुनाया तो उसको वह पसन्द नहीं आया, क्योंकि उसमें हर्ष के जिस राजसी जीवन का वर्णन था वह बड़ा काव्यमय था; और उसमें वास्तविकता का अभाव था। इसलिये बाण ने उसका उत्तरार्द्ध निरुत्साहित होकर लिखा। 'हर्षचरित' के संबंध में यह कथन कहाँ तक सही है, कहा नहीं जा सकता; किन्तु इतना निश्चित है कि उसको बाण ने अधूरा ही छोड़ दिया था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि हर्ष की मृत्यु के बाद अपने इस ग्रन्थ के प्रति बाण उदासीन हो गये थे।

'कादम्बरी' के संबंध में तो यह निश्चित है कि उसका उत्तरार्द्ध बाण के पुत्र भूषणभट्ट ने लिखा था, क्योंकि पूर्वार्द्ध लिखने के बाद ही बाण का स्वर्गवास हो गया था।

ऐसा कहा जाता है कि 'कादम्बरी' की कथावस्तु गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से ली गई है। पैशाचीभाषा में लिखी 'बृहत्कथा' कालकवलित हो चुकी है; किन्तु क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेव का 'कथासरित्सागर' उस के संस्करण हैं। 'बृहत्कथा' के इन संस्करणों में मकरन्दिका की कथा 'कादम्बरी' की कथा से मिलती-जुलती है। इसलिये विद्वानों का ऐसा मन्तव्य है कि बाणकृत 'कादम्बरी' की कथा मकरन्दिका की कथा से प्रभावित है।

ऐसा होना असंभव भी नहीं है। किन्तु जिस प्रकार कालिदास ने अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के लिए शकुन्तलोपाख्यान को लिया अथवा जैसे भवभूति ने 'उत्तररामचरित' के लिए 'रामायण' से मूल भावना ग्रहण की वैसे ही बाण ने 'कादम्बरी' के लिए मकरन्दिका की कथा को ग्रहण किया। इससे अधिक उसका कोई महत्व नहीं है।

टीकाएँ

श्री कृष्णमाचार्य के संस्कृत साहित्य के इतिहास में 'कादम्बरी' पर लिखी हुई १२ टीकाओं का उल्लेख हुआ है। इन टीकाकारों के नाम हैं:

भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र, तिलकसूरि, हरिदास, शिवराम, वैद्यनाथ, बालकृष्ण, सुरचन्द्र, महादेव, सुखाकर, अर्जुन और घनश्याम।

'हर्षचरित' पर शंकरकृत 'संकेत' टीका उपलब्ध है। संभवतः ये काश्मीर के थे। इनके पिता का नाम पुण्याकर था। अपनी टीका की पुष्पिका में उन्होंने लिखा है कि अपनी यह टीका उन्होंने प्राचीन टीकाकारों के अनुसार सम्प्रदायानुरोध पर लिखी थी। इसके अतिरिक्त डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' में 'हर्षचरित' पर रंगनाथकृत 'मर्मावबोधिनी' नामक टीका का उल्लेख हुआ है। ये टीकाकार कृष्णसूरि के पुत्र और नारायण के शिष्य थे। इस टीका की एक हस्तलिखित पूर्ण प्रति गवर्नमेंट मैनुस्क्रिप्ट ओरिएण्टल लाइब्रेरी (सं० आर० २७०३) और दूसरी खंडित प्रति आडियार मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी (सं० ८।१।१९, सूचीपत्र भाग ५, पृ० ७७०) मद्रास में सुरक्षित है।

हर्षचरित की विशेषता

बाण का 'हर्षचरित' इतिहास-ग्रन्थ है। उसमें तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक और बौद्धिक जीवन का अविकल चित्र देखने को मिलता है। आज के सांस्कृतिक जीवन को दृष्टि में रखकर उसका अध्ययन नहीं किया जा सकता।

उस युग में काव्य और कला के प्रति कितना अनुराग था, इसका परिचय हमें 'हर्षचरित' के प्रथम उच्छ्वास में वर्णित पदगोष्ठी, काव्यगोष्ठी, जल्पगोष्ठी, गीतगोष्ठी, नृत्यगोष्ठी, वाद्यगोष्ठी और वीणागोष्ठी से मिलता है। इन गोष्ठियों में नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र आदि कला, काव्य, आख्यान, आख्यायिका, इतिहास, पुराण आदि साहित्यिक प्रवृत्तियों पर जमकर विचार-विमर्श होता था।

उस युग में द्विजातियों के परिवार अत्यन्त सुसंस्कृत होते थे। उनमें धृति, क्षमा, शान्ति, कर्तव्यनिष्ठा, कलाविज्ञता, शास्त्ररुचि और काव्यप्रेम आदि अनेक गुण एक साथ देखने को मिलते थे। उस युग की संस्कृति और आचारों का वर्णन बाण ने 'हर्षचरित' के प्रथम उच्छ्वास में अपने बन्धु-बान्धवों के प्रसंग में किया है। बाण ने लिखा है 'श्रौत आचारों का उन्होंने

आश्रय लिया था।······झूठ तथा दम्भ को वे पास नहीं आने देते थे। कपट, कुटिलता और शेखी बघारने की आदत उनमें नहीं थी। पापों से वे बचते थे। शठता को दूर करके अपने स्वभाव को वे निर्मल बनाये रखते थे। हीनता उनमें रंचमात्र भी नहीं थी। दूसरे की निन्दा से अपने चित्त को वे विमुख रखते थे।······उनकी धीर बुद्धि में याचकता का नाम भी नहीं था। स्वभाव से स्थिर, प्राणिजनों पर सदय, कवि, वाग्मी, सरस भाषा में प्रीति रखने वाले, विदग्धों के अनुरूप, हास-परिहास में चतुर, मिलने-जुलने में कुशल, नृत्य-गीत-वादित्र के प्रेमी, इतिहास में अतृप्त रुचि रखने वाले, दयावान्, सत्यवादी, साधुओं के इष्ट, सब सत्त्वों के प्रति सौहार्द, करुणा से द्रवित, रजोगुण से अस्पृष्ट, क्षमावन्त, कलाओं में निपुण और अन्य सब गुणों से अलंकृत······ द्विजातियों के वे कुल असाधारण थे :

आश्रितश्रौता अप्यनालम्बितालीकबककाकवः, परिहृतकपटकौरुकुचीकूर्चाकूताः, अगृहीतगह्वराः, न्यक्कृतनिकृतयः, प्रसन्नप्रकृतयः, विहतविकृतयः, परपरीवादपराचीनचेतोवृत्तयः,······धीरधिषणाः, विधूताध्येषणाः, असंकसुकस्वभावाः, प्रणतप्रणयिनः, शमितसमस्तशाखान्तरसंशीतयः, उद्घाटितसमग्रग्रन्थार्थग्रन्थयः, कवयः, वाग्मिनः, विमत्सराः, परसुभाषितव्यसनिनः, विदग्धपरिहासवेदिनः, परिचयपेशलाः, नृत्यगीतवादित्रेष्वबाह्याः, ऐतिह्यस्यावितृष्णाः, सानुक्रोशाः, सर्वातिथयः, सर्वसाधुसंमताः, सर्वसत्त्वसाधारणसौहार्दद्रवार्द्रीकृतहृदयाः, तथा सर्वगुणोपेताः, क्षमाभाज आश्रितनन्दनाः, अनिर्स्त्रिंशा विद्याधराः, अजडाः, कलावन्तः, अदोषास्तारकाः······असाधारणा द्विजातयः)।

उस युग के कला-कौशल की झाँकी चौथे उच्छ्वास के उस प्रसंग में देखने को मिलती है जहाँ पर राज्यश्री के विवाहावसर पर तैयार किये गये वस्त्रों की विस्तार से सूची दी गई है। वे वस्त्र अनेक प्रकार के थे, जैसे क्षौम (अलसी के रेशों से निर्मित वस्त्र), बादर (सूती वस्त्र), दुकूल (बंगाल में निर्मित वस्त्र), लालातन्तुज (कौशेय वस्त्र), पट्ट-अंशुक-चीनांशुक (झीने रेशमी वस्त्रों के भेद), नेत्र (रेशमी डोरी की धोती), स्तवरक (सितारे तथा मोतियों से जड़े शामियाने) आदि। उनको अनेक रंगों में रँगा गया था और उन पर

भाँति-भाँति की छपाई की गई थी। इसके अतिरिक्त सातवें उच्छ्वास में हर्ष के सैनिक प्रयाण के अवसर पर, सेना के साथ आये अनेक देशों के राजाओं की वेश-भूषा के प्रसंग में भी तत्कालीन अनेक प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया गया है।

उस युग के धार्मिक संप्रदायों का वर्णन पाँचवें उच्छ्वास में किया गया है। बाण ने दिवाकरमित्र के आश्रम में रहने वाले उन्नीस संप्रदायों के अनुयायियों की नामावली इस प्रकार दी है १. अर्हित, २. मस्करी, ३. श्वेतपट, ४. पाण्डुरिभिक्षु, ५. भागवत, ६. वर्णी, ७. केशलुंचन, ८. कापिल, ९. जैन, १०. लोकायतिक, ११. कणाद, १२. औपनिषद, १३. ऐश्वरकारणिक, १४. कारन्धमी, १५. धर्मशास्त्री, १६. पौराणिक, १७. साप्ततन्तव, १८. शाब्द और १९. पांचरात्रिक।

ये धार्मिक संप्रदाय तत्कालीन दार्शनिक जगत् के इतिहास को भी प्रकट करते हैं। बाण ने सांख्य, वैशेषिक, न्याय और वेदान्त के समर्थक विद्वानों और बौद्ध-दार्शनिकों के बीच गम्भीर स्पर्धा का भी उल्लेख किया है।

बाण ने अपने युग के विद्याकेन्द्रों के बारे में भी लिखा है। वे विद्याकेन्द्र नालन्दा, काशी, अवन्ती, मथुरा और तक्षशिला आदि महानगरों में अधिष्ठित थे; जहाँ उस युग के प्रसिद्ध विद्वान् तत्वचिन्तन और विद्याभ्यास किया करते थे। इन गुरुकुलों में विधिवत् विद्याध्ययन कराया जाता था। सर्वप्रथम मूलग्रन्थों को पढ़ाया जाता था। उसके बाद अधीत विद्या पर चिन्तन तथा परस्पर शङ्का-समाधान के लिए प्रश्न किए जाते थे। शङ्काओं का ठीक समाधान करने पर ही उसको शास्त्र-व्युत्पन्न समझा जाता था। फिर दूसरे शास्त्रों से तुलनात्मक अध्ययन किया जाता था। उसके बाद उसको शास्त्रार्थ के लिए अनुमति दी जाती थी।

एक लम्बे अर्से तक राजाश्रय में निवास करने के कारण बाण को राज-दरबारों में घटित होने वाली छोटी-बड़ी सभी परिस्थितियों तथा रीतियों का गहरा अनुभव था। 'राजदर्शन' नामक दूसरे उच्छ्वास में हर्ष के राजभवन का वर्णन बाण की इस जानकारी का प्रमाण है। आचार्य कौटिल्य की भाँति

बाण भी राजतंत्र-कुशल था। दूसरे उच्छ्वास में वर्णित हर्ष के स्कन्धावार (छावनी) का वर्णन; पाँचवें उच्छ्वास में राजद्वार का वर्णन, धवलगृह का वर्णन; छठे उच्छ्वास में हर्ष के दिग्विजय का वर्णन, उसकी गजसेना का वर्णन; सातवें उच्छ्वास में हर्ष के सैनिक-प्रयाण तथा उसके स्कन्धावार का वर्णन, उसकी सहायतार्थ आये हुए अनेक देशों के राजाओं का वर्णन आदि ऐसे प्रसंग हैं जो बाण की प्रकाण्ड राजनीतिज्ञता एवं उसके सिद्धहस्त शासन-संचालन का परिचय देते हैं।

सातवें उच्छ्वास में वर्णित वनग्राम के निवासियों का जो चित्रण और विन्ध्याटवी के नैसर्गिक सौन्दर्य का जो खाका खींचा गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामीण वातावरण और वन-सौन्दर्य की सैकड़ों स्थितियों का बाण ने वर्षों तक, बहुत निकट रहकर, निरीक्षण किया था। इस प्रसंग में बाण ने वन्य पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों के जो नाम गिनाए हैं उनको देखकर सहज ही में उनकी अभिज्ञता तथा अनुभूति का पता लग जाता है।

कादम्बरी का कथाचक्र

महाराज शूद्रक की राजसभा में चाण्डालकन्या द्वारा ले जाये गये वैशम्पायन नामक तोते द्वारा 'कादम्बरी' की कथा का आरम्भ होता है। राजसभा में वह अपनी आत्मकथा सुनाते हुए बताता है कि किस प्रकार वह शबर के चंगुल से बचकर तापसकुमार हारीत के हाथों में आया और उसके द्वारा भगवान् जाबालि के आश्रम तक पहुँचा। उसके बाद आश्रम-वासियों के जिज्ञासा करने पर त्रिकालज्ञ भगवान् जाबालि तोते के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाते हैं। इस अवान्तर कथा में अनेक घटनाओं का वर्णन और उनका स्पष्टीकरण किया गया है। भगवान् जाबालि द्वारा आरंभ की गई इस कथा से ज्ञात होता है कि इस शुकयोनि में पैदा होने से पूर्व वह देवलोक में भगवान् श्वेतकेतु के यहाँ जन्म ले चुका है। वहाँ से परिभ्रष्ट होकर वह मर्त्यलोक में शुकनास के घर जन्मा और पुनः महाश्वेता के शाप से शुकयोनि में पड़ा हुआ प्रायश्चित्त कर रहा है। इस प्रकार कथा का यह घटनाचक्र जहाँ से उठाया गया था वहीं पर आकर जुड़ जाता है।

उसके बाद शूद्रक राजा कौन था, चाण्डाल कन्या कौन थी, चन्द्रापीड कौन था और इनके जन्म-जन्मान्तरों का रहस्य क्या था, इसका वर्णन किया गया है।

'कादम्बरी' की कथा के इस घटनाचक्र में तीत-तीन जन्मों का वृत्तान्त दिया हुआ है। इस जन्म में हम मगध के जिस शूद्रक राजा का परिचय पाते हैं, पूर्वजन्म में वह चन्द्रापीड था और उससे भी पहले जन्म में वह चन्द्रमा था। शापवश उसको चन्द्रमा से चन्द्रापीड की मनुष्ययोनि में जन्म लेना पड़ा था। इसी प्रकार इस जन्म में जिसको हम वैशम्पायन तोते के रूप में देखते हैं, पूर्वजन्म में वह उज्जयिनी के राजमन्त्री शुकनास का पुत्र और उससे भी पहले जन्म में अश्वकेतु के पुत्र पुंडरीक के रूप में पैदा हो चुका था। देवलोक से पिता के शापवश वह मर्त्यलोक में शुकनास के घर जन्मा और उस जन्म में वह महाश्वेता के शाप से परिभ्रष्ट होकर शुकयोनि में पड़ा।

'कादम्बरी' के पात्रों के इस जन्म-जन्मान्तर की रहस्यात्मकता के संबंध में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है : 'कादम्बरी के पात्र गन्धर्वलोक और मनुष्यलोक की जीवन-विभूति और मानस-सम्पत्ति एक-दूसरे की संप्रीति और कुशलक्षेम के लिए समर्पित करते हैं। उनमें द्वन्द्व के स्थान पर समवाय का नियम कार्य करता है। वे सब एक सर्वाभिभावी, सर्वोपरि नियतिचक्र के अनुशासन में बँधे हुए अपने-अपने जीवन का उद्घाटन करते हैं। उनकी मूल प्रेरणा सदा प्रेम है। यह स्वर्गीय तत्त्व मनुष्यलोक को गन्धर्वलोक के साथ मिलता है। इसकी साधना करते हुए इस लोक के पात्र देवलोक में आते-जाते हैं।······यहाँ पात्रों का चरित्र एक जीवन में नहीं, तीन-तीन जीवनपर्यन्त हमारे सामने आता है।'

लेखनशैली के सम्बन्ध में बाण के विचार

संस्कृत-साहित्य में बाण की लेखनशैली का विशेष महत्त्व है, क्योंकि बाण ने स्वयं इस संबंध में विस्तार से अपने विचार प्रकट किए हैं। काव्य के गद्य और पद्य, दोनों पक्षों के लिए कौन-कौन शैलियाँ अपेक्षित हैं, इसका मौलिक विवेचन उनके ग्रंथों में देखने को मिलता है। बाण ने अपने सामयिक

तथा पूर्ववर्ती ग्रंथकारों की आलोचना करते हुए लिखा है कि ऐसे कवि बहुत ही कम देखने को मिलते हैं, जो वास्तविक अर्थों में कविता करने वाले हों। आज तो घर-घर में ऐसे कवियों का बोल-बाला है, जो वस्तु के यथार्थ रूप के वर्णन में ही अपनी कविता की सार्थकता समझते हैं। ऐसे मनमाने ढंग से कविता करने वाले कुकवियों की ही अधिकता दिखाई देती है। कवि तो वस्तुतः वे हैं; जो नये निर्माण की नई परिस्थितियों और वस्तु के नये संविधान को रूपायित करते हैं :

'प्रायः कुकवयो लोके रागाधिष्ठितदृष्टयः।
कोकिला इव जायन्ते वाचालाः कामकारिणः॥
सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे गृहे।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव॥'

बाण के समय काव्य-रचना के लिए श्लेषप्रधान शैली को प्रमुखता दी जाने लगी थी, जैसा कि उन्होंने 'कादम्बरी' की भूमिका में 'निरन्तरश्लेषघना' कह कर संकेत भी किया है। किन्तु, बाण के मतानुसार, उस समय भी भारत के कुछ क्षेत्र ऐसे थे, जहाँ कि स्वभावोक्तिप्रधान (जातिभाजः) वर्णनों को भी ग्राह्य समझा जाता था। तत्कालीन भारत के विभिन्न अंचलों में काव्य-रचना के लिए जिन शैलियों को अपनाया जाता था और इस दिशा में जनरुचि का जैसा झुकाव था, इसका भी उल्लेख बाण ने किया है। बाण का कथन है कि 'उदीच्य में श्लेषप्रधान शैली का प्रचलन था; पश्चिम में शैली की अपेक्षा अर्थगत चमत्कार तथा कथावस्तु को अपनाया जाता था; दक्षिण में कल्पनाप्रचुर उत्प्रेक्षा को काव्य का गुण कहा जाता था; और प्राच्यपुरुष (गौड देश) में अक्षराडम्बर को श्रेष्ठ माना जाता था :'

'श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरम्॥'

बाण के पहले काव्य के लिए वस्तु के यथार्थ स्वरूप को दर्शित करने की प्रवृत्ति चली आ रही थी। काव्यरचना के लिए कवियों की यह स्वभावोक्ति-शैली तत्कालीन समाज में स्थायित्व न पा सकी। धीरे-धीरे लोगों की रुचि

स्वभावोक्ति से हट कर वक्रोक्ति की ओर उन्मुख हुई। यहाँ तक कि वक्रोक्ति-रहित कविता को पढ़ना ही लोगों ने छोड़ दिया। तत्कालीन समाज की इस परिवर्तित रुचि ने ही श्लेषप्रधान शैली को जन्म दिया; अतः समग्र कवियों का ध्यान श्लेष में ही केन्द्रित हुआ। काव्यरचना के क्षेत्र में इस परिवर्तित विचारधारा के सम्बन्ध में सुबंधु ने अपनी 'वासवदत्ता' में कहा है कि निपुण काव्य-रचना वही है, जिसके एक-एक शब्द में श्लेष का समावेश हो 'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्य···'।

इस प्रकार अपनी पूर्ववर्ती और सामयिक शैलियों का विश्लेषण कर बाण ने अपने काव्य के लिए नई भूमिका का निर्माण किया। बाण की इस नवीन रचनापद्धति में जहाँ पूर्ववर्ती तथा सामयिक शैलियों के विशिष्ट गुणों का समन्वय दर्शित है, वहाँ भविष्य के लिए एक नये ढंग की सुविचारित रचना-पद्धति का भी सन्देश है। बाण ने उत्कृष्ट काव्यशैली के लिए 'हर्षचरित' में जिन आवश्यक गुणों का सन्निवेश बताया है वे हैं : १ विषय की नवीनता, २ श्रेष्ठ स्वभावोक्ति, ३ सरल श्लेष, ४ स्फुट रूप से प्रतीयमान रस और ५ विकट शब्द-योजना। ये पाँचों गुण जिसमें एक साथ समाविष्ट हों ऐसी रचना दुष्कर है :

'नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥'

दूसरों के मन में भावों का यथार्थ चित्रण (अन्यचिन्तितस्वाभिप्राय-वेदकम्) और अभिनव अर्थ की कल्पना को बाण ने उत्कृष्ट रचनाशैली का नमूना बताया है (उत्कृष्टकविगद्यमिव विविधवर्णश्रेणिप्रतिपाद्यमानाभिनवार्थ-संचयम्)।

बाण ने चार प्रकार की गद्यशैलियों का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं : १ अल्पसमासशैली, २ दीर्घसमासशैली, ३ समासरहित शैली और ४ वृत्तभागशैली (श्लोक-समन्वित शैली)। इन शैलियों का 'साहित्यदर्पण' में क्रमशः नामकरण किया है : चूर्णक, उत्कलिका, आविद्ध और वृत्तगन्धि :

'चूर्णकमल्पसमासं दीर्घसमासमुत्कलिकाप्रायम्।
समासरहितमाविद्धं वृत्तभागान्वितं वृत्तगन्धिः ॥'

अपने गद्य के लिए बाण ने प्रथम तीन शैलियों को अपनाया है। चौथी वृत्तगन्धि अर्थात् श्लोक-समन्वित शैली को उन्होंने गद्य के लिए अनुपयुक्त समझ कर छोड़ दिया। उनकी इन तीनों शैलियों का दर्शन उनकी 'कादम्बरी' में स्वतन्त्र रूप से तथा कहीं-कहीं एक ही साथ होता है। जिन स्थलों पर लम्बे वर्णन हैं वहाँ प्रायः उत्कलिका का आश्रय लिया गया है। ऐसे वर्णनों को जिनमें उक्त तीनों शैलियों का समावेश देखने को मिलता है, उन्होंने उत्कलिका से आरंभ कर, शनैः-शनैः उसको चूर्णकशैली में ढालकर उसका अन्त आविद्ध शैली में कर दिया है।

बाण ने श्रेष्ठ आख्यायिका के लिए दो आवश्यक गुण बताये हैं: १. उसमें ऐसी शब्द-रचना हो, जो सरलता से समझ में आ सके और २. उन शब्दों को ऐसे अक्षरों में बाँधा गया हो, जो मधुर हों:

'सुखप्रबोधललिता सुवर्णघटनोज्ज्वलैः।
शब्दैराख्यायिका भाति शय्येव प्रतिपादकैः॥'

'बिना किसी आभास के सुखपूर्वक समझ में आ जाने से सुन्दर लगने वाली और आकर्षक रचना वाले एवं विवक्षित अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्दों से युक्त आख्यायिका उस शय्या के समान अच्छी लगती है, जिस पर सुख-पूर्वक नींद ली जा सके और जो सुवर्ण से मढ़े पायों से शोभित हो।'

'हर्षचरित' की प्रस्तावना में बाण ने अपने पूर्ववर्ती कुछ ऐसे आख्यायिका-कारों की वन्दना की है, जिनकी लेखनी कभी रुकती न थी और जिनके मुख में सरस्वती विराजमान थी:

'उच्छ्वासान्तेऽप्यखिन्नास्ते येषां वक्त्रे सरस्वती।
कथमाख्यायिकाकारा न ते वन्द्याः कवीश्वराः?॥'

ऐसे प्रतिभाशाली आख्यायिकाकारों में सुबन्धु, हरिश्चन्द्र, हाल, गुणाढ्य और काव्यकारों में प्रवरसेन, भास और कालिदास का बाण ने उल्लेख किया है।

सुबन्धु की 'वासवदत्ता' के संबंध में बाण ने लिखा है 'उसकी 'वासवदत्ता' को सुनते ही कवियों का अभिमान उसी प्रकार चूर्ण हो गया था, जैसे इन्द्र

के शक्ति नामक अस्त्र को कर्ण के पास देखते ही पाण्डुपुत्रों का गर्व चूर्ण हो गया था' :

'कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम् ॥'

बाण ने भट्टार हरिचन्द्र के किसी गद्य-काव्य की ओर संकेत किया है, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। उसके सम्बन्ध में बाण ने लिखा है कि उसमें सुन्दर पदों की रचना थी और उसकी आलंकारिक शैली बड़ी मनोहर थी :

'पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णपदस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥'

ये भट्टार हरिचन्द्र, साहसांक राजा के राजवैद्य थे और उन्होंने 'चरक' पर 'खरणादसंहिता' नामक टीका लिखी थी, जिसका उल्लेख 'अष्टांगहृदय' के टीकाकार इन्द्र ने किया है। राजशेखर ने उज्जयिनी में जिस हरिचन्द्र की काव्यपरीक्षा किये जानेका उल्लेख किया है संभवतः वे यही भट्टार हरिश्चन्द्र थे।

सातवाहन हाल की 'गाथासप्तशती' का उल्लेख करते हुए बाण ने लिखा है कि 'उसने ऐसे सुभाषितों का एक संग्रह तैयार किया था, जो निर्दोष, गुणालंकारयुक्त और विशुद्ध जाति के रत्नकोश के समान कभी भी विनष्ट न होने वाला बड़ा वैदग्ध्यपूर्ण था' :

'अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः ॥'

इसी प्रकार प्रवरसेन के प्राकृत काव्य 'सेतुबन्ध' के सम्बन्ध में कहा है कि 'उस कवि की कुमुद के समान उज्ज्वलकीर्ति इस ग्रन्थ के द्वारा सागर पार तक वैसे ही फैल गई, जैसे वानरों की सेना सेतु द्वारा समुद्र पार पहुँच गई थी' :

'कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥'

भास के नाटकों की प्रशंसा करते हुए उसने लिखा है कि 'उसने अपने नाटकों के द्वारा देवमन्दिरों जैसी ख्याति अर्जित की' :

'....यशो लेभे भासो देवकुलैरिव'

कालिदास की मधुर तथा सरस सूक्तियों की तुलना बाण ने उकसी हुई आम्रमंजरियों से की है और कहा है कि उनके उच्चारण मात्र से ही हृदय आनन्दित हो जाता है :

'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥'

गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' की बाण ने बड़ी ही प्रशंसा की है । उसके संबंध में उन्होंने लिखा है कि वह भगवान् शंकर की लीला के समान त्रैलोक्य को मुग्ध एवं विस्मित करने वाली शैली में लिखी गई है :

'समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना ।
हरिलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा ॥'

इसी प्रकार आढ्यराज के कवित्व का यशोगान करते हुए बाण ने लिखा है 'उसके महान् कृतित्व को स्मरण करके मानो मेरी वाणी अवरुद्ध हो रही है और मेरा कविता करने का सारा साहस ही शिथिल हुआ जा रहा है' :

'आढयराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि ।
जिह्वान्तःकृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्तते ॥'

बाण ने जिन कथाकारों, आख्यायिकाकारों, सूक्तिकारों, कवियों एवं नाटककारों का अपने 'हर्षचरित' में उल्लेख किया है उनमें अधिकांश की कृतियाँ संप्रति उपलब्ध हैं; किन्तु जिनकी कृतियाँ आज प्राप्य नहीं हैं, बाण के समय तक वे जीवित थीं । उन सबको बाण ने गंभीरतापूर्वक पढ़ा था और उनका उल्लेख करना उन्होंने इसलिए आवश्यक समझा था कि उन्हीं के अनुकरण, आदर्श तथा उनकी प्रेरणा से ही बाण ने अपने ग्रंथों की रचना की है ।

उक्त सभी रचनायें बाण की गद्य-पद्य शैली की आदर्श थीं ।

बाण की वर्णनशैली

लेखनशैली के सम्बन्ध में बाण की विचारधारा और उनके आदर्श-ग्रन्थों का उल्लेख किया जा चुका है । उनकी वर्णनशैली में हमें वे सभी बातें पूर्णतया देखने को मिलती हैं ।

बाण ने प्रकृति का विशद वर्णन किया है । उसमें सजीवता, अलंकृति और कवि का सूक्ष्म निरीक्षण समाविष्ट है । प्रकृति के प्रातःकालीन और

सायंकालीन रूपों को उन्होंने बड़ी ही रमणीयता, स्वाभाविकता और विविधता से दर्शाया है। उनके इस सूर्योदय के वर्णन में 'एकदा तु नातिदूरोदिते नवनलिनदलसम्पुटभिदि किञ्चिदुन्मुक्तपाटलिम्नि भगवति मरीचिमालिनि' प्रातःकाल की रम्यता, सुगन्धि, शीलता आदि विशेषतायें हृदय को मोह लेती हैं। विशेष्य-विशेषण का यह शब्दविन्यास कितना मधुर एवं रुचिकर है। इसी भाँति कपिला धेनु के साथ सान्ध्या की लालिमा की तुलना, बरबस ही पाठक के अन्तःकरण में संध्या की विश्रान्ति, शांति और रम्यता के भाव उद्बोधित कर देती है 'दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या।'

बाण का सन्ध्या-वर्णन बहुत ही हृदयग्राही है। बाण की उत्कृष्ट वर्णन-शैली और साहित्यिक श्रेष्ठता का एक साथ रसपान करने के लिए उनका सन्ध्यावर्णन पढ़ लेना यथेष्ट है। प्रकृति के विमुक्त वातावरण और नगरों के अवरुद्ध वातावरण में संध्या के स्वरूप-दर्शन में क्या अन्तर होता है उसका परिचय 'हर्षचरित' के प्रथम उच्छ्वास में वर्णित इस संध्याकालीन प्रसंग को पढ़ कर प्राप्त किया जा सकता है। शिल्प, सज्जा और कलात्मकता की दृष्टि से भी यह वर्णन बाण के कवित्व का श्रेष्ठ उदाहरण है:

'तरुण कपि के मुख की भाँति लाल सूर्य अस्ताचल को चले गये। आकाश ऐसा लाल हो गया मानो विद्याधरी अभिसारिकाओं के चरणों में लगे महावर से पुत गया हो। संध्या की कुसुंभी लाली दिशाओं को रँगती हुई रक्तचन्दन के द्रव की भाँति आकाश में बिखर गई। हंस तालों में कमलों का मधु पीकर परितृप्त होकर ऊँघने लगे। रात की सीमा की भाँति वायु मन्द-मन्द बहने लगी। पके तालफल की त्वचा की कलौंस मिली ललाई की भाँति संध्या की लाली के साथ पहला अँधेरा धरती पर फैल गया। कुटज के जंगली फूलों की भाँति तारे आकाश में बिखर गये। निशालक्ष्मी के कानों में खोंसी हुई चम्पा की कली जैसे दीपक बढ़ते हुए अँधेरे को भगाने लगे। चन्द्रमा के हलके तथा पीले उजाले से अंधकार के हटने पर पूर्व दिशा का मुख ऐसे निकला मानो सूखते हुए नीले जल के घट जाने से यमुना का बालू भरा किनारा निकल आया हो। चहे के पङ्क के रङ्ग-सा अँधेरा, बढ़ता

हुआ, आकाश छोड़कर धरती पर खिले कमलों के सरोवर में छा गया। रात्रिवधू के अधरराग की भाँति लाल चन्द्रमा ऐसा उग आया मानो वह उदयाचल की खोह में रहने वाले सिंह के पञ्जों से मारे गये, अपनी ही खोह के हिरन के रुधिर से रँग गया हो। उदयाचल पर फैली चन्द्रकान्तमणि से बही जलधाराओं ने अँधेरे को धोकर बहा दिया। पूर्णचन्द्र आकाश में उठकर सफेद चाँदनी से समुद्र को ऐसे भरने लगा जैसे हाथीदांत का बना मकरमुखी पनाला गोलोक से दूध की धारा बहा रहा हो। इस प्रकार संध्या हो गई' :

'उदिते भगवत्युदयगिरिशिखरकटककुहरहरिखरनखरनिवहहेतिनिहतनिजहरिणगलितरुधिरनिचयनिचितमिव लोहितं वपुरुदयरागधरमिव त्रिभावरीवध्वा धारयति श्वेतभानौ, अचलच्युतचन्द्रकान्तजलधाराधौत इव ध्वस्ते ध्वान्ते, गोलोकगलितदुग्धविसरवाहिनि दन्तमयमकरमुखमहाप्रणाल इवापूरयितुं प्रवृत्ते पयोधिमिन्दुमण्डले······।'

प्रकृति के कठोर और कोमल, दोनों रूपों का एक जैसा भावग्राही चित्रण बाण ने किया है। 'हर्षचरित' के दूसरे उच्छ्वास में कठोर निदाघकाल का जो चित्र खींचा गया है उसकी तुलना अन्यत्र संभव नहीं है ; यहाँ तक कि भवभूति के 'उत्तररामचरित' में वर्णित विंध्याटवी का उद्दाम प्रकृति-दर्शन भी उससे न्यून ही ठहरता है। इस निदाघ-वर्णन में बाण के सूक्ष्म प्रकृतिनिरीक्षण का परिचय मिलता है।

विंध्याटवी के वर्णन में बाण ने बड़ी उत्सुकता दिखाई है। ऐसा प्रतीत होता है कि विंध्याटवी से उनका वर्षों तक साहचर्य रहा है और लुभावनी प्रकृति का उन्होंने बड़ी बारीकी से अध्ययन किया था। 'हर्षचरित' के आठवें उच्छ्वास में और 'कादम्बरी' के पूर्वार्द्ध में उन्होंने विस्तार से विंध्याटवी का वर्णन किया है। 'हर्षचरित' में उन्होंने विंध्याटवी के वृक्षों की सूची और वहाँ रहने वाले भाँति-भाँति के पक्षियों के नाम गिनाये हैं। उनका यह चित्रण कितना सजीव है ! उन्होंने लिखा है :

'कुछ ही दिनों की ब्याही हुई वनकुक्कुटी कुटज के कोटर में बैठी थी। गौरय्या चुडकलों को उड़ना सिखाते समय चूँ-चूँ करके शोर मचा रही थी।

चकोर अपनी सहचरी को चोंच से चुग्गा दे रहा था। झुंड पक्षी निःशंक होकर पक्के पीलुओं के फल खा रहे थे। तोतों के बच्चे शरीफे और कटहल के कच्चे फलों को निठुरता से कुतर कर गिरा रहे थे। चट्टानों पर खरगोशों के बच्चे सुख से सोये हुए थे। छिपकली के छोटे बच्चे शेफालिका की जड़ों के सूराखों में घुस रहे थे। रंकु नामक मृग निडर होकर घूम रहे थे। नेवले आपस में धमाचौकड़ी मचाये हुए थे। कोयल नई फटी हुई कलियों का आहार कर रही थी। चमूरु हिरनों के झुण्ड आमों के झुरमुट में बैठे हुए जुगाली कर रहे थे। नीलांडज मृग सुखपूर्वक बैठे थे। दूध पीते हुए नीलगाय के बच्चों के पास में बैठे हुए भेड़िये कुछ कहे बिना देख रहे थे। कहीं गिरि-निर्झरों के पास खड़े हाथियों के झुंड ऊँघ रहे थे। कहीं रुरु मृग किन्नरियों के संगीत का आनन्द ले रहे थे; तो तोते उन्हें देख कर प्रसन्न हो रहे थे। हरी हल्दी की जड़ें खोदते हुए सूअरियों के बच्चों की थूथुनियाँ रँग गई थीं। झाऊ चूहे गुंजा वृक्षों के कुंजों में आवाज कर रहे थे। कहीं जायफल के नीचे शालिजातक नामक पशु सोये हुए थे। कहीं लाल ततइयों के डंक मारने से कुपित हुए बन्दरों ने उनके छत्तों को नोच डाला था। कहीं लंगूर बड़हल के फल खाने के लिए लवली लताओं के इस पार से उस पार कूद रहे थे':

'कतिपयदिवससूतकुक्कुटीकुरीकृतकुटजकोटराः; चटकासंचार्यमाणवाचाटचाटकैरक्रियमाणचाटवः; सहचरीचारणचञ्चुरचकोरचञ्चवः; निर्भयभूरिभ्ररुण्डभुज्यमानपाककपिलमीलवः; सदाफलकट्फलफलविशसननिःशूकशुकशकुन्तशातितशलाटवः; शैलेयसुकुमारशिलातलसुखशयितशशशिशवः; शेफालिकाशिफाविवरविस्रब्धविवर्त्तमानगौधेरराशयः; निरातङ्करङ्कवः; निराकुलनकुलकुलकेलयः; कलकोकिलकुलकवलितकालिकोद्गमाः; सहकारारामरोमन्थायमान चामरयूथाः; यथासुखनिषण्णनीलाण्डजमण्डलाः; निर्विकारवृकविलोक्यमानपोतपीतगवयधेनवः; श्रवणहारिसनीडगिरिनितम्बनिर्झरनिनादनिद्रानन्दमन्दायमानकरिकुलकर्णतालदुन्दुभयः; समासन्नकिन्नरीगीतरवरसमानरुरवः; प्रमुदितरतरवः; क्षतहरितहरिद्राद्रवरज्यमाननववराहपोतपोत्रवलयः; गुञ्जाकुञ्जगुञ्जाहकाः; जातीफलकसुप्तशालिजातकवलयः; दशनकुपितकपिपोतपेटकपाटितपाटलमुखकीटपुटकाः; लकुचलम्पटगोलाङ्गूललङ्घ्यमानलवलयः'

'कादम्बरी' में शुक ने अपने पूर्व जन्म की कथा का आरम्भ विंध्याटवी के वर्णन से किया है। तोते के मुँह से वर्णित विंध्याटवी का यह शब्दचित्र भी अनूठा है। विंध्याटवी का वर्णन करते हुए शुक कहता है :

'उसमें चारों ओर लाल-लाल पल्लवों की छटा छाई हुई थी, मानो मधुमद की लालिमा लिए हुये केरली स्त्रियों के कपोल हों, अथवा वन-विहारिणी किसी देवी के चरणों का आलतारस छितराया हुआ हो। वहाँ स्थान-स्थान पर अनेक लता-मंडप सुशोभित थे। किसी में तोतों ने अनार के दाने छितराये हुए थे ; किसी में चंचल कपियों ने कक्कोल के फल तथा पल्लव गिरा दिए थे ; किसी में पक्षियों ने आराम करने के लिए लवंग पल्लवों की साथरी बनाई हुई थी। किसी में पूग वृक्षों पर ताम्बूल की लताएँ लिपटी हुई थीं, मानों वनलक्ष्मी ने अपने लिए वासगृह बनाये हों और जिनमें फूलों की रेणु भरी हो;·········उस विन्ध्याटवी की उपमा किससे दी जाय। तमालनील शोभा के कारण वह नारायणमूर्ति-सी जान पड़ती थी ; वानरों से आक्रान्त वह मानो पार्थ के रथ की पताका थी; चंचल तारकमृगों का पीछा करते हुये व्याधों से वह अम्बर-सी जैसी सुहावनी थी ; कुश, चीर, जटा और वल्कलों से ज्ञात होता था कि उसने कोई व्रत धारण किया है। एक ओर उसमें बहुल पत्रों का संचय था और दूसरी ओर सप्तपर्णी की शोभा थी। एक ओर वह हिंसक जीवों से भरी थी तो दूसरी ओर वह मुनिजनों से पुण्यवती थी ; वह सर्वथा पवित्र भी थी।'

'मधुमदोपरक्त-केरली-कपोल-कोमलच्छविना सञ्चरद्वनदेवताचरणालक्तकरस-रञ्जितेनेव पल्लवचयेन संच्छादिता, शुक-कुलदलितदाडिमीफल-द्रवार्द्रीकृत-तलैरति-चपलकपिकुल-कम्पित-कम्पिल्ल-च्युत-पल्लवफल-शकलैः अनवरत-निपतित-कुसुम-रेणुपांशुलैः······। क्वचिन्नारायणमूर्तिरिव तमालनीला, क्वचित् पार्थरथपताकेव वानराक्रान्ता, क्वचिदवनिपति-द्वारभूमिरिव वेत्रलताशतदुष्प्रवेशा, क्वचिद्विराटन-गरीव कीचकशतावृता, क्वचिदम्बरश्रीरिव व्याधानुगम्यमान-तरल-तारक-मृगा, क्वचिद्गृहीतव्रतेव दर्भ-चीर-जटा-वल्कल-धारिणी, अपरिमित-बहुलपत्रसञ्चयापि सप्तपर्णभूषिता, क्रूर-सत्त्वापि मुनिजनसेविता, पुष्पवत्यपि पवित्रा विन्ध्याटवी नाम।'

बाण के प्रत्येक वर्णन के मूल में कोई विशेष उद्देश्य छिपा होता है। महर्षि जाबालि का वर्णन पढ़ते समय हमारे संमुख महापुरुषों के सभी उत्तम गुण और उनके दिव्य चरित्र की पवित्र विशेषतायें साकार हो उठती हैं। मुनिकुमार हारीत द्वारा शुक-शावक जब महर्षि जाबालि के आश्रम में ले जाया गया तो वहाँ आश्रम के मध्य में पशुपति के समान विराजमान भगवान् जाबालि को देखकर उसके हृदय में जिन श्रद्धेय भावों का स्रोत उमड़ पड़ा था उनको बड़े ही हृदयग्राही ढंग से रखा गया है। महर्षि को देखकर शुक सोचने लगा 'ये पृथ्वी पर साक्षात् कमलयोनि ब्रह्मा हैं। ये मुनिजन धन्य हैं, जो रात-दिन इनके मुख से पावन कथायें सुनते हैं। वह सरस्वती भी धन्य है, जिसे इनके मुख का सानिध्य प्राप्त है। चतुर्मुख ब्रह्मा के मुख-कमल में रहते-रहते बहुत दिनों के बाद उसे यह उचित स्थान मिला होगा। इनके मुख में आकर सारी विद्यायें शरत्काल की नदियों के समान प्रसन्न हो उठी हैं···तेजस्वियों में अग्रणी ये महात्मा साक्षात् दूसरे सूर्य हैं। इनके सहारे से ही यह धरती टिकी है। ये करुणरस के प्रवाह हैं; संसार-सागर तरने के लिये सेतु हैं; क्षमाजलों के संचय के लिए महान् आधार हैं; तृष्णालता काटने के लिये कुठार हैं; सन्तोष के अमृत-सागर हैं।' 'भुवनतलमेव धन्यमखिलमनेनाधिष्ठितमवनितल-कमलयोनिना। पुण्यभाजः खल्वमी मुनयो यदहर्निशमेनमपरमिव नलिनासनमपगतान्यव्यापारा मुखावलोकन-निश्चलदृष्टयः पुण्याः कथाः शृण्वन्तः पर्युपासते। सरस्वत्यपि धन्या, यास्य सततमतिप्रसन्ने करुणाजलनिस्यन्दिन्यगाधगाम्भीर्ये रुचिर-द्विजपरिवारा मुखकमलसम्पर्कसुखमनुभवन्ती निवसति राजहंसीव मानसे। चतुर्मुखमुखकमलवासिभिश्चतुर्वेदैः सुचिरादिव द्वितीयमिदमासादितं स्थानम्। एनमासाद्य शरत्कालमिव कलिकाल-जलधर-समय-कलुषिताः प्रसादमुपगता-पुनरपि जगति सरित इव सर्वविद्याः।······सर्वतेजस्विनामयमग्रणी द्विसूर्यमिवाभाति। जगदेनाधिष्ठितं महात्मना। निष्कम्पेव क्षितिरेतदवष्टम्भात्। एष प्रवाहः करुणारसस्य। सन्तरणसेतुः संसारसिन्धोः। आधारः क्षमाम्भसाम्। परशुस्तृष्णालतागहनस्य। सागरः सन्तोषामृतरसस्य'।

बाण का शृङ्गार-वर्णन बड़ा संयत, शिष्ट और मर्यादित है। एक कुशल

शिल्पी की भाँति अपने पात्रों के उसने जो शब्दचित्र उतारे हैं वे पाठकों के आगे साकार होकर तैरने लगते हैं। अच्छोद सरोवर के पश्चिमाभिमुख, कैलाशपर्वत की तलहटी में, चन्द्रप्रभ नामक स्थान को समतल भूमि पर भगवान् शङ्कर के मंदिर में ध्यानासन लगाये बैठी हुई जिस दिव्य आकृति कन्या महाश्वेता को चन्द्रापीड ने देखा था उसका वर्णन बाण ने बड़े विस्तार से किया है। समस्त 'कादम्बरी' में महाश्वेता के सौन्दर्य-वर्णन का यह प्रसंग अद्वितीय है। उसकी देहकान्ति, उसके झीने श्वेतांशुक, उसकी साधना, उसके शिर पर शोभायमान जटायें, उसका भस्मविभूषित भाल, उसकी श्वेतरश्मि दन्तपंक्तियाँ, मुक्ताफलों की माला से सुशोभित उसका कंठ प्रदेश, पौर्णमासी की रात्रि में चन्द्रमा की छिटकी हुई आभा के समान उसका प्रदीप्त मुखमण्डल, मोक्षपुरी के दोनों द्वारों पर स्थापित कलशों या आकाशगंगा में सुशोभित हंसयुगल के समान उसके दोनों स्तन, पवित्र यज्ञोपवीत से विभूषित उसका शरीर, किसी सुविनीत शिष्य की भाँति समय से आया हुआ उसका यौवन, पुण्यात्मा के स्वच्छ मन की भाँति उसका लावण्य, चपलताहीन आश्रममृग की भाँति उसका नयनाभिराम सौन्दर्य, सुबद्ध स्वरों में वीणा पर आलापित उसका राग और गन्धर्वविद्या की मूर्तिमती देवी वह परम रूपवती महाश्वेता एक दिव्य वायवी शक्ति के समान प्रतीत हो रही थी। अपने दिव्यरूप से वह काल के चिह्नों को जीत चुकी थी; फिर भी उस रूपसी बाला की आयु अठारह वर्ष की ज्ञात होती थी। ममता, मत्सर, अहंकार आदि को वश में करके वह पाशुपतव्रत का पालन कर रही थी। (दिव्यत्वादपरिज्ञायमानवयःपरिमाणाम्, अप्यष्टादशवर्षदेशीयामिवोपलक्ष्यमाणाम्, प्रतिपन्नपाशुपतव्रतां कन्यकां ददर्श)। शिव की आराधना करती हुई वह रति के समान जान पड़ती थी, जिसने कामदेव के शरीर को पुनः प्राप्त करने की अभिलाषा से शिव को प्रसन्न करने का व्रत लिया था।

महाश्वेता के इस सौन्दर्य-चित्रण के लिए जितनी उत्प्रेक्षायें, उपमायें, जितने रूपक और विशेषण प्रयुक्त किए गये हैं उन सभी में ऐसी पवित्रता, इतनी दिव्यानुभूति समाविष्ट है कि पाठक का सौन्दर्य-पिपासु मन स्वभावतया मानवीय धरातल से ऊपर उठकर उस निष्कलुष, पवित्र और दिव्य धरातल

पर जा टिकता है, जहाँ वासना का सर्वथा अभाव है। बाण की दृष्टि में महाश्वेता या तो ऐसी करुणा की मूर्तिमती देवी के रूप में प्रतिष्ठित होती है, जो कि दयनीय है; या तो फिर उसके प्रति आश्रमों की पवित्र मुनिकन्या का आदर्शमय भाव पैदा होता है।

किन्तु, कादम्बरी का जो सौन्दर्य-चित्रण बाण ने किया है, दूसरे ही ढंग का है। महाश्वेता को देखकर चन्द्रापीड के मन में जो भाव उठे थे वे नितान्त सात्त्विक थे; किन्तु कादम्बरी को श्रीमण्डप में बैठी देखकर उसके मन में शृङ्गाररससिक्त राजसी भावों का उदय हुआ था। उसको प्रतीत हुआ कि कन्या-अन्तःपुर का वह भाग जिसको श्रीमण्डप कहा जाता था, एक साथ शृङ्गारमय, काव्यमय, सौन्दर्यमय, कुतूहलमय और आश्चर्यमय था। 'वह बालभाव को छोड़कर किञ्चित् यौवन में पदार्पण कर रही थी, मानो यौवन के लिए अभी समर्पित न होने पर भी वह (यौवन) उससे छेड़-छाड़ करने लगा था'।

उसके सम्बन्ध में बाण ने लिखा है कि उसके पैरों में नवयौवन की स्वाभाविक लालिमा को उसके जड़ाऊ नूपुर और भी शोभाशाली बना रहे थे। उसकी रुधिरभरी उंगलियाँ मानो उसके पैरों के राग की किरणें हों, या उनके रूप में लावण्य-जल की धारायें फूट रही हों, या लाल रेशमी अंशुक की किनारी पर छोटे फुंदके के टाँक दिए गए हों। इन सबके समीकरण से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसके पैरों से विद्रुम रंग की चटकीली नदी बह रही हो। आकाश के चमकते सितारे मानो वन्दना करने के लिए उसके नखों के रूप में उतर आये हों। उसके मध्यभाग की कृशता ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो प्रजापति ने अपनी मुट्ठियों से दबा दिया हो। उसके नितम्ब भाग में समस्त लोक को आकर्षित करने की गुरुता विद्यमान थी। उसकी रोमराजि मानो कामदेव की प्रशस्ति की अक्षरावली थी। उसके हृदय को काम ने अपना अधिष्ठान बना लिया था और उसके बोझ से हृदय ने मानो उसके स्तनों को काम का पादपीठ बना दिया था। मृणाल-सी उसकी दोनों बाहें थीं। उसके विद्रुम-अधर ऐसे थे मानो लोहित समुद्र से तरंगें उठी हों। उसके

दोनों कपोल मदिरा से भरे हुए दो पात्रों के समान थे। उसकी नासिका, आँखें, ललाट, दोनों भ्रूलतायें, कान, सब में अपार सौन्दर्य फूट कर बह रहा था। वह महाकुलों के राजाओं को, जो स्वयंवर के लिए उत्सुक थे, टालती रही थी, क्योंकि अब तक विवाह सुख के अतिरिक्त, केवल अन्य भोगों पर ही उसकी प्रीति थी।

बाण के वर्णन इतने सजीव, प्रभावोत्पादक, मार्मिक और हृदयग्राही इसलिए सिद्ध हुए, कि वे सभी उनके अनुभवों पर आधारित थे और उनसे उनका निकट साहचर्य था। उनके भुक्तभोगी जीवन का एक ऐसा ही उदाहरण है, जो कि आज के जीवन पर भी उतनी ही मार्मिकता से चरितार्थ होता है। राजसेवा का कार्य कितना कठिन है और एक सीधे-सादे अनभ्यस्त व्यक्ति के लिए उसका निर्वाह करना कितका दुष्कर है, इसका वर्णन करते हुए 'हर्षचरित' के सातवें उच्छ्वास में बाण ने लिखा है :

'भृतक का अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं होता है। भला उसके पापकर्मों का भी कोई प्रायश्चित्त है! उसे सुधारने का क्या उपाय हो सकता है। वह शांति के लिए कहाँ जाय! उसके जीवन का भी क्या नमूना! पुरुषोचित अभिमान उसमें कहाँ! उसके सुख-विलास कैसे? भोगों के संबंध में उसके विचारों का महत्त्व ही क्या! यह दारुण 'दास' शब्द घोर दलदल की भाँति सबको नरक में ढकेल देता है।'

'अपुण्यानां कर्मणामाचरणाद् भृतकस्य किं प्रायश्चित्तम्? का प्रतिपत्ति-क्रिया? क्व गतस्य शान्तिः? कीदृशं जीवितम्? क्व पुरुषाभिमानः? किंनामानो विलासाः? कीदृशी भोगश्रद्धा? प्रबलपङ्क इव सर्वमधस्तान्नयति दारुणो दासशब्दः'।

नौकरी क्या है और वह किन दुष्कृतों का परिणाम होती है, इस पर बाण ने आगे लिखा है :

'उसकी कुण्डली में पड़े बुरे ग्रह उसे इस परेशानी में ढकेलते हैं। पूर्वजन्म के खोटे कर्म पीछे लगकर उसे इस महान् मुसीबत में डालते हैं। अवश्य ही वह दुष्कृती है, जो राजकुल में प्रवेश करने का विचार भी अपने

मन में लाता है। वह उस व्यक्ति के समान है, जिसकी इन्द्रियशक्ति ठप हो गई है; किन्तु जिसके मन में भाँति-भाँति के सुख भोगने की झूठी साध भरी हुई है।'

'स्वगृहे दुर्बन्धुभिरिव दुखितैः समग्रैग्रहैर्वा ग्राह्यमाणस्याभियोगं, पुरातनैरतिदुस्स्यजैर्भृत्यैरिव मलिनैः कर्माभिर्वानुवर्त्यमानस्य, सकलशरीरसंतापकरं करीषाग्निमिव दुष्कृतिनः कृतचित्तस्य संप्रवेष्टुं राजकुलमुपहतसकलेन्द्रियशक्तिरिव मिथ्यैव हृदयगतविषयग्रामग्रहणाभिलाषस्य।'

इस प्रकार बाण की वर्णन शैली का अध्ययन कर कहा जा सकता है कि 'हर्षचरित' में वह केवल चित्रात्मक रूप में स्फुरित हुई है। इस प्रकार के वर्णनों को पढ़कर पाठक के सामने शब्दों के मूर्तिमान चित्र उतरने लगते हैं। किन्तु 'कादम्बरी' में चित्रात्मकता के साथ-साथ शिल्पविधियों का भी समावेश है। इस प्रकार के वर्णन साहित्यिक दृष्टि से बड़े ही महत्व के हैं।

जैसा कि बाण ने स्वयं ही 'कादम्बरी' में कहा है कि 'कवि का तरंगायित मन जब सृष्टि करने के लिए उद्यत होता है तो उसके भीतर से अनेक कल्पनायें उद्वेलित हो उठती हैं और ऐसी स्थिति में संसार में कुछ भी ऐसा बाकी नहीं रहने पाता है जो उन कल्पनाओं में उद्भासित न हो उठे; (स्वयमुत्पादितानकचिन्ताशताकुला कविमतिरिव तरलता न किञ्चिन्नोत्प्रेक्षते।)'

उनके सम्बन्ध में यह बात पूर्णतया चरितार्थ होती है।

उत्तरवर्ती गद्य कृतियाँ

उत्तरवर्ती गद्यकारों पर बाण के प्रभाव को देखकर बाण के कृतित्व की विशेषता सहज ही में ही निखर उठती है। इन अनुकृतियों में धनपाल (१००० ई०) की 'तिलकमंजरी', वादीभसिंह (११०० ई०) की 'गद्यचिंतामणि', सोढल (११०० ई०) की 'उदयसुन्दरीकथा', अगस्त्य (१४०० ई०) का 'कृष्णचरित' और वामनभट्ट बाण (१६०० ई०) का 'वेमभूपालचरित' आदि का नाम उल्लेखनीय है।